मिथिला का इतिहास

लेखक :

डा० रामप्रकाश शर्मा



कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालयः
दरभंगा (बिहार)

5.3

मिथिला का इतिहास

लेखक
डा० रामप्रकाश शर्मा



कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय
दरभंगा

(प्रथम संस्करण –१९७९ ई०)
द्वितीय आवृत्ति, २००२ ई०

(500 प्रतियाँ)

मूल्य : रू०. 490/–

HISTORY OF MITHILA
by
Dr. RAM PRAKASH SHARMA

संशोधक–
डॉ० शशिनाथ झा



प्रकाशक :
कुलसचिव
कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा
K.S.D.SASKRIT UNIVERSITY, DARBHANGA
(Bihar)– 846008.

मुद्रक : शोभा प्रिंटिंग प्रेस, नयाटोला, पटना–४

डाक्टर श्री रामकरण शर्मा

कुलपति

कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय

दरभंगा

के कर–कमलों

में

सादर समर्पित

– लेखक

१२-४-१९७१

प्रस्तावना

प्रसिद्ध इतिहासकार कल्हण ने राज-तरंगिणी में लिखा है-

दृष्टं दृष्टं नृपोदन्तं बद्ध्वा प्रमयमीयुषाम् ।
अर्वाक्कालभवैर्वार्ता यत्प्रबन्धेषु पूर्यते ।।
दाक्ष्यं कियदिदं तस्मादस्मिन् भूतार्थवर्णने ।
सर्वप्रकारं स्खलिते योजनाय ममोद्यमः ।।

(1.9-10)

इसका भावार्थ यह है कि पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने जो इतिहास लिखे हैं, उन्हें परखकर जनसाधारण के समक्ष सही इतिहास प्रस्तुत करना कम नैपुण्य का काम नहीं है; फिर भी यह मेरा (कल्हण का) उद्यम है।

''मिथिला का इतिहास'' ग्रन्थ के सुधी लेखक डा० राम प्रकाश शर्मा ने वैदिक काल से बीसवीं शताब्दी तक मिथिला का अविच्छिन्न इतिहास हिन्दी में लिखकर इतिहास और हिन्दी भाषा को उत्तम अवदान प्रदान किया है। डा० शर्मा ने इस ग्रन्थ के लेखन में सभी सम्बद्ध ग्रन्थों एवं शोध-प्रबन्धों तथा निबन्धों का मन्थन कर सुपाठ्य सामग्री सरस भाषा में प्रस्तुत करने का श्लाघ्य प्रयास किया है। अष्टादश अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ में विषयों का प्रतिपादन अत्यन्त सुष्ठु रूप में हुआ है। प्रागैतिहासिक काल से बीसवीं सदी तक की इतिहासगाथाओं के गुम्फन में गाम्भीर्य एवं वैदुष्य की गरिमा झलकती है। लेखक ने एकादश अध्याय में नेपाल खण्ड लिखकर ग्रन्थ में चार चाँद लगा दिया है। द्वादश अध्याय में ''अनुश्रुतियों पर आधारित मिथिला के कतिपय प्राचीन ऐतिहासिक स्थान'' वास्तव में अनुश्रुतियों एवं सूचनाओं का विशाल भाण्डार है। ''उच्चैठ एवं कालिदास'' में लेखक ने 13वीं सदी के बौद्ध भिक्षु धर्मस्वामी के यात्रा-वृत्तान्त के आधार पर मिथिला-देशीय होने का जो प्रमाण प्रस्तुत किया है; वह अत्यन्त प्रशंसनीय और उत्साहवर्द्धक है।

प्रसिद्ध इतिहासकार डा० उपेन्द्र ठाकुर ने आंग्ल भाषा में "हिस्ट्री आफ मिथिला" की रचना की जिसका प्रथम प्रकाशन सन् 1956 ई० में हुआ था। इस ग्रन्थ में मिथिला का इतिहास आदि काल से सन् 1556 ई० तक वर्णित है। हिन्दी में अत्यन्त ही प्रांजल भाषा में डा० राम प्रकाश शर्मा का यह ग्रन्थ सामान्य एवं सुधीजनों के लिए अत्यन्त उपादेय है। लगता है कि डा० शर्मा ने इस ग्रन्थ के प्रणयन में अतिशय शोध किया है; साधना की और साध्य की सिद्धि हेतु समर्पण-भाव से कार्य किया है। इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय से सन् 1979 ई० में प्रकाशित हुआ था ; 23 वर्षों के अन्तराल के अनन्तर इसका द्वितीय संस्करण पुनः इसी विश्वविद्यालय से निकलने जा रहा है और इसकी प्रस्तावना लिखने में अतिशय हर्ष का बोध हो रहा है। डा० राम प्रकाश शर्मा दिवंगत हो गये; किन्तु इस ग्रन्थ के रूप में उनकी कीर्ति-काया चिरकाल तक अजर-अमर रहेगी। अन्त में, यह लिखना आवश्यक समझता हूँ कि इतिहास-ग्रन्थों के बारे में उत्पन्न हाल के विवादों के बारे में इतिहासकारों को इतिहास लेखन के उस कवष का स्मरण रखना चाहिए जो कल्हण ने करीब एक हजार वर्ष पहले लिखा था-

श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता ।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती ॥

यानी वह इतिहासकार प्रशंसा का पात्र एवं गुणवान् है जिसकी लेखनी इतिहास-लेखन में न्यायमूर्त्ति की तरह राग-द्वेष से वर्जित है।

रामनवमी **(किशोर कुणाल)**

विक्रमाब्द *2059* *कुलपति*

विषय-सूची

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

दशम अध्याय

मुसलिम-विजय-काल ३७२-३९७

एकादश अध्याय

नेपाल-खण्ड ३९८-४४०

द्वादश अध्याय

अनुश्रुतियों पर आधारित मिथिला के कतिपय प्राचीन ऐतिहासिक स्थान ४४१-४८४

परिशिष्ट

प्राक्कथन

(अ)

प्रस्तुत पुस्तक वैदिक काल से लेकर बीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण के अन्त एवं तृतीय चरण के आदि तक की मिथिला का संक्षिप्त राजनीतिक इतिहास है, जिसमें उसके प्राक्-ऐतिहासिक एवं ऐतिहासिक युग की राजनीतिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक तथा आर्थिक स्थिति पर भी यथा-सम्भव प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। वास्तव में पहले यह पुस्तक लेखक के अप्रकाशित 'हर्षोत्तर भारत' नामक प्राचीन भारत के पद्य-बद्ध खंड इतिहास का 'मिथिला-खंड' छन्दोबद्ध रूप में लिखी गयी थी। मिथिला से सम्बन्धित अंश की पांडुलिपि को लेखक ने मिथिला के कतिपय लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों के पास प्रेषित कर उसपर उनकी सम्मति की याचना की। सर्वप्रथम प्राच्य एवं प्रतीच्य विद्या के अभिज्ञ तथा अगाध विद्वान् स्वर्गीय श्रद्धेय डा० आदित्यनाथ झा जी, आई० सी० एस०, भूतपूर्व उप-कुलपति, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, एवं तत्कालीन उप-राज्यपाल, दिल्ली, ने अपनी लिखित सम्मति भेजने की कृपा की। उसमें पुस्तक की प्रशंसा करते हुए उन्होंने उसे गद्य में लिखने की ओर संकेत किया। कुछ भ्रान्तियाँ भी उन्होंने बतायीं, जिनके ऊपर सम्यक् विचार करने का लेखक को पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ। बिहार-राज्य के अवकाश-प्राप्त शिक्षा-मंत्री, महाराजा कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, के भूतपूर्व उप-कुलपति एवं प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के मर्मज्ञ मनीषि-प्रवर अलंविद्य परम आदरणीय स्वर्गीय कुमार गंगानन्द सिंह जी, पटना कालेज के इतिहास विभाग के प्रधान विद्वद्वर डा० योगेन्द्र मिश्र जी, तथा वयोवृद्ध साहित्य- महारथी आचार्य जगन्नाथ प्रसाद मिश्र जी ने भी पांडुलिपि का अवलोकन कर लेखक को उक्त पुस्तिका को गद्य में लिखने का महत्त्व दर्शाया, तथा उसके हेतु प्रोत्साहित किया। सम्मान्य शुभ-चिन्तकों के उचित आदेश को शिरोधार्य कर लेखक ने सम्बद्ध पुस्तक को गद्य में लिखने का पुनः प्रयास किया है। कई नये अध्याय भी उसमें जोड़े गये हैं। पूर्व लिखित प्राक्कथन के अधिकांश एवं पाद टिप्पणियों का समावेश मूल पुस्तक में कर दिया गया है। अतः पुस्तक का कलेवर किंचित् बढ़ गया हैं। पुस्तक के नाम 'हर्षोत्तर भारत' के 'मिथिला खंड ' को बदल कर इसका नव नामकरण 'मिथिला का इतिहास' किया गया है।

भारतवर्ष के प्राक्-ऐतिहासिक युग के साहित्य में मिथिला (तीरभुक्ति अथवा तीरहुति वा तिरहुत) का स्थान विशिष्ट एवं प्राचीनतम है। इसका अतीत अतीव समुज्ज्वल रहा है, जो किसी भी देश अथवा जाति को गौरवान्वित करने के लिए पर्याप्त हैं। इस जनपद के प्राचीन निवासी एवं भूपति गण जितने ही अपने शुद्धाचार, ज्ञान, विज्ञान, विभव तथा न्यायप्रियता के लिए प्रसिद्ध थे, उतना ही उनके शौर्य एवं पराक्रम भी अदम्य था। उनके आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों ही पक्ष श्लाघ्य और आदर्श थे। मानसिक विकास के साथ-साथ मिथिला का आर्थिक, औद्योगिक, एवं सामरिक विकास भी उस युग में

सराहनीय था । 'शतपंथ ब्राह्मण', 'रामायण', 'महाभारत', 'पुराण' आदि प्राचीन साहित्य के युगों में भारतीय संस्कृति के उच्चादर्श के लिए इस भूमि की जैसी ख्याति थी, उसका बहुलांश आज भी यहाँ जीवित दशा में यत्र-तत्र मूर्त्तिमान् और विद्यमान दृष्टिगत होता है। इसके अतीत प्रागैतिंहासिक गौरव के अतिरिक्त भी यदि ऐतिहासिक युग का इतिहास प्रस्तुत करने के हेतु मनोयोगपूर्वक शोध, अन्वेषण और विश्लेषण सम्यक् रूप से किये जायें तो वे भी वर्त्तमान के लिए उपादेय एवं उपदेशप्रद तथा अतिलाभदायक सिद्ध होंगे, इसमें सन्देह का स्थान नहीं है ।

(आ)

पुराकाल में नेपाल की तराई भूमि का अखंड सम्बन्ध मिथिला से था । सम्भवतः मिथिला और नेपाल के विजेता कर्णाट कुल के सूर्यवंशीय क्षत्रिय राजा नान्यदेव के पौत्र नरसिंह देव के शासनकाल में उसके चचेरे भाई, मल्लदेव के पुत्र, जो नेपाल का शासक था, ने गृहकलह में फँस कर अपने द्वारा शासित भू-भाग को स्वतन्त्र कर लिया । मिथिलेश्वर नरसिंह देव एवं उसके बीच झगड़े के कारण नेपाल का वह भाग सदा के लिए मिथिला से पृथक् होकर स्वतन्त्र राष्ट्र बन गया । भाई-भाई के बीच विरोध का यह दुस्सह एवं दुखद परिणाम था, जिसने स्थायी रूप धारण कर अभिन्न अंग को सदा के लिए भिन्न कर दिया । आज भी मिथिला की इतिहास-पुराण-प्रसिद्ध राजधानी, जनकपुर, नेपाल राज्य में है, जहाँ सारे भारत के लोग बड़ी श्रद्धा के साथ तीर्थाटन करने एवं उस पावन भूमि के रज-कणों को स्पर्श कर अपने को पवित्र करने के हेतु पहुँचते रहते हैं । वैदिक एवं उपनिषत्काल के दर्शन-ज्ञान का उद्भवस्रोत मिथिला की राजधानी, जनकपुर के दर्शन आज भी कोटि-कोटि श्रद्धालु भारतीय नर-नारियों के मानस-मन्दिर में अध्यात्मवाद की जिज्ञासा को जागरूक बनाते हैं ।

पौराणिक वर्णनों के अनुसार प्राचीन मिथिला की उत्तरीय सीमा पर पर्वत-राज हिमालय का होना बताया गया है । इन कारणों से 'मिथिला का इतिहास' के उत्तर भाग में पाठकों के ज्ञातृत्व हेतु नेपाल के संक्षिप्त इतिहास का भी अंकन किया जाना लेखक को उचित प्रतीत हुआ । नेपाल का इतिहास अपेक्षाकृत अति समास में लिखा गया है, जो प्रस्तुत पुस्तक में समाविष्ट है ।

हिन्दी में मिथिला का क्रमबद्ध राजनीतिक इतिहास उपलब्ध नहीं था । लेखक मिथिला का निवासी है । अतः उसे यह अभाव खटक रहा था । उसने आरम्भ में केवल 'स्वान्तः सुखाय' पद्यबद्ध 'मिथिला खंड' का लिखना आरम्भ किया, जिससे एक छोटी-सी पुस्तिका की रचना हो गयी । अन्ततोगत्वा वह क्षुद्र पुस्तिका आज परिवर्तित रूप में 'मिथिला का इतिहास' बन कर सम्मुख उपस्थित है । पद्यबद्ध 'मिथिला खंड' में मिथिला एवं नेपाल का इतिहास अति संक्षेप में लिखा गया था, जिससे अतीत एवं वर्त्तमान मिथिला के विषय में साधारण जानकारी पाठकों को अचिर प्राप्त हो सके । ऐसे पाठकों के लिए, जिन्हें मिथिला का इतिहास पढ़ने की उत्सुकता तो है, पर उसके लिए उनके पास समय का अभाव है, पुस्तक के परिशिष्ट में पद्यभाग का जोड़ देने की राय मित्रों की हुई है ।

प्राक्कथन की समाप्ति के पूर्व लेखक अपनी अलपज्ञता के साथ-साथ अनधिकार चेष्टा के हेतु विज्ञ पाठकों के समक्ष क्षमा-प्रार्थी है; क्योंकि वह न लेखक है और न कवि। जीवन में उसका साहित्य से सम्बन्ध न के बराबर रहा है। उसे अपनी मातृभूमि के प्राचीन इतिहास से प्रेम है, पर उसे उसका सम्यक् ज्ञान नहीं है। यत्-किंचित् शिक्षा जो उसे प्राप्त हुई, वह पाश्चात्य पद्धति के चिकित्सा-शास्त्र की, काव्य-इतिहासादि अन्य विषयों की नहीं। अस्वस्थावस्था में शारीरिक श्रम में शिथिलता आने पर मानसिक कार्य करने की प्रेरणा अन्तःकरण से प्रायः मिला करती है, क्योंकि मानव-मस्तिष्क बिना कार्य किये एक क्षण भी नहीं रह सकता है। यदि उसका सदुपयोग न किया जाय तो उसके दुरुपयोग होने की आशंका सदैव बनी रहती है। अतः चित्तवृत्ति के निरोध के हेतु कुछ न कुछ काम करते रहना आवश्यक है। वह काम कैसा और क्या हो, उसका संकेत एवं मार्गदर्शन अन्तःकरण की अनुसन्धानात्मक वृत्ति तथा ज्ञानात्मक मनोवृत्ति से प्राप्त होता है; क्योंकि सृष्टिकर्त्ता ने मनुष्य को सद्-असद्-विवेचना बुद्धि दी है, जिनके द्वारा मन के विकारों का शमन एवं शासन होता है।

(इ)

इस समय लेख की अवस्था ८० वर्षों की हो चुकी है। आँखों में 'मोतिया बिन्दु' ने स्थान जमाना और प्रभाव दिखाना आरम्भ कर दिया है। ऊपर अंकित किया जा चुका है कि वह इतिहास का प्रेमी है। अतः स्वान्तः सुखाय 'हर्षोत्तर-भारत' नाम का प्राचीन भारत का पद्यात्मक इतिहास लिखने का उसने पूर्व में संकल्प किया, इसका भी उल्लेख ऊपर किया गया है। उसके लगभग २७ सर्ग भिन्न-भिन्न छन्दों में लिखे जा चुके हैं, जिन्हें कविता नहीं, तुकबन्दी की संज्ञा देना ही विशेष उपयुक्त होगा; क्योंकि काव्य का रूप देने से पुस्तक का ऐतिहासिक महत्त्व समाप्त हो जा सकता था। *विल्हण* का 'विक्रमांक चरित्र' *कल्हण* की 'राज-तरंगिणी', तथाकथित कवि चन्द का 'पृथ्वीराज रासो' आदि ग्रन्थ ऐतिहासिक महाकाव्य के लिए प्रसिद्ध हैं, परन्तु उनमें घटनाओं के यथावत् तथा यथार्थ वर्णन से अधिक महत्त्व काव्य को ही प्राप्त है। 'पृथ्वीराज रासो' तो एक उत्कृष्ट काव्य ग्रन्थ मात्र है, इतिहास कदापि नहीं। आधुनिक शोध और खोज ने स्पष्टतया सिद्ध कर दिया है कि ऐतिहासिक पुरुषों के नामों पर उसमें अर्थ का अनर्थ कर देश के वर्तमान इतिहास की रूपरेखा को विकृत एवं यथार्थ से अत्यन्त दूर कर दिया गया है। उस ग्रन्थ को इतिहास की आधारशिला मानकर विदेशी विद्वानों ने इतिहास की जो अट्टालिका खड़ी की है, वह टिकाऊ नहीं है। उसमें स्थायित्व का अभाव है। उससे इतिहास के क्षेत्र में ऐसी अनेक भ्रान्तियाँ फैली हैं, जिनका निराकरण करना तथा जनगण के हृदय से उसके प्रभाव को दूर करना कठिन हो रहा है।

कुछ दिन पूर्व लेखक जब अस्वस्थ होकर जलवायु-परिवर्तनार्थ दक्षिण बिहार के पंचपर्वत-परिवेष्टित गिरिव्रज-राजगृह में निवास कर रहा था, तब उसने अपने समय का सदुपयोग 'गिरिव्रज-राजगृह' नामक पुस्तक लिख कर किया था। उसे आशा न थी कि एक अल्पज्ञ एवं अनभ्यस्त की लेखनी-प्रसूता पुस्तिका का आदर विद्वद्-समाज में होगा। परन्तु जब उसने देखा कि भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति महान् दार्शनिक विद्वान् डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जैसे व्यक्ति ने उसको, पुस्तक-प्राप्ति के पश्चात्, दिनांक २५ अक्तूबर, १९६२

ई० के पत्र द्वारा उसके प्रयत्न को रचनात्मक कार्य बताकर उसे आशीर्वाद दिया तथा उत्साहित किया, तब उसका उत्साह अत्यधिक बढ़ गया। उन्होंने अपने सम्बद्ध पत्र को अधोऽङ्कित रूप में अंकित किया था :–

.... a copy of your booklet " Girivraj Rajgriha" which you have kindly sent me. I note that you are engaging yourself in constructive work.

With best wishes,

Yours Sincerely.

(Sd.) S. Radhakrishnan

प्रयाग की 'सरस्वती' एवं पटना की 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्-पत्रिका' ने पुस्तक की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। गुरुजनों एवं विद्वद्‌मंडली द्वारा उत्साहवर्द्धन ही इस मिथिला के इतिहास का उद्‌भव-स्रोत है।

लेखक ने इस पुस्तक के प्रणयन में जिन विद्वानों के ग्रन्थों तथा लेखों से सहायता ली है, उनका वह आभारी है। वैसी पुस्तकों, लेखों तथा प्रतिवेदनों के लेखकों के नाम आवश्कतानुसार मूल पुस्तक में यथास्थान कोष्ठकों के बीच अंकित कर दिये गये हैं।

विज्ञ पाठकों से लेखक का नम्र निवेदन है कि उन्हें पुस्तक में ऐतिहासिक भूलें अथवा त्रुटियाँ जहाँ भी जँचें, उनकी सूचना वे कृपया उसको देने का कष्ट करेंगे। उनके इस कृपा-कार्य के लिए वह उनका सतत कृतज्ञ रहेगा, तथा अवसर प्राप्त होने पर भूल सुधारने हेतु प्रयत्नशील होगा।

जय हिन्द।

विनीत

रामप्रकाश शर्मा,

ग्राम– धर्मागतपुर बथुआ

पत्रालय– दिघरा, जिला– समस्तीपुर (बिहार)

१-१-१९७९ ई०

प्रथम अध्याय

प्रागैतिहासिक युग

मिथिला-राज्य की सीमाएँ

अति प्राचीन काल में पुराणों के लेखानुसार मिथिला के अन्तर्गत वर्तमान नेपाल राज्य की तराई भूमि का विशेष अंश सन्निविष्ट था। वाल्मीकीय रामायण तथा विष्णु, वायु, स्कन्द, एवं श्रीमद्भागवत पुराणों में मिथिला की सीमाओं का उल्लेख नहीं है । परन्तु गंगा के उत्तर के भू-भाग में मिथिला एवं वैशाली के नाम के दो राज्य थे, इसका पता वाल्मीकीय रामायण और मार्कण्डेय, विष्णु तथा अन्य पुराणों के अध्ययन से लगता है । उन दोनों राज्यों के बीच सीमा क्या और कहाँ थी, इसका वर्णन उन ग्रन्थों में नहीं है ।

तीरभुक्ति अथवा तीरहुति वा तिरहुत मिथिला का परवर्त्ती नाम है । मिथिला खण्ड बृहद् विष्णुपुराण का एक भाग माना जाता है । उसके अनुसार तीरभुक्ति के पूर्व में कौशिकी (कोशी), पश्चिम में शालग्रामी (नारायणी, गंडकी अथवा सदानीरा), दक्षिण में गंगा और उत्तर में पर्वतराज हिमालय का अरण्य-प्रदेश सुशोभित है । पूर्वोक्त सीमाओं के बीच वर्त्तमान दरभंगा, मुजफ्फरपुर, और चम्पारण जिलों के सम्पूर्ण भू-भाग एवं मुंगेर, भागलपुर तथा पूर्णिया जिलों के अंश तथा नेपाल की तराई भूमि आ जाती है । बृहद् विष्णुपुराण के मिथिला खण्ड में मिथिला (तीरभुक्ति) की सीमाओं के विषय में निम्नांकित रूप में वर्णन किया गया है :–

"गंगाहिमवतोर्मध्ये नदी पंचदशान्तरे ।
तैरभुक्तिरिति ख्यातो देशः परमपावनः ।।

कौशिकीन्तु समारभ्य गण्डकीमधिगम्य वै ।
योजनानि चतुर्विंशद् व्यायामः परिकीर्त्तितः ।।

गंगाप्रवाहमारभ्य यावद्धैमवतं वनम् ।
विस्तारः षोडश प्रोक्तो देशस्य कुलनन्दन ।।

मिथिला नाम नगरी समस्ते लोकविश्रुता ।
पंचभिः कारणैः पुण्या विख्याता जगतीत्रये ।।

उपर्युक्त उद्धरण के अनुसार मिथिला जनपद की लम्बाई २४ योजन अथवा १९२ मील, तथा चौड़ाई १६ योजन अथवा १२८ मील थी और उसके उत्तर में पर्वतराज हिमवान का आरण्य प्रदेश, दक्षिण में हिमवत्-प्रभवा पुण्यसलिला गंगा नदी, पूर्व में परम चंचला कोशी नदी की वेगवती धारा और पश्चिम में गण्डकी नदी है । गण्डकी नदी को नारायणी एव सदानीरा भी कहा जाता है, जो हाजीपुर के निकट बिहार राज्य की राजधानी पटना

(प्राचीन पाटलीपुत्र) के सामने गंगा से मिलती है । यह नारायणी गंडक, बूढ़ी गंडक से भिन्न हैं । वैदिक एवं ब्राह्मण-काल में नारायणी गंडक का नाम सदानीरा था । पर पाश्चात्य विद्वान् पार्जीटियर एवं ओल्डेनवर्ग इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते हैं । उनके मतानुसार सदानीरा राप्ती नदी का पुरातन नाम है । सम्प्रति नारायणी गण्डक को जनता शालग्रामी नाम से भी पुकारती है; क्योंकि उसके उद्‌गम-स्थान से ही विष्णु की पावन प्राकृतिक प्रस्तर मूर्ति शालिग्राम की प्राप्ति होती है ।

'शक्तिसंगम तन्त्र' (बी० भट्टाचार्य सम्पादित, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, जिल्द– १०४, सुन्दरी खण्ड, भाग– ३, श्लोक– ४२, पृ० ६९) में अंकित किया गया है, यथा :–

"गण्डकीतीरमारभ्य चम्पारण्यान्तकं शिवे ।
विदेहभूः समाख्याता तैरभुक्त्यभिधः स तु ।।"

मिथिला के प्रख्यात विद्वान् कविवर पं० चन्दा झा ने मिथिला व तीरहुति अथवा तिरहुत की सीमाओं का अंकन नीचे लिखे छन्द में किया है :–

"गंगा बहथि जनकि दक्षिण दिशि पूर्व कौशिकी धारा ।
पश्चिम बहथि गंडकी उत्तर हिमवत वन विस्तारा ।।

कमला, त्रियुगा, अमृता, धेमुरा, वागमती कृत सारा ।
मध्य बहथि लक्ष्मणा प्रभृति से मिथिला विद्यागारा ।।"

विख्यात विद्वान डा० गंगानाथ झा (कोमेमोरेशन वॉल्यूम, पृ० ३८०) ने मुगल सम्राट् अकबर द्वारा खंडवाला कुल के दरभंगा महाराज के पूर्वज महेश ठाकुर को मिथिला-राज्य-प्रदान के सम्बन्ध में उर्दू अक्षरों में अंकित प्रमाण-पत्र (सनद) से मिथिला की सीमाओं के विषय में निम्नलिखित पद उद्‌धृत किया है :–

"अज कोष ता गोस अज गंग ता संग ।"

वहाँ 'कोष' शब्द कोशी का बोधक है तथा 'गोस' गण्डकी का । फारसी में 'संग' अथवा सङ्ग का अर्थ पत्थर (पर्वत) होता है, यथा संगमरमर । इससे यह स्पष्ट है कि सम्राट् अकबर ने मिथिला का जो राज्य दरभंगा महाराजा के आदि पूर्वज महेश ठाकुर को दिया था, उसका विस्तार कोशी से गण्डकी तक तथा गंगा से नगराज हिमालय के वन्य प्रदेश तक था ।

'इण्डियन कल्चर' वॉल्यूम-८, पृ० ४१ और ५४ में भी मिथिला के विषय में लिखा है, यथा :–

"कौशिकीन्तु समारभ्य गण्डकीमधिगम्य वै ।"आदि ।

मिथिला की सीमाओं के अन्दर सम्पूर्ण दरभंगा, मुजफ्फरपुर एवं चम्पारण (चम्पकारण्य) जिलों तथा भागलपुर, पूर्णियाँ और मुंगेर (मुद्गगिरि) जिलों के कुछ अंश की भूमि के

साथ तराई नेपाल एवं निचली हिमालय पर्वत-श्रेणी भी थी (दरभंगा जिला गजेटियर, पृ० १५२; श्यामनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० 2-3; रेप्सन: एनशिएण्ट इण्डिया, पृ० (१७४-७५), यह इसके पूर्व लिखा जा चुका है। इसका विस्तार २५° २८' और २६° ५२' लेटीच्युड एवं ८४° ५६' लोंगीच्युड (अक्षांश रेखाओं) के बीच है (इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया, ८, पृ० १८७; दरभंगा जिला गजेटियर, पृ० १५२)।

भिन्न-भिन्न काम में मिथिला राज्य के क्षेत्र के विस्तार में परिवर्तन दृष्टिगत होता है। उत्तर में हिमालय के पादभाग से आरम्भ कर दक्षिण में गंगा की धारा तक, तथा पूर्व में महानन्दा से लेकर पश्चिम में गण्डकी तक मिथिला का क्षेत्रफल लगभग २५००० वर्ग मील होता है (डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३)।

एच० सी० रायचौधरी विदेह-राज्य मिथिला को उत्तर बिहार के वर्तमान तीरहुति अथवा तिरहुत के भीतर ही सीमित मानते हैं (पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एनशिएण्ट इण्डिया, ५, पृ० ४४)। कीथ एवं मैक्डोनेल के विचार में मिथिला को कोशल-राज्य से पृथक् करने वाली नदी सदानीरा (वर्तमान गण्डक नदी, जो नेपाल से आरम्भ होकर पटना के सामने गंगा से मिलती है) थी। पर ओलडेनबर्ग सदानीरा एवं गण्डक में भेद बताते हैं, तथा पार्जीटियर सदानीरा को राप्ती नदी मानते हैं।

मिथिला राज्य हुएन्-त्संग द्वारा वर्णित पंच भारत (फाइव इण्डियाज) में से एक था।

मिथिला भूमि तथा विदेह जनक-राजकुल

वाल्मीकीय रामायण आदि प्राचीन ग्रंथों में इस जनपद के लिए 'मिथिला' नाम ही प्रयुक्त हुआ है, तीरहुत अथवा तिरहुत वा तीरभुक्ति नहीं। 'वाल्मीकीय रामायण', 'विष्णु पुराण' तथा 'श्रीमद्भागवत' महापुराण के अनुसार मिथिला नाम महाराज मिथि के नाम पर उद्भूत हुआ है। इस भू-भाग के प्रथम नृपति प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार सूर्यकुलोद्भव महाराज मनु के तनय इक्ष्वाकु के पुत्र निमि थे। मिथि निमि के पुत्र हुए। महाराज निमि एक बार अपने कुल-गुरु एवं पुरोहित वशिष्ठ की आज्ञा के बिना ही यज्ञ करवाने हेतु गौतम को ऋत्विक् वरण कर लेने के अपराध में ऋषि वशिष्ठ का कोपभाजन बन गये, तथा अन्ततोगत्वा उनके शाप से मृत्यु को प्राप्त हुए। तदुपरान्त सभी देवता एवं महान् ऋषिगण एकत्र होकर उनकी आत्मा से पुनः मनुष्य रूप में प्रकट होने की प्रार्थना की, पर उन सबों का अनुरोध स्वीकृत नहीं हुआ। ऋषियों ने उन्हें वरदान दिया कि उस काल से सतत उनका निवास मानव-निमेष (पलकों) पर रहेगा। पश्चात् उनके शरीर से उनकी समता के सुयोग्य पुत्र उत्पन्न करने की इच्छा से उन महात्माओं ने उनके शरीर को मथानी में रखकर उसका मंथन किया। उन सबों को अपने प्रयत्न में सफलता मिली, और उस मंथन के फलस्वरूप मिथि नामक उनके एक पुत्र का वहाँ आविर्भाव हुआ, जो अपने पिता के राज्य का उत्तराधिकारी बना। उसी मिथि के नाम पर उसके द्वारा शासित भूमि का नामकरण 'मिथिला' हुआ।

'श्रीमद्भागवत' में उल्लेख है कि यज्ञ करने के लिए उद्यत राजा निमि का निमन्त्रण अस्वीकार कर जब वशिष्ठ इन्द्र का यज्ञ कराने स्वर्ग चले गये, तब वशिष्ठ की अनुपस्थिति में भृगु आदि मुनियों की सहायता से निमि ने यज्ञ सम्पन्न किया। इस कारण से वशिष्ठ को इन्द्र के ५०० वर्षों वाले यज्ञ को समाप्त कर स्वर्ग से लौटने पर बहुत क्रोध हुआ, और उन्होंने निमि को विदेह हो जाने का शाप दिया। वशिष्ठ के इस कार्य से प्रजा घबड़ा गयी। तब ऋषियों ने अराजकता उत्पन्न होने के भय से निमि के विदेह (मृत) शरीर का मंथन किया। उस मंथन से जो शिशु उत्पन्न हुआ, उसका नाम 'मिथिल' अथवा 'विदेह' रखा गया। उस बालक की संज्ञा 'जनक' भी हुई। एतत्सम्बन्धी श्लोक अधोऽङ्कित है।

''जन्मना जनकः सोऽभूद् वैदेहस्तु विदेहजः।
मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता ।।''

ऋषि के शाप से निमि के पंचभौतिक शरीर का विनाश हुआ था। अतः वे 'विदेह' कहलाये। उनके वंशज भी पीछे 'विदेह' विरुद से प्रख्यात हुए। उनके पुत्र राजा मिथि अपनी उत्पत्ति में स्वयंभूत थे। इससे उनकी उपाधि 'जनक' (पिता) की हुई। मिथि के वंशजों ने पैतृक उपाधि विदेह के साथ ही जनक का विरुद भी धारण कर लिया, जिस नाम से वह राजवंश चिरकाल तक जगत में विख्यात रहा।

'मत्स्य पुराण' के ५५ वें अध्याय में जो कथा वर्णित है, उसके अनुसार राजा निमि के यहाँ एक बार कुल के पुरोहित वशिष्ठ आये। निमि उस काल अपनी रानी के साथ द्यूत-क्रीड़ा में लीन थे। कुल-पुरोहित के आगमन पर निमि ने उनका शिष्टाचारनुकूल स्वागत किया। पर वशिष्ठ उससे सन्तुष्ट न हुए। उन्होंने निमि को शरीर-पात का शाप दिया। ऋषि के शाप से जब निमि ने शरीर-त्याग किया, तब ऋषियों को योग्य राजा के अभाव में अराजकता का भय सताने लगा। इस कारण उन्होंने निमि के मृत शरीर का मंथन किया। उस मंथन से एक बालक की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार बिना जनक-जननी के संयोग से जन्मधारण करने के कारण वह शिशु 'जनक', मृत शरीर से उत्पन्न होने के कारण 'विदेह', तथा मंथन से उत्पन्न होने के कारण 'मिथि' कहलाया। 'मिथि' के नाम पर ही 'मिथिला' नगर का निर्माण हुआ। मत्स्यपुराण का सम्बद्ध वर्णन निम्नांकित है :-

''अराजकभयं नृणां मन्यमानाः महर्षयः।
देहं ममन्थुः स्म निमेः कुमारः समजायत ।।
जन्मना जनकः सोऽभूद् वैदेहस्तु विदेहजः।
मिथिस्तु मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता ।।''

पश्चाद्वर्त्ती ग्रन्थ 'भविष्य पुराण' (शब्द कल्पद्रुम, भाग-३, पृ० ७२३) में मिथिला नगर एवं 'जनक' उपाधि की उत्पत्ति का वर्णन निम्नलिखित रूप में किया गया है:-

''निमेः पुत्रस्तु तत्रैव मिथिर्नाम महान् स्मृतः।
प्रथमं भुजबलैर्येन त्रैहुतस्य च पार्श्वतः ।।
निर्मितं स्वीयनाम्ना च मिथिलापुरमुत्तमम्।
पुरीजननसामर्थ्याद् जनकः स च कीर्त्तितः ।।''

अर्थात् अयोध्या-नृपति मनु वंशीय इक्ष्वाकु-पुत्र निमि ने यज्ञपूत भूमि में पदार्पण किया। उनके तनय मिथि ने वहाँ नगर का निर्माण किया। उन्हीं के नाम पर उस नगर का नाम मिथिला हुआ। नगर-निर्माता (नगर के जनक) होने के कारण मिथि 'जनक' कहलाने लगे।

प्रसिद्ध व्याकरणाचार्य पाणिनि ने 'मिथिला' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है:- "मिथिलादयश्च" (उणादि:) = मथ्यन्ते = रिपवो यस्यां सा मिथिला नगरी।" मिथिला वह जनपद है, जहाँ शत्रुओं को चकनाचूर कर दिया जाता है। यह व्युत्पत्ति मिथिला के अधिवासियों की शक्ति का परिचायक है।

हलायुध की भी विवेचना लगभग इसी प्रकार की है, जैसे-"मथ्यन्ते शत्रवो यस्यां, मथ + मिथिलादयश्च इति इलच् अकारस्येत्वं निपात्यते-स्वनामख्याता नगरी। सा तु जनक-राजपुरी यथा- विदेहा मिथिला प्रोक्ता-इति हलायुध:" (शब्द-कल्पद्रुम, भाग-3, पृ० ७०३, उणादि- ६०)।

'शतपथ ब्राह्मण' निस्सन्देह 'रामायण' एवं पुराणों से अति प्राचीन है, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के अनुगामी हैं। उसके प्रथम खंड के अध्याय-४ के अनुसार अति पुरातन काल में सरस्वती के किनारे से भूपति विदेह माथव अपने पुरोहित गौतम रहूगण के संग अग्नि वैश्वानर का अनुसरण करते हुए पूर्व की ओर बढ़ते गये। मार्ग के स्थानों को वैश्वानर वह्नि जलाते आये थे, किन्तु सदानीरा के किनारे पहुँच कर उनकी गति रुक गयी। सदानीरा उत्तरी पर्वतों से निकलनेवाली नदी गण्डक (नारायणी अथवा शालिग्रामी) है, जो हाजीपुर के निकट गंगा से मिलती है, और जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है।

राजा विदेध माथव ने वहाँ पहुँचकर अग्निवैश्वानर से प्रश्न किया कि "अब मेरा वास कहाँ हो?" उन्हें उत्तर मिला कि "इस नदी के पूर्व की ओर।" ऐसा वर्णन किया गया है कि पूर्वकाल में ब्राह्मणों ने उस नदी को पार नहीं किया था। यज्ञाग्नि का प्रज्वलन उस भूमि में तब तक कभी नहीं हुआ था। नदियाँ वहाँ अनेक थीं, और धरती वहाँ की दलदली एवं आर्द्र। वह भूमि मानव-निवास के योग्य न थी। परन्तु शनै:-शनै: ब्राह्मणों ने वहाँ यज्ञाग्नि प्रज्वलित की और कीचड़मयी दलदली भूमि गीलेपन से मुक्त हुई। वह अत्युर्वरा बनकर कृषि तथा मानव-निवास के पूर्णतया योग्य बन गयी। विदेघ माथव का वहाँ निवास हुआ। माथव के नाम पर उस भूमि का नाम मिथिला पड़ा। वैदिक 'विदेघ' और पौराणिक 'विदेह' शब्दों में तथा उसी प्रकार के शब्द 'माथव' और 'मिथि' में समता दीख पड़ती है। सम्भव है, पूर्वोक्त पौराणिक वर्णन का प्रभव-स्रोत वही 'शतपथ ब्राह्मण' की कथा हो।

पता चलता है कि अति प्राचीन काल में, 'शतपथ ब्राह्मण' ग्रन्थ के निर्माण-युग में भी आर्यों के प्रसिद्ध कोशल एवं विदेह राज्यों की मध्यवर्ती सीमा सदानीरा (गण्डक) नदी थी।

ऋग्वेद में गौतम रहूगण का नाम आया है । (हिम्स ऑफ दी ऋग्वेद, ग्रिफिथ द्वारा लिखित, १८९६ ई०, वॉल्यूम-१, मन्त्र ७४-८२) । इससे स्पष्टतया पता चलता है कि ऋग्वेदिक युग में ही मिथिला में आर्यों का निवास हो चुका था (श्याम नारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ८) । पर ब्रह्मावर्त्त में निवास के पीछे वे पूर्व की ओर बढ़ते-बढ़ते वहाँ पहुँचे थे ।

मिथिला का परवर्ती नाम तीरहुत अथवा तिरहुत

मिथिला का अर्वाचीन नाम 'तीरहुत' वा 'तिरहुत' है । सम्भवतः यह शब्द 'तीरभुक्ति' का अपभ्रंश है । 'तीरभुक्ति' का अर्थ होता है नदियों के तट पर निवास करनेवाला । मिथिला के निवासियों के साथ यह अर्थ चरितार्थ होता है; क्योंकि यहाँ छोटी-बड़ी नदियों की भरमार है, जिसके कारण प्रतिवर्ष बाढ़ के प्रकोप से जनता पीड़ित होती रहती है । 'बृहद् विष्णु पुराण' के 'मिथिला खण्ड' में वहाँ बहनेवाली अनेक नदियों के नाम दिये गये हैं जो नीचे उद्धृत हैं :-

''कौशिकी कमला चैव तथा विल्ववती मता ।
यमुना चेति विख्याता भूपसी गैरिका तथा ।।
जलाधिका दुग्धवती तथा व्याघ्रमती मता ।
विरजा मण्डना चैव तथैवेच्छामतीति च ।।
लक्ष्मणा वाग्वती ख्याता गण्डकीति ततः परा ।
इति पूर्वक्रमात्प्रोक्तं नदीनामानि दर्शयन् ।।
त्रियुगा कमला चेति गण्डकी अधिवारिणी ।
धूम्रा घोषवती चैव वनघोषा च लक्ष्मणा ।।
कौशिकीति नव प्रोक्ताः सीतासख्यः प्रकीर्त्तिताः ।
सखीरूपेण क्रीड़न्ति जनकस्य गृहे सदा ।।
अकुक्षी वर्चनी चैव जंघजीवायिका तथा ।
इत्याद्या बहवः सन्ति नद्यो हिमवतोद्भवाः ।।''

उपर्युक्त सभी सरिताएं हिमालय पर्वतमाला से बहिर्भूत होकर सम्पूर्ण तिरहुत के किसी न किसी भाग से होती हुई बहती हैं ।

'बृहद् विष्णुपुराण' में मिथिला के अधोऽङ्कित द्वादश नाम अंकित किये गये हैं, जिनमें से तीरभुक्ति भी एक है, यथा :-

''मिथिला तीरभुक्तिश्च वैदेही नेमिकाननम् ।
ज्ञानशीलं कृपापीठं स्वर्णलांगपलपद्धतिः ।।
जानकीजन्मभूमिश्च निरपेक्षा विकल्मषा ।
रामानन्दकटी विश्वभावनी नित्यमंगला ।।

(इति द्वादशनामानि मिथिलायाः) ।

''सदा भुवनसम्पन्नो नदीतीरेषु संस्थितः ।
तीरेषु भुक्तियोगेन तैरभुक्तिरिति स्मृतः ।।''

उपर्युक्त 'बृहद् विष्णुपुराण', मिथिला माहात्म्य, द्वितीय सर्ग के श्लोकांक-५ में 'तैरभुक्ति' नाम आया है, यथा– ''गंगाहिमवतोर्मध्ये नदीपंचदशान्तरे । तैरभुक्तिरिति ख्यातो देशः परमपावनः ।।'' परन्तु रामायण, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में विदेह-कुल के नरेशों की राजधानी अथवा उनके प्रदेश का नाम तीरभुक्ति वा जनकपुर नहीं अंकित किया गया है । सर्वत्र मिथिला के नाम से ही उसका वर्णन किया गया है । अतः मिथिला जनपद का तीरभुक्ति अथवा तीरहुत वा तिरहुत नाम पीछे का प्रतीत होता है । मिथिला में प्रवाहित अनेक नदियों के तीरों पर यज्ञाग्नि के अहर्निशि प्रज्वलन एवं आहुति के कारण मिथिला का नाम 'तीरहुत' पड़ा जो पीछे चलकर 'तिरहुत' में परिवर्त्तित हो गया । अतः प्रस्तुत पुस्तक में दोनों ही नाम अथवा दोनों में से किसी का प्रयोग आगे किया गया है । सम्प्रति मिथिला का प्रचलित नाम बोलचाल की भाषा में 'तिरहुत' हो गया है, तीरहुत वा तीरभुक्ति नहीं ।

मुजफ्फपुर जिले की वैशाली (बसाढ़) की खुदाई भारतीय पुरातत्त्व विभाग की ओर से १९०३ ई० में हुई थी । उस काल वहाँ पर चौथी शताब्दी की कई मोहरें प्राप्त हुई थीं, जिसमें 'तीरभुक्ति' शब्द उत्कीर्ण था (रिपोर्ट ऑफ आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, १९०३-४, पृ० ८-१२) । तीरभुक्ति के पदाधिकारियों के नाम प्रेषित पत्रों पर इस प्रकार की मोहरें चिपकायी जाती थीं । वैसे कुछ पत्रों में केवल 'तीर' शब्द का ही प्रयोग पाया जाता है । इससे पता चलता है कि तीर नाम का कोई अंचल अथवा जातिं थी, जिसके नाम पर 'तीरभुक्ति' नामकरण किया गया था । इस प्रकार के नाम अन्यत्र भी पाये जाते हैं, यथा ययाकभुक्ति (वर्तमान बुन्देलखण्ड), चीनभुक्ति (चीन देश निवासियों का प्रदेश) आदि । वस्तुतः नदियों के किनारे बसनेवाले मल्लाहों की जाति का एक विभाग 'तीवर' अथवा 'तीअर' नाम से प्रसिद्ध है । 'तीवर' और 'धीवर' दोनों शब्द संस्कृत में मछुआ के लिए प्रयुक्त होते हैं । तिरहुत में नदियों की अधिकता के कारण वहाँ मत्स्यजीवी जनों का बाहुल्य स्वाभाविक है । अतः सम्भव है कि प्राचीन काल में 'तीवर' के बिगड़े हुए रूप 'तीर' पर ही 'तीरभुक्ति' नाम उस भूमि का पड़ा हो, और पीछे चलकर उसे 'तिरहुत' कहा जाने लगा हो ।

कतिपय आधुनिक विद्वान् 'त्रयहुतम्' अथवा 'त्रिहुतम्' का विकृत रूप 'तिरहुत' बताते हैं । उनकी राय में 'त्रयहुतम्' अथवा 'त्रिहुतम्' वा 'तिरहुत' उस देश का नाम पड़ा, जहाँ तीन महाविख्यात यज्ञ– (१) जानकी (श्री सीता) का राजा जनक द्वारा किये गये हल कर्षण-यज्ञ के परिणामस्वरूप जन्म, (२) धनुषयज्ञ; तथा (३) महारानी उर्वीजा सीता का राम के साथ विवाह-यज्ञ, हुए थे ।

वाल्मीकीय रामायण तथा श्रीमद्भागवत महापुराण के अनुसार पुराकालिक मिथिला में दो राज्यों का पता चलता है । दोनों राज्य क्रमशः सूर्यवंशीय मनु-पुत्र इक्ष्वाकु तथा

नेदिष्ट के वंशजों के द्वारा स्थापित हुए थे, जिनमें से एक था मिथिला जनपद के उत्तर-पूर्व भाग में, तथा दूसरा उसके दक्षिण-पश्चिम अंश में। उनमें प्रथम 'विदेह राज्य' के नाम से प्रसिद्ध था, तथा दूसरा 'वैशाली राज्य' के नाम से। दोनों ही राज्यों का अस्तित्व प्रागैतिहासिक था। अत: वे अति प्राचीन थे।

पूर्वोत्तर दिशा में आर्य क्षत्रियों का विजय-अभियान तथा मिथिला राज्य

'शतपथ ब्राह्मण' की चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। वह यजुर्वेद का एक ब्राह्मण ग्रन्थ है, तथा उसके कर्त्ता ऋषि याज्ञवल्क्य माने जाते हैं। उसके अनुसार पश्चिमोत्तर भारत के ब्राह्मावर्त्त स्थित सरस्वती नदी (सम्प्रति अन्त: तोया, जिसका प्रयाग में गंगा और यमुना के संगम के निकट, जहाँ पर सम्राट् अकबर द्वारा निर्मित मुगल-कालीन किला विद्यमान है, गंगा नदी से मिलना बताया जाता है, और तीनों नदियों के वहाँ मिलने के कारण उस स्थान का नाम 'त्रिवेणी' पड़ा, ऐसा माना जाता है) के तट के निकट से महत्त्वाकांक्षी महीप विदेघ माथव अपने पूज्य एवं आराध्य देव अग्नि वैश्वानर को अपने मुँह में धारण कर पुरोहित गौतम रहूगण के साथ साम्राज्य-विस्तार के हेतु पूर्वोत्तर दिशा में अग्रसर हुए।

विदेघ माथव अपने पुरोहित गौतम रहूगण द्वारा बार-बार पुकारे जाने पर भी वैश्वानर अग्नि के मुँह से बाहर निकल जाने के भय से कुछ उत्तर नहीं देते थे। तब ऋषि गौतम रहूगण ने उसका मन्त्रों से आह्वान किया और कहा– "तंखो घृतस्नवी महै।" 'घृत' शब्द के उच्चारण मात्र से ही वैश्वानर अग्नि विदेघ माथव के मुँह से उमड़ पड़ी। पृथ्वी पर गिरकर जब वह वह्नि जलाती हुई पूर्व की ओर चली, उस काल में विदेघ माथव और गौतम रहूगण सरस्वती के तट पर थे। उस प्रज्वलित अग्नि का विदेघ माथव तथा गौतम रहूगण ने अनुसरण किया। बीच की नदियों तथा दलदली भूमि को वैश्वानर वह्नि ने अति दग्ध कर दिया, जिस कारण से वे सभी स्थान गमन करने के योग्य बन गये। किन्तु उत्तर गिरि हिमालय से प्रभूत सदानीरा को अतिदग्ध करने में वैश्वानर वह्नि अक्षम रही। विदघ माथव एवं गौतम रहूगण के पूर्व ब्राह्मणों ने उसे पार नहीं किया था। विदेघ माथव ने वैश्वानर अग्नि से पूछा कि "मैं कहाँ निवास करूँ ?" वैश्वानर ने उत्तर दिया कि "इस नदी के पूर्व की ओर"। आर्यों के मान्य देव वैश्वानर वह्नि के आदेशानुसार सदानीरा (शालग्रामी गंडक) की दूसरी ओर के भू-भाग को यज्ञाग्नि के प्रज्वलन से पूत एवं मानव-निवास के योग्य बनाकर वहाँ उन्होंने निवास किया, तथा सूर्यवंशी विदेह राज्य की स्थापना उस भूमि में की। भूपति के उस नव अर्जित जनपद एवं उसके राजनगर का नाम 'मिथिला' पड़ा। इसकी चर्चा पूर्व में संक्षेप में की जा चुकी है। विदेघ माथव का वह अभियान ब्रह्मावर्त्त की नदी सरस्वती के किनारे से आरम्भ होकर सदानीरा के तट पर पहुँच कर रुका। मनुस्मृति, अध्याय– २ श्लोक २२[१] के अनुसार देवताओं की नदियाँ सरस्वती एवं दृषद्वती के बीच के प्रदेश को 'ब्रह्मावर्त्त' कहा गया है। ब्रह्मावर्त्त के निकटवर्ती

१. सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ।। (मनु– अध्याय-२, श्लोक-१७)

कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पांचाल और शूरसेनक को[१] 'ब्रह्मर्षियों का देश,' एवं 'हिमगिरि' और विन्ध्याचल के मध्य में वंश (हिसार के निकट) से पूर्व और प्रयाग (इलाहाबाद) से पश्चिम के भू-भाग को [२]'मध्य देश' की संज्ञा स्मृतिकार महाराज मनु ने दी है । वैसे ही पूर्वी सागर से पश्चिमी समुद्र पर्यन्त एवं नगराज हिमालय तथा विन्ध्य-पर्वत श्रेणी के मध्य की भूमि को 'आर्यावर्त्त'[३] कहा गया है । ब्रह्मावर्त्त के सरस्वती-तट से पूर्व की ओर सदानीरा तक की यात्रा करने में भूपतिवर विदेध माथव को ब्रह्मर्षि-देश, और मध्य देश से होते हुए आर्यावर्त्त के पूर्वोत्तर भाग में प्रवेश करने का अवसर प्राप्त हुआ होगा । इतनी लम्बी यात्रा में वेश्वानर वह्नि की गति मार्ग में कहीं न रुक कर सदानीरा के किनारे जा कर रुकी । इससे अनुमान यही किया जा सकता है कि बीच में कहीं उनको प्रतिरोध का सामना करना न पड़ा, और उनका वह विजय-अभियान निर्विघ्न सदानीरा के किनारे समाप्त हुआ । उक्त सदानीरा के पार की भूमि तब तक मानव-निवास के योग्य न थी; पर नवागत भूपति के उद्योग से वह भी उर्वरा एवं उपयोगी बन गयी । उनका वह विजय-अभियान विशेषतया सांस्कृतिक था ।

राजा विदेघ माथव ने सर्वप्रथम सदानीरा के पूर्व की भूमि में उपनिवेश स्थापित कर उसकी सर्वतोभावेन उन्नति की, तथा वहाँ आर्य-सभ्यता का विकास कर उस जनपद के राज्य को अपने लिए एवं अपने वंशजों के लिए सुरक्षित किया । विदेघ माथव के उस भूमि में पहुँचने के पूर्व वहाँ मनुष्यों का निवास नहीं था । अतः उस भूमि के आदि-निवासी सूर्य वंशीय क्षत्रिय राजा विदेघ माथव तथा उनके साथ वहाँ पधारने वाले उनके पुरोहित गौतम रहूगण हुए । विदेघ माथव के प्रयास से ही वहाँ बाहर से आकर मनुष्य वास करने लगे, और अनन्त काल की वीरान और दलदली भूमि सर्वतोभावेन उन्नत नगर एवं कृषि-योग्य अति उत्तम तथा उर्वर क्षेत्र में परिवर्त्तित हो गयी । अपने नाम पर 'मिथिला' नगर का निर्माण कर वहाँ उन्होंने अपनी राजधानी की स्थापना की । पीछे उनका सम्पूर्ण राज्य मिथिला-राज्य के नाम से विख्यात हुआ । उनके वंशज 'विदेह' एवं 'जनक' कहलाये, जिसका वर्णन पौराणिक कथाओं के आधार पर पूर्व में किया जा चुका है ।

प्राचीन साहित्य के अध्ययन-मनन से यह निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि पुरातन भारतीय आर्यों के औपनिवेशिक अभियान शास्त्रजन्य सांस्कृतिक रहे हैं, शस्त्रजन्य नहीं । उनके अभियानों के ढंग एवं परिणामों से उनकी हिंस्र प्रकृति का परिचय नहीं मिलता है । पुराणों, बौद्ध जातकों तथा पुरातत्त्व सम्बन्धी अन्वेषणों से भी यह पता चलता है कि उनके

---

१. कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पांचालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः ।।
(मनु०- अध्याय-२, श्लोक-१९)

२. हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः ।।
(मनु०- अध्याय-२, श्लोक- २१)

३. आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ।।
(मनु०- अध्याय-२, श्लोक-२२)

सान्निध्य से वहिर्भूत मनमोदकारी एकान्त सांस्कृतिक सम्पर्क का सुरभित सुमन-सौरभ ही दशों दिशाओं को अपने ज्ञान-विज्ञान से सदा सुवासित कर रहा था। उनमें ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थपरता आदि का लेश अपवाद रूप में बड़ी कठिनाई से कभी देखने को मिलता था। यही कारण था कि नृपति विदेघ माथव को अपने गृह-राज्य ब्रह्मावर्त्त से विजय-अभियान के क्रम में पूर्व दिशा में सुदूरस्थित सदानीरा तक पहुँचने में मार्ग के किसी प्रतिरोधक शासक-शक्ति के विरोध का सामना न करना पड़ा। सभी उनके मित्र ही बने रहे। उन्होंने भी अपना आधिपत्य सदानीरा के दूसरे तट की भूमि, जिसपर उनके पूर्व किसी दूसरे का अधिकार न था, के ऊपर स्थापित कर वहाँ विदेह राजवंश की नींव दी। उन्होंने तथा उस कुल के पश्चाद्वर्त्ती नरपतियों ने श्रद्धा, संलग्नता, एवं विशुद्ध देश तथा प्रजा-प्रेम के साथ अपनी निष्ठा, कर्मठता और अनासक्त कार्य-कुशलता से उस भू-भाग की प्रकृति-प्रदत्त प्रतिकूलता का अतिक्रमण कर उसे अनुकूल, उर्वर एवं सर्वोपयोगी बनाया, जो आगे चलकर भौतिक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विकास के क्षेत्र में संसार के सम्मुख आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। मिथिला भूमि विदेघ माथव तथा उनके वंशधरों की वशवर्त्तिनी बनकर भौतिक उन्नति के क्षेत्र में रत्न-प्रसवा बन गयी और साथ ही ज्ञान-विज्ञान की जननी भी। मिथिला दर्शन-ज्ञान का वह प्रभव-स्रोत बनी जहाँ बड़े-बड़े तत्त्वविद् अध्यात्म-चर्चा के हेतु विदेह जनकों की राज-सभा में सदैव पधारते रहते थे।

भारतीय काल-गणना के अनुसार मिथिला जनपद के स्थापना-काल का निर्णय

'ऋग्वेद' विश्व के पुस्तकालय का प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है। उसमें गंगा, यमुना आदि नदियों का यथास्थान उल्लेख पाया जाता है, किन्तु पर्वतराज हिमालय का नहीं। भू-गर्भ-विज्ञानविद् मनीषियों का मत है कि प्राग्वैदिक युग में उत्तर भारत के बहुत बड़े अंश में समुद्र लहरा रहा था। हिमालय की उत्पत्ति सर्वप्रथम ज्वालामुखी के रूप में हुई। उसके द्वारा क्षारयुक्त कीचड़ आदि का विस्फोट हुआ। ज्वालामुखी के गर्भ से बहिर्भूत पदार्थों के एकत्र होने से उसके दक्षिणी भाग में दलदली भूमि का निर्माण हुआ। 'ऋग्वेद' (मंडल १०, सूक्त-१३६, मन्त्र-५) से ज्ञात होता है कि सप्तसिन्धु से पूर्व के भाग में वैदिक ऋषियों को उदधि के होने का ज्ञान था। प्राकृतिक परिवर्त्तनों के कारण सप्तसिन्धु के पूरब-दक्षिण की भूमि जलीय पोषण से शनैः-शनैः ठोस होती गयी तथा उसमें धीरे-धीरे वृक्ष, वनस्पतियों का उद्भव होने लगा। भू-गर्भ-शास्त्र के ज्ञाता यह भी स्वीकार करते हैं कि हिमालय पर्वत का वर्तमान स्वरूप क्रमशः विकसित हुआ है। उसकी उत्तुंग चोटियाँ अनेक बार समुद्र-गर्भ के सहस्रशः वर्षों के अन्तराल में प्रकट हुई हैं। उन सबों की यह भी मान्यता है कि इस प्राकृतिक विकास में कम-से-कम पचास लाख वर्षों की अपेक्षा की जा सकती है।

भारतीय काल-गणना के क्रम में सत्ययुग, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग, इन चार युगों की एक चतुर्युगीय (चौखरी) होती है, जिसका भोग-काल ४३,२०,००० वर्ष माना गया है। इनमें कलियुग का भोगकाल ४,३२,००० वर्ष का होता है, जिसमें १९६८ ई० पर्यन्त ५०६८ वर्ष का भोग समाप्त हो चुका है। सम्पूर्ण भोग-काल ४,३२,००० से ५,०६८ वर्ष

घटा देने पर ४,२६,९३२ वर्ष कलियुग का भोग-काल शेष बच जाता है । चतुर्युगी के भोग-काल ४३,२०,००० में से कलियुग की शेष अवधि ४,२६,९३३ वर्ष मुक्त कर देनें से ३८,९३,०६८ वर्ष शेष बचता है । भारतीय गणना के अनुसार यही वैवस्वत मन्वन्तर की चतुर्युगी का व्यतीत-काल होता है । वैवस्वत मनु के पुत्र इक्ष्वाकु ने अपनी राजधानी अयोध्या में बनायी थी । इक्ष्वाकु के कई पुत्र हुए, जिनमें प्रथम पुत्र विकुक्षी ने सूर्यवंश की मूल शाखा अयोध्या-राज्य का शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया, एवं द्वितीय पुत्र निमि, जो महत्त्वाकांक्षी युवक था, नयी भूमि की खोज में (कोलम्बस की भाँति) पूर्व की ओर अग्रसर हुआ । उसी निमि के पुत्र मिथि हुए, जिसने पूर्वोत्तर भारत में सदानीरा नदी को पार कर मिथिला नगरी एवं जनपद की स्थापना की, जिसका वर्णन पौराणिक कथाओं के उद्धरणों के साथ अन्यत्र किया गया है तथा जिसकी सम्पुष्टि 'शतपथ ब्राह्मण' से भी होती है । उपर्युक्त काल-निर्णय भारतीय काल-गणना के आधार पर अंकित किया गया है, जिसको आधुनिक विद्वान् स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं । इस विषय की वैज्ञानिक विवेचना आगे की गयी है । परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि 'शतपथ ब्राह्मण' में वर्णित विदेघ माथव (निमि-पुत्र मिथि) द्वारा मिथिला नगरी एवं जनपद की स्थापना अति प्राचीन काल में हुई । हिमालय को जन्म देनेवाले ज्वालामुखी के प्राकट्य के हजारों वर्ष पीछे तक उस अंचल की भूमि मानव-निवास के उपयुक्त नहीं रही होगी । उसके ठंडा होने में भी सहस्रशः वर्ष लग गये होंगे । तब कहीं यहाँ की दलदली भूमि वनस्पतियों के उगने के योग्य हुई होगी ।

डा० ओल्डेनबर्ग ने अपने 'बुद्ध' नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ में अंकित किया है कि संहिता-काल में आर्य-सभ्यता का केन्द्र भले ही सरस्वती एवं दृषद्वती नदियों के बीच का भू-भाग, जिसे मनु ने 'ब्रह्मावर्त्त' की संज्ञा दी है, रहा हो, किन्तु ब्राह्मण-काल में उस संस्कृति का केन्द्र कुरु-पंचाल एवं उसके आस-पास के प्रदेशों में था, जिसे स्मृतिकार ने 'ब्रह्मर्षि-देश' कहा है । 'शतपथ ब्राह्मण' से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उत्तर ब्राह्मण-काल में आर्यों ने पूर्व की ओर बढ़कर सदानीरा को पार किया और उसके पूर्व में विदेह भूमि अथवा मिथिला प्रदेश में आर्य संस्कृति का विकास, विस्तार तथा प्रसार किया ।

प्रोफेसर ववरण ने अपने 'इण्डियन स्टडीज' नामक ग्रन्थ में यह प्रतिपादन किया कि ब्राह्मण-धर्मी आर्यों के पूर्व की ओर अभियान की तीन अवस्थाएँ सिद्ध होती हैं । प्रथम अभियान में सप्तसिन्धु (पंजाब) प्रदेश में उन्होंने अपना विस्तार-विकास किया और द्वितीय अभियान में वे सरस्वती नदी के किनारे तक पूर्व दिशा में बढ़ आये । तृतीय अभियान में आर्य राजा एवं ऋषि सदानीरा के किनारे तक पहुँच गये और उसको पारकर उसके पूर्वीय क्षेत्र में भी उन्होंने अपनी सत्ता स्थापित कर ली । यह अभियान वैदिक-संहिता युग के निकट भविष्य में ब्राह्मण-काल में हुआ था, ऐसा ब्राह्मण-ग्रन्थों से पता चलता है ।

विदेह राज्य की प्राचीनता

ऋग्वैदिक काल में राजा विदेघ माथव के पुरोहित गौतम रहूगण विद्यमान थे । इसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है । राजा विदेघ माथव ने ब्रह्मावर्त्त के सरस्वती-तट से प्रस्थान कर सुदूर पूर्व में विजय-अभियान द्वारा सदानीरा के पूरब की ओर भूमि पर अपना स्वामित्व स्थापित किया तथा वहाँ उन्होंने मिथिला राज्य की स्थापना की । 'शतपथ

ब्राह्मण' के विदेघ माथव और पौराणिक कथाओं के विदेह निमि-पुत्र मिथि एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं। इसकी विवेचना भी हो चुकी है। इन कथाओं की प्राचीनता पर ध्यान देकर विचार करने से इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि विदेह राज्य अति प्राचीन था, जिसका अस्तित्व कम से कम ई० सन् से लगभग तीन-चार हजार वर्ष पूर्व अवश्य था।

भिन्न-भिन्न पुराणों की अनुश्रुतियों के अनुसार महाभारत-कालीन अभिमन्यु-पुत्र परीक्षित से लेकर महापद्म नन्द तक लगभग ११०० वर्ष व्यतीत हुए, जिसका पता पुराणों के निम्नांकित श्लोकों से चलता है :-

यावत्परीक्षितो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम् ।
एतद्वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पंचदशोत्तरम्[1] ।। (विष्णुपुराण) ।
महापद्माभिषेकात्तु जन्म यावत्परीक्षितः ।
एतद्वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पंचाशदुत्तरम् ।। (वायुपुराण) ।
आरभ्य भवतो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम् ।
एतद्वर्षसहस्रं तु शतं पंचदशोत्तरम् ।। (श्रीमद्भागवत महापुराण) ।

परीक्षित एवं महापद्म नन्द के बीच 'विष्णु पुराण' के अनुसार १०१५ वर्ष, 'वायु पुराण' के अनुसार १०५० वर्ष तथा 'श्रीमद्भागवत् महापुराण' के अनुसार १११५ वर्ष व्यतीत हुए। महापद्म नन्द के कुल का अन्तिम राजा घनानन्द सिकन्दर (एलेक्जेण्डर) का समकालीन था। इस प्रकार गणना करने पर महाभारत-काल आज से लगभग ३५०० वर्ष पूर्व कूता जाता है। पर अति प्राचीन काल से आर्य-हिन्दुओं के ब्राह्मण-क्षत्रियादि परिवारों में शुभकर्मों के अनुष्ठान-काल में जो संकल्प पढ़ाया जाता है, उसके अनुसार परीक्षित के राज्य-काल (कलियुग का आरम्भ) से बीसवीं शताब्दी के तृतीय चरण के अन्त तक लगभग ५०७६ वर्षों का व्यतीत होना माना गया है। महाभारत के युद्ध में कौरव-राज दुर्योधन की ओर से भाग लेने वाला मिथिला का राजा 'महाभारत' के 'कर्ण पर्व' के पाँचवें अध्याय के वर्णनानुसार क्षेमधूर्त्ति था। सम्भवतः यह क्षेमधूर्त्ति और 'विष्णुपुराण' में वर्णित 'क्षेमारि' एक ही व्यक्ति था। महाभारत में इस विषय का वर्णन निम्नलिखित श्लोकों में किया गया है :-

''तथैव रथिनां श्रेष्ठ क्षेमधूर्त्तिर्विशाम्पते ।
निहतो गदया राजन् भीमसेनेन संयुगे ।।
तथा राजा महेष्वासो जरासन्धो महाबलः ।
सुमहत्क्रन्दनं कृत्वा हतः सात्यकिना रणे ।।''

(महाभारत, कर्ण पर्व, अध्याय- ५)।

'विष्णुपुराण' का क्षेमारि ३५ वाँ जनक था। वह राम के श्वसुर सीरध्वज जनक के पश्चाद्वर्त्ती १३वीं पीढ़ी में हुआ था। निःसन्देह राम का अवतरण इस धराधाम पर कृष्णयुग (महाभारत-काल) से सदियों पूर्व हुआ था। मिथि जनक-विदेह का काल सीरध्वज जनक के समय से शतशः वर्ष पूर्व कूतना अनुचित नहीं होगा; क्योंकि सीरध्वज जनक के १९ पीढ़ी पूर्व मिथि का होना पुराणों के लेखों से सिद्ध होता है। पुराणों का संकलन-काल विशेष कर गुप्तकालीन चौथी पाँचवीं शती बताया जाता है, जो देश के

१. पाठान्तर– 'पंचशतोत्तरम्' (१५०० वर्ष)– यही पाठ उचित है।

सर्वांगीण विकास के लिए और साथ ही साहित्यिक विकास के लिए भी स्वर्णयुग माना गया है । इस काल में आख्यानों के रूप में ब्राह्मणों द्वारा सहस्रशः वर्षों से परम्परागत संरक्षित एवं सुरक्षित अपरिमित भारतीय इतिहासनिधि के प्राप्य अंश को संकलित एवं सम्पादित कर लिपिबद्ध किया गया था । इस प्रकार के सम्पादन में विस्मरणशील मानव मस्तिष्क द्वारा भूल होने की विशेष सम्भावना रहती है, वृद्धि करने की नहीं । इस प्रकार विचार करने पर अपेक्षित काल में कुछ योग ही होगा, ऋण कदापि नहीं ।

मिथिला-राज्य के संस्थापक नृपति मिथि का काल कम से कम ईसवी सन् से ३३२३ से ३००० वर्ष पूर्व होना आधुनिक विद्वानों द्वारा निश्चित किया जाता है (डी० एस० त्रिवेदः मौर्यन् हिस्ट्री ऑफ बिहार, ४६ जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी, ३२ भाग ३, ४, पृ० ८२, ८३) ।

पुराणों से पश्चाद्वर्त्ती विदेहों को लेकर ५४ जनकों के नामों का पता चलता है । उनमें से अधिकांश का अंकन यथा-स्थान प्रसंगवश पुस्तक में आगे किया जायेगा । इन नामों के अतिरिक्त और नाम भी हो सकते हैं, जो पौराणिक आख्यानों के संकलन-कर्त्ता द्वारा भूल से छूट गये हों, अथवा जिन्हें जानबूझ कर भी किसी कारणवश छोड़ा गया हो। श्री डी० एस० त्रिवेद ने बौद्ध जातकों के आधार पर इस वंश के राजाओं के केवल कई नाम दिये हैं, यथा– निमि, मिथि, सीरध्वज, अरिष्ट, जनक, महाजनक द्वितीय, अंगति, सुरुचि, साधीन तथा कराल । परन्तु इस सूची में पूर्व तथा परवर्त्ती जनकों के नाम मिश्रित रूप से उल्लिखित हैं ।

'शतपथ ब्राह्मण' की 'बृहदारण्यकोपनिषद्' के वर्णनों से पता चलता है कि वैदिक उपनिषद्-काल में मिथिला की विदेह-राज्य-सभा अति सम्मान्य एवं सर्वमान्य थी, जिसके प्रधान सभासद् अध्यात्मविद्या तथा दर्शन-शास्त्र-विशारद अरुणी-शिष्य देवरथ-पुत्र ऋषि *याज्ञवल्क्य* थे, जो वेदों की अनेक ऋचाओं के कर्त्ता थे । उस काल का विदेह-राज्य विद्या-कला में अति समुन्नत था । राज्य में स्त्री-शिक्षा चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। अति गहन दार्शनिक विषयों पर हुए मैत्रेयी-याज्ञवल्क्य तथा याज्ञवल्क्य-गार्गी सम्वादों का उक्त 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में जो वर्णन आया है, वह उस प्राचीन काल में भी स्त्रियों के अपरिमित वैदिक एवं दार्शनिक ज्ञान का द्योतक है । उन आख्यानों में एक आख्यान यह भी है कि विदेह राजकुल के षष्ठ जनक राजा देवरात ने एक बार अश्वमेध यज्ञ करने का अनुष्ठान किया । उसमें सम्मिलित होने के हेतु पंचनद प्रदेश आदि सुदूर देशों से विद्वान् ब्राह्मणों का आह्वान किया गया था, और आमन्त्रित होकर वहाँ मिथिला में बहुसंख्यक विद्वान् ब्राह्मण आये भी । राजा ने यह जानने की इच्छा से कि उस समवेत पवित्र ब्राह्मण-मंडली में सबसे मेधावी व्यक्ति कौन है जो ब्रह्म-निरूपण अति दक्षता से करने में सक्षम हो सकता है, एक सहस्र गौओं के सींगों में स्वर्ण मँढ़वा कर सर्वश्रेष्ठ मनीषि-प्रवर को दान देने का निश्चय किया । याज्ञवल्क्य ने शास्त्रार्थ में सबों को पराजित कर उन गायों को प्राप्त किया, तथा वे राजा के परम पूज्य गुरु-पद पर प्रतिष्ठित हुए । ऋषि याज्ञवल्क्य का शिष्य सामश्रवा गुरु-आज्ञा से सभी आत्मविद् अध्यात्मविद्या-विशारद वहाँ एकत्रित विद्वानों के समक्ष ऋषि के पाण्डित्य के उपहार में प्राप्त उन अलंकृत गायों को सगर्व ऋषि-आश्रम

ले गया । इन उपाख्यानों से स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में भी मिथिला का स्थान ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अति उच्च था, और वहाँ संस्कृत विद्या का अध्ययन-अध्यापन पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था । याज्ञवल्क्य मिथिला के अधिवासी एवं विभूति थे, ऐसा प्रतीत होता है; क्योंकि कुरु-पांचाल से जो विद्वान् वहाँ पधारे थे, उनमें उनका नाम न था ।

विदेह-राजकुल-गुरु याज्ञवल्क्य ऋषि 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' के रचयिता माने जाते हैं । यह स्मृति ग्रन्थ मिताक्षरा व्याख्या का आधारभूत है, जो सम्पूर्ण भारत में सम रूप से समादृत है । विज्ञानेश्वर ने इस स्मृति ग्रन्थ पर भाष्य (मिताक्षरा) की रचना की थी । वह सम्भवत: मिथिला का निवासी न था । यह विज्ञानेश्वर विक्रम (१०वीं शती) की सभा में रहता था । इसके विषय में मिताक्षरा-भाष्य के अन्तिम श्लोक में अधोऽङ्कित रूप में वर्णन किया गया है । यथा–

"नासीदस्ति भविष्यति क्षितितले कल्याणकल्पं पुरम्
नो दृष्ट: श्रुत एव वा क्षितिपति: श्रीविक्रमार्कोपम: ।
विज्ञानेश्वरपण्डितो न भजते किंचान्यदन्योपम:
आकल्पं स्थिरमस्तु कल्पलतिकाकल्पं तदेतच्चयम् ।।"

उपर्युक्त उद्धरण से पता चलता है कि विक्रमादित्य की सभा का पण्डित विज्ञानेश्वर बम्बई के कल्याण नगर का निवासी था ।

मनुस्मृति एवं वैदेह

'मनुस्मृति' अध्याय-१० की श्लोक संख्या- ११ में 'वैदेह' शब्द आया है । सम्बद्ध श्लोक में बताया गया है कि वैश्य पुरुष से ब्राह्मणी कन्या के साथ प्रतिलोम सम्बन्ध से जो अपत्य उत्पन्न होता है, वह 'वैदेह' कहलाता है, यथा–

"क्षत्रियाद् विप्रकन्यायां सुतो भवति जातित: ।
वैश्यान्मागधवैदेहो राजविप्राङ्गनासुतौ ।।"

अर्थात् क्षत्रिय पुरुष के द्वारा ब्राह्मण की कन्या से उत्पन्न अपत्य 'सूत' जाति का, वैश्य पुरुष एवं क्षत्रिय-कन्या से उत्पन्न 'मागध', तथा वैश्य पुरुष और ब्राह्मण-कन्या के संयोग से उत्पन्न 'वैदेह' जाति का होता है ।

'मनुस्मृति' के उसी अध्याय के श्लोकांक १७, १९, २६, ३३ तथा ४७ में 'वैदेह' शब्द का प्रयोग हुआ है, और उन सभी स्थानों में पूर्वोक्त प्रकार से वैदेहों की उत्पत्ति के कारण उन्हें समाज में प्रतिष्ठा का पात्र नहीं बताया गया है । इससे ज्ञात होता है कि 'मनुस्मृति' की रचना 'शतपथब्राह्मण', 'बृहदारण्यकोपनिषद्' आदि ग्रन्थों के प्रणयन के बहुत काल पश्चात् हुई है, जिस समय कालचक्र के प्रभाव से 'वैदेह' शब्द का अर्थ बदल गया था । ब्राह्मण एवं उपनिषद्-कालिक 'विदेह' तथा 'वैदेह' शब्दों की व्याख्या ऊपर की जा चुकी है, जो मनुस्मृति-कालिक अर्थ से पूर्णतया भिन्न एवं विपरीत है । उपनिषद्-कालिक विदेहों (वैदेहों)–जनकों के उच्च दार्शनिक ज्ञान की प्रशंसापूर्ण गाथाओं से रामायण, महाभारत, गीता, पुराणादि प्राचीन ग्रन्थ भरे पड़े हैं । विदेह जनकों की श्रेष्ठता सर्वमान्य थी, जिनके पास अष्टावक्र, शुकदेव आदि महर्षिगण ब्रह्मज्ञान की शिक्षा-प्राप्ति के हेतु

प्रायः आया-जाया करते थे । पर एक ही कुल के सभी पुरुष सदा एक से नहीं होते । कालान्तर में उनके स्वभाव, शिक्षा, आचार, विचार आदि में भिन्नता का आना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है । आदिकाल से संसार परिवर्त्तनशील रहा है, और यह क्रम भविष्य में भी चालू रहेगा ही ।

शब्दों को 'कामधेनु' कहा गया है । सम्भव है, 'वैदेह' शब्द का व्यवहार दोनों अर्थों में होता रहा हो । एक निमि विदेह के वंशजों के लिए तथा दूसरा उपरोक्त प्रतिलोम वर्णसंकर सन्तानों के लिए । मनु ने जाति-निर्णय के प्रकरण में उनमें से एक का आवश्यकतानुसार अंकन किया हो, ऐसा भी हो सकता है ।

विदेह राजकुल के संस्थापक निमि मिथि क्षत्रिय थे, इसका उल्लेख पूर्व में किया गया है । पुराणों में इसका वर्णन है । निमि राजा मिथि के पिता थे । मिथि की उत्पत्ति का पौराणिक वर्णन पहले संक्षेप में किया जा चुका है । मनु-पुत्र इक्ष्वाकु के तनय निमि वशिष्ठ ऋषि के शाप से विदेह बन गये अर्थात् उनकी मृत्यु हुई । मनु सूर्य के पुत्र थे, और सूर्य की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई थी । अतः विदेह राजवंश के भूपतिगण सम्मान्य सूर्य-वंशीय क्षत्रिय-कुलावतंस थे, प्रतिलोम वर्णसंकर नहीं । इस इक्ष्वाकु-वंश ने याज्ञवल्क्य-युग के जनक तथा रामायण-युग के राम के श्वसुर सीरध्वज जनक जैसे श्रेष्ठतम ज्ञान-विज्ञान-मंडित दार्शनिक मनीषि-प्रवर नरेशों के जैसे आदर्श व्यक्तियों को उत्पन्न करने का सौभाग्य, सुयश एवं गौरव प्राप्त किया था, जो विश्वविख्यात है । विदेह-भूमि मिथिला का सर्वांगीण विकास (आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं भौतिक) ब्राह्मण काल तथा सूत्र-काल के बहुत पूर्व संहितायुग के आदि में ही हो चुका था, और वैदिक समाज में, विशेषकर ब्राह्मण-काल में, विदेहों की मान-प्रतिष्ठा अत्यधिक हो चुकी थी, जिसके फलस्वरूप वे अति पुराकाल में आर्य-संस्कृति के प्रतीक माने जाते थे । विदेशी विद्वान् डा० वी० सी० लौ की धारणा भी उपर्युक्त वर्णन से मिलती-जुलती है । 'ट्राइब्स ऑफ ऐन्शिएन्ट इण्डिया' में उन्होंने विदेह राजवंश के विषय में अपना उद्गार प्रकट किया है ।

दर्शन-ज्ञान के क्षेत्र में विदेहों की अग्रगण्यता का दिग्दर्शन ऊपर संक्षेप में किया गया है । पश्चाद्वर्त्ती बौद्ध जातक ग्रन्थों से विदेहों के भौतिक विकास पर भी प्रकाश पड़ता है । उन ग्रन्थों में विदेह जनपद के अतुल बल-विभव, नगर-निर्माण, पुर-द्वार, प्राकार, वीथियों, मनोरम उपवन, सेवा, सामरिक सामान, योद्धा, गोधन, अश्व, गज, रथादि, राजकर्मचारी एवं पदाधिकारीगण आदि का अलौकिक वर्णन किया गया है ।

शुकदेव ऋषि राजा जनक की मिथिला नगरी में पहुँचकर तथा उसके वैभव को देखकर भौंचक से रह गये थे । उस काल की मिथिला का वर्णन 'महाभारत' में निम्नलिखित शब्दों में किया गया है :-

"पत्तनानि च रम्याणि स्फीतानि नगराणि च ।
रत्नानि च विचित्राणि शुकः पश्यन्न पश्यति ।। १७।।
उद्यानानि च रम्याणि तथैवायतनानि च ।
पुण्यानि चैव रत्नानि सोऽत्यक्रामदथाध्वगः ।। १८।।
सोऽचिरेणैव कालेन विदेहानाससाद ह ।

रक्षितान्धर्मराजेन जनकेन महात्मना ।। १९।।
तत्र ग्रामान् बहून्पश्यन्बह्वन्नरसभोजनान् ।
पल्लीघोषान्समृद्धांश्च बहुगोकुलसंकुलान् ।। २०।।
स विदेहानतिक्रम्य समृद्धजनसेवितान् ।
मिथिलोपवनं रम्यमाससाद समृद्धिमत् ।।''२२।।
(महाभारत, भा० १२, ३२५, १७-२२)

तथा और भी
''सर्वे राज्ञो मैथिलस्य मैनाकस्येव पर्वताः ।
निकृष्टभूता राजानो वत्सा ह्यनडुहो यथा ।।
(महा०, भा० ३, १३४, ५) ।

अर्थात् जैसे सभी पर्वत मैनाक पर्वत से छोटे हैं, सभी बछड़े सांड़ से छोटे होते हैं, उसी प्रकार मिथिला के अधीश्वर से अन्य सभी नृपति गण छोटे हैं । यह है मिथिलेश जनक के सम्बन्ध में महाभारत-कर्त्ता की अत्युच्च धारणा, जिसको उन्होंने उपर्युक्त श्लोक में अति श्रद्धा के साथ व्यक्त किया है ।

शुकदेव मिथिला के राजा जनक की राजसभा में ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के हेतु गये थे । पर अध्यात्म-विद्या-अध्ययन के पूर्व जनक के सांसारिक विभव का पर्यवेक्षण कर वीतराग मुनिश्रेष्ठ की बुद्धि चकरा गयी, जिसका वर्णन ऊपर अंकित श्लोकांक १७, १८, १९, २० एवं २२ में किया गया है । विदेह जनक-गण दार्शनिक ज्ञान में जितने बढ़े-चढ़े थे, उनकी मिथिला विभव-समृद्धि में उससे कम न थी ।

विदेह जनकों की राजधानी के विषय में विविध मत

जन साधारण की धारणा है कि वर्तमान नेपाल राज्य के महोत्तरी जिले में स्थित आधुनिक जनकपुर, जो जलेश्वर से लगभग १० मील, और सीतामढ़ी से ३२ मील की दूरी पर है, में पुराकाल में विदेह-राज्य की राजधानी थी । वाल्मीकीय रामायण के बाल-काण्ड के वर्णन से उसके उस दिशा में अस्तित्व की पुष्टि होती है । मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र के साथ कौशलेश दशरथ-कुमार राम ने सानुज मिथिला की यात्रा की थी । शाहाबाद (आरा, भोजपुर) जिले के तपोवन में ऋषि-यज्ञ की रक्षा दोनों बन्धुओं ने उत्पाती राक्षसों का वध कर की थी । मिथिला-गमन उसके पश्चात् हुआ था । मार्ग में उन सबों ने गंगा नदी को पार किया । पश्चात् नौकारूढ़ होकर गण्डक (सदानीरा अथवा शालग्रामी) नदी के जलमार्ग से वे सब वैशाली की ओर चले, जहाँ पर वहाँ के नरेश सुमति ने उन सबों का आतिथ्य किया । उस स्थान से विश्वामित्र-दल ने स्थल-मार्ग का अवलम्बन किया, और वे सब आगे बढ़े । उन्हें मार्ग में एक सुन्दर, पर परित्यक्त आश्रम मिला, जहाँ भगवान राम ने ऋषि का आदेश पाकर अपने पावन पद-स्पर्श द्वारा पति-शाप से शिलाभूत गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या का उद्धार किया ।

इस घटना का वर्णन वाल्मीकीय रामायण में निम्नांकित रूप में किया गया है:-
अतिथी परमं प्राप्तौ पुत्रौ दशरथस्य तौ ।
पूजयामास विधिवत् सत्काराहौं महाबलौ ।।८।।

ततः परमसत्कारं सुमतेः प्राप्य राघवौ ।
उष्य तत्र निशामेकां जग्मतुर्मिथिलां ततः ।।९।।
तां दृष्ट्वा मुनयः सर्वे जनकस्य पुरीं शुभाम् ।
साधु साध्विति शंसन्तो मिथिलां समपूजयन् ।।१०।।

(वाल्मीकीय रामायण, बालकांड) ।

अर्थात् राजा सुमति ने परम आदरणीय अतिथि के रूप में उपस्थित ऋषि के साथ उन दोनों महाबली दशरथ-पुत्रों (राम और लक्ष्मण) का विधिपूर्वक आतिथ्य-सत्कार किया । दोनों ही राजकुमारों ने ऋषि विश्वामित्र के साथ वहाँ रात्रि में विश्राम किया, और उषा काल में उठ कर नित्यकर्मों से निवृत्त हो मिथिला (जनक-नगरी) के लिए प्रस्थान किया । विशाला से चलकर वे सब मिथिला-राज्य में आये । वहाँ राजा जनक के राज्य-पुरों की शोभा देखकर सभी महर्षि 'साधु-साधु' कहने लगे, तथा उन सबों ने राजा जनक के राज्य की उन पुरियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की ।

पश्चात् उन सबों ने वहाँ के एक उपवन में पदार्पण किया, जहाँ रमणीय, पर सुनसान तथा त्यक्त आश्रम था । ऋषि विश्वामित्र से उस गौतम-आश्रम तथा उक्त ऋषि की पत्नी अहिल्या की कथा सुनकर गुरु के ही अनुरोध से राम और लक्ष्मण ने उस निर्जन-वीरान आश्रम में प्रवेश कर पति-शाप से शिला-भूता ऋषि-पत्नी अहिल्या का उद्धार किया । वहाँ से उन सबों ने पूर्वोत्तर दिशा (ईशान कोण) की ओर राजा जनक की राजधानी में होनेवाले धनुष-यज्ञ में सम्मिलित होने के हेतु प्रस्थान किया ।

वाल्मीकीय रामायण के ४९ वें तथा ५० वें सर्गों में राम के ऊर्द्ध्व-अंकित मिथिलागमन का वर्णन किया गया है, जिनमें से कतिपय श्लोकों का उद्धरण नीचे दिया जाता है :–

''तदागच्छ महातेज आश्रमं पुण्यकर्मणः ।
तारयैनां महाभागामहल्यां देवरूपिणीम् ।।११।।
विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य आश्रमं प्रविवेश ह ।।१२।।
गौतमोऽपि महातेजा अहल्यासहितः सुखी ।
रामं सम्पूज्य विधिवत् तपस्तेपे महातपाः ।।२१।।
रामोऽपि परमां पूजां गौतमस्य महामुनेः ।
सकाशाद् विधिवत् प्राप्य जगाम मिथिलां ततः ।।'' २२।।

(वाल्मी० रामा०, गीताप्रेस, बालकांड, ४९ वाँ सर्ग) ।

उपर्युक्त अहिल्या-उद्धार का स्थान दरभंगा जिले के सदर अनुमंडल में कमतौल रेलवे स्टेशन के निकट अहियारी ग्राम में है । वह जगह 'अहिल्या स्थान' के नाम से प्रसिद्ध है । सम्भवतः उसका नाम प्राचीन काल में अहिल्या नगरी रहा होगा । अहिल्या के पति सुप्रसिद्ध न्याय-सूत्र के प्रणेता अक्षपाद गौतम मिथिला की ही विभूति थे । अक्षपाद गौतम वैदेही जानकी (सीता) के पिता सीरध्वज जनक के राज्य-काल में वर्तमान थे ।

'स्कन्द पुराण' के वर्णनानुसार ब्रह्मपुरी नामक स्थान में महर्षि गौतम का आश्रम था । वह ब्रह्मपुरी (वर्तमान ब्रह्मपुर) अहिल्या स्थान के निकट ही है । 'स्कन्द पुराण' का एतद्विषयक वर्णन निम्नांकित श्लोकों में किया गया है–

आसीद् ब्रह्मपुरी नाम्ना मिथिलायां विराजिता ।
तस्यां लसति धर्मात्मा गौतमो नाम तापसः ।।

अहल्या नाम तत्पत्नी पतिभक्ता प्रियंवदा ।
सर्वलक्षणसम्पन्ना सासीत्सर्वांगसुन्दरी ।।

ऋषि-पत्नी अहिल्या सर्वगुण-सम्पन्न, प्रियंवदा एवं पति-परायण थीं । उसी के नाम पर अहियारी ग्राम में अहिल्याकुंड है । अहिल्या स्थान से किंचित् दूरी पर उपर्युक्त ब्रह्मपुर (ब्रह्मपुरी) ग्राम है, जिसमें महर्षि अक्षपाद गौतम का निवासस्थान था । ऋषि-निवास के दक्षिण-पश्चिम में गौतम कुंड विद्यमान है । वर्तमान उक्त जनकपुर वाल्मीकीय रामायण के वर्णनानुसार उस अहिल्या स्थान एवं ब्रह्मपुर से उत्तर-पूर्व दिशा में है । वाल्मीकि मुनि के वर्णन से यह बात साबित होती है कि राजा जनक की धनुष-यज्ञ-स्थली अहिल्या आश्रम से उत्तर-पूर्व दिशा में थी ।

वैश्वानर अग्नि के पीछे-पीछे आकर तथा विदेह के साथ मिथिला नगरी बसा कर गौतम रहूगण ने वैदेह भूमि में गौतम वंश की स्थापना की थी । इस कुल के सभी ऋषि 'गौतम' कहलाये । गौतम-वंश के सभी ऋषि श्रेष्ठ विद्वान् तथा तत्त्व-चिन्तक हुए । हरिद्रुमान गौतम अपने काल के सर्वश्रेष्ठ आचार्य और तत्त्व-चिन्तक थे । सत्यकाम जावाल इनके ही शिष्य थे । आगे चलकर ये सत्यकाम जावाल बड़े ही प्रसिद्ध आचार्य और मन्त्रद्रष्टा ऋषि हुए । सीरध्वज जनक के पुरोहित शतानन्द अक्षपाद गौतम के पुत्र थे ।

वैसे तो महाराष्ट्र के नासिक जिले के ब्रह्मगिरि पर्वत, जहाँ से गौतमी (गोदावरी) नदी निकली है, को गौतम ऋषि की तपस्या का आश्रम बताया जाता है । यह स्थान त्र्यम्बकेश्वर ज्योतिर्लिंग के मन्दिर से थोड़ी दूरी पर है, और वहाँ पर्वत की चोटी से एक जलस्रोत प्रवाहित होता है, जिसे गोदावरी का उद्गम स्थान कहा जाता है । बहुत संभव है कि आदि-गौतम ऋषि अथवा उनके गोत्र के किसी अन्य ऋषि ने वहाँ जाकर तप किया हो, जिससे वहाँ गौतम आश्रम का होना अनुश्रुतियाँ बताती हैं । वाल्मीकीय रामायण के कर्त्ता संस्कृत के आदि-कवि वाल्मीकि ऋषि भगवान राम के समकालीन माने जाते हैं । उस ग्रन्थ के वर्णनानुसार उस स्थान से उत्तर-पूर्व की ओर विदेह राज-नगर था । ऊर्द्ध्वांकित आधुनिक जनकपुर भी अहिल्या-स्थान से ठीक उत्तर-पूर्व दिशा में स्थित है । वाल्मीकीय रामायण में एतद्विषयक दिशा-निर्देशन का वर्णन निम्नांकित श्लोक में किया गया है :–

"ततः प्रागुत्तरां गत्वा रामः सौमित्रिणा सह ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य यज्ञवाटमुपागतः ।।" १।।

(वाल्मी० रामा०, गीताप्रेस, बालकांड, ५० वाँ सर्ग श्लोक-१)।

यहाँ 'ततः' (ततः = गौतमआश्रमात्) का अर्थ है उस गौतम-आश्रम से जहाँ राम ने अहिल्या-उद्धार किया था । 'प्रागुत्तरां' (ऐशानीम्) से ईशान कोण (पूर्वोत्तर कोण) का बोध होता है, और 'यज्ञ वाटं' से सीता-स्वयंवर के हेतु जनकपुर में आयोजित धनुष-यज्ञ का स्थान ।

अहिल्या-उद्धार के पश्चात् राम और लक्ष्मण ऋषि विश्वामित्र के साथ जनकपुर की दिशा में अग्रसर हुए, जिसका वर्णन उपर्युक्त श्लोक में किया गया है । मार्ग में उन सबों को जनक-नगर के सन्निकट वर्तमान फुलहर एवं विसौल ग्रामों के तत्कालीन स्थानापन्न ग्राम मिले । फुलहर से राजा सीरध्वज जनक की फुलवारी का बोध होता है, जहाँ बाग-तड़ाग था और देवी गिरि-राजकुमारी का पवित्र मन्दिर । विसौल ग्राम विश्वामित्र-आश्रम का बोध कराता है, जहाँ ऋषि-प्रवर ने सवन्धु राम के साथ विश्राम किया था, तथा राजा जनक समाचार पाकर ब्राह्मण-मण्डली के साथ उनसे मिलने आये थे । कुछ दूरी पर हिसार ग्राम भी है, जहाँ राजा जनक की गज-सेना का आवास बताया जाता है । कोई-कोई हिसार को हथिसार का विकृत रूप बताते हैं । हाथियों के रखने के स्थान को 'हथिसार' कहा जाता है । फुलहर ग्राम सम्भवतः राजा जनक के राजनगर के घेरे में पड़ता था, जहाँ गिरिजा-पूजन के हेतु राजकुमारी जानकी आती-जाती थीं ।

चीनी यात्री हुएन-त्सं एवं मिथिला की राजधानी

चीनी यात्री हुएन्-त्सं ने मिथिला अंचल की यात्रा सातवीं शताब्दी में की थी । उसने उसका किंचित् वर्णन अपने यात्रा-वृत्तान्त-ग्रन्थ 'सी यु की' में किया है । उसके आधार पर पुरातत्व के मर्मज्ञ विद्वान् जेनरल कनिंघम तथा कतिपय अन्य विद्वानों का मत है कि प्राचीन मिथिला की राजधानी चम्पारण जिले में थी । किन्तु वाल्मीकीय रामायण के उपरोक्त वर्णन के सामने उन सबों का यह मत युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता है । उनका कहना है कि चीनी-यात्री के लेखानुसार जनकपुर के पश्चिम में एक प्राचीन नगर का भग्नावशेष होना चाहिये, जिसके उत्तर-पूर्व की ओर लगभग १०० मील की दूरी पर एक स्तूप भी, जो वर्तमान जनकपुर के निकट नहीं है । उनके मतानुसार चम्पारण में मोतिहारी, केसरिया, जानकी गढ़, नन्दन गढ़, वानवन्द गढ़, लोरिया आदि ऐसे स्थान हैं, जो अति प्राचीन हैं, और उन स्थानों में राजधानियों के चिह्न भी विद्यमान हैं ।

नन्दन गढ़ का खण्डहर लगभग ईसा-पूर्व एक सहस्र वर्ष का निर्माण जँचता है, जो करीब डेढ़ सहस्र वर्ष पूर्व त्यक्त हुआ प्रतीत होता है । उसका विशाल भग्नावशेष विस्तृत भू-भाग में फैला हुआ है । प्राचीन किले की लम्बाई-चौड़ाई लगभग ढ़ाई-तीन सौ फीट की वर्गाकार, तथा ऊँचाई करीब ८० फीट की होगी । यह स्थान लोरिया के निकट बेतिया से १५ मील दूरी पर है । इसके निकट एक सुन्दर और विशाल प्रस्तर-स्तम्भ है, जिसके ऊपर सिंह-मूर्त्ति विराजमान है । यह अशोक स्तम्भ है, क्योंकि सम्राट् अशोक के उपदेश इस पर उत्कीर्ण हैं ।

जेनरल कनिंघम के विचार में चम्पारण (मोतीहारी) जिले में ही कहीं पर विदेहों की राजधानी का अस्तित्व ७०० वर्ष ईसा-पूर्व था । हुएन्-त्सं ने उसके सम्बन्ध में कुछ

माप भी दिया है । किन्तु वह भ्रामक प्रतीत होता है । सर्वप्रथम यही नहीं स्पष्ट हो सकता है कि जो नाम उसने लिखा है वह जनकपुर का ही नाम है । हुएन्-त्सं ने अपने 'सी यु की' नामक यात्रा-वृत्तान्त में व्रिज्जी देश की राजधानी का नाम 'चेन-शू-ना' अंकित किया है । व्रिज्जी वा वज्जी को उसमें 'फो-लि-शी' लिखा गया है । एम० जूलिन ने 'चेन-शू-ना' को 'चं-सुंग' समझ लिया है, और सेण्ट मारटिन ने इस नाम का सम्बन्ध जनक और मिथिला की राजधानी जनकपुर से जोड़ा है । विदेहों की राजधानी का नाम सर्वत्र प्राचीन ग्रन्थों में मिथिला बताया गया है । उसका जनकपुर नाम उपनिषदों, पुराणों, बौद्ध एवं जैन साहित्य तथा अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं आया है । अतः कनिंघम आदि पाश्चात्य विद्वानों का एतद्विषयक कथन अत्यन्त संदिग्ध एवं भ्रामक प्रतीत होता है ।

मेजर ग्रियर्सन द्वारा की गयी लोरिया-नन्दन गढ़ के निकट की खुदाई में एक प्राचीन सिक्का (मुद्रा) मिला था, जो ईसा-पूर्व लगभग एक हजार वर्ष से अधिक पुराना प्रतीत होता था (आर्कियोलौजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया का प्रतिवेदन, भाग-१, पृ० ६९, ७०, ७४) । वहीं पर पीछे एक स्वर्ण-पत्र भी प्राप्त हुआ था, जो वैदिक काल का माना जाता है । इन सबों से केवल उन स्थानों की प्राचीनता सिद्ध होती है (कुरेशी : ऐन्शिएण्ट मानूमेण्ट ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा, लोरिया नन्दन गढ़वाला अध्याय) । चम्पारण जिला में जनश्रुति प्रसिद्ध है कि राजा जनक नन्दन गढ़ से लगभग ११ मील उत्तर जानकी गढ़ में रहते थे, और वहाँ नन्दन गढ़ में उनकी बहन (राजा की पटरानी की ननद) रहती थी, जिसका विवाह लोरिया में हुआ था (चम्पारण जिला गजेटियर-१६३) । उसी ननद के निवास के कारण उस स्थान का नाम ननद-गढ़ पड़ा, जो पीछे चलकर नन्दन गढ़ के नाम से प्रसिद्ध हो गया ।

वैशाली के गण-राज्य में नव लिच्छवि तथा नव मल्लकि का सम्मिलित होना बताया जाता है । उनमें से अनेक का अस्तित्व प्राक्-ऐतिहासिक अथवा प्राक्-बौद्ध काल में भी अवश्य रहा होगा । चम्पारण के उक्त खण्डहरों का सम्बन्ध उनमें से ही किसी-न-किसी के साथ होना विशेष सम्भव जान पड़ता है । इतिहासवेत्ताओं द्वारा इस दिशा में शोध होना आवश्यक है ।

वाल्मीकीय रामायण का उपर्युक्त वर्णन अति प्राचीन होने के कारण जनमान्य है । पर यदि असली तत्त्व कुछ और हो तो उसका निर्णय शोध एवं खोज के द्वारा ही होना संभव हो सकता है । किसी विषय में अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचने के हेतु प्रत्यक्ष प्रमाण अथवा प्रमाणों की आवश्यकता होती है । इस कारण विशिष्ट विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट होना अत्यावश्यक है ।

पुरातत्त्व विभाग द्वारा किये गये उत्खननों में प्राप्त अनुभव बताता है कि पृथ्वी एक सौ वर्षों की अवधि में लगभग एक फुट बढ़ती है । इस प्रकार यदि हिसाब लगाकर देखा जाय तो सीरध्वज जनक-युग के भवन आदि के अवशेष को कम से कम ४०-५० फीट धरातल के नीचे होना चाहिए । राजगृह में मणियार मठ आदि के उत्खनन पुरातत्त्व विभाग की ओर से हुए हैं । उससे ऐतिहासिक खोज अधिक से अधिक [illegible] काल से लेकर

गुप्त-काल तक ही पहुँची है । गुप्त-कालीन निर्माण के ८ से १० फीट नीचे मौर्य-काल (ईसा पूर्व २०० से ४०० शताब्दी) के निर्माणों का पाया जाना सम्भव है । उसके नीचे बौद्ध काल का, और उससे भी नीचे प्रागैतिहासिक रामायण-महाभारत-काल के निर्माणों के प्राप्त होने का अनुमान करना चाहिए । ब्राह्मण एवं उपनिषद्-काल तक जाना अति कठिन है ।

मानव इतिहास आरोह-अवरोह की एक शृंखला रहा है । राष्ट्र के जीवन में यदा-कदा स्वर्ण-युग आता है । उत्कर्ष के काल में उसके निवासियों का उत्क्रमण और अपकर्ष की दशा में अपक्रमण एवं अधोगमन होता है । यह संसार-चक्र का अटल नियम आदिकाल से रहा है, और आगे भी रहेगा ही । एक निर्माण के जीर्ण तथा त्यक्त होने पर उसे आधारभूत बनाकर उसी के ऊपर दूसरा निर्माण खड़ा किया जाता है । बिहार राज्य के ही नालन्दा आदि के विशाल एवं विस्तृत खण्डहर-समुदाय इसके प्रमाण हैं । चम्पारण के नन्दन गढ़ के टीले के इतिहास का पता लगाना होगा तभी प्रामाणिक रूप से उसके विषय में अन्तिम निर्णय पर पहुँचना शक्य एवं संभव होगा, अन्यथा नहीं । सिन्धु सभ्यता के मोहेंजोदारो तथा हड़प्पा की खुदाइयों से पता चला था कि उन स्थानों का निर्माण प्राक्-मौर्य-युगीन था, और भारत में अब तक के प्राप्त निर्माणों में सबसे प्राचीनतम भी। उक्त मोहेंजोदारो और हड़प्पा के निर्माण ईंट-युग के थे । चम्पारण के नन्दन गढ़ के निर्माण के विषय में भी पता लगाना चाहिये कि वह किस काल का है । राम तथा सीरध्वज जनक-युग का निर्माण मोहेंजोदारो और हड़प्पा के निर्माणों से अधिक पुरातन होगा, इसमें सन्देह नहीं ।

कौशल-राजकुमार राम ने अपने जीवन-काल में जहाँ भी पदार्पण किया, वे सभी स्थान धर्म-प्राण हिन्दुओं के लिए पवित्र तीर्थ-स्थान बन गये, जहाँ सहस्रशः नर-नारियाँ आज भी दर्शनार्थ नित्यप्रति जाया-आया करती हैं । सुदूर दण्डकारण्य के नासिक और पम्पासुर, नागपुर के निकट का रामटेक पर्वत, दक्षिण जलनिधि-तट-स्थित रामेश्वरम् आदि स्थान अद्यावधि आर्यतीर्थ बने हुए हैं । विदेह-राज का मिथिला नगर, जिसका नाम पीछे चलकर 'जनकपुर' पड़ गया, कोशलेश-कुमार राम का पावन श्वसुरालय था, जहाँ चारों भाइयों के विवाह हुए थे । उसी नगर से कुछ दूरी पर दुष्काल से प्रजावर्ग के त्राण के हेतु लक्ष्मणा नदी के किनारे पुनौरा (पुण्डरीक आश्रम) अथवा सीता-मही (वर्तमान सीतामढ़ी) में हलकर्षण यज्ञ करते समय सम्राट् सीरध्वज जनक ने स्वयं हल चलाया था जिससे प्रजा का कष्ट तो मिटा ही, और साथ ही राजा के हल की नोक के उर्वी (पृथ्वी) के वक्षस्थल में लगते ही एक दिव्य शक्ति प्रादुर्भूत हुई, जिसने तत्काल पैशाचिक वृत्तियों का विनाश किया, और वह सदा के लिए भविष्य पथ को आलोकित करनेवाली अलौकिक ज्योति उर्वीजा, सीता के रूप में विश्व को दे गयी ।

'बृहद् विष्णु पुराण' के अनुसार राजा सीरध्वज जनक ने वह अनुष्ठान अपने दुर्ग से पश्चिम दिशा में जाकर किया था, जिसका वर्णन अधोऽङ्कित रूप में किया गया है :

"दुर्गात्पश्चिमतो भागे योजनत्रितयं परम् ।

यज्ञस्थलं नरेन्द्रस्य यत्र लांगलपद्धती ।।

समुत्पन्ना महाभागा सीता राघववल्लभा ।
जनकेन गृहे नीता साक्षात् मायास्वरूपिणी ।।''

सीरध्वज जनक की राजधानी मिथिला पुरी (जनकपुर) समृद्ध नगरी थी । पुनौरा तथा उससे संलग्न नगर सीतामढ़ी (हल-कर्षण-यज्ञभूमि) मिथिला पुरी (जनकपुर) से ३ योजन अर्थात् २४ मील की दूरी पर स्थित है । कोई पुनौरा को हलकर्षण-भूमि बताते हैं और कोई सीतामढ़ी को । पर दोनों ही हैं प्राचीन स्थान । दोनों में दूरी भी अधिक नहीं है । हलकर्षण यज्ञ-भूमि लक्ष्मणा (लखनदेई) नदी के किनारे थी । वर्तमान सीतामढ़ी लक्ष्मणा की वर्तमान धारा के तट पर है । पर पुनौरा में भी नदी की पुरानी धारा का अवशेष-चिह्न प्रकट है । अत: सीता के प्राकट्य का निश्चित स्थान विवादग्रस्त है । स्थानीय कुछ लोगों का कहना है कि हलकर्षण-यज्ञ राजा जनक ने लक्ष्मणा की तत्कालीन धारा के किनारे पुनौरा में किया था, जहाँ हल की फाल की नोंक के पृथ्वी के साथ स्पर्श होने पर भूमि-सुता सीता का प्रादुर्भाव हुआ । संस्कृत में 'सीता' उस रेखा को कहते हैं जो जमीन जोतते समय हल की फाल से पड़ती जाती है । जानकी की उत्पत्ति हल जोतने के कारण फाल की नोंक से बने चीरा (शिराउर) से हुई थी । अत: नवजात बाला का नाम सीता पड़ा । हलकर्षण-यज्ञ के परिणामस्वरूप आकाश मेघाच्छन्न हुआ । राजा जनक सीता को लेकर अपनी राजधानी लौट रहे थे । कुछ दूर जाने पर मूसलाधार वर्षा आरम्भ हो गयी । उससे नवजात शिशु की रक्षा के हेतु एक मढ़ी (कुटी, झोपड़ी) की आवश्यकता हुई । राजाज्ञा से शीघ्रता में उस स्थान पर एक मड़ई[1] प्रस्तुत की गयी, जिसमें सीता रखी गयी । सीता की वर्षा में रक्षा के हेतु जहाँ मढ़ी बनायी गयी, उसका नाम सीतामढ़ी पड़ा। पर ये सभी स्थानीय अनुश्रुतियाँ हैं । इनमें ऐतिहासिकता कहाँ तक है, यह कहना कठिन है । सीतामढ़ी और पुनौरा दोनों ही जगहों में जंगल था । एक सिद्ध साधु ने सीतामढ़ी के वर्तमान जानकी-स्थान की जगह को राजा जनक की हलकर्षण-यज्ञस्थली प्रमाणित कर वहाँ अपनी धूनी रमायी । पीछे श्रद्धालु भक्तों ने वहाँ मन्दिर बनवाया, तथा उसके निर्वाह के हेतु चल एवं अचल सम्पत्ति का दान दिया । सीतामढ़ी मुजफ्फपुर जिले का अनुमंडल-नगर है । अत: उसका विकास भी सम्यक् हुआ । पुनौरा में एक प्राचीन पोखर है तथा मन्दिर भी । दर्शनार्थी इस तथ्य को निश्चय करने में असमर्थ होकर कि उर्वीजा जानकी का असल प्राकट्य-स्थान दोनों में से कौन है, दोनों ही स्थानों में जाकर अपना श्रद्धाभाव प्रदर्शित करते एवं वहाँ के पावन रज-कणों का पुण्य स्पर्श कर अपने को धन्य मानते हैं । जनश्रुति बताती है कि माया-स्वरूपिणी उर्वीजा सीता के उत्पन्न करने के कारण वहाँ की उर्वी (भूमि, पृथ्वी) पुण्यमयी हो गयी, और इसी कारण उस भूमि का नामकरण पुण्य-उर्वी हुआ, जो आगे चलकर बिगड़ते-बिगड़ते विकृत रूप में 'पुनौरा' कहा जाने लगा ।

सीतामढ़ी और जनकपुर के मार्ग में जलेश्वर महादेव का मन्दिर है । जलेश्वर उस स्थान का नाम भी है, और वह सम्प्रति नेपाल राज्य में है । उक्त जलेश्वर में जिला के बड़े हाकिम का आवास तथा नेपाल-सरकार का न्यायालय एवं आरक्षी-निवास और सैन्य-शिविर आदि हैं । जनकपुर, जलेश्वर और सीतामढ़ी अति प्राचीन काल से आर्य जिज्ञासुओं तथा भक्तों के आकर्षण-केन्द्र-विन्दु रहे हैं, जहाँ भारत के कोने-कोने से और तीर्थों के समान

१. मण्डपी (मड़ैया) ।

ही दर्शनार्थियों के समुदाय आते एवं दर्शन और पूजा-अर्चना करते हैं । चम्पारण के जानकीगढ़ के साथ ऐसी बात नहीं है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा सीरध्वज जनक की राजधानी उसी जनकपुर में अथवा उसके आस-पास थी, अन्यत्र नहीं । उपनिषदें, रामायण, पुराणों एवं बौद्ध जातकों में वर्णित मिथिला नगर वहीं था, यद्यपि उन ग्रन्थों में जनकपुर का नाम आया नहीं है ।

सेण्ट मारटिन आदि पाश्चात्य विद्वानों की यह धारणा है कि पुरा काल में विदेह जनकों की राजधानी चम्पारण जिले में थी, श्री एस० वेल महोदय की पुस्तक 'बुद्धिस्ट रेकार्ड्स ऑफ दी वेस्टर्न वर्ल्ड' जिल्द-२, पृ० ७८ तथा १०१ के उल्लेख पर आधारित है, जो उपर्युक्त तथ्य के समक्ष मान्य नहीं है ।

चम्पारण जिले में प्रचलित जनश्रुति के आधार पर जेनरल कनिंघम राजा जनक की राजधानी वहाँ के जानकीगढ़ में होना स्वीकार करते हैं, वह एक दूसरे अर्थ में सम्भव हो सकता है । विदेह वंश में नृपतिगण को 'जनक' की उपाधि प्राप्त थी । चम्पारण मिथिला जनपद में था ही । सम्भव है, वहाँ भी कुछ काल के लिए किसी जनक ने अपनी राजधानी का स्थानान्तरण किया हो । यह भी सम्भव हो सकता है कि जनक वंश की किसी शाखा ने अपनी राजधानी जानकीगढ़ में स्थापित कर वहाँ से कभी अपने प्रदेश पर शासन किया हो । सच्ची बात तो यह है कि चम्पारण जिले के मोतिहारी, केसरिया तथा लोरिया, नन्दनगढ़ आदि वज्जिसंघ के गणराज्य थे (कनिंघम : हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, १८७१, पृ० ४४५) । सम्भवतः उनमें से किसी के समुन्नत नगर तथा राजभवन का खण्डहर आज वहाँ पर प्राचीन टीलों के रूप में विद्यमान है । प्राचीन रजत-मुद्रा एवं स्वर्ण-पत्र की प्राप्ति उसकी प्राचीनता का द्योतक है, जिसका व्यवहार उस काल में विनिमय में अथवा आभूषण के हेतु होता रहा होगा ।

विदेह जनक-कुल के नृपतियों के प्राप्य नाम

विदेह-राजवंश की स्थापना की आख्यायिका पूर्व में अंकित की जा चुकी है । यह भी लिखा जा चुका है कि पुराणों के अनुसार ५४ जनकों के नाम प्राप्य हैं । उनमें पूर्व के और परवर्ती जनकों के नाम भी सम्मिलित हैं । मैथिली सीता के पिता राजा सीरध्वज जनक थे । वाल्मीकीय रामायण के आदि-काण्ड में निमि से लेकर सीरध्वज तक २२ जनकों के नाम अंकित किये गये हैं, जो नीचे उद्धृत किये जाते हैं:-

''राजाभूत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतः स्वेन कर्मणा ।
निमिः परमधर्मात्मा सर्वसत्त्ववतां वरः ॥३॥
तस्य पुत्रो मिथिर्नाम जनको मिथिपुत्रकः ।
प्रथमो जनको राजा जनकादप्युदावसुः ॥४॥
उदावसोस्तु धर्मात्मा जातो वै नन्दिवर्धनः ।
नन्दिवर्धसुतः शूरः सुकेतुर्नाम नामतः ॥५॥
सुकेतोरपि धर्मात्मा देवरातो महाबलः ।
देवरातस्य राजर्षिर्बृहद्रथ इति स्मृतः ॥६॥

बृहद्रथस्य शूरोऽभून्महावीरः प्रतापवान् ।
महावीरस्य धृतिमान् सुधृतिः सत्यविक्रमः ।।७।।

सुधृतेरपि धर्मात्मा धृष्टकेतुः सुधार्मिकः ।
धृष्टकेतोश्च राजर्षेर्हर्यश्व इति विश्रुतः ।।८।।

हर्यश्वस्य मरुः पुत्रो मरोः पुत्रः प्रतीन्धकः ।
प्रतीन्धकस्य धर्मात्मा राजा कीर्त्तिरथः सुतः ।।९।।

पुत्रः कीर्त्तिरथस्यापि देवमीढ़ इति स्मृतः ।
देवमीढ़स्य विबुधो विबुधस्य महीध्रकः ।।१०।।

महीध्रकसुतो राजा कीर्त्तिरातो महाबलः ।
कीर्त्तिरातस्य राजर्षेर्महारोमा व्यजायत ।।११।।

महारोम्णस्तु धर्मात्मा स्वर्णरोमा व्यजायत ।
स्वर्णरोम्णस्तु राजर्षेर्ह्रस्वरोमा व्यजायत ।।१२।।

तस्य पुत्रद्वयं राज्ञो धर्मज्ञस्य महात्मनः ।
ज्येष्ठोऽहमनुजो भ्राता मम वीरः कुशध्वजः ।।''१३।।

(वाल्मीकीय रामायण, बालकांड, गीताप्रेस, ७१ वाँ सर्ग) ।

'विष्णुपुराण' के चतुर्थ अंश के पाँचवें अध्याय में लिखा है, यथा–

''ततो महातेजाः तस्य स्वर्णतेजा तत्पुत्रो ह्रस्वरोमा ह्रस्वरोम्णः सीरध्वजोऽभवत् ।।''२७।।

वाल्मीकीय रामायण तथा विष्णुपुराण में दिये गये विदेह-वंशीय राजाओं के नामों में किंचित् अन्तर दृष्टिगत होता है । गरुड़पुराण में उल्लिखित नामों में भी ऐसी ही बात दीखती है ।

भविष्य पुराण के अनुसार सूर्यवंशी मनुपुत्र इक्ष्वाकु के तनय के पार्थिव शरीर से उत्पन्न मिथि ने मिथिला की स्थापना की थी । इसका वर्णन समास में पूर्व में किया जा चुका है । मिथि ने मिथिला नगर का निर्माण किया, इसका उल्लेख 'मत्स्यपुराण' के ५५वें सर्ग में भी हुआ है । इसी मिथि के काल में मिथिला के नरेशों का विरुद 'जनक' हुआ, यह पूर्व में अंकित किया गया है । वाल्मीकीय रामायण के आदि-काण्ड के उन श्लोकों को उद्धृत किया जा चुका है, जिनसे निमि से लेकर सीरध्वज तक विदेह राजाओं के नामों का पता चलता है । अन्तिम श्लोकों में यह भी उल्लेख किया गया है कि सीरध्वज जनक के अनुज का नाम कुशध्वज था । जनक, राम तथा सीता के नाम वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र आये हैं । इससे सीरध्वज के काल की प्राचीनता का पता चलता है । वाल्मीकीय रामायण के उपर्युक्त उद्धृत श्लोकों में विदेह जनकों के २२ (बाईस) नाम दिये गये हैं, वे निम्नांकित हैं :–

(१) निमि, (२) मिथि, (३) उदावसु, (४) नन्दिवर्द्धन, (५) सुकेतु, (६) देवरात, (७) बृहद्रथ अथवा बृहदुक्थ, (८) महावीर अथवा महावीर्य, (९) सुधृति अथवा सत्यधृति, (१०) धृष्टकेतु, (११) हर्यश्व, (१२) मरु, (१३) प्रतीन्धक वा परिपक, (१४) कीर्त्तिरथ वा कृति अथवा कृतारथ, (१५) देव मीढ़ अथवा देवमिद्ध वा देवमिद्ध कृति, (१६) विबुध वा विश्रुत अथवा विसृत, (१७) महीध्रक अथवा महाधृति कृति, (१८) कीर्त्तिरात, (१९) महारोमा, (२०) स्वर्णरोमा वा सुवर्णरोमा, (२१) हरस्वरोमा वा ह्रस्वरोमा, (२२) सीरध्वज ।

उपरि-अंकित विदेह-जनकों के रामायण में दिये गये नामों के साथ उन नामों से मिलते-जुलते पुराणों में उल्लिखित नाम भी जानकारी के हेतु रामायण के नाम के सामने 'वा' 'तथा', 'अथवा' लिखकर विकल्प से लेखबद्ध कर दिये गये हैं ।

पुराणों के अध्ययन से लगभग ५४ जनकों के नामों का पता चलता है, इसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है । वाल्मीकीय रामायण के वर्णनानुसार जनक राजवंश के २२ नृपतियों ने सीता के पिता सीरध्वज जनक तक मिथिला के सिंहासन से उस जनपद का शासन किया था । उनके नाम भी ऊपर अंकित किये गये हैं । उपर्युक्त नामों में से कतिपय का मेल ''गरुड़ पुराण' के वर्णन से नहीं होता है । उसमें किंचित् भिन्नता पायी जाती है । वहाँ विदेह वंश के प्रथम एवं द्वितीय नरेन्द्र निमि तथा मिथि के नामों का उल्लेख नहीं किया गया है । अयोध्या के प्रसुश्रुत-पुत्र उदावसु को उस ग्रंथ में इस कुल का आदि-पुरुष बताया गया है । सीरध्वज जनक के पुत्र भानुमन्त हुए । भानुमन्त के सुत सत्यद्युम्न थे, जिनका नाम 'वायु पुराण' में प्रद्युम्न अंकित किया गया है । सत्यद्युम्न अथवा प्रद्युम्न के पुत्र शुचि हुए । 'वायु पुराण' में इनका नाम 'मुनि' लिखा पाया जाता है । शुचि-मुनि के पुत्र का नाम ऊर्जवह था । ऊर्जवह के बाद सुतध्वज हुए । 'विष्णु पुराण' में इनको सत्वरध्वज तथा 'भागवत पुराण' में सनध्वज कहा गया है । 'वायु पुराण' में इनके तनय का नाम शकुनी है, परन्तु 'विष्णु पुराण' में इनको कुनी की संज्ञा दी गयी है । 'भागवत महापुराण' में इस नाम का उल्लेख नहीं है । कुनी के पश्चात् विदेह-जनक राजवंश की मुख्य शाखा दो भागों में बँट गयी । उनमें से एक का वर्णन 'वायु पुराण' में है तथा दूसरे का 'विष्णु पुराण' में । सम्भवतः कुनी के दो पुत्रों में राज्य का बँटवारा हो गया, जिसके कारण एक ही कुल की दो शाखाओं में से केवल एक का वर्णन एक पुराण में किया गया है तथा दूसरी का दूसरे पुराण में । विष्णुपुराण का क्षेमारि ३५ वाँ जनक था, जिसने महाभारत के युद्ध में कौरवों का सहायक बनकर भाग लिया था, एवं कुरुक्षेत्र के उस विनाशकारी महासमर में वीरगति को प्राप्त हुआ था । क्षेमारि अथवा महाभारत के क्षेमधूर्त्ति का काल-निर्णय पुराणों के लेखों के आधार पर पूर्व में महाभारत के काल-निर्णय के साथ किया जा चुका है । उस काल-निर्णय को स्थिर बिन्दु स्वीकार कर लेने पर ३५ पीढ़ी पूर्व के महाराज निमि के राज्य-शासन के समय का भी अनुमान लगाया जा सकता है । इतिहास के विद्वानों ने ऐसा किया भी है ।

'विष्णु पुराण' में विदेह वंश के उत्तरकाल की जो वंशावली दी गयी है, उसके अनुकूल सीरध्वज जनक के पुत्र भानुमान् अथवा भानुमन्त जनक से लेकर उस कुल के अन्तिम राजा कृति (तृतीय, अथवा कराल जनक तक के नाम क्रमशः निम्नांकित हैं :—

(१) भानुमान् अथवा भानुमन्त, (२) शतद्युम्न, (३) शुचि, (४) ऊर्जनामा, (५) शतध्वज, (६) कृति (द्वितीय), (७) अंजन, (८) कुरुजित्, (९) अरिष्टनेमि, (१०) श्रुतायु, (११) सुपार्श्व, (१२) सृंजय, (१३) क्षेमारि, (१४) अनेना, (१५) भौमरथ, (१६) सत्यरथ, (१७) उपंगु, (१८) उपगुप्त, (१९) स्वागत, (२०) स्वानन्द, (२१) सुवर्च, (२२) सुपार्श्व, (२३) सुभाष, (२४) सुश्रुत, (२५) जय, (२६) विजय, (२७) ऋतु, (२८) सुनय, (२९) वीतहव्य, (३०) ध्वति (३१) बहुलाश्व, (३२) कृति तृतीय (वा कराल जनक)।

वाल्मीकीय रामायण में वर्णित २२ एवं विष्णु पुराण के उपर्युक्त ३२, दोनों मिलाकर ऊपर ५४ जनकों के नाम दिये गये हैं, जिनके शासन-काल में मिथिला आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक उन्नति की चरम सीमा तक पहुंच चुकी थी।

'विष्णु पुराण' के अनुसार कृति तृतीय अथवा कराल जनक विदेह वंश का अन्तिम राजा हुआ। वह क्रूर, प्रजापीड़क तथा स्वेच्छाचारी भूप था। 'नारद पुराण' के अनुसार विदेह कुल में एक परम धार्मिक तथा ब्रह्मवादी भूप जनदेव जनक हुआ था। उसकी राजसभा में आत्म-तत्त्व के अनुभवी आसुरी मुनि के विद्वान् पुत्र एवं शिष्य महर्षि पंचशिख पहुँचे थे। ये पंचशिख सांख्य शास्त्र के पारंगत मनीषि एवं तत्त्ववेत्ता थे। ऋषि ने राजा को योग्य अधिकारी जानकर सांख्यसिद्धान्तानुकूल परममोक्ष का उपदेश दिया था। किन्तु विष्णु पुराण में जो जनक विदेह वंश की वंशावली उपलब्ध है, उसमें जनदेव जनक का उल्लेख नहीं है।

जनक-याज्ञवल्क्य आदि के कालनिर्णय की आधारशिला

जनक, याज्ञवल्क्य आदि के काल निश्चय करने की दिशा में विद्वानों की एक राय नहीं है। एक एक ऋषि के नाम पर एक एक गोत्र का प्रवर्त्तन हुआ था, और उस गोत्र में उत्पन्न व्यक्ति आदि-ऋषि के अपत्य के रूप में अपने को घोषित करता था। भार्गव कहने से परशुराम के साथ भृगु-वंश के अन्यान्य व्यक्तियों का भी बोध होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है। जगद्गुरु शंकराचार्य द्वारा स्थापित भारत के चारों शंकराचार्य मठों के अधीश-गण जगद्गुरु के नाम से ही विख्यात होते आये हैं। इससे कोई यह नहीं कह सकता कि आज के जगद्गुरु शंकराचार्य आदि शंकराचार्य ही हैं। आज के युग के स्वामी शंकराचार्य आदि-स्वामी शंकराचार्य के समकालीन कदापि माने नहीं जा सकते हैं, यद्यपि दोनों के नामों तथा विरुद में पूर्ण साम्य है। उसी आधार पर आदि शंकराचार्य के काल को आज बीसवीं शताब्दी में कदापि घसीटा नहीं जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक ही नाम भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का हो सकता है। आधुनिक कतिपय विद्वान् राजा सीरध्वज जनक के कालनिर्णय करने में किसका गुरु कौन था, और किसने किस से विद्या पढ़ी– के आधार पर पौराणिक आख्यायिकाओं के वर्णनों में माथा- पच्ची करने लगे हैं और राम, सीता, याज्ञवल्क्य, सीरध्वज आदि का समय महाभारत-कालीन अभिमन्यु के पौत्र जनमेजय से भी चार-पाँच पीढ़ी पीछे घसीटने लग गये हैं, जो युक्ति-युक्त नहीं है। वैदिक साहित्य की प्राचीनता निर्विवाद है। उसमें उल्लिखित नाम पश्चाद्वर्त्ती कदापि नहीं हो सकते हैं।

पुराणों में वर्णित वंशावली के अनुकूल वैज्ञानिक पद्धति से राजाओं के काल-निर्णय का प्रश्न ही उलझा हुआ है, और इसके ऐतिहासिक काल-निर्णय का कोई ठोस वस्तु-आधार अब तक हमें उपलब्ध नहीं हो पाया है । फिर भी महाभारत काल तथा उसके पूर्ववर्त्ती कालों के सम्बन्ध में इतिहास और पुरातत्त्व के विद्वानों ने कुछ मान्यताएँ निश्चित की हैं ।

सर्वप्रथम लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने अपने 'ओरायन' ग्रन्थ में ज्योतिष तथा अन्य प्रामाणिक काल गणना के आधार पर महाभारत का काल ईसा से १४०० वर्ष पूर्व का माना है, और काशी प्रसाद जायसवाल ने भी महाभारत काल के युद्ध को १४१४ ईसा-पूर्व सिद्ध करते हुए लोकमान्य तिलक के ही मत का प्रतिपादन किया है । किन्तु पार्जीटियर के मत से इन मतों का खंडन होता है । पार्जीटियर ने पौराणिक राजवंशों की पीढ़ियों की गणना अपने ढंग से की है, और उसने महाभारत-काल ईसा-पूर्व ९५० वर्ष माना है । हमारा विश्वास है कि पौराणिक राजवंशों की पीढ़ियों की गणना करने में पार्जीटियर ने भूल की है, तथा पश्चिमीय विद्वानों का यह भी प्रयत्न रहा है कि यथासाध्य भारतीय प्राचीनता को कम करके दर्शाया जाय । यह भी संभव है कि पुराणों में राजवंशों की अनेक अप्रख्यात पीढ़ियाँ विस्मृत कर दी गयी हैं, जिनकी ओर पार्जीटियर का ध्यान नहीं आकृष्ट हुआ ।

मगध के राजवंश में महाभारत-कालीन जरासंध और उसका पुत्र सहदेव हुआ । सहदेव की 'सोमाधि' और 'सोमापि' आदि संज्ञाएँ भी पायी जाती हैं । इस वंश का अन्तिम राजा रिपुंजय हुआ, जो सहदेव की ३२ वीं पीढ़ी में था । किन्तु कुछ विद्वानों ने मात्र २२ पीढ़ियाँ स्वीकार की हैं । ऐसा लगता है कि शुंग वंशीय पुष्य-मित्र, अग्नि-मित्र तथा वसुमित्र के कालों में (तथा पश्चाद्वर्त्ती गुप्त-कुल-शासन-काल में भी) जब पुराणों का विविध विद्वानों द्वारा सम्पादन कराया गया, उस समय भ्रान्तिवश पौराणिक वंशावलियों की पीढ़ियों में असमानता का समावेश हो गया । इस कारण पौराणिक वंशावलियों की सूची में जहाँ अधिकतर नाम उपलब्ध है, हमारे विचार में उसकी प्रामाणिकता मान्य होनी चाहिये ।

हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं कि भानुमान् जनक की १६ वीं पीढ़ी में सत्यरथ हुए, जो महाभारत-युद्ध के समकालीन थे । (पूर्व में महाभारत का श्लोक उद्धृत कर अन्यत्र अंकित किया जा चुका है कि विदेह वंश का वह राजा क्षेमारि अथवा क्षेमधूर्त्ति था, जिसने महाभारत युद्ध में पांडवों के विरुद्ध कौरवों का साथ दिया था । 'विष्णुपुराण' की सूची के अनुसार 'क्षेमारि' विदेह राजवंश का १३वाँ जनक था, और उसका स्थान सत्यरथ से ३ पीढ़ी ऊपर था) । सत्यरथ के बाद कृति अथवा कराल जनक तक विदेह वंश की १८ पीढ़ियों ने मिथिला पर शासन किया । मगध के राजवंश में जरासन्ध के पुत्र सहदेव अथवा सोमधि की १८वीं पीढ़ी में सुचल अथवा अचल का राज्य काल था । यदि हम लोकमान्य तिलक के मत को आधार मान कर चलें, जिसे डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल तथा आधुनिक शोध-कुशल विद्वान् श्रीदेव सहाय त्रिवेद का भी समर्थन प्राप्त है– तो महाभारत-काल ईसा पूर्व १४ वीं (वा १५वीं) सदी मान्य होता है । जरासन्ध-वंश के अन्तिम राजा रिपुंजय का काल ईसा-पूर्व छठी शताब्दी माना गया है । उपर्युक्त प्रामाणिकता के आधार पर जरासन्ध-वंश की ३२ पीढ़ियों का भोग-काल लगभग ८०० वर्षों का होता

है और उसी गणना के अनुकूल यदि हम महाभारत-युद्ध-काल से मिथिला-राजवंश की १८ पीढ़ियों का काल निर्णय करें तो वह लगभग ४५० वर्षों का माना जायगा । इस प्रकार ऐतिहासिक आधारों पर विवेचना करने से मिथिला में जनक विदेह वंश की समाप्ति का काल हम ईसा पूर्व ९ वीं शती मानने को बाध्य होते हैं । इसी काल के पश्चात् मिथिला और वैशाली में 'वज्जि-विज्जि' तथा लिच्छवि वंश के संघीय गणतन्त्र का उदय होना भी प्रमाणित होता है ।

मिथिला के इस सांस्कृतिक दिग्दर्शन द्वारा हमें ज्ञात होता है कि त्रेतायुग के प्रारम्भिक चरण में जिस विदेह भूमि (एवं राज्य) का निर्माण निमि तथा माथव विदेघ (मिथि) ने किया, वहाँ सम्पूर्ण द्वापर युग तथा कलियुग आरम्भ होने के भी लगभग ५०० वर्षों बाद तक विदेह जनक का वंश शासन करता रहा (आर्यावर्त्त, पटना, २४ सितम्बर, १९६७ ई०; ऊपर की ५ कंडिकाएँ आर्यावर्त्त से उद्धृत) ।

वीतराग विदेह जनक

सीरध्वज जनक को कहीं-कहीं 'जनक द्वितीय' की उपाधि से भी विभूषित किया गया है । वे महान् दार्शनिक होने के साथ ही वीर क्षत्रिय भी थे । उन्होंने अपने वीरतापूर्ण छात्रधर्म की दर्शन-ज्ञान के पयोनिधि में प्लावित होने से सदा रक्षा की । शान्ति और सहअस्तित्व उनका सिद्धान्त एवं आदर्श था । 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' के वे समर्थक थे। भौतिक ऐश्वर्य से उनका ममत्व कमल-पत्र पर पड़े जलविन्दु के समान था । महाभारत में उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का जो वर्णन किया गया है, वह निम्नांकित है :-

"मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन ।"
"अपि च भवति मैथिलेन गीतं
नगरमुपाहितमग्निनाभिवीक्ष्य ।
न खलु मम हि दह्यतेऽत्र किंचित्
स्वयमिदमाह किल स्म भूमिपालः ।"

(१२, १७, १८-१९, २१९, ५०) ।

विद्वान् फाउसवोल द्वारा सम्पादित 'बौद्ध जातक', भाग-६, श्लोक ५६ में भी जनक की उक्ति के विषय में अधोऽङ्कित वर्णन दिया गया है :-

"सुसुखं वत जीवाम येसं नो नऽअत्थि किंचन ।
मिथिलाय डह्यमानाय न मे किंचि अड्यहथा ति ।।"

अर्थात् अपने मिथिला नगर को अग्नि-शिखा में प्रज्वलित देख मिथिलेश जनक ने अविचलित भाव से कहा कि इसमें मेरा तो कुछ नहं। जल रहा है ।

परन्तु उपर्युक्त कोटि के अनासक्ति योग का उपासक होते हुए भी जब सांकाश्य-भूप सुधन्वा ने बिना किसी प्रकार की उत्तेजना के शान्तिप्रिय एवं सह-अस्तित्व के सिद्धान्त के समर्थक सीरध्वज जनक के मिथिला-राज्य पर आततायी बन कर आक्रमण किया, तब मिथिलापति भूपाल ने भयंकर समर में उसे उसके सहायकों के साथ पराभूत कर निष्काम

भाव से निहत किया तथा इस प्रकार अपने नृपोचित कर्तव्य का वीरतापूर्वक पालन किया। इतना ही नहीं, उसके गृह राज्य पर भी उन्होंने अधिकार कर लिया तथा अपने अनुज कुशध्वज को वहाँ के राज-सिंहासन पर अभिषिक्त किया। इस घटना का वर्णन वाल्मीकीय रामायण के आदि कांड के ७१ वें सर्ग में इस प्रकार किया गया है :–

''कस्यचित्त्वथ कालस्य सांकाश्यादागतः पुरात् ।
सुन्धवा वीर्यवान् राजा मिथिलामवरोधकः ।।१६।।

निहत्य तं मुनिश्रेष्ठ सुधन्वानं नराधिपम् ।
सांकाश्ये भ्रातरं शूरमभ्यषिंचन् कुशध्वजम् ।।''१९।।

(वाल्मीकीय रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर ७१ वाँ सर्ग, आदिकांड)।

किन्तु पार्जीटियर साहब का कहना है कि कुशध्वज ने ही सांकाश्य राज्य पर आक्रमण कर उसपर अधिकार कर लिया था। संभव है, सुधन्वा के आक्रमण के प्रतिकार एवं प्रतिरोध में उसके राज्य पर प्रत्याक्रमण कर आततायी की सामरिक शक्ति के साथ उसका विनाश किया गया हो, जो सर्वथा न्यायसंगत कहा जा सकता है।

वीतराग जनकों के कर्मयोगी होने की प्राचीन ग्रन्थ गीता एवं बुद्धचरित में चर्चा

श्रीमद्भावद्गीता निःसन्देह सर्वमान्य पुरातन ग्रन्थ है। ऐसा माना जाता है कि महाभारत युद्धकाल में स्वयम् भगवान् श्रीकृष्ण ने ही स्व-मुखारविंद से मोहरूपी दलदल में पड़े पांडु-पुत्र विख्यात धनुर्धारी सव्यसाची अर्जुन को अनासक्त कर्म करते रहने के हेतु कर्मयोग की जो शिक्षा दी थी, उसी का संकलन एवं सम्पादन महाराज धृतराष्ट्र के तत्कालीन प्रत्यक्षदर्शी रण-सम्वाददाता मनीषि-प्रवर संजय ने किया था। श्रीकृष्ण द्वारा कथित एवं संजय द्वारा संगृहीत और प्रणीत ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'बुद्धचरित' के रचयिता इतिहास-विख्यात विद्वान् पं० अश्वघोष थे। ये अश्वघोष कुषाण वंशीय प्रसिद्ध विजेता सम्राट् कनिष्क के समकालीन थे। कनिष्क का काल कुछ विद्वानों के विचार में प्रथम शताब्दी माना जाता है और कुछ के मतानुसार द्वितीय शताब्दी का प्रथम चरण। उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में मिथिलेश जनकों के ज्ञान-विज्ञान की चर्चा अधोऽङ्कित रूप में हुई है :–

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कतुमर्हसि ।।

(गीता, ३-२०)

(अर्थात् इस प्रकार जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्ति-रहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, इसलिए तथा लोक-संग्रह को देखते हुए भी तुमको कर्म करना ही उचित है)।।

मौलीधरैरंसविषक्तहारैः केयूरविष्टब्धभुजैर्नरेन्द्रैः ।
लक्ष्म्यंकमध्ये परिवर्तमानैः प्राप्तो गृहस्थैरपि मोक्षधर्मः ।।४९।।

ध्रुवानुजौ यौ बलिवज्रबाहू वैभ्राजमाषाढ़मथान्तिदेवम् ।
विदेहराजं जनकं तथैव (रामं) द्रुमं सेनजितस्य राज्ञः ।।२०।।
एतान् गृहस्थान्नृपतीनवेहि नैःश्रेयसे धर्मविधौ विनीतान् ।
उभेऽपि तस्माद्युगपद्भजस्व ज्ञानाधिपत्यं च नृपश्रियं च ।।२१।।

(अश्वघोषः बुद्धचरित, ९, १९-२१) ।

(अर्थात् मुकुट धारण करनेवाले राजाओं ने, जिनके गलों में हार लटकते थे, और जिनकी भुजाएँ केयूरों से बँधी थीं, गृहस्थ होकर भी लक्ष्मी की गोद में लोटते हुए मोक्ष-धर्म प्राप्त किया (१९)।। ध्रुव के जो दो छोटे भाई बलि और वज्रवाह, वैभ्राज, आषाढ़ तथा अन्ति देव, विदेह-राज जनक, राम, द्रुम और सेनजित राजागण (२०) ।। विदित हो कि ये गृहस्थ (घर में रहने वाले) राजा परम कल्याणकारी धर्म-विधि में शिक्षित थे । इसलिए एक ही साथ ज्ञान के आधिपत्य और राजलक्ष्मी दोनों का सेवन करो (२१) ।।)

फाउसवौल-सम्पादित बौद्ध जातकांक ५३९, ६, ५६ (डॉ० उपेन्द्र ठाकुरः हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ४४, पादटिप्पणी) में जनक के राज्य-विभव के प्रति अनासक्ति का वर्णन किया गया है । महाभारत (१२, १७, १८-१९, २१९, ५०) में भी उसी प्रकार का वर्णन पाया जाता है, जिसका उद्धरण पूर्व में अंकित किया जा चुका है ।

उपर्युक्त उद्धरण तत्कालीन विदेह जनकों के दार्शनिक विचार, उनके उच्चादर्श तथा क्षणभंगुर सांसारिक विभव-भोग-सुख से विरक्ति का परिचायक है । प्रजा-पालन, राज्य-सूत्र-संचालन, शत्रु-दमन आदि उनके कार्य केवल कर्त्तव्य-पालन एवं लोक-संग्रह के लिए होते थे, स्वार्थभावनावश नहीं ।

जनक राजकुल

पूर्व में यह अंकित किया जा चुका है कि भविष्य पुराण के वर्णनानुसार सूर्यवंशीय भूपति निमि के पुत्र मिथि ने एक मनोहर नगर का निर्माण कर उसका अपने नाम पर 'मिथिला' नामकरण किया । उसने उस सुन्दर नगर का निर्माण किया था । अतः वह उसका निर्माता (जनकपिता) हुआ । इसी कारण वह 'जनक' नाम से प्रसिद्ध हुआ । (यथा– "पुरीजननसामर्थात् जनकः स च कीर्तितः ।" मिथिला की स्थापना की कथा– श्रीमद्भागवत– ९, १३, १३ ; मत्स्य पुराण, अध्याय ५५) ।

विदेशी विद्वान् पार्जीटियर की राय में मिथि से आरम्भ कर उस कुल के सभी नृपति-गण को 'जनक' कहा जाता था । यह उनके कुल का विरुद था । वे प्रथम 'जनक' थे । जनक शब्द स्पष्टतया उनके कुल के भूपतियों के लिए प्रयुक्त हुआ था । उस कुल में जनक नाम के कई राजा भी हुए थे, इसमें सन्देह नहीं है ।

डौसन के मतानुसार सीरध्वज जनक से २० पीढ़ियाँ पूर्व के प्रथम जनक (मिथि) की उत्पत्ति पुराणों के आख्यानों के अनुसार बिना पिता के महाराज निमि के शरीर-मंथन द्वारा हुई थी । अतः वे स्वयम्भू हुए । इसी कारण उनका नाम 'जनक' हुआ ।

विलसन साहब ने 'जनक' शब्द से पिता, निर्माता, मिथिला का अधीश्वर एवं 'सीता का पिता' अर्थ निकाला है ।

श्री एच० सी० रायचौधरी के विचारानुसार 'जनक' व्यक्तिगत नाम न होकर वंश-परम्परागत मिथिलेशों की उपाधि थी (यथा– "धृतेस्तु बहुलाश्वोऽभूद बहुलाश्वसुतः कृतिः । तस्मिन् संतिष्ठते वंशो जनकानां महात्मनाम्" ।। वायु पुराण, ८९, २३; पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया– ६, ५४, हेमचन्द्र रायचौधरी प्रणीत) ।

डा० गंगानाथ झा के कोमेमोरेशन भौलूम-३७८ के अनुसार तैत्तरीय संहिता के भाष्यकार ने 'वैदेही'-विशेषण का विश्लेषण 'विशिष्ट-देह-सम्बन्धिनी' किया है । मिथि के शरीर की उत्पत्ति उनके पिता के शव से एक विशिष्ट क्रिया-मंथन द्वारा ऋषियों ने की थी । बिना पिता के, चमत्कारपूर्ण आश्चर्यमय उत्पत्ति के कारण मिथि की संज्ञा 'जनक' हुई । कुछ विद्वानों की ऐसी भी राय है ।

अबुल फजल की पुस्तक 'आइन-ए-अकबरी' के अनुसार मिथिला-भूप मिथि अपनी प्रजा का पालन पितावत् करते थे । इस कारण उनका विरुद अथवा नामकरण जनक (पिता) हुआ (जर्रेट का अनुवाद, १, ६७९) ।

काशीराज अजातशत्रु (हर्यक वंशीय बिम्बसार-पुत्र अजातशत्रु नहीं) महान् दार्शनिक थे । बृहदारण्यकोपनिषद्, 'सेकरेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट', ई० रोएर द्वारा सम्पादित– ११, १, १ का निम्नाङ्कित उद्धरण अजातशत्रु की अभिव्यक्ति हैं । उन्होंने कहा है कि :

"स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो
जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ।"

(बृहदारण्यक–२–१)

अजातशत्रु-गार्ग्यवालाकि-सम्वाद के बीच अजातशत्रु ने गार्ग्य वालाकि को सम्बोधन कर कहा था कि–"विद्वद्-जन जनक की राजसभा में यह कहते जाते हैं कि जनक (वैदेह) सत्यतः जनक (पिता) हैं । ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति के हेतु जनक के यहाँ चलो, जनक के दरबार में उपस्थित हो, यह चिल्लाते हुए वे वहाँ त्वरित वेग से पहुँचते हैं ।" उपर्युक्त उद्धरण में अंकित जनक का अर्थ ही दर्शन-ज्ञान-सम्पन्न विदेह-राज के लिए विशेष उपयुक्त जान पड़ता है, किन्तु पीछे चलकर सम्पूर्ण मिथिलानरेशों का राजवंश 'जनक' विरुद से विभूषित किया जाने लगा ।

इसमें सन्देह नहीं कि विदेह कुल के कई भूपतियों का व्यक्तिवाचक नाम भी जनक था । आरम्भ में वाल्मीकीय रामायण के श्लोकों को उद्धृत कर निमि-मिथि से सीरध्वज-कुशध्वज तक विदेह-वंशीय राजाओं के नाम दिये गये हैं । उसमें आदि काण्ड के ७१ वें सर्ग के श्लोकांक ४ में मिथि को प्रथम जनक का नाम प्राप्त हुआ है । प्रथम जनक का होना ही द्वितीय जनक के अस्तित्व का परिचायक है । सीता के पिता सीरध्वज जनक को जनक द्वितीय बताया जाता है । गौड़ीय रामायण (५, ३६, २०) में लिखा है कि– "जनकानां कुले जाता राघवाणां कुले वधूः" । सीता को जनक-कुलोद्भवा रघु-कुल-वधू कहकर परिचय कराया गया है ।

कहा जाता है कि मनु के ब्रह्मर्षियों के देश के प्रतापी भूपति कुरुवंशियों के प्रतापसूर्य का अवसान हस्तिनापुर के प्रसिद्ध राजा जनमेजय की चौथी पीढ़ी के नरेश के समय में दृष्टिगत होने लगा। कहावत प्रसिद्ध है कि जब बुरे दिन आते हैं तो "छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति" की कथा चरितार्थ होती है। प्राचीन हस्तिनापुर नगर गंगा के कटाव के कारण नष्ट हो गया। विदेशी विद्वान पार्जीटियर के मतानुसार पंचनद प्रदेश के शक्तिशाली आक्रामकों के आक्रमणों के फलस्वरूप गंगा-यमुना के बीच के दोआब के उत्तरी अंश से उन्हें हाथ धोना पड़ा और दक्षिण की ओर बढ़कर राजधानी बसाने के हेतु योग्य भूमि की खोज उनको करनी पड़ी। हस्तिनापुरीय कुरुओं को अब इस पलायन के पश्चात् शक्ति-वर्द्धन के हेतु दक्षिणी पांचालों के साथ मैत्री-सूत्र में बँधना आवश्यक हो गया। पर इतना होने पर भी पतनोन्मुख कुरुओं की शक्ति का पुनरुदय न हो सका। उत्तर भारत की राजनीति में उसके बाद उनका कोई विशिष्ट स्थान दृष्टिगत नहीं होता है। उधर कुरुओं का शौर्य-सुमन कुम्हला रहा था और इधर विदेहों का शक्ति-सोम संवर्द्धनशील था। इसका परिणाम यह हुआ कि कुरुओं की राज-सभा से सरस्वती एवं संस्कृति असहयोग कर विदेहों के शरणापन्न हुई, और पश्चात्वर्ती काल में कीर्त्ति जनक अथवा कृति जनक जैसे प्रसिद्ध दार्शनिक जनकों का मिथिला में अभ्युदय हुआ, और उनके सुयश-सुरभि-संयुत मलयानिल के संस्पर्श एवं उनकी ज्ञान-रश्मि के प्रसार से संसार सुखी तथा आलोकित हो गया। पर सब के दिन सदा एक से नहीं रहते हैं, यह भी ध्रुव सत्य है।

महाभारत-युद्ध के कुछ दिन पश्चात् की मिथिला का विदेह-राज्य अति उन्नतशील पाया जाता है। उग्रसेन, जनदेव, धर्मध्वज, आयस्थून आदि जनकों के काल तक मिथिला समृद्ध, सशक्त एवं प्रभावशाली रही। पर काल-चक्र के बलवान् प्रभाव के कारण उसमें ह्रास होना आरम्भ हुआ, और हिमालय से लेकर गंगा तक की भूमि में अनेक छोटे-छोटे सामन्तों के गणराज्य पनप उठे, जिनमें लिच्छवियों अथवा सिंहों का वैशाली राज्य भी था, जिसके शक्तिशाली होने पर उसमें अन्यान्य गणतान्त्रिक राज्य मिलने लगे, और वज्जिसंघ की स्थापना वहाँ आगे चलकर हुई, जिसका वर्णन यथास्थान किया जायेगा।

विदेहों की साकांश्य शाखा

विदेहराज सीरध्वज जनक ने साकांश्य-राज्य का विजय कर अपने अनुज कुशध्वज को वहाँ का राज्य-सिंहासन दिया था, इसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। पाश्चात्य विद्वान् पार्जीटियर के अनुसार साकांश्य राज्य का अस्तित्व मथुरा के निकट— इक्षुमती नदी के तटपर कहीं था। वर्तमान संकिस अथवा वसन्तपुर जो इक्षुमती अथवा कालिन्दी के उत्तरी कूल पर इटावा जिले में है, उसे ही सांकाश्य राज्य की राजधानी का स्थानापन्न कुछ विद्वान् बताते हैं (डा० एस० त्रिवेदी : प्रीमौर्यन हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ० ५०)।

पुराणों के अनुसार कुशध्वज के पश्चात् उस वंश के और छः नृपतियों ने वहाँ सांकाश्य के सिंहासन पर आरूढ़ होकर शासन किया। राज्यारोहण के किंचित् काल पश्चात् ही कुशध्वज ने संन्यास लेकर तपस्या करने के हेतु वन-गमन किया। कुशध्वज के पुत्र का नाम धर्मध्वज था (श्रीमद्भागवत महापुराण, अध्याय-१३, श्लोक-१९)। कुशध्वज

के पश्चात् धर्मध्वज सांकाश्य के सिंहासन पर बैठा। धर्मध्वज के दो पुत्र हुए। उनमें से एक का नाम कीर्त्तिध्वज था, तथा दूसरे का मितध्वज। कीर्त्तिध्वज के पुत्र का नाम था खाण्डिक्य। केशिध्वज एवं खाण्डिक्य के बीच युद्ध का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः वह समर उत्तराधिकार के प्रश्न पर हुआ होगा, जिसके परिणामस्वरूप कुशध्वज-कुल के सांकाश्य में शासन का पतन होना सम्भावनीय प्रतीत होता है। राजा कुशध्वज के दो पुत्रियाँ भी थीं –(१) मांडवी, तथा (२) श्रुतिकीर्त्ति, जिनका विवाह ऋषि विश्वामित्र की प्रेरणा से अयोध्या (कोशल) के राजा दशरथ के दो राजकुमार भरत और शत्रुघ्न के साथ क्रमशः सम्पन्न हुआ था (वाल्मीकीय रामायण, गीताप्रेस, बालकाण्ड, ७२ वाँ सर्ग, श्लोक ४ से ११ तक)। महाराज दशरथ के और दो राजकुमार राम एवं लक्ष्मण का विवाह कुशध्वज के ज्येष्ठ भ्राता मिथिला-पति सीरध्वज की दो पुत्रियों– सीता और उर्मिला के साथ क्रमशः हुआ था। इन विवाहों से कोशल एवं विदेह राज्यों की राजनीतिक शक्ति उन दिनों बहुत बढ़ गयी। दोनों शक्तिशाली राज्य एक दूसरे के सहायक बन गये। विदेह राज्य में मिथिला और सांकाश्य दोनों ही राज्य मिले हुए थे।

विदेहों का पड़ोस की शक्तियों के साथ सम्बन्ध

पूर्वकालिक विदेह राजाओं का सम्बन्ध कैकय, काशी तथा कुरु और पांचाल राज्यों के साथ सुन्दर था। विदेह कीर्त्तिजनक, कैकेय अश्वपति, काशी के अजातशत्रु, कुरु-पांचाल के प्रवाहन जावालि आदि उस काल में दर्शन-ज्ञान के लिए प्रख्यात थे, जिनमें धार्मिक तत्त्व निर्णय के हेतु समय-समय पर वाद-विवाद हुआ करते थे। महाभारत युद्ध के पूर्व विदेहों एवं कौरव पाण्डवों के बीच राजनीतिक सम्बन्ध सुन्दर न था। युधिष्ठिर के हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठने के पश्चात् उनके दिग्विजयकाल में भीम ने विदेहों को युद्ध में परास्त किया था। कर्ण ने भी मिथिला पर आक्रमण कर उसके नृपति को पराभूत किया था। उसके पूर्व युधिष्ठिर के पिता महाराज पांडु ने विदेह-राज के विरुद्ध चढ़ाई कर तत्कालीन विदेह-भूप को समरांगण में पराजित किया था। महाभारत में इसका वर्णन निम्नलिखित श्लोक में किया गया है:–

"ततः कोषं समादाय वाहनानि च भूरिशः।
पाण्डुना मिथिलां गत्वा विदेहाः समरे जिताः॥"

(महाभारत, १, ११३, २८)।

महाभारत युद्ध में विदेहराज क्षेमधूर्ति ने पाण्डवों के विरुद्ध कौरवों के साथ होकर रण किया था। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन तथा भीम के साथ मिथिला होकर राजगृह की यात्रा की थी। विदेह राज्य का वैवाहिक सम्बन्ध एवं सौहार्द्र कोशल, मगध तथा गान्धार राज्यों से था।

अतनारा के पुत्र पर को कौशल एवं विदेह राज्यों का नरेन्द्र, तथा जल जातुकर्ण को कौशल, काशी तथा विदेहों का पुरोहित होना श्वेतकेतु के काल में बताया गया है (शंख श्रौत सूत्र, १६, ९, ११, १३; पंचविंश ब्राह्मण- २५, १६, ३; शतपथ ब्राह्मण- १३, ५, ४, ४; तैत्तरीय संहिता- ५, ६, ५, ३)। ये श्वेतकेतु कृति जनक (विदेह-राज) के समकालीन

थे (डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृं० ५०) । राजा पर को कौशल तथा विदेह जनपदों का भूपति होना सिद्ध करता है कि ये दोनों राज्य किसी काल में किसी कारणवश एक स्वतन्त्र शासन के अन्तर्गत आकर मिल गये थे (रैपसन : कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द, १, १२२) । सम्भवतः वैदिक संस्कृति के केन्द्र तीनों राज्य कौशल, विदेह एवं काशी का संघ-राज्य बना था (मुकर्जी : हिन्दू सिव्हिलिजेशन, पृ० ८९) । वाल्मीकीय रामायण से पता चलता है कि कौशल, विदेह एवं अन्य राज्यों में मित्रता का सम्बन्ध था (एफ० ई० पार्जीटियर : ऐन्शिएण्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन, पृ० २७६)। कौशल-नरेश दशरथ के चार राजकुमारों का विवाह विदेह-राज सीरध्वज जनक तथा उनके अनुज कुशध्वज की क्रमशः चार पुत्रियों के साथ हुआ था । इससे भी यह स्पष्ट होता है कि दोनों राज्यों के बीच सौहार्द्र का बर्त्ताव था । विदेह-राज जनक के होतृ पुरोहित का नाम अश्वल था । ये अश्वल कौशल राज्य के नागरिक थे । काशी और विदेह शक्तियों के संघ की चर्चा 'कौषीतकी उपनिषद्' में भी की गयी है । दोनों राज्यों की भौगोलिक स्थिति के कारण भी ऐसा होना सम्भव जँचता है । परन्तु कुरु-पांचालों और विदेहों के बीच किंचित् कटुता का परिचय भी यदा-कदा प्राचीन साहित्य से प्राप्त होता है ।

महाभारत युद्ध के पश्चात् ब्रह्मदत्त के वंशजों का काशी के सिंहासन पर अधिकार बताया जाता है (मत्स्य पुराण, २७३, ७१; वायु पुराण, ९९, ४५४, यथा– "शतं वै ब्रह्मदत्तानां, वीराणां कुरवः शतम्"।) प्रसिद्ध दार्शनिक विदेह-राज कृति जनक के समकालीन काशी-नरेश अजातशत्रु भी दर्शन-शास्त्र के पंडित थे, और सम्भवतः वे ब्रह्मदत्त-वंशोद्भव थे (एच० सी० रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, छठा संस्करण, पृ० ७६-७७) । इस काल में काशी और विदेहों के बीच सुन्दर सम्बन्ध नहीं था । बृहदारण्यक उपनिषद् से निम्नांकित पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं :–

"यथा काश्यो वा वैदेहो वा उग्रपुत्र उज्जयम् धनुर् अधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नाति व्याधिनौ हस्ते कृतोपतिष्ठेद्" (बृह० उप०-३-८, २) ।

उपर्युक्त उद्धरण संभवतः काशी एवं विदेह वीरों के बीच समय-समय पर प्रायः होनेवाले संघर्ष तथा कटुबर्त्ताव का द्योतक है ।

अजातशत्रु भी अपने दर्शन ज्ञान के लिए विख्यात थे । पर विदेह जनक की ख्याति ब्रह्मज्ञान के क्षेत्र में अत्यधिक थी, इसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है । बहुत संभव है कि जनक की ख्याति अजातशत्रु के मानस में ईर्ष्या की जननी बन गयी हो, और उसके परिणामस्वरूप विदेह राजवंश को राजच्युत करने में काशी का विशेष हाथ रहा हो (एच० सी० रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शिएण्ट इण्डिया, छठा संस्करण, पृ० ८३)। पर इसमें सन्देह नहीं है कि पूर्व में विदेहों का काशी के साथ सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण था, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है । 'महा उम्मग्ग जातक' राजा शंखपाल एवं विदेहों के बीच बहुकालीय संघर्ष का वर्णन करता है । उसी जातक से उत्तर पांचाल के भूप ब्रह्मदत्त एवं विदेहों के बीच हुआ भयंकर रक्तपात का पता चलता है । 'गान्धार जातक' गान्धार तथा विदेहों के बीच सौहार्द्र-सम्बन्ध का संकेत करता है ।

हस्तिनापुर के पाण्डवों के एवं अंगराज कर्ण के साथ विदेहों के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा पूर्व में की जा चुकी है ।

कृति जनक के पश्चाद्वर्त्ती विदेह नृपतिगण

विदेह-कुल में कृति जनक कई हुए हैं, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है । उनमें से एक महान् दार्शनिक था ।

पुराणों के अध्ययन से जिन परवर्त्ती विदेह जनकों के नामों का पता चलता है, उन सबों में कृति जनक अन्तिम भूप था । उसके पश्चात् के उस कुल के दो एक को छोड़कर और नृपतियों का पता पुराण आदि ग्रन्थों से नहीं चलता है । परन्तु यत्र-तत्र पौराणिक आख्यायिकाओं में कई पीछे के विदेहों के नाम पाये जाते हैं, जिससे पता चलता है कि उनके राज्य की प्रधानता घट जाने के कारण पुराणों के संकलन-कत्ताओं ने कृति के पश्चात् के नृपों का उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा । कृति के उत्तराधिकारीगण निर्बल थे । अतः अपने पूर्वजों की प्रतिष्ठा एवं उनके शौर्य को स्थिर रखने में वे सक्षम न हो सके । अन्तिम कृति के काल में उसके अन्याय के कारण राज्य में क्रान्ति हुई, जिससे जनक-वंश का विनाश हुआ, और उसी समय राज्य के बहुत बड़े अंश से राजतन्त्र भी समाप्त हो गया । मिथिला के एक कृति जनक के पुत्र का नाम उग्रायुध था । महाराज शांतनु (द्वापर युग के इक्कीसवें चन्द्रवंशी राजा) की मृत्यु के पश्चात् उसने सत्यवती से विवाह करना चाहा था (हरिवंश पुराण- १, २०, ४४, वायु पुराण, ९९, २९२) । परन्तु युद्ध में वह शांतनु-तनय भीष्म पितामह द्वारा पराभूत होकर समरशायी हुआ (हरिवंश पुराण, १, २०-३५) ।

महाभारत में सत्यकेतु के पिता, उद्दालक के शिष्य, कहोद का प्रसंग आया है । उद्दालक की पुत्री सुजाता का विवाह कहोद के साथ हुआ था । किसी जनक की राजसभा में शास्त्रार्थ करते हुए कहोद की हार हुई, और वह बन्दी बना लिया गया । पर उसके पुत्र अष्टावक्र द्वारा उसको कारा से मुक्ति मिली । अष्टावक्र अपने समय का अप्रतिम विद्वान् था । विदेह-राजसभा के जिस मेधावी पंडित से कहोद की हार हुई थी, उसका नाम भाण्डिन था । यह घटना जिस जनक के समय में घटी, उसका नाम उग्रसेन अथवा इन्द्रद्युम्नी बताया जाता है । वह उग्रसेन, इन्द्रद्युम्न अथवा जनदेव नामक जनक का पुत्र था (महाभारत – १२-१७, १८-१९, २१९, ५०)। सम्भवतः उपगुप्त, उग्रसेन और उग्रगुप्त एक ही व्यक्ति का नाम है । कुनी के पश्चात् विदेह राज्य के दो भागों में बँटने का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । यह उग्रसेन विदेह-राज्य के उक्त दो भागों में से किसी एक पर शासन करता था । श्रीमद्भागवत पुराण में उपगुप्त के पश्चात् वसु का नाम मिलता है (भागवत पुराण- ९, १३, २५) । वसु के बाद विदेह-भूप जनक जनदेव का नाम प्राप्त होता है । पर उस भूपति के विषय में पता नहीं चलता है कि वह कब हुआ तथा मिथिला के किस भाग पर उसका शासन था ।

श्री पार्जीटियर ने अपनी पुस्तक 'डाइनेस्टीज ऑफ दी कलि एज' में एक श्लोक को उद्धृत किया है, जो नीचे अंकित किया जाता है :

"कलिंगाश्चैव द्वात्रिंशद् अश्मकाः पंचविंशतिः ।
कुरवश्चापि षट्-त्रिंशद् अष्टाविंशतिः मैथिलाः ।।"

(पार्जीटियर : डाइनेस्टीज ऑफ दि कलि एज-२४)।

उपर्युक्त उद्धरण से पता चलता है कि महाक्षत्रान्तक महापद्मनन्द तक परीक्षित काल के पश्चात् मिथिला में २८ विदेह राजाओं ने राज किया था । किन्तु यह स्मरणीय है कि बुद्ध-युग के बहुत पूर्व कराल जनक के काल में ही मिथिला से राजतन्त्र लोप हो चुका था, और वहाँ गणतन्त्र की स्थापना हो चुकी थी । पश्चाद्वर्त्ती शताब्दियों में मिथिला राज्य वज्जिसंघ गणतन्त्र राज्य के एक प्रभावशाली सदस्य के रूप में दृष्टिगत होता है । परन्तु मगध सम्राट् अजातशत्रु के साथ युद्ध में जब वैशाली का पराभव हुआ तो उसके साथ ही मिथिला पर भी अजातशत्रु का अधिकार अवश्य हो गया होगा; क्योंकि उस काल में विदेह जनपद का वह भाग भी वैशाली गणतन्त्र में सन्निहित था । हाँ, यह सम्भव हो सकता है कि अजातशत्रु द्वारा वैशाली पर आधिपत्य स्थापित कर लेने के पश्चात् भी लिच्छवियों के वज्जि-प्रदेश के उत्तर के कुछ भाग पर मैथिलों का अधिकार समाप्त नहीं हुआ हो, और उनका एक छोटा गणतन्त्र अथवा राजतन्त्र का शासन पीछे तक उस भू-भाग पर चालू रहा हो ।

पार्जीटियर साहब ने उद्धवींकित उद्धरण के आधार पर मिथिला के २८ नरपतियों के शासन करने की कथा की ओर संकेत किया है, पर उनके काल, स्थान और नाम का पता इतिहास और पुराणों को नहीं है । किम्वदन्ती प्रसिद्ध है कि अलर्क नामक कोई भूपति मिथिलान्तर्गत मुजफ्फरपुर जिले के नानपुर परगना में किसी समय शासन करता था । इस समबन्ध में मिथिला में प्रचलित एक श्लोक का उद्धरण कर्णाट क्षत्रिय कुल के संस्थापक नान्यदेव के विषय में उल्लेख करते समय अंकित किया जायगा । सम्भवतः नान्यदेव के नाम पर ही नानपुर ग्राम का नामकरण हुआ था, और पीछे चलकर उसी नाम पर परगने का भी निर्माण हुआ । अलर्क की राजधानी नानपुर में अथवा उसके आस-पास में ही कहीं पर रही होगी । सम्बद्ध अनुश्रुति के श्लोक से यही पता चलता है ।

बौद्ध जातकों से भी कई पश्चाद्वर्त्ती जनकों के नामों का पता चलता है । 'महाजनक जातक' से महाजनक नामक विदेह-राज के विषय में जानकारी प्राप्त होती है (जातक नं० ५३९) । 'गान्धार जातक' विदेह नामक नृपति का उल्लेख करता है, जिनका वार्तालाप गान्धार-नरेश बोधिसत्व के साथ हुआ था । 'सुरुचि जातक' के अनुसार मिथिला के एक नृपति का नाम सुरुचि था और उसके पुत्र का नाम सुरुचि-कुमार । सुरुचि-कुमार के तनय का नाम महापनाद था । वह बड़ा ही शक्तिशाली भूपति था, और उसका सम्पूर्ण राजप्रासाद सोने का बना था ।

ऊपर महाजनक का उल्लेख किया गया है । उनके दो पुत्र थे- (१) अरित्थ जनक, तथा (२) पोल जनक । अरित्थ जनक ने अपने भ्राता पोल जनक की हत्या कर दी । पोल जनक के राजकुमार का नाम महाजनक द्वितीय था । पोल जनक की मृत्यु के पश्चात् महाजनक द्वितीय मिथिला के सिंहासन पर आसीन हुआ । इस भूपति ने पीछे संन्यास लिया । उसके बाद उसका पुत्र दिघायु कुमार राजा हुआ ।

'निमि जातक' के वर्णनानुसार महादेव नामक कोई मिथिलेश जनक मिथिला में राज करता था। अपने जीवन के अन्तिम चरण में उसने संन्यास ग्रहण किया। उसके पश्चात् उसका पुत्र निमिविदेह जनकों की गद्दी पर बैठा। उसका पुत्र कलारा अथवा कराल जनक हुआ। उसने भी संसार से विरक्त होकर उसका परित्याग किया, जिससे जनक वंश का अन्त हो गया। किन्तु अश्वघोष-रचित 'बुद्धचरित' से कराल के विनाश का अन्य कारण सम्मुख आता है, जिसने मिथिला से विदेहों की राजसत्ता को समूल नष्ट कर राजतन्त्र के स्थान में गणतन्त्र की स्थापना कर दी।

'महानाद-कस्सप जातक' मिथिला के एक धार्मिक क्षत्रिय नृपति अंगति का वर्णन करता है, जिसने वहाँ शासन किया था। 'महा उम्भग्ग जातक' (जातक नं० ५४६) में किसी विदेह भूपति के उत्तर पांचाल के भूप चूलनि ब्रह्मदत्त के साथ भयंकर समर का वर्णन किया गया है, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। 'शांख्यायन श्रोत सूत्र' (१६, ९, ११) में परअह्लारा नामक नृपति का नाम आया है, जिसने मिथिला में राज्य किया था। साधिन (जातकांक ४९४) नामक मिथिलापति का भी उल्लेख है, जिसके गुणों एवं भलेपन की प्रशंसा सबों के द्वारा सर्वत्र होती थी। पाण्डवों के विरुद्ध युद्ध करनेवाला मिथिला का नरेश क्षेमधूर्त्ति था, जिसे विष्णु पुराण में क्षेमारि कहा गया है, तथा श्रीमद्भागवत पुराण में क्षेमाधि (श्रीश्यामनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ् तिरहुत, पृ० १७)। किन्तु महाभारत में उसे कलुत का भूप बताया गया है (महाभारत-८, ५)। गिल्गित पांडुलिपि में उल्लेख है कि मगध-राज बिम्बसार के काल में भी विदेह का राजतन्त्र विद्यमान था। उस युग में विदेह-राज के ५०० आमात्य थे, जिनमें खण्ड प्रधान था। परन्तु विचार करने पर यह उल्लेख संदिग्ध प्रतीत होता है, जिस पर यथास्थान विवेचना की जायगी।

विदेह वंश का अन्त एवं उसके पतन के कारण

कौटिल्य अर्थशास्त्र में अंकित विदेह-वंश के पतन के विषय में अधोऽङ्कित उल्लेख विचारणीय है :-

"दण्डको नाम भोजः कामाद् ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विनाष्टः करालश्च वैदेहः" (१-६) (अर्थात् भोज, जो दाण्डक्य नाम से भी ख्यात था, एक ब्राह्मण-कुमारी का शील भ्रष्ट करने के प्रयत्न में अपने बन्धु-बान्धवों एवं राज्य के साथ विनष्ट हो गया, उसी प्रकार वही गति वैदेह भूप कराल की भी हुई)।

महापंडित अश्वघोष कृत 'बुद्धचरित' में भी कराल जनक के सम्बन्ध में निम्नांकित दो श्लोक पाये जाते हैं, यथा :-

"कराल-जनकश्चैव हृत्वा ब्राह्मण-कन्यकाम्।
अवाप भ्रंशमप्येवं न तु सेजे न मन्मथम्॥"

(सर्ग-४, श्लोक ८०)।

"यदि ह्यसौ मामभिभूय याति लोकान्हि चाख्यात्यपवर्गमार्गम्।
शून्यस्ततोऽयं विषयो ममाद्य वृत्ताच्च्युतस्येव विदेहभर्त्तुः॥"

(सर्ग-१३, श्लोक-५)।

अर्थात्, कराल जनक ने ब्राह्मण-कन्या का हरण किया, और इस प्रकार भ्रष्ट होकर भी वह काम में आसक्त ही रहा (४-८०)। यदि वह मुझे जीत जाता है और जगत को अपवर्ग का मार्ग बताता है, तो मेरा यह राज्य आज उसी प्रकार सूना हो जायगा जिस प्रकार सदाचार से च्युत होने पर विदेह-राज (= कराल जनक जो निमि जातक के अनुसार महादेव-पुत्र निमि विदेह का तनय था) का राज्य सूना हो गया) (बुद्धचरित-१३-५)।

उपर्युक्त उद्धरणों से पता चलता है कि विदेह-वंश का अन्तिम राजा कराल अथवा कलारा जनक चरित्रहीन व्यक्ति था। उसका आचार भ्रष्ट था और वह परतियगामी था। उसने अपने प्रजावर्ग में से ही एक ब्राह्मण की कुमारी का अपहरण कर उसका बलपूर्वक शील भ्रष्ट किया। ज्ञान-विज्ञान के आगार अपने पूर्वज त्यागी दार्शनिक जनकों की सुयश-सम्पन्न उज्ज्वल वंश-परम्परागत मर्यादा में उसने कलंक-कालिमा पोत दी। जैमिनि (पूर्व-मीमांसा के प्रवर्त्तक एक ऋषि, जो व्यास जी के चार मुख्य शिष्यों में से एक थे), कपिल (सांख्य शास्त्र के आदि-प्रवर्त्तक ऋषि), गौतम (न्याय शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य), कणाद (वैशेषिक शास्त्र के रचयिता ऋषि), एवं (शतपथ ब्राह्मण के प्रणेता) ज्ञानागार याज्ञवल्क्य की जननी तथा पवित्र प्रेम की धरणी मिथिला को कामी एवं पतित भूपति का अनाचार तथा उसका नीचतम निरंकुश और नृशंस अत्याचार सह्य न हो सका। जनता उबल पड़ी। सारे जनपद में विद्रोहाग्नि भभक उठी। उस कदाचारी आततायी अवनीश के व्यवहार ने जन-गण के हृदय को व्यथित कर दिया। चारों ओर हाहाकार मच गया। नीति का आगार पवित्र जनक-जनपद क्षुब्ध एवं क्रुद्ध प्रजा के क्रोधानल रूप प्रलयंकर शंकर का ताण्डव नृत्य-स्थल बन गया। देश में क्रान्ति मच गयी। हिंसा ने अहिंसा का स्थान बलात् ले लिया। जनगण का कोपभाजन भूपति कराल सपरिवार उस विद्रोह-वह्नि की प्रज्वलित शिखा में भस्मीभूत हो गया। साथ ही जनपद से राजतन्त्र भी तिरोहित हुआ, और उसके स्थान में गणतन्त्र की स्थापना हुई। पापपूर्ण कराल-कृत्य ने पावन जनक-कुल की राजसत्ता को समूल नष्ट कर दिया। प्रसिद्ध लोकोक्ति 'ले डूबता है एक पापी नाव को मँझधार में'– उस काल मिथिला में अक्षरशः चरितार्थ हो गयी। पर कराल का वह कदाचार विदेह राज्य के पतन का तत्कालीन कारण मात्र कहा जा सकता है। उसके विनाश के और भी पूर्ववर्ती कारण अवश्य होंगे, जिन पर आगे विचार किया जायगा।

उत्थान के पश्चात् पतन एवं पतन के पश्चात् उत्थान का क्रम सृष्टि के आदि काल से चालू है। वैदेहों का सौभाग्य-सूर्य चिरकाल तक नभोगत न रहा, इसका आभास पूर्व के उल्लेख से प्राप्त हो चुका है। यह राजवंश ज्ञान-विज्ञान में जैसा बढ़ा चढ़ा था, वैसा ही शूरता एवं वीरता में भी। पर कालचक्र के प्रभाव से शनैः-शनैः समय ने पलटा खाया। उनके बुरे दिन आये और मिथिला के इतिहास में उनका नाम आगे के लिए अंकित न रह सका।

'उत्तराध्ययन सूत्र', 'महाजनक जातक', 'निमि जातक' आदि बौद्ध एवं जैन साहित्य के अध्ययन से यह देखने में आता है कि पश्चात् काल में विदेह-कुल के जनक नृपतियों ने आत्मचिन्तन में अपना विशेष समय लगाना आरम्भ किया। एक के बाद दूसरे ने संसार का परित्याग कर प्रव्रज्या-पथ का अनुसरण किया। अपनी आध्यात्मिक उन्नति और आत्मोद्धार के सामने उन सबों ने राज्य, विभव तथा प्रजावर्ग के हित की चिन्ता को तुच्छ

समझा। राज धर्म से वे धीरे-धीरे पराङ्मुख होते गये। बौद्ध एवं जैन धर्म के अहिंसावाद ने उन्हें शस्त्रास्त्र के प्रयोग से विमुख बना दिया। आरम्भ काल से लेकर अनेक पीढ़ियों तक वैदेह जनकों ने ज्ञानवाद के अनुसरण एवं प्रसारण के साथ आसक्तिहीन कर्मयोग के मार्ग पर दृढ़ रहकर अपने राज्य में भौतिक तथा आध्यात्मिक विकास करने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की थी। किन्तु पीछे जनकों ने अपनी सामरिक शक्ति खो दी। बाहरी आक्रमणों के प्रतिरोध करने की क्षमता उनमें अवशेष न रह गयी। मत्स्य न्याय के अनुसार अन्य नृपतियों ने उनके राज्य को अपना ग्रास बनाया। इतिहास इसका साक्षी है कि बौद्ध धर्म के अहिंसावाद के प्रभाव के कारण महान् प्रतापी अशोक के उत्तराधिकारियों को भी यही गति हुई। सांसारिक सुख-विभव से विराग एवं संन्यास ने विदेहों की शासन-सत्ता के सूत्रों को ढीला कर दिया, जिसका परिणाम विदेह राज्य का पतन हुआ। कतिपय पश्चाद्वर्त्ती विदेह-भूपों की अनैतिकता एवं विषय-वासना ने विदेहों की बचीखुची राजसत्ता को भी प्रजा के कोपानल में घृताहुति बनकर भस्मीभूत कर दिया। पूर्व में वर्णित कराल-काण्ड के परिणाम जनक्रान्ति ने उत्तरभारत के इतिहास में एक नये युग की सृष्टि की (जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० ३१०)।

किसी के आरोह से जलना और अवरोह से प्रसन्न होना मानव-हृदय की दुर्बलता है। इस आन्तरिक शत्रु का शमन सर्व-हितरत ज्ञानियों के ज्ञान-विज्ञान रूप तीक्ष्ण असि के प्रयोग से ही होना सम्भव होता है। विदेहों की सर्वांगीण उन्नति से जहाँ उनके प्रशंसक थे, (जिसकी चर्चा पूर्व में जनक-पिता का विश्लेषण करते समय की जा चुकी है) वहाँ उनसे ईर्ष्या करनेवालों की संख्या भी कम न थी। काशी राज्य-शक्ति का विदेह राज्य के पतन में हाथ होने का कारण भी निर्मूल नहीं कहा जा सकता है। कृति जनक की प्रसिद्धि से काशीराज अजातशत्रु ईर्ष्यालु हो उठे थे, इसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। दोनों राजवंशों में प्रायः मनमोटाव होता था, इसका भी पता चलता है। 'सुरुचि जातक' (जातकांक ४८९) से पता चलता है कि काशीराज ब्रह्मदत्त ने अपनी पुत्री सुमेधा का विवाह विदेह राजकुमार से करना अस्वीकार कर दिया था। इससे विदेह-राज अति कुपित हो गये। महाभारत में भी काशीराज प्रतर्दन एवं मिथिला-भूप जनक के बीच घोर युद्ध का वर्णन किया गया है। (महाभारत १२, ९९, १-२;) बृहदारण्यक उपनिषद्- ३, ८, २)। कुछ इतिहासज्ञों की राय है कि इन युद्धों के परिणामस्वरूप काशी राजवंश की एक कनीय शाखा का आधिपत्य विदेह जनपद के किसी भाग में हो गया (एच० सी० रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, छठाँ संस्करण, पृ० ८४) परन्तु इस मान्यता की पुष्टि प्राचीन साहित्य से नहीं हो पायी है। विधुर पंडित के जातक में राजगृह को अंग देश का एक नगर बताया गया है (अमूल्य चन्द्रसेन : राजगृह एण्ड नालन्दा, पृ० २०)। अंग पर छठी सदी ईसा पूर्व तक काशी के ब्रह्मदत्त-कुल का अधिकार था। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि मगध के जरासन्धवंशीय नृपतियों की शक्ति क्षीण होने पर काशी ने मगध को भी जीत लिया था। अंग और मगध की सीमाएँ विदेह राज्य एवं वैशाली के वज्जिसंघ-राज्य की सीमाओं से मिली थी। बहुत संभव है, अपनी बढ़ती के दिनों में अंग देशस्थित काशी के ब्रह्मदत्त वंश की उस शाखा ने मिथिला के कुछ अंश पर भी अधिकार कर लिया हो।

समय-समय पर विदेह-नृपतियों के विरुद्ध बाहरी आक्रमण भी होता था, इसका भी प्रमाण मिलता है। उत्तर पांचाल के भूप चुलानी ब्रह्मदत्त एवं किसी विदेह-राज के बीच लोमहर्षण युद्ध की चर्चा 'महाउम्मग्ग जातक' (नं० ५४६) में हुई है। ऐसे बाहरी आक्रमणों के कारण भी विदेह-शक्ति क्षीण पड़ती गयी, इसमें भी सन्देह नहीं हो सकता है।

विदेह जनकों के उत्तराधिकारियों में भी यदा-कदा उत्तराधिकार के प्रश्न पर झंझट और उसके फलस्वरूप गृह-युद्ध का पता पुराणों के कथानकों से चलता है, जिसका यथास्थान उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। इन कारणों से कभी-कभी राज्य का बँटवारा भी हुआ, ऐसा पता पुराणों के अध्ययन से लगता है। राज-परिवार में स्वार्थवश फूट होने पर राज-प्रासाद षड्यन्त्र का आखाड़ा बन जाता है, जिसका परिणाम अन्ततोगत्वा दुःखद होता ही है।

पश्चाद्वर्त्ती काल में विदेह-राज के अग्रामात्य वीरशिरोमणि खण्ड का पड़ोस के गणराज्य वैशाली में पलायन उपर्युक्त उल्लेख का प्रत्यक्ष प्रमाण है। मंत्रिपरिषद् के अन्यान्य मन्त्री ईर्ष्या एवं मत्सरता के वशीभूत होकर उसके विनाश की चेष्टा में सयत्न एवं संलग्न हो रहे थे, जिसकी भनक उसे लग गयी (वी० सी० लो, ह्वोलूम पार्ट-१, पृ० ३४; गिल्गिट पांडुलिपि, ह्वोलूम-३, पार्ट-२, इण्ट्रोडक्शन-१५)।

कुछ विद्वानों के मतानुसार वज्जिसंघ की स्थापना विदेहराज्य के पतन के पश्चात् हुई। 'परम अत्थ जोतिका' (जिल्द-१, पृ० १५८-१६५), पाली भाष्य के अनुसार जनक राजवंश के पतनोपरान्त उस क्षेत्र में लिच्छवि गणराज्य ने महान् शक्तिशाली राजनीतिक शक्ति के रूप में उसका स्थान लिया। परन्तु इस कथन में तथ्य का अभाव ज्ञात होता है। वाल्मीकीय रामायण (बाल काण्ड) में विदेह-राज्य एवं वैशाली राज्य, दोनों का वर्णन आया है। वैशाली राज्य की स्थापना विदेह-राज्य की स्थापना के कुछ काल पीछे हुई हो, ऐसा संभव हो सकता है, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण में वैशाली राज्य का उल्लेख नहीं पाया जाता है। महाभारत में इस वंश की चर्चा की गयी है। वैशाली के नेदिष्ट-कुल के नृपतियों के नाम विष्णुपुराण एवं वाल्मीकीय रामायण में अंकित किये गये हैं, पर उनमें साम्य नहीं है। पुराणों में कोशलेश दशरथ एवं विदेह-राज सीरध्वज के समकालीन वैशालीराज सुमति अथवा प्रमति तक ३४ भूपतियों के नाम अंकित मिलते हैं। सुमति के पश्चात् के नृपतियों के नाम का पता अब तक नहीं चला है।

पुराणों की गणना के अनुसार आधुनिक विद्वान् महाभारत-युद्ध का काल लगभग ईसापूर्व १५०० वर्ष मानते हैं। विदेह वंश के ५४ नृपतियों का पता उस कुल के संस्थापक के काल से महाभारत युद्ध के काल तक पुराणों से चलता है। वैशाली-नरेश सुमति के काल तक विदेह कुल के २२ भूपों ने मिथिला में राज्य किया था। यह वाल्मीकीय रामायण से स्पष्ट होता है। अतः ५४ में २२ को ऋण करने से शेष ३२ विदेह एवं वैशाली राज्य-वंशों के राजाओं की संख्या होगी, जिन्होंने सीरध्वज एवं सुमति के पश्चात् महाभारत-काल तक विदेह राज्य एवं वै .ाली राज्य में राज्य किया होगा।

यदि प्रत्येक पीढ़ी का शासन-काल १५ वर्षों का मान लिया जाय तो सुमति के पश्चात् महाभारत काल तक शासन करनेवाले वैशाली के भूपों का राज्य काल ३२ × १५

= ४८० वर्ष होगा। मालूम पड़ता है कि सुमति के पश्चात् वैशाली में राजतन्त्र का लोप हो गया, और वहाँ उसके स्थान में गणतन्त्र की स्थापना हो गयी। सुमति के पश्चात् के नृपतियों का उल्लेख पुराणों में नहीं है। उपर्युक्त मान्यता को स्वीकार कर लेने पर वैशाली में गणतन्त्र की स्थापना का अनुमानित काल १५०० + ४८० = १९८० ईसापूर्व वर्ष मानना उचित होगा। इसी प्रकार सुमति से ऊपर की पीढ़ियों के शासन-काल का भी पता लगाया जा सकता है। सुमति के समय तक विदेह वंश के केवल २२ नृपतियों के नाम का पता प्राचीन ग्रन्थों से चलता है और नेदिष्ट कुल के ३४ भूपों का, यद्यपि नेदिष्ट कुल की स्थापना विदेह वंश की स्थापना के पश्चात् हुई थी। इक्ष्वाकु का प्रथम पुत्र विकुक्षी था, जिसके कुल में दाशरथी राम का अविर्भाव हुआ। इक्ष्वाकु सूर्यवंश का संस्थापक था। विकुक्षी से दाशरथी राम तक पुराणों के अनुसार ६३ पीढ़ियाँ हुई थीं। विकुक्षी का भ्राता निमि था। निमि के वंश में निमि से लेकर दाशरथी राम के समकालीन सीरध्वज जनक तक केवल २२ पीढ़ियाँ तथा नाभाग-नेदिष्ट के कुल में नाभाग से सुमति तक ३४ पीढ़ियाँ मात्र हुईं।

इस भाँति कोशल (अयोध्या, विकुक्षी-कुल की राजधानी) और मिथिला के राजवंशों में दाशरथी राम तथा सीरध्वज जनक तक ३९ पीढ़ियों का अन्तर पड़ता है। इसी कारण से दाशरथी राम और सीरध्वज जनक के समकालीन होने में इतिहास के शोधकर्त्ता सन्देह व्यक्त करते हैं। गीता में कृष्ण भगवान् ने जनकों को योगी बताया है तथा विष्णु पुराण में भी उन्हें अध्यात्म विद्या में कुशल दर्शाया गया है। योगियों का जीवन दीर्घ होता है, इसमें संदेह का स्थान नहीं होना चाहिए। बाल्मीकीय रामायण के एतद्विषयक वर्णन में स्पष्ट है कि राम का विवाह सीरध्वज की पुत्री के साथ हुआ था। वाल्मीकि ऋषि को बहुधा लोग दाशरथी राम का समकालीन मानते आये हैं। इससे इस निष्कर्ष पर भी पहुँचना अनुचित नहीं जँचता है कि प्राचीन ग्रन्थों में से पूर्व के कुछ नृपतियों के नाम छूटे ही होंगे, उनमें योग नहीं हुआ होगा। अन्यथा लगभग एक ही काल में आरम्भ ३ नृपवंशों में इतनी पीढ़ियों का अन्तर नहीं होता। अतः जिस कुल के नृपतियों के नाम अधिक प्राप्त हैं, उसी को ठीक मान कर गणना करना उचित होगा।

वायु, विष्णु, गरुड़ एवं श्रीमद्भागवत पुराणों में नृपतियों की वंशावलियाँ दी गयी हैं। मार्कण्डेय पुराण में राजाओं के सम्बन्ध में कथाएँ अंकित की गयी हैं। सुमति के पश्चात् के राजाओं के विषय में पुराणों का मौनावलम्बन इस तथ्य का द्योतक है कि या तो उस काल तक नेदिष्ट कुल की महत्ता क्षीण हो गयी थी अथवा वहाँ से राजतन्त्र लोप हो गया था। विदेह राज्य की चर्चा रामायण, महाभारत एवं पुराणों में पश्चाद्वर्त्ती काल में भी पायी जाती है। इससे यह अटकल भी लगाया जा सकता है कि वैशाली राज का विलयन कुछ काल के लिए विदेह-राज्य में हो जाने के कारण ही उसकी चर्चा पुराणादिक ग्रन्थों से तिरोहित हो गयी, पर अटकलबाजी का स्थान इतिहास में नहीं है। इस तथ्य पर पहुँचने के हेतु प्रमाणों की आवश्यकता होगी।

बौद्ध एवं जैन साहित्य कहीं तो विदेह एवं वैशाली को एक राजनीतिक एवं भौगोलिक केन्द्र बताते हैं और कहीं भिन्न। विदेह जनपद से प्रायः सम्पूर्ण मिथिला का

बोध होता था, जिसमें विदेह और वैशाली दोनों का समावेश हो जाता है । इसका प्रयोग विस्तृत अर्थ में आया है (डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ६३) ।

ईसापूर्व छठी शताब्दी में विदेह-राज्य में गणतन्त्र शासन था, राजतन्त्र नहीं, यद्यपि कहीं-कहीं उस काल में वहाँ पर राजतन्त्र पद्धति रहने का भी उल्लेख मिलता है । साहित्य विदेह राज्य को वज्जिसंघ का सदस्य बताता है, लिच्छवि-गणतन्त्र का अंग मात्र नहीं । वैशाली का गणतन्त्र भी विदेह राज्य गणतन्त्र के समान ही वज्जिसंघ का एक प्रभावशाली सदस्य था । 'अभिधानाप्पदीपिका' का प्रणयन-काल श्री भरत सिंह प्रणीत 'पाली साहित्य का इतिहास' के अनुसार ११५३ एवं ११६८ ई० के बीच है (पृ० ६१५) । उसमें मिथिला और वैशाली को पृथक्-पृथक् उस काल के २० प्रमुख नगरों में स्थान दिया गया है (एच० सी० रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० १९८) । प्राचीन पाली साहित्य में मिथिला का नाम वैशाली के साथ कोशल के पूर्व एवं हिमालय तथा गंगा के बीच की सम्पूर्ण भूमि के १० गणतन्त्र राज्यों में लिखा पाया जाता है (रैप्सन : कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया-१, १७५) । बौद्ध ग्रन्थों में मिथिला राज्य का घेरा लगभग तीन सौ लीग अथवा २३०० मील का बताया गया है (डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ६४) ।

वैशाली गणतन्त्र का विनाश मगध-सम्राट् अजातशत्रु ने ईसापूर्व ५२५ के लगभग में किया । उसके कुछ ही काल पूर्व भगवान गौतम बुद्ध का महानिर्वाण हुआ था । इतिहास बताता है कि ईसापूर्व ३२६ वर्ष में नन्द वंश के प्रतापी राजा महापद्म नन्द ने मिथिला पर आक्रमण कर अजातशत्रु के प्रहार से बचे हुए मिथिला के गणतन्त्र को समाप्त कर दिया। वैशाली के गणतन्त्र के साथ ही वज्जिसंघ को लगभग दो शताब्दी पूर्व मगध-सम्राट बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु ने छिन्न-भिन्न कर ही डाला था । पुराणों में महापद्म नन्द को महाक्षत्रान्तक कहा गया है । वह उत्तर भारत के क्षत्रियों का परम शत्रु बन गया था, तथा उन्हें पराभूत कर उनके सारे राज्य उसने छीन लिये थे । वह शिशुनाग अथवा हर्यंक वंश का विनाश कर मगध साम्राज्य का स्वामी बन बैठा था ।

उपर्युक्त वर्णन से पता चलता है कि वज्जिसंघ के विनाश के लगभग २०० वर्ष पश्चात् भी मिथिला की स्वतन्त्र स्थिति उत्तर भारत के राजनीतिक इतिहास के पृष्ठों से लुप्त नहीं हो सकी थी । उस काल में मिथिला में पुनः राजतन्त्र पनप उठा था अथवा पूर्व का गणतान्त्रिक शासन ही वहाँ चल रहा था, यह बताना कठिन है । मिथिला जनपद के ही एक अंग वैशाली में राजा सुमति के राज्यकाल के पश्चात् राजतन्त्र के स्थान में सम्भवतः गणतन्त्र की प्रतिष्ठा हुई थी । वह शासन मिथिला के जन-क्रान्तिकाल में भी वहाँ चालू था । उसी वैशाली के वज्जि-संघ, जिसमें लिच्छवियों की प्रधानता थी, में कराल-काण्ड के फलस्वरूप जन-क्रान्ति द्वारा विदेह-वंश के विनाश के पश्चात् विदेह-राज्य भी प्रवेश कर उसका एक प्रभावशाली सदस्य बन गया था । यदि विदेह राज्य में गणतन्त्र की स्थापना वैशाली के वज्जि गणतन्त्र की स्थापना से पहले हुई होती तो विदेह राज्य की प्रधानता गणतन्त्र युग में वैशाली से अधिक रहती, और संघ की राजधानी भी मिथिला नगर में ही रहती, वैशाली में नहीं । पर बौद्ध एवं जैन साहित्य ईसापूर्व छठी शताब्दी (बौद्ध एवं महावीर युग) में वज्जि-संघ की राजधानी वैशाली को ही बताता है, और विदेह-राज्य को उस संघ-राज्य का एक प्रधान अंग मात्र ।

इसमें सन्देह नहीं कि पातंजल महाभाष्य (केल्होर्न व्हौलूम-२, पृ० २६८-६९) में विदेह राज्य को गणतन्त्र माना गया है, यथा-"क्षात्रियादेकराजादिति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । संघ प्रतिषेधार्थम् । संघान्माभूत् पंचालानामपत्यम् विदेहानामपत्यमिति । ...... अथ क्षत्रियग्रहणं किमर्थम् । इह मा भूत्- विदेहोनाम ब्राह्मणस्तस्यापत्यं वैदेहि: ।"

श्री के० पी० जायसवाल ने 'हिन्दू पोलिटी' नामक ग्रन्थ (द्वितीय संस्करण, पृ० ५३) में लिखा है कि कौटिल्य का लिच्छवियों के विषय में पृथक् चर्चा करना इस बात का द्योतक है कि 'व्रिज्जि' शब्द से उनका मन्तव्य केवल विदेहों से था । हुएन्-त्सं ने भी अपने यात्रा-वृत्तान्त में वज्जियों (व्रिजि) के देश को 'फु-ली-चिह' तथा वैशाली को 'फो-शे-ली' की संज्ञा देकर दोनों के पृथकत्व को प्रमाणित किया है (एस० बील : बुद्धिस्ट रेकर्ड्स ऑफ दि वैस्टर्न वर्ल्ड-२, ७७, १००) । प्रसिद्ध व्याकरणाचार्य पाणिनि (अष्टाध्यायी के रचयिता) ने भी व्रिज्जियों का अंकन अलग ही किया है, यथा- 'मद्रवृज्यो:कन्' । ऊर्ध्वांकित उल्लेखों से यह साबित होता है कि ईसापूर्व छठी शताब्दी के लगभग विदेह एवं वैशाली जनपदों में स्वतन्त्र गणतन्त्र एक संघराज्य के अन्तर्गत पृथक्-पृथक् शासन कर रहा था । श्री के० पी० जायसवाल की राय में वैशाली की प्रधानता अत्यधिक तब हुई, जब वर्द्धमान मगध-साम्राज्य-शक्ति के चतुर्दिक् बढ़ते वेग से संघराज्य की प्रतिरक्षा का प्रश्न सम्मुख हुआ (हिन्दू-पोलिटी, द्वितीय संस्करण, पृ० ५०, १८४) । इस काल के अनन्तर विदेह राज्य की गणना संघ राज्य के एक अंग के रूप में होने लगी, किन्तु अजातशत्रु द्वारा संघ राज्य के विघटन के पश्चात् सम्भवत: विदेह राज्य पुन: पृथक् हो गया, जिसके अस्तित्व को महाक्षत्रान्तक महापद्म नन्द ने अपने साम्राज्यवाद के प्रसार के अभियान में नष्ट-भ्रष्ट कर प्राय: समाप्त कर दिया ।

प्राचीन साहित्य एवं मिथिला राज्य

पूर्व में लिखा जा चुका है कि विदेहों के पूर्वज ब्रह्मावर्त्तस्थित सरस्वती नदी के तट से चलकर पूर्वोत्तर की नदी सदानीरा की दूसरी ओर पहुँचे, और वहाँ उन्होंने विदेह राजकुल की स्थापना की । यह भी अंकित किया जा चुका है कि इस राजकुल के पूर्व-पुरुष सूर्यवंशीय मनु-पुत्र इक्ष्वाकु-तनय निमि थे (पुराणों के अनुसार) । मनु, जिनका काल लगभग ईसापूर्व ६००० वर्ष कूता जाता है, ने ब्रह्मावर्त्त के निवासियों के आचार के विषय में अपनी स्मृति के द्वितीय अध्याय के १८वें श्लोक में अधिकारपूर्वक कहा है कि इस देश में सब वर्णों और आश्रमों का आचार, जो परम्परा से क्रमानुसार चला आता है (वर्ण-संकरों के आचार से भिन्न) वह 'सदाचार' कहलाता है । आगे चलकर उसी ग्रन्थ के उसी अध्याय के १९वें श्लोक में ब्रह्मावर्त्त के समीप के कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पांचाल और शूरसेनक को ब्रह्मर्षियों का देश उन्होंने बताया है । उसके विषय में लिखा है कि :

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन: ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा: ॥"

(मनु-अध्याय-२, श्लोक-२०)।

अर्थात् 'सारी पृथ्वी के सभी मनुष्य अपनी संस्कृति तथा आचार इस देश के निवासी ब्राह्मणों से सीखें ।'

'मनुस्मृति' के उक्त दोनों श्लोकों से स्पष्टतया पता चलता है कि पश्चिमोत्तर भारत के पंचनद प्रदेश (पंजाब) से पूर्वोत्तर की ओर भी भूमि ब्रह्मावर्त्त (सरस्वती एवं दृषद्वती नदियों के बीच की भूमि) तथा उसके निकटवर्त्ती ब्रह्मर्षियों के देश (कुरुक्षेत्र, मत्स्य अथवा थानेश्वर के उत्तर-पश्चिम, हिमालय पहाड़ और चम्बल नदी के मध्य का देश, पांचाल एवं शूरसेनक) को अधिक मान्यता मनु युग में आर्य सभ्यता के प्रसार की दृष्टि से मिल चुकी थी। विदेघ माथव शतपथ-ब्राह्मण-युग के लगभग ब्रह्मावर्त्त एवं ब्रह्मर्षियों के देश से आर्यों के उच्चादर्श के साथ पूर्वोत्तर दिशा में विजय-अभियान कर वर्त्तमान मिथिला भूमि में पहुँचे थे तथा वहाँ आर्य-आचार-विचार एवं सभ्यता की विजय-वैजयंती उन्होंने फहरायी थी। 'ऐतरेय ब्राह्मण' से देश की तत्कालीन अवस्था पर प्रकाश पड़ता है।

आधुनिक विद्वान् ईसापूर्व २५०० से ईसापूर्व २००० की अवधि को उपनिषद्-युग मानते हैं। अन्य उपनिषदों के साथ विशेषतया 'बृहदारण्यक' एवं 'छान्दोग्य' उपनिषदों से उस काल के देश की सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति का पता चलता है। शतद्रु नदी के पश्चिम के गांधार देश से लेकर सदानीरा नदी के आगे की भूमि तक में आर्य-सभ्यता के प्रसार का ज्ञान भी उन उपनिषदों के अध्ययन से प्राप्त होता है, और तत्कालीन उक्त राज्यों एवं जनपदों– मद्र और केकय, कुरु और पांचाल, कोशल और विदेह, कौशाम्बी एवं काशी आदि की भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक एवं राजनीतिक अवस्था पर भी सम्यक् प्रकाश उससे पड़ता है। 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' एवं 'पातंजल-भाष्य' से मिथिला के प्राचीन इतिहास पर किंचित् प्रकाश पड़ता है। पश्चाद्वर्त्ती बौद्ध एवं जैन साहित्य से ईसापूर्व ६०० वर्ष से लेकर बौद्ध एवं जैन-दर्शनों की देश में प्रधानता के काल तक के देश की जनता के आचार-विचार, कृषि-कला, उद्योग-धन्धा, रहन-सहन, वाणिज्य-व्यवसाय, अध्ययन-अध्यापन एवं राजनीतिक अवस्था-व्यवस्था के विषय में पूर्ण जानकारी अन्वेषकों को प्राप्त होती है। बौद्ध जातक अनेक हैं। उनमें से कतिपय, जिनसे उपर्युक्त विषयों पर प्रकाश पड़ता है, के नाम हैं– महापदान जातक, गान्धार जातक, सुरुचि जातक, महाजनक जातक, महानारद कश्यप जातक, निमि जातक आदि। जैन साहित्य के 'उत्तराध्ययन सूत्र', 'कल्पसूत्र', 'स्थविरावलि चरित' (परिशिष्ट पर्वम्) आदि में नगरों, उद्यानों, मन्दिरों एवं प्रसिद्ध पुरुषों के विषय में अति सुन्दर एवं रोचक आलंकारिक भाषा में प्रचुरता से वर्णन किया गया है, जिससे पाठकों को उस काल की सामाजिक अवस्था के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त होती है।

वाल्मीकीय रामायण, महाभारत एवं विष्णु, वायु, मत्स्य, गरुड़, श्रीमद्भागवत आदि पुराणों से भी मिथिला राज्य के सम्बन्ध में ऐतिहासिक तथ्यों का पता चलता है। रामायण के आदि काण्ड से सीता-पिता सीरध्वज जनक तक विदेह राजवंश की वंशावली तथा तत्कालीन अन्यान्य राज्यों की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति विषयक वर्णन प्राप्त होता है। 'पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया' के विद्वान् लेखक श्री एच० सी० रायचौधरी के मत में मगधराज बिम्बिसार के पूर्व के इतिहास सम्बन्धी पौराणिक उपाख्यानों का महत्त्व बौद्ध-युगीन ग्रन्थ 'महावंश' तथा 'अशोकावदान' के कथानकों से अधिक नहीं है। परन्तु देश का प्राचीन इतिहास प्रस्तुत करने में पुराणों के आख्यानों की

अवहेलना लाभप्रद कदापि सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि १८ पुराणों में से कम से कम सात पुराणों में उन राजाओं के विषय में अवश्य चर्चा की गयी है, जिन्होंने ऐतिहासिक युग में भारत के भिन्न-भिन्न अंशों में शासन किया है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि पुराणों में आख्यानों का संकलन साहित्यिक कृत्य है, और उनके ऐतिहासिक महत्त्व को स्वीकार कर लेना तभी उचित प्रतीत होगा, जब उनका अनुमोदन समकालीन लेखों तथा विश्वसनीय साक्ष्यों के द्वारा होता हो। इसके लिए तर्क की कसौटी के प्रयोग की आवश्यकता है।

भारत की समय-समय पर यात्रा करने वाले फाहियान, हुएन्-त्सं, संयुन, इत्सिंग, आदि चीनी यात्रियों; तिब्बती पर्यटक धर्मस्वामिन् तथा कतिपय मुसलमान पर्यटकों ने भी अपना-अपना यात्रा वृत्तान्त लिखा है। उनमें से हुएन्-त्सं, जिसने सम्राट् हर्षवर्द्धन के शासनकाल में कई वर्ष तक भारत में रहकर लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारत की यात्रा की थी, के यात्रा-वृत्तान्त से पश्चाद्वर्त्ती लिच्छवि (वज्जि), तीरभुक्ति एवं विदेह-राज्य के सम्बन्ध में ऐतिहासिक मसाला प्राप्त होता है। मुसलमान आक्रामकों के आक्रमण के सम्बन्ध में मुसलिम इतिहास लेखकों— फरिश्ता, अलबरुनी, अबुल फजल, एम० अब्दुल सलीम, गुलाम हुसेन खाँ आदि द्वारा लिखे गये इतिहास से भी मध्ययुगीन मिथिला से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ बातों का थोड़ा-बहुत पता लगता है।

डा० नलिनाक्ष दत्त द्वारा सम्पादित गिलगिट हस्तलिखित ग्रन्थ के तीन खण्ड हैं। उनसे प्राचीन मिथिला के राजनीतिक इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। उनके अवलोकन से पता चलता है कि जिस काल वैशाली में गणतन्त्र अति उन्नत अवस्था में था, उस समय भी मिथिला में राजतान्त्रिक शासन चल रहा था। गणतान्त्रिक शासन पद्धति को उस पुस्तक में 'जनाधीन' की संज्ञा दी गयी है और राजतांत्रिक को 'एकाधीन' की (वी० सी० लॉ : वाल्यूम पी० टी० १, पृ० १४६)। इस ग्रन्थ से उत्तर-पूर्वीय भारत की इतिहास सम्बन्धी कई नयी बातें प्रकाश में आयी हैं। उसमें विदेह-राज्य का वर्णन है, जिसके विषय में अंकित किया गया है कि विदेह-राज्य के ५०० आमात्य थे, और उनमें अनेक खण्ड थे तथा उन सबों में प्रधान अथवा अग्रामात्य था (वी० सी० लो : वाल्यूम पी० टी० १, पृ० १४०-४१; डा० उपेन्द्र ठाकुर : 'हिस्ट्री ऑफ मिथिला' के पृ० १७ से)।

ऐतरेय ब्राह्मण वैदिक युग के अन्तिम चरण में उत्तर भारत में निवास करनेवाली मानव जाति का पता देता है। उनके अनुसार भारत वर्ष के उस भाग के मध्य में उस काल कुरु-पांचाल वंश तथा उशीनरों का निवास था। उक्त मध्यभाग से दक्षिण में सात्वंत और पूर्व में प्राच्य (जिसमें काशी, कोशल, विदेह एवं मगध के लोग सम्मिलित थे) वास करते थे (**''एतस्यां ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि ये के च कुरुपंचालानां राजानः सर्वश-औशीनराणां राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते राजेत्येनानभिषिक्तानाचक्षत''**— ऐत० ब्रा० ८-३-१४, और भी उसी का— **''एतस्यां प्राच्यां दिशि ये के च प्राच्यानां राजानः सम्राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते सम्राडित्येतानभिषिक्तानाचक्षत''**)। श्री एच० ओल्डेनबर्ग के 'बुद्ध' नामक ग्रन्थ के अनुसार ब्रह्मर्षियों के देश के निवासियों में कुरुपांचाल बौद्धिक एवं राजनीतिक विकास में सबों के नायक थे। काशी, कोशल, विदेह एवं मगध मनु के ब्रह्मर्षियों के देश तथा ऐतरेय ब्राह्मण के मध्यम देश के अन्तर्गत नहीं माने गये हैं। इससे

यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मावर्त्त, ब्रह्मर्षियों के देश तथा मध्यदेश के निवासी आर्य सभ्यता एवं सिद्धान्तों के प्रतीक माने जाते थे, पर उनका विचार पूर्व दिशा में रहनेवाले आर्यों के विषय में वैसा उच्च एवं आदरणीय नहीं था।

डा० सुनीति कुमार चटर्जी की राय में विदेह और लिच्छवि, दोनों ही इण्डो-मंगोलियन रक्त के हैं (जनरल ऑफ दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, जिल्द- १६, १९५०, नं० २, पृ० १६९, १७१, किरातजन-कृति)। सम्भवतः डा० चटर्जी का यह मत मनु के कथन पर आधारित है, क्योंकि मनुस्मृति में उन्होंने दोनों ही का उद्भव व्रात्य मूल से बताया है। परन्तु प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों में विदेह नृपतियों को ब्राह्मण धर्म का आदर्श प्रतिनिधि माना गया है। यह विचारणीय विषय है।

विदेहों एवं लिच्छवियों को पश्चाद्वर्त्ती ग्रन्थों में व्रात्य बताने का कोई कारण अवश्य होगा, जिसकी खोज करना आवश्यक है। इस दिशा में और अधिक विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। आर्यावर्त्त के पूर्वोत्तर भाग में निवास करने वाले केवल मिथिला के विदेहों के साथ ऐसा बर्ताव हुआ है, यह बात नहीं है। मगध (कीकट) के निवासी मागधों एवं दक्षिण-पश्चिम मिथिला के अधिवासी लिच्छवियों के विषय में भी स्मृतिकार मनु ने तद्वत् उद्गार व्यक्त किया है। मगध और लिच्छवियों के निवास-स्थान वैशाली में ब्राह्मण धर्म के प्रतिकूल बौद्ध एवं जैन धर्मों का विकास तथा प्रसार बुद्ध और महावीर युग के आरम्भ से ही अधिक पाया जाता है। पूर्वोत्तर मिथिला के विदेहों पर भी बौद्ध धर्म का प्रभाव पश्चाद्वर्त्ती काल में देखने को मिलता है। इन स्थानों के जन-समुदाय का मस्तिष्क स्वच्छन्द था, और वे ईश्वरवादी प्राचीन आर्य-दर्शन के अतिरिक्त अनीश्वरवादी बौद्ध एवं जैन-दर्शनों तथा अन्यों के युक्तियुक्त विचारों को सुनते तथा उन पर मनन भी करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि इन स्थानों में ब्राह्मणधर्म के अतिरिक्त अन्य अनीश्वरवादी नास्तिक धर्मों का पनपना दृष्टिगत होने लगा, जो ब्राह्मण धर्म के समर्थकों तथा प्रचारकों के लिए सह्य न था। बहुत सम्भव है कि इन्हीं कारणों से इन जनपदों के अधिवासियों के प्रति अनादर-सूचक शब्द का व्यवहार स्मृति-ग्रन्थों में किया गया हो, अथवा पश्चाद्वर्त्ती लेखकों ने वैसे श्लोकों का निर्माण कर उनका समावेश उसमें कर दिया हो। सारे मगध (कीकट) को विष्णु पुराण में अपवित्र बताया गया है, केवल चार स्थानों को छोड़कर, जहाँ ब्राह्मण धर्म पर अधिकांश लोगों की आस्था अडिग रूप से बनी रही थी। एतद्विषयक श्लोक प्रसिद्ध है कि- 'कीकटेषु गया पुण्या, पुण्यं राजगृहम् वनम्। च्यवनस्याश्रमं पुण्यं, नदी पुण्या पुनःपुना ।।'' मगध का राजगृह बुद्धदेव एवं जैनों के २४वें तीर्थंकर महावीर स्वामी के मुख्य प्रचार-स्थानों में से था, पर जिस काल में चीनी यात्री फाहियान तथा उसके दो सौ वर्षों के पश्चात् हुएन-त्सं ने उस स्थान की यात्रा की तो वहाँ कोई बौद्ध उसे न मिला। हाँ, वैभार पर्वत-शिखर पर दो-चार दिगम्बर जैन साधु विचरते पाये गये थे। उस काल में राजगृह में ब्राह्मणों के एक सहस्र मकान थे। स्यात् इसी कारण राजगृह को मगध में पुराण-कर्त्ताओं ने पवित्र बताया; क्योंकि राजगृह, गया, च्यवन-आश्रम एवं पुनपुन नदी के तट के अतिरिक्त अन्य स्थानों में अन्य अनीश्वरवादी नास्तिक धर्मों के माननेवालों की संख्या उस काल कम न थी।

ऋग्वेद के काल से ही आर्य-सभ्यता एवं सिद्धान्तों के प्रचार तथा प्रसार शनैः-शनैः पश्चिम के पंचनद प्रदेश से पूर्व की सरस्वती एवं दृषद्वती नदियों के मध्य की भूमि, जिसको 'ब्रह्मावर्त्त' की संज्ञा मनुस्मृति में दी गयी है, की ओर होना आरम्भ हो गया था। ऐसा लगता है कि ब्राह्मण-काल में कुरु-पांचाल के प्रदेश से पूर्व की ओर के जनपदों के महत्त्व में वृद्धि हुई, और काशी, कोशल एवं विदेहों की प्रसिद्धि ब्रह्मावर्त्त, मध्यभूमि तथा ब्रह्मर्षियों के देश से न्यून न रही (रेपसन : कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द-१, पृ० ११६-१७) ।

इस कथन में तथ्य नहीं है कि ऋग्वेद-काल में विदेह एवं कोशल का अस्तित्व नहीं था (आर० एल० दास : ऋग्वेदिक कलचर, पृ० ८८) । नमी साप्य (ऋग्वेद-१, ५३, ७, ६, २०, ६, वैदिक इण्डेक्स, १, पृ० ४३६; पंच ब्राह्मण- २५, १०, १६-१८, नमी साप्य का आख्यान) ऋग्वेद के ऋषि का नाम है । ये नमी साप्य पौराणिक महाराज नमी अथवा नेमि वा निमि ही है, जो विदेहों के आदि-पुरुष बताये जाते हैं (वायु पुराण, ८८, ७-८, ८९, ३-४; विष्णु पुराण-४, ५, १) । ऋग्वेद के उपाख्यानानुसार विदेह-राज ऋषि नमी साप्य ने दस्युओं के सरदार नमुचि का वध किया था । इससे यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि ऋग्वेद के काल में विदेह जनपद आर्यों द्वारा शासित था (एस० एन० प्रधान : क्रोनोलॉजी ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३०८) । विदेघ माथव के पुरोहित गौतम रहूगण भी ऋग्वैदिक ऋषि एवं ऋग्वेद के अनेक सूक्तों के कर्त्ता थे । (ऋग्वेद १०, १२, ३८) । ये गौतम रहूगण संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों, तथा श्रौतसूत्रों में वर्णित राजन कौनेय, उग्रवेद राजन, क्रतुजित जानकी, केशिन, खाण्डिक तथा खाण्डि औदभारी के समकालीन थे । इन आख्यानकों से यह पूर्णतया साबित होता है कि ऋग्वेद-काल में आर्य-शासन, आर्य सभ्यता एवं आर्य मान्यताओं का प्रभाव आर्यावर्त्त के सुदूर पूर्व मिथिला (विदेह जनपद) में मूलबद्ध हो चुका था । यही कारण है कि विदेह जनक एवं ऋषि याज्ञवल्क्य को अति प्राचीन काल में वैदिक धर्म, ज्ञान एवं दर्शन के क्षेत्र में सर्वमान्य नेता के रूप में हम सर्वथा दृष्टिगत करते हैं (भण्डारकर ओरिएण्टल सीरीज-१९४३, पृ० २३६-३७)। डॉ० वी० सी० लॉ० महोदय की भी यही मान्यता है कि ब्राह्मण-युग के बहुत पूर्व ऋग्वैदिक संहिता-काल में ही विदेह-प्रदेश में वैदिक आर्य सिद्धान्तों की जड़ दृढ़तम हो चुकी थी । सर्वप्रथम विदेह-राज्य की चर्चा यजुर्वेद की संहिताओं में हुई दीख पड़ती है (वैदिक इण्डेक्स : मेकडोनेल ऐंड कीथ, ११, पृ० २९८; कीथः श्याम यजुर्वेद, जिल्द-१, पृ० १३८; जनरल ऑफ एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, पृ० ८७-८९) ।

कृति वा क्रति अथवा कीर्ति जनक पश्चाद्वर्त्ती विदेह नरपतियों में महान् दार्शनिक नृपति हो गये हैं । वे सीरध्वज जनक की १८वीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए तथा बहुलाश्व के पुत्र थे । कहा जाता है कि वे हिरण्यनाभ के शिष्य थे और योग की शिक्षा उनसे उन्होंने पायी थी (एस० एन० प्रधान : क्रोनोलॉजी ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, १३१-३९, १४१-४३; अन्नल्स ऑफ दी भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट-१३, ३२ एफ० एफ०) । विष्णु एवं वायु पुराणों से भी ज्ञात होता है कि क्रति हिरण्यनाभ के शिष्य थे, और उन्होंने २४ संहिताओं की शिक्षा अपने शिष्यों को दी थी । (यथा "हिरण्यनाभशिष्यश्च चतुर्विंशति-संहिताः । प्रोवाच कृतिनामासौ शिष्येभ्यः स महामतिः ।" विष्णुपुराण, ६, ७; तथा "ततो

हिरण्यनाभस्य कृतशिष्यो नृपात्मजः ।'' वायु पुराण, ६१, ४४) । कृति जनक अपने काल के उच्चतम कोटि के आदर्श व्यक्ति थे और दर्शनज्ञान एवं विद्या के संरक्षक । उनकी राजसभा अश्वल, जरत्कारव, याज्ञवल्क्य, भुज्यु लाह्यायानी, उशस्ति, कहोद, गार्गी, उद्दालक, आरुणि आदि मनीषिप्रवरों से सुशोभित थी । इनमें से अनेकों ने कौशल एवं कुरु जनपद से आकर मिथिला की राजसभा को सुशोभित किया था ।

ब्राह्मणग्रन्थों में विदेह राजाओं का विरुद

ब्राह्मण ग्रन्थों में मिथिला के विदेह राजाओं को 'सम्राट्' विरुद से विभूषित किया गया है (शतपथ ब्राह्मण, काण्ड-११) । राजराजेश्वर महाराजाओं को 'सम्राट्' कहा जाता है । इससे ज्ञात होता है कि विदेह राजवंश अपने काल में महान् प्रतापी और विजेता था। उस राजकुल का प्रभुत्व दूसरे भूपतियों पर भी अवश्य रहा होगा, जिस कारण से उसे सम्राट् की उपाधि प्राप्त हुई थी । वाल्मीकीय रामायण के वर्णन (बाल काण्ड, ७१ वें सर्ग के श्लोक-१६-१९) से ज्ञात होता है कि विदेह-राज सीरध्वज जनक ने मथुरा के निकटवर्त्ती सांकाश्य राज्य-विजय कर अपने छोटे भाई कुशध्वज को वहाँ का शासक नियुक्त किया था । इससे यह साबित होता है कि विदेह जनक के मिथिला का गृहराज्य सार्वभौम स्वतन्त्र तो था ही, पर उसके साथ ही उसकी प्रभुसत्ता अन्य सामन्त तथा मांडलिक करद एवं मित्र राज्यों पर थी, जिस कारण से विदेह-राजवंश को सम्राट् कहा जाता था ।

शौर्यशील मिथिला राज्य

पूर्व में यह अंकित किया गया है कि सीरध्वज जनक ने अपनी वीर-वाहिनी के साथ अग्रसर होकर अकारण आक्रमण करनेवाले सांकाश्य-नरेश सुधन्वा का रणक्षेत्र में पराभव कर उसे संगरशायी बनाया था । महाभारत-युद्धकाल में विदेह-कुल के भूपति क्षेमधूर्त्ति का सम्बन्ध पांडवों के साथ सुन्दर न था। अतः उस युद्ध में विदेह-राज ने पाण्डव-दल के विरुद्ध कौरवों के पक्ष में होकर बड़ी वीरता के साथ भयंकर समर किया था । पांडु एवं पांडु-पुत्र पराक्रमी भीम ने अतीत में तत्कालीन मिथिलेश का क्रमशः दो बार पराभव किया था । दोनों कुलों में वैमनस्य का यह भी एक कारण हो सकता है । सम्भवतः वीर एवं स्वाभिमानी मिथिलापति ने उसी विद्वेष के प्रतिशोध में पाण्डवों के प्रतिद्वन्द्वी तथा शत्रु कौरवों का साथ देकर महाभारत-युद्ध में शूरता के साथ भाग लिया था। किन्तु उसे वहाँ सफलता न मिली (एफ० ई० पार्जीटियर : ऐन्शिएण्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रैडीशन, पृ० २७३; एस० एन० प्रधान : क्रोनोलॉजी ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० २४८) ।

जातक ग्रन्थों में विदेह वंश के एक राजकुमार महाजनक की कथा उपलब्ध है । उस महाजनक ने अपने मातृ-भू अंग की राह स्वर्ण भूमि (वर्त्तमान थाईलैंड, जावा आदि) में जाकर वहाँ अपने शौर्य से मिथिला का उपनिवेश स्थापित किया था । वहाँ वर्णित कथा के अनुकूल महाजनक वीरतापूर्वक समुद्री तूफानों का सामना करता हुआ समुद्र की देवी की कृपा से स्वर्ण भूमि पहुँचा, तथा वहाँ अपना राज्य स्थापित किया (आर्यावर्त्त, पटना, दिनांक १० सितम्बर, १९६७ ई०, पृ० १०) । अंग देश की प्राचीन राजधानी का नाम मालिनी था, जो पीछे चलकर चम्पा अथवा चम्पावती कहा जाने लगा (आर० सी० मजूमदार:

ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ७२)। इण्डोचाइना में आर्य हिन्दुओं का एक उपनिवेश था, जिसकी राजधानी का नाम चम्पा था। इण्डोचाइना के उस भाग को सम्प्रति 'अनम' कहा जाता है। सम्भवतः इण्डोचाइना के पूर्व किनारे का चम्पा मिथिला के अंग प्रदेश के राजा का उपनिवेश था, जहाँ संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण राजा श्री मार का अभिलेख उपलब्ध है।

विदेह-युग में मिथिला की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक स्थिति

'ऐतरेय ब्राह्मण' से देश के भिन्न-भिन्न भाग में भिन्न-भिन्न प्रकार की राह-व्यवस्था का पता चलता है। पूर्व दिशा, जिसके अन्तर्गत मिथिला का विदेह-राज्य भी था, के नृपति 'सम्राट्' (राज-राजेश्वर) कहे जाते थे, इसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। दक्षिण के सत्वतों के भूप को 'भोज' (स्थायी शासक) का विरुद प्राप्त होता था (यथा-''एतस्यां दक्षिणायां दिशि ये के च सत्वतां राजानो भौज्यायैव तेऽभिषिच्यन्त भोजेत्येनानभिषिक्तानाचक्षत'')। दक्षिण-पश्चिमी के भूपति 'स्वराट्' (स्वायत्त शासक) थे। उत्तर के उत्तर कुरु एवं उत्तर मद्र (हिमालय के परे के जनपद) के नरेश 'विराट्' (सार्वभौम) कहे जाते थे। मध्यदेश के वंश एवं उशीनाराओं के साथ कुरु-पांचाल के भूपाल 'राजन्' कह कर सम्मानित किये जाते थे। 'शतपथ-ब्राह्मण' के अनुसार 'सम्राट्' का स्थान 'राजन्' से उच्चतर होता था।

आरम्भ में सर्वगुण-सम्पन्न पुरुष जनमत से निर्वाचित होकर नृप-पद पर आसीन होता था (ऋग्वेद-१०, १२४, ८; अथर्ववेद-३, ४, २, तथा ३, ३, ६; शतपथ ब्राह्मण, ९, ३, ४, ५; ऐतरेय ब्राह्मण, १, १, १४, ८, ४, १२ ; महाभारत, १, ९४, ४९)। पीछे चलकर राजा का पद वंश परम्परागत बन गया। पर चुनाव की प्रथा का प्रचलन तब भी बना ही रहा। किसी राजकुल के समाप्त हो जाने पर उसके स्थान में योग्य राजा के निर्वाचन करने की प्रथा प्रचलित थी।

कहीं-कहीं वैदिक साहित्य में राजा को अपने राज्य-विभव एवं प्रजा पर एकाधिपत्य रखनेवाला पूर्ण सत्ताधारी प्रभु बताया गया है, जो अपनी इच्छा के अनुसार उनका मनमाना उपयोग कर सकता था। ऐसे 'विश्वस्य भूतस्य अधिपति' एवं 'विशंअत्ता' (यथा- ''राजा त एकं मुखं तेन मुखेन विशोऽत्सि''- ऐतरेय ब्राह्मण-८, १७; एवं कापीतकी उपनिषद्-११, ६) अपनी स्वेच्छाचारिता से समय-समय पर प्रजा-वर्ग का रक्षक एवं भक्षक दोनों ही बन सकता था। अथर्ववेद में मध्य देश के कुरुओं के राजन को 'देव' की उपाधि से विभूषित किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में विदेह जनकों को सम्राट् बताया गया है। इससे पता चलता है कि साम्राज्यवाद का उदय ब्राह्मण एवं उपनिषद् काल में हो चुका था (एन ऐडवान्स्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० १४३, मजूमदार, रायचौधरी एवं दत्त प्रणीत)।

राजतन्त्र की स्थापना देश में हो चुकी थी। विदेहों एवं कुरुओं में विशेष कर। पर प्रभुसत्ता अनियन्त्रित नहीं थी। राजा के चुनाव में जनमत का भी स्थान था। राजा को मन्त्रिपरिषद् एवं जन-परिषद् के निर्णय पर निर्भर करना पड़ता था। मन्त्रियों की परिषद के अतिरिक्त राजा पर नियन्त्रण रखनेवाली अन्य जन-संस्थाएँ भी थीं, जिन्हें 'सूत' एवं 'ग्रामणी'- संस्था की संज्ञा प्राप्त थीं (जैसे- ''राजकृतः सूत-ग्रामरायः''- शतपथ ब्राह्मण- ३, ४, १, ७, १३, २, २, १८ ; जैमिनि उपनिषद् ब्राह्मण- २, १, ४, एवं रामायण-२, ६७,

२, ७९, १ में राजपद पर प्रतिष्ठित करनेवाले नृप-निर्माता को 'द्विजातयः' कहा गया है डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ६९ से उद्धृत) । इन 'सूत-ग्रामणियों' के प्रतिनिधिगण भी परिषद् अथवा समिति वा सभा की बैठकों में सम्मिलित होते थे, जिसमें राजा को भी अन्य लोगों के साथ उपस्थित होना पड़ता था (जैमिनि उपनिषद्, ब्राह्मण-३, ७, ६; छान्दोग्य उपनिषद्- ५, ३१; बृहदारण्यक उपनिषद्– ६, २, १; के० पी० जायसवाल; हिन्दू पोलिटी, १२, १३) । समिति का अधिकार अपार था । वह 'राजन्' के निर्वाचन करने का अधिकार रखती थी तथा उसे पदच्युत एवं बहिष्कृत करने का भी । समिति राष्ट्र की सर्वशक्ति-सम्पन्न सर्वोच्च संस्था मानी जाती थी । वैदिक युग में समिति के साथ-साथ सभा का नाम भी पाया जाता है । 'समिति' एवं 'सभा' प्रजापति की दो पुत्रियाँ कह कर समाज में समादृत थीं । समिति का रूप जनता द्वारा निर्वाचित राष्ट्रीय पंचायत का था, और सभा राज्य के विभव-सम्पन्न व्यक्तियों के प्रतिनिधियों की गोष्ठी थी । समाज में राजपद के लिए सम्मान था, किसी व्यक्ति-विशेष के लिए नहीं । प्रजा के रंजन एवं पालन समुचित ढंग से नहीं करने पर नृपति गण अनादर एवं अपमान के पात्र समझे जाते थे ।

बौद्ध युग में राज-व्यवस्था दो प्रकार की थी–(१) गणाधीन, तथा (२) एकाधीन । खाण्ड (प्रसंग वश खाण्ड का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है) जिस काल मिथिला के ५०० अमात्यों में अग्रामात्य था, उस समय वहाँ एकाधीन राज्य होने का वर्णन मिलता है (पर इस उल्लेख की सत्यता संदेह से शून्य नहीं है) ।

जनता का प्रधान जीविका-व्यवसाय कृषि था । शतपथ ब्राह्मण में कृषि कार्य का विवरण मिलता है । उसमें कर्षण (हल जोतना), वपन (बीज डालना), लुनन (उपज को काट कर एकत्रित करना), आदि का उल्लेख किया गया है ।

उत्पन्न होने वाले खाद्यान्नों में ब्रीहि (धान, चावल), यव, मुद्ग एवं माष (मूँग और उड़द, दलहन), तिल, गोधूम (गेहूँ) तथा मसूर (एक चिपटा द्विदलान्त) की प्रधानता थी (वाजसनेयी संहिता-१८, सी० ह्वी० वैद्य : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर– १, १८५) । तैत्तिरीय संहिता (७, २, १०, २) में भिन्न-भिन्न धान्यों के बोने एवं परिपक्व उपज को काटने की ऋतुओं का भी उल्लेख किया गया है । साधारणतः वर्ष में दो फसलें उपजायी जाती थीं । गंगा और यमुना के मध्य की जमीन अति उर्वरा थी । कृषि-कार्य की ओर जन-प्रवृत्ति वर्द्धनशील थी । घोर जंगल के वृक्षों को निर्मूल कर वहाँ की भूमि कृषि के उपयुक्त बनायी जाती थी । हल-कर्षण, बीज-वपन, उपज में उन्नति, वर्षा, पशु-धन की वृद्धि, ईति-भीति से त्राण तथा वन्य पशुओं एवं दस्युओं से रक्षा के हेतु ईश्वर से प्रार्थनाएँ की जाती थीं । अति-वृष्टि एवं अनावृष्टि की चिन्ता कृषकों को चिन्तित करती थी । ओला एवं टिड्डियों से प्रायः कृषि को हानि पहुँचती रहती थी । छान्दोग्य उपनिषद् (१, १०, १) में टिड्डियों के उत्पात से कुरु देश के निवासियों की अपार हानि तथा उनकी दुःखद स्थिति का वर्णन किया गया है ।

जातकों में दुष्काल-दुर्भिक्ष की चर्चा सम्बन्धी अनेक कथाएँ हैं । कौशल एवं हिमवत्-प्रदेश (इसमें मिथिला जनपद भी आ जाता है) में महादुर्भिक्ष का उल्लेख है । अनावृष्टि के परिणामस्वरूप जल सूख गया था और पशुओं को चारे एवं पानी की कमी के कारण अपार कष्ट था ।

मत्स्य-न्याय की बात भी अश्रुत न थी। क्षमता-हीन साधारण कृषकों पर अत्याचारों का भी उल्लेख है। खेतों में परिश्रम कर उपजानेवाले क्षुद्र भू-स्वामियों को कहीं-कहीं अधिकारच्युत कर सारे गाँव पर अधिकार कर लेने वाले सशक्त व्यक्ति अथवा वर्ग की चर्चा भी प्राचीन साहित्य में पायी जाती है (मजूमदार, रायचौधरी एवं दत्त : ऐन एडवान्स्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ४७)। इससे जन साधारण का सशंक रहना अस्वाभाविक नहीं था। नये-नये व्यवसायों को लोग अपनाने लग गये थे। धोबी, हजाम, लोहार, सोनार, कुम्हार, मछुवा, हलवाहा, धावन, संवाद-वाहक, पशु-हिंसक, युद्ध-सामग्री एवं रथ-निर्माता आदि व्यवसायियों के वर्ग का समाज में उदय हुआ (आर० सी० मजुमदार ऐंड ए० डी० पुसलकर संपादित—दी वैदिक एज-पृ० ४६१-६२)।

वाणिज्य एवं उद्योग की उन्नति हो रही थी। व्यापार करनेवाले वणिकों का वंश-परम्परागत एक विशेष वर्ग समाज में बन गया था, जिसकी रूपरेखा आज भी मिथिला में विद्यमान है। विदेह, अंग, कोशल, काशी आदि जनपदों के व्यवसायी वणिक समुद्र-मार्ग से भी व्यापार करते थे। बंगाल के बन्दरगाहों द्वारा उनका व्यापार-विनिमय समुद्र के पार के देशों के साथ होता था। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में समुद्र-यात्रा का प्रायः वर्णन मिलता है, यथा—''यो वै संवत्सरस्य अचार च पार ऱ्ह वद'' (१७-७; ८)। विदेह जनपद में बाहर से व्यापारीगण व्यापार के हेतु आते-जाते थे। सावत्थी (श्रावस्ती, उत्तर कोशल में गंगा-तट पर बसी हुई एक प्राचीन नगरी, जो अब सहेत-महेत कहलाती है) से सौदागर बर्त्तन बेचने के हेतु विदेह आया करते थे (वी० सी० लॉ—क्षत्रिय ट्राइब्स- १२९-३०)। श्रावस्ती, वाराणसी, राजगृह, चम्पा (अंग देश की राजधानी) एवं विदेह के व्यापारीगण विशेषतया सामुद्रिक यात्रा द्वारा व्यापार करते थे। उनके जहाजों पर व्यवसायी नर्तक-नर्तकियाँ, नट एवं वादकों के साथ चलने की भी चर्चा पायी जाती है (शतपथ ब्राह्मण-२, ३, ३, ५)। इस प्रकार की परिपाटी उस काल देश में प्रचलित दास-व्यवसाय का परिचायक प्रतीत होती है।

व्यापारियों का अपना निगम होता था, जिसको सम्भवतः 'गण' (परिषद) कहा जाता था। वैदिक साहित्य में 'श्रेष्ठ' (व्यापारियों का मुखिया) शब्द अनेक स्थानों में पाया जाता है। निगम के अध्यक्ष को सम्भवतः श्रेष्ठ (प्रधान) का विरुद प्राप्त होता था। बृहदारण्यक उपनिषद् (१, ३, १२) में श्रेष्ठिन् शब्द व्यापारियों एवं कलाकारों के निगम के लिए व्यवहृत हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में भी व्यापारियों को अपने वाणिज्य की उन्नति, आर्थिक लाभ, पूँजी का सदुपयोग, विधि-व्यवस्थानुकूल वैधानिक कार्य एवं विनिमय सम्बन्धी कृत्यों को सरलता तथा सफलतापूर्वक सम्पादित करने के लिए अपनी सक्षम व्यापारिक संस्थाओं की आवश्यकता थी, जिसकी पूर्त्ति अपने गण (परिषद्) की स्थापना कर वे किया करते थे। भारतीय संस्कृति के आदिकाल में ऐसी संस्थाओं का होना यहाँ के उन्नत वाणिज्य-व्यवसाय का द्योतक है।

व्यापार-विनिमय तत्कालीन प्रचलित मुद्रा 'निष्क' अथवा 'हिरण्यपिंड' के माध्यम से होता था (डॉ० भण्डारकर : ऐन्शिएण्ट इण्डियन नुमिस्मेटीज—५५-६८; ६३-६६, सम्पूर्णा-नन्द अभिनन्दन ग्रन्थ में डॉ० अलतेकर का लेख (हिन्दी)-पृ० ६६)। 'निष्क' वैदिक

काल में प्रचलित एक प्रकार के सोने के सिक्के का नाम था। 'पाद' नामक मुद्रा के प्रचलन की चर्चा 'शतपथ ब्राह्मण' (१४) एवं 'बृहदारण्यक उपनिषद्' (३, १, १) में की गयी है। विदेह जनक ने एक यज्ञ में ऋषि याज्ञवल्क्य को एक सहस्र गायें, जिनके प्रत्येक शृंग में दश-दश पाद मुद्राएँ बाँधी थीं, दान दी थीं। पाणिनि ने भी (अष्टाध्यायी के सूत्र ५, १, ३४ में) पाद मुद्रा का उल्लेख किया है। डॉ० भण्डारकर की राय में 'पाद' तत्कालीन प्रचलित मुद्रा का ही नाम था (ऐन्शिएण्ट इण्डियन नमिस्मेटीज, ६०)। विदेह जनक के यज्ञ में प्रत्येक ब्राह्मण को तीन 'शतमान' दिये गये थे। सम्भवतः 'शतमान' एक प्रकार की रजत-मुद्रा का नाम था। 'पाद' मुद्रा का प्रचार बुद्ध काल में भी था (जरनल ऑफ दि रॉयल ऐशिएटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन ऐण्ड आयरलैंड, न्यू सीरीज, १९३७, पृ० ७६)।

वैदिक युग में धातुओं का ज्ञान जनता में था। उनका व्यवहार भी किया जाता था। स्वर्ण (हिरण्य), अयस् (ताम्र एवं टीन के मिश्रण से प्रस्तुत धातु), श्याम लौह, ताम्र (ताँबा), सीसक (सीसा धातु), त्रपु (टीन), रजत (चाँदी) आदि धातुओं का भिन्न-भिन्न कामों में उपयोग किया जाता था। चाँदी का व्यवहार पात्रों के निर्माण (तैत्तिरीय ब्राह्मण-२, ९, ७, ३, ९, ६, ५), आभूषण (शतपथ ब्राह्मण, १२, ८, ३, ११) एवं मुद्राएँ वा निष्क (पंचविंश ब्राह्मण-१७, १, १४) प्रस्तुत करने में होता था। शतपथ ब्राह्मण (२, ५, ५, १६) के उल्लेखानुसार स्वर्ण-मुद्राएँ, यथा शतमान आदि का तौल भी निर्धारित था।

सर्वोच्च बौद्धिक विकासजनित आध्यात्मिक उन्नति के प्रतीक उपनिषद् आदि ग्रन्थों का निर्माण इसी युग में हुआ (डॉ० वी० सी० लॉ, वॉलूम पार्ट- १, १२८, २९)। सर्वश्रेष्ठ भारतीय संस्कृति की नींव भी इसी युग में पड़ी, यह स्पष्ट है। वैदिक युग में बाल-बच्चों की शिक्षा मनुष्य का पवित्र कर्त्तव्य समझा जाता था। बालक एवं बालिकाओं की शिक्षा पर समान रूप से ध्यान दिया जाता था। 'चरण' आदि वैदिक विद्यालयों में बालिकाओं का भी प्रवेश होता था (यथा-पाणिनि-४, २, ४६, ''चरणेभ्यो धर्मवत्'', ४, १, ६३, आर० के० मुकर्जी- ऐन्शिएण्ट इण्डियन एजुकेशन, पृ० ७८)। अधिकांश बालक-बालिकाओं की शिक्षा घर पर ही होती थी। द्विजातियों के लिए उपनयन अनिवार्य था। शिक्षण का आरम्भ उपनयन काल से ही होता था। उपनयन संस्कार को आचार्यकरण भी कहा जाता था (यथा-पाणिनि, १, ३, ३६-''सम्माननोत्संजनाचार्यकरण ज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः)। विद्यार्थी आचार्य-कुल में वास कर अध्ययन करते थे। साधारणतः शिक्षण-अवधि १२ वर्षों की होती थी, पर इससे अधिक दिनों तक भी गुरुकुल में निवास कर योग्य विद्यार्थी उच्च ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करते थे। परन्तु इसके लिए पहले विद्यार्थी को गुरु के समक्ष अपने को शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु एवं समाहित साबित करना पड़ता था (बृहदारण्यक उपनिषद्-४, ४, २३; कठ उपनिषद्- २, २४; मुण्डक उपनिषद्-१, २, १३)। द्विजातियों एवं शूद्रों को समान रूप से शिक्षा देने का प्रचार न था। महाभारत में वर्णित द्रोण-एकलव्य-कथा इसका प्रमाण है।

उपनिषद्-युग में मिथिला शिक्षा एवं संस्कृति का केन्द्र थी, जहाँ कुरु-पांचाल से विद्वान् ब्राह्मण-समुदाय दर्शन-ज्ञान की चर्चा में भाग लेने के हेतु पधारते रहते थे। आयुर्वेद विज्ञान का भी विकास मिथिला में समुचित रूप से हुआ था। इसका भी प्रमाण मिलता

है । पर पुस्तकें जो लिखी गयी थीं, वे सम्प्रति प्राप्य नहीं हैं । 'ब्रह्मवैवर्त्त' में उल्लेख है कि "चकार जनको योगी वैद्यसन्देहभंजनम्" । इससे स्पष्ट है कि जनक ने आयुर्वेद पर कोई भाष्य अथवा ग्रन्थ का निर्माण किया था । सुश्रुत पर अपने भाष्य में चक्रपाणि ने कपिल का उल्लेख किया है (सुश्रुत-४, १०) ।

अनेक सामाजिक प्रथाओं एवं नियमों का सर्जन इसी युग में हुआ, जिसने पीछे चल कर चातुर्वर्ण्य एवं उपवर्णों का रूप धारण कर लिया । आरम्भ काल में सामाजिक कर्त्तव्यों को सुचारु रूप से सम्पादन करने में वर्ण विभाग सहायक अवश्य हुआ, पर पीछे उस पद्धति के दुरुपयोग एवं दुर्व्यवहार के कारण वह अभिशाप सिद्ध होने लग गया । सूत्र-युग से आरम्भ कर ऋग्वैदिक, ब्राह्मण एवं उपनिषद् युगों में शनैः शनैः प्रथाओं एवं नियमों में काल-क्रम के प्रभाव तथा आवश्यकताओं के अनुकूल परिवर्त्तन भी होता गया । आरम्भ काल में आदि निवासियों के साथ आर्यों के संसर्ग एवं व्यवहार में रंग-भेद तथा रक्त-शुद्धता के प्रश्न का आभास मिलता है (आर० के० मुकर्जी : हिन्दू सिविलिजेशन, पृ० ८९) । ब्राह्मण-काल में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय पुरुषों का अपने से नीचे वर्ण की महिलाओं से विवाह होने लगा, इसका प्रमाण प्राप्त होता है । ब्रह्मर्षि च्यवन का विवाह नृपति शर्याति की पुत्री सुकन्या के साथ हुआ था (शतपथ ब्राह्मण-४, १, ५, ७) । ब्राह्मण और क्षत्रिय शूद्र-कन्या का भी पाणिग्रहण कर सकते थे । उस काल के ब्राह्मणों का काम, दान लेना, सोमपान करना तथा सदा इच्छानुसार विचरण करते रहना था । ब्राह्मण-वर्ग पर राजन्यों का साधिकार शासन नहीं था, ऐसा लगता है । वैश्यों एवं शूद्रों के साथ उनके व्यवहार में भेद था । वैश्यों को राजन्य अपनी इच्छा के अनुसार दबा कर उनकी जमीन पर से उन्हें अधिकारच्युत कर सकते थे । शूद्र का जीविका-व्यवसाय था दासता । उसे जब इच्छा हो, तब हटाया जा सकता था और उसका वध भी किया जा सकता था (ऐतरेय ब्राह्मण-७, २९; रैपसन : कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया-१, १२७-२९; आर० सी० मजूमदार एंड ए० डी० पुसलकर सम्पादित–दि वैदिक एज, ४५०-५१) । भूपति एवं क्षत्रियों के सामने उन्हें अपनी सम्पत्ति तथा जीवन पर भी कोई अधिकार न था । शूद्र न यज्ञ कर सकते थे और न तपश्चर्या; तथा वेद जैसे पवित्र धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन भी नहीं कर सकते थे । राम के आदर्श राज्य-शासनकाल में भी शंबूक शूद्र का वध तपस्या करने के अपराध में किया गया था (महाभारत-१०, अनुशासन पर्व, सौद्रामुनि संवाद) । पशुधन के समान शूद्र भी राजन्यों के द्वारा दान में दिये जाते थे । जनक जैसे दार्शनिक प्रजापालक नृपति भी शूद्रों को दान में ब्राह्मणों को दिया करते थे । याज्ञवल्क्य जैसे ज्ञानी ऋषि भी शूद्रों को सेवार्थ दान में प्राप्त करते थे (बृहदारण्यक उपनिषद्, ४,४,३०,२,१,२०) । राज्यकर का भार भी वैश्यों एवं शूद्रों को ही वहन करना पड़ता था । साधारण क्षत्रिय और ब्राह्मण इससे मुक्त थे ।

जाति का परिवर्तन भी असम्भव नहीं था, पर ऐसा होता कम था । याज्ञवल्क्य से ज्ञान-दान प्राप्त कर राजर्षि जनक ब्राह्मण बन गये (शतपथ ब्राह्मण-९, ६,२,१०; तैत्तिरीय संहिता- ६१६, १, ४, में उल्लेख है कि–"एष वै ब्राह्मण ऋषिरार्षेयों यः शुश्रुवान्" अर्थात जिसके पास विद्या है, ज्ञान है, वह ब्रह्मर्षि है) । विश्वामित्र (कौशिक) भी राजर्षि से ब्रह्मर्षि हुए थे ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में संसार का त्याग एवं भिक्षावृत्ति द्वारा जीवन-निर्वाह की चर्चा है । किन्तु ऐसे भिक्षावृत्तिजीवी दार्शनिकों की संख्या अत्यल्प थी और वे विशेषतया

ब्राह्मण-वर्ग के ही होते थे (सी० वी० वैद्य : हिस्ट्री, ऑफ संस्कृत लिटरेचर-१, १०१)। पीछे चलकर चार आश्रम-ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वाणप्रस्थ, एवं संन्यास, मानव-जीवन के क्रमशः चार विभागों की कल्पना का सर्जन हुआ, और उपनिषद्-काल के अन्तिम चरण में यह कल्पना बद्धमूल हो गयी। चौथेपन में मनुष्य वनवास का जीवन व्यतीत करते थे, पर, सभी नहीं। छान्दोग्य उपनिषद् में जीवन के तीन विभागों का विशेषकर संकेत किया गया है।

ब्राह्मण काल में स्त्रियों का समाज में सम्मानित स्थान न था। शूद्र, श्वान, स्त्री एवं गाय को अनृत बताया गया है (आर० सी० मंजूमदार ऐंड ए० डी० पुसलकर : दि वैदिक एज, ४२०)। कन्या-विक्रय की चर्चा इस युग में पायी जाती है। लोग विवाह कन्या-क्रय कर भी किया करते थे। स्त्रियों को सभा, समिति, परिषद् अथवा जन-समूह में संभाषण करने का निषेध था। पर उपनिषद् काल में अनेक विदुषियों को गूढ़ दार्शनिक विचार-विमर्श में भाग लेते पाया जाता है। पुरुषों में बहुविवाह के प्रचार के कारण स्त्रियों को सौत-समागम की सम्भावना विशेष रहती थी। सम्पन्न परिवार में चार स्त्रियाँ रखने की छूट थी।

पीछे चल कर गार्गी वाचक्नवी, मैत्रेयी एवं सुलभा जैसी विदुषियों का प्रादुर्भाव समाज में विशेष रूप से होने लगा। उन सबों ने विदेह जनक तथा अन्य राजाओं की सभाओं में जाकर गूढ़ दर्शन सम्बन्धी विविध वाद-विवादों में भाग लेना एवं विचार-विमर्श करना आरम्भ किया। पर सभी स्त्रियाँ उस काल में भी विदुषी नहीं थीं। मैत्रेयी की सौत कात्यायनी, याज्ञवल्क्य की द्वितीय पत्नी, साधारण स्त्रियों जैसी थी, गार्गी एवं मैत्रेयी जैसी विदुषी नहीं। उपनिषद् काल में दो प्रकार की स्त्रियों का वर्णन मिलता है-(१) ब्रह्मवादिनी तथा (२) सद्योवधू (राधाकृष्णन : रेलिजन एण्ड सोसाइटी, १४१, ऋग्वेद-५, ७, ९; ३; ५५, १६; यजुर्वेद-८, १; अथर्ववेद-११, ६)। प्रौढ़ावस्था-प्राप्त विवाहित स्त्रियों को ही वेदान्त सम्बन्धी वाद-विवाद श्रवण करने का अधिकार था (डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला- पृ० ७८; ऐतरेय ब्राह्मण- ११, ७)।

पुरुष बहुविवाह कर सकते थे, पर स्त्रियों को केवल एक पति रखने का अधिकार था। (ऐतरेय ब्राह्मण- ७,१३, ३, ४८) परन्तु यह बहुविवाह की प्रथा विशेष कर राजा महाराजाओं एवं ऐश्वर्यवान् विभव-सम्पन्न व्यक्तियों में ही सीमित थी। पर मर्यादा पुरुषोत्तम दशरथकुमार राम ने एक-स्त्री व्रत को निवाह कर राज-समाज एवं विभवशाली विषयी पुरुषों के समक्ष एक नया आदर्श उपस्थित कर दिया था।

ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख है कि श्वसुर की दृष्टि से पुत्रवधुएं अपने को बचाती थीं। उन से अकस्मात् साक्षात्कार हो जाने पर वे अपने को छिपा लेती थीं (ऐतरेय ब्राह्मण-१२, २)। यह प्रथा वर्तमान मैथिल समाज में प्रचलित है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि पर्दा की प्रथा ब्राह्मण युग में भी किसी अंश तक विद्यमान थी। स्त्रियों को उत्तराधिकार का स्वत्व प्राप्त नहीं था। विधवा बहन को अपनी भौजाई की दया की भिखारिन बन कर शेष जीवन, पितृ-गृह में आने पर भी, व्यतीत करना पड़ता था (ऐतरेय ब्राह्मण, १३, १३,-"तस्मात् समानदया स्वसा अन्योदयायै जायाया अनुजीवनी जिति")।

वेश्यावृत्ति का भी जन्म समाज में हो चुका था। उस वृत्ति को अपनाने वाली महिलाओं को विश्या कहते थे, पर पीछे चलकर वे वेश्या कहलाने लगीं। रखेलियाँ तथा दासियाँ रखने की प्रथा भी राजाओं एवं धनाढ्य व्यक्तियों में थी। कभी-कभी राजाओं के राजप्रासादों में सौ-सौ दासियाँ रखी जाती थीं (शतपथ ब्राह्मण-१३, ५-२)।

'उत्तररामचरित' में भवभूति ने अंकित किया है कि विदेह जनक किसी प्रकार के मांस का भक्षण नहीं करते थे। पर यह भी लिखा है कि वाल्मीकीय-आश्रम में ऋषि वशिष्ठ के स्वागत हेतु बछड़े का वध किया गया था। इस 'उत्तररामचरित' में समाज का चित्रण प्राचीन सूत्र, संहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के वर्णन के आधार पर किया गया है। परन्तु स्मृति-काल में इसका पूर्णरूपेण निषेध पाया जाता है। ऐतिहासिक युग के गुप्त एवं हर्षवर्द्धन काल में चीनी यात्री विद्वान् फाहियान तथा हुएन्-त्सं ने क्रमशः भारत-भ्रमण किया था। उनके यात्रा-वृत्तांत से स्पष्ट होता है कि यहाँ के अधिवासी मांस भक्षण नहीं करते थे। केवल चाण्डालों में मांस खाने की प्रथा थी। पर उनका आवास नगर के परकोटे से बाहर रहता था।

ब्राह्मण-काल में कला के सम्यक् विकास के हेतु प्रोत्साहन नहीं प्राप्त था। चित्रकारी एवं मूर्ति-कला उस युग में विकसित नहीं थीं। उपनिषदों के आदर्शानुसार जीवनयापन करने में कला का स्थान नहीं था। इसे लोग केवल बाह्यइंद्रिय-मोदकारी समझते थे। इन्द्रियगामी पुरुषों के आनन्द-वर्द्धन का निमित्त मात्र कला समझी जाती थी (मुल्कराज आनन्दः हिन्दू व्यू ऑफ आर्ट-७३)। पर शनैः-शनैः इसका भी विकास होना आरम्भ हुआ, और ईंट एवं पत्थरों के सुन्दर-सुन्दर प्रासादों का निर्माण हुआ (कुमार स्वामीः हिस्ट्री ऑफ इण्डियन ऐंड इन्डोनेशियन आर्ट-६३-६४)। देव-पूजन के हेतु कमनीय कलापूर्ण मनोहर मूर्त्तियाँ बनने लगीं। यज्ञ-कुण्डों के निर्माण में भी सूक्ष्म कलाओं के प्रदर्शन का समावेश हुआ। कहीं-कहीं विस्तारित पंख युक्त विशाल पक्षी के मनोरम रूप में उसे निर्माण कर प्रदर्शित किया जाने लगा। (वाजसनेयी संहिता, ११-१८; अग्निलयन के सम्बन्ध में)। नृत्य-कला भी विकसित हुई। नाचने और गाने की शिक्षा महिलाओं को मिलने लगी। पुरुष इसके लिए योग्य नहीं समझे गये (तैत्तिरीय संहिता-६, १, ६, ५; शतपथ ब्राह्मण-३, २, ४, ३, ६; आर० के० मुकर्जी : ऐन्शिएन्ट इण्डियन एजुकेशन, १०५)। एक अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर किसी राजन्य को सप्ततार (सितार) वादक एवं गायक के रूप में उपस्थित होने का भी उल्लेख मिलता है (शतपथ ब्राह्मण-१३, ४, ३, ५, जरनल ऑफ रॉयल एशिएटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयरलैंड, १९०८, ८६८-७०)।

शुक्ल यजुर्वेद के प्रवर्त्तक ऋषि तथा शतपथ ब्राह्मण के कर्मकाण्ड एवं बृहदारण्यक उपनिषद् के ब्रह्मज्ञान के प्रसिद्ध उपदेष्टा महाज्ञानी मनीषि-प्रवर याज्ञवल्क्य सम्भवतः विदेह जनपद (मिथिला) के निवासी थे। विदेह जनक की राजसभा में कुरु-पांचाल से जो विज्ञानी पंडित समुदाय आकर एकत्र हुए थे, उनमें याज्ञवल्क्य का नाम नहीं पाया जाता है। शतपथ ब्राह्मण- (१४, ६-१, १) यह भी सिद्ध करता है कि वे अन्य जनपद के निवासी नहीं थे। याज्ञवल्क्य के युग में मिथिला वैदिक संस्कृति के विकास का केन्द्र बन गयी थी, तथा बौद्धिक उत्कर्ष के क्षेत्र में सर्वाग्रगण्य थी। जनक उनकी गुरुवत् प्रतिष्ठा करते थे।

उपनिषदों में उनका स्थान एक विशिष्ट ज्ञानी दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित, प्रतिपादित एवं समादृत है । उनकी जीवनी वास्तव में उनकी जन्म एवं कर्मभूमि मिथिला का सांस्कृतिक इतिहास है । इसमें सन्देह करने का स्थान शेष नहीं है ।

'विष्णु पुराण' में उल्लेख है कि याज्ञवल्क्य वाजसनेय के मामा एवं गुरु वैशंपायन थे । दोनों में मतभेद होने के कारण याज्ञवल्क्य ने यजुर्वेद, जिसका ज्ञान उन्होंने अपने गुरु तथा मामा से प्राप्त किया था, का अध्यापन छोड़ दिया । पश्चात् उन्होंने शुक्ल यजुर्वेद का संकलन एवं प्रणयन किया । उसे वाजसनेयी संहिता भी कहा जाता है (विष्णु पुराण-३, ५; एस० एन० प्रधान : क्रोनोलॉजी ऑफ एन्शिएन्ट इण्डिया-१९५; महाभारत-१२, ३६०)।

याज्ञवल्क्य जिस दर्शन का प्रचार करते थे, उसी के अनुसार उनका आचरण भी होता था । आत्मानुभव-प्राप्ति के सिद्धान्त के अनुशीलन ने उन्हें संसार से विरक्त कर त्यागी, संन्यासी एवं तपस्वी बनाया । याज्ञवल्क्य को एक पुत्र था जिसका नाम नचिकेता (तैत्तिरीय ब्राह्मण-३, ११, ८, १४) था । उसको योगीश्वर भी कहा जाता था । वह सम्भवतः उदार विचार का समाज-सुधारक था । कहा जाता है कि उसने विशेष अवस्था में गो-मांस भक्षण का भी प्रतिपादन किया है (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला-पृ० १०३; शतपथ ब्राह्मण-३, १, २, २१) । यह भी कहा जाता है कि नचिकेता का आश्रम दरभंगा जिला के कमतौल रेलवे स्टेशन के निकटवर्त्ती ग्राम योगवन स्थित विशाल वटवृक्ष के नीचे था । उस वट वृक्ष की पूजा जनता श्रद्धा के साथ अद्यावधि करती आयी है । किन्तु कुछ लोग उसका आश्रम नेपाल तराई में धनुखा के निकट कुसुमा ग्राम में बताते हैं (डॉसन : ए क्लासिकल डिक्शनरी ऑफ हिन्दू माइथोलॉजी-३३७-३८; इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली-१९३७, २६० ७८; डी० एस० त्रिवेदी : प्रीमौर्यन हिस्ट्री ऑफ बिहार-६७) ।

याज्ञवल्क्य के अतिरिक्त गौतम, कपिल, कणाद, जैमिनि, विभाण्डक, शतानन्द तथा ऋष्य शृंग जैसे प्रतिभा-सम्पन्न भिन्न-भिन्न दर्शनों के ज्ञाता एवं प्रवर्त्तक ऋषि विदेह भूमि में निवास कर अपनी ज्ञान-रश्मियों से उसे आलोकित कर रहे थे ।

कुछ विद्वानों के मत में याज्ञवल्क्य-स्मृति के रचयिता याज्ञवल्क्य मुनि थे । मिताक्षरा उसी का भाष्य है, जिसकी मान्यता मिथिला में अद्यावधि सर्वाधिक है ।

दर्शनों का उद्गम-स्रोत धर्म माना जाता है । भारत में धर्म और दर्शन एक दूसरे से अभिन्न माने गये हैं । सांख्य दर्शन के प्रवर्त्तक कपिल मनोविज्ञानियों के आदि-पुरुष माने जाते हैं । वेदान्तवाद अथवा उपनिषद्वाद सांख्य दर्शन के तार्किक प्रतिफल हैं । सांख्य को सम्मिलित कर षड्-दर्शनों का प्रचार भारत में हुआ था । संसार की सृष्टि के विषय का सिद्धान्त कपिल का स्पष्टतया अनीश्वरवादी था । वे सृष्टि के मूल में प्रकृति को ही पाते हैं, ईश्वर को नहीं । आत्मा के एकत्व में उनका विश्वास नहीं है । वेदान्त का विचार उनसे भिन्न है । वेदान्त दर्शन के अनुसार आत्मा का एकत्व ब्रह्म में लीनता है । प्रकृति को जड़ कहा गया है और पुरुष को चैतन्य । कपिल के विचार में सृष्टि के मूल कारण अखिल विश्वव्यापी महाभूतों का प्रसार अटूट है । ये महाभूत अनादि और अक्षय हैं । इनका विनाश कभी नहीं होता है । केवल उनके बाह्य रूप में परिवर्त्तन होता है । सृष्टि का क्रम इसी रूप में चालू है । प्रकृति का विकार महत् अथवा महत्तत्त्व है जो समयानुकूल ज्ञान एवं

अज्ञान का जनक है। वेदान्त दर्शन के विचारों की प्रथम निःश्रेणी कपिल के सांख्य दर्शन के सिद्धान्त को मानना अनुचित नहीं होगा। वेदान्त का अर्थ होता है वेदों का अन्त। अतः इसका वैदिक सिद्धान्तों पर आधारित होना नामानुकूल ही है। धर्म एवं दर्शन की एकता वेदान्त का मौलिक मन्तव्य है (मैक्समूलर : दि वेदान्त फिलॉसफी, ९-१०)। ब्राह्मण-धर्म का सार वेदान्त दर्शन है।

उपनिषद् का ज्ञान ऋषियों के चिर एकान्त चिन्तन एवं चित्तवृत्ति के निरोध जनित समाधिप्रसूत आत्मालोक हैं। ज्ञान के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति उपनिषद् सिद्धान्त माना गया है। "तरति शोकम् आत्मविद्" अथवा आत्मज्ञानी सभी शोकों को पार कर जाता है, "ब्रह्मविद् ब्रह्म एव भवति"– ब्रह्म को जानने वाला स्वयं ब्रह्म हो जाता है (राधाकृष्णन् इंण्डियन फिलॉसफी-१, पृ० २३९; मुंडक उपनिषद्-२, २, २; कठ उपनिषद्-२, १५) उपनिषदों का स्वीकृत सिद्धान्त बताया गया है। कपिल-सिद्धान्त में जिसको पुरुष अथवा आत्मा कहा गया है, उसी को वेदान्ती 'अहं' कहते हैं यथा– 'सोऽहमस्मि', अथवा 'वह मैं हूँ'। उनके सिद्धान्तानुकूल अखिल विश्व एक है। एक ही 'अहं' का अस्तित्व सत्य और सर्वत्र है। सम्पूर्ण सृष्टि में एक रूप तथा समभाव से वह व्याप्त है, एवं उसका मूलभूत कारण ब्रह्म है। दृश्य जगत्, जो मिथ्या है, के पृथक्-पृथक् प्राणियों तथा उसके अनन्त कण-कण में व्यापक ब्रह्मसत्ता को जीव अथवा आत्मा कहा गया है। इसलिए मनुष्य के अन्दर व्यापक आत्मा ही परमात्मा है अथवा ब्रह्म है। मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ एकत्व का अनुभव करती है। उस अवस्था में वह अपने को विश्व का कर्त्ता, भोज्य, भोक्ता, हव्य, होता, स्रुवा, अज्य, सृष्टि का केन्द्र, अमर देवों का भी उद्भवकारण मानने लगती है। अद्वैतवादी वेदान्ती अनन्त ब्रह्माण्ड में एक ही के अस्तित्व को सत्य मानते हैं, और वह है 'सत् + चित् + आनन्द' (सच्चिदानन्द), जिस अवस्था की प्राप्ति आत्मानुभव एवं ज्ञान मार्ग के द्वारा उनके दर्शन का अन्तिम लक्ष्य है। इस अवस्था को ब्रह्म-निर्वाण भी कहा जाता है। जीव अथवा आत्मा का परमात्मा (ब्रह्म) में लीन हो जाना ही मोक्ष कहा गया है।

बृहदारण्यक उपनिषद् (८, १२) में प्रार्थना की गयी है कि– 'अनृत से सत्य की ओर, तमस् से ज्योति की ओर, तथा मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो'। उपनिषद् के ऋषि पुनः प्रश्न करते हैं कि कहाँ से हम अवतीर्ण हुए, कहाँ रहे हैं तथा कहाँ हमें जाना है? आत्म-ज्ञान के द्वारा ही उनके प्रश्नों का उत्तर उनके अन्तस्थल में प्राप्त होता है। परमात्मा विषयक चिन्तन उन्हें उस ब्रह्म के विषय में 'न इति, न इति' (इतना ही नहीं, इतना ही नहीं) का आभास देकर उनके आयास की दिशा में और भी अग्रसर होने के हेतु प्रोत्साहित करता है। आत्मदर्शन में सफल ऋषि को तब उस ब्रह्म के सम्बन्ध में यही कहने में संतुष्टि होती है कि 'तत् त्वम् असि' अर्थात् वह तुम हो। तुम आनन्द हो, तुम परमात्मा हो, तुम विश्व ब्रह्माण्ड के कर्त्ता हो, तुम सृष्टि करते हो और फिर उसमें लीन हो जाते हो। अतः सारा दृश्य एवं अदृश्य संसार तुम से परिप्रोत तथा परिप्लुत है, आदि। यह उपनिषद् मानव-जीवन में कर्म की प्रधानता भी दर्शाता है, जिसका प्रभाव वर्तमान एवं अगले जन्म पर पड़ता है। 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा' के सिद्धान्त को चरितार्थ बताता

है । पुनर्जन्म में कर्म-फल प्रधान कारण होता है और उसी के अनुसार शरीर धारण भी होता है । कर्म का नाश नहीं होता है, ऐसा कहा गया है ।

साधारण बुद्धि से अपने आपको पहचानना अथवा दूसरे शब्दों में आत्म-अनुभव प्राप्त कर लेना आरम्भ काल से ही कठिन समझा जा रहा है । 'बृहदारण्यक उपनिषद्' के प्रधान ऋषि याज्ञवल्क्य तथा उनकी विदुषी स्त्री मैत्रेयी एवं गार्गी के बीच हुई ज्ञान-चर्चा में भी इस जटिल प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार किया गया था । भूतों की एकता पर ही उपनिषद्वाद का बल है । द्वैतवाद को मिथ्या ज्ञातृत्व का प्रतिफल माना गया है । दृश्य जगत् में द्वैत का अनुभव मृगतृष्णावत् है । ठीक उसी प्रकार जैसे सूर्य-रश्मियों में जल का आभास ग्रीष्म के प्रचण्ड उष्णतामय मध्याह्न में वस्तुज्ञान से हीन प्राणियों को मिलता है । पृथक् देखना, पृथक् सुनना, पृथक् जानना, पृथक् अनुभव करना, पृथक् सूँघना आदि मिथ्या ज्ञान का विकार है । आत्म-अनुभवी ज्ञानियों के लिए सारा विश्व-ब्रह्माण्ड एक आत्मा से ओतप्रोत एक आत्मा है, एक ब्रह्म है । वह आत्मा अथवा ब्रह्म चराचर सब भूतों के बाहर-भीतर परिपूर्ण है, और चर-अचर रूप में भी वही है । आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी का कारणरूप होने से उनको व्याप्त करके स्थित है, वैसे ही आत्मा (परमात्मा) अथवा ब्रह्म सब का कारण रूप होने से सम्पूर्ण चराचर जगत् को व्याप्त करके स्थित है, और वह विभाग-रहित, एक रूप से आकाश के सदृश्य परिपूर्ण हुआ भी चराचर के सम्पूर्ण भूतों में पृथक्-पृथक् के सदृश स्थित प्रतीत होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे महाकाश विभाग रहित स्थित हुआ भी घड़ों में, घरों में, पात्रों में पृथक्-पृथक् देखने में आता है । वेदान्त-वाद के चिन्तन का उपरोक्त अद्वैतवाद आधारशिला बना, और उसी के ऊपर वेदान्त-दर्शन की विशाल अट्टालिका का निर्माण हुआ ।

उपनिषद्-काल के ज्ञानी-विज्ञानी विचारकों एवं उपदेशकों में सत्यकाम जावाल, शाण्डिल्य, जैवालि, महीदास ऐतरेय, उद्दालक, रैकव, भारद्वाज, श्वेतकेतु, गार्ग्यायन, वालकि, प्रतार्दन, करुण, अजातशत्रु, जनक विदेह, कौशल्य अश्वलायन, शैव्य सत्यकाम, भार्गव वैदर्भी, याज्ञवल्क्य, गार्गी, मैत्रेयी तथा कबन्धी कात्यायन के नाम प्रसिद्ध हैं ।

उपनिषद् एवं वेदान्त ज्ञान के सिद्धान्तों को हृदयंगम कर उसे जीवन में उतार लेना जन साधारण के लिए सहज न था । इस कारण धीरे-धीरे इस विचार एवं जनता के बीच दरार पड़ती गयी जो आगे चलकर बहुत चौड़ी हो गयी । वह साधारण जनता के लिए गूढ़ विषय बन गया, और उपनिषद्वाद और वेदान्तवाद समाज के मननशील मनीषिप्रवरों की सम्पत्ति बन कर उनमें ही सीमित रह गया । जनता के हृदय में सुलभ दर्शन की खोज की उत्सुकता बढ़ी । उपयुक्त समय पर उसी भूमि में जहाँ उपनिषद्वाद का उदय हुआ था, तथागत भगवान् गौतम बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ, और उन्होंने ईसा पूर्व छठीं शताब्दी में बौद्ध दर्शन जनता को दिया । कुछ काल के लिए वेदान्त दर्शन विदेह जनपद से तिरोहित हुआ जान पड़ने लगा । पर उसका बीज जनगण के हृत्तल के क्षेत्र से निर्मूल नहीं हो पाया था । पीछे की शताब्दियों में शंकराचार्य एवं कुमारिल भट्ट जैसे उद्भट वेदान्तियों का अवतरण हुआ, जिनके उपदेश से वेदान्तवाद का पुनरुदय हुआ । बौद्ध दर्शन के साथ-साथ जैन दर्शन का भी प्रचुर प्रचार विदेह भूमि में हुआ था । जैनियों के २४वें तीर्थंकर महावीर

भगवान् गौतम बुद्ध के समकालीन थे । वे अन्तिम तीर्थंकर थे । पर उपनिषद् एवं वेदान्तवाद तथा उनकी शाखाओं ने उपर्युक्त दोनों वादों (बौद्ध एवं जैन दर्शनों में प्रतिपालित वादों) को आगे चलकर दबा दिया ।

'बृहदारण्यक उपनिषद्' में ही सर्वप्रथम ब्रह्म अथवा पूर्ण के अनुभव का प्राकट्य हुआ था । जीव का आवागमन, मुक्ति, कर्म, माया आदि के विचार भी समय-समय पर भारतीयों के विचार को आन्दोलित करते रहे थे । वैदिकोत्तर युग में भी जनता का धार्मिक विचार लगभग वही बना रहा जो वैदिक युग में था । पर पूज्य देवताओं की महत्ता का स्थानान्तरण हुआ । जहाँ वैदिक-काल में इन्द्र एवं वरुण की प्रधानता थी, वहाँ त्रिदेव–ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश (क्रमशः सृष्टि-कर्त्ता, पालन-कर्त्ता एवं संहार-कर्त्ता) का उच्च स्थान जनमानस में हो गया । परन्तु इसके साथ-साथ दर्शनवाद का भी उत्तरोत्तर विकास होता रहा, जो अद्यावधि वर्तमान भारत में धर्म का रूप बना हुआ है ।

वैदिक युग में यज्ञों का स्थान धार्मिक क्षेत्र में विशिष्ट था ही, पर उसके और उपनिषद्-युग के बीच के काल ब्राह्मण युग में उसका और भी अधिक प्राधान्य दृष्टिगत होता है । गीता-युग में भी यज्ञ की प्रधानता यह कह कर बतायी गयी है कि–

"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।।" (गीता-३, १०)

अर्थात् 'कर्म न करने से तू पाप को भी प्राप्त होगा, क्योंकि प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम सब वृद्धि को प्राप्त हो, और यह यज्ञ तुमलोगों को इच्छित फल देने वाला होवे ।'

परन्तु गीता-युग पर उपनिषद् के ज्ञानवाद का प्रभाव अत्यधिक रूप में पड़ चुका था । इस कारण आगे कहा है कि–

"श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।" (गीता-४, ३३)

अर्थात् 'हे अर्जुन, सांसारिक वस्तुओं से सिद्ध होने वाले यज्ञों से ज्ञानयज्ञ सर्वभावेन श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ, सम्पूर्ण यावन्मात्र कर्म ज्ञान में ही शेष होते हैं, अर्थात् ज्ञान उनकी पराकाष्ठा है ।'

उपनिषद्-काल में ज्ञान की प्रधानता हुई । ब्रह्म अथवा आत्मा को अन्तिम सत्य, एवं उसका अनुभव निःश्रेयस वा आत्यन्तिक आनन्द की प्राप्ति मानी गयी । उपनिषद्-युग में पूर्ववर्त्ती धर्म के आचरण में कायाकल्प हुआ प्रतीत होता है । पशुहिंसा-जनित द्रव्य यज्ञों का स्थान ज्ञान-यज्ञ शनैः-शनैः लेता गया, जो अन्ततोगत्वा हिन्दूधर्म (आर्य धर्म) का दार्शनिक पहलू बना । शुद्ध आत्म-ज्ञान द्वारा सांसारिक जीव का जड़ और चेतन के संयोग की मिथ्या ग्रन्थि अथवा माया से छुटकारा तथा उसकी ब्रह्म में लीनता उपनिषद्-धर्म का सार माना गया । इस लक्ष्य की प्राप्ति में पूर्व-प्रचलित यज्ञकर्मकाण्ड की प्रधानता को गौण बनाकर मुख्य स्थान पर ज्ञान आसीन हुआ । 'तत् त्वम् असि' के ज्ञान द्वारा आत्मा अर्थात

ब्रह्म को अज, अद्वैत, अनन्त, अमर, अन्तर्नियन्ता, व्यापक एवं अखिल संसार चक्र के परिचालक के रूप में स्वीकृत किया गया। उसको पूर्ण माना गया और उपनिषदों में यह भाव स्पष्ट एवं पूर्ण रूप से व्यक्त किया गया।

परन्तु जनसाधारण के मस्तिष्क में उपर्युक्त गूढ़ दार्शनिक विचार कठिनता से प्रवेश कर पाता था। उसका हृदयंगम करना उनके लिए सहज न था। अतः वे वैदिक काल से प्रचलित देवताओं की पूजा को ही कुछ परिवर्तन के साथ करने में आत्मसंतुष्टि का अनुभव करते रहे। ब्राह्मण समाज के नेता थे। वे ही पुरोहित थे। वेद-उपनिषद् आदि के ज्ञान के ज्ञाता और संरक्षक भी उसी वर्ग के लोग थे। जनसाधारण की अज्ञानता का अनुभव उन्हें था। उसका लाभ भी उन्होंने उठाया। जनता की धार्मिक मनोवृत्ति एवं भावना को उद्वेलित कर उन्हें बाह्याडम्बर-युत बहुव्ययशील यज्ञों की ओर (उनसे प्राप्त होनेवाले भावी सुख-भोग की आशा दिलाकर) आकृष्ट किया। यह क्रम ब्राह्मणयुग में खूब जोरों के साथ चालू रहा। पर शनैः-शनैः परिस्थिति ने समाज में बौद्धिक क्रांति उत्पन्न कर दी। इसे काल का प्रभाव भी कह सकते हैं। इस प्रकार की बौद्धिक क्रान्ति विशेष कर विदेह-भूमि तथा उत्तर भारत के कतिपय जनपदों में आरम्भ हुई। सहज एवं शुद्ध अर्चना का स्थान बनावटी दिखावट ने ले लिया। उसके विरुद्ध वातावरण प्रस्तुत हुआ, और सत्य की खोज में जन-मस्तिष्क प्रवृत्त हुआ। 'शतपथ ब्राह्मण' में धार्मिक अर्चना के हेतु मानसिक तल्लीनता एवं एकाग्रता को मुख्य बताया गया है, यथा– "मनश्च ह वै वाक् च भुजौ देवेभ्यो यज्ञं वहतः।" पर इतना होते हुए भी बाह्याडम्बर की कमी नहीं थी।

आर्यों के सिद्धान्तानुसार धर्म मनुष्य के मानस से उद्भूत होता है, वह बाहर से आकर लद नहीं जाता है। पर कालान्तर में बात ऐसी न रही। वेद-मन्त्रों के भाव को समझने की भावना तिरोहित होने लगी। पुरोहितों ने मन्त्रों को अपने पुरोहिती कार्य के हेतु रटकर जिह्वाग्र कर लेना अपना कर्त्तव्य समझा। वह उनकी जीविका का साधन बना। साथ ही वह उनकी निजी सम्पत्ति बन गयी। वे याज्ञिक (यज्ञ करानेवाले) के रूप में याजक यजमानों की याजन-क्रियाओं का पथ-प्रदर्शन करते थे। अतः वे भूदेव (पृथ्वी पर रहनेवाले देवता) की उपाधि से विभूषित होकर समाज में समादृत हुए। अब उनके द्वारा अनेक बाह्याडम्बरों का धार्मिक यज्ञों में समावेश हुआ, जिनको पूरा करना यजमान का परम कर्त्तव्य हो गया। भूदेवों की आज्ञा का उल्लंघन करना दैविक प्रकोप का आवाहन करना माना जाने लगा। पर इस प्रकार की कठोर रूढ़ि समाज को शनैः-शनैः असह्य प्रतीत होने लगी। उसमें बौद्धिक क्रांति हुई। उपनिषद् के तर्कयुत विचार-युग का आरम्भ हुआ। बहुव्ययशील यज्ञों के दिन लदने लगे। नये ज्ञानवाद के अगुआ बने विदेह के याज्ञवल्क्य एवं जनक, काशी के अजातशत्रु, प्रवाहन, जैवालि, अश्वपति केकय, उद्दालक अरुणी, श्वेत-केतु अरुणीय, सत्यकाम जावाल तथा दृप्तवालाकि। मुंडक एवं बृहदारण्यक उपनिषदों में अज्ञ याज्ञिकों के प्रति उनके योग्य उद्गार प्रकट किये गये हैं, तथा असम्मानित शब्दों एवं वाक्यों के प्रयोग भी हुए हैं। उपनिषद् के दार्शनिकों ने आत्मा एवं ब्रह्म के ज्ञान को सर्वोच्च स्थान दिया, जिसमें भारत के धार्मिक जगत में नया युग का आरम्भ हुआ, और उसमें विदेह जनपद की देन सर्वोच्च कही जाय तो उसमें अत्युक्ति न होगी।

उपनिषद्वाद के ज्ञान-मार्ग के रहते भागवत धर्म के भक्ति-मार्ग के आराध्य अवतारवाद का उदय हुआ, जिसकी व्यापकता उत्तर भारत के लगभग गाँव-गाँव में राम-कृष्ण के मन्दिरों के रूप में चिरकाल से अद्य पर्यन्त दृष्टिगत होती आयी है ।

गूढ़ उपनिषद्-वाद के तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति को सुलभ न समझकर जन-साधारण का ध्यान निराकार एवं निर्गुण ब्रह्म की ओर से साकार तथा सगुण ब्रह्म की ओर मुड़ा । संन्यास का स्थान लोक-संग्रह के लिए कर्मयोग ने लिया । इस विषय में गीता ने उपदेश दिया कि–

"संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ।।" (गीता-५, ६) ।

ज्ञान-जनित संन्यास की प्राप्ति को कष्ट-साध्य बता कर भगवत्-स्वरूप को मनन करने वाले निष्काम कर्मयोगी के लिए परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति सुलभ बतायी गयी । इस विचारधारा ने जनता को अपनी ओर आकृष्ट किया गया । परब्रह्म परमात्मा के युग युग में साधुजनों के उद्धार तथा दूषित कर्म करनेवालों के विनाश एवं धर्म के स्थापन करने के हेतु अवतीर्ण होने की बात अटल बतायी गयी (गीता, ४, ८) । वह अवतरित सगुण प्रभु "भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्" तथा "सुहृदं सर्वभूतानां" (गीता, ५, २९) होकर तथा भक्तों द्वारा प्रेम और भक्तिभाव से समर्पित पत्रं, पुष्पं, फलं, तोयं को प्रीतिपूर्वक स्वीकार कर उन्हें भोजन करने वाला दयामय बन कर (गीता, ९, २६) अनन्य भाव से उस ईश्वर में स्थित हुए तथा भक्ति भाव से उसका निरन्तर चिन्तन करनेवाले सगुणोपासक भक्त जनों के योग-क्षेम को प्राप्त करानेवाले (गीता, ९, २२) के रूप में श्रद्धावानों की श्रद्धामय अन्तःस्थली में प्रकट हुआ ।

ऐसे सगुणोपासक भक्तों को गीता के उपनिषद्युग में आराध्य देव की ओर से भी आश्वासन मिलता है कि– "निराकार ब्रह्म में आसक्त हुए चित्तवाले पुरुषों के साधन में क्लेश विशेष है ; क्योंकि देह-अभिमानियों से अव्यक्त विषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है (गीता, १२, ५), और जो मेरे परायण भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वर को अनन्य भाव से निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन, उन मुझ में चित्त लगाने वाले प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्यु रूप संसार-समुद्र से उद्धार करनेवाला होता हूँ (गीता, १२, ६,७) । इसलिए सम्पूर्ण धर्मों अर्थात् सब कर्मों के आश्रय को त्याग कर केवल एक मुझ सच्चिदानन्द धन वासुदेव परमात्मा की ही अनन्य शरण को प्राप्त हो । मैं तुमको सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा । तुम शोक मत करो" (गीता १८, ६६) । इस प्रकार वैदिक संस्कृति के युग से लेकर उपनिषद् ज्ञान-काल तक यजन-याजन एवं ज्ञान-विज्ञान की विशिष्ट भूमि मिथिला (विदेह जनपद) में सगुण-उपासना का प्रचार भी कम न हुआ, जिसका अस्तित्व आज भी उपनिषद्-युग के ज्ञानवाद के साथ-साथ वहाँ पाया जाता है । इस प्रकार विचार करने से विदेह-भूमि में समय-समय पर प्रधानता-प्राप्त धर्म के ४ युग माने जा सकते हैं, यथा (१) वैदिक संस्कृति युग, (२) ब्राह्मणकर्म-काण्ड-युग, (३) उपनिषद्-कालिक ज्ञान-युग तथा (४) भक्ति-प्रधान सगुणोपासना

का युग । जन-जीवन के आचरण-नियन्त्रण में स्मृतियों की मान्यताओं का स्थान सदा ही वहाँ सर्वोच्च रहा है ।

मिथिला के दो प्राचीन राज्य

वाल्मीकीय रामायण के वर्णनानुसार विदेह एवं वैशाली, दोनों ही राज्यों का शासन अति प्राचीन काल से मिथिला के दो भागों में पृथक्-पृथक् चल रहा था । आरम्भ में दोनों ही राज्यों में राजतांत्रिक शासन था । राम ने अपने छोटे भाई लक्ष्मण के संग अयोध्या से ऋषि विश्वामित्र के साथ आकर वर्तमान शाहाबाद (आरा, भोजपुर) जिले के सिद्धाश्रम (बक्सर के निकटवर्त्ती अंचल) में राक्षसों से युद्ध कर ऋषि के यज्ञ की रक्षा की थी । वहाँ से विश्वामित्र मुनि के नेतृत्व में सानुज राम ने कीकट (मगध) स्थित गिरिव्रज राजगृह के निकट से होते हुए सोनभद्र नदी को पार किया; पश्चात् उन्हें गंगा मिली । उसको नौका द्वारा पार कर ऋषि-दल ने गंडक (नारायणी अथवा शालग्रामी) के जलमार्ग से मिथिला के लिए प्रस्थान किया । मार्ग में राजा विशाल द्वारा स्थापित राजनगर वैशाली के स्वर्गोपम विभव-सम्पन्न गगनचुम्बी राजप्रासादादि की मनमोहक और आकर्षक शोभा देखने में वे सभी लीन हो गये, तथा ऋषि-प्रवर विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण के साथ उस दिव्य एवं स्वर्गीय नगरी विशाला की ओर प्रस्थान किया । वह विशाला (वैशाली अथवा वर्तमान बसाढ़) नगरी अपनी सुन्दर शोभा से स्वर्ग के समान शोभायमान हो रही थी । इस प्रसंग का वर्णन रामायण में निम्नांकित श्लोकों में किया गया है :–

"तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः ।
संतारं कारयामास सर्षिसङ्घस्य कौशिकः ।।८।।
उत्तरं तीरमासाद्य सम्पूज्यर्षिगणं ततः ।
गंगाकूले निविष्टास्ते विशालां ददृशुः पुरीम् ।।९।।
ततो मुनिवरस्तूर्णं जगाम सह-राघवः ।
विशालां नगरीं रम्यां दिव्यां स्वर्गोपमां तदा ।।१०।।
अथ रामो महाप्राज्ञो विश्वामित्रं महामुनिम् ।
पप्रच्छ प्राञ्जलिर्भूत्वा विशालामुत्तमां पुरीम् ।।११।।
कतमो राजवंशोऽयं विशालायां महामुने ।
श्रोतुमिच्छामि भद्रं ते परं कौतुहलम् हि मे ।।"१२।।

(वाल्मीकीय रामायण, बाल०, गीताप्रेस, सर्ग ४५) ।

कौशल-किशोर रामचन्द्र के द्वारा विशाला नगरी तथा वहाँ के राजवंश के विषय में प्रश्न किये जाने पर महामुनि विश्वामित्र ने उन्हें बताया :–

ईक्ष्वाकोस्तु नरव्याघ्र पुत्रः परमधार्मिकः ।।११।।
अलम्बुषायामुत्पन्नो विशाल इति विश्रुतः ।
तेन चासीदिह स्थाने विशालेति पुरी कृता ।।१२।।

(वाल्मीकीयरामा०, बाल० सर्ग ४७) ।

अर्थात् हे पुरुष-सिंह पूर्वकाल में महाराज इक्ष्वाकु के एक परम धर्मात्मा पुत्र थे, जो विशाल नाम से प्रसिद्ध हुए। उनका जन्म अलम्बुषा के गर्भ से हुआ था। उन्होंने इस स्थान पर विशाला नाम की एक पुरी बसायी थी। राजा विशाल के वंशजों के नाम वाल्मीकीय रामायण में अधोऽङ्कित रूप में दिये गये हैं :–

''विशालस्य सुतो राम हेमचन्द्रो महाबलः।
सुचन्द्र इति विख्यातो हेमचन्द्रादनन्तरः ।।१३।।
सुचन्द्रतनयो राम धूम्राश्व इति विश्रुतः।
धूम्राश्वतनयश्चापि सृञ्जयः समपद्यत ।।१४।।
सृञ्जयस्य सुतः श्रीमान् सहदेवः प्रतापवान्।
कृशाश्वः सहदेवस्य पुत्रः परमधार्मिकः ।।१५।।
कृशाश्वस्य महातेजाः सोमदत्तः प्रतापवान्।
सोमदत्तस्य पुत्रस्तु काकुत्स्थ इति विश्रुतः ।।१६।।
तस्य पुत्रो महातेजाः सम्प्रत्येष पुरीमिमाम्।
आवसत् परमप्रख्यः सुमतिर्नाम दुर्जयः।।''१७।।

(रामा० बाल०, गीता प्रेस, सर्ग–४७)।

ऋषि विश्वामित्र के साथ कौशल-कुमार राम और लक्ष्मण जिस काल में विशालापुरी (वैशाली) में पहुँचे थे, उस समय वहाँ इक्ष्वाकु-वंशीय राजा सुमति राज करता था। सुमति ने परम आदरणीय अतिथि के रूप में उपस्थित ऋषि के साथ उन दोनों महाबली दशरथपुत्रों (राम और लक्ष्मण) का विधिपूर्वक आतिथ्य-सत्कार किया। दोनों ही राजकुमारों ने ऋषि विश्वामित्र के साथ वहाँ रात्रि में विश्राम किया, और उषाकाल में उठकर नित्यकर्मों से निवृत्त हो मिथिला (जनक-नगरी) के लिए प्रस्थान किया।

ऊपर के उद्धरणों से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि अति प्राचीन काल में, अथवा प्रागैतिहासिक युग में, जब राम का आविर्भाव हुआ था, उस समय भी मिथिला नाम से प्रसिद्ध जनपद में दो सार्वभौम स्वतन्त्र एवं समुन्नत राज्यों का अस्तित्व था। उनमें से एक था विदेह राज्य, जिसका संक्षिप्त वर्णन ऊपर दिया जा चुका है, तथा दूसरा विशाला (वैशाली) का राज्य। दोनों ही स्थानों में सूर्य-कुल की दो शाखाएँ पृथक्-पृथक् राज करती थीं। उनमें से वैशाली राज्य का वर्णन 'शतपथ ब्राह्मण' अथवा 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में नहीं मिलता है, पर 'रामायण' एवं 'महाभारत' ग्रन्थों में उसका उल्लेख अवश्य हुआ है।

वैशाली राज्य मिथिला के विदेह-राज्य से दक्षिण-पश्चिम में था; क्योंकि गौतम-आश्रम (अहिल्यास्थान) से जनकपुर जाने के हेतु राम को वाल्मीकीय रामायण के पूर्वोक्त उद्धरणानुसार पूर्वोत्तर दिशा की यात्रा करनी पड़ी थी। अहिल्यास्थान (गौतम-आश्रम) वैशाली और मिथिला के राजनगर (वर्तमान जनकपुर) के बीच मार्ग में पड़ता था। उन दोनों राज्यों की मध्यवर्ती सीमा का साधारण की धारणा के अनुसार बागमती नदी थी। यह नदी मुजफ्फरपुर

जिले के उत्तरी भाग से बहती हुई दरभंगा जिले में प्रवेश करती है। मुजफ्फरपुर जिले की इस नदी के दक्षिण का भाग 'विसारा' परगना के नाम से विख्यात है। 'विसारा' शब्द सम्भवत: 'विशाल' अथवा 'विशाला' से उद्भूत जान पड़ता है। इससे अनुमान किया जाता है कि वैशाली राज्य वाग्मती नदी के दक्षिण-पश्चिम में था, और विदेह राज्य उत्तर-पूर्व में। पश्चाद्वर्ती युग में भी मुगलों के शासनकाल में विसारा परगना एक राजस्व प्रमंडल था।

'शतपथ ब्राह्मण' के वर्णन के अनुसार सदानीरा (नारायणी अथवा शालिग्रामी गंडक) नदी मिथिला एवं कौशल-राज्यों के बीच की सीमा थी। यह सम्भव हो सकता है कि राजा विदेघ-माथव अपने पुरोहित गौतम रहूगण तथा आराध्य देव वह्नि वैश्वानर के साथ पंजाब (पंचनद) प्रदेश के सरस्वती-तट से राज्य-विस्तार के उद्देश्य से विजय-अभियान कर उत्तर के हिमाचल-अंचल से होते हुए सदानीरा के ऊपर के भाग में पहुंचे हों, और विशाला (वैशाली) राज्य से उत्तर में अपने लिए एक नये मिथिला राज्य की नींव डाली हो।

वैशाली राज्य

'विष्णु पुराण' के चतुर्थ अंश अध्याय- १ के श्लोक १९ से ६१ तक में वैशाली राज्य की स्थापना के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है। उसमें उल्लेख है कि मनु के एक पुत्र नेदिष्ट ने नाभाग से आरम्भ कर एक राजवंश की स्थापना की, जिसकी राजधानी वर्तमान मुजफ्फरपुर जिले की वैशाली में हुई। इस राजकुल का ३४ वाँ भूपति नृपति सुमति था। वह कोशलेश दशरथ के राजकुमार राम का समकालीन था। उस राजवंश के राजाओं के नाम निम्नांकित हैं :–

(१) नाभाग, (२) भलन्दन, (३) वत्सप्री, (४) प्रंशु, (५) प्रजनी, (६) खनित्र, (७) क्षुप, (८) अविविंश, (९) विविंश (१०) खनिनेत्र, (११) अतिविभूति, (१२) करन्ध्व, (१३) अवीक्षित, (१४) मरुत्त, (१५) नरिष्यन्त, (१६) दम, (१७) राज्य वर्द्धन (१८) सुधृति, (१९) नर, (२०) केवल, (२१) बन्धुमान, (२२) वेगमान, (२३) वृद्ध, (२४) तृणविन्दु, (२५) विशाल अथवा वैशाल, (२६) हेमचन्द्र, (२७) सुचन्द्र, (२८) धूम्राश्व (२९) सृञ्जय, (३०) सहदेव, (३१) कृशाश्व, (३२) सोमदत्त, (३३) जनमेजय, तथा (३४) सुमति। इस राजवंश के २४ वें नृपति तृणविन्दु के दो पुत्रों के नाम अंकित किये गये हैं, एक का इलवित तथा दूसरे का विशाल अथवा वैशाल नाम था।

नेदिष्ट-सुत नाभाग के वंश का वर्णन 'विष्णु-पुराण' के अतिरिक्त 'मार्कण्डेय' एवं 'वायु' पुराणों में भी किया गया है, परन्तु प्रत्येक में थोड़ी-बहुत एक दूसरे से भिन्नता पायी जाती है। रामायण के वर्णन में पुराणों के वर्णन से साम्य नहीं है। रामायण में उल्लिखित इक्ष्वाकु सम्भवत: इक्ष्वाकु-कुल के लिए व्यवहृत हुआ है। पूर्व में इसका उल्लेख हो चुका है कि इक्ष्वाकु मनु-पुत्र थे, जो विशाल के काल से बहुत पूर्व हुए थे। नेदिष्ट को भी मनुपुत्र कहा गया है। अत: दोनों भाई होने के नाते समकालीन थे। इक्ष्वाकु-कुल की प्रधान शखाओं ने महाभारत-युद्ध से लगभग ९० पीढ़ी पूर्व प्रतिष्ठान (प्रयाग) एवं अयोध्या

में अपने-अपने राजवंशों की स्थापना की थी । इससे स्पष्ट होता है कि राजा विशाल से कई पीढ़ियाँ पूर्व इक्ष्वाकु का जन्म हुआ होगा । राजा विशाल का इक्ष्वाकु का पुत्र होना उपर्युक्त कारणों से संभव प्रतीत नहीं होता है । उसे इक्ष्वाकु-वंशीय कह सकते हैं । तृणविन्दु का उपनाम इक्ष्वाकु हो, ऐसा सम्भव हो सकता है ।

'ऐतरेय ब्राह्मण' के पंचम पञ्चिका (२२वें अध्याय, नवम खण्ड) में नाभाग-नेदिष्ट का उपाख्यान आया है । ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में भी नाभाग-नेदिष्ट का उल्लेख हुआ है, और वहाँ उसे मनु का पुत्र बताया गया है (ग्रिफ्थ : ऋग्वेद, भाग-२, पृ० ४६७, मन्त्र १८, पृ० ४६९, मन्त्र -१ और ४, पृ० ४७०, मन्त्र-११, श्री श्यामनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० २२) ।

उपर्युक्त अवतरणों से प्रमाणित होता है कि मिथिला का विदेह राज्य और वैशाली का नाभाग वंशीय राज्य, दोनों ही अति प्राचीन थे, और दोनों ही की स्थापना लगभग एक ही युग में हुई थी । विशाला नगरी का निर्माण तथा विकास पश्चाद्वर्ती काल में हुआ हो, यह संभव हो सकता है । ईसा-पूर्व छठी शताब्दी में जिस काल में भगवान् बुद्धदेव विद्यमान थे, वैशाली में गणतन्त्र शासन था, और उसका राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भौतिक विकास चरम सीमा तक पहुँच चुका था । यह गौरव उसके ऐतिहासिक युग के आरम्भ काल का है । पर उसके सहस्रों वर्ष पूर्व के प्रागैतिहासिक युग की कथा, वैशाली ने जब ऋषि विश्वामित्र के साथ रघुवंशी राजकुमार राम और लक्ष्मण का आतिथ्य किया था, और उन सबों ने उस स्वर्गोपम नगरी की अलौकिक शोभा देख चकित एवं विस्मित होकर एक रात्रि वहाँ बितायी थी, उसके अतीत गौरव और उसकी तत्कालीन उच्च सभ्यता पर प्रकाश डालती है । वैशाली का वैभव उस काल में भी महान् था ।

'मार्कण्डेय पुराण' की नाभाग विषयक कथा बताती है कि एक वैश्य बाला से विवाह कर लेने के कारण नाभाग क्षत्रिय न रह कर वैश्य में परिणत हुए, और इस कारण उन्हें पैतृक सम्पत्ति में भाग न मिला, जिससे उनका नाम नाभाग हुआ । किन्तु नाभाग के पुत्र अलन्दन ने अपने शौर्य-पराक्रम से अपने पिता का अंश प्राप्त कर लिया । यही कथा किंचित् हेर-फेर के साथ 'ऐतरेय ब्राह्मण' के नवम खण्ड में भी पायी जाती है ।

सच्ची बात यह मालूम पड़ती है कि वैशाली में कला-कौशल एवं उद्योग-धन्धे का विकास पराकाष्ठा तक पहुँच चुका था । उन्नत व्यापार-वाणिज्य के कारण जनपद अति समृद्ध एवं श्री-सम्पन्न था । देश-विदेश की मंडियों तथा व्यापारिक केन्द्रों से वैशाली का व्यावहारिक सम्बन्ध होने के कारण साहित्य की आलंकारिक भाषा में वैशाली-ईश को वैश्य वर्ग का बताया गया हो, यह भी संभव हो सकता है । इसी वंश के नृपति मरुत्त के विषय में जनश्रुति प्रसिद्ध है कि उसके महान् यज्ञ में सभी स्वर्ण के ही पात्र व्यवहार में लाये गये थे, और वहाँ ब्राह्मण समुदाय अपार दान प्राप्त कर अयाचक और आनन्द-विभोर बन गये थे । यह था प्राचीन कालिक विशाला (वैशाली) का विशाल वैभव ।

इसका उल्लेख किया जा चुका है कि आरम्भ में मिथिला और वैशाली दोनों ही राज्यों में राजतन्त्र शासन था । पुराणों में वैशाली के सिंहासन पर शासन करनेवाले

नृपतियों के नाम हमें ज्ञात हैं, जिनमें से अन्तिम नरेश का नाम सुमति था। उसके परवर्त्ती भूपतियों के नाम प्राप्य नहीं हैं। ऐतिहासिक युग में राजतन्त्र के स्थान पर हम वहाँ उच्चकोटि का विकसित गणतन्त्र पाते हैं, जिसका किंचित् दिग्दर्शन पूर्व में किया जा चुका है। राजनीतिक उथल-पुथल के कारण वैशाली के राजतान्त्रिक शासन में क्रान्ति हुई, और गणतन्त्र ने राजतन्त्र का स्थान ले लिया। किन्तु यह घटना कब घटी, इसका पता ठीक-ठीक बताने में इतिहास सक्षम न हो सका है। वैशाली का गणतन्त्र भिन्न-भिन्न कई गणों के नेताओं का संघ-शासन था, जो वज्जिसंघ के नाम से प्रख्यात था। परन्तु देश से राजतन्त्र निर्मूल नहीं हो गया था। स्थान-स्थान पर दोनों ही प्रकार के शासन चल रहे थे, जिसका साक्ष्य इतिहास दे रहा है। दोनों ही प्रकार के शासनों में होड़ चल रही थी, और दोनों ही एक दूसरे को उदरस्थ कर लेने की ताक में सदा लगे रहते थे।

वज्जि संघ

सम्भवतः नेदिष्ट-नाभाग-कुल के ३४ वें नरपति सुमति के पश्चात् वैशाली की भूमि में या तो राजतन्त्र शासन नहीं रहा अथवा राजकुल बदल गया; क्योंकि पुराणादि प्राचीन ग्रन्थों में उस वंश के परवर्ती राजाओं के नाम प्राप्य नहीं हैं।

ऐतिहासिक अनुमानों से ऐसा प्रतीत होता है कि (दाशरथी) राम ने (राजा सुमति के पश्चात्) अपनी दिग्विजय के सिलसिले में वैशाली को परास्त कर उसकी शासन-व्यवस्था का भार अपने साले भानुमान् (भानुमन्त) जनक पर सौंपा और तब से मिथिला राज्य का विस्तार वैशाली क्षेत्र तक हो गया। कारण, बाद के पुराणों में तथा महाभारत आदि ग्रन्थों में मिथिला का तो अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है, किन्तु विशाला अथवा वैशाली के उल्लेख का अभाव है।

भानुमान् जनक के पश्चात् मिथिला और वैशाली पर विदेह जनक वंश के ३१ राजाओं ने शासन किया। विष्णुपुराण में विदेह वंश के उत्तर काल की जो वंशावली दी गयी है, उसके अनुकूल सीरध्वज जनक के पुत्र भानुमान् जनक अपने समय के प्रतापी राजा हुए। उन्होंने विशाला को अपने मिथिला राज्य में मिलाकर उस क्षेत्र में मैथिल संस्कृति के प्रचार का भी प्रयत्न किया, जिस कारण विदेह जनक-वंश के अनेक क्षत्रिय तथा मिथिला-निवासी ब्राह्मण ऋषि विशाला प्रदेश में लाकर बसाये गये। विशाला का राज्य इस जनपद में गण्डक-सदानीरा के कूल पर पश्चिम की ओर निमि अथवा माथव विदेह (मिथि) के काल में ही 'नाभाग' अथवा नाभनेदिष्ट द्वारा स्थापित हो चुका था (आर्यावर्त, पटना, रविवार, २४ सितम्बर, १९६७ ई० के अंक से उपर्युक्त २ कण्डिकाएँ उद्धृत)।

ऐतिहासिक युग के आरम्भ में वैशाली में अति विकसित उच्चकोटि के सामन्तशाही गणतन्त्र का पता इतिहास देता है। उस गणतन्त्र में वैशाली के लिच्छवियों की प्रधानता थी। वहाँ के संघ राज्य को वज्जिसंघ भी कहा जाता था। संघ का शासन वज्जि देश पर भी था। 'वज्जि' शब्द संभवतः 'विदेह' शब्द से उद्भूत ज्ञात होता है। ऐसा संभव प्रतीत होता है कि वज्जि, बृज्जि अथवा विदेह राज्य के लिच्छवियों के गणराज्य से मिलकर संघ बनाने के कारण उक्त लिच्छवि गणतन्त्र की संज्ञा 'वज्जि संघ' हुई थी।

वज्जि संघ ८ गण राज्यों के समूह का संघ था, जिससे अट्टकुल अथवा अष्टकुल कहा जाता था। इस समूह में वज्जि, विदेह लिच्छवी और ज्ञातृक प्रधान थे। ऐतिहासिक युग में विदेह-राज्य, जिसकी राजधानी मिथिला नगरी (वर्तमान जनकपुर, जो नेपाल राज्य के महोत्तरी जिले में है) में थी, से राजनीतिक शक्ति-केन्द्र कराल जनक के शासनकाल की प्रजा-क्रान्ति के पश्चात् खिसककर वैशाली में चली आयी। ईसापूर्व छठी शताब्दी के बुद्ध काल के लेखों में जहाँ वैशाली के वज्जि-संघ और लिच्छवियों का उल्लेख अनेक बार आया है, वहाँ उस काल के बौद्ध-साहित्य में मिथिला के राजतन्त्र की चर्चा कहीं नहीं की गयी है। इससे पता चलता है कि मिथिला से राजतन्त्र बुद्ध-युग से बहुत पूर्व लुप्त होकर वैशाली के वज्जि-संघ में विलीन हो चुका था। संघ सरकार के शासन का केन्द्र वैशाली में था, जिसमें उपर्युक्त अष्टकुल के अतिरिक्त पीछे उग्र, भोज, ऐक्ष्वाक, एवं कौरव भी सम्मिलित हो गये।

यह भी संभव है कि लिच्छवियों का अधिकार कभी हर्यंक-कुलीय विम्बसार के शासन काल के पूर्व कीकट (मगध) पर भी रहा हो; क्योंकि वह बिम्बसार अपने को सेनीय अथवा सेनापति कहा करता था। वह राज्य-प्राप्ति एवं सिंहासनारोहण के पूर्व किस नृपाल का सेनापति था, इसका पता नहीं है, पर इसमें भी सन्देह नहीं है कि उसने लिच्छवि-शक्ति को मगध (दक्षिणी बिहार) से अपदस्थ कर वहाँ अपने राजवंश की स्थापना के हेतु क्षेत्र पूर्णरूप से प्रस्तुत कर लिया था। एक अति प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ 'सुत्तनिपात' में वैशाली का नाम मगधपुरा (मगध की राजधानी) अंकित किया गया है। उसमें कथा है कि दक्षिण भारत के गोदावरीतटवासी वभरिन ब्राह्मण ने अपने १६ शिष्यों को गौतम बुद्ध के पास उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति व्यक्त करने के हेतु पसनक चैत्य में भेजा। बुद्धदेव उन दिनों वहाँ निवास कर रहे थे। उस यात्रा में वे शिष्य गण मगधपुरा (वैशाली) होकर उक्त चैत्य की ओर अग्रसर हुए थे।

मनुस्मृति और लिच्छवी

वैशाली के लिच्छवियों के विषय में इतिहासज्ञ विद्वान् टाड ने अपने ग्रन्थ 'राज स्थान, भाग ७' में लिखा है कि वे सब सूर्य-वंशीय क्षत्रिय थे। नेपाल से प्राप्त कई उत्कीर्ण लेखों एवं प्राचीन हस्तलिखित साहित्य-ग्रन्थों के आधार पर वे निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि सर्वप्रथम लिच्छवियों ने नेपाल में ही निवास किया था। काठमाण्डू के पशुपतिनाथ के मन्दिर के एक उत्कीर्ण लेख के आधार पर उनका कहना है कि नेपाल के कतिपय लिच्छवी राजाओं ने नेपाल एवं पुष्पपुर (पाटलीपुत्र अथवा पटना) पर शासन किया था। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि छठी शती के दण्डी कवि द्वारा प्रणीत 'दश-कुमारचरितम्' में उल्लेख है कि तात्कालिक मिथिला और मगध (पाटलिपुत्र) के राजकुमारों एवं उनकी रानियों में घनिष्ठ एवं अभिन्न सौहार्द-सम्बन्ध था।

टाड साहब के उपर्युक्त मत का विरोध भारतवर्ष के मान्य स्मृति ग्रन्थ मनुस्मृति से होता है। उसके दशम अध्याय के श्लोक-२२ में लिच्छवि जाति का उल्लेख हुआ है।

उसमें लिच्छवियों को व्रात्य-कुलोद्भव कहा गया है । सवर्ण द्विजन्माओं से उत्पन्न होने पर भी जिसका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ उसे 'व्रात्य' कहा जाता है । व्रात्य क्षत्रिय द्वारा क्षत्राणी से उत्पन्न अपत्य झल्ल जाति वाले होते हैं, जिसकी संज्ञा मल्ल, निच्छवि, नट, करण, खस तथा द्रविड़ है । अतः संस्कार-विहीन क्षत्रिय के अपत्य को स्मृति-ग्रन्थों के अनुसार शुद्ध सूर्य-वंशीय क्षत्रिय नहीं कहा जा सकता है । उन्हें क्षत्रिय कुलोद्भव कहना ठीक जँचता है, सूर्यवंशीय नहीं । मनुस्मृति से एतद्विषयक श्लोक अधोऽङ्कित है :-

''झल्लो मल्लश्च राजन्याद् व्रात्यान्निच्छविरेव च ।
नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड़ एव च ।।''

(मनुस्मृति अध्याय-१०, श्लोक-२२)

द्वितीय अध्याय

ऐतिहासिक युग

हर्यंक वंशीय बिम्बसार-पुत्र अजातशत्रु एवं लिच्छवि-गणतन्त्र

ऊपर यह अंकित किया गया है कि वज्जिसंघ में अष्टकुल सम्मिलित थे । उन अष्टकुलों में से लिच्छवियों के साथ मगध के हर्यंक राजकुल का पहले वैवाहिक सम्बन्ध हुआ, किन्तु पीछे चलकर दोनों के बीच संघर्ष होना आरम्भ हो गया । अन्ततोगत्वा उस संघर्ष के परिणामस्वरूप वज्जिसंघ का विनाश हुआ, जिसका वर्णन आगे किया जायगा ।

मगध-नरेश बिम्बसार ने ईसा-पूर्व ५३० में लिच्छवि-भूप चेतक की कन्या चेल्लना से विवाह किया । बिम्बसार को चेल्लना रानी से अजातशत्रु (कुणिक) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । उस अजातशत्रु ने ५९० वर्ष ईसा-पूर्व अपने मातामह लिच्छविनरेश चेतक के विरुद्ध उसकी राजधानी वैशाली पर आक्रमण किया । उस चढ़ाई के पूर्व उसने अपने प्रधान मन्त्री ब्राह्मण वर्षकार (वस्साकार) को छलछद्म की योजना बना कर वैशाली भेंजा था, जिसने अपनी कपट एवं कूटनीति से संघ में फूट उत्पन्न कर उसके ऐक्य-बल का विध्वंश कर दिया । फलतः संयुग में नव लिच्छवी और मल्लकी की संयुक्त संघ-सेना की हार हुई । अजातशत्रु ने अपने मातामह (नाना) के संघ राज्य पर अधिकार कर लिया । वैशाली में गणतन्त्र के स्थान में राजतन्त्र की स्थापना हुई । परिणामतः कुछ काल के लिए मिथिला पर भी उसका अधिकार हो गया । उस युद्ध की विनाशलीला के पश्चात् वैशाली के लिच्छवियों का इतिहास तमसावृत है । महा-क्षत्रान्तक द्वितीय परशुराम रूप महापद्मनन्द का मिथिला-आक्रमण इस तथ्य का द्योतक है कि वैशाली के गणतन्त्र के विनाश के पश्चात् भी तिरहुत-राज्य पुनः राजतन्त्र का स्वरूप धारण कर जीवित था, जिसे उसने युद्ध कर स्वायत्त कर लिया ।

भगवान् गौतम बुद्ध एवं मगध महामात्य वस्साकार

अजातशत्रु के बाद विजित राज्य वैशाली की क्या दशा रही, यह अज्ञात है । लिच्छवियों के संभाव्य आक्रमण को विफल बनाने के विचार से कीकट-भूप अजातशत्रु ने मगध-राज्य की सीमा पर, वैशाली-विजय के पूर्व, गंगा के किनारे पाटलिपुत्र में एक सुदृढ़ किला बनवाया था । अपनी मृत्यु के कुछ काल पूर्व जब बुद्धदेव पाटलीपुत्र पहुँचे तो उन्होंने वहाँ अजातशत्रु के दो मुख्य आमात्य सुनिध एवं वस्साकार (वर्षकार) को अभेद्य दुर्ग बनवाते देखा था । इस घटना के पूर्व मगध-राज के प्रधान मन्त्री वस्साकार (वर्षकार) ने उसकी (अजातशत्रु की) प्रेरणा से राजगृह के गृद्धकूट पर्वत शिखर पर जाकर बुद्ध भगवान् के सामने राजा का विचार प्रकट किया, और कहा कि वह महद्धिक (वैभवशाली) और महानुभाव (मगध-नरेश अजातशत्रु) वज्जियों को उच्छिन्न करना चाहता

है, वज्जियों का विनाश करना चाहता है, तथा उन पर आफत ढाना चाहता है, और जानना चाहता है कि इस विषय में तथागत की धारणा क्या है ?

लिच्छवियों के प्रति भगवान् बुद्धदेव की धारणा एवं भावना अति उच्च थी। उन्होंने अपने मौसेरे भाई एवं अनुगामी तथा निजी सचिव आनन्द को, जो उस काल तथागत के पीछे खड़े होकर पंखा झल रहे थे, लिच्छवियों की एकता, नीतिज्ञता, नैतिकता, सच्चरित्रता एवं कर्त्तव्यनिष्ठा के सम्बन्ध में कतिपय प्रश्न कर और उनसे उनका समुचित उत्तर प्राप्त कर कहा कि :– ''हे आनन्द ! जब तक वज्जि इकट्ठे जुटते, इकट्ठे उठते (उद्यम करते) और इकट्ठे वज्जि-कारणीयों (अपने राष्ट्र-कर्त्तव्यों) को करते हैं; जब तक वज्जि (सभा द्वारा) सनियम विधान बनाये बिना कोई आज्ञा प्रसारित नहीं करते, बने हुए नियमों की अवहेलना एवं उच्छेद नहीं करते, और नियम से चलते हुए पुराने वज्जि-धर्म (राष्ट्रीय विधान और संस्थाओं के अनुसार) मिल कर वर्त्तते हैं; जब तक वज्जि, वज्जियों के जो वृद्ध-बुजुर्ग हैं, उनका आदर-सत्कार करते हैं, उन्हें मानते-पूजते हैं, और उनकी सुनने योग्य बातों को सुनते हैं; जब तक वज्जि कुल-स्त्रियों और कुल-कुमारियों पर जोर-जबरदस्ती, बलात्कार नहीं करते; जब तक वज्जि, जो उन वज्जियों के भीतरी और बाहरी वज्जि-चैत्य (चौरा, देवस्थान, जातीय मन्दिर) आदि हैं, उनका आदर-सत्कार करते हैं, उन्हें मानते-पूजते हैं, और उनको पहले की दी हुई धार्मिक बलि (दान और वृत्ति) को नहीं छीनते; और जब तक वज्जि अर्हतों (पूज्यों) की भलीभाँति धार्मिक (=धर्मानुसार) रक्षा करते हैं, जिससे न आये हुए अर्हत राज्य में आवें एवं आये हुए अर्हत राज्य में सुख से विहार करें, तब तक उनकी बढ़ती की ही आशा करनी चाहिये, परिहानि की नहीं।''

इसके उपरान्त भगवान् बुद्ध ने मगध-महामात्य को सम्बोधन करके कहा कि– ''ब्राह्मण वस्साकार ! एक बार वैशाली के सारनन्द चैत्य में मैं बिहार कर रहा था। वहाँ मैंने वज्जियों को ये 'सप्त अपरिहानीय धम्म' (अपतन के सात नियम) बताये थे। जब तक ब्राह्मण ! ये अपरिहानीय धम्म वज्जियों में रहेंगे, इन सात अपरिहानीय धम्मों में वज्जि दिखाई पड़ेंगे, तब तक ब्राह्मण ! वज्जियों की वृद्धि ही समझना, परिहानि नहीं।''

भगवान् गौतम बुद्ध के इस प्रकार कहने पर वस्साकार (वर्षकार) ब्राह्मण उनसे वोला :–

''हे गौतम ! एक भी अपरिहानि धम्म से वज्जि की वृद्धि ही समझनी होगी, सात अपरिहानीय धम्मों की तो बात ही क्या ! हे गौतम ! मगध-राज वैदेही-पुत्र अजातशत्रु को उपलाप (घूस, रिश्वत) अथवा आपस में फूट डालने की नीति अपनाने के अतिरिक्त युद्ध करना अभी ठीक नहीं है। हंत ! हे गौतम ! में जाता हूँ। मैं कार्यव्यस्त हूँ, और मुझे बहुत कुछ करना है''। भगवान् ने कहा– ''ब्राह्मण ! तुम जैसा उचित समझो''।

पश्चात् ब्राह्मण वस्साकार (वर्षकार) की मन्त्रणा एवं उसके कूटनीतिक सहयोग से अजातशत्रु को वज्जि-संघ के विनाश करने में जो सफलता प्राप्त हुई, उसका संक्षेप में वर्णन ऊपर किया जा चुका है। उसके समक्ष कार्य-साधन के हेतु आपस में फूट एवं

विभेद डाल कर लक्ष्य-प्राप्ति की नीति अपनाने के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय न था। बौद्ध ग्रन्थ 'अत्थकथा' के अनुसार राजा अजातशत्रु एवं महामात्य वस्साकार ने आपस में मन्त्रणा कर षड्यन्त्र किया। उस षड्यन्त्र के निर्णय के अनुसार राजा ने प्रकट रूप में प्रधानमन्त्री वस्साकार को घोर अपमानित एवं तिरस्कृत कर अपने राज्य से बहिष्कृत कर दिया। वस्साकार के ही परामर्श से चली गयी वह कूटनीतिक चाल वैशाली के गणतन्त्र को विनष्ट करने के हेतु पूर्वायोजित राजनीतिक कुचक्र थी। मन्त्री ने मगध-राजतन्त्र के प्रतिद्वन्द्वी वैशाली के गणतन्त्र में जाकर शरण ली। वह कपट-नीति-पारंगत धूर्त मन्त्री वस्साकार वैशाली के लिच्छवियों का विश्वासभाजन, मित्र एवं हितचिन्तक होने का स्वांग रचकर उन सबों का प्रेम-भाजन बना, तथा वहाँ प्रतिष्ठित पद पर प्रतिष्ठित होकर उसने अपना उल्लू सीधा करना आरम्भ कर दिया। उसने अपनी भेद-नीति के सहारे लिच्छवियों में फूट, द्रोह एवं अविश्वास उत्पन्न कर अन्त में संघ का विनाश ही कर डाला। जब उसके कपट-जाल में फँस जाने के कारण लिच्छवि युवकों एवं सरदारों में फूट, द्वेष तथा अविश्वास ने पूर्ण रूप से अपनी जड़ जमा ली और वे सब आपस में एक दूसरे से ईर्ष्या करनेवाले तथा रिपुता रखने वाले बन गये, तब वस्साकार ने ठीक समय पर वैशाली पर चढ़ आने के हेतु मगध-महीप अजातशत्रु को आमन्त्रित किया। गणतन्त्र के परम शत्रु साम्राज्यवादी सम्राट् विम्बिसार के महत्त्वाकांक्षी पितृहन्ता पुत्र अजातशत्रु ने बस्साकार की योजना के अनुसार वैशाली पर आक्रमण कर अतिलोमहर्षण युद्ध एवं भयंकर रक्तपात के पश्चात् वज्जिसंघ का विनाश किया। कहा जाता है कि वज्जिसंघ की उस हार से अपमानित होकर राजा चेतक (अजातशत्रु के मातामह) ने कुएँ में कूद कर आत्म-हत्या कर ली। शत्रु से विजित होकर अपमानमय जीवन व्यतीत करना उसने उचित नहीं समझा। अजातशत्रु ने वहाँ अपनी राजसत्ता की स्थापना कर ली। गणतन्त्र का विनाश हुआ और उसके स्थान पर राजतन्त्र पनप उठा।

कहा जाता है कि उस विनाशकारी युद्ध की मारकाट से बचे हुए वैशाली के अधिकांश राजकुमारों ने नेपाल की तराई में भागकर वहाँ मोरिय नगर (मौर्य नगर) नामक गाँव बसाया और वहाँ शरण ली। बुद्ध के महानिर्वाण के केवल ३ वर्षों के पश्चात् आपसी फूट और वैर के कारण वैशाली गणतन्त्र का पतन हुआ, और राजगृह (मगध की राजधानी) का आधिपत्य गंगा की दूसरी ओर के वैशाली राज्य पर भी हो गया। आपस का कलह जो न करावे! ऐसी स्थिति में जो अनर्थ हुआ वह थोड़ा है।

इस घटना के पश्चात् लिच्छवियों का इतिहास विशेषतया अन्धकारपूर्ण है। परन्तु इसका भी पता चलता है कि वैशाली से चरण उखड़ने पर लिच्छविगण चुपचाप बैठे न रहे। इतिहास समय-समय पर उनको उत्तर बिहार की मिथिला के राजनीतिक मंच पर प्रकट होने का प्रमाण देता है। इससे भी प्रकट होता है कि वे निर्मूल नहीं हुए। उनका अस्तित्व क्षुद्र शासक के रूप में जहाँ तहाँ बना रहा।

अजातशत्रु द्वारा वैशाली-विजय के लगभग ६०० वर्षों के पश्चात् १११ ई० में मिथिला के लिच्छवियों को नेपाल के शासक के रूप में प्रकट हुआ इतिहास बताता है। उस काल में सम्भवतः उस कुल के प्रथम राजा जयदेव प्रथम ने अपने शासक का स्मारक-स्वरूप एक अब्द का आरम्भ किया था (सिलभ्यां लेवी : नेपाल, १, १४)।

इसके अतिरिक्त तिब्बती लेखों से पता चलता है कि उस देश का प्राचीनतम राजवंश विदेशी था, जो ली-श-ब्य (Li-TSE-BYA) जाति का था। लि-श-ब्य लिच्छवि वंश का द्योतक एवं परिचायक प्रतीत होता है। अजातशत्रु से पराजित होकर कुछ लिच्छवि नेपाल के जंगलों में जाकर बस गये, और उनमें से शेष ने और उत्तर की ओर अग्रसर होकर अपने विक्रम के बल तिब्बत के सिंहासन पर आसन जमाया। वैशाली के लिच्छवियों तथा नेपाल और तिब्बत के लिच्छवियों के बीच पीछे भी किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध बना ही रहा। वैशाली के लिच्छवियों की शासन-पद्धति गणतान्त्रिक थी। उस पर राजतन्त्र की निरंकुश सत्ता का कठिन प्रहार बार-बार हुआ। डूबते-उतराते वह किसी तरह पाँचवीं शताब्दी के द्वितीय अथवा तृतीय चरण तक अपना अस्तित्व यत्र-तत्र बनाये रहा, किन्तु पाँचवीं शती के पश्चात् उसे हिन्दू-भारत से अदृश्य होना पड़ा। गणतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र का स्थान पूर्णरूप से राजतन्त्र ने ले लिया और शासन का वह स्वरूप बीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य तक बना रहा।

गुप्त वंशीय राजा चन्द्रगुप्त प्रथम के मगध (कीकट) पर शासनकाल में वैशाली में लिच्छवियों के शक्तिशाली राज्य का पता इतिहास देता है।

वैशाली नगर

वैशाली ३ सुदृढ़ प्राकारों से परिवेष्ठित अति रम्य एवं मनोहर नगर था। एक प्राकार से दूसरे का अन्तर चीनी यात्रियों के वर्णनानुसार एक लिग का था। नगर में प्रवेश करने के हेतु उच्च प्रहरी-पर्यवेक्षण मीनारों के साथ ३ सुन्दर गोपुर बने हुए थे। नगर के भी ३ भाग थे। वैशाली (वर्तमान बसाढ़) में विशेषतया ब्राह्मणों का निवास था। कुंड ग्राम (वर्तमान वसुकुंड) क्षत्रिय-प्रधान नगर था, तथा वणिक् ग्राम (वर्त्तमान बनिया) में समृद्ध वैश्य वास करते थे। परन्तु सम्प्रति उन सभी ग्रामों में मुख्यत: दानत्यागी एवं कृषि पर भूमिहार ब्राह्मण निवास करते हैं, जिसमें से अनेकों ने भिन्न-भिन्न जीविका-व्यवसाय अपना लिये हैं। वैशाली नगर के विभव एवं वहाँ के निवासियों के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण आगे दिया जायगा।

भगवान् बुद्धदेव तथा महावीर स्वामी

मिथिला और विशेष कर वैशाली से बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक भगवान् गौतम बुद्ध तथा जैन धर्म के २४वें एवं अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर स्वामी का विशेष सम्बन्ध रहा है। दोनों ही समकालीन थे। इन दोनों में महावीर वैशाली गणतन्त्र के अधिवासी थे। इसी कारण से उनको वैशालीय भी कहा जाता था। उनको लोग नट-पुत्र भी कहा करते थे। इसका भी कारण था। उनका जन्म नट नामक क्षत्रिय-कुल में हुआ था। नट मल्लों की भाँति क्षत्रियों की एक शाखा है। ये नट क्षत्रिय उस काल वैशाली के निकटस्थ उपनगर कोल्लग में निवास करते थे। महावीर के पिता कश्यप गोत्रीय ज्ञात्रिक राजा सिद्धार्थ का विवाह वैशाली के शासक राजा चेतक की बहन त्रिशला रानी के साथ हुआ था। यह त्रिशला रानी महावीर की माता थी। हर्यंक कुल के राजा बिम्बसार (मगध-नरेश) का विवाह राजा चेतक की एक पुत्री चेल्लना के साथ हुआ था। अत: दोनों ही नरेश सम्बन्धी थे।

कोई-कोई राजा सिद्धार्थ को वशिष्ठ गोत्रीय बताते हैं, कश्यप गोत्रीय नहीं। इसका कारण यह बताया जाता है कि गौतम बुद्ध उस कुल के लोगों को वाशिष्ठ्य कह कर सम्बोधन करते थे। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में ऐसा वर्णन आया है कि क्षत्रियों के गोत्र और प्रवर उनके पुरोहितों के अनुसार होते हैं जो उन्हें यज्ञ करवाते हैं। नेपाल वंशावली में लिच्छवियों को सूर्यवंशीय क्षत्रिय लिखा गया है। सूर्यकुल के पुरोहित वशिष्ठ थे, अतः उनका वशिष्ठ गोत्रीय होना असंभव नहीं जँचता है।

महावीर का जन्म लगभग ५९९ वर्ष ईसा-पूर्व कोल्लग ग्राम में हुआ था। यह कोल्लग अथवा कुंडपुर वा कुंडन ग्राम, जिसे क्षत्रियकुंड भी कहा जाता है, ज्ञात्रिक (नट) क्षत्रियों की राजधानी थी। महावीर ने ३० वर्षों की अवस्था में अध्यात्म-चिन्तन आरम्भ कर गृह-त्याग किया था। पूरे ४२ वर्षों तक उन्होंने अपने चिन्तन के अनुसार ज्ञान, दर्शन का प्रचार सुदूर प्रान्तों में कर ७२ वर्षों की अवस्था में कीकट (मगध) स्थित राजगृह के निकटवर्ती ग्राम पावापुरी में अपनी ऐहिक लीला समाप्त कर इस संसार से महायात्रा की। महावीर के धर्म के अनुयायियों की संख्या आज भी भारतवर्ष में प्रचुर है। उनके अनुगामी जैन साधु-गण निर्ग्रन्थ (बन्धन-मुक्त) कहे जाते थे। महावीर की जन्मभूमि होने के कारण वैशाली जैनियों का पवित्र तीर्थ-स्थान बन गया।

'कल्पसूत्र' नामक ग्रन्थ के अनुसार महानिर्वाण के दिन वैशाली प्रज्वलित दीप-मालिकाओं के प्रकाश से जगमगा उठी थी, जो उनके आजीवन धार्मिक शिक्षण एवं प्रवचनों से उत्पन्न मानव-आत्मालोक का साक्षात् द्योतक था। उनकी महायात्रा दीपावली के दिन हुई थी। दीपावली का पुण्य-दिवस आर्य हिन्दू एवं जैन, दोनों ही मनाते हैं। अतः यह विचारणीय विषय है कि क्या इस जैन-पुण्य-पर्व का सम्बन्ध हिन्दुओं की दीपावली से भी है, जिसे जनता भगवान् राम की लंकेश रावण पर विजय के उपलक्ष्य में अति प्राचीन काल से अद्यावधि मनाती आयी है।

एक बार वैशाली में भयंकर महामारी का प्रकोप हुआ। उसके कारण असंख्य वैशाली-निवासियों को अकाल काल-कवलित होना पड़ा। उससे त्राण पाने के हेतु भगवान् बुद्धदेव को वैशाली-निवासियों ने आमन्त्रित किया। उनके वहाँ पदार्पण करते ही महामारी के प्रकोप से पीड़ित एवं भयभीत प्रजा की रक्षा हुई। उनके उस प्रभाव ने वहाँ की जनता को उनका अनन्य भक्त बना दिया। लोगों का आकर्षण उनके प्रति हुआ। परिणामस्वरूप वैशाली में बौद्ध धर्म का विकास हुआ, और उनके शिष्य समुदाय की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई।

उस समय भगवान् बुद्धदेव वैशाली से लौट गये, परन्तु अपने जीवन-काल में पुनः दो बार उन्होंने वहाँ पधारने की कृपा की। महानिर्वाण-प्राप्ति के हेतु कुशीनगर की यात्रा करते समय तथागत वैशाली नगर होकर ही मल्लों के उस ग्राम में गये थे।

यह भी स्मरणीय है कि अपने मौसेरे भाई एवं प्रिय शिष्य आनन्द तथा उसकी वृद्धा विधवा माता के अनुरोध करने पर वैशाली में ही सर्वप्रथम भगवान् गौतम बुद्ध ने स्त्रियों को संघ की शरण में लेना स्वीकार किया था, जो पीछे चल कर बौद्ध धर्म के विकास तथा प्रसार में बाधक एवं घातक सिद्ध हुआ।

गौतम बुद्ध के मानस-मन्दिर में वैशाली के लिच्छवियों के प्रति महान् आदर एवं श्रद्धा थी । 'महापरिनिव्वाण सुत्तम्' नामक बौद्ध-ग्रन्थ के अनुसार जब तथागत एक बार वैशाली गणतन्त्र की सदस्या एवं राजनर्त्तकी अम्बपाली द्वारा आमन्त्रित एवं पूजित होकर अतिथि के रूप में उसके आवास पर भोजनार्थ उपस्थित हुए थे तब उनका उसके यहाँ भोजन करना लिच्छवियों को अच्छा न लगा । उन्हें उस कार्य से पराङ्मुख कर अपने यहाँ सादर ले जाने के हेतु वे सब बुद्ध भगवान् की सेवा में उपस्थित होने के लिए अग्रसर हुए। भगवान् ने उन सबों को दूर से ही अपनी ओर आते देखकर उपस्थित जन-मंडली से कहा था- बन्धुओ ! जिन लोगों ने अबतक तत्त्व-विद् देव-मंडली के दर्शन करने का सौभाग्य नहीं प्राप्त किया है, वे सब उनके स्थानापन्न साक्षात् देवता-रूप इन आगत लिच्छवियों को देख लें ।

लिच्छवियों ने भी तथागत तथा उनके अनुयायी शिष्यों के प्रति श्रद्धा, भक्ति एवं प्रेम रखते हुए उनके लिए अपने नगर एवं राज्य में अनेक चैत्य, मठ और बिहार बनवाये, तथा अनेकानेक सरोवर खुदवाये- (सेकरेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट सीरीज, भाग-११, पृ० २४) । भारत के कोने-कोने से श्रद्धालु भक्त वैशाली दर्शनार्थ पहुँचते थे । 'बुद्ध साल जातक' (भाग-४, पृ० १४८) के उल्लेखानुसार कौशल-राज्य के सेनापति बन्धुल की गर्भवती स्त्री ने अपने पति से वैशाली जाकर उसके पवित्र सरोवर, जिसके पावन जल से वैशाली गणतन्त्र के नृपतियों का अभिषेक किया जाता था, में स्नान करने एवं उसका पीयूषोपम जलपान करने की उत्कट इच्छा व्यक्त की थी ।

उस जलाशय का नाम था 'वैशाली नगरगण राज-कुलानां अभिषेक-मंगल-पोक्खरानी' (बुद्धसाल जातक, भाग- ४, पृ० १४८-४९) । वह सरोवर लौह-जाल से आच्छादित था जिससे उसका निर्मल जल प्राप्त करना पक्षियों के लिए भी असम्भव था । उसके जल की रक्षा के हेतु सतर्क प्रहरियों का पहरा अहर्निश पड़ता रहता था । पर इतना होने पर भी वीर सेनानी बन्धुल ने अपने शौर्य से स्व-भार्या की अभिलाषा पूर्ण की ।

लिच्छवि-गण अति सुसंस्कृत थे । बौद्ध जातकों तथा 'धम्मपद' के अनुसार भगवान बुद्धदेव वैशाली नगर के लिच्छवि-निर्मित कटागार में बैठकर अति गहन दार्शनिक विषयों पर उन सबों के साथ विचार-विमर्श करते थे ।

भगवान् बुद्धदेव के प्रति लिच्छवियों का अपार भक्तिभाव था । जब परिनिर्वाण के समय भगवान् ने वैशाली होकर कुशीनगर की यात्रा की थी तो उस काल वैशाली के लिच्छवियों ने उनके साथ-साथ चलना आरम्भ कर दिया । तथागत ने उन सबों को बहुत समझाया, अपना भिक्षा-पात्र उन्हें प्रदान किया, और घर लौट जाने का उनसे बार-बार आग्रह किया । पर इतने पर भी वे सब उनका साथ छोड़ने के लिए उद्यत नहीं हुए । तब भगवान् ने अपनी दैवी शक्ति के बल अपने और उनके बीच एक वेगवती सरिता का प्रादुर्भाव किया । उसके पार करने में अक्षम होने के कारण उन सबों को अन्ततोगत्वा गृह-प्रत्यागमन के हेतु बाध्य होना पड़ा । कहा जाता है कि वह स्थान चम्पारण जिले में केसरिया है, जहाँ भगवान् गौतम बुद्ध ने लिच्छवियों को अपना भिक्षा-पात्र देकर उनसे लौट जाने का अनुरोध किया था । श्री लाल के 'बुद्धिस्ट रेकर्ड्स ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड' के

लेखानुसार यह विश्वास किया जाता है कि लिच्छवियों ने उस स्थान पर, जहाँ उन सबों ने वह पवित्र भिक्षा-पात्र प्राप्त किया था, एक स्तूप का निर्माण किया।

केसरिया के एक टोले को राजा वेणु का डीह कहा जाता है। उसके चतुर्दिक् सुन्दर जलाशय था, जिसे राजा वेन की दीघी कहते हैं। यह राजा वेन एक बौद्ध भूपाल था। राजा वेन के रनिवास नाम से प्रसिद्ध खण्डहर वास्तव में एक प्राचीन बौद्ध विहार का अवशेष है। चीनी यात्री फाहियान ने पाँचवीं शती के प्रथम चरण में इस स्थान को बुद्ध भगवान से लिच्छवियों के विछोह का बिन्दु माना था। हुएन्-त्सं, जिसने छठी शताब्दी में भारत की यात्रा की थी, ने उस स्थान को पूर्णतया त्यक्त पाया, और अपने यात्रा-वृत्तान्त में उसे वह स्थान बताया जहाँ से बुद्ध भगवान् ने पूर्व जन्म में सारे भारत पर चक्रवर्त्ती भूप के रूप में शासन किया था (रिपोर्ट औन दि आर्कियोलौजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया. भाग-१६, उत्तर और दक्षिण बिहार)।

केसरिया का स्तूप सम्भवतः वही स्तूप है, जिसे लिच्छवियों ने तथागत के अन्तिम दर्शन-काल में उनसे आशीर्वाद एवं उपहार के रूप में उनका अमूल्य पावन भिक्षा-पात्र प्राप्त कर उस चिरस्मरणीय घटना का स्मारक-स्वरूप उस पवित्र स्थान पर निर्माण किया था। केसरिया के उत्तर-पूर्व में बहनेवाली नदी मेखला अथवा वाया ही सम्भवतः वह नदी है, जिसे बुद्ध भगवान् ने अपनी माया (अलौकिक शक्ति) से अपने और लिच्छवियों के बीच प्रकट की थी। इस विषय का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

यह जनश्रुति भी प्रचलित है कि अर्द्ध निशीथ में उनतीस वर्षीय कपिलवस्तु के राजकुमार गौतम ने अपनी प्यारी नवयौवना रूपसी अर्द्धांगिनी रोहिणी एवं नवजात स्नेहास्पद तथा मोहक प्रिय पुत्र राहुल का परित्याग किया, और राजकीय श्वेत अश्व कंथक पर आरोहण कर सारथी चन्द्रक के साथ पैतृक राज-प्रासाद से प्रव्रज्या के हेतु प्रस्थान किया। वहाँ से चलकर उन्होंने चम्पारण जिले में अनोमा नदी को पार किया। वहीं पर राजकुमार ने प्रव्रज्या ली, और चन्द्रक को कंथक के साथ विदा किया। सर्वप्रथम उसी स्थान पर गौतम ने संन्यासी का वस्त्रावरण (परिधान) धारण किया था। चम्पारण जिले का वर्तमान विहार ग्राम चन्द्रक की गौतम से विदाई का स्थान माना जाता है। बात जो भी हो, पर इसमें संदेह नहीं है कि प्राचीन काल में उस विहार ग्राम में कोई बौद्ध-विहार अवश्य था, जिस कारण से वह स्थान बिहार नाम से विख्यात हो गया।

मिथिला के चम्पारण जिला स्थित लौरिया नन्दनगढ़ के विषय में कुछ विद्वानों का विश्वास है कि भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् उनके एहलौकिक शरीर के भस्मावशेष का कुछ अंश उनकी चिता से लाकर उस स्थान पर रखा गया, और उसपर एक भव्य स्तूप का निर्माण भी पीछे किया गया।

ईसा-पूर्व ५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भगवान् बुद्ध के कुशीनगर में देहावसान के पश्चात् उनके अस्थ्यवशेष एवं चिता-भस्म का अष्टमांश लिच्छवि-प्रमुख मल्ल-भूप से प्राप्त कर वैशाली में लाये, उसे उचित स्थान पर भू-गर्भ में स्थापित कर उसके ऊपर भव्य स्तूप निर्माण उन सबों ने किया। वैशाली-राज्य में बुद्धदेव के प्रति अपार श्रद्धा होने के

कारण उस अंचल में बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार हुआ। बुद्धदेव की मृत्यु के पश्चात् चिरकाल तक वैशाली का प्रचुर प्रभाव मिथिला के अन्य अंशों पर पाया जाता है। बुद्धदेव एवं उनके प्रिय सहचर शिष्य आनन्द के ऐहलौकिक अवशेष पर वहाँ स्तूप बनाये गये, इसका दिग्दर्शन ऊपर कराया जा चुका है। वैशाली राज्य में बुद्धदेव के जीवन से सम्बन्धित अनेक स्थान बताये जाते हैं। बौद्धों की द्वितीय महासभा-संगीति-३७७ वर्ष ईसा-पूर्व वैशाली में ही बुलायी गयी थी, जिसमें उस धर्म के दो सम्प्रदायों के बीच उत्पन्न विस्तृत खाई को पारस्परिक विचार-विमर्श द्वारा पाटकर दोनों को एक करने और पतनोन्मुख बौद्ध-धर्म के अर्हतों एवं भिक्षुओं के आचार-विचार को उच्च तथा आदर्श बनाने के सम्बन्ध में निर्णय लिया गया था। कहा जाता है कि उस विचारगोष्ठी में सात सौ से अधिक विद्वान् बौद्ध अर्हत प्रतिनिधि रूप में सम्मिलित हुए थे।

ऐतिहासिक युग के आरम्भ काल में उत्तरभारत की राजधानी पाटलीपुत्र से नेपाल की ओर जाने वाला राजपथ वैशाली होकर जाता था। सम्राट् अशोक ने २५० वर्ष ईसा-पूर्व नेपाल की यात्रा (जो उस समय सम्भवतः मगध साम्राज्य के अन्तर्गत था) वैशाली होकर की थी। उसने वहाँ के स्तूप से भगवान् बुद्धदेव के अस्थ्यवशेष का कुछ अंश, अन्यत्र स्तूपों के निर्माण-हेतु, निकलवा कर अपने साथ ले लिया, तथा वहाँ पर सुन्दर कलात्मक भव्य सिंह मूर्त्ति-मंडित विशाल प्रस्तर-स्तम्भ की स्थापना की। प्राचीन काल में वह मार्ग पाटलिपुत्र से वैशाली, केसरिया, लौरिया अरेराज, बेतिया, लौरिया नन्दनगढ़, जानकीगढ़, रमपुरवा, आदि स्थानों से होता हुआ भिखनाठोरी घाटी होकर नेपाल के पार्वत्य-प्रदेश में प्रवेश करता था। चम्पारण जिले के शिकारपुर से किंचित् दूरी पर पिपरिया के निकट रमपुरवा से संलग्न भी एक अशोक स्तम्भ है।

सम्राट् अशोक ने स्यात् उसी मार्ग से यात्रा की थी जिससे तथागत ने अपने महापरिनिव्वाण के हेतु मल्ल-राज्य स्थित कुशीनगर की यात्रा की थी, और उसने वैशाली में (मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ़ में) सिंह-स्तम्भ, केसरिया में स्तूप, गोविन्दगंज थाने के लौरिया अरेराज (जिसे स्थानीय जनता रढ़िया लौरिया कहती है और जो अरेराज के सोमेश्वर नाथ महादेव-मन्दिर से लगभग एक मील पश्चिम है। अरेराज का प्राचीन नाम लोग अरण्य-राज बताते हैं) में प्रस्तर-स्तम्भ, बेतिया से १५ मील उत्तर लौरिया नन्दनगढ़, एवं रमपुरवा में भी उपर्युक्त प्रकार के प्रस्तर-स्तम्भों का रोपण किया था।

हर्यंक राजकुल के पतन के पश्चात् की वैशाली

हर्यंकवंशीय अजातशत्रु के कुल के नृपतियों के पश्चात् हम बौद्ध ग्रन्थ 'महावंश' के अनुसार शिशुनाग वंश को वैशाली में शासन करते पाते हैं। शिशुनाग अपनी राजधानी को पाटलिपुत्र से स्थानान्तरित कर वैशाली में लाया था। कहा जाता है कि वह लिच्छवि-वंशोद्भव था, और हर्यंककुल के नरेशों की ओर से राजप्रतिनिधि के रूप में काशी का शासन करता था। हर्यंक वंशीय भूपतिगण पितृघातक निकले। अतः इस प्रकार के दुष्कर्म से क्षुब्ध प्रजा में अशान्ति मची, जिसका परिणाम साम्राज्य में भीषण क्रान्ति हुआ। हर्यंक वंश के सिंहासन पर प्रजा ने न्यायप्रिय वीर शिशुनाग को प्रतिष्ठित किया।

पौराणिक कथा के अनुसार शिशुनाग विम्बसार का पूर्वज था। सम्भव है, उसी नाम

का वह द्वितीय शिशुनाग लिच्छवि कुलोद्भव रहा हो; जिसकी न्यायप्रियता के कारण प्रजा ने उसे अपना शासक निर्वाचित किया था। शिशुनाग-वंश के पश्चात् नन्द-कुल और नन्दों के पश्चात् मौर्य ने मिथिला का शासन किया। प्रसिद्ध सम्राट् अशोक मौर्य-राजकुल के संस्थापक चन्द्रगुप्त का पौत्र था। मौर्यों के पश्चात् शुंग वंशीय ब्राह्मणों का राज्य मगध के साथ-साथ मिथिला पर भी हुआ था। इस राज्य-वंश का संस्थापक सेनापति पुष्यमित्र था। शुंगों के पश्चात् कण्वों का राज्य हुआ। आन्ध्र सातवाहनों का शासन भी पाटलिपुत्र के साथ मिथिला पर बताया जाता है। शुंग वंशीय मित्र-कुल के नाम से भी विख्यात थे, क्योंकि इस कुल के संस्थापक की उपाधि 'मित्र' थी। मित्र, कण्व और आन्ध्र सातवाहन के पश्चात् सीथियन क्षत्रपों एवं मुरुण्डों के शासन का भी प्रमाण इतिहास देता है।

गौतमी-पुत्र शातकर्णी को नासिक-उत्कीर्ण-अभिलेख में 'खतीय-दप-मान-मदन' (अर्थात् 'क्षत्रिय-दर्प-मान-मर्दन') अंकित किया गया है। नानाघाट अभिलेख में शातकर्णी को सिमुक का पुत्र बताया गया है। पुराणों में उल्लेख है कि कण्वायनों एवं सुशर्मणों का पराभव कर तथा शुङ्गों की बची-बचायी शक्ति का भी विनाश कर आन्ध्र सिमुक पृथ्वी प्राप्त करेगा। इससे आन्ध्रों का आधिपत्य मिथिला पर स्पष्ट हो जाता है। मिथिला में शकाब्द का प्रचार बताता है कि पार्थियनों का राज वहाँ एक समय अवश्य ही हुआ था। उसके पश्चात् कुषाण आये, जिनमें कनिष्क महान् प्रतापी राजा हुआ। उसने मगध और मिथिला (जिसका अंग वैशाली भी था) पर अधिकार किया, यह बौद्ध-साहित्य से सिद्ध है। उसने पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर महाविद्वान् अश्वघोष को अपना राजकवि बना लिया, तथा वैशाली पर चढ़ कर भगवान् गौतम बुद्ध का पवित्र भिक्षा-पात्र प्राप्त किया।

कुषाण के हाथों से भारशिव नागों ने तलवार छीन ली। उनका भी अधिकार वैशाली पर होना संभव ही है। वकाटकों का उदय भी उसी काल में हुआ। भारशिव नाग एवं वकाटक कुल के बीच वैवाहिक सम्बन्ध भी हुआ, जो क्षत्रिय-ब्राह्मण-सम्बन्ध का प्रत्यक्ष उदाहरण है; क्योंकि भारशिव नाग नागवंशीय क्षत्रिय थे तथा वकाटक ब्राह्मण।

पश्चाद्वर्त्ती वकाटकों के समय में वैशाली में लिच्छवी पुनः पनप उठे। उनकी शक्ति, मान तथा प्रतिष्ठा बढ़ चली। इसी के पश्चात् लिच्छवि-कुमारी कुमार देवी का विवाह गुप्त राजकुल में चन्द्रगुप्त प्रथम के साथ हुआ, जिसका उल्लेख यथास्थान आगे किया जायगा।

पुरातत्त्व विभाग द्वारा वैशाली (बसाढ़, राजा विशाल का गढ़) के उत्खनन ने उस प्राचीन राजनगर की पाँचवीं शताब्दी की तिमिराच्छन्न राजनीतिक स्थिति पर विशेष प्रकाश डाला है। राजकीय मोहरों के ठप्पे, जो वहाँ प्राप्त हुए थे, उनमें से कतिपय पाटलिपुत्र के केन्द्र-सरकार द्वारा वैशाली के राजकीय पदाधिकारियों के नाम प्रेषित पत्रों के थे। उनके अतिरिक्त कुछ का सम्बन्ध ऐसे पत्रों से था जो व्यापारियों एवं महाजनों द्वारा प्रेषित किये जाते थे।

उपर्युक्त राजकीय मोहरों के ठप्पे जिन पदाधिकारियों के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुए थे, उनमें कतिपय तिरहुत (तीरभुक्ति) के पदाधिकारी थे। कुछ मोहरें (ठप्पे) वहाँ पर वाणिज्य व्यवसाय विषयक भी प्राप्त हुई थीं, जिनसे पता चलता है कि उस जमाने में भी

नगर में व्यापार-संचालन एवं उस पर नियन्त्रण रखने के हेतु वैशाली-राज्य में सुसंगठित वाणिज्य संस्थाएँ थीं। वह नगर व्यापार-वाणिज्य की दिशा में कितना उन्नत हो चुका था, इसका पता उससे स्पष्टतया चलता है। मोहरों द्वारा अनेक पदाधिकारियों के प्राप्त पद-नाम, जैसे– शासक, सेनापति, आरक्षी-प्रमुख, युद्ध-कोष-प्रमुख, नगर-अधिकारी, प्रधान राजमन्त्री आदि वहाँ की उच्च कोटि की शासन-प्रणाली के प्रमाणों में से हैं। प्राप्त मोहरों पर उत्कीर्ण प्रतीकों से पता चलता है कि वहाँ की राज-प्रणाली धर्मनिरपेक्ष थी। तत्कालीन प्रचलित वैदिक, जैन एवं बौद्ध धर्मावलम्बियों के सभी अधिकार समान थे, और सबों की बराबर पूछ और मान राज्य-सरकार द्वारा होता था।

लिच्छवियों के मूल के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की राय

कुछ विद्वान् वैशाली के लिच्छवियों को तिब्बती मूल का बताते हैं। कतिपय मनीषी उन्हें फारस से भारत में आये हुए बताने में भी संकोच नहीं करते हैं। तिब्बतियों एवं उनके आचारों में कुछ साम्य होने के कारण वे ऐसा सोचते हैं। लिच्छवी अपने मृतकों को श्मशान में जलाते वा गाड़ देते अथवा खुले स्थान में उसे छोड़ देते थे। पारसी अपने मुर्दों को खुले स्थान में छोड़ते हैं। परन्तु वैदिक आर्य भी प्रायः ऐसा करते थे। 'अत्थ कथा' में वर्णित तिब्बतियों की प्राचीन न्याय-पद्धति, जिसका प्रचार लासा में चीनियों द्वारा तिब्बत पर अधिकार कर लेने के पूर्व तक था, अति प्राचीन काल में वहाँ (तिब्बत में) मिथिला से बौद्ध-धर्म के साथ गयी प्रतीत होती है। तिरहुत (मिथिला) की सीमा तिब्बत की सीमा के निकट थी, और वहाँ प्राचीन लिच्छवियों के वंशजों का निवास था। तिब्बत एवं लद्दाख के नृपतिगण अपने को लिच्छवि-वंशोद्भव मानते हैं। सम्भवतः वे सब नेपाल के लिच्छवियों के कुल के हैं। वैशाली (बसाढ़) की खुदाई से प्राप्त एक मोहर के आधार पर कुछ विद्वानों का यह कहना कि अग्निदेव के पूजन के प्रतीक की प्राप्ति उन्हें पारसी मूल का होना प्रमाणित करता है, पूर्णतया तथ्यहीन है। ऋग्वैदिक काल में भारतीय आर्य अग्नि की पूजा करते थे। उनके उपास्य देव थे –अग्नि, इन्द्र, सूर्य आदि। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार उत्तर बिहार में विदेघ माथव के काल में ही अग्नि का प्रज्वलन हो चुका था, जिसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। गुप्तकाल में परथियन, शक, हूण आदि का आगमन भारत में हो चुका था। भारतीयों का रहन-सहन, रीति-रिवाज और उनकी सभ्यता में सम्मिश्रण आरम्भ हो गया था। अतः देशियों एवं विदेशियों की कई प्रथाओं में साम्य होना असम्भव न था। अग्निदेव भारतीय आर्यों के अति प्राचीन ऋग्वैदिक देवता हैं। मोहेंजोदारो की खुदाई में वहाँ की सभ्यता में अग्नि-पूजन का कोई चिह्न प्राप्त नहीं हुआ है। ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी के बोघजकेउई के लेखों में इसका कोई उल्लेख नहीं पाया जाता है। अतः मूलतः अग्निदेव भारतीय आर्यों के पूज्य एवं उपास्य देव आदिकाल से रहे हैं।

बील साहब का यह मत है कि वैशाली के अधिवासी यू-ची से सम्बन्धित उत्तर देशीय थे, क्योंकि उनका और चीनियों का सिम्बौल (प्रतीक) एक था। किन्तु यह विचार भी मान्य नहीं हो सकता है। यह सर्वविदित है कि यू-ची का भारत में आगमन प्रथम

शताब्दी के लगभग हुआ था। परन्तु लिच्छवियों का सर्वतोभावेन समुन्नत गणराज्य ईसा-पूर्व छठी शती के बुद्ध-युग में वर्तमान था, जो विश्व-विख्यात है।

बुद्ध-युग में वैशाली का वैभव अपरिमेय था। उस नगर के तीन विभागों में से प्रत्येक में क्रमशः सात सहस्र, चौदह सहस्र, एवं इक्कीस सहस्र बहुमूल्य उपकरणों से सुसज्जित अतिभव्य भवन थे। वैशाली के गणराज्य का शासन वज्जि-संघ सरकार द्वारा होता था, जिसके सदस्य ७७०७ स्थानीय राजा थे। उनमें से प्रत्येक राजा के साथ एक उपराजा, एक सेनापति एवं एक भंडारक (कोषाध्यक्ष) सहायतार्थ रहते थे। इससे यही सिद्ध होता है कि संघ में सभी राजाओं का अधिकार एवं पद बराबर था, और अपने राज्य के शासन सम्बन्धी अनेक विषयों में वे सर्वथा स्वतन्त्र थे, पर शासन-क्षेत्र में कहाँ उनका व्यक्तिगत और कहाँ सामूहिक अधिकार लागू होता था, इसका उल्लेख प्राप्त नहीं है।

मिथिला के वैशाली-राज्य एवं वज्जि-संघ

पाणिनि (४-२-१३१) तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र (३९८) से पता चलता है कि वज्जियों एवं लिच्छवियों का अस्तित्व पृथक्-पृथक् था। हुएन्-त्सं का यात्रा-वृत्तान्त भी इस तथ्य का अनुमोदन करता है (वाट्टरस-२, ८१ तथा ६३; मललसेकर : डिक्शनरी ऑफ पाली प्रोपर नेम्स, २, ७८२; डॉ० वी० सी० लॉ : क्षत्रिय ट्राइब्स -२१-२२)। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वज्जि केवल संघ का ही नाम नहीं था, वरन् उस नाम का लिच्छवियों के वैशाली राज्य के समान ही एक राज्यविशेष भी था। यह भी सम्भव हो सकता है कि लिच्छवी एवं विदेह दोनों को संयुक्त रूप से वज्जि कहा जाता हो। चम्पारण के आर्य निवासियों को उसके पड़ोस के निवासी थारू लोग 'बजी' कहते हैं (जरनल ऑफ दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, ६, २६१)। नेपाल के निवासी अन्य-देशीय व्यक्तियों को 'वजीय' कह कर सम्बोधन करते पाये जाने हैं (विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूप-रेखा -३१२)।

उपर्युक्त उल्लेख से इस निष्कर्ष पर पहुँचना संभव हो जाता है कि वज्जि एक विशाल अथवा सम्मिलित राज्य का नाम था, और उसकी कई शाखाएँ थीं। उन शाखाओं में वैशाली के लिच्छवी, मिथिला के विदेह आदि का समावेश होना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। इस प्रकार वैशाली का लिच्छवि-राज्य वज्जि-संघ-राज्य के एक प्रमंडल का स्थान रखता रहा होगा। वज्जि-संघ अथवा संवृज्जि उसके सदस्य सामन्त राज्यों के सम्मिलित समूह की उपाधि थी, ऐसा मानना अनुचित न होगा (जनरल ऑफ ऐशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल— ७, ९९२; कनिंगहम : ऐन्शिएन्ट ज्योगरफी ऑफ इण्डिया-५०९)। कुछ लोगों की यह भी राय है कि वज्जि अथवा वृज्जि विदेहों की ही एक शाखा का नाम था, जिसकी राजधानी सातवीं शती में मिथिला में थी (कल्पसूत्र, सेकरेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, १२, भूमिका)। वज्जि संघ के गणराज्य की राजधानी एवं मुख्य कार्यालय भी लिच्छवियों की पुराण-प्रसिद्ध राजधानी वैशाली में ही थे। महाभारत युद्ध-काल में वैशाली का राजनीतिक अस्तित्व स्वतन्त्र था। संघ-राज्य की राजधानी होने के कारण छठी शताब्दी के बुद्ध-युग में वैशाली को सम्पूर्ण उत्तर बिहार की राजधानी होने का गौरव प्राप्त था।

आरम्भ में संघ राज्य का वज्जि-संघ नाम था, पर पीछे चलकर लिच्छवियों की संघ राज्य में प्रधानता के कारण वज्जि नाम विस्मृत होने लगा, और वह लिच्छवि-गणतन्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। श्री डी० आर० रेग्मी की राय में नेपाल में रहनेवाले नेवार जाति के लोग व्रिजि वा वज्जि वंश के हैं। उनका अस्तित्व ईसापूर्व छठी शताब्दी में ही था (जनरल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी—३५, पृ० ३०; डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला-पृ० १०९)। वैशाली के लिच्छवि-गणतन्त्र के साथ संलग्न ३ मंडल थे, यथा (१) वैशाली सदर, (२) कुंदपुर तथा (३) वनियाँ ग्राम। उस संघ के अन्य राज्य उसके आस-पास के थे। उनमें कुन्दन ग्राम, कोल्लग, नदिक एवं हाथी ग्राम के नाम आते हैं। जैनियों के २४वें तथा अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी का जन्म इसी कोल्लग ग्राम में हुआ था, जिसकी चर्चा विशद रूप से पूर्व में की जा चुकी है।

वैशाली के लिच्छवि क्षत्रिय थे, इसका प्रमाण प्राचीन ग्रन्थों से भी मिलता है। 'महा परिनिब्बान सुत्तम्' में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि वैशाली के लिच्छवि क्षत्रिय कुलोद्भव थे (६, २४)। श्री एन० के० भागवत द्वारा सम्पादित 'दीघनिकाय' में भी अंकित किया गया है कि— 'भगवनपि खत्तियो अहमपि खत्तियो'। यह कहा जाता है कि जब लिच्छवियों ने तथागत के देहावसान का समाचार सुन लिया तब वे कुशीनगर गये, और क्षत्रिय होने के नाते वहाँ के मल्ल-भूप से भगवान् बुद्ध के ऐहलौकिक शरीर के भस्मावशेष एवं अस्थ्यवशेष का एक अंश माँगा ; क्योंकि भगवान् बुद्ध भी क्षत्रिय वंशावतंस थे और कुशीनगर के नृपति भी वैशाली के लिच्छवियों की भाँति क्षत्रिय ही थे। इस तथ्य का प्रतिपादन 'सुगल जातक' (फ़ाउसवौल्ल २, ५); 'सुमंगल विलासिनी' (१,३१२), 'सेकरेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट'-(२२, पीपी० १२, २२७); रौकहिल-'दि लाइफ आफ बुद्ध' (१९०७ संस्करण, पृ० २०३); 'दिव्यावदान' (काउवेल्ल एंड नेल सम्पादित, ५५-६, १३६); 'महावस्तु' (१,२५४) डा० वी० सी० लॉ : ट्राइब्स ऑफ ऐन्शिएन्ट इण्डिया (२९४-९८) आदि ग्रन्थ भी करते हैं।

श्री वी० ए० स्मिथ साहब एवं श्री सतीश चन्द्र विद्याभूषण ने अपने-अपने तर्क के आधार पर लिच्छवियों को तिब्बतीय तथा परशियन मूल का बताया है। इस विषय की विवेचना की जा चुकी है। स्मिथ साहब ने कुछ लिच्छवियों को पारसियों के जैसा मृत व्यक्तियों के शवों को खुले स्थानों में छोड़ने की प्रथा का पता लगाकर कह दिया कि वे सम्भवतः पारसी मूल के हैं। किन्तु इस निष्कर्ष पर पहुँचने में उन्होंने बहुत शीघ्रता दिखायी, स्यात् उन्हें यह मालूम नहीं था कि उस प्रकार की प्रथा प्राचीन वैदिक आर्यो में भी प्रचलित थी। अथर्ववेद में इसका उल्लेख है, यथा—''ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः सर्वांस्तानग्न आवह पितृन् हविषे अत्तवे''। 'आपस्तम्ब' (१,८७), 'इण्डियन ऐन्टीक्वेरी' (३२,२३४), डा० वी० सी० लॉ० : ट्राइब्स इन एन्शिएन्ट इण्डिया', (३०२-०३) 'अथर्ववेद संहिता' (रौज तथा ह्विटने-पृ० ३३९) आदि ग्रन्थों से भी उपर्युक्त अवतरण में निहित तथ्य का पृष्ठपोषण होता है। वैशाली के लिच्छवि भी उन्हीं वैदिक आर्यों की सन्तानों में से थे। अतः अपने पूर्वजों की प्रथा का अनुसरण करना और उनके पदचिह्नों पर चलना उनके लिए अस्वाभाविक नहीं था। विद्याभूषण जी ने मनुस्मृति के दशम अध्याय के श्लोकांक २२, जिसका उल्लेख पूर्व में हो चुका है, में लिच्छवि शब्द को

देखकर सम्भवतः ऐसा अनुमान लगा लिया कि ये निच्छवि (लिच्छवि) निसिविस से आकर इस देश में बस गये (जनरल ऑफ एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल-१९०२, पृ० १४२-४८; इण्डियन ऐन्टीक्वेरी-३७, ७९)। पर मनुस्मृति का 'निच्छवि' शब्द उसी वर्ग के लिए व्यवहृत हुआ जिसे सम्प्रति 'लिच्छवी' कहते हैं। क्योंकि 'निच्छवि' क्षत्रियों की अलग जाति का अस्तित्व भारत के किसी वंश में नहीं पाया जाता है।

श्री स्पूनर साहब ने बसाढ़ की खुदाई से प्राप्त मन्दिर की मोहर (आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट-१९१३-१४, ४९, न० ६०७) में अंकित आकृति को पारसियों की अग्नि-पूजा का प्रतीक तथा प्रतिरूप मान कर श्री विद्याभूषण जी के विचार (जनरल ऑफ दि ऐशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९०२, १४२-४८; इण्डियन एन्टीक्वेरी-३७, ७९) का, जिसमें लिच्छवियों का पारसी मूल का बताया था, का अनुमोदन किया है। उनके मत में 'भगवत आदित्यस्य', 'अदित्स्य', 'रविदासः' आदित्य का गुप्तों के शासन के युग में अंकन पूर्वीय भारत में पारसी-संस्कृति, जिसमें आदि की पूजा की प्रधानता है, के उस काल में प्रचार का द्योतक है। परन्तु यह मान्यता स्वीकार कर लेने योग्य नहीं है। भारतीय आर्यों में सूर्यदेव की प्रधानता ऋग्वेद के युग से मानी जा रही है। अग्नि, इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि की पूज्य रूप में चर्चा वैदिक साहित्य में अति प्राचीन है। उत्तर बिहार के विदेह एवं वैशाली में वैदिक अग्नि-पूजन की स्थापना विदेघ माथव के सरस्वती-तट से पूर्व की ओर के विजय अभियान-काल में ही हो चुकी थी, जिसका वर्णन संक्षेप में इसके पूर्व किया जा चुका है।

विदेह एवं वैशाली राज्यों के संस्थापक, दोनों ही इक्ष्वाकु-कुलीय सूर्यवंशीय क्षत्रिय थे, इसका भी वर्णन हो चुका है। परन्तु वैशाली की चर्चा सर्वप्रथम पुराणों में ही हुई है, ब्राह्मण ग्रन्थों में नहीं।

श्री एफ० ई० पार्जीटर साहब के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ऐन्शिएन्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रैडीशन' से पता चलता है कि महाभारत-युद्ध के पश्चात् मनु के वंशधरों के केवल तीन राज्य अयोध्या, विदेह एवं वैशाली में शेष रह गये थे। महाभारत-युग के पश्चात् से लेकर बुद्ध एवं महावीर के काल के बीच की अवधि में इन राज्यों की क्या दशा थी, इसके विषय में इतिहास अनभिज्ञ है। कई शताब्दियों के पश्चात् वैशाली एवं वज्जि संघ को बुद्धकालीन उत्तर-पूर्व भारत के इतिहास में अत्युच्च स्थान पर प्रतिष्ठित रहने का स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होता है। इस काल को भारत के ऐतिहासिक युग का आरम्भ काल कहा जाता है। इसके पूर्ववर्त्ती काल की संज्ञा प्रागैतिहासिक युग दी गयी है। गौतम बुद्ध एवं महावीर ईसा-पूर्व पाँचवी एवं छठी शताब्दियों में इस धराधाम पर विद्यमान थे। बुद्ध-युग की वैशाली का वर्णन पूर्व में किया जा चुका है।

गिलगिट हस्तलिखित ग्रन्थ (वाल्यूम-३, भाग-२) के अनुसार वैशाली के तीन विभागों में क्रमशः सात सहस्र, चौदह सहस्र तथा इक्कीस सहस्र कूटागारों के स्वर्ण, रजत एवं ताम्र के शिखर थे, और उनमें क्रमानुसार उच्च, मध्यम, तथा निम्न श्रेणी के लोग निवास करते थे (वी० सी० लॉ : वाल्यूम, पार्ट-१, पृ० १३४)। महावस्तु (वाल्यूम-१, पृ० २९८-९९) के अनुसार वैशाली के निवासियों का वर्गीकरण आभ्यन्तर वैशालिक एवं

वहिर् वैशालिक के रूप में किया गया था। वैशाली नगर के निवासियों को आभ्यन्तर वैशालिक कहा जाता था और बृहद् वैशाली के निवासियों को, जिनमें वैशाली नगर के निवासियों की गिनती नहीं थी, वहिर् वैशालिक की संज्ञा दी गयी थी। वैशाली की जन-संख्या १६८००० थी। श्री एच० ओल्डेनबर्ग तथा टी० डब्ल्यू० रीस डैविड द्वारा सम्पादित 'सेकरेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, विनय टेक्स्ट,' औक्सफोर्ड १८८१-८५, 'महावग्ग' के अनुसार जन-संकुल उन्नत नगर वैशाली में ७७०७ बहुमंजिला प्रासाद, ७७०७ शिखरयुत गृह, ७७०७ आराम तथा ७७०७ कमल-सुशोभित सरोवर थे। राजाओं की संख्या भी ७७०७ थी, जिसका वर्णन किया जा चुका है। इस उल्लेख में अत्युक्ति की भी संभावना हो सकती है। पर इसमें सन्देह नहीं है कि वह आदर्श राजनगर उस काल विभव, शोभा एवं शक्ति में अद्वितीय था। उसकी आबादी अति घनी थी। वैशाली के प्रसिद्ध चैत्यों में पूर्व में उदेन चैत्य, दक्षिण में गोदमक चैत्य, पश्चिम में सप्तामरक अथवा सत्ताम्ब चैत्य तथा उत्तर में बहुपुत्र चैत्य थे। इनके अतिरिक्त कपिनह्य, सारन्दद, मर्कट ह्रद, एवं सापाल नामक चैत्य भी नगर को सुशोभित कर रहे थे। ये सभी चैत्य भगवान् बुद्ध को भक्ति भाव से अर्पण किये गये थे। वैशाली की तुलना देव-पुरी (स्वर्ग) से की जाती थी तथा उसे भूतल का स्वर्ग भी कहा जाता था।

प्राचीन वैशाली नगर का पता सर्वप्रथम महाविद्वान् कनिंगहम ने लगाया था। यह जेनरल कनिंगहम पुरातत्त्व का अनुभवी पंडित था। उसने अपने अनुभव के बल पर दृढ़तापूर्वक इस तथ्य का उद्घाटन किया कि मुजफ्फरपुर जिलान्तर्गत हाजीपुर अनुमंडल के बसाढ़ गाँव का खण्डहर ही वैशाली नगर एवं राजा विशाल के गढ़ का अवशेष है (आर्कियोलौजिकल सर्वे रिपोर्ट, वाल्यूम-१,५५-५६, वाल्यूम १६, ६)। सेन्ट मार्टिन जैसे मनीषियों ने जेनरल कनिंगहम के तर्क को स्वीकार कर लिया, पर सुधी समाज के अनेकानेक शोधशील विद्वानों ने इस खोज को अन्तिम रूप में मान लेने में आनाकानी की (रीस डेविड्स : बुद्धिस्ट इण्डिया ४१; जनरल ऑफ दि ऐशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल १९००, पार्ट-१ पृ० ७८, ८३; जरनल ऑफ दि रॉयल एशिएटिक सोसाइटी-१९०२, २६७, ३)। किन्तु टी० ब्लॉक साहब ने पुरातत्त्व विभाग की ओर से १९०३-४ ई० में बसाढ़ के राजा विशाल के गढ़ नाम से प्रसिद्ध टीले की जब खुदाई करवायी तब उससे प्राप्त अनेक मिट्टी की मोहरें तथा अन्यान्य उपकरणों ने अन्तिम रूप से स्पष्टतया सिद्ध कर दिया कि वही स्थान प्राचीन वैशाली का स्थानापन्न है। ब्लौक के बाद स्पूनर साहब ने उसी स्थान की खुदाई १९१३-१४ में करवायी थी। उस काल को वहाँ से प्राप्त सामग्रियों ने कनिंगहम की मान्यता को और भी पुष्ट कर दिया, और दृढ़तापूर्वक बता दिया कि लिच्छवियों की राजधानी का स्थान वही है। ब्लौक की खुदाई ने गुप्त-काल तक का रहस्योद्घाटन किया था। पर स्नूपून साहब की खुदाई ने कुशाण, शुंग, एवं मौर्य काल तक पहुँच कर उन सबों के उस भूमि पर अधिकार एवं आधिपत्य की कथा को स्पष्ट कर दिया। इन खुदाइयों से ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी से लेकर चौथी शती खिष्टाब्द तक की वैशाली अथवा राजा विशाल के गढ़ की राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश पड़ा। यदि अब तक की गयी खुदाई से और अधिक नीचे की सतहों तक पहुँचने का प्रयत्न पुरातत्त्व विभाग करे तो निश्चय ही बुद्धकालिक एवं प्रागैतिहासिक काल की वैशाली के राजनीतिक इतिहास पर भी विशेष प्रकाश पड़ने की आशा की जा सकती है।

मिथिला में चीनी यात्री

जिन चीनी यात्रियों ने मिथिलान्तर्गत वैशाली की यात्रा की थी, उनमें फाहियान, वांग-हुएन्-त्सी, सुंग-युन, हुएन्-त्सं एवं इत्-सिंग के नाम उल्लेखनीय हैं । फाहियान ने पाँचवीं शती के आरम्भ में, वांग-हुएन-त्सी ने छठी शताब्दी में दो बार, सुंग-युन ने छठी शती में, हुएन्-त्सं ने सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तथा इत्-सिंग ने सातवीं शती के उत्तरार्द्ध में भारत की यात्रा की थी, और वे सभी तिरहुत भी आये थे ।

फाहियान ने चन्द्रक के बुद्ध भगवान् से विदा लेकर लौटने के स्थान का वहाँ जाकर दर्शन किया था । कुशीनगर में, जहाँ तथागत का शरीरावसान हुआ था, जाकर भगवान् के भस्मावशेष-स्तूप के प्रति उसने श्रद्धांजलि अर्पित की थी । वहाँ से वह वैशाली आया । अपने यात्रा-वृत्तान्त में उसने बुद्ध भगवान् के परिनिर्वाण के विषय में उनके एवं आनन्द के बीच वैशाली में हुए वार्त्तालाप का वर्णन किया है । मगध राज्य की द्वितीय राजधानी पाटलिपुत्र एवं वैशाली राज्य के बीच गंगानदी के मध्य में आनन्द का योगाग्नि-द्वारा परिनिर्वाण प्राप्त करना तथा उसके शरीरावशेष का दोनों राज्यों के नृपतियों के बीच बँटवारे का भी वर्णन उसने किया है ।

वांग-हुएन्-त्सी ने अपने द्वितीय भारत-यात्रा-काल में बौद्ध भिक्षुओं को वैशाली में परिधान-दान दिया था ।

सुंग-युन ने चन्द्रक के बुद्ध भगवान् से विदा लेकर लौटने के स्थान का उल्लेख अपने यात्रा-वृत्तान्त में किया है, तथा पश्चिम में परशिया की सीमा से लेकर पूर्व में चीन की सीमा पर खोतान तक के ४० देशों का वर्णन किया है, और उसी क्रम में दक्षिण में टीह-लो नामक स्थान का उल्लेख भी किया है । सम्भवतः उस टीह-लो से उसका मन्तव्य वर्तमान तिरहुत (तीरभुक्ति वा तिरहुत) से ही था ।

हुएन्-त्सं ने कन्नौज-सम्राट् हर्षवर्द्धन शिलादित्य के शासनकाल में भारत की यात्रा की थी । उस नृप की मृत्यु लगभग ६४८ ई० में हुई । उस यात्री ने कुशीनगर, चन्द्रक के प्रत्यागमन का स्थान, वैशाली, राजगृह आदि स्थानों की यात्रा की थी, जिसका मनोरंजक वर्णन उसने अपने यात्रा-वृत्तान्त में किया है । उसने अंकित किया है कि सम्राट् अशोक ने गहन वन के बीच चन्द्रक के भगवान् बुद्धदेव से विछोह होने के स्थान में एक भव्य एवं विशाल स्तूप का निर्माण किया था । उसने वहाँ से आगे जंगली हाथियों, हिंस्र जन्तुओं एवं तस्करों से परिपूर्ण भयंकर अरण्य मार्ग से कुशीनगर की यात्रा की थी ।

हुएन्-त्सं के यात्रा काल में तिरहुत हर्षवर्द्धन के विशाल साम्राज्य का एक अंग था । कहा जाता है कि उसका एक मन्त्री अर्जुन अथवा अरुणाश्व तिरहुत (मिथिला) का रहनेवाला कोई सामन्त राजा था, जिसने हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् अपने को स्वतन्त्र घोषित कर साम्राज्य के कुछ अंश को कुछ काल के लिए स्वायत्त कर लिया था । चीनी साहित्य उसके द्वारा कन्नौज सिंहासन पर आधिपत्य स्थापित कर लेने की कथा का वर्णन करता है । किन्तु उसका समर्थन किसी भारतीय साहित्य, इतिहास अथवा प्रचलित अनुश्रुतियों से नहीं होता है ।

हर्षवर्द्धन के जीवन-काल में चीन-सम्राट् के साथ उसका कूटनीतिक दौत्य सम्बन्ध

था। दोनों साम्राज्यों के बीच दूत मंडली का आदान-प्रदान होता था। हर्षवर्द्धन ने एक ब्राह्मण दूत को चीन-सम्राट् के पास ६४१ ई० में भेजा था। वह वहाँ से ६४३ ई० में लौटा, और उसके साथ चीन से एक दूत-मंडल हर्ष के पत्राचार का उत्तर लेकर कन्नौज पहुँचा। वह दूतमंडल भारत में ६४५ ई० तक रहा। दूसरे वर्ष वांग-हुएन्-त्सी के नेतृत्व में दूसरे दूत-मंडल ने चीन से भारत के लिए प्रस्थान किया। वह वांग-हुएन्-त्सी पूर्ववर्ती दूतमंडल के साथ भी उपनायक के रूप में भारत आ चुका था। इस बार ३० घुड़सवारों का रक्षक-दल भी उसके साथ था। उसके भारत पहुँचने के पूर्व ६४८ ई० में सकल उत्तरापथ-नाथ सम्राट् हर्ष की मृत्यु हो गयी। शक्तिशाली शासक का देश में अभाव हुआ। फलतः जनपद में विप्लव आरम्भ हो गया। दुष्काल और दुर्भिक्ष ने प्रज्वलित अग्नि में घृताहुति का काम किया।

चीनी लेख के अनुसार कहा जाता है कि अर्जुन अथवा अरुणाश्व हर्षवर्द्धन के मन्त्रियों में से एक था, जो मूलतः मिथिला का अधिवासी था। उसने अपने को कन्नौज-साम्राज्य से स्वतन्त्र कर महोदय-श्री (कान्यकुब्ज की राजधानी) के सिंहासन पर अधिकार कर लिया, तथा नवागत चीनी दूत-मंडल के साथ दुर्व्यहार कर चीनी रक्षा-दल के सदस्यों में से कतिपय की हत्या कर दी, और उन सबों के साथ की सम्पत्ति भी लूट ली गयी। वांग-हुएन्-त्सी और उसके अधिकांश सहयोगियों के प्राण भाग्य से बच गये, और रात्रि के अन्धेरे में उन सबों ने तिरहुत से निकल कर नेपाल में शरण ली। वहाँ पर नेपाल-नरेश ने उन सबों का स्वागत किया। वहाँ से आगे चलकर वह तिब्बत पहुँचा। नेपाल तथा तिब्बत के राजाओं के विषय में बताया जाता है कि दोनों ही तत्कालीन चीन-सम्राट् के सम्बन्धी थे। यह बात भी प्रसिद्ध है कि तिब्बत-भूप का एक विवाह नेपाल-नरेश की कन्या से हुआ था तथा दूसरा चीन-समाट् की पुत्री के साथ।

चीनी साहित्य के उल्लेख के आधार पर कई इतिहासकारों की धारणा है कि चीनी दूतमंडलों के नेता वाङ्ग-हुएन्-त्सी की प्रार्थना पर तिब्बत-भूप स्त्रौंग-त्सान-गम्पो ने एक सहस्र अश्वारोही सैन्य सहायतार्थ उसके साथ भेजा। नेपाल से भी उसे सात हजार सुशिक्षित सैन्य की टुकड़ी मिली। इस क्षुद्र सैन्य-दल के साथ उसने अरुणाश्व के ऊपर आक्रमण किया। तीन दिनों तक तिरहुत के प्रधान नगर के चतुर्दिक् घेरा डालकर अन्त में उसने उसे पूर्णतया विनष्ट कर दिया। उसने वहाँ तीन सहस्र सैनिकों का शिरोश्च्छेद किया तथा दश सहस्र को निकटस्थ नदी में डुबा कर मार डाला। उस युद्ध में पराभव पाकर राजा अर्जुन (अरुणाश्व) भाग गया, पर पुनः सैन्य एकत्रित कर युद्ध करने के हेतु रणक्षेत्र में उपस्थित हुआ। इस बार भी वह पराजित हुआ तथा शत्रु के हाथ रणबन्दी बना। विजेता चीनी सरदार ने शीघ्र एक सहस्र बन्दियों को छिन्न-मस्तक किया, और राजपरिवार के सभी सदस्यों को बन्दी बना लिया। उसने इसके अतिरिक्त और भी बारह हजार नागरिकों को कैद किया, और उसके साथ तीस हजार पशु-धन भी लूटकर वह अपने साथ लेता गया। चीनी साहित्य में यह भी उल्लेख है कि इस विजय के बाद देश के ३८० प्राकार-वेष्टित नगरों ने उसकी अधीनता स्वीकार की, और पूर्वी भारत के राजा कुमार (स्यात् कामरूप का भास्कर वर्मन्), जिसने कुछ दिन पूर्व हर्ष के धार्मिक समारोह में एक अधीन नृपति की भाँति भाग लिया था, ने विजयी सेना की अभ्यर्थना में अत्यधिक पशु, घोड़े तथा सामरिक परिधान एवं उपकरण भेंट में भेजे। वांग-हुएन्-त्सी

कन्नौज-सिंहासन को बलात् स्वायत्त करनेवाले अर्जुन को अपने साथ बन्दी के रूप में चीन ले गया, और वहाँ जाकर उसने उसे चीन-सम्राट् के समक्ष उपस्थित किया । उसके इस कार्य के कारण उसकी वहाँ बड़ी प्रतिष्ठा हुई, और साथ ही पदोन्नति भी (लेफ्टीनेन्ट करनल वार्डन: तिब्बतियन इनवेजन ऑफ इण्डिया इन ६४७, ऐंड इट्स रिजल्ट; एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, रिव्यू, जनवरी, १९११ ई० और भी उसी का बुद्धिज्म और लामाज ऑफ तिब्बत १८९५ ई०, पृ० २०-४१; शरत्चन्द्र दास : जनरल ऑफ ऐशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, वॉल्यूम १, भाग-१, १८८१, पृ० २१७-२२; सर एम० ए० स्टिनस : एन्शिएन्ट खोतान, १९०; वट्टर्स : वर्क ऑन वानच्यांग, १, २) ।

यह स्पष्ट जान पड़ता है कि चीनी साहित्य का उपर्युक्त वर्णन बहुत बढ़ा-चढ़ाकर लिखा गया है । केवल आठ सहस्र सैनिकों के तुच्छ सेना-दल को लेकर कन्नौज की विशालवाहिनी, जिसकी संख्या छः लाख से कदापि कम न थी, को परास्त कर देना किसी दशा में सम्भव न था । इसके अतिरिक्त कन्नौजेश्वर को बन्दी बनाकर भी चीनी नायक ने कान्यकुब्ज-साम्राज्य पर अधिकार क्यों न कर लिया ? जब वाङ्ग-हुएन्-त्सी एक अति छोटी सेना लेकर कन्नौज पर विजय प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर रहा था, उस समय हर्षवर्द्धन का प्रख्यातनामा, लब्ध-प्रतिष्ठित, रणकुशल एवं परीक्षित सेनापति भाण्डि तथा उसके अधीनस्थ ६०००० का गज-दल, १००००० का अश्व-दल (आ० सी० मजुमदार : ऐन्शिएन्ट इण्डिया, पृ० २६४) और लगभग ५००००० का पैदल सैनिक उस तथाकथित समरकाल में सोये क्यों रह गये, आदि प्रश्नों का हल करना उपर्युक्त वर्णन की सत्यता को सर्वतोभावेन स्वीकार कर लेने के पूर्व अत्यावश्यक है । सम्राट् हर्षवर्द्धन ने अपनी उसी विशालवाहिनी एवं अप्रतिम वीर सेनापति की सहायता से तो दिग्विजय की थी । अपने विशाल साम्राज्य की शत्रुओं से रक्षा भी अपनी उसी सेना की शक्ति से उसने अपनी मृत्यु के पूर्व तक की थी, यह निर्विवाद है । इन तथ्यों पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि चीनी साहित्य का एतद्विषयक लेख अत्युक्तिपूर्ण एवं एकपक्षीय है । उसमें सच्ची ऐतिहासिकता का अभाव है ।

यदि कुछ काल के लिए यह अनुमान कर लिया जाय कि अरुणाश्व का अधिकार कन्नौज के सिंहासन पर हो चुका था तो निस्सन्देह वह उस काल सकल उत्तरापथनाथ था । जब चीनियों ने उसे कन्नौज जाकर पराजित किया तथा बन्दी बना लिया तब उसके राजनगर महोदय-श्री पर आधिपत्य स्थापित क्यों नहीं किया ?

एक बात और । अरुणाश्व ने बिना किसी उत्तेजना के विदेशी चीनी अतिथियों को मारा ही क्यों ? चीन से जो उपहार आये होंगे, वे सब तो सम्राट् होने के नाते उसे ही मिलते । तब उन्हें लूटने की उसको क्या आवश्यकता थी ? ये बातें विचारने की है । चीनियों की सहायता में तिब्बतियों ने युद्ध कर भारतवर्ष के कुछ अंश पर किंचित् काल के लिए यदि विजय प्राप्त की तो वह कन्नौज राष्ट्र पर की विजय कदापि नहीं कही जायगी । अर्जुन अथवा अरुणाश्व ने यदि चीनी दूत-मंडल के सदस्यों को अपमानित किया तो वह घटना वैयक्तिक एवं स्थानीय रही होगी, राष्ट्रीय नहीं । चीनी लेख के अनुसार युद्ध तिरहुत में हुआ था, महोदय-श्री में नहीं । भारतीय राष्ट्र का उस प्रकार के झगड़े से कोई सम्बन्ध प्रमाणित नहीं होता है । भारत और चीन में मित्रता चली आ रही थी । उस काल

तक उसमें किसी प्रकार की कोई झंझट उत्पन्न नहीं हुई थी । वह तथाकथित घटना आकस्मिक थी । वांग-हुएन्-त्सी ने कन्नौज राज्य की विजय की, यह कथा पूर्णतया निर्मूल है, इसमें सन्देह नहीं ।

हाँ, यह सम्भव हो सकता है कि तिरहुत का कोई छोटा सामन्त राजा अर्जुन ब्राह्मण (वैदिक) धर्म का अनुयायी रहा होगा । ब्राह्मणों को बौद्धों एवं बौद्ध धर्मावलम्बियों से विद्वेष था ही । हर्ष के मृत्यु के बाद शासन-सूत्र किंचित्-काल के लिए ढीला पड़ गया था । चीनी राजदूत को नेपाल होते हुए तिरहुत होकर कन्नौज जाना था; क्योंकि नेपाल से कन्नौज (महोदय-श्री) जाने के मार्ग में तिरहुत (मिथिला) पड़ता था । बौद्ध-धर्मावलम्बी भूप हर्ष के मृत्यु-समाचार से उत्साहित अर्जुन ने चीनी दूत-मण्डल के बौद्ध सदस्यों के साथ दुर्व्यवहार किया हो, यह सम्भव हो सकता है । दूत-मंडल का नेता नेपाल और तिब्बत की सहायता से प्रतिशोध में उस क्षुद्र राज्य के स्वामी अर्जुन अथवा अरुणाश्व को युद्धबन्दी बनाकर चीन ले गया हो, यह भी असम्भव नहीं हो सकता है । पर अर्जुन को समस्त उत्तरापथ-नाथ के कन्नौज-साम्राज्य-सिंहासन का अपहारी बताकर उस पर की विजय को भारत-विजय का ढिंढोरा पीटना डींग मारने और हाँकने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता है । किन्तु इसमें कुछ सन्देह नहीं कि उपर्युक्त घटना के कारण कुछ काल के लिए नेपाल के साथ-साथ तिरहुत पर भी तिब्बत का अधिकार हो गया । चीनी अभिलेख यह भी बताता है कि तिरहुत पर तिब्बत का शासन केवल आधी शताब्दी तक (६४८ से ७०३ ई० तक) रह सका (मि० ई० एच० : हिस्ट्री ऑफ तांग डाइनेस्टी ऑफ चीन) । नेपाल ने भी इस काल तक अपने को तिब्बत के आधिपत्य से स्वतन्त्र कर लिया था । उपर्युक्त अभिलेख में अंकित किया गया है कि ७०३ ई० में नेपाल और तिरहुत दोनों ने ही तिब्बत की प्रभुसत्ता से अपने को स्वतंत्र कर लिया । तत्कालीन तिब्बत-नरेश का उनके विरुद्ध अभियान में विनाश हुआ (दि जरनल ऑफ दि मैनचेस्टर ओरिएन्टल सोसाइटी, १९११, पृ० १३३; वी० ए० स्मिथ का लेख, पृ० ५५५-५६; जनरल ऑफ दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, दिसम्बर, १९१७, वाल्यूम-३, भाग-४; जनरल ऑफ दि रॉयल एशिएटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयर लैंड, १८८०, पृ० ५२८, ५४६, ५५६; एन्टीक्विटीज ऑफ तिब्बत, वाल्यूम-२, पृ० ८२; इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, १९१६, पृ० ३९; इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली १५ (पूरक), ५९-६२) । श्री पी० सिलभ्यां लेवी के मतानुसार नेपाल ने ७०२ ई० में तिब्बत की प्रभुसत्ता से अपने को मुक्त कर लिया, और उसके उपलक्ष्य में वहाँ एक सम्वत् भी चलाया गया (ली-नेपाल, वाल्यूम-२, १९०५, पृ० १८२) । सम्भवतः परवर्त्ती गुप्तवंशीय राजा आदित्य सेन ने तिब्बतियों के पंजे से तिरहुत का उद्धार कर उसे स्वतन्त्र किया था । श्री के० पी० जायसवाल की खोज के अनुसार यह घटना ७०५ ई० में घटी । कुछ विद्वान् इसे ७०४ ई० की घटना बताते हैं ।

हुएन्-त्सं के वर्णनानुसार वैशाली राज्य की सीमाओं के घेरे का जोड़ लगभग १००० (एक हजार) मील था । उसमें राजधानी वाले नगर का घेरा १२ मील का था । जनपद की भूमि अति उर्वरा थी । आम, केले के साथ-साथ सभी प्रकार के फलों एवं फूलों का उत्पादन राज्य में होता था । सारा जनपद समृद्ध एवं धन-धान्य-सम्पन्न था ।

राज्य की जनता अध्ययनशील तथा धार्मिक विचार रखनेवाली थी (रीस डेविसं : लाइफ ऑफ हिउएन्त्सियांग, १९१४ ई०)। उसके यात्रा-काल में नगर में हिन्दू, जैन एवं बौद्ध तीनों सम्प्रदायों के लोग निवास करते थे, जिनमें बौद्धों की संख्या सन्तोषजनक न थी। नगर के लगभग सभी बौद्ध-विहार, उपवन एवं कानन विनष्ट हो चुके थे। केवल तीन अथवा चार चैत्य बचे थे, जिनमें कतिपय बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। जैन मतावलम्बियों की संख्या वहाँ प्रचुर थी। अनेक प्राचीन बौद्ध मन्दिरों में हिन्दू पूजन करते पाये गये थे (डॉ० ब्लौच-रिपोर्ट ऑफ आरकियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, १९०३-४)। गौतम बुद्ध को हिन्दू विष्णु भगवान् का अवतार मानने लग गये थे।

हुएन्-त्सं ने यह भी लिखा है कि वैशाली से संलग्न वज्जियों का राज्य था, जिसकी राजधानी चानसुन (जनकपुर) में थी, नगर नष्ट हो चुका था। उस राज्य का घेरा लगभग ३०० मील का था। इसी चानसुन को जनकपुर अथवा जानकीगढ़ मानकर अनेक विद्वानों ने विदेह-राज्य की राजधानी नेपाल तराई के महोत्तरी जिले में स्थित वर्तमान जनकपुर को न स्वीकार कर चम्पारण जिले के लौरिया नन्दनगढ़ के निकटवर्ती जानकीगढ़ को मानने की बौद्धिक चेष्टा लेखों द्वारा की थी, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। हुएन्-त्सं के अनुसार उसके यात्रा-काल तक उस अंचल की जनता में से अधिकांश ने बौद्ध धर्म का परित्याग कर दिया था।

लिच्छवियों की न्याय-पद्धति चीनी यात्रियों के लेखानुसार अति श्लाघ्य थी। जब तक अभियुक्तों के विरुद्ध दोष पूर्णतया एवं अन्तिम रूप से प्रमाणित नहीं हो जाता था, तब तक उसे दण्ड नहीं दिया जाता था। इस कार्य के हेतु उनकी दंड-संहिता अपनी थी, जिसका नाम था 'पवनी पोत्थकर' (सम्भवतः प्रमाण पुस्तक), जिसके विधानानुसार अभियोगों का निर्णय किया जाता था।

वज्जिसंघ का पतन और उसके कारण

ईसा-पूर्व ७वीं शती एवं ६ठीं शती के उत्तरार्द्ध के वज्जि संघ का इतिहास उसके आरोह का इतिहास है। पर कहावत प्रसिद्ध है कि 'सबै दिन नहीं एक से जात'। आरोह के पश्चात् अवरोह के आगमन का साक्ष्य निश्चित रूप से संसार का पश्चाद्वर्त्ती इतिहास देता आया है।

उपर्युक्त महाप्रबल सामन्तशाही गणतान्तित्रक संघ को अन्ततोगत्वा अपने बुरे दिन देखने पड़े। उसका पतन उसके प्रतिद्वन्द्वी उदीयमान मगध-साम्राज्य के तानाशाह अजातशत्रु द्वारा लगभग ५४३-४४ ईसा-पूर्व वर्ष में आरम्भ होकर ही रहा। इतिहासज्ञों के विचार में उस पतन के कई कारण थे।

श्री के० पी० जायसवाल (हिन्दी पोलिटी, १४१) के अनुसार मौर्यों के साम्राज्यवादी युग में मौर्य राजनीतिज्ञों की नीति पारस्परिक सहायता-सूत्र में बँधे शक्तिशाली गणतन्त्रों के प्रति छेड़-छाड़ न करने, तथा अन्य अकेले पड़े ऐसे राज्यों (गणतन्त्रों) को उनमें आन्तरिक फूट उत्पन्न कर उन्हें बलहीन बनाने और पीछे बल-प्रयोग द्वारा उनको मिटा देने की थी। मालूम पड़ता है कि मौर्यों की यह नीति उसके पूर्ववर्त्ती हर्यंक राजकुल के महत्त्वाकांक्षी

प्रतापी राजा अजातशत्रु की युद्ध-नीति के आधार पर खड़ी हुई थी । अजातशत्रु द्वारा वैशाली-विजय की योजना तथा आपसी फूट के कारण शक्तिहीन बने लिच्छवियों के पराभव का वर्णन पूर्व में किया जा चुका है । अजातशत्रु का पिता बिम्बसार भी साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षी भूप था । पर उसकी नीति दूसरी थी । उसने अपनी कूटनीति के द्वारा कहीं पर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर और कहीं बल-प्रयोग कर अपनी प्रसार-नीति को सफल बनाया, तथा अपने पुत्र अजातशत्रु की सफलता के हेतु भविष्य के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप उसने (अजातशत्रु ने) कोशल को नत किया, काशी को स्थायी रूप से अपने राज्य में मिलाया तथा वैशाली को भी उदरस्थ कर लिया (एच० सी० राय : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एनिशएन्ट इण्डिया, २१०) ।

मगध-वैशाली-संघर्ष के कई कारण बताये जाते हैं । जैन साहित्य 'उवासगदसाओ' के अनुसार दोनों शक्तियों के बीच युद्ध का कारण सेयनाग अथवा सेचनक नामक हाथी था, जिसके गले में अठारह लड़ों का अति बहुमूल्य रत्न-हार लटक रहा था । राजा बिम्बसार ने अपने बड़े पुत्र अजातशत्रु को युवराज बनाकर सारा साम्राज्य दिया, तथा छोटे दोनों कुमार हल्ल एवं वेहल्ल को वही उपर्युक्त हाथी । बिम्बसार के ये तीनों पुत्र वैशाली के गणाध्यक्ष राजा चेतक की पुत्री चेल्लना से उत्पन्न हुए थे । दोनों छोटे राजकुमार हल्ल एवं वेहल्ल उस गजराज तथा रत्नहार के साथ उनकी रक्षा के विचार से अपने मातामह राजा चेतक के यहाँ चले गये । अजातशत्रु ने अपनी स्त्री पौमावई (पद्मावती) के दबाव में पड़ कर अपने दोनों भाइयों से हाथी एवं रत्नहार लौटा देने के लिए कहा । पर उन दोनों ने यह कह कर देना अस्वीकार किया कि वे दोनों वस्तुएँ उनको पिता ने दी थीं, ठीक उसी प्रकार जैसे मगध का सिंहासन उन्होंने उनको दिया था । इस पर अजातशत्रु ने अपने मातामह चेतक से उन दोनों भाइयों को वैशाली राज्य से निष्काशन करने एवं हाथी तथा रत्नहार को लौटाने की माँग की । चेतक के वे तीनों ही पुत्रीपुत्र (दौहित्र) थे । अतः उसने अजातशत्रु की माँग को अनुचित समझा । उसने पत्रोत्तर देकर उसे समझाने-बुझाने की चेष्टा की । पर व्यर्थ । युद्ध अवश्यम्भावी हो गया । अजातशत्रु ने चेतक पर चढ़ाई कर लिच्छवियों का विनाश किया । इस कथानक का अनुमोदन 'अवस्थक सूत्र' ६८४ ('न दद्यास्तदा युद्धसज्जो भवामीति') से भी होता है ।

कुछ विद्वानों का मत है कि वज्जि संघ उस काल अपनी अपरिमेय शक्ति के मद से मत्त हो गया था । उसने बारम्बार मगध साम्राज्य के विरुद्ध आक्रमण किया, जिससे क्षुब्ध एवं क्रुद्ध होकर अजातशत्रु अपने प्रतिद्वन्द्वी आक्रामक संघ-राज्य के विनाश के हेतु कटिबद्ध हुआ, तथा लक्ष्य-प्राप्ति के लिए उसने योजना प्रस्तुत की (सेकरेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट-बुद्धिस्ट सुत्तान, ९, १८) ।

'सुमंगल विलासिनी' में मगध-वैशाली-संघर्ष का कारण भिन्न रूप से अंकित किया गया है । उसके अनुसार गंगा के तट पर पर्वत-उपत्यका में कहीं पर बहुमूल्य रत्नों अथवा उसी प्रकार की अन्य वस्तुओं (महोग्ध-भण्ड) की खान थी । अजातशत्रु एवं लिच्छवियों के बीच यह तय पाया था कि उस खान से प्राप्त रत्नों का बँटवारा दोनों राज्यों के बीच बराबर-बराबर होगा । लिच्छवि भूप उस सन्धि को तोड़कर सभी रत्न वैशाली ले

गये । इस समाचार को पाकर अजातशत्रु बहुत क्रुद्ध हुआ, और उसका परिणाम वैशाली पर आक्रमण एवं उसका पतन हुआ । इस उपाख्यान का पृष्ठपोषण डॉ० वी० सी० लॉ के ग्रन्थ 'बुद्धिस्टिक स्टडी'-१९९; उन्हीं के द्वारा प्रणीत 'बुद्ध घोष'; 'डिक्शनरी ऑफ पाली प्रोपर नेम्स'-२, ७८१; 'विनय पिटक' १, २२ अ, 'दिव्यावदान' २, ५२२; 'अंग उत्तर निकाय' -२, ३५ आदि ग्रन्थों से भी होता है ।

बौद्ध साहित्य यह स्पष्ट करता है कि अजातशत्रु एवं लिच्छवियों में रक्त सम्बन्ध रहते हुए भी दोनों के बीच सद्भावना का अभाव था । वैशाली की प्रसिद्ध नर्तकी अम्बपाली से उत्पन्न बिम्बसार का एक जारज पुत्र था, जिसका नाम अभय था । वह अजातशत्रु का अवैध भ्राता था । अभय की नसों में लिच्छवि-रक्त प्रवाहित रहने के कारण अजातशत्रु को भय था कि लिच्छवियों और उसके बीच युद्ध छिड़ने पर कहीं वह लिच्छवियों का सहायक न बन जाय । ऐसी दशा में परिस्थिति अति विकट हो जायेगी और उसका सामना करना उसके लिए कठिन हो जायगा । इस भावी संकट को दृष्टि में रख कर उसने लिच्छविशक्ति के समूल विनाश का संकल्प किया तथा उसके लिए वह सयत्न एवं सचेष्ट हुआ ।

परन्तु युद्ध के उपर्युक्त कारणों को बहाना मात्र कहा जा सकता है । हाँ, वे तात्कालिक उत्तेजक कारण हो सकते हैं । पर असल कारण अजातशत्रु की साम्राज्य-प्रसार-लिप्सा थी, जिसका उत्तर दिशा में बाधक लिच्छवियों का सम्पन्न एवं शक्तिशाली गणतन्त्र हिमाचल जैसा अटल खड़ा था । उसके विनाश के हेतु छल, बल एवं कौशल आवश्यक था, जिसके बिना सफलता-प्राप्ति की आशा उसे रंच मात्र भी न थी । आर० के० मुखर्जी : हिन्दू सिविलिजेशन, १८९-९०) । कार्य की सिद्धि के हेतु कुचक्र की शरण मगध-सम्राट को लेनी पड़ी, जिसका सूत्रधार बना उसका कूटनीतिज्ञ ब्राह्मण महामात्य वर्षाकार । उसने वैशाली में शरणार्थी के रूप में प्रवेश कर छल-कपट द्वारा संघ में फूट और वैर को जन्म दिया, जिस कारण मगध की विजय वैशाली पर हो सकी (डा० वी० सी० लॉ: क्षत्रिय ट्राइब्स-११२-१५; मज्झिम निकाय-३, ८; एच० सी० राय : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएन्ट इण्डिया, २१३; दिव्यावदान-२, ५२२) ।

वैशाली के विनाश की योजना पहले ही प्रस्तुत हो चुकी थी, इसमें सन्देह नहीं है । 'महावग्ग' एवं 'महापरिनिव्वान सुत्तन्त' में अजातशत्रु के मन्त्री द्वारा गंगा के किनारे पाटलिपुत्र में एक सुदृढ़ किला के निर्माण का उल्लेख है । राजगृह वैशाली से दूर था । वहाँ के किला से लिच्छवियों पर आक्रमण करना रणनीति के अनुकूल नहीं था । वैशाली गंगा के पार थी । पाटलिपुत्र में दुर्ग-निर्माण करने का अभिप्राय आक्रामक सेना तथा उनके उपयोग के हेतु खाद्यान्न एवं शस्त्रास्त्र की सुरक्षा था । दूसरा लाभ गंगा एवं नारायणी गंडक के जल-पथ से सैन्य-संचालन भी सरलतापूर्वक पाटलिपुत्र स्थित दुर्ग से करने में था (सेकरेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, महापरिनिव्वान सुत्तन्त-११, १-५) ।

यह युद्ध दीर्घकालव्यापी रहा । पूरे १६-१७ वर्षों तक चलता रहा । इसे एक राज्य वैशाली के विरुद्ध अजातशत्रु का अभिमान नहीं कहेंगे । इस प्रलयंकारी समर में चेतक की सहायता में काशी-कोशल के १८ गणराज्य तथा नव-लिच्छवि एवं नव-मल्लकि, सब

मिलकर ३६ गणराज्य जूझ रहे थे। संघ-राज्यों की हार हुई। साम्राज्यवाद विजयी हुआ। वैशाली के गणराज्य की स्वतंत्रता के इतिहास ने यहाँ से नया मोड़ लिया। विजित वैशाली की पवित्र छाती पर पैर रख कर मगध-साम्राज्यवाद ने अपनी प्रसार-लिप्सा की पूर्त्ति की। संसार के प्राचीनतम गणतन्त्र को उसकी विनाशलीला ने समाप्त कर दिया। मिथिला के दोनों राज्य- विदेह एवं वैशाली ने अपनी स्वतन्त्रता खो दी। लिच्छवि-जनपद पद मगध के हर्यंक वंशीय सम्राट् अजातशत्रु का आधिपत्य स्थापित हो गया।

ऐतिहासिक युग में वैशाली के लिच्छवी-गणराज्य की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शासनिक, शैक्षणिक, औद्योगिक, धार्मिक एवं आर्थिक स्थिति

वैशाली गणराज्य के सर्वांगीण विकास की चर्चा समास में पहले यथास्थान की जा चुकी है। श्री के० पी० जायसवाल के ग्रन्थ 'हिन्दू पोलिटी' (प्रथम संस्करण, पृ० ४८) के अनुसार वैशाली के संयुक्त गणराज्यों की सीमाओं का बुद्धयुग में विस्तार कोशल एवं कौशाम्बी के राज्यों से पूरब, अंग से पश्चिम, कीकट (मगध) से उत्तर एवं हिमालय पर्वत से दक्षिण के विशाल भू-भाग में गोरखपुर तथा बलिया जिलों से भागलपुर जिले तक था। इनमें वग्गों, कोलियों, शक्यों, कुलिसों, विदेहों एवं लिच्छवियों के गणतन्त्रों की प्रधानता थी। इन सबों में लिच्छवियों के राज्य का क्षेत्रफल सबसे अधिक था, पर वह पाँच हजार वर्ग मील से अधिक नहीं था (होमेज टू वैशाली-६८-७०)।

कहा जाता है कि शासन के राजतन्त्र के गणतन्त्र में परिवर्तन के मूल में राजकुल के छोटे राजकुमारों के हाथ थे; क्योंकि विधानतः बड़े राजकुमार ही राज्य के शासन करने तथा उसके विभव-सुख का मनमाना भोग करने के अधिकारी थे; अन्य नहीं। इससे उनके हृदय में ईर्ष्या-आमर्ष एवं स्वार्थ-भावना का उदय हुआ, और उसके परिणामस्वरूप चिर-चालित राजतन्त्र का विनाश तथा उसके स्थान में सामन्तशाही गणतन्त्र का जन्म हुआ। पुराणों से पता चलता है कि राजा विशाल के पश्चात् केवल १३ पीढ़ियों तक ही वैशाली में राजतन्त्र शासन रह सका। यह पूर्व में अंकित किया जा चुका है कि सुमति अथवा प्रमति नाभाग के कुल का अन्तिम वैशाली का राजा था। राजा सुमति का काल महाभारत-युद्ध-काल से लगभग ३०-३२ पीढ़ी पूर्व था, जिसका उल्लेख पूर्व में हो चुका है। (विदेह वंश का अन्त और उसके पतन के कारण का अवलोकन करें)। वैशाली के गणतन्त्र की स्थापना का अनुमानित काल इस प्रकार ईसा-पूर्व लगभग दो सहस्र वर्ष से कुछ कम होता है।

वैशाली के गणतन्त्र को वयस्क मताधिकार पर आधारित पूर्ण प्रजातन्त्र की संज्ञा देना उचित नहीं होगा। वह एक प्रकार का सामन्तशाही गणतन्त्र था, जिसमें सम्मिलित ७७०७ राजाओं तक ही चुनाव-मताधिकार सीमित था। संघ के प्रमुख का चुनाव उसमें सम्मिलित सामन्त राजाओं में से ही उनके मतदान से होता था। अतः उसको सामन्तशाही गणतन्त्र कहना ही विशेष उपयुक्त जँचता है।

वैशाली की राज्य-सरकार ७७०७ क्षत्रिय राजाओं की संघ-सरकार थी, जिनमें से प्रत्येक राज्य में राजा के अतिरिक्त उपराजा, सेनाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष एवं युवराज का सम्मान्य

स्थान सुरक्षित था। अपने-अपने राज्यों में ये लोग स्थायी रूप से निवास कर राज्य-शासन करते थे। उन्हें अपने राज्यों में स्वायत्त शासन का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। संघ-सरकार का अधिकार राज्य से सम्बन्धित अन्य बाहरी कार्यों में सर्वोच्च था। केन्द्रीय संघ-सरकार के निर्वाचित सदस्यों की संख्या पर्याप्त रहने के कारण वह विशेषकर जनप्रिय थी (आर० सी० मजूमदार : कॉरपोरेट लाइफ़ इन ऐन्शिएन्ट इण्डिया, प्रथम संस्करण-९२-९३; इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली-२०, ३४४)। कहा जा सकता है कि ७७०७ नृपति सदस्यों का वैशाली का लिच्छवि-संघ-राज्य ७७०७ राजाओं द्वारा शासित ७७०७ राज्यों के लिए संघ-शासन था। ये राजागण शासक वर्ग के थे और कार्यपालिका-शक्ति उनमें ही सीमित थी। शासित जनसाधारण की संख्या अधिक थी, और वे अन्तर एवं बाह्य नागरिकों में विभक्त थे, जिसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। सम्भव है कि संघ-राज्य की व्यवस्था को छोड़कर स्थानीय राज्यों की व्यवस्था में राज्य के सभी वर्गों के लोगों को बराबर अधिकार रहा हो, और प्रजा पूर्ण प्रजासत्तात्मक शासन के अधिकारों का उपभोग करती रही हो, पर संघ-सरकार में केवल क्षत्रिय राजाओं के समूह का ही शासन चलता था। सभी राजाओं का अधिकार बराबर समझा जाता था। पर यह केवल सिद्धान्त मात्र था। वयस्कों का शासन में आदर था। उनका विचार मान्य समझा जाता था। संघ-राज्य के कतिपय सदस्यों की प्रतिष्ठा अन्यों की अपेक्षा अधिक थी। वे सबों के आदर के पात्र होते थे। साधारणतया उनके शासन सम्बन्धी विचारों एवं प्रस्तावों का उनके अन्य साथी सदस्य अनुमोदन किया करते थे। कुछ विद्वानों के विचारानुसार वैशाली का शासन वहाँ के स्थानीय क्षत्रिय सरदारों के प्रधानों की एक गोष्ठी द्वारा होता था जिसके अध्यक्ष को राजा का विरुद प्राप्त होता था। उस राजा के सहायक उसके उपराजा तथा सेनापति शासन-सूत्र संचालन एवं शान्ति-स्थापना आदि कार्यों में होते थे (जनरल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १८९८, पृ० ४०)। संस्कृत साहित्य में राजन् शब्द पूर्व में क्षत्रिय का पर्यायवाचक था, पर पीछे चलकर वह भूपति शब्द का बोधक बन गया। कौटिल्य अर्थशास्त्र (अध्याय-११, ३७६-७९) में लिच्छवियों, वृज्जियों, मल्लों आदि के लिए 'राजशब्दोपजीविनः' का उपयोग किया गया है।

पूर्व में लिखा जा चुका है कि वैशाली गणराज्य के सर्वोच्च पदाधिकारी राजा, उपराजा, सेनापति, युवराज तथा कोषाध्यक्ष होते थे। परन्तु 'अत्थ कथा' में केवल राजा, उपराजा तथा सेनापति का ही उल्लेख किया गया है (महापरिनिव्वान सुत्त पर अत्थ कथा; सुमंगल विलासिनी-२, ५१९)। राज्य की कार्यकारिणी समिति उपर्युक्त उच्च प्रशासनिक पदाधिकारियों की होती थी (डा० वी० सी० लॉ : ट्राइब्स इन ऐन्शिएन्ट इण्डिया, पृ० ३२२; श्री के० पी० जायसवाल : हिन्दू पोलिटी, द्वितीय संस्करण, ४७)।

संघ-सदन की कार्यपालिका सभा आठ अथवा नौ सदस्यों की होती थी। 'कल्पसूत्र' में ९ सदस्यों की चर्चा की गयी है (जैनसूत्र, सेकरेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, २२, २६६)। उन सबों की वर्दियाँ भिन्न-भिन्न रंगों की होती थीं। राजा सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। न्यायकार्य के हेतु न्याय-मन्त्री का भी एक पद होता था। उस पर बाहरी योग्य व्यक्ति भी वेतनभोगी मन्त्री के रूप में नियुक्त किया जा सकता था। विदेशीय-कार्यों के सम्पादन तथा नीतिनिर्धारण के हेतु ९ सदस्यों की एक विदेशीय

मन्त्रिपरिषद् होती थी । संघ की आम सभा के द्वारा राज्य की कार्यपालिका का चुनाव होता था । ऐसी कार्यपालिका में ८ से १० तक सदस्य होते थे, और उनमें से प्रत्येक के अधीन शासन का एक-एक विभाग-जैसे वित्त, राजस्व, सेना, गृह, विदेशीय कार्य आदि होता था ।

खाण्ड विदेह-राज्य से पलायन कर शरणार्थी रूप में वैशाली में उपस्थित हुआ था । पर अपनी योग्यता के कारण वहाँ पर वह सेनापति के पद पर प्रतिष्ठित किया गया । उसके पश्चात् उसका पुत्र सिंह भी अपने पिता के पद पर संघ-सदन द्वारा निर्वाचित होकर प्रतिष्ठित हुआ । इससे पतां चलता है कि खाण्ड भी संघ-सदन द्वारा निर्वाचित होकर ही उस पद पर आसीन हुआ होगा ।

वैशाली के प्रसारित आज्ञा-पत्रों में 'खाण्ड प्रमुख गण' अंकित पाया गया है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सेनापति भी यदाकदा राज्य का प्रमुख हो सकता था (डा० वी० सी० लॉ : वॉल्यूम पार्ट-१, पृ० ४०) ।

आठ न्यायाधीशों का राज्य में सर्वोच्च न्यायालय था, जिसका निर्णय अन्तिम होता था (के० पी० जायसवाल : हिन्दू पोलिटी, द्वितीय संस्करण, पृ० ४९-५०) ।

अपराधी को न्यायालय में भेजने के पूर्व राज्य के 'विनिश्चय महामात्य' पदाधिकारी द्वारा उसके अपराधों की जाँच की जाती थी । न्यायालय में 'व्यावहारिकों' एवं 'सूत्रधारों' की सहायता अभियुक्तों को न्याय की प्राप्ति में प्राप्त होती थी । कोई भी न्यायालय अभियुक्त को निर्दोष पाकर उसे दण्ड-मुक्त कर सकता था (जनरल ऑफ दि ऐशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल-७, ९९३-९४) । सभी न्यायालयों के द्वारा अभियुक्त के दोषों प्रमाणित होने पर भी उसे शासन की कार्यकारिणी-सभा के सम्मुख अपील करने का अधिकार प्राप्त था । वहाँ का निर्णय सर्वोपरि, सर्वमान्य एवं अन्तिम होता था । प्रचलित दण्ड-संहिता का नाम 'पवेनी पोत्थक' था (के० पी० जायसवाल : हिन्दू पोलिटी, प्रथम संस्करण, ५०) । वैशाली से बाहर विवाह सम्बन्ध लिच्छवि गण-संघ की आज्ञा के बिना नहीं हो सकता था । कभी-कभी दुलहिन का चुनाव भी गण के ही द्वारा होता था (डा० वी० सी० लॉ-वॉल्यूम पार्ट-१, १३४-३५; एच० औल्डेनबर्ग तथा टी० डब्ल्यू० रीस डेविड : विनय टेक्स्ट, सेकरेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, ऑक्सफोर्ड, १८८१-८५, ४, २२५) ।

संघ की बैठक में गण-पूर्ति की आवश्यकता होती थी (महावग्ग-९, ४-२; ५, १३, १, ३१, २; ९, ४, १) । जिस बैठक में सभी सदस्य उपस्थित होते थे, उसे 'सम्मुख' कहा जाता था । अमान्य विधियों को संघ की बैठक हटा सकती थी (सेकरेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट- २०, ३७) । संघ के सदस्यों में सचेतक का पद भी होता था (महावग्ग-३, ६, ६) । अधूरे विधान को पूरे सदस्यों को उपस्थिति वाली बैठक में पूर्ण किया जाता था । सदन की कार्यवाहियों के संचालन के हेतु नियम बने थे, जिनका पालन उचित ढंग से होता था (महावग्ग-९, ३, १-२) । प्रस्ताव पेश होने पर पारित होने के पूर्व उस पर वाद-विवाद होता था । कभी-कभी सदन की कार्यवाही में भाग लेने वाले सदस्यों के बीच किसी-किसी प्रस्ताव पर संघर्ष, झगड़ा तथा बलप्रयोग होता भी देखा जाता था । परन्तु सबों का प्रयत्न किसी निर्णय पर एकमत होकर पहुँचने का होता था । झगड़ालू विषय को एक विशेष समिति के पास अग्रसारित किया जाता था । ऐसी समिति का निर्माण बीच-विचाव

कर मतभेद दूर करने के हेतु होता था । मतदान के नियमानुसार ऐसी समितियों के कार्य संचालित होते थे जिनको 'उंभाहिकाय' की संज्ञा दी जाती थी (महावग्ग-१३, २, ८) । आयोग अथवा पंचों की नियुक्ति में प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का अनुसरण किया जाता था । यदि किसी विवादग्रस्त विषय का निपटारा सुगमता से नहीं हो पाता था, तो उसे पूरे संघ के सम्मुख उपस्थित किया जाता था । वहाँ बहुमत से उसका निर्णय किया जाता था (महावग्ग-४, ८, ९) । चुनाव-पदाधिकारी की नियुक्ति संघ द्वारा होती थी । जो व्यक्ति छल-छद्म, ईर्ष्या-द्वेष, मोह एवं भय से रहित होता था वैसे की नियुक्ति उस उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर होती थी । नायक अथवा प्रधान दण्डाधिकारी का निर्वाचन संघ के शासक वर्ग द्वारा होता था, जिसका कर्त्तव्य होता था संघ के निर्णय को कार्यान्वित कराना (रौकहिल : लाइफ ऑफ बुद्ध-६२) । मतदान स्वतन्त्र रूप से काष्ठनिर्मित शलाकाओं के द्वारा होता था । चुनाव पदाधिकारी को 'शलाका ग्राहपक' की उपाधि दी जाती थी (विनयपिटक- २, ३१५; जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९३८, पृ० ९८३; के० पी० जायसवाल : हिन्दू पोलिटी, प्रथम संस्करण-११२) ।

यदि कोई सदस्य संघ के वाद-विवाद के काल में अपने को संयत एवं अनुशासित नहीं रह सकता था तो उसके विरुद्ध निन्दा का प्रस्ताव सदन में उपस्थित किया जाता था (चुल्ल वग्ग-४, १४, ९) । यदि किसी विषय का निर्णय हो जाता था तो उस प्रश्न को पुनः उठाना अपराध माना जाता था (के० पी० जायसवाल : हिन्दू पोलिटी, द्वितीय संस्करण, ४७) । वैशाली में आरक्षी विभाग भी था । पर यह विभाग भ्रष्टाचार एवं अन्याय के लिए अति कलंकित था (उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास-९९) । जिस भवन में राजनीतिक एवं धार्मिक सभाएँ बैठती थीं, उसका नाम संघागार था । आसपन्नापक नामक पदाधिकारी का कार्य संघ में उपस्थित सदस्यों को उचित स्थानों पर बैठाना होता था ।

वज्जि संघ में १८ राजन्यों की सर्वोच्च परिषद् थी, जिसके सदस्य नवलिच्छवि एवं नव-मल्लिक राजन्य होते थे । इस परिषद् के सदस्यों को गणराजा कहा जाता था । पीछे चलकर इस परिषद् में काशी-कौशल के १८ गणराज्यों का भी समावेश हुआ प्रतीत होता है । भद्रबाहु के जैन ग्रन्थ 'कल्पसूत्र' में उल्लेख है, यथा- नव मल्लई (मल्लती) नव लेच्छई (लेच्छती) काशी कोसलगा (कोसलका) अट्ठारस वि गण रायानो' (जैकोबी द्वारा सम्पादित, १८७९, जैन चरित, पृ० ६५; निरयावलीया सुत्तम, एस० वार्‌रेन, १८७९, सेकरेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, २२, १८८४, पृ० २६६) ।

बुद्ध युग में उपर्युक्त राजन्य-परिषद् का सर्वमान्य नेता वैशाली के लिच्छवि-राज चेतक थे । उनकी बहन त्रिशला अथवा विदेह दत्ता जैन धर्म के २४वें एवं अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी की माता थी । विदेह दत्ता शब्द से अनुमान किया जाता है कि राजा चेतक और उनकी बहन त्रिशला पूर्व में विदेह राज्य के नागरिक थे और पीछे चलकर सेनापति खाण्ड एवं सिंह के जैसे वैशाली के लिच्छवि-संघ-राज्य की नागरिकता उन्होंने स्वीकार कर ली थी । राजा चेतक की एक पुत्री का नाम चेल्लना अथवा वैदेही था । उपर्युक्त तथ्य को उसका वैदेही नाम भी बहुत अंश तक प्रमाणित करता है । यह चेल्लना मगध-सम्राट कुणीक अजातशत्रु की माता थी ।

सम्भवतः वज्जि संघ के राजागण आरम्भ में एक दूसरे से स्वतंत्र थे । इन राजाओं की स्थिति स्वतन्त्र क्षत्रिय जमींदारों की थी । महत्त्वाकांक्षी मगध-सम्राट् की साम्राज्यवादी प्रसारनीति से आतंकित होकर अपनी सुरक्षा के हेतु उन सबों ने अपना शक्तिशाली-संघ बनाया । वह संघ-राज्य वज्जि संघ के नाम से विख्यात हुआ, जिसमें राजन्य-परिषद् का स्थान सर्वोच्च था । राजन्य-परिषद् के सभी राज्यों का मतदान-अधिकार बराबर था, उनमें कोई छोटा-बड़ा नहीं समझा जाता था । कौटिल्य अर्थशास्त्र के उल्लेखानुसार अपनी अलौकिक एकता के कारण उस काल संघ अजेय था ।

समाज में बुद्ध एवं महावीर-युग ने क्रांति लाना आरम्भ कर दिया था । ब्राह्मण एवं उपनिषद् काल की कटुता में कमी आ गयी थी । पर सामाजिक भेदभाव समूल नष्ट नहीं हो पाया था । जातकों से पता चलता है कि पुरोहितों का प्रभाव पूर्व जैसा नहीं रह गया था । धनिक वणिकों एवं समृद्ध जनों का आदर ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक था । जाति एवं आश्रम का बन्धन बहुत ढीला पड़ गया था (रैप्सन : कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, १, २२१)। अब व्यवसाय जातिगत सीमित नहीं था । ब्राह्मण पुरोहिती त्याग कर जीविकोपार्जन के हेतु अन्य व्यवसाय ग्रहण करने में अपनी अप्रतिष्ठा नहीं मानते थे । उनके ऐसे कार्य के हेतु समाज भी उनका अनादर नहीं करता था (चुल्लधनुग्घह जातक नं० ३७४; ब्रह्मजाल सुत्त, बुद्ध सम्वाद, १६, ६७-७०)। परन्तु ज्योतिष, हस्तरेखा शास्त्र, कर्मकाण्ड आदि का अध्ययन भी उनकी जीविका का हेतु होता था । वे राज्य के पदाधिकारी-पदों पर भी प्रायः प्रतिष्ठित किये जाते थे । ब्राह्मण अपने उच्चादर्श के लिए समाज में स्तुत्य एवं पूज्य पूर्व में माने जाते थे, किन्तु उस युग में राज्य-पदाधिकारी के रूप में वे रुपये-पैसे के मामले में निर्लिप्त नहीं थे । उनकी उच्चाशयता का ह्रास हो चुका था (फनदन जातक नं० ४७५) ।

क्षत्रियों एवं वैश्यों को भी ब्राह्मणों की ही दशा अपने लिए व्यवसाय-चयन में थी । वे किसी भी व्यवसाय को अपना सकते थे । ब्राह्मण प्रायः क्षत्रियों के साथ भोजन कर लेते थे । कभी-कभी चाण्डालों के साथ भी (बुद्ध सम्वाद-१२०, टी० डब्ल्यु० रीस डेविड्स : बुद्धिस्ट इण्डिया, अध्याय -४) । पर इसके लिए वे जातिच्युत किये जाते थे । क्षत्रिय अपनी पुत्री के साथ भी भोजन नहीं करते थे (मतंग जातक नं० ४९७) । सामाजिक नियमों में ढीलापन आ गया था, पर पुराने एवं नये विचारों में द्वन्द्व चल ही रहा था । ब्राह्मण-परम्परा मिट नहीं पायी थी । समाज में उसका दबदबा बहुत अंश में बना हुआ था ।

परन्तु उपर्युक्त सामाजिक स्थिति का वर्णन जनपद के उस भाग का विदित होता है जहाँ बौद्ध धर्म जन्म लेकर पला और पनपा था । ब्राह्मण-परम्परा अन्य भाग में प्रायः पूर्ववत् चालू थी । वज्जिसंघ के शासन-काल में वैशाली-अंचल में बौद्ध एवं जैन धर्मों का प्राबल्य जैसा दृष्टिगत होता है, वैसा विदेह अंचल में नहीं । वहाँ ब्राह्मण धर्म का बोलबाला उस युग में भी था ।

पूर्व में वर्णन किया जा चुका है कि वैशाली का विभवशाली नगर समृद्धि के क्रमानुसार तीन भाँगों में बँटा था । उनमें क्रमशः वैभवशाली, मध्यम वित्त वाले एवं निम्न स्तर की जनता का निवास था । विवाह-सम्बन्ध भी बराबरी वाले नागरिकों के बीच ही सीमित था । इससे पता चलता है कि वर्ग-भेद अति दृढ़ता के साथ मूलबद्ध था, और रक्त

की शुद्धता पर बौद्ध एवं महावीर-युग में भी वैशाली का ध्यान कम नहीं हुआ था। समाज में सेनापति खाण्ड एवं राजनर्त्तकी आम्रपाली की प्रतिष्ठा उनके प्रतिष्ठित पदों के कारण थी, सामाजिक स्थिति के कारण नहीं।

जातकों में चाण्डालों का वर्णन प्रायः आया है। समाज का समृद्ध संमुदाय उन्हें घृणा की दृष्टि से देखता था। उनका निवास नगर से बाहर होता था। आदि से अन्त तक उन सबों का जीवन दासता का था। ब्राह्मण उनके साथ भोजन नहीं करते थे (सतधम्म जातक नं० १७९)। बुद्ध एवं महावीर के सुधारवादी युग में भी उनका जीवन-स्तर ऊँचा नहीं उठ सका था। जैसी उनकी स्थिति ब्राह्मण एवं उपनिषद् काल में थी, वैसी ही उस युग में भी बनी रही।

समाज में दासता की प्रथा सर्वत्र प्रचलित थी। विधुर पंडित के जातक (जातक नं० ५०५) में चार प्रकार के दासों का उल्लेख है, यथा-(१) आमाय (अथवा जन्मजात), (२) धनेन क्रीत (खरीदा हुआ), (३) स्वयम् उपयन्ति (अपनी इच्छा से), तथा (४) भया भवन्ति (डर के कारण)। दासों का क्रय एवं विक्रय भी होता था (सत्तुभस्त जातक नं० ४०२)। दासियों, परिचारिकाओं तथा धात्रियों की नियुक्तियाँ भी समृद्ध परिवारों में प्रायः हुआ करती थीं (कुम्भकार जातक नं० ४०८; नानचन्द्र जातक नं० २८९; उम्मादन्ती जातक नं० ५२७)। दास-दासियों को पुरस्कार एवं दान में देने की भी प्रथा थी। बुद्धदेव ने पाँच प्रकार के व्यापार का निषेध किया था, उसमें द्वितीय 'सत्तवनिज्जा' कहा गया था। बुद्धघोष के अनुसार यह नाम मनुष्य-वाणिज्य का था (अंगुत्तर निकाय ; पंचक नियात)। बुद्धदेव नें अपने शिष्यों को उपहार में दास-दासियों को न स्वीकार करने का आदेश दिया था।

स्त्रियों का समाज में उच्च स्थान नहीं था। किन्तु वे सामाजिक कार्यों में भाग लेने लग गयी थीं। अपने व्यक्तित्व विभव की वे स्वामिनी थीं। माता के वस्त्राभूषण की वे उत्तराधिकारिणी होती थीं। मालूम पड़ता है कि बुद्धदेव जैसे समाज-सुधारक की दृष्टि में भी स्त्रियों का स्थान श्लाघ्य नहीं था। अपने आश्रम में आम्रपाली के प्रथम दर्शन-काल में उनके हृदय में जो भाव-उत्पन्न हुआ था, वह स्त्री-जाति के प्रति उनकी घृणा का द्योतक है। स्त्रियों के सौन्दर्यकर्षण को उन्होंने समाज तथा बौद्ध भिक्षुओं के लिए हिंसक व्याघ्र के भयानक मुख तथा वधिकों के तीक्ष्ण कटार से भी अधिक भयानक माना था। स्त्रियाँ मनुष्य के नैतिक पतन में निमित्त समझी जाती थीं। सार्वजनिक उद्यानों, सम्बन्धियों के घर, नदियों के तट तथा अपरिचितों के प्रांगण में पदार्पण करने पर उनकी निन्दा की जाती थी।

किन्तु बुद्धदेव ने यहाँ प्रजापति गौतमी (आनन्द की माता तथा अपनी मौसी) एवं अम्बपाली को ५०० शक ललनाओं के साथ भिक्षु-संघ में प्रवेश कराया था। उन्होंने अम्बपाली के आवास पर भोजन किया था तथा उसके दान को भी भिक्षु-संघ के लिए स्वीकार किया था। इससे यह सिद्ध होता है कि समाज में प्रचलित स्त्री-वर्ग के प्रति कुत्सित भावना में बुद्धदेव के जीवन के अन्तिम चरण में बहुत परिवर्तन हो चुका था।

पुरुषों में बहुव्याह की प्रथा थी। सम्पन्न व्यक्तियों के घर गणिकाएँ एवं रखेलियाँ रखी जाती थीं। राजाओं के राजप्रासाद में सोलह सहस्र तक नर्तकियाँ निवास करती थीं। पर स्त्रीवर्ग के लिए यह छूट नहीं थी। सतीत्व भ्रष्ट होने के अपराध में उन्हें अंग-भंग,

छिन्न-मस्तक अथवा काराबद्ध होना पड़ता था। पर्दा की प्रथा स्त्रियों में प्रचलित थी। पर कभी-कभी उसमें ढीलापन भी दृष्टिगत होता था (अभिंह जातक नं० २७)।

मृतकों को जलाने, समाधि देने तथा खुले स्थानों में छोड़ देने की प्रथा थी। साधारण मनुष्यों के शवों को प्रायः श्वान, श्रृंगाल, गृद्धादि जन्तुओं के भक्षण के हेतु ग्राम के बाहर खुले स्थान में रख दिया जाता था।

वैशाली जनपद के नागरिकों में शिक्षा का प्रचार प्रचुर था। स्त्रियाँ भी शिक्षिता थीं। उनमें शुक्क, खेमा तथा धम्मदिन्ना आदि विदुषी महिलाओं के नाम का पता 'थेरी गाथा', 'अंगुत्तर निकाय' आदि बौद्ध ग्रन्थों से चलता है। वे सभी बौद्ध-दर्शन की पंडिता थीं। कहा जाता है कि जैनियों की १९वीं तीर्थंकर मल्लिनाथ मिथिला-नरेश कुम्भ की राजकुमारी थी (ग्रेट विमेन ऑफ इण्डिया-२७७-७८)।

उच्च शिक्षा-प्राप्ति के हेतु मिथिला से भी विद्यार्थी सुदूर स्थित तक्षशिला के विश्वविद्यालय में जाया करते थे (सुरुचि जातक नं० ४८९, महाउम्मग्ग जातक नं० ५४२)। राजगृह के प्रसिद्ध चिकित्सक जीवन को आयुर्वेद सम्बन्धी उच्च शिक्षा तक्षशिला विश्वविद्यालय में ही प्राप्त हुई थी। तक्षशिला का विश्वविद्यालय सर्वोच्च शिक्षा-केन्द्र था। पर उसके अतिरिक्त विदेह एवं वैशाली जनपदों में भी शिक्षा के केन्द्र थे। 'महावस्तु' तथा 'बुद्ध चरित्र' के वर्णनानुसार गौतम बुद्ध ने वैशाली के महाज्ञानी आचार्य अलार के आश्रम में विद्याध्ययन समाप्त कर राजगृह की यात्रा की थी (डा० अमूल्य चन्द्र सेन : राजगृह एण्ड नालन्दा, पृ० २८)। 'ललित विस्तर' तथा 'दीघनिकाय' का मह सच्चक सुत्त भी उपर्युक्त कथन का अनुमोदन करता है कि बुद्धदेव ने अनुप्रिया से चलकर अलार एवं उद्रक के आश्रमों में शिक्षा प्राप्त की और तब वे मगध आये। अलार कलाम और उद्रक दोनों भाई थे, और उनका आश्रम वैशाली जनपद में था।

चांडालों की शिक्षा-प्राप्ति के मार्ग में प्रतिबन्ध था। जातकों के अध्ययन से पता चलता है कि एक बार उज्जैनी के दो चाण्डाल शिक्षार्थियों ने ब्राह्मण का वेश धारण कर तक्षशिला विश्वविद्यालय में विद्या-प्राप्ति-हेतु प्रवेश किया पर बात खुल गयी। परिणामतः वे दोनों ही वहाँ से अविलम्ब बहिष्कृत किये गये (चित्तसंभूत जातक नं० ४९८)।

वैशाली भी ज्ञान-विज्ञान का केन्द्र था। लिच्छवियों के साथ उच्च अध्यात्म विद्या सम्बन्धी वार्त्तालाप भगवान् बुद्धदेव का वहाँ हुआ करता था। लिच्छवियों ने धार्मिक एवं दार्शनिक विषयों पर वार्त्तालाप करने के हेतु एक सुन्दर एवं पवित्र कुटागार का निर्माण किया था। तथागत ने वहाँ अनेक उपदेश लिच्छवियों के बीच दिये थे।

उन दिनों के प्रसिद्ध विद्या-केन्द्रों में काशी का भी नाम था। उसका स्थान तक्षशिला के बाद था। सम्भवतः तक्षशिला से शिक्षा-प्राप्त विद्वानों ने वहाँ विद्या-दान का आयोजन किया था। वैशाली एवं विदेह से विद्यार्थी काशी भी विद्योपार्जन-हेतु जाते थे। पीछे चलकर विद्या-प्राप्ति के हेतु ब्रह्मचारियों को काशी भेजने की परिपाटी-सी बन गयी। आज भी मिथिला के बालक ब्रह्मचारियों के यज्ञोपवीत संस्कार के समय जब विद्यारंभ का विषय आता है तो आचार्य उनसे प्रश्न करते है कि 'कहाँ जाते हो'? उत्तर मिलता है कि 'काशी'[१]। पुनः प्रश्न होता है कि 'क्यों'? बालक ब्रह्मचारी जबाब देता है कि 'विद्योपार्जन

१. वस्तुतः यह लेखक की कल्पना है। व्यवहार में ऐसा नहीं है।

के हेतु' । आचार्य तब कहते हैं कि 'लौट आओ । यहाँ घर पर ही तुम्हारी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध कर दिया जायगा' । ऐसा करना समाज में रूढ़ि का रूप धारण कर चुका है, जिसको मिथ्या आचरण जानते हुए भी प्रायः यज्ञोपवीत के अवसर पर दुहराया जाता है।

वैशाली एवं विदेह जनपदों में प्रागैतिहासिक काल में वैदिक धर्म का प्रचार था, जिसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है । ब्राह्मण एवं उपनिषद्-युग के पश्चात् ऐतिहासिक काल में गौतम बुद्ध का आविर्भाव वैशाली एवं विदेह के पड़ोस की भूमि नेपाल की तराई के शाक्य-जनपद के कपिलवस्तु नामक स्थान में हुआ । वे वहाँ के इक्ष्वाकु वंशीय शाक्य-अधिपति राजा शुद्धोदन के पुत्र थे (अश्व घोष : बुद्ध चरित, प्रथम सर्ग) । जरा-मरण-ग्रस्त संसार के दुःख से त्रस्त वह राजकुमार युवा अवस्था में ही अपने नवजात पुत्र एवं रूपसी स्त्री से विरक्त होकर सत्य एवं मोक्ष की खोज में राजप्रासाद से बाहर निकल पड़ा । उसे घोर तपस्या के पश्चात् ज्ञानालोक की प्राप्ति हुई, जिसे उसने संसार के हित के लिए जन-समुदाय में बिखेर दिया । जन-साधारण को नया और सुलभ ज्ञान-प्रकाश मिला । जनता उसकी ओर आकृष्ट हुई और बौद्ध दर्शन का प्रचार उनके बीच जोरों से होना आरम्भ हुआ । आरम्भ में बुद्ध-मार्ग का अवलम्बन केवल विरक्त बौद्ध भिक्षुओं तक ही सीमित रहा, पर पीछे चलकर इसकी जड़ जनसाधारण के बीच जमने लगी । मगध, कोशल, विदेह एवं वैशाली तथा अन्य जनपदों में भी बौद्ध धर्म का प्रचुर प्रचार हुआ, यद्यपि ब्राह्मण धर्म उन स्थानों से निर्मूल नहीं हो गया था । उपनिषद्-युग के कठोर ज्ञानवाद के विरुद्ध इसे 'जन-क्रान्ति' की संज्ञा दी जा सकती है ।

जैन धर्म का प्रचार थोड़ा-बहुत पूर्व से ही था । उसके २४वें तथा अन्तिम तीर्थंकर महावीर का अवतरण वैशाली जनपद में हुआ । बौद्ध एवं जैन दोनों ही धर्मों के फूलने और फलने के लिए वैशाली की भूमि अति उर्वरा साबित हुई । दोनों का ही प्रचार जनसाधारण के बीच सम्यक् रूप से हुआ । ब्राह्मण धर्म समाज के कुछ लोगों की संचित एवं सुरक्षित सम्पत्ति के रूप में रह गया था; क्योंकि जातकों से पता चलता है कि यत्र-तत्र वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान उस काल में भी हुआ करता था । जनक और याज्ञवल्क्य की भूमि मिथिला में, जहाँ बौद्ध एवं जैन दर्शन का प्रचार कम नहीं हुआ था, वैदिक देवता इन्द्र, वरुण, प्रजापति, ब्रह्मा, सूर्य एवं अग्नि की पूजा भी जनता के बीच प्रचलित थी (डॉ० वी० सी० लॉ : सम क्षत्रिय ट्राइब्स- ६९) ।

लिच्छवियों के बीच बौद्ध एवं जैन धर्मों के अनुयायियों की संख्या कम न थी । पर उनमें ब्राह्मण धर्म के मानने और उसके पथ पर चलने वाले भी बहुत थे ।

बौद्ध-दर्शन ने प्रकृति के नाना रूप की पूजा, जिनमें दिक्पाल, पर्वत, नाग, तरुवर, नद-नदी, सागर, लक्ष्मी आदि की अर्चना होती थी, के विरुद्ध धावा बोल दिया था । वैदिक यज्ञों, जिनमें हिंसा की गन्ध थी, के विरुद्ध भी उस दर्शन का अभियान था। जैन दर्शन में अहिंसा के साथ-साथ असीम उदारता के भाव निहित थे । जनमत ने दोनों को गले लगाया । पर दोनों का ही विकास आगे चलकर शीघ्र कुंठित हो गया, ऐसा दीख पड़ता है ।

बौद्ध संघ में भिक्षुणियों के प्रवेश ने भिक्षुओं के बीच चरित्रहीनता का विष-बीज

वपन किया, जिसके विषाक्त फल के प्रभाव से बुद्ध भगवान् के महाप्रयाण के केवल एक सौ वर्ष पश्चात् वज्जिपुत्तक भिक्षुओं एवं वैशाली के निवासियों में उच्चादर्श एवं सदाचार का ह्रास तथा बौद्ध-सम्प्रदाय-हित-विरोधी तत्त्वों का उत्क्रमण हुआ, जिसका अन्तिम परिणाम बौद्ध-धर्म की जन्मभूमि से उसका लोप होना हो गया। वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने दश प्रकार के भोगों को ग्राह्य घोषित किया जो कट्टरपंथी बौद्धों के सिद्धान्त के पूर्णतया प्रतिकूल था। वयोवृद्ध लब्धप्रतिष्ठ महा विद्वान् बौद्ध भिक्षु यश ने वैशाली में सात सौ आदरणीय भिक्षु-प्रतिनिधियों की एक सभा (सत्तसतिक परिषद्) बुलाकर भिक्षुओं के आचार-विचार विषयक विधान प्रस्तुत करने तथा उनके आचरण में सुधार लाने का प्रयत्न किया। परिषद् के मत में वज्जिपुत्तक भिक्षुओं द्वारा स्वीकृत दश ग्राह्य भोग त्याज्य घोषित किये गये (डॉ० वी० सी० लॉ : सम क्षत्रिय ट्राइब्स, ८९)। किन्तु यह मेल-मिलाप चिरस्थायी नहीं रह सका। एक शताव्दी के पश्चात् उनके बीच खाई इतनी चौड़ी बन गयी कि उसको पाटना असम्भव हो गया, और बौद्ध धर्म को वैशाली से अंतर्ध्यान होना पड़ा।

पूर्व में इसका उल्लेख किया जा चुका है कि भगवान् बुद्धदेव वैशाली एवं लिच्छवियों को बड़ी श्रद्धा एवं प्रिय दृष्टि से देखते थे। अपने जीवन-काल में उन्होंने वैशाली नगर की यात्रा तीन बार की। वज्जिसंघ भी उनको अपना हित-चिन्तक एवं आपत्ति काल में शुभ परामर्शदाता मानता था (सरकार : क्रियेटिव इण्डिया, २६)।

लिच्छवियों में महावीर के अनुगामी भी बहुत थे। पर क्रमशः उनकी भी संख्या वहाँ घटती गयी। बौद्ध एवं जैन धर्मों की जगह पुनः ब्राह्मण धर्म ने ले ली। जैन धर्म का प्रचार आज भी भारत के अन्य नगरों में प्रचुर है, पर वैशाली अंचल में वह केवल इतिहास के पन्नों में ही शेष रह गया है।

वाणिज्य-व्यवसाय में वैशाली राज्य बहुत चढ़ा-बढ़ा था। यहाँ के व्यवसायी अति प्राचीन काल में जल एवं स्थल मार्गों से दूर-दूर के देशों के साथ व्यापार करते थे। समुद्र-वणिकों एवं समुद्र यानितकों की साहसपूर्ण कथाएँ आबालवृद्ध बड़े चाव से सुनते थे और वे घर-घर में प्रचलित भी थी। उन कथानकों से पता चलता है कि पूर्वोत्तर भारत के सभी प्रसिद्ध नगरों, यथा—श्रावस्ती (कोशल की राजधानी), वाराणसी (काशी), राजगृह (मगध की राजधानी), वैशाली (लिच्छवियों की राजधानी) तथा चम्पा (अंग की राजधानी) के वणिक्‌गण समुद्र-यात्रा कर दूर-दूर के देशों के साथ वाणिज्य-व्यवसाय करते थे (अपन्नक जातक नं० १; वन्नुपथ जातक नं० २; सेरिवाणित जातक नं० ३; गग्ग जातक नं० १५५; गुद्‌दिल जातक नं० २४३)। समुद्र में चलनेवाली नावों को वाहनम् कहा जाता था। व्यापारीगण अपने-अपने व्यापार की वस्तुएँ— स्वर्ण, रजत-पात्र, हीरादि रत्न, सूती एवं ऊनी सामान, घोड़े तथा अन्य आवश्यक व्यवहार की चीजें (महासमुद्र गमनीयम पान्यम्) साथ लेकर स्थल मार्ग से समुद्रतट के बन्दरगाहों तक जाते थे, और वहाँ से जलयानों पर सवार होकर दूर के देशों में जाकर माल बेचते और खरीदते थे। नदी-मार्ग से देश के अन्दर भी व्यापार होता था, और उसके लिए जातकों के अनुसार दो मार्ग थे— (१) दक्षिण-पथ— जिसके द्वारा राजगृह से श्रावस्ती और साकेत होते हुए गोदावरी-तट के प्रतिष्ठान तक जाया जाता था, और (२) उत्तरापथ— जो श्रावस्ती से तक्षशिला तक मथुरा

होते हुए जाता था। इन दो मुख्य मार्गों के अतिरिक्त वाराणसी से उज्जैनी, विदेह से गान्धार, वाराणसी से श्रावस्ती, राजगृह से श्रावस्ती, मगध से सौवीर तथा चम्पा से ताम्रलिप्त (बंगाल के मेदिनीपुर जिले के तमलुक) तक भी व्यापार मार्ग चालू थे।

व्यापारियों को सामान लेकर हिंस्र पशुओं से परिपूर्ण बीहड़ वन होकर गम्य स्थानों की यात्रा करनी पड़ती थी। मार्ग में जंगली जानवरों एवं दस्युओं का सामना करना पड़ता था। वणिक् समुदाय सुप्पारक (सोपारा) से सावत्थी (श्रावस्ती), वाराणसी से बभेरु (प्राचीन बेबीलोन), भरुकच्च (ब्रोच) तथा स्वर्ण-भूमि (बर्मा) एवं विदेह से गांधार जाया आया करते थे। 'महापरिनिव्वान सुत्त' से पता चलता है कि राजगृह से कौशाम्बी जो मार्ग गया था, वह पाटलिपुत्र, वैशाली, कुशीनगर, कपिलवस्तु और श्रावस्ती होते हुए गया था (जरनल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, ३२, १२३)। 'चुल्ल वग्ग' के अनुसार वैशाली से सहजाति और राजगृह से क़ौशम्बी तक सड़कें गयी थीं (चुल्ल वग्ग-१२, १, ९)। वज्जीय भिक्षु वैशाली से दक्षिणी सागर तट के सहजाति नामक स्थान तक कान्यकुब्ज होकर जाते थे (विमुनवत्थु अत्थ कथा, ३७०, ३३६)। मिथिला से कश्मीर होकर गान्धार, मिथिला से चम्पा, काशी से उज्जैन, मिथिला से कपिल एवं इन्द्रप्रस्थ, तथा चम्पा से वाराणसी तक सड़कें थीं, जिनके द्वारा उन जनपदों के बीच आवागमन एवं व्यापार होता था।

उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्टतया सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में वैशाली, मिथिला, चम्पा एवं राजगृह के समृद्धशाली साहसी व्यापारियों का व्यापार बंगाल की खाड़ी से आरम्भ होकर दक्षिणी चीन सागर के तट के देशों एवं जावा, सुमात्रा, बोरनियो आदि द्वीपों के साथ होता था। पूर्वी सागरतट के देश इण्डोचाइना (हिन्दचीन) में यहाँ के निवासियों ने चम्पा नामक उपनिवेश बसाया था (होमेज-२०)। दक्षिणी चीन के विशेषकर येनान प्रदेश में मिथिला ने अपना उपनिवेश स्थापित कर खिष्टाब्द के आरम्भ की शताब्दियों में वहाँ के अनेक नगरों का नामकरण मिथिला और विदेह के नाम पर किया था (डॉ० लक्ष्मण झा : मिथिला विल राइज, १३)। वैशाली एवं विदेह जनपदों के दक्ष वणिक्-समुदाय की कुशल व्यापार-नीति का उपर्युक्त उत्कृष्ट नमूना है।

वैशाली की जनता की जीविका का प्रधान उपलब्धि-स्रोत कृषि था। जन-साधारण का निवास ग्रामों में था। प्रत्येक ग्राम में ३० से १००० तक आवास-गृह होते थे। ग्रामों के निकट तरु-कुंज-पुंज सुशोभित रहते थे। कृषकों के पशुओं के हेतु चरनी भूमि एवं जंगलों का प्रबन्ध था।

ग्रामभोजक (मुखिया) का स्थान ग्राम में आदरणीय होता था। शासन की ओर से उसे अधिकार-सम्पन्न बनाया जाता था। वह ग्राम का समाहर्त्ता होता था। उसका अधिकार गाँव के झगड़ों का निपटारा करना तथा अपराधी को अर्थ-दण्ड देकर उसे उससे प्राप्त करना भी होता था (खरस्सर जातक नं० ७९; उभतोभट्ठ जातक नं० १३९)। ग्राम में अन्न की उपज नहीं होने पर ग्रामीणों के जीवन-धारण की व्यवस्था करना ग्रामभोजकों का पवित्र कर्त्तव्य माना जाता था। ग्रामीण संतुष्ट एवं सुखमय जीवन व्यतीत करते थे, और अपने कृषि-कार्य आदि की व्यवस्था श्रमपूर्वक वे स्वयं करते थे। वे प्रायः कर्मठ होते थे, परमुखापेक्षी नहीं। वन्य पशुओं, दस्युओं आदि से खेतों की उपज की रक्षा करने के

हेतु रखवालों की नियुक्ति होती थी (सिंह चम्म जातक नं० १८९)। समाज में माली, लकड़हारा, चिकित्सा, मत्स्यजीवी, घटवार, लोहार, सोनार, शंख-वादक, दर्जी, ढोलिया, स्नान कराने वाला आदि व्यवसायियों का स्थान था (उभतोभद्ठ जातक नं० १३९; शुचि जातक नं० ३८७, मातंग जातक नं० ४९७ ; भेड़ीवाद जातक नं० ५९; शंखधमन जातक नं० ६०; दश ब्राह्मण जातक नं० ४९५)। जनता सुरक्षित एवं स्वतंत्र थी। जीवनोपयोगी सामान्य सामग्रियों की कमी का अनुभव उन्हें नहीं करना पड़ता था। ऐसी वस्तुएँ उन्हें प्रचुरता से प्राप्त थीं।

आर्थिक व्यवस्था का आधार प्रधानत: कृषकों का कृषि-कार्य था। उनका श्रम उत्पादक था। खेतों के स्वामी कृषक थे। देश में कारीगर भी थे, जिनसे जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। कृषकों एवं कारीगरों के कार्यों में समन्वय तथा सहयोग था। एक से दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्त्ति होती थी। वणिक् समुदाय देश एवं विदेश में जल तथा स्थल मार्गों से वाणिज्य-व्यापार कर स्वयं श्री-सम्पन्न होते थे और देश को भी समृद्ध बनाते थे।

ऐतिहासिक युग के आरम्भिक बुद्ध-काल में ललित कलाओं के विकास की ओर समाज-सुधारक श्रमणों का ध्यान नहीं था। वे इन्हें इद्रियारामी विलासियों की वासना की तृप्ति का साधन तथा उत्तंजक मानते थे। बौद्ध साहित्य में भिक्षुओं को मठों, विहारों एवं चैत्यों में चित्र-चित्रण का निषेध किया गया था। स्तूपों पर माला एवं लता-जाल आदि का प्रतीक बनाना भी मना था। किन्तु काल के प्रभाव से इस विचार में परिवर्त्तन आया। शनै:-शनै: प्राचीनतम ब्राह्मण धर्म का प्रभाव इस दिशा में बौद्धों पर भी पड़ने लगा। अब शिल्पशास्त्र की उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने के हेतु लिच्छवि युवक सुदूरस्थित तक्षशिला विश्वविद्यालय की यात्रा करने लगे। अनेक भिक्षु स्थापत्य कला में प्रवीण एवं निपुण निकले। उन्होंने अनेक निर्माण अपनी अधीक्षता में करवाये (चुल्लवग्ग-६, सेकरेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, २०, १८९-९०)। भवन-निर्माण, मूर्त्तिकला, तथा चित्र-चित्रण में अनेक बौद्ध-भिक्षु पारंगत थे। गृह-निर्माण के हेतु स्थान-चयन में निपुण को 'वत्थुविज्जा चरिय' की संज्ञा दी जाती थी (तक्का जातक नं० ६३, सुरुचि जातक नं० ४८९)। भू-गर्भ-स्थित भवनों के निर्माण का वर्णन 'महा उम्मग्ग जातक' में मिलता है (जातक नं० ५४६)। उष्ण-वायु-स्नान-गृहों का भी वर्णन बौद्ध साहित्य में मिलता है (विनय टेक्स्ट, ३, १०५-१०, २९७)। आधुनिक 'टरकिश बाथ' से मिलते-जुलते उस काल गंगा की तराई वाले स्थानों में प्रचलित एक प्रकार के स्नान की भी चर्चा पायी जाती है, जो कम आश्चर्य-उत्पादक नहीं है। भवन-निर्माण में व्यवहार किये जाने वाले उपकरणों एवं उपस्करों तथा उनके सामने के भाग की शोभा में और भी चार चाँद लगा देने वाले नक्शों अथवा रूपांकनों (Designs) का भी वर्णन बौद्ध साहित्य करता है। पर ऐसे भवन समाज में श्रीमानों के ही होते थे। ग्रामों में तो विशेषतया घास, फूस एवं मिट्टी से बने झोपड़ों का ही बाहुल्य था। एक व्यवसाय के लोग प्राय: एक जगह निवास करते थे, और उस गाँव का नामकरण उस के निवासियों के व्यवसाय के अनुसार होता था, जैसे ब्राह्मण गाँव, निषाद गाँव, वधिक गाँव, गुरु गाँव आदि।

दुर्भिक्षों का भी वर्णन प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में पाया जाता है। 'महावस्तु' में वैशाली के एक अश्रुत-पूर्व अकाल की चर्चा आयी है, जिसमें अन्नाभाव के कारण बड़ी संख्या में वहाँ के निवासियों को काल-कवलित होना पड़ा था। खुले स्थान में पड़े मृतकों की सड़ाँध से मार्ग चलना कठिन था तथा गन्दगी एवं निर्मल पेय जल की कमी के कारण वहाँ के अधिवासियों के बीच विसूचिका तथा उसके सहायक अन्य आन्त्र रोगों का प्रकोप अत्यधिक हुआ, जिसके कारण जनता में हाहाकार मच गया। दुष्काल एवं महामारी से त्राण के हेतु वैशाली-निवासी बुद्ध भगवान् के शरणागत हुए और उनको उन सबों ने अपने यहाँ आमन्त्रित किया। तथागत के वैशाली-जनपद में पवित्र चरण पड़ते ही आँधी एवं गर्जन-तर्जन के साथ घोर वर्षा हुई (थेरा गाथा, ५, ५५; पाली टेक्स्ट सोसाइटी-शाम्स ऑफ दी ब्रेदरेन, ५६; होमेज, १२६, डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० १४२)।

बुद्ध-युग के किसी भी सामन्तशाही जनतन्त्र, अथवा विशुद्ध प्रजातान्त्रिक राज्यों में कृषकों की उपज के अंश के रूप में अथवा किसी अन्य रूप में वार्षिक प्रत्यक्ष कर प्रजावर्ग को चुकाना पड़ता था अथवा नहीं, इसका पता स्पष्ट रूप से बौद्ध साहित्य नहीं देता है। श्रमिकों से बलात् बेगारी लेने की भी प्रथा वहाँ न थी। जनता अन्य की सेवा को निकृष्ट समझती थी। हाँ, धनिक वणिक्-समाज तथा सामन्तों एवं भू-स्वामियों की सेवा में वेतनभोगी सेवकों की कमी नहीं रहती थी (बुच : एकौनौमिक लाइफ इन ऐन्शिएण्ट इण्डिया, वाल्यूम-१,२४४-४६)। प्रजावर्ग में अधिकांश सुखी एवं सम्पन्न कृषक थे, जिनकी जमीन अपनी होती थी। इनके अतिरिक्त हस्त-शिल्पी भी थे। ग्राम के निर्वाचित मुखिया का शासन ग्राम में होता था (टी० डब्ल्यू० रीस डेविड : बुद्धिस्ट इण्डिया, द्वितीय संस्करण, ६३)।

व्यापारियों का अपना संघ अथवा निगम होता था, और उसका संचालन उनके अपने बनाये नियमों के अनुसार होता था। उसके पदाधिकारी सेठी और महासेठी कहलाते थे। संघ के प्रमुख को सेनियों की संज्ञा दी जाती थी। राजगृह एवं काशी के सेठियों की चर्चा प्राचीन ग्रन्थों में आयी है। श्रावस्ती के प्रसिद्ध व्यापारी अनाथ पिंडद को जातकों में महासेठी की उपाधि दी गयी है। अट्ठारह प्रकार के व्यावसायिक संघों अथवा निगमों का उल्लेख प्राप्त होता है। एक सहस्र धातु-कर्मियों के ग्राम के प्रधान जेट्ठक अथवा प्रमुख कहे जाते थे, और उनका अधिकार ग्राम तथा ग्राम-परिषद् के मुखिया का होता था। ऐसे स्थानीय संघों के मुखिया सम्पन्न जन होते थे, और वे राजा के प्रियपात्र भी होते थे (जरनल आफ दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, १९२२, ४, ३९-४०, ४५-४७; टी० डब्ल्यू० रीस डेविड : बुद्धिस्ट इण्डिया, द्वितीय संस्करण, ५७-६०)। संघों के बीच के झगड़ों का निर्णय महासेठी के द्वारा होता था। संघ के सदस्यों के पारिवारिक विवादों का निपटारा भी व्यापारी संघ द्वारा ही होता था।

व्यावहारिक व्यय से बचे हुए द्रव्य का संचय भविष्य की चिन्ता से मुक्त होने के विचार से एकान्त स्थान में छिपाकर किया जाता था। इससे उसके बलपूर्वक छीने जाने तथा चोरी होने का भय नहीं रहता था। जनता की संचित निधि को सुरक्षित रखने के हेतु शासकीय अथवा अशासकीय निधि-रक्षणागारों का प्रबन्ध उस युग में था अथवा नहीं,

इसका स्पष्ट पता नहीं चलता है । विनिमय माशक, अर्द्धमाशक, पाद, अर्द्धपाद, कहापण एवं अर्द्ध कहापण के द्वारा होता था । ताम्रमुद्रा का प्रचार विशेष था । पादमुद्रा (एक सौ रत्ती की चौथाई) का प्रचलन बुद्ध-युग तथा जनक-युग में भी था (अबुल फजल : आइन-ए-अकबरी, ८०) । किसी-किसी विद्वान् का मत है कि बुद्ध भगवान् के जीवनकाल में रजत मुद्रा का प्रचार ताम्र मुद्रा के साथ-साथ था । स्वर्ण मुद्रा का प्रचार इतिहासज्ञ संदिग्ध बताते हैं । पर वाल्मीकीय रामायण में बुद्धकाल के बहुत पूर्व राम-युग में भी स्वर्ण मुद्रा की चर्चा आयी है । दशरथ-कुमार राम के राज्याभिषेक के पश्चात् जो अश्वमेध यज्ञ अयोध्या में किया गया था, उसमें ऋषि वाल्मीकि के आश्रम में निर्वासिता महारानी सीता के यमज राजकुमार लव एवं कुश (महाराज राम के दोनों पुत्र) ने ऋषि-आज्ञा से रामायण का गान किया था । राम, इस तथ्य को न जानकर कि वे दोनों ऋषि-कुमार न होकर उन्हीं के राजकुमार हैं, उन दोनों के मनमोहक गान से प्रसन्न हुए, और अपने अनुज लक्ष्मण से उन्हें 'अष्टादश सहस्राणि सुवर्णानि' (अट्ठारह हजार स्वर्ण-मुद्रा) से पुरस्कृत करने के लिए कहा । उन दोनों कुमारों ने भी अपने को अयोध्या के राजकुमार होने के तथ्य को न जानते हुए और अपने को वनवासी मानते हुए महाराज राम से कहा था कि--''सुवर्णेन हिरण्येन किं करिष्यावहे वने'' अर्थात् हम दोनों सोने की मुद्रा लेकर वन में क्या करेंगे ? इससे स्पष्ट होता है कि बुद्धकाल के पूर्व भी सोने के सिक्के का प्रचलन उत्तर-पूर्व भारत में अवश्य था । तब वैशाली राज्य उसका अपवाद कैसे हो सकता था ?

वैशाली के पश्चाद्वर्ती लिच्छवी

साम्राज्यवादी मगध-सम्राट् अजातशत्रु के साथ समर में वज्जिसंघ के पराभव के पश्चात् के लिच्छवियों का इतिहास तमसावृत है । उस युद्ध के भयंकर विनाश से बचे हुए लिच्छवियों में से कुछ तो नेपाल के अरण्य-प्रदेश की ओर चले गये, जिसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है, और कुछ तितर-बितर होकर अव्यवस्थित रूप में अपने गत वैभव एवं प्रतिष्ठा के पुनः उद्धार कर लेने की आशा में वैशाली के आस-पास प्रच्छन्न अथवा प्रकट रूप में निवास करने लगे । ऐसा जान पड़ता है कि अपने अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु प्रयत्न करने से वे कभी पराङ्मुख नहीं हुए । प्रबल रिपु अजातशत्रु की छल-छद्‌मय विनाशलीला भी उनको समूल नष्ट कर देने में अक्षम ही रही । इतिहास समय-समय पर उनको उत्तर बिहार की मिथिला के राजनीतिक रंगमंच पर प्रकट होने का प्रमाण देता है । कौटिल्य अर्थशास्त्र के उल्लेख से पता चलता है कि ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी में लिच्छवियों का शक्तिशाली संघराज्य वैशाली के अंचल में शासन कर रहा था, जो सम्भवतः अपने राज्य के आंतरिक मामलों में स्वतंत्र था । वह काल महाप्रतापी नन्द-वंश के अवसान तथा मौर्य कुल के उदय का था । उस काल मगध-साम्राज्य का प्रताप-सूर्य अपनी प्रखर रश्मियों के साथ गगनोन्नत हो चतुर्दिक् तप रहा था, और राजतन्त्र का वहाँ बोलबाला था । पर मगध-साम्राज्य के अधीन होते हुए भी लिच्छवि अपने शासित प्रदेश में जनतन्त्र की प्राचीन पद्धति के अनुसार राज करते थे (डा० बी० सी० लॉ : सम क्षत्रिय ट्राइब्स, ११६) । विश्वविख्यात भारतीय कूटराजनीतिज्ञ चाणक्य, जिनका दूसरा नाम कौटिल्य भी था, ने नन्द-वंश के अन्तिम राजा घनानन्द के शासनकाल में पाटलिपुत्र के क्रान्तिकारी नेता

चन्द्रगुप्त को परामर्श दिया था कि वह पड़ोस के संघराज्यों से नन्द-वंश का सिंहासन उलटनें में सहायता माँगे, क्योंकि अपनी एकमतता एवं ऐक्य के कारण वे उस युग में अजेय थे (डा० वी० सी० लॉ० : सम क्षत्रिय ट्राइब्स, ११६)। यह राजनीति के आचार्य चाणक्य की यह सम्मति स्पष्ट रूप से बताती है कि उस काल से दो शताब्दियाँ पूर्व वज्जिसंघ का पतन होने पर भी वैशाली के लिच्छवियों ने नन्द-युग में अपने अस्तित्व को एक शक्तिशाली संघ के रूप में कायम रखा था, और वे बहुत अंशों में स्वतन्त्र भी थे।

इसमें सन्देह नहीं कि वैशाली के लिच्छवि मौर्यों के उत्कर्ष के दिनों में उनके अधीन हो गये थे, पर उनका पृथक् अस्तित्व मिटा नहीं था। वैशाली की खुदाई से प्राप्त मोहर नं० ८०० (आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया ; ऐनुअल रिपोर्ट, १९१३-१४, पृ० ११६, जिसमें 'वैशाली अनुसंयानक-टकार' शब्द-जाल उत्कीर्ण था, और जिसका अर्थ होता है टकार का वैशाली आरक्षी), मिट्‌टी एवं बालू से बनी पक्की मूर्त्तियाँ, मौर्य-कालिक रंग चढ़ाया हुआ प्रस्तर-खण्ड तथा मौर्यकालीन मुद्राओं की प्राप्ति वैशाली के मौर्यों के अधीन होने का द्योतक है। पर इतना होने पर भी इतिहास बताता है कि उसका अस्तित्व भारत के मानचित्र पर से हटा नहीं था।

शुंग एवं कण्व-वंशों की साम्राज्य-शक्ति के अवसान के पश्चात् पश्चाद्वर्त्ती वकाटकों के समय में वैशाली को भारतीय राजनीति में पुनः पनपने का साक्ष्य इतिहास के पन्नों से प्राप्त होता है। उस काल में लिच्छवियों की शक्ति, प्रतिष्ठा एवं उनका मान जाग उठा। उनकी गणना पूर्वोत्तर भारत के शक्तिशाली राष्ट्रों में होने लगी। उस प्रख्यात गणराज्य के वीर्यवान् लिच्छवि-भूप की कन्या कुमारदेवी का विवाह गुप्त-राजकुल के तृतीय राजा चन्द्रगुप्त प्रथम के साथ हुआ। इस विवाह ने गुप्त-काल को अति गौरवान्वित बना दिया। लिच्छवियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध के कारण चन्द्रगुप्त के ऐश्वर्य एवं उदीयमान शक्ति में अप्रमेय योगदान प्राप्त हुआ। चन्द्रगुप्त प्रथम के एक प्रकार के सोने के सिक्के में यह महत्त्वपूर्ण घटना उत्कीर्ण पायी गयी है। इस विवाह से गौरवान्वित होकर चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने स्वर्ण-सिक्कों में अपने साथ अपनी लिच्छवि रानी कुमारदेवी की आकृति भी अंकित करवायी थी। प्रयाग के विख्यात प्रस्तर-स्तम्भ पर चन्द्रगुप्त प्रथम के विक्रमी पुत्र सम्राट् समुद्रगुप्त ने प्रशस्ति-अभिलेख उत्कीर्ण करवा कर अपने को उसमें लिच्छवि-दौहित्र बताया था, तथा वह विरुद प्राप्त कर उसने अति उच्च गौरव का अनुभव किया था। इससे यह स्पष्ट झलकता है कि जब चौथी शताब्दी में गुप्तों का प्रताप-सूर्य अत्युच्चाकाश में सुशोभित होकर तपायमान था, उस काल में भी लिच्छवियों का राजनीति में प्रमुख स्थान था, और उत्तर बिहार का वैशाली-राज्य प्रधान राज्यों में से एक था। वैशाली-नरेश की दुहिता से विवाह के पश्चात् चन्द्रगुप्त प्रथम की राजनीतिक क्षमता इतनी बढ़ गयी कि उसने महाराजाधिराज का साम्राज्योचित विरुद धार ; कर लिया।

चीनी यात्री हुएन्-त्सं के यात्रा-वृत्तान्त से पता चलता है कि सप्तम शताब्दी के प्रथम चरण में लिच्छवि-कुल का अंशुवर्मन् नेपाल पर शासन करता था (एस० वील : बुद्धिस्ट रेकर्ड्स ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड-२, ८१; डी० आर० रेगमी : ऐन्शिएण्ट ऐंड मेडिएवल नेपाल, ४९)। इसका विस्तृत विवेचन पुस्तक के नेपाल खण्ड में की जायगी।

उपर्युक्त चीनी लेख तथा वंशावली से भी पता चलता है कि लिच्छवियों की एक शाखा नेपाल चली गयी तथा वहाँ लिच्छवि-राजकुल की स्थापना की । इस विषय की चर्चा संक्षेप में पूर्व में भी की जा चुकी है ।

सम्भवतः नेपाल में लिच्छवियों का राजतान्त्रिक शासन प्रथम शताब्दी में आरम्भ हुआ था । उनलोगों ने एक नये अब्द को भी जन्म दिया, जिसका आरम्भ १११ ई० में बताया जाता है (सिलभ्यां लेवी : ली नेपाल, २, १४) । वहाँ पर कुल मिलाकर लिच्छवियों की ३३ पीढ़ियों ने शासन किया, जिनमें जयदेव प्रथम पहला राजा था और जयदेव द्वितीय अन्तिम ।

अजातशत्रु से रण-पराभव प्राप्त कर लिच्छवि वैशाली से ईसा-पूर्व छठी शताब्दी में विस्थापित हुए । ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी में उनके संघ-राज्य का पता वैशाली में इतिहास देता है और प्रथम शताब्दी से अष्टम शताब्दी के तृतीय चरण तक उनकी एक शाखा के राजतान्त्रिक शासन का ब्योरा नेपाल से प्राप्त होता है । इसके अतिरिक्त लिच्छवियों का छठी शताब्दी ईसा-पूर्व से प्रथम शती ईसा पश्चात् तक का इतिहास अंधकार में पड़ा हुआ है ।

तिब्बती लेखों से पता चलता है कि तिब्बत का प्राचीनतम नरेश 'लि-त्स-व्य' कुल का था, और उस देश का प्रथम राजा विदेश से वहाँ पधारा था । 'लि-त्स-व्य' तिब्बती शब्द लिच्छवियों का द्योतक है । तिब्बत के भूपति तथा लिच्छवियों का एकमूल होना यह सिद्ध करता है कि सम्राट् अजातशत्रु के साम्राज्यवादी युद्ध के परिणामस्वरूप विस्थापित लिच्छवियों में से एक दल ने उत्तर की ओर प्रस्थान किया । उनमें से कुछ तो नेपाल में बस गये, और कुछ लोगों ने उत्तर दिशा में और अधिक अग्रसर होकर हिमालय पार किया । वे तिब्बत पहुँचे, जहाँ मान-सरोवर और कैलाश उनके पूर्वजों के पूर्व परिचित तथा पूर्व पर्वत थे । अपने बाहुल्य से वहाँ के राजसिंहासन पर उन्होंने आधिपत्य स्थापित किया तथा सदियों तक शासन भी किया । वैशाली, नेपाल तथा तिब्बत के लिच्छवियों में रक्त का सम्बन्ध होने का अनुमान किया जाता है । वैशाली का अतीत बताता है कि वहाँ ऐतिहासिक युग में बौद्ध धर्म के साथ ब्राह्मण धर्म का भी विकास एवं प्रचार जन-साधारण में प्रचुर रूप में था । नेपाल के लिच्छवियों में भी बौद्ध एवं ब्राह्मण-धर्मों के अनुयायी थे। उनके शासन-काल में नेपाल में अनेक वैष्णव, शैव एवं शाक्त मन्दिरों का निर्माण हुआ और बौद्ध बिहार तथा चैत्यादि भी बने । भगवान् पशुपतिनाथ का मन्दिर उसमें उल्लेखनीय है । इससे यह पता चलता है कि वैशाली नेपाल के लिच्छवियों का आदि-निवासस्थान था जहाँ बौद्ध एवं ब्राह्मण धर्म समान रूप से समादृत थे । (जरनल ऑफ दि रॉयल ऐशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १६, १९५०; नं० २, पृ० १८४) । नेपाल में निवास करने पर भी लिच्छवियों का धार्मिक विचार पूर्ववत् बना रहा, और उन्होंने अपनी धर्मनिरपेक्षता की नीति पर अटल रहकर वैष्णव, शैव, शाक्त एवं बौद्ध सम्प्रदायों का समान रूप से प्रोत्साहन दिया । तिब्बत के मान-सरोवर, ब्रह्मपुत्र (सांपू) के उद्गम-स्थान रावण ह्रद तथा कैलाश आज भी नेपाल एवं भारत के पूज्य दर्शनीय तीर्थ हैं, जहाँ इन स्थानों से प्रतिवर्ष शतशः श्रद्धालु तीर्थार्थी दर्शनार्थ जाया करते थे; जो साम्यवादी चीन का वहाँ शासन हो जाने के कारण अब रुक गया है ।

यह पूर्व में अंकित किया जा चुका है कि लिच्छवियों ने सम्भवतः कभी मगध में भी शासन किया था। नेपाल-नरेश जयदेव द्वितीय के उत्कीर्ण अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसके आदि-पूर्वज ने लगभग प्रथम शताब्दी में पाटलिपुत्र नगर में जन्म ग्रहण किया था, और उसका नाम सुपुष्प था। सम्भवतः उस सुपुष्प ने कनिष्क के मन्त्री (वंशपर) के पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने पर कुशानों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। सुपुष्प के विषय में प्रमाणपूर्वक कुछ कहना कठिन है। पर इसमें सन्देह करने की जगह नहीं है कि मगध के अधिराटों से पराभव पाकर वैशाली के लिच्छवियों की एक शाखा नेपाल चली गयी। गुप्त राज-कुल का वैवाहिक सम्बन्ध लिच्छवियों की नेपाली शाखा के साथ नहीं था, ऐसा अनुमान किया जाता है; क्योंकि लिच्छवि-दौहित्र समुद्रगुप्त द्वारा नेपाल की विजय कर उसे अपने अधीन करने की बात बतायी जाती है। चन्द्रगुप्त प्रथम का वैवाहिक सम्बन्ध लिच्छवियों की जिस शाखा के साथ था, उसके सम्बन्ध में 'लिच्छव्याः' शब्द का प्रयोग हुआ है। चन्द्रगुप्त प्रथम की मुद्रा पर लिच्छवि-राज्य के विषय में लिच्छवी शब्द के बहुवचन लिच्छव्याः का अंकित किया जाना बताता है कि सम्भवतः गणतन्त्र वहाँ उस समय भी चल रहा था। पर ऐसा लगता है कि मालव, सनकानिक आदि गणतान्त्रिक राज्यों की भाँति वहाँ भी राज-प्रमुख (राजा) का पद वंश-परम्परागत हो गया था, और इस प्रकार का अध्यक्ष लिच्छवि-परिवार की सम्मति से शासन का कार्य करता था (आर० सी० मजूमदार और ए० एस० अलतेकर : ए न्यू हिस्ट्री ऑफ इण्डियन, पीपुल, वाल्यूम-६, १३०)।

भारतीय इतिहास के विद्वान् जिज्ञासु एवं ज्ञाता डा० आर० सी० मजूमदार की राय में तीसरी शताब्दी के अन्तिम एवं चौथी शती के प्रथम चरण में उत्तर भारत में कोई सुदृढ़; स्थायी एवं शक्तिशाली शासन नहीं था। किसी पतनोन्मुख साम्राज्य के विघटनकाल में देश की जो गति होती है ठीक वही दृश्य उत्तर भारत में उपस्थित हो गया था। ऐसी परिस्थिति में अनेक राजतान्त्रिक एवं राजतान्त्रिक छोटे-छोटे राज्यों का उदय वहाँ हुआ, जिनमें पूर्व भारत में लिच्छवियों एवं गुप्तों के क्रमशः गणराज्य एवं राजतान्त्रिक राज्य थे (डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० १६०)। पर पीछे चलकर दोनों राज्यों के बीच के वैवाहिक सम्बन्ध ने दोनों राज्यों को मिला दिया (आर० सी० मजूमदार एवं अलतेकर : ए न्यू हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पीपुल, वाल्यूम-६, १३३)।

डा० मजूमदार ने एक नवीन तथ्य का पता लगाकर उसपर प्रकाश डाला है। जिस प्रकार पूर्वोत्तर बिहार के प्राचीन अंग (भागलपुर अंचल) प्रदेश की राजधानी चम्पा के नाम पर हिन्द-चीन में चम्पा नामक उपनिवेश की स्थापना कर अंग देश के साहसी वीर श्री मार ने लगभग दूसरी शती ईसवी में वहाँ एक अंग देशीय भारतीय राजवंश की नींव दी थी, जिसने १५ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक वहाँ राज किया था, उसी तरह ७८९ ई० के लगभग चन्द्रकुल के किसी नरेश ने अपने वैशाली नगर के नाम पर सुदूर स्थित आराकान में वैशाली नगर की स्थापना की थी। लगभग दो शताब्दियों तक वह नगर उस राजवंश की राजधानी के रूप में शोभायमान रह कर भारतीय संस्कृति एवं बौद्ध-दर्शन का सुदृढ़ संरक्षक बना अटल खड़ा था। वह नगर अकयाब जिले में था। वर्तमान नाम उसका वेथाली है जो वैशाली का स्थानीय उच्चारण है। बर्मा के लेखों से भी पता चलता है कि

पगान का प्रसिद्ध राजा अनिरुद्ध था, जिसने १०४४ से १०७७ ई० तक राज किया था। अनिरुद्ध का विवाह वैशाली-नरेश की राजकुमारी के साथ हुआ था। उसी रानी के पुत्र को राज्य-सिंहासन प्राप्त हुआ, और उसने सर्वत्र प्रसिद्धि प्राप्त की (होमेज-४३; डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० १६०, पाद-टिप्पणी)। उपर्युक्त कथानक से भी पश्चाद्वर्त्ती लिच्छवियों के प्रसार पर किंचित् प्रकाश पड़ता है।

गुप्त राजकुल के पतन के पश्चात् वैशाली नगर त्यक्त एवं गौरव-शून्य हुआ प्रतीत होता है। उसे बहुत दिनों तक उत्तर बिहार का प्रसिद्ध राजनगर बने रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। हर्यंक कुल के अवसान के पश्चात् शिशुनाग कुल की राजधानी भी वहाँ कुछ काल तक रही। शुंगों एवं कण्वों के ब्राह्मण राजवंशों के पतन के उपरान्त भी इसके सौभाग्य-सूर्य का पुनः उदय हुआ। हुएन्-त्सं के यात्रा-काल में वैशाली नगर खंडहरों का दृश्य प्रदर्शित कर रहा था। सभी गगनचुम्बी विशाल प्रासाद भूमिसात् हो चुके थे और सरोवरों के घिनौने मैले जल से दुर्गन्ध निकल रही थी। ब्राह्मणों एवं जैनियों का निवास वहाँ आस-पास में था। पर आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, ऐनुएल रिपोर्ट (१९०३-४, पृ० ८८) के अनुसार जो बुद्ध-मूर्तियाँ वैशाली के खण्डहरों से प्राप्त हुई हैं, उनसे पता चलता है कि वहाँ मुसलमानों के विजय-काल तक बौद्ध भी निवास करते थे।

वैशाली में सामन्तशाही गणतान्त्रिक जनतन्त्र सहस्र वर्षों से भी अधिक काल तक बना रहा। यह ऐतिहासिक युग की बात कही गयी है। यदि पौराणिक वैशाली-नरेश सुमति के पश्चात् से वहाँ गणतन्त्र की स्थापना स्वीकार कर ली जाय तो उसकी दीर्घायु कई सहस्र वर्षों की होगी। यह भारतीय विचार-स्रोत का परिचायक एवं दिग्दर्शक है। विश्व के किसी भी देश में कोई भी जनतन्त्र इस प्रकार की चिरायु प्राप्त करने में अक्षम रहा है, इतिहास इसका साक्षी है। वेनिस, जेनेवा, एथेन्स आदि को ऐसा सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका था। भारत के ही वज्जि संघ के पूर्वोक्त ३६ जनपदों में से विदेह एवं वैशाली को छोड़कर अन्य को ऐसा भाग्य नहीं मिल सका। पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् हिन्दू-भारत से प्राचीन जन-तन्त्र का नाम तक मिट गया और लिच्छवि-गणतन्त्र भारतीय राजनीति से तिरोहित होकर केवल इतिहास के पन्नों की वस्तु बन गया। भारतीय इतिहास में ५५० ई० के पश्चात् यत्र-तत्र उस प्रकार के चमकते रत्न अवश्य दृष्टिगत होते हैं, पर उनके एक-जातीय सूत्र में पिरोये जाकर सहजीवन और सह-अस्तित्व का आदर्श उपस्थित करते राजनीतिक क्षेत्र में लिच्छवियों के वज्जिसंघ के पतन के बाद कभी देखा नहीं गया। पुराना जन-जीवन पुनः नहीं लौट सका और जनता के लिए स्वतन्त्रता की साँस लेना अतीत की वस्तु बन गया। वैशाली का गणतन्त्र संभवतः संसार का प्राचीनतम जनतान्त्रिक शासन था, जिस पर साम्राज्यवाद का आघात ईसा-पूर्व छठी शताब्दी से होना आरम्भ हुआ, और उसका अन्तिम रूप से अवसान खीष्टाब्द षष्ठ शती के मध्य लगभग हुआ तथा उसे हिन्दू-भारत से अन्ततोगत्वा अदृश्य होना पड़ा। गणतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र का स्थान पूर्ण रूप से राजतन्त्र ने ले लिया।

तृतीय अध्याय

ईसा-पूर्व पाँचवीं शताब्दी से ईसा-पूर्व प्रथम शती तक की मिथिला

मगध-वैशाली-संघर्ष के पीछे

वैदिक काल से लेकर ऐतिहासिक काल अर्थात् बुद्ध युग तक की मिथिला का संक्षिप्त वर्णन पूर्व के पृष्ठों में किया जा चुका है । कहीं-कहीं पर प्रसंगानुसार ५वीं एवं ६ठी शती के गुप्त युग तक की बातें भी की गयी हैं । अब आगे के पृष्ठों के इस अध्याय में मगध-वैशाली-संघर्ष से पीछे की मिथिला के राजनीतिक इतिहास का विवरण ईसा-पूर्व प्रथम शती के आन्ध्र-सातवाहन तथा खारवेल काल तक अंकित किया जायगा ।

ऊपर लिखा जा चुका है कि भगवान् गौतम बुद्ध के महानिर्वाण के केवल कई वर्षों के पश्चात् ही वैशाली के लिच्छवि-संघ-राज्य का विनाश हर्यंक वंशीय अजातशत्रु के साम्राज्यवाद एवं प्रसार-लिप्सा के कारण हुआ । वैशाली को मगध की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी । विदेह-राज्य इसके बहुत पूर्व वैशाली के वज्जि-संघ में विलीन हो चुका था । अतः वैशाली के पतन से हिमालय पर्वत से लेकर गंगा तक और कौशिकी से सदानीरा (नारायणी अथवा शालिग्रामी गण्डक) तक की भूमि एवं वहाँ की राजकीय सत्ता पर मगध-साम्राज्य का आधिपत्य स्थापित हो गया । आपसी फूट के कारण वहाँ के अजेय संघ-राज्य का पतन शत्रु के सम्मुख हुआ । विजय-मद-उन्मत्त साम्राज्यवादी सैन्य का प्रवेश सेनानियों के आदेश से वज्जि संघ के अति प्राचीन गणतान्त्रिक राजनगर वैशाली के अन्दर बलात् हो गया । संघ के अध्यक्ष राजा चेतक की वीरवाहिनी के वीर अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता की रक्षा में तब तक युद्ध करते रहे जब तक शरीर की नसों में एक बूँद भी रक्त शेष रह गया । उस विनाशकारी समर में स्वाधीनता के आराधक सैनिकों का एक-एक कर विनाश हुआ । मगध-अमात्य वस्साकार (वर्षाकार) का षड्यन्त्र सफल हुआ । संघ के सदस्यों ने पतन की वेला में अपनी भूल स्वीकार की । फूट के स्थान में उन सबों में मेल हुआ । सबों ने मिलकर शत्रु का सामना काल बन कर किया । पर चेतना बहुत विलम्ब से आयी थी । संघ का लड़खड़ाता चरण टिक न सका । उस समर में लिच्छवि वीरों का संहार हुआ । चेतन ने दुहिता-पुत्र के सामने पराभव पाकर अपने कलंकित मुख को समाज से सदा के लिए छिपा लेना उचित समझा । उस स्वतन्त्रता के अर्चक को पराधीन बनकर जीना उचित नहीं जँचा । कहा जाता है कि उसने कुएँ में कूद कर अपनी ऐहलौकिक लीला समाप्त की । इस रण के परिणाम में मिथिला शिथिला होकर परतन्त्र बनी । विजेता की विजय-वैजयंती संघ-सदन पर फहराने लगी । लिच्छवियों के इस पराभव ने भारत की राजनीति में एक नया मोड़ उत्पन्न किया । साम्राज्यवाद के शनैः शनैः एक-एक कर

गणतान्त्रिक राज्य को उदरस्थ करना आरम्भ किया। मगध-सम्राट् बिम्बसार ने इस अभियान को आरम्भ किया, जिसकी सफलतापूर्वक पूर्त्ति उसके पुत्र अजातशत्रु (कुणीक) द्वारा हुई। कीकट-साम्राज्य की राजधानी का स्थानान्तरण पंच पर्वत परिवेष्टित प्राचीन नगर गिरिव्रज राजगृह से पाटलिपुत्र में हो चुका था। अतः विदेह और वैशाली की राजनीति का केन्द्र भी अब से पाटलिपुत्र ही हुआ। इसके बाद का इतिहास बताता है कि ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक मिथिला को अपने कंधे पर भारत के अन्य-प्रदेशीय राजनीतिक शक्ति की परतन्त्रता के जूए को ढोने के लिए बाध्य होना पड़ा। जनक, याज्ञवल्क्य और नाभाग की भूमि से स्वतन्त्रता तिरोहित हो गयी। संसार की सांस्कृतिक पथ-प्रदर्शिका भूमि दूसरे की राजनीतिक दासी बन गयी। यह काल-चक्र की चाल का परिणाम था।

मिथिला में विजेताओं का शासन

हर्यंक राजकुल

पूर्व में लिखा जा चुका है कि वज्जिसंघ का पतन मगध-साम्राट् अजातशत्रु के द्वारा हुआ था। यह अजातशत्रु कीकट-नरेश भट्टीय-पुत्र बिम्बसार का महत्त्वाकांक्षी तनय था, जो अपने पराक्रमी पिता की हत्या कर मगध के राजसिंहासन पर बैठा था। बिम्बसार हर्यंक कुल का नागवंशीय क्षत्रिय था (अश्वघोष : बुद्धचरित, एकादश सर्ग, श्लोक २, यथा 'जातस्य हर्यंककुले विशाले' आदि)। पाली साहित्य भी बिम्बसार को हर्यंक कुल का ही बताता है। पर पुराण उसे शिशुनाग वंशीय कहकर पचिय देता है। अजातशत्रु ने मगध साम्राज्य के भावी विकास की नींव को अनेक पड़ोसी राजाओं को पराजित कर सुदृढ़ किया था। पुराणों के अनुसार अजातशत्रु की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र दर्शक मगध के राज्य-सिंहासन पर आसीन हुआ, जिसका पृष्ठपोषण भास कवि लिखित संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'स्वप्न-वासवदत्ता' से भी होता है। कुछ लोग दर्शक को अजातशत्रु का पुत्र नहीं मानते हैं। अजातशत्रु की मृत्यु ४७५ वर्ष ईसा-पूर्व हुई बतायी जाती है (आर० सी० मजूमदार : ऐनिशएण्ट इण्डिया, पृ० १००)। पाली-साहित्य के अनुसार अजातशत्रु के बाद उसका पुत्र उदायिन् अथवा उदयिभद्र गद्दी पर बैठा (दीघनिकाय)। पाटलिपुत्र नगर (वर्तमान पटना) का निर्माण इसी राजा के शासनकाल में हुआ। पुराणों के अनुसार दर्शक के पश्चात उदायिन् और उसके बाद नन्दिवर्द्धन और महानन्दिन् मगध-सिंहासन के स्वामी हुए। परन्तु सिंहल के पाली-ग्रन्थ 'महावंश' के अनुसार अजातशत्रु के पश्चात् क्रमशः उदायिन्, अनिरुद्ध, मुण्ड और नागदाशक ने मगध-सम्राट् के पद को सुशोभित किया। इनमें उदायिन्, अनिरुद्ध एवं मुण्ड को भी पितृहन्ता बताया गया है (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० १००)। अजातशत्रु ने वैशाली के लिच्छवि-संघ को पराजित कर विदेह एवं वैशाली जनपदों को अपने साम्राज्य में मिला लिया था। अतः उसके बाद उसके उपर्युक्त वंशधरों ने उसके विजित राज्य मिथिला (वैशाली एवं विदेह) पर भी राज्य किया। आधुनिक विद्वान् महावंश के वर्णन को ही विशेष प्रामाणिक समझते हैं। पर इस प्रकार पाली-साहित्य के वर्णनानुसार हर्यंक कुल के कुल ५ राजाओं ने मिथिला पर शासन किया,

और पुराण के अनुसार भी पाँच ही नृपतियों ने वहाँ राज किया । केवल नामों में अन्तर मिलता है ।

शिशुनाग-कुल

हर्यंक-कुल के अन्तिम नृपति नागदशक के शासनकाल में उस कुल की शक्ति क्षीण होती दीख पड़ती है । उनमें से कई भूपति पितृघातक निकले । स्वार्थपरता ही ऐसे जघन्य पाप का कारण हो सकती है । कुशासन की जड़ में भी शासकों की लोलुपता, कर्त्तव्यहीनता एवं उनका स्वार्थ भाव छिपा रहता है । प्रजा सदा सुशासन की अपेक्षा करती है और अपने अभावों की पूर्त्ति, जिसका कुशासन में होना असम्भव हो जाता है । इससे शासित जन-समुदाय के बीच असंतोष फैलता है । असंतुष्ट प्रजा के बीच असंतोष की पराकाष्ठा ही राज्यों में क्रान्ति की जननी होती है । जनता विषमता को सहन करने में असमर्थ रहती है । समान अधिकार और समान सुख-भोग जन-साधारण का लक्ष्य होता है। उसमें विषमता आने पर जनक्रान्ति अवश्यंभावी हो जाती है, जिससे शासन में उलट फेर होता है ।

हर्यंक-कुल के उपर्युक्त नृपतियों के कुशासन से जनता ऊब गयी । राज्य में क्रान्ति मची । शिशुनाग नामक व्यक्ति उस काल में हर्यंक वंशीय सम्राट् की ओर से वाराणसी (काशी) का शासक था । वह वीर एवं न्यायप्रिय व्यक्ति था । वह लिच्छवि कुलोद्भव था। जनता ने उसके अगुआ बनाया । उसने हर्यंक कुल के जन-अप्रिय तथा शक्तिक्षीण नृपति से गद्दी छीन ली और मगध के सिंहासन पर वह स्वयं आसीन हुआ । उसके वंश में पाली साहित्य के अनुसार उसके पश्चात् क्रमशः कालाशोक (इसको काककर्ण अथवा काकवर्ण भी कहीं-कहीं कहा गया है), उसके पुत्र नन्दिवर्द्धन और उसके ९ भाइयों के नाम आते हैं । इन दसों भाइयों में सबसे प्रख्यात नन्दिवर्द्धन हुआ ।

कालाशोक के छोटे पुत्रों का अभिभावक उग्रसेन था । शिशुनाग ने अवन्ती-नरेश महाशक्तिशाली प्रद्योत-राजवंश का पराभव कर अवन्ती राज्य को मगध साम्राज्य में मिला लिया । महावंश-टीका के अनुसार शिशुनाग वैशाली की एक नगर-शोभिनी का पुत्र था, जिसे राज्य के एक पदाधिकारी ने पाला-पोसा था, (टरनर : महावंश टीका, ३७; डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० १६४) । उसने मगध साम्राज्य का अधीश्वर बन कर पाटलिपुत्र से मगध की राजधानी का स्थानान्तरण पहले राजगृह में किया, और पीछे अपनी मातृभूमि वैशाली में । शिशुनाग के सिंहासनारोहण से वैशाली का पुनः भाग्योदय हुआ दीख पड़ता है । उसका वह राजकुमार मगध का चक्रवर्ती सम्राट् हुआ, जिसने मगध के साथ वैशाली पर भी शासन का सौभाग्य प्राप्त किया ।

पुराणों के वर्णनानुसार शिशुनाग बिम्बसार का पूर्वज एवं उस राजवंश का संस्थापक था, और उसी के नाम पर उस राजवंश का नाम शिशुनाग राजवंश पड़ा था । पर इसका समर्थन सिंहली इतिहास 'महावंश' एवं 'दीपवंश' नहीं करता है । उन ग्रन्थों के वृत्तान्तानुसार शिशुनाग बिम्बसार की कई पीढ़ियों के पश्चात् आता है (राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐनिशएन्ट इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृ० १७८-७९) । पुराणों के कथन का समर्थन प्रकारान्तर से प्राचीन कवि एवं नाटककार भासकृत 'स्वप्न वासवदत्ता' से होता है ।

हो सकता है कि शिशुनाग नाम के दो व्यक्ति हुए हों, जिनमें से एक शिशुनाग प्रथम को पुराणों ने बिम्बसार का पूर्वज और दूसरे शिशुनाग द्वितीय को 'महावंश' ने बिम्बसार के कुल के अन्तिम राजा को राजच्युत करने वाला बताया हो।

शिशुनाग के पश्चात् उसके पुत्र कालाशोक ने भी पाटलिपुत्र और वैशाली पर शासन किया। इसके समय में वैशाली में बौद्ध सम्प्रदाय की दूसरी सभा बुलायी गयी थी। इसने वैशाली से राजधानी का स्थानान्तरण पाटलिपुत्र में किया (राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, छठा संस्करण, पृ० २१९-२०)।

कालाशोक की हत्या उग्रसेन द्वारा हुई। उसके पश्चात् कालाशोक का पुत्र नन्दिवर्द्धन तथा उसके अन्य ९ भ्रातागण राज्य के अधिकारी हुए। किन्तु भीतरी द्रोह एवं षड्यन्त्रों के कारण वे सभी सिंहासनच्युत किये गये और वहाँ नन्द-वंश की स्थापना हुई।

नन्दवंश

पुराणों के अनुसार महानन्दि अथवा नन्दिवर्द्धन की शूद्रा रानी (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० १०१, के वर्णनानुसार नाइन के गर्भ से उत्पन्न) का पुत्र उग्रसेन था। वह बड़ा बलवान्, अति कुशल सेनानी, महत्त्वाकांक्षी, क्रूर एवं लोभी तथा सभी क्षत्रिय भूपतियों का विनाश करनेवाला था। इसी उग्रसेन के विषय में पूर्व में अंकित किया गया है कि वह मगध सम्राट् कालाशोक अथवा काकवर्ण के छोटे-छोटे पुत्रों का अभिभावक था। उसने सम्राट् की एक दिन हत्या कर दी (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिका, पृ० १०१)। कुछ काल पश्चात् उस महत्त्वाकांक्षी ने राजभवन में षड्यन्त्र कर शिशुनाग वंश के सिंहासन को स्वयं अपने लिए सुरक्षित कर लिया। उसने महापद्मनन्द का विरुद धारण किया और एक नये राजवंश नन्द-कुल की स्थापना की। हिमालय और विन्ध्य के बीच इक्ष्वाकु-वंशियों, पांचालों, कौरवों, हैहयों (चेदियों), कालकों, कलिंगों, अश्मकों, वीति-होत्रों, शूरसेनों, मैथिलों एवं अन्य राजाओं को जीतकर दूसरे परशुराम के समान 'सर्व क्षत्रान्तक' बन एकराट् एवं एकछत्र होकर वह मगध के सिंहासन पर शासन करता था। पाली-ग्रन्थों के अनुसार अगणित विकट सेना तथा अप्रमेय राज्य-कोष-निधि के स्वामी होने के कारण 'उग्रसेन' तथा 'महापद्म' की उपाधियाँ उसने धारण की थीं। पुराणों में उस क्षत्रिय-विरोधी भूप को महाक्षत्रान्तक कहकर उसके कार्य का परिचय दिया गया है।

महापद्मनन्द के पूर्व हर्यंकों एवं शिशुनागों के काल में ही मगध ने अपने पड़ोसी राज्यों को अवंती (उज्जयिनी) पर्यन्त स्वायत्त कर लिया था। पुराणों के अनुसार महापद्मनन्द ने अपनी विजयों द्वारा उत्तर भारत के विशाल भू-भाग पर मगध-साम्राज्य का विस्तार कर लिया।

महापद्मनन्द की विजयों में मिथिला के मैथिलों पर विजय का भी उल्लेख है। विदेह जनपद को हर्यंक वंशीय अजातशत्रु ने ही अपने राज्य में मिला लिया था। अजातशत्रु का राज्य-काल ईसा-पूर्व छठी शताब्दी था और महापद्मनन्द का ईसा-पूर्व चतुर्थ शताब्दी। दोनों के बीच में दो शताब्दियों का अंतर था। मालूम पड़ता है कि हर्यंक कुल के शासन-सूत्र में ढीलापन आने पर वज्जिसंघ के मिथिला का कुछ भाग मगध-साम्राज्य से पृथक

होकर स्वतन्त्र हो गया था, अथवा उस अंश पर उस कुल का अधिकार हो ही नहीं सका था, जिसका पराभव महापद्मनन्द ने फिर से किया। मिथिला के सम्बद्ध भाग की स्वतन्त्रता के काल में वहाँ पूर्ववर्त्ती जनतान्त्रिक शासन था अथवा एक-तान्त्रिक, इसका पता नहीं चलता है। मालूम पड़ता है कि मिथिला का वह भाग, जिसने मगध-साम्राज्य से सम्बन्ध विच्छेद कर अपने को स्वतन्त्र कर लिया था, उत्तर-पूर्व मिथिला का दरभंगा जिला तथा उसके निकट पड़ोस का संलग्न भू-अंश था। सम्भवतः ईसा-पूर्व ३२६ वर्ष में महापद्मनन्द ने अजातशत्रु के प्रहार से बचे हुए मिथिला के स्वतन्त्र राज्य की स्वतन्त्रता उस पर आक्रमण कर नष्ट कर दी।

श्री पार्जीटियर ने अपने ग्रन्थ 'डाइनेस्टीज ऑफ दि कलि एज' (२३, ६९) में महापद्मनन्द के राज्य-विस्तार का वर्णन किया है। जैन साहित्य ने भी उसका अनुमोदन किया है (परिशिष्ट पर्वन्-७, ८१), यथा–

"समुद्रवसनेशेभ्य आसमुद्रमपि श्रियः।
उपाय-हस्तैराकृष्य ततः सोऽकृत नन्दसात्॥"

महापद्मनन्द के बाद उसके आठ पुत्रों ने अपने साम्राज्य का क्रमशः शासन किया, जिसमें सम्पूर्ण मिथिला सम्मिलित थी। महापद्मनन्द के पुत्रों के नाम निम्नांकित थे–

(१) पण्डुक, (२) पण्डु गति, (३) भूतपाल, (४) राष्ट्रपाल, (५) गोविषाणक, (६) दश सिद्धक, (७) कैवर्त्त एवं (८) घन।

विष्णु एवं मत्स्य पुराणों के अनुसार नन्द वंश के ९ राजाओं ने १०० वर्षों तक पाटलिपुत्र के सिंहासन से शासन किया था। किन्तु सिंहल-साहित्य में सभी नन्दों के राज्यकाल का जोड़ केवल २२ वर्ष मिलता है।

नन्द वंश के अन्तिम राजा घनानन्द की क्रूरता, अत्याचार, कुत्सित भावना एवं कुविचार के कारण प्रजा-वर्ग क्षुब्ध हो गया। उसके पिता महापद्मनन्द की क्षत्रिय-विरोधी नीति ने देश की युद्धप्रिय जाति क्षत्रियों में पहले से खलबली उत्पन्न कर रखी थी। अतः मौर्य वंशीय क्षत्रिय चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में क्रान्ति हुई, जिससे नन्दवंश का समूल नाश हुआ।

नन्दों के मन्त्री कल्पक और शाकक्टल आदि जैन थे। यह भी स्मरणीय है कि महापद्मनन्द के 'सर्वक्षत्रान्तक' अभियान में कात्यायन और राक्षस नामक दो कूटनीति विशारद ब्राह्मण मन्त्री भी सहायक थे, जिनकी मन्त्रणा के बल पर मगध के विशाल साम्राज्य ने क्षत्रिय राज्यों के भग्नावशेष पर खड़ा होकर लगभग सारे उत्तर भारत को अपनी सीमाओं में समा लिया था।

'जैन परिशिष्ट पर्वन्' (६,२४४) में घनानन्द के काल में नन्द-साम्राज्य के पतन के विषय में नीचे लिखा श्लोक अंकित किया गया है :–

"ततश्च केचित् सामन्ता मदेनान्धा भविष्णवः।
नन्दस्य न नतिं चक्रुरसौ नमितमूरिति॥"

मैक्रिण्डल की पुस्तक 'दि इनवेजन ऑफ इण्डिया' (२२२) तथा पार्जीटियर के ग्रन्थ 'डाइनेस्टीज ऑफ दि कलि एज' (१२५) से भी नन्द-साम्राज्य के नाश के कारणों पर प्रकाश पड़ता है ।

नन्द-कुल का अन्तिम राजा घननन्द सिकन्दर का समकालीन था । सिकन्दर के भारत से लौट जाने पर मौर्य क्षत्रियकुल का अध्यवसायी युवक वीर चन्द्रगुप्त अपने कूटनीत्याचार्य ब्राह्मण गुरु चाणक्य की सहायता से नन्दवंश का सर्वथा नाश कर मगध की गद्दी पर बैठा था । इस प्रकार कूतने पर पता चलता है कि नन्द-वंश का नाश और चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यारोहण ई० पू० ३२२-२१ में हुआ । विष्णु पुराण में भविष्यद्वाणी के रूप में उल्लेख है कि–

''ततश्च नव चैतान्नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति । तेषामभावे मौर्याः पृथ्वीं भोक्ष्यन्ति । कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तमुत्पन्नं राज्येभिषेक्ष्यति'' ।। (विष्णुपुराण)। श्री पार्जीटियर ने भी अपने ग्रन्थ 'डाइनेस्टीज ऑफ दि कलि एज' (३६, ३५) में पुराणों से उद्धरण दिया है, यथा :–

''उद्धरिष्यति तान् सर्वान् कौटिल्यो वै द्विजर्षभः ।
कौटिल्यश्चन्द्रगुप्तं तु ततो राज्येऽभिषेक्ष्यति ।।''

मौर्य वंश

पूर्व में अंकित किया जा चुका है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने नन्द वंश को निर्मूल कर मगध साम्राज्य के राज्य-सिंहासन पर अपना आधिपत्य स्थापित किया । उसने इस प्रकार मौर्य राजवंश की नींव ई० पू० ३२१ वर्ष में दी ।

कोलियों के राम जनपद (वर्त्तमान गोरखपुर-देवरिया के आस-पास) में क्षत्रियों के मोरीय अथवा मार्य वंश में चन्द्रगुप्त का जन्म हुआ था । 'विष्णु पुराण', बौद्ध साहित्य एवं मध्यकालीन उत्कीर्ण लेखों के अनुसार वह सूर्य-वंशीय क्षत्रिय था । चन्द्रगुप्त का पिता नन्दों की सेना में एक विशिष्ट पदाधिकारी था, जिसे नन्दों ने मरवा डाला था । पीछे चन्द्रगुप्त भी नन्दों की सेना का सेनापति हुआ । किन्तु उसकी भी नन्दों से पटरी नहीं बैठी । पिता की हत्या से वह क्षुब्ध था ही । वह अब सेनापतित्व त्याग कर नन्दवंश के विनाश के हेतु साधन एकत्र करने लगा । वह बहुत बड़ा प्रतिभाशाली और मनस्वी नवयुवक था । उसमें संगठन-शक्ति विलक्षण थी । भाग्यवश उसको सहायक, मित्र और गुरु के रूप में राजनीति में पारंगत और प्रबल कूटनीतिज्ञ तक्षशिला में निवास करनेवाले विद्वान् ब्राह्मण विष्णु शर्मा चाणक्य मिल गये । चाणक्य का गोत्र नाम कौटिल्य था । मगध (प्राचीन कीकट) उसकी जन्म एवं कर्मभूमि थी, ऐसी अनेक शोधकों की धारणा है ।

विदेशी आक्रमण के परिणाम से विचलित और भविष्य में उससे देश की रक्षा करने के हेतु चिन्तित मनीषिप्रवर ब्राह्मण ने राष्ट्र को दुर्बल बनाने वाले उत्तर भारत के विकेन्द्रित छोटे-छोटे राज्यों को तोड़कर एक सुसंगठित एवं केन्द्रित शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित कर लेने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली थी । नन्दों का विशाल साम्राज्य देश के उत्तर-पूर्व में था, पर यह उत्तरापथ की दयनीय राजनीतिक अवस्था से उदासीन था । विदेशी यवन-वीर सिकन्दर

का आक्रमण भारत के उत्तर-पश्चिम भाग पर अचिर पूर्व हो चुका था, जिसके अत्याचारों और वहाँ के नृपतियों एवं जनता की दयनीय अवस्था को वह भूल नहीं सका था। विदेशियों के सफल प्रतिरोध के हेतु वह देश को सबल बनाकर उसे एक सूत्र में बाँधना चाहता था। नन्दों का विद्वान् ब्राह्मण मन्त्री राक्षस उस चाणक्य का सहपाठी मित्र था। सम्भवतः दोनों के जन्म-ग्राम भी एक दूसरे के समीप कहीं पाटलिपुत्र के निकट ही मगध में थे। उसी नाते चाणक्य ने तक्षशिला से पाटलिपुत्र पहुँच कर राक्षस से भेंट की, और नन्दराज घननन्द से मिलकर उससे इस कार्य में सहायता देने की प्रार्थना की, किन्तु उसे वहाँ समादृत होने के स्थान में तिरस्कृत होना पड़ा। वहीं उसने शिखा खोलकर नन्दवंश को समूल नष्ट करने की प्रतिज्ञा की।

कुशल नाटककार गुप्तकालीन सामन्त विशाखदत्त ने चन्द्र-नन्द-संघर्ष का अनुपम वर्णन अपने अप्रितम नाटक 'मुद्रा राक्षस' में किया है। उससे पता चलता है कि राजन्य चन्द्रगुप्त ने निम्नकुलोद्भव नन्द की अगणित सेना को अपने पथ-प्रदर्शक राजनीति-पंडित चाणक्य की मन्त्रणा और कश्मीर के पहाड़ी प्रदेशों के राजा मित्र पर्वतक की सैन्य-सहायता से सर्वथा परास्त किया, और घननन्द को सकुल विनष्ट कर दिया। लगभग ईसा-पूर्व ३२; में चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को मगध के सिंहासन पर अभिषिक्त किया, और अपनी कूटनीति के बल पर्वतक और उसके पुत्र मलयकेतु को भी चन्द्रगुप्त के मार्ग से दूर कर उसके सम्राट्-पद को निष्कंटक बना दिया। पौराणिक तथा जैन एवं बौद्ध साहित्य के सभी प्रमाण इस सम्बन्ध में एकमत हैं। चन्द्रगुप्त कुशल सेनापति, योग्य संगठन-कर्त्ता और प्रतिभाशाली शासक था। यूनानी लेखक प्लुटार्क और जस्टिन ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त ने छः लाख सैनिकों को लेकर सारे भारत को आक्रान्त कर दिया।

सिकन्दर के सेनापति सेल्युकस निकेटर ने ई० पूर्व ३०५ में भारत पर आक्रमण किया था। उस काल उत्तरापथ छिन्न-भिन्न न होकर एक संगठित और केन्द्रित साम्राज्य के अन्तर्गत था। चन्द्रगुप्त की सेना ने सिन्धु के उस पार जाकर यूनानी आक्रमणों को रोका। इस समर में सेल्युकस की करारी हार हुई। इस बार यूनानियों को शशिगुप्त और आम्भी जैसा कोई स्वार्थ-साधक नृपति देशद्रोही बनकर सहायक के रूप में प्राप्त न हो सका क्योंकि चाणक्य और चन्द्रगुप्त के परिश्रम ने देश को एक सूत्र में बाँधकर उसके अधिवासियों के मानस में मातृभूमि के प्रति श्रद्धा और भक्ति की लहर उत्पन्न कर दी थी, जिससे देश के आबालबृद्ध सभी उसकी रक्षा में एक होकर मर मिटने के हेतु कटिबद्ध थे। इस बार सिकन्दर के उत्तराधिकारी यूनानी आक्रामक सेल्युकस को अफगानिस्तान और ब्लुचिस्तान के सारे प्रदेश, जो खैबर घाटी से हिन्दूकुश तक फैला हुआ था, विजयी चन्द्रगुप्त को कन्योपायन (विजयी को कन्यादान देना) के साथ देना पड़ा। सेल्युकस ने अपनी राजकुमारी हेलना से चन्द्रगुप्त का विवाह कर दिया। चन्द्रगुप्त ने भी उसे उपहार में ५०० हाथी दिये। दूत-विनिमय में यूनानी दूत मेगास्थनीज पाटलिपुत्र आया, जिसके लिखे वृत्तान्त 'इण्डिका' तथा चाणक्य के 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' से तत्कालीन भारतीय राजनीतिक शासन-व्यवस्था पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

चाणक्य की नीति और चन्द्रगुप्त के विक्रम, दोनों ने मिलकर सारे उत्तर भारत की

जनता के हृदय में देश-प्रेम की अग्नि प्रज्वलित कर दी थी, जिसकी भयंकर लहकती शिखा की लहरों से आतंकित यवन-विजेता पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त के अपने सभी विजित प्रदेश हिन्दूकुश तक चन्द्रगुप्त को समर्पण कर पर्वत की दूसरी ओर चला गया। यह शौर्य पूर्ण भारत के ऐक्य का महत्त्व था। चन्द्रगुप्त का साम्राज्य लगभग सारे आर्यावर्त्त में फैल गया, जिसका एक भाग मिथिला भी था।

डा० वी० स्मिथ का अपने 'अरली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' (तृतीय संस्करण, पृ० ११२) में यह लिखना कि सिकन्दर की भारत में हिमालय से लेकर समुद्र तक की विजय में सफलता एशियाई महान् सेना की यूरोप के अनुशासित सैनिकों के रण-कौशल के सम्मुख जन्मजात दुर्बलता का द्योतक है, के सम्बन्ध में सेल्युकस की अपार शिक्षित सेना पर चन्द्रगुप्त की विजय यह बताती है कि विद्वान् स्मिथ साहब के कथन में तथ्य नहीं था। सिकन्दर की विशाल वाहिनी की छोटे-छोटे राज्यों की अल्प सैनिक शक्ति पर अस्थायी विजय का कारण कोई दूसरा ही था। सिकन्दर के आक्रमण काल में पंजाब अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। उनमें एकता का अभाव था। पर सेल्युकस की चढ़ाई के समय सम्पूर्ण उत्तरापथ एक था और उसमें एक-भारत की राष्ट्रीय भावना काम कर रही थी। भारतीय सैनिकों की रण-दक्षता सेल्युकस के आक्रमण के काल में भी वही थी जो सिकन्दर की चढ़ाई के समय में थी। परिस्थिति में अन्तर था। उस काल में सिकन्दर की सेना विशाल थी और उसके पास साधन पंजाब के छोटे-छोटे राजाओं के साधन से अत्यधिक था। किन्तु इस बार दोनों साधन-सम्पन्न थे। केवल भारतीय सेना का सामरिक कौशल यूरोप की सेना की रण-दक्षता से अधिक था, यदि यह कहा जाय तो इसमें अत्युक्ति नहीं होगी।

ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी की कतिपय मौर्यकालीन मोहरें १९१३-१४ की वैशाली की खुदाई में प्राप्त हुई थीं। उनसे पता चलता है कि वैशाली के साथ मिथिला भी सौराष्ट्र आदि प्रदेशों के समान ही मौर्य-साम्राज्य का एक प्रदेश था। उन प्रदेशों का शासन सम्राट् द्वारा नियुक्त क्षत्रिय उच्च आयुक्त द्वारा होता था। परन्तु स्पष्टतया यह पता नहीं चलता है कि उन प्रदेशों में शासन जनतान्त्रिक था अथवा गणतान्त्रिक। परन्तु इसका भी उल्लेख प्राप्त होता है कि उन दिनों कहीं-कहीं पर स्वायत्त शासन था और नगरों में जनतान्त्रिक सरकार भी काम कर रही थी। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी संघ-राज्यों का वर्णन प्राप्त है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि मगध-साम्राज्य के अन्दर उस काल कई ऐसे प्रदेश थे जहाँ किसी न किसी रूप में जनतान्त्रिक शासन चालू था, पर वे सभी मगध साम्राज्य के अधीन थे।

चन्द्रगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र बिन्दुसार लगभग ३०० वर्ष ईसा-पूर्व में मगध के सिंहासन पर बैठा। उसने अपने पराक्रमी पिता के चरणचिह्नों का अनुसरण कर साम्राज्य का शासन किया। अपने पिता की भाँति वह भी विजेता था। उसके शासनकाल में यूनानी राजदूत पाटलिपुत्र में मेगास्थनीज के स्थान में डैमकस था (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ११०)।

बिन्दुसार की मृत्यु सम्भवत: २७२ वर्ष ई०-पूर्व हुई। उसके पश्चात् उसका सबल पुत्र अशोक अपने अग्रज सुषीम (सुमन) को मार कर लगभग २६८ वर्ष ई०-पूर्व में गद्दी

पर बैठा। बहुत सम्भव है कि सुषीम घोर संघर्ष के बीच चार वर्षों तक अपने पैतृक राज्य पर राज्य करता रहा। यह संभव है कि राज्य-प्राप्ति के हेतु सुषीम और अशोक के बीच जो युद्ध हुआ, उसमें विजयी होकर अशोक ने राज्यारोहण तो २७३ वर्ष ई० पूर्व में किया, पर विरोध चालू रहने के कारण उसका राज्याभिषेक २६८ वर्ष ई० पूर्व हुआ। अशोक के अभिलेखों से पला चलता है कि उसके शासन के तेरहवें वर्ष में भी उसके कई भाई बहनें जीवित थीं, और उनके प्रति अशोक को बहुत स्नेह था।

पिता के जीवन-काल में सुषीम उत्तरापथ का शासक था और अशोक मालवा का। उत्तरापथ के विद्रोह को सुषीम शान्त न कर सका। तब बिन्दुसार ने उस कार्य के हेतु अशोक को वहाँ भेजा। उसने अपनी नीति से बिना युद्ध किये ही वहाँ के विद्रोह को शान्त कर अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया। राज्य के मन्त्रीगण सुषीम से सन्तुष्ट नहीं थे। अतः राज्य-प्राप्ति के हेतु गृहयुद्ध में उन लोगों ने अशोक का साथ दिया, जिससे सुषीम की पराजय हुई।

कल्हण कवि की 'राजतरंगिणी' के अनुसार अशोक ने अपने दिग्विजय-अभियान में सर्वप्रथम कश्मीर की विजय की। उसके पश्चात् महान् रक्तपात के उपरान्त उसने कलिंग विजय कर अपनी तलवार म्यान में की तथा अहिंसक बन विश्व-कल्याण के प्रयत्नों में वह रत हो गया। उसका रणभेरी-घोष, धर्म-घोष और दिग्विजय-कामना धर्मविजय-कामना में परिणत हुई। यद्यपि स्वयं उसने बौद्ध-धर्म को स्वीकार किया था, पर उसका सिद्धान्त धर्म-सहिष्णुता का था।

अशोक के विशाल साम्राज्य की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर हिन्दूकुश, पूर्व में सागर पर्यन्त बंगाल और कलिंग, पश्चिम में पश्चिमी सागर और दक्षिण में पूर्व के हैदराबाद राज्य के मास्की, इरागुड़ी और मैसूर राज्य के चितलदुर्ग थे। नेपाल और कश्मीर भी उसके साम्राज्य के अन्तर्गत थे। इन सीमाओं के अन्दर मिथिला के साथ वैशाली भी पड़ती थी।

ई० पू० २५० वर्ष के लगभग अशोक पाटलिपुत्र से वैशाली पहुँचा था। वह नगर पाटलिपुत्र से नेपाल जाने के मार्ग में पड़ता था। उसने वहाँ एक प्रस्तर-स्तम्भ की स्थापना की, जिसके शिखर पर सुन्दर एवं बलिष्ठ वनराज सिंह की आकृति बनी थी। नेपाल उस काल में मगध साम्राज्य का एक अंग था और उसका शासन सम्भवतः सीधे राजधानी (पाटलिपुत्र) से होता था। अशोक ने वैशाली के बुद्ध-स्तूप से तथागत भगवान् बुद्ध के ऐहलौकिक शरीर का थोड़ा अवशेष अन्य स्थानों में स्तूपों के निर्माण के हेतु लेकर नेपाल की यात्रा की। उसकी यह यात्रा वैशाली से केसरिया, लौरिया-अरेराज, बेतिया, लौरिया नन्दनगढ़, जानकीगढ़ तथा रमपुरवा के राजकीय मार्ग से हुई थी। भिखनाठोरी घाटी होकर उसने उस पर्वत्य प्रदेश में प्रवेश किया था (श्री श्यामनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ५६; एच० सी० राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएन्ट इण्डिया, षष्ठ संस्करण, पृ० ३०९)। इस राज-पथ में उसने वैशाली में सिंह-स्तम्भ, केसरिया में स्तूप तथा लौरिया अरेराज, लौरिया नन्दनगढ़ एवं रमपुरवा (सभी चम्पारण जिले में) में स्तम्भों का निर्माण किया था, जिसका संक्षिप्त वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। मौर्यकालीन राजकीय मोहरों की वैशाली की खुदाई से प्राप्ति यह सिद्ध करती है कि वैशाली अशोक के शासनकाल में मगध साम्राज्य का एक प्रधान प्रशासनिक नगर था। कुछ लेखकों के

मतानुसार अशोक ने मगध एवं मिथिला से अनेक विद्वान् बौद्ध प्रचारकों को धर्म प्रचारार्थ तिब्बत भेजा था (जरनल ऑफ दी बिहार रिसर्च सोसाइटी–३८, ३५१–५२)। परन्तु इसमें सन्देह भी नहीं है कि मिथिला के निवासियों में अधिकांश कट्टरपंथी ब्राह्मण धर्म के मानने वाले थे। वे बौद्ध-धर्म के विरोधी थे। बौद्ध-धर्म के विरुद्ध उनकी प्रतिक्रिया भी बौद्ध-धर्म के पतन के अनेक कारणों में से एक थी, पर इतिहास-लेखक, विद्वान रायचौधरी इस पर विश्वास नहीं करते हैं (रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, षष्ठ संस्करण, ३५४–६१ देखें)। अशोक की मृत्यु ई० पू० २३२ वर्ष में हुई। उसके पश्चात् उसके कुल के और सात राजाओं ने लगभग ५० वर्षों तक राज किया (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० १२०)।

कश्मीरी कवि कल्हण कृत 'राजतरंगिणी' के अनुसार अशोक का तृतीय पुत्र जयलोक कश्मीर का भूपति था। कुणाल के विषय में दक्षिणी एवं उत्तरी ख्यातों में भिन्नता है। 'वायु पुराण' उसके आठ वर्षों तक राज्य करने का उल्लेख करता है। 'अशोकावदान' के अनुसार अशोक की अत्यधिक दानशीलता के कारण मन्त्रियों ने उसे सिंहासन त्यागने के हेतु बाध्य किया। उसके स्थान पर नेत्रहीन कुणाल के पुत्र सम्प्रति को उन सबों ने मगध के सिंहासन पर बैठाया। वायु-पुराण एवं मत्स्य-पुराण के अनुसार सम्प्रति के पूर्व अशोक का एक अन्य पौत्र दशरथ राजा हुआ। गया जिले के बराबर पहाड़ की नागार्जुनीय गुफा में दशरथ द्वारा आजीविकों के प्रति दान की प्रशस्ति उत्कीर्ण है। वास्तव में दोनों ने ही राज्य किया था।

सम्प्रति और दशरथ के पश्चात् मौर्य कुल में आगे और चार नृप हुए। वे थे– (१) शालिशुक (बृहस्पति), (२) सोम शर्म्मा (देव वर्मा), (३) शतधन्वा तथा (४) बृहद्रथ।

कश्मीर का राजा अशोक-पुत्र जयलोक अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् स्वतन्त्र होकर कन्नौज तक के पैत्रिक राज्य को स्वायत्त करने का प्रयत्न करने लगा। गृह-कलह आरम्भ हो जाने के कारण सम्भवतः सम्प्रति और दशरथ ने शेष मौर्य राज्य का आपस में बँटवारा कर एक ही काल में अपने-अपने भाग पर शासन किया।

अशोक की मृत्यु के केवल एक दशक बाद ही दक्षिण भारत के आन्ध्रों ने विद्रोह कर विन्ध्य पर्वत के दक्षिण के भू-भाग को मौर्यों की पराधीनता से मुक्त कर लिया। आन्ध्र अशोक के अधीन वहाँ शासन करते थे, पर अपने राज्य के आन्तरिक मामलों में वे स्वतन्त्र थे। मौर्यों का शासन उत्तर भारत में ईसा-पूर्व १८५ वर्ष तक बना रहा था।

मौर्य-साम्राज्य के पतन के कारणों में राजपरिवार के बीच गृह-कलह के अतिरिक्त विदेशियों के भारत-आक्रमण भी थे। सिकन्दर का सेनापति सेल्युकस हिन्दूकुश तक के प्रदेशों का राज्य चन्द्रगुप्त के अधीन कर स्वयं उस पर्वत के दूसरी ओर के विजित भू भाग पर शासन करने लगा। उसके तथा उसके उत्तराधिकारियों के शासन में सीरिया एवं हिन्दूकुश तक सम्पूर्ण पश्चिम एशिया था। ई० पू० २५० वर्ष के लगभग उस विशाल-ग्रीक (यूनान)–साम्राज्य के दो प्रान्त बैक्टीरिया तथा पर्थिया ने सेल्युकस के राजवंश की प्रभुसत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर स्वतंत्रता घोषित कर दी। हिन्दूकुश के उत्तर में यूनानियों का साम्राज्य बना रहा, पर वर्तमान परसिया (फारस) के पूर्वी भाग पर्थिया में वहाँ के विद्रोही

निवासियों की राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो गयी । उस क्रान्ति का नेता उस भूमि का निवासी वीर अर्सकस था ।

यूनानी (ग्रीक) सम्राट् ऐन्टियोकस तृतीय द्वारा बैक्टीरिया की क्रान्ति को दबाने के विफल प्रयत्न के पश्चात् लगभग २०८ वर्ष ई० पूर्व बैक्टीरिया एवं पर्थिया की स्वतन्त्रता की मान्यता प्रभुसत्ता को स्वीकार करनी पड़ी । कुछ दिन पश्चात् ग्रीक-बैक्टीरिया के नृपालों की दृष्टि भारत की ओर मुड़ी । बैक्टीरिया के तत्कालीन राजा के पुत्र डिमेट्रियस का विवाह पूर्वोक्त यूनानी सम्राट् ऐण्टियोकस तृतीय की पुत्री के साथ हुआ था । डिमेट्रियस ने ई० पूर्व १९० वर्ष में भारत पर आक्रमण किया । उस काल मौर्य-काल का सम्राट् बृहद्रथ मगध के पाटलिपुत्र के राज्य-सिंहासन पर आसीन था । (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० १२०)। अशोक के पश्चात् का वह सातवाँ मौर्य-वंशीय सम्राट् था । डेमेट्रियस ने उसके साम्राज्य के उत्तर-पश्चिम भाग के बहुत बड़े अंश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया । इस युद्ध ने मौर्यों की शक्ति क्षीण कर दी ।

आन्ध्रों के विद्रोह, यूनानी राजा के विजयपूर्ण आक्रमण तथा साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी अंश के हाथ से निकल जाने के कारण मौर्यों की शक्ति एवं प्रतिष्ठा पर भारी आघात पहुँचा । अन्त में ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र के विद्रोह ने मौर्यवंश के शासन को समाप्त कर दिया । मौर्यों का शासनकाल ई० पूर्व ३२२ से ई० पूर्व १८५ तक १३७ वर्षों का था ।

मौर्यों के शासनकाल में कला-कौशल का पूर्ण विकास हुआ । अशोक के प्रस्तर-स्तम्भ, उसके बनाये स्तूप, स्तम्भों पर की पालिश, उन खम्भों के शिखरों की सिंह-आकृतियाँ आदि मौर्यकालीन विकसित कला के उत्कृष्ट नमूने हैं । उन प्रस्तर-स्तम्भों में से अनेक उत्तर बिहार के मुजफ्फपुर और चम्पारण जिले में हैं । ये दोनों जिले मिथिला के ही अन्तर्गत हैं, जहाँ किसी समय वज्जिसंघ का समुन्नत गणतन्त्र शासन कर रहा था ।

ब्राह्मण-साम्राज्य

शुंग राजवंश

विशाल मौर्य साम्राज्य, जिसका विस्तार तुषाराच्छादित पर्वत हिन्दूकुश से लेकर आसमुद्र बंगाल एवं कर्णाटक के ऊपरी भाग तक था (रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, षष्ठ संस्करण, पृ० ३६८), की ग्रन्थियाँ अशोक के शासनकाल के पश्चात् ही ढीली पड़ने लग गयी थीं, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है । गार्गी संहिता के युग पुराण के अनुसार मगधराज शालिशुक के शासनकाल में वाहलीक (बैक्टीरिया) के यवन-राज दिमति (धर्ममित्र =डेमेट्रियस) ने भारत पर आक्रमण कर पाटलिपुत्र में अपना दरबार किया था । पर डा० आर० सी० मजूमदार की राय में डेमेट्रियस का आक्रमण वृहद्रथ के शासनकाल में हुआ था, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है । कलिंग के प्रबल प्रतापी चेदि-वंशीय राजा खारवेल ने अपने को मगध-साम्राज्य से सर्वथा स्वतन्त्र कर दो-दो बार पाटलिपुत्र को नत किये एवं मगधेश महापद्मनन्द एवं अशोक की कलिंग-विजय का बदला चुकाया । कृष्णा और कावेरी की घाटियों में आन्ध्रों ने तलवार उठायी । इस जाति के वर्द्धमान शौर्य से दक्षिणात्य एक बार कम्पायमान हो गया । अगली शताब्दी में आन्ध्रों ने मगध को भी रौंद डाला । पंजाब और काठियावाड़ भी स्वतन्त्र हो गये ।

इस काल के घटना-चक्र की गति से स्पष्ट होता है कि पश्चाद्वर्त्ती मौर्यकालीन ब्राह्मण-विरोधी नीति के कारण प्रखर बुद्धि एवं मेधावी ब्राह्मणों के प्रतिकार और प्रतिरोध की भावना ने मूलबद्ध होकर मौर्य-साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप उसके भग्नावशेष पर उस युग में तीन ब्राह्मण राज्यों की स्थापना हुई। वे तीनों राज्य थे- (१) दक्षिण में आन्ध्रों (शातवाहनों) का, (२) पूर्व में चेदिवंशीय खारवेल का, तथा (३) उत्तर में मगध के गृह राज्य में शुंगवंशीय सेनापति पुष्यमित्र का। शुंगों के पश्चात् भी मगध में ब्राह्मण वंश के काण्वायन कुल का राज्य हुआ। ब्राह्मणों के वैमनस्य ने मौर्य साम्राज्य का मेरुदण्ड तोड़ दिया। सम्भवतः पश्चाद्वर्ती असहिष्णु जैन धर्मावलम्बी मौर्य नृपतियों की धार्मिक कट्टरता, पक्षपात, और स्वेच्छाचारिता से तेजस्वी बुद्धिजीवी ब्राह्मण समुदाय ऊब गया था, जिसके असंतोष की वीचि-माला ने मौर्य साम्राज्य को डुबोकर ही छोड़ा। परन्तु इस तथ्य को कतिपय विद्वान् इतिहासकार स्वीकार नहीं करते हैं, जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है।

महर्षि पातंजलि का संरक्षक भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र सम्भवतः उस मौर्य-ब्राह्मण-संघर्ष का सूत्रधार था, जिसने मौर्यों की सबल सेना के समक्ष ही अपने सम्राट् बृहद्रथ की अपने तीक्ष्ण तीरों से सैन्य शक्ति-प्रदर्शन-काल में हत्या कर निर्विरोध मगध के सिंहासन पर शुंग वंश की स्थापना कर ली।

ऊपर अंकित किया जा चुका है कि मौर्यों को अपदस्थ करनेवाला सेनापति पुष्यमित्र था, और वह भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण कुल का था (आश्वलायन श्रौतसूत्र- १२, १३, ५, ६, वॉल्यूम-२, पृ० १२५; रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, ३६९-७०, जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी-४१, १३२-३९)। उसने विदर्भ (बरार) को जीत कर उसे अपने राज्य में मिला लिया। पातंजल-महाभाष्य से भी पता चलता है कि उस वीर विजेता ने विदेशी आक्रमकों से सफल लोहा लिया था। उसके अनुसार ग्रीक-राज का आक्रमण भारत पर दूसरी बार पुष्यमित्र के समय में ही हुआ, जिसमें भी वह विजयी हुआ, और आक्रामक नरेश मिलिन्द (मिनान्दर) समरशायी हुआ।

इतिहास-लेखक टौर्ण महोदय की 'बाख्त्री ऐंड ग्रीक इन इण्डिया' नामक पुस्तक के लेखानुसार वह मिलिन्द (मिनान्दर) दिमिति (डिमेट्रियस) का जामाता तथा सेनापति था। प्लुतार्क का कहना है कि मिनान्दर पूर्व में गंगा की घाटी में युद्ध करता हुआ मारा गया। (मोर : ८२१; डी० टौर्ण : ग्रीक्स इन इण्डिया ऐंड बैक्ट्रिया, पृ० २२८)। वाह्लीक यवन दिमिति (डिमेट्रियस) ने शालिशुक (बृहस्पति) मौर्य के शासनकाल में मगध पर आक्रमण किया था। उसी काल में कलिंग-राज खारवेल ने भी मगध पर चढ़ाई की, जिसका उड़ीसा के उदयगिरि नामक पर्वत के हाथीगुफा शिलालेख में उत्कीर्ण उल्लेख है।

पुष्यमित्र ने शुंग राजकुल की स्थापना रक्तपात के द्वारा, और वह भी अपने सम्राट को सेना दिखाने के बहाने छल से किया था। अतः बाणभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'हर्षचरित' में उसे अनार्य (बुरा कर्म करनेवाला) कहा है, यथा- 'प्रतिज्ञा दुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम्।' (हर्षचरित-६, पृ० १९९, बम्बई संस्करण)। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सीमान्त के प्रान्तों के निकल

जाने से क्षीण और आन्तरिक विद्रोह से खोखले मगध-साम्राज्य के बचे हुए भाग को सँभालने और सामर्थ्यानुसार उसके विस्तार करने की समस्या पुष्यमित्र के सामने थी, जिसके हल करने के हेतु उसे आगे भी रक्तपात करने की आवश्यकता मालूम पड़ी। उसने पाटलिपुत्र पर अधिकार करने के पश्चात् सर्वप्रथम मगध और उसके पश्चात् उसके आस-पास के प्रान्त कोशल, वत्स, आकर, अवन्ती आदि को संघटित किया। पश्चिम के प्रान्तों पर पूरा अधिकार रखने के हेतु उसने विदिशा में दूसरी राजधानी बनायी।

पहले लिखा जा चुका है कि पुष्यमित्र ने विदर्भ (बरार) को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। वह प्रदेश कुछ ही पहले मगध से अलग हुआ था। प्रसिद्ध कवि कालिदास कृत 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के अनुसार विदर्भ का राजा यज्ञसेन मौर्यनृपति बृहद्रथ का साला था। उसने बृहद्रथ की हत्या के पश्चात् विदर्भ को मगध-साम्राज्य से पृथक् कर स्वयं वहाँ स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। वह वहाँ का राजा बन गया। शुंगों से उसकी शत्रुता स्वाभाविक थी। पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र ने बड़ी कुशलता के साथ उसके विरुद्ध युद्ध का संचालन किया। उसने अपनी भेद-नीति से यज्ञसेन के चचेरे भाई माधव सेन को अपनी ओर कर लिया। यज्ञसेन को नत होना पड़ा। विदर्भ का दो भागों में बँटवारा हुआ। उसका एक भाग यज्ञसेन को और दूसरा माधवसेन को मिला। दोनों ने शुङ्गों की अधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार दक्षिणापथ के कुछ-कुछ भाग पर मगध-साम्राज्य का पुनः अधिकार हो सका। पश्चिम में स्यालकोट तक उसके अधिकार का विस्तार था। अपने साम्राज्य का पुनः संघटन कर पुष्यमित्र ने उसको अपने आठ पुत्रों के बीच आठ सामन्त राज्यों में बाँट दिया, और स्वयं सम्राट् के रूप में पाटलिपुत्र से उन सभी प्रदेशों का शासन करने लगा। सम्राट्-पद पर आसीन होने पर भी वह अपने को सेनापति ही कहा करता था।

पुष्यमित्र ने अपनी विजयों के उपलक्ष्य में दो अश्वमेध यज्ञ किये[१]। शुंग-वंश के सम्बन्ध में ऐतिहासिक सामग्रियाँ हमें साहित्य एवं अभिलेखों से प्राप्त होती हैं। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर पातंजलि का महाभाष्य, ज्योतिष ग्रन्थ 'गार्गी संहिता' के 'युगपुराण' 'दिव्यावदान', कालिदास कृत 'मालविकाग्निमित्र', पुराणों, हर्ष-चरित, तथा तिब्बती तारानाथ का इतिहास एवं अयोध्या के दो अभिलेखों से इस युग के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

यवनों के उस काल के भारत पर आक्रमण के विषय में मतभेद है। किसी के मतानुसार उनकी चढ़ाई एक ही बार डिमेट्रियस के अधीन दो मार्गों से हुई। एक का नेतृत्व स्वयं डिमेट्रियस करता था और दूसरे का उसका जामाता मिलिन्द अथवा मिनान्डर। पर कुछ इतिहासज्ञों की राय में दोनों आक्रमण दो बार हुए। कुछ विद्वान् तीसरे आक्रमण की भी चर्चा करते हैं।

'दिव्यावदान' के अनुसार पुष्यमित्र बौद्धों के प्रति अनुदार, असहिष्णु और क्रूर था। तिब्बती तारानाथ के द्वारा भी 'दिव्यावदान' के लेखों का समर्थन किया गया है। पर पश्चाद्वर्ती खोज इन आरोपों का खण्डन करती है, क्योंकि उसके ही शासनकाल और उसके ही राज्य में (नागोद राज्य के) भरहुत के बौद्ध स्तूप और वेदिकाओं का निर्माण हुआ

१. महाभाष्य के अनुसार पुष्यमित्र का पुरोहित पातंजलि था।

था। साँची स्तूप के तोरणद्वार का अलौकिक लक्षण भी उसी के दक्षिणी शासन-केन्द्र के अन्तर्गत विदिशा के कलावन्तों द्वारा उसी की अभिरुचि के अनुसार हुआ था। पुष्यमित्र ने ३६ वर्षों तक राज किया तथा लगभग १४८ ई० पूर्व उसका शरीरान्त हुआ।

शुंग वंश के १० भूपतियों में अन्तिम नरेश देवहूति वा देवभूति चरित्र-भ्रष्ट, लम्पट, कामुक, और परतियगामी था। 'विष्णुपुराण' एवं 'हर्षचरित' के अनुसार उसके वसुदेव नामक मन्त्री ने अपने व्यसनी स्वामी देवहूति की हत्या साम्राज्ञी के वेश में उसकी ही दासी-पुत्री को अंत:पुर में भेजकर उसके द्वारा करवा दी। इस घटना का उल्लेख विष्णुपुराण (गीताप्रेस, पृ० ३५२) में इस प्रकार किया गया है :–

''देवभूतिं तु शुङ्गं राजानं व्यसनिनं
तस्यैवामात्यः काण्वो वसुदेवनामा।
तं निहत्य स्वयमवनीं भोक्ष्यति।''

'हर्ष चरित', ६, पृ० १९९, (बम्बई संस्करण, १९२५) में अंकित किया गया है कि–'अतिस्त्रीसंगरतमनङ्गपरवशं शुङ्गममात्यो वसुदेवो देवभूतिं दासीदुहित्रा देवीव्यंजनया वीतजीवितमकारयत्।'

पुराणों के अनुसार शुंग वंश में दश राजे हुए और उन सबों ने लगभग ११२ वर्षों तक शासन किया। पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र तथा पौत्र वसुमित्र क्रमशः अपने पिता एवं पितामह के तुल्य ही रण-कुशल भूप हुए, जिन्होंने आक्रामक यवनों के समर में छक्के छुड़ा दिये थे। शुङ्ग कुल का शासनकाल ई० पूर्व १८५ से ईसा पूर्व ७३ वर्ष तक रहा (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएन्ट इण्डिया, पृ० १२१)।

पुष्यमित्र के पश्चात् उसका पुत्र अग्निमित्र राजा हुआ। अग्निमित्र के बाद उसका भाई ज्येष्ठमित्र अथवा सुज्येष्ठ गद्दी पर बैठा। ज्येष्ठमित्र के बाद अग्निमित्र का पुत्र वसुमित्र राजा हुआ। मित्रदेव नामक एक व्यक्ति ने नाटक के अभिनायकों में छिप कर उसको छिन्नमस्तक कर दिया (हर्षचरित)। उसके पश्चात् ओद्रक सिंहासनारूढ़ हुआ। छठे, सातवें तथा आठवें राजाओं के नाम संदिग्ध हैं। नवम भूप इस कुल का भागवत अथवा भागभद्र था। इसके शासनकाल में तक्षशिला के यूनानी (बाख्त्री) राजा अन्तियल किदस का राजदूत हेलियो दोरस विदिशा में आया था, और वहाँ उसने भागवत धर्म को स्वीकार किया। (जरनल ऑफ दि रॉयल ऐशिएटिक सोसाइटी, १९०९, पृ० १०५३-५६)। इस कुल का दशम और अन्तिम राजा देवहूति था।

शुङ्गों के शासनकाल में मिथिला उनके साम्राज्य का एक अंग था; क्योंकि शुङ्ग राज्य का विस्तार पूर्व और उत्तर दिशाओं में वज्जि संघ के प्राचीन प्रदेशों से बहुत आगे तक था।

काण्व-राजकुल

काण्वायन वासुदेव ने ईसा-पूर्व ७३ वर्ष में शुङ्ग-कुल का अन्त कर मगध के सिंहासन पर काण्व-कुल की प्रतिष्ठा की। काण्वों को शुङ्ग-भृत्य कहा गया है। इससे

यह स्पष्ट होता है कि वसुदेव कण्व शुङ्ग-राज का सेवक था। इस वंश में चार भूपति हुए, जिनके नाम थे– (१) वासुदेव, (२) भूमिमित्र, (३) नारायण तथा (४) सुशर्मण। इन सबों ने लगभग ४५ वर्षों तक राज किया। पुराणों के अनुसार कण्ववंश के पश्चात् लगभग ई० पूर्व २७ वर्ष में आन्ध्रों का अभ्युदय हुआ। परन्तु दक्षिणात्य में इसके बहुत पूर्व आन्ध्रों के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना शिमुक द्वारा ई० पूर्व २२० वर्ष के लगभग हो चुकी थी, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। इस आन्ध्र-कुल के राज्य का विस्तार कृष्णा नदी के मुहाने से लेकर सारे दक्षिण भारत के अन्तिम छोर तक था। किन्तु 'विष्णु पुराण' के अनुसार कण्व-वंश का अन्त करने वाला कण्व-राज सुशर्मा का एक आन्ध्र-वंशीय भृत्य सिन्धुक (शिमुक वा शिसुक) था, जिसने अपने स्वामी की हत्या कर मगध-साम्राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। यह भी सम्भव हो सकता है कि पूर्ववर्त्ती शिमुक के नाम से साम्य रखनेवाले सिन्धुक नाम के किसी दूसरे व्यक्ति ने पश्चात्काल में करावराज की हत्या कर मगध की गद्दी को स्वायत्त किया हो, और वह विशाल आन्ध्रजाति का ही एक सदस्य रहा हो, जिस जाति के शिमुक ने २२० ई० पूर्व दक्षिण में स्वतन्त्र आन्ध्र-शातवाहन राज्य की स्थापना की थी।

कण्व-कुलीन नृपतियों के किसी उल्लेखनीय कृत्य का पता इतिहास नहीं देता है। इतिहास-लेखक श्री आर० जी० भंडारकर के पुराणों के उल्लेख पर आधारित मतानुसार आन्ध्रों ने केवल कण्व-शासन को ही समाप्त नहीं किया, प्रत्युत उसने शुङ्गों की बची-बचायी शक्ति को भी निर्मूल कर दिया (भण्डारकर : अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि डेकन, जिसकी चर्चा श्री एच० सी० रायचौधरी ने पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पाचवाँ संस्करण, पृ० २३२-३३ में की है)। इससे अनुमान किया जाता है कि कण्वकुल के राज्यशासन काल में भी कण्वों के पूर्व के प्रभु शुङ्गों की राजसत्ता किसी न किसी रूप में विद्यमान थी, परन्तु प्रधानता काण्वायनों की ही थी, ठीक उसी प्रकार जैसे मरहठा-शक्ति के स्वामी शिवाजी के वंशधरों के मरहठा-राज्य सिंहासन पर प्रतिष्ठित रहते हुए भी प्रधानता पेशवाओं की थी, और सच्चे अर्थ में शासक वे ही थे। शुङ्ग कुल के शासकों की शक्ति क्षीण होने पर सम्भवतः कण्वकुल के मनस्वी पर लोलुप वासुदेव, जो शुङ्ग-नरेश देवहूति का आमात्य था, ने अपने शक्तिहीन तथा लम्पट राजा की हत्या कर राज्याधिकार को स्वायत्त कर लिया, पर नाम की प्रभुसत्ता शुङ्ग कुल के ही किसी कठपुतले भूपति के माथे मढ़ कर लोक-लज्जा से त्राण पाया था। दूसरी बात यह भी हो सकती है कि मगध-साम्राज्य पर कण्व-कुलीय राजाओं के आधिपत्य के काल में भी साम्राज्य के कुछ भाग पर शुङ्गों का अधिकार था, जिसे आन्ध्रों ने विनष्ट कर दिया।

कण्व-कुल के भूपतियों ने ई० पूर्व ७३ से लेकर ई० पूर्व २७ वर्ष तक शासन किया। इनके शासनकाल में किसी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटना के घटने का उल्लेख नहीं मिलता है। शुङ्गों के शासनकाल के समान ही वैदिक ब्राह्मण-धर्म का उत्थान इनके राज्य काल में भी था। इस कुल के राजाओं के राज्यकाल का वर्णन इस प्रकार का है-(१) वसुदेव ९ वर्ष, (२) भूमिमित्र १४ वर्ष (३) नारायण १२ वर्ष, एवं (४) सुशर्म्मा १० वर्ष, कुल जोड़ ४५ वर्ष।

कण्व-राजकुल शुङ्गों का स्थानापन्न था। अतः इस कुल का शासन भी शुङ्गों के शासन के समान ही मिथिला पर बना रहा।

शुङ्गों का वंश-वृक्ष

१. पुष्यमित्र (३६ वर्ष)	२. अग्निमित्र (८ वर्ष)
३. ज्येष्ठमित्र अथवा सुज्येष्ठ (७ वर्ष)	४. वसुमित्र (१० वर्ष)
५. आर्द्रक अथवा अर्द्रक (२ वर्ष)	६. पुलिन्दक (३ वर्ष)
७. घोष (३ वर्ष)	८. वज्रमित्र (९ वर्ष)
९. भागवत (३२ वर्ष)	१०. देवभूति अथवा देवभूमि (१० वर्ष)
	१२० वर्ष

कण्वों का वंशवृक्ष

१. वसुदेव (९ वर्ष)
२. भूमिमित्र (१४ वर्ष)
३. नारायण (१२ वर्ष)
४. सुशर्मन् (१० वर्ष)

४५ वर्ष

आन्ध्र-शातवाहन वा शालिवाहन कुल

आन्ध्रजाति का प्राचीनतम उल्लेख 'ऐतरेय ब्राह्मण' में मिलता है। उसके अनुसार विश्वामित्र की ब्राह्मणशाखा के वंशजों ने गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच के भू-भाग में जाकर वहाँ आर्येतर स्त्रियों के साथ विवाह किया। इस प्रकार के सम्बन्ध से जो जाति उत्पन्न हुई वह आन्ध्र कहलायी (श्री राजबली पांडेय : प्राचीन भारत, पृ० १८२-८३)। आन्ध्र-शातवाहन उत्कीर्ण लेखों में आन्ध्रों को 'एक बम्ह' (सर्वोच्च ब्राह्मण) कहा गया है, और द्वितीय 'परशुराम के समान क्षत्रियों का मान मर्दन करनेवाला' बताया गया है, यथा– 'एक बम्ह, अपर परसुराम इव, खतियदपमान मदनस' (एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द ८, पृ० ६०-६१, नासिक शिलालेख)।

शातवाहन का पर्याय शालिवाहन पाया जाता है। यह एक राजनीतिक विरुद है, जिसका अर्थ होता है– पशुराज सिंह (शालि) है वाहन जिसका। यह विरुद आन्ध्र-शातवाहन कुल के पराक्रम-प्रताप का द्योतक है। शातवाहन किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं था।

आर्यावर्त्त की दक्षिणी सीमा के आसपास इस जाति का निवास था। यह लगभग ८०० वर्ष ई० पूर्व की कथा है। उसका रक्त सम्बन्ध आर्य एवं अनार्य (द्रविड़) का बताया जाता है (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० १३८)। ई० पूर्व तीसरी शताब्दी में आन्ध्रजाति की शक्ति अपरिमेय बतायी गयी है। इतिहास-लेखक प्लीनी के अनुसार आन्ध्रों की सेना विशाल थी, जिसमें पदाति-सैन्य की संख्या १०००००, हयदल की २०००,

तथा गजदल की १००० थी। सम्भवतः सम्बद्ध लेखक को यह सूचना चन्द्रगुप्त के दरबार के यूनानी राजदूत मेगास्थनीज से प्राप्त हुई थी (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० १३८)।

पूर्व में इसका सांकेतिक उल्लेख किया गया है कि इस शक्तिशाली जाति को भी मौर्यों के शौर्य से नत होकर उनकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी थी, और सुदूर दक्षिण भारत के आन्ध्र-राज्य की गणना मौर्यों के अधीन राज्यों की कोटि में हो गयी थी, यद्यपि वह राज्य-शासन के आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र था। अशोक की मृत्यु के केवल एक दशक पश्चात् के लगभग इस वीर जाति ने मौर्यों की परतन्त्रता के जुए को कन्धे से फेंक कर अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी, और इस प्रकार मौर्य-साम्राज्य के पतन कराने वालों में अपना स्थान सबसे आगे रखा। इस कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने वाला शातावाहन वंश का सिमुक था, जिसका वर्णन प्रसंगवश पूर्व में संक्षेप में किया जा चुका है।

आन्ध्रों की प्राचीन राजधानी श्रीकाकुलम् में थी। दक्षिणात्य के ऊपर से मौर्यों का आधिपत्य समाप्त हो जाने के पश्चात् आन्ध्र-सत्ता पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ती हुई महाराष्ट्र तक पहुँच गयी, और उसकी राजधानी गोदावरी के किनारे प्रतिष्ठान (पैठन) में स्थापित हुई। इधर आने पर आन्ध्र अपनी वीरता के कारण शातवाहन वा सातवाहन अथवा शालिवाहन कहलाने लगे।

पुराणों के अनुसार आन्ध्र कण्वों के भृत्य थे। सम्भवतः वे कण्व वंशीय मगध के सम्राट् के नाममात्र के सामन्त और अमात्य थे। ई० पूर्व २८ वर्ष के लगभग सिन्धुक नामक आन्ध्र ने कण्व-कुल के अन्तिम राजा सुशर्म्मा का वध कर मगध के सिंहासन पर अधिकार कर लिया। वायु पुराण का एतद्विषयक वर्णन निम्नांकित है :—

"काण्वायनस्ततो भृत्यः सुशर्माणं प्रसह्य तम्।
शुङ्गानां चैव यच्छेषं क्षपयित्वा बलं तदा।
सिन्धुको अन्ध्रजातीयः प्राप्स्यतीमां वसुन्धराम्॥"

इतिहासज्ञ विद्वानों ने ई० पूर्व तीसरी शती के शिमुक और ई० पूर्व प्रथम शताब्दी के सिन्धुक को नाम में साम्य होने के कारण एक माना है। इसकी किंचित् विवेचना पूर्व के पृष्ठों में की जा चुकी है। सिन्धुक को शिमुक मान लेना युक्तियुक्त नहीं जँचता है। कुछ समय तक आन्ध्रों ने पूरे मगध-साम्राज्य पर राज्य किया। किन्तु उत्तरापथ पर विदेशियों के आक्रमणों के आरम्भ होने तथा स्थानीय शक्तियों के यत्र-तत्र उदय के कारण उन्होंने अपने उत्तरापथ के साम्राज्य को कुछ दिनों के बाद खो दिया। लगभग ३०० वर्षों तक भारतीय राजनीति के भाग्यविधाता बहुत अंशों तक वे बने रहे थे। ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी के प्रथम चरण से ही उनकी शक्ति उदीयमान हुई और ईसा-पूर्व प्रथम शती के प्रथम चरण के लगभग उत्तरापथ के विशाल मगध-साम्राज्य के भी वे स्वामी बन गये।

सिन्धुक के पश्चात् उसका भ्राता कन्ह (कृष्ण) सिंहासन पर बैठा। नासिक के उत्कीर्ण शिलालेख में उसका नाम मिलता है। कन्ह के पश्चात् सिन्धुक का पुत्र श्री शातकर्णि राजा हुआ। इस नृपति ने वैदिक धर्म के अनुकूल दो अश्वमेध यज्ञ किये (नानाघाट अभिलेख आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट, १९२३-२४, पृ० ८८)। शातकर्णि के दो पुत्रों– वेदश्री और शक्तिश्री के नामों का पता चलता है जो अपने पिता की मृत्यु के समय अवयस्क थे, और उनकी माता नागनिका रानी उनकी संरक्षिका बनकर शासन कार्य चलाती थी। उन दोनों के पश्चात् का आन्ध्रों का इतिहास तमसावृत्त है। लगभग ७८ ई० में शकों का दूसरा आक्रमण भारत पर हुआ। आन्ध्रों को उनके सामने नत होना पड़ा। इस प्रकार भारत का पश्चिमी भाग आन्ध्रों के हाथ से निकल गया और उनकी शक्ति में भी ह्रास हुआ।

आन्ध्रों ने कभी मगध-साम्राज्य का शासन किया था, इसमें इतिहास के कतिपय विद्वानों को सन्देह है। पर पुराण का उल्लेख इस विषय में स्पष्ट है, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। डा० भण्डारकर का भी विश्वास है कि ई० पूर्व प्रथम शताब्दी में आन्ध्र-भूप सिन्धुक ने मगध-साम्राज्य पर शासन किया था (श्री एस० सी० रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, षष्ट संस्करण, ४०३)।

कण्वों के मगध-साम्राज्य और शुङ्गों की बची-खुची शक्ति को विनष्ट कर उत्तर भारत के विशाल भू-भाग का स्वामित्व प्राप्त करने वाले आन्ध्रों का शासन मगध-साम्राज्य के निकटतम अंश मिथिला पर भी अवश्य रहा होगा, इसमें शंका का स्थान शेष नहीं रह जाता है।

कलिंग-भूप खारवेल

कलिंग के चेदि वंशीय वीर नरेन्द्र खारवेल की चर्चा प्रसंगवश पूर्व में की जा चुकी है। अशोक ने महान् नरसंहार एवं रक्तपात के बल कलिंग की विजय की थी, इसका भी उल्लेख किया जा चुका है। अशोक की मृत्यु के कुछ ही काल पश्चात् कलिंग मौर्य-साम्राज्य से स्वतन्त्र हो गया। पर बहुत काल तक उसकी राजनीतिक अवस्था अनिश्चित एवं अव्यवस्थित रही। इसी बीच वहाँ चेदि-राजवंश की स्थापना हुई। सम्भवतः अशोक की कलिंग-विजय के पूर्व भी इसी कुल का वहाँ राज्य था।

ईसा के आविर्भाव के कुछ समय पूर्व उस चेदि कुल में महापराक्रमी, प्रतिभाशाली एवं विजेता महामेघवाहन श्री खारवेल का प्रादुर्भाव हुआ। इस भूपति की कृतियों और विजयों का वर्णन भुवनेश्वर के निकटवर्त्ती उदयगिरि पर्वत के हाथीगुम्फा-उत्कीर्ण-प्रशस्ति-अभिलेख में प्राप्त होता है (ऐपिग्राफिक इण्डिका, जिल्द-२०, पृ० ७२)। उस लेख से पता चलता है कि श्री खारवेल ने मगध-साम्राज्य पर अपनी विशाल वाहिनी के साथ दो बार आक्रमण कर उसको नत किया। अपने राज्य-शासन के आठवें वर्ष में उसने मगध-साम्राज्य पर पहला आक्रमण किया और गया जिले के गोरथगिरि (बराबर पहाड़) को गिराकर मगध के पूर्व की राजधानी राजगृह को आतंकित तथा उत्पीड़ित किया। इस

युद्ध के आतंक से वाख्त्री आक्रामक दिउमेत अथवा डायोमेडीज वा डिमेट्रियस मगध का परित्याग कर मथुरा भाग गया । दसवें वर्ष में दण्ड, साम और सन्धि के उपायों का अबलम्बन करने वाले खारवेल ने भारत-विजय के लिए प्रस्थान किया । अपने राज्य के बारहवें वर्ष में उसने उत्तरापथ के राजाओं में अपनी विजयों के द्वारा भय उत्पन्न कर दिया । उसने मागधों को त्रस्त करते हुए अपने गजों एवं अश्वों को गंगा-तट पहुँचा कर पवित्र गंगाजल पान कराया, एवं मगध-राज बृहस्पति मित्र (शालिशुक) से अपने चरणों की पूजा (पाद-वन्दना) करवायी, और नन्दराज महापद्मनन्द द्वारा अपहृत कलिंग-जिन की पवित्र एवं सौम्यमूर्ति वापस लौटा ली, तथा साथ ही मगध और अंग की अपार सम्पत्ति का अपहरण भी किया । हाथीगुम्फा-अभिलेख में उसकी अन्य विजयों एवं कृत्यों का भी उल्लेख है । उपर्युक्त अंकन से यह स्पष्ट होता है कि खारवेल का अधिकार कुछ काल के लिए मगध साम्राज्य पर अवश्य हो गया था । इससे मिथिला पर उसका आधिपत्य होना स्वाभाविक है । सम्भवतः उसकी उपर्युक्त विजयों के पश्चात् पूर्वोत्तर भारत के नृपतिगण अपने राज्यों का शासन उसके अधीन भूपतियों के रूप में करते थे और कलिंग-सम्राट् के कोष में वार्षिक कर की रकम समय पर प्रेषित किया करते थे ।

खारवेल जैनधर्म का अनुयायी था । वह साथ ही उदार एवं दानी भी था । उसने उस समय की राजनीति में उथल-पुथल मचा दी थी । पर उसका भारतीय राजनीति पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा । उसके शासन के तेरहवें वर्ष के पश्चात् उसके राज्य तथा उसके राजवंश का क्या हुआ, इसका पता इतिहास को नहीं है ।



चतुर्थ अध्याय

मिथिला पर विदेशियों का शासन

मौर्य-साम्राज्य के पतन के पश्चात् देखा जाता है कि भारतवर्ष विदेशी-साम्राज्यों का क्षेत्र बन गया। इसके पूर्व दो शताब्दियों के अन्तर पर छठीं और चौथी शती ई० पूर्व में क्रमशः दो प्रबल विदेशी आक्रमणों का सामना भारत को करना पड़ा था। प्रथम आक्रमण फारस के हखामनी कुल के राजा कुरुष का था, जिसे सिन्ध-शक्ति के सम्मुख नत होना पड़ा था। एनियन के कथन के आधार पर नियार्कस का वक्तव्य बताता है कि उसकी सारी सेना खेत आयी और बचे हुए सात साथियों के साथ पलायन कर किसी प्रकार उसने अपनी जान बचायी। उसने दूसरी बार भी दूसरे मार्ग से चढ़ाई की, पर भारत की सीमा में वह गान्धार के पूर्व बढ़ने में अक्षम ही रहा। मेगास्थनीज लिखता है–'किसी विदेशी के साथ युद्ध में भारतीयों ने अपने को व्यस्त नहीं किया। हिरेक्लीज, डायोनिसस और सिकन्दर को छोड़कर भारतीय किसी विदेशी शक्ति से आक्रान्त और विजित भी नहीं हुए। पारसिकों ने भारतीय वीर क्षुद्रक सैनिकों को भाड़े पर युद्ध करने के हेतु बुलाया, पर स्वयं उन्होंने कभी भारत पर आक्रमण नहीं किया।' कुरुष द्वारा भारत-विजय पर यूनानी लेखकों में मतभेद पाया जाता है।

द्वितीय ईरानी आक्रमण विस्तास्प-पुत्र दारयवहु (दारा) के काल (५२१-४८४ ई० पूर्व) में हुआ। उसके वेहिस्तून, नक्शे रुस्तम और हमदान के उत्कीर्ण लेखों से पता चलता है कि उसके साम्राज्य में गान्धार, कम्बोज, पश्चिमी पंजाब और पूरा सिन्ध प्रान्त सम्मिलित था। इन लेखों में उसने अपने को "आर्याणां आर्यः तथा क्षत्रियाणां क्षत्रियः" (आर्यों में आर्य और क्षत्रियों में क्षत्रिय) बताया है।

लगभग ४२५ ई० पूर्व भारत के वे सभी प्रदेश, जो कालक्रम से ईरानी साम्राज्य के अन्तर्गत विलीन हो गये थे, पुनः स्वतन्त्र हो गये। तृतीय दारा के काल में सिकन्दर ने ईरान पर आक्रमण कर उस साम्राज्य को ध्वस्त कर दिया।

फारस के उपर्युक्त आक्रमणों के पश्चात् दूसरी विदेशी चढ़ाई भारत पर मकदूनियाँ के महत्त्वाकांक्षी भूप फिलिप के पराक्रमी वीर पुत्र सिकन्दर की हुई। उसने अपनी विजय-वाहिनी के द्वारा हिन्दूकुश से उत्तर के देशद्रोही राजा शशिगुप्त तथा तक्षशिला के राजकुमार आम्भी की सहायता से पश्चिमोत्तर प्रदेश के छोटे-छोटे स्वातन्त्र्यप्रेमी गणतन्त्रों एवं राज्यों को मिटाया और उन पर अमानुषिक अत्याचार करता पंजाब में व्यास नदी के किनारे पहुँचा। विजेता सिकन्दर का ही स्वदेश-बन्धु इतिहासकार प्लुटार्क उसके युद्ध में आततायीपन-पूर्ण कृत्यों के कारण लिखता है कि–"सिकन्दर का आचरण उसके सामरिक यश पर एक काला धब्बा है"।

सिकन्दर की विजयिनी सेना ने व्यास नदी के तट पर पहुँचने के पश्चात् रण-दुर्मद भारतीय वीरों की दुद्धर्षता, वीरता और पराक्रम से प्रभावित एवं आतंकित होकर आगे

बढ़ना अस्वीकार कर दिया । अब तक भारत के जितने राज्यों का विनाश उसने किया था, उनकी सैन्य-शक्ति नगण्य थी । उनमें सबसे बड़ा भूप पुरु था । पर उसकी सेना की संख्या केवल बीस हजार बतायी जाती है । सिकन्दर उसका पराभव पूर्णरूप से कर सका अथवा नहीं यह संदेहात्मक है । उसने उससे अन्त में मैत्री की । पर विजितों के साथ विजेता की मैत्री कैसी ? यह बात विचित्र-सी लगती है । पुरु से सहायता प्राप्त कर उसने कई युद्धों में पुरु के ही देशबन्धुओं का सत्यानाश किया था । उसकी अपनी सेना की शक्ति लड़खड़ा गयी थी । इससे आगे बढ़ने पर उसे मगध-साम्राज्य के नन्दवंशीय सम्राट् घनानन्द की विशाल वाहिनी का सामना करना पड़ता । ऐरियन का कहना है कि भारतीयों के युद्ध-कौशल से वे (ग्रीक सैन्य) बहुत घबड़ा गये थे; क्योंकि युद्ध की कला में तब के भारतीय एशिया में बसनेवाली सभी जातियों में बड़े चढ़े थे (ऐरियन, ५, ४) । प्लुटार्क लिखता है कि गंगा-तट के प्राच्यों का नृपाल अपनी विशाल सेना के लिए सिकन्दर की प्रतीक्षा कर रहा था, जिसमें ८०००० अश्वारोही, २००००० पदाति, ८००० रथ, तथा ६००० गज-सेना थीं (प्लुटार्क, अध्याय-६२; मैक कृण्डल, पृ० ३१०) । आगे चलकर प्लुटार्क साफ शब्दों में कहता है कि– 'पुरु के साथ युद्ध में मकदूनियाँ-वासियों का उत्साह क्षीण हो गया और फलतः भारत के भीतर पूर्व की ओर बढ़ना उनके लिए अत्यन्त अरुचिकर था । पुरु को भी वे तब परास्त कर सके जब उसके पास केवल २०००० पैदल और २००० अश्वारोही सेना थी । इस कारण सैनिकों ने सिकन्दर के विपासा (व्यास) नदी पार करने का प्रबल विरोध किया (प्लुटार्क–१, अध्याय-६२; मैककृण्डल- पृ०३१०; एरियन- ५, ४) । प्रसिद्ध ग्रीक इतिहासकार प्लुटार्क और एरियन स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं कि– 'उनके प्रिय, सम्मानित और वीर संचालक ग्रीक-राज के व्याख्यान उत्साहवर्द्धन, तर्क-वितर्क, विजय-अनुभव और हृदयद्रावक उपदेश का परिणाम केवल आँसू और विलाप हुए' (प्लुटार्क, अध्याय-६२; मैककृण्डल-पृ० ३१०; एरियन-पृ० २८; मैककृण्डल-पृ०- १२७) । इतिहासकार दियोदोर सिकुलस लिखता है कि 'भारतीय नरपतियों के शौर्य-पराक्रम से भयभीत ग्रीक-सेना के सामने अन्त में सिकन्दर को झुकना पड़ा' । उसका विचार है कि 'गंगातटियों के गजयूथों से भयभीत होकर सिकन्दर ने अपनी विजय-यात्रा रोक दी' (ऐन्शिएण्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर, पृ० २०१) ।

उपर्युक्त उद्धरणों से पता चलता है कि सिकन्दर तक के विदेशी आक्रामकों का प्रभाव मगध-साम्राज्य और उसके अंग मिथिला पर नहीं पड़ा । पश्चाद्वर्त्ती काल में वह अछूता नहीं रह सका, ऐसा इतिहासज्ञों का अनुमान है ।

पूर्व में इसका उल्लेख किया जा चुका है कि लगभग २५० वर्ष ईसा-पूर्व सेल्युकस के वंशधरों के सम्पूर्ण पश्चिम एशिया के विशाल साम्राज्य से उसके दो प्रदेश बैक्टीरिया एवं पार्थिया ने विद्रोह कर अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी, और अन्त में सेल्युकस-वंशीय सीरिया-सम्राट् अण्टिओकस को उन दोनों राज्यों को स्वतन्त्र राज्यों के रूप में मान्यता देने के हेतु बाध्य होना पड़ा । पार्थिया (वर्तमान पर्शिया के पूर्वी भाग) में स्थानीय सरदार अर्सकस के नेतृत्व में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो चुकी थी (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० १२०) ।

इसका भी उल्लेख किया जा चुका है कि बैक्टीरिया के राजा युथिडिमस के पुत्र दिमिति (डिमेट्रियस) ने पतनोन्मुख मौर्य-साम्राज्य के पीछे के अधीश्वरों के समय में अपने दो प्रधान सेनानायकों मिनाण्डर (मिलिन्द) और आपालोडोटस के साथ भारत पर आक्रमण कर मगध-साम्राज्य के पश्चिमोत्तर भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० १२५)। ग्रीक-लेखकों ने डिमेट्रियस की विजयों के कारण उसे 'भारतीयों का राजा' की उपाधि से विभूषित किया था। स्ट्रैबो (लगभग ५४ ई० पू०-२४ ई० पू०) आपालोडोटस के आधार पर लिखता है कि यवन एरियान (पारसीक साम्राज्य के पूर्वीभाग) और इण्डिया (भारत) के स्वामी हो गये। यह विजय अंशतः बैक्टीरिया के सामन्त मिनाण्डर और अंशतः युथिडेमस के पुत्र डिमेट्रियस द्वारा की गयी थी (डा० राजबली पाण्डेय, प्राचीन भारत, पृ० १९७, पादटिप्पणी)। गार्गी संहिता के युगपुराण में लिखा है कि 'इसके पश्चात् साकेत, पांचाल और मथुरा को आक्रान्त कर दुष्ट लड़ाकू यवन कुसुमध्वज (पाटलीपुत्र) पहुँचेंगे। युद्ध में कठिनाई से मर्दन करने योग्य यवन मध्यदेश में टिकेंगे नहीं। उनमें अवश्य ही परस्पर वैमनस्य होगा, जिससे उनके अपने ही राज्यों को उखाड़ देनेवाला परम दारुण और घोर युद्ध होगा'।

'गार्गी संहिता' के 'युग पुराण' ने डिमेट्रियस के पटना पहुँचने की बात लिखी है। खारवेल के हाथीगुम्फा-उत्कीर्ण अभिलेख में अंकित है कि उसके मगध पर आक्रमण करने पर उस युद्ध से आतंकित दिउमेत (डायोमेडीज अथवा डिमेट्रियस) मथुरा भाग गया (डॉ० राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत, पृ० १८८)। इन लेखों से सिद्ध होता है कि डिमेट्रियस का विजय-अभियान मगध-साम्राज्य की राजधानी पाटलीपुत्र (पटना) तक हुआ था। साम्राज्य के केवल पश्चिमोत्तर भाग पर उसका स्थायी आधिपत्य हो सका था। पर पूर्वोत्तर भाग को भी राजधानी में पहुँच कर उसने कम्पायमान कर दिया था, इसमें सन्देह नहीं है। ऐसा लगता है कि मगध और मिथिला के राजनीतिक आकाश में उसने गर्जन-तर्जन और झंझा अवश्य उत्पन्न कर दिया, पर वे सब क्षणिक थे। राजधानी और उसके समीपवर्त्ती प्रदेशों पर उसका अधिकार नहीं हो सका। केवल पटना तक की भूमि को उसने अपनी विशाल वाहिनी के साथ रौंद डाला था।

यवनों के अतिरिक्त भारत पर आक्रमण करने वाले विदेशियों में पार्थियन (पह्लव), शक, एवं कुषाण (ऋषिक-तुषार) मुख्य थे। ईसा-पूर्व प्रथम शती के अन्तिम भाग से लेकर कुषाणों के उदय काल, विशेष कर उस कुल के प्रसिद्ध राजा कनिष्क के राज्यारंभ काल् तक के मगध एवं पूर्वोत्तर भारत का इतिहास घोर अन्धकार में पड़ा है। इस काल में सारे साम्राज्य की नसें ढीली और अंग-प्रत्यंग शिथिल हो गये थे। गृह-कलहों के कारण पश्चिमोत्तर प्रदेश की यवन-शक्तियाँ भी विनष्ट होती जाती थीं (एच० सी० राय-चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, षष्ठ संस्करण, पृ० ४२५)। यवनों की शक्ति की शिथिलता ने पह्लवों (पार्थियनों) का आह्वान किया।

पह्लव अथवा हिन्दू पार्थव वा पार्थियन-कुल

भारतवर्ष में पह्लव (पार्थियन) जाति का इतिहास शकों के इतिहास के साथ इतना उलझा हुआ है कि उसकी केवल धुंधली रूप-रेखा ही शोधकों के सम्मुख दृष्टिगत होती

है । शकों ने भारत में पार्थिया (पह्लव) होकर ही प्रवेश किया था । अतः उन पर पह्लव भाषा और जाति की छाप थी ।

भारत में पह्लव राज्य का संस्थापक बनान (बोनीनीज) था । प्राप्त सिक्कों से उसके दो उत्तराधिकारी भ्राताओं के नाम प्राप्त हुए हैं, और वे हैं– (१) श्पलहोरस तथा (२) श्पलिरिष । श्पलिरिष के पश्चात् इस वंश का सबसे प्रसिद्ध भारतीय राजा गुदपर्न (गदफर, गुदफर, गुदन, गुदह्वर = यूनानी नाम गोंडोफेरनीज) सिंहासनारूढ़ हुआ । बनान ने ही महाराजाधिराज का विरुद धारण किया था । ईसाई अनुश्रुति के अनुसार गुदफर्न 'सम्पूर्ण भारत का राजा' था (वी० ए० स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृ० २४५-५०) । यदि ईसाई अनुश्रुति में तथ्य हो तो उसके अनुसार पह्लवों का भी अधिकार कुछ समय के लिए मिथिला पर मानना होगा । पर यह मान्यता आधारशून्य प्रतीत होती है । गुदफर्न का राज्य पश्चिमोत्तर भारत में फैला हुआ था । इस तथ्य का समर्थन पेशावर जिले के तख्ते-वाही में प्राप्त उसके लेख से होता है (इसकी तिथि शक-पह्लव सम्वत् का १०३ वाँ वर्ष है । देखिये कार्पस इन्सक्रिप्सनम इंडिकेरम, जिल्द-२, पृ० ५६-६२, पर इसको शक सम्वत् मानना युक्तियुक्त नहीं है । पुरातत्त्व के स्तर-विज्ञान के आधार पर गुदफर्न को कुषाण कैडफाइसिस से पूर्व होना चाहिये (देखिये वी० ए० स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृ० २४८) । यदि इस सम्वत् को विक्रम सम्वत् मान लिया जाय तो 'महाराज गुदुह्वर' के राज्य का २६वाँ वर्ष ४५ ई० में पड़ेगा । इस गणना के अनुसार वह हिन्दू-पार्थव राजा १९ ई० में सिंहासन पर बैठता है और ४५ ई० तक राज करता है । गुदफर्न की राजधानी तक्षशिला में थी । गुदफर्न के कुछ ही समय पश्चात् कुषाणों के आक्रमण से पार्थियनकुल की राजसत्ता समाप्त हो गयी ।

इस राजवंश के प्राप्त सिक्कों पर 'ध्रमिय' अथवा 'ध्रमिक' (धार्मिक) उपाधि तथा प्राकृत भाषा से यह स्पष्ट है कि पह्लव राजाओं ने भारत में आने पर बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था, और भारतीय प्राकृत भाषा का शक स्थान से लेकर हिन्दूकुश तक के प्रदेशों में प्रचार था । महाराज गुदफर्ण के समय में ईसाई धर्म के प्रचारक सन्त टॉमस ने उसकी राजसभा में पधार कर अपने धर्म का प्रचार किया था ।

शक

उत्तर भारत एवं उससे संलग्न प्रदेशों में विक्रम सम्वत् के साथ-साथ शक सम्वत् का भी व्यवहार बराबर रूप में पाया जाता है । आज भी मिथिला में शक सम्वत् का प्रचार पूर्ववत् विक्रम सम्वत् के साथ-साथ हो रहा है । इससे यह अनुमान किया जाता है कि देश के इन प्रदेशों पर किसी समय शकों का आधिपत्य हो चुका था । यदि ऐसा न होता तो एक विदेशी सम्वत् का इस रूप में प्रचार कदापि नहीं हुआ होता ।

शिव पुराण के अनुसार शकों के पूर्वज भारतीय थे । उसमें उल्लेख है कि मनु के पुत्र नरिष्यन्त के वंशज पश्चिमोत्तर की घाटी को पार कर मध्य एशिया की ओर चले गये, और वहीं बस गये । शक आदि जातियाँ वहाँ उन्हीं के वंश में उत्पन्न हुई । मत्स्य एवं वायु पुराणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आसमुद्र के भारतीय केन्द्र राज्यं से सूर्यवंशीय मनु-इक्ष्वाकु के १,,, वंशधरों ने सुमेरु (पामीर की पार्श्ववर्ती भूमि) के उत्तर के प्रदेश में

और उनके ११४ वंशजों ने सुमेरु से दक्षिण के प्रदेश में तथा चन्द्रवंशी पुरूरवा के प्रपौत्र भारतीय इतिहास के प्रथम प्रतापी विजेता सम्राट् ययाति के एक पुत्र द्रह्यु-वंश के राजा प्रचेतस के १०० वंशजों ने पश्चिमोत्तर भारत (गान्धार) से आगे उत्तर की ओर अग्रसर होकर मध्य एशिया के म्लेच्छ राष्ट्रों पर आधिपत्य स्थापित किया था। उस ओर की बहुत-सी जातियों का उन सबों का वंशज होना भी असम्भव नहीं है।

इतिहास बताता है कि शक नाम की एक वीर जाति सीर दरिया के उत्तरी काठे में निवास करती थी। लगभग १६५ ई० पूर्व उत्तर-पश्चिम चीन की 'युह-ची' जाति 'हिंग-नू' (हूण) जाति के दबाव से विवश होकर शकों से जा टकरायी। शक उनसे आक्रान्त और अपनी मातृभूमि से निष्कासित होकर दक्षिण की ओर बढ़े, जिनकी चोट से उधर के पार्थव (पह्लव अथवा पार्थियन) और बाख्त्री (वह्लीक्र अथवा बैक्ट्रियन) राज्यों के मेरुदण्ड टूट गये। उन्हें विजय कर शक ईरान से विमुख हो कन्दहार और बलूचिस्तान के मार्ग से भारत पहुँचे, और सिन्धु नदी के निचले काठे में जा बसे। हिन्दू इतिहासकारों ने उनके इस नवीन वासस्थान को शकद्वीप की संज्ञा दी।

भारत पहुँचकर शकों ने कालान्तर में ५ शक राज्य-कुलों की स्थापना की, यथा— (१) सिन्धु और पश्चिमी पंजाब का शक-कुल, (२) पश्चिमोत्तर तक्षशिला के क्षत्रप, (३) मथुरा के क्षत्रप, (४) महाराष्ट्र का क्षहरात कुल, तथा (५) उज्जैन के क्षत्रप।

भारतीय शक नृपतियों में सम्भवतः सबसे पहला नृपति मोअ था। पंजाब की नमक पहाड़ियों के मैरा नामक स्थान से प्राप्त अभिलेख मोअ नामक नृपति का है (कौरपस इन्सक्रिप्सनम इण्डिकेरम, खण्ड-२, नं० ८)। क्षत्रप पतिक के तक्षशिला के पत्र-लेख में भी किसी मोग नामक महाराज का उल्लेख है। इतिहास के विद्वान् अब माउअ, मोअ और मोग को एक व्यक्ति मानने लगे हैं।

गान्धार की राजधानी तक्षशिला से प्राप्त ताम्रपत्र के अनुसार मोअ 'महाराया' (महाराज) के विरुद से विभूषित था। उसने भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा के अनेक प्रदेशों को जीतकर 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की थी। सिन्ध के निचले काठे, सम्भवतः सिन्ध, सीमाप्रान्त और गांधार तथा पंजाब पर मोअ का आधिपत्य था। इन प्रान्तों में उसके सिक्के मिले हैं। पूर्व पंजाब में यवन-राज की सत्ता मोअ के काल में भी विद्यमान थी।

शकों की भारत पर पहली चढ़ाई लगभग ७१ ई० पूर्व में हुई थी। जैन ग्रन्थ 'कालकार्याक-कथानक' तथा अन्य अनुश्रुतियों के अनुसार उज्जैनी का राजा गर्दभिल्ल जैनियों के प्रति उदार नहीं था (डॉ० राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत, पृ० २०१)। वह स्वयं शैव सम्प्रदाय का था। जैन-आचार्य कालकाचार्य को यह सह्य नहीं हुआ। राष्ट्र की सुरक्षा से उदासीन उस कट्टर-पंथी जैनाचार्य ने उस राजा के विनाश के हेतु स्वयं आन्दोलन न कर पार्थिया-साम्राज्य (पार्थव अथवा पह्लव वा पारस-कुल) के भीतर शक जातियों (सग कुल) के पास जाकर उन्हें सिन्धु देश (हिन्दुगदेश) और उज्जैनी पर आक्रमण करने के हेतु आमन्त्रित किया। शकों ने बोलन घाटी से भारत में प्रवेश कर सिन्धु के गणराज्यों एवं यवन-सत्ता के अवशेष को समाप्त किया। उन्होंने सौराष्ट्र के गणराज्यों को समाप्त कर लाट को अपने अधीन किया और तब अवन्ती (उज्जैनी) पर चढ़ाई की। वहाँ के

राजा गर्दभिल्ल को पराजित कर उसे निर्वासित किया, तथा अवन्ती पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

पर शकों की यह उज्जैनी-विजय स्थायी न रह सकी। गर्दभिल्ल के प्रतापी पुत्र ने इस पराजय के केवल १४ वर्षों के पश्चात् ई० पूर्व ५७ वें वर्ष में भयंकर समर कर शकों को उज्जैनी से उखाड़ फेंका, और विदेशियों पर अपनी स्मरणीय विजय का स्मारक विक्रम सम्वत् का प्रवर्त्तन भी उसने किया। यह सम्वत् आरम्भ काल में 'कृत'; पीछे 'मालव' और अन्त में विक्रम सम्वत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० १३५)। इतिहासकारों ने गर्दभिल्ल के विजेता पुत्र का नाम विक्रमादित्य बताया है (डॉ० राजबली पांडेय : प्राचीन भारत, पृ० २०२)। पर यह उसका नाम न होकर उसके प्रताप-पराक्रम का द्योतक विरुद भी हो सकता है। विक्रम सम्वत् का आदि नाम कृताब्द था। इससे बहुत संभव है कि गर्दभिल्ल के विजेता पुत्र का नाम कृत रहा हो। वह मालव था। अतः उसके द्वारा आरम्भ किये गये सम्वत् का मालव-सम्वत् कहा जाना भी अस्वाभाविक नहीं जँचता। उसके विरुद विक्रमादित्य होने के कारण पीछे चलकर वह सम्वत् विक्रमाब्द कहलाया, ऐसा प्रतीत होता है।

शकों के भारत पर प्रथम आक्रमण का प्रभाव मगध साम्राज्य अथवा मिथिला पर नहीं पड़ा। पर विक्रम सम्वत् की स्थापना के १३५ वर्ष पश्चात् (७८ ई० में) शकों ने भारत पर दूसरा आक्रमण किया। उन्होंने अवन्ती (उज्जैनी) पर अधिकार कर लिया और अपनी विजय के उपलक्ष्य में शक सम्वत् का प्रवर्त्तन किया, जिसका प्रचार अद्यावधि मिथिला में पाया जाता है।

ऊपर अंकित किया जा चुका है कि शकों ने भारत में प्रवेश कर ५ शक-राजकुलों की नींव डाली, जिनमें मथुरा का क्षत्रप कुल एक था। पश्चिमोत्तर भारत के शकों की भाँति मथुरा के शक भी प्रथम शक-आक्रमण (ई० पूर्व ७१ वर्ष में) के समय पंजाब अथवा उज्जैनी से मथुरा पहुँचे थे। इस स्थिति में उन्होंने अन्तिम शुङ्ग राजाओं अथवा काण्वों से मथुरा का प्रदेश छीना होगा। 'गार्गी-संहिता' का 'युग पुराण' शुङ्गकालीन है। उसमें यवन-आक्रमण के साथ-साथ शक-आक्रमण का भी वर्णन है।

ब्रिटिश म्युजियम में प्रदर्शित मथुरा-मृगराज-मस्तक अभिलेख बताता है कि तक्षशिला के ताम्रलेख का पडिक (पतिक) जिस काल में महाक्षत्रप था, उसी काल में मथुरा का सोडास, जो रज्जुवुल का पुत्र था, भी वहाँ का महाक्षत्रप था। इस कुल के क्षत्रपों में हगानस, हगान, खरओस्त, रज्जुवुल (खरओस्त का जामाता) औरसोडास के नाम प्राप्त हुए हैं। मोरा-अभिलेख में रज्जुवुल (रंजवुल) को महाक्षत्रप की उपाधि दी गयी है। (डॉ० राजबली पांडेय : प्राचीन भारत, पृ० २०४)। पश्चिम में बढ़कर उसने यवन-सत्ता का ह्रास किया था। अपनी बढ़ती शक्ति, और विजयों के कारण उसने महाक्षत्रप का विरुद धारण किया था। मथुरा में शिव दत्त और शिव घोष नामक शक शासकों के भी सिक्के प्राप्त हुए हैं। मथुरा के शक क्षत्रपों एवं महाक्षत्रपों से काण्वों का सदा संघर्ष होता रहा। पर मगध अथवा मिथिला पर उनका (शकों का) कभी अधिकार हो सका अथवा नहीं, इसका

स्पष्ट प्रमाण अब तक नहीं मिला है । किन्तु शकाब्द का व्यवहार मिथिला एवं उसके संलग्न अंचलों में अब तक चालू है । शकों के सम्पर्क बिना शक सम्वत् का वहाँ प्रचलन संभव नहीं जँचता है । इससे यह अनुमान किया जाता है कि शकों के अभ्युदय-काल में उनका शासन कुछ काल के लिए मिथिला-अंचल पर अवश्य हो गया था ।

मथुरा के शक क्षत्रपों की शक्ति को कुषणों के आक्रमणों ने समाप्त कर दिया। शकों के शेष ४ राजकुलों से प्रस्तुत पुस्तक का सम्बन्ध नहीं है । हाँ, उज्जैन के क्षत्रपों के काल की एक मोहर (मोहर नं० २४८) मिथिला की वैशाली की खुदाई काल में अनेक अन्य मोहरों के साथ प्राप्त हुई थी । उसके बीच में एक खड़ा साँढ़ का चित्र था और किनारै में–'राजनो महाक्षत्रस्य स्वामीरुद्रसिंहस्य दुहिता राजनो महा क्षत्रपस्य स्वामी रुद्र सेनस्यं भगिन्य महादेव्या प्रभुदमाया' अंकित था, जिसका अर्थ होता है महाक्षत्रप स्वामी रुद्र सिंह की पुत्री तथा रुद्र सेन की बहन प्रभुदमा की मोहर (आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट १९१३-१४)। इसके अतिरिक्त मिट्टी के पके टुकड़े पर पंख-युक्त मानव-आकृति, जिस पर विदेशी कला की छाप थी, की वहाँ की खुदाई से प्राप्ति भी इस तथ्य का द्योतक है कि किसी काल में महाक्षत्रप रुद्र सिंह के पुत्र महाक्षत्रप रुद्र सेन का आधिपत्य वैशाली अथवा सम्पूर्ण तिरहुत पर हो गया था । शकाब्द के मिथिला में प्रचार का यही विशेष कारण जान पड़ता है ।

शकों के दूसरे आक्रमण के नेता और शक संवत् के प्रवर्त्तक चष्टन का पौत्र रुद्रदामन महापराक्रमी एवं वीर विजेता था । उसके नाम से रुद्र सिंह तथा रुद्र सेन के नामों में साम्य है । अतः उन्हें उज्जैनी का क्षत्रप मानना अयुक्तियुक्त नहीं होगा। इस कारण उनका विशेष उल्लेख अनावश्यक समझ कर छोड़ दिया जाता है । मथुरा में मिले हुए अभिलेखों से ज्ञात होता है कि धार्मिक दृष्टि से शक भारतीय बन गये थे । उनमें से कुछ ने बौद्ध धर्म को और कुछ ने जैन धर्म को स्वीकार कर लिया था । ऊपर में शिवघोष तथा शिवदत्त नामक दो शक-क्षत्रपों की चर्चा की गयी है । ये नाम स्पष्टतया यह सिद्ध करते हैं कि उनमें अनेक शैव-मतावलम्बी भी थे । इसी प्रकार उनमें वैष्णव, शाक्त, गाणपत्यादि भी हो सकते हैं ।

शकों के भारत पर प्रथम आक्रमण का एकमात्र कारण जैनाचार्य कालका का निमन्त्रण मात्र मानना उचित नहीं जँचता है । वे इसके लिए पूर्व से उद्यत थे । कालकाचार्य का आमन्त्रण एक बहुत बड़ा निमित्त-कारण बन गया । जैनों के प्रभाव से उन्हें सुराष्ट्र और लाट में सहायता भी मिली । उपर्युक्त कथानक में लिखा है कि अपनी बहन सरस्वती के अपहरण के कारण कालकाचार्य गर्दभिल्ल से अप्रसन्न थे । उज्जैनी में शैव और जैन धर्म का प्राचीन पारस्परिक कलह सर्व-प्रकट है । पर शैव मतावलम्बी गर्दभिल्ल से जैन आचार्यों का संघर्ष अति सरल समस्या थी । जिस प्रकार बाख्त्री-यूनानी आक्रमण के काल में पंजाब तथा सीमा प्रान्त के बौद्ध संघारामों ने विदेशियों से सहयोग किया था, उसी प्रकार अवन्ती, सुराष्ट्र और लाट के जैन आचार्यों और कुलों ने शकों को सहयोग दिया । भारत की सत्यानाशी आन्तरिक फूट और वैर ने विदेशी आक्रमणकारियों की बराबर सहायता की है । किन्तु गत चीन तथा पाकिस्तान के भारत-आक्रमण काल में ऐसी बात नहीं देखी गयी । दोनों ही आपत्ति की घड़ियों में हिमालय से कन्याकुमारी एवं पश्चिमी से पूर्वी सागर

के बीच का समग्र भारत भूमि की भारतीय जनता ने अपने अदम्य उत्साह, देशभक्ति, शौर्य, पराक्रम, संलग्नता, तल्लीनता, शूरता, त्याग और बलिदान के साथ तन, मन, जन और ध न से अपनी मातृभूमि की सेवा एवं रक्षा कर शत्रुओं के दाँत खट्टे कर दिये । सदियों की गुलामी के पश्चात् महात्मा गान्धी के नेतृत्व में स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद उनकी आँखें खुल चुकी थीं । वे चेतनावस्था में थे, स्वार्थ एवं मोह-तन्द्रा में नहीं । विजय एवं सफलता का यही मुख्य कारण था ।

शक-मुरुण्ड

मुरुण्ड शक जाति की एक शाखा का नाम है । अतः वे इतिहास में शक-मुरुण्ड नाम से ख्यात हैं । 'मार्कण्डेय पुराण' के अनुसार मध्य देश में शकों की बस्ती थी । शकों की एक शाखा के भारत-आगमन तथा उनके वहाँ शासन करने के विषय में प्रकाश डाला जा चुका है । इतिहासकार स्टेन कोनोव के मतानुसार सई बैङ्ग नाम की शकों की एक शाखा और थी, जिसके अधिपति 'मुरुण्ड' की उपाधि धारण करते थे । इसके विरुद्ध शकों की अन्य शाखाएँ अन्यान्य उपाधियाँ धारण करती थीं । भारतीय साहित्य में भी मुरुण्ड जाति का वर्णन मिलता है । स्टेन कोनोव इसे शक-मुरुण्ड नाम से पुकारते हैं । शकों की यही शाखा उत्तरी मार्ग से होती हुई कि-पिन में आयी थी । कि-पिन के समीकरण के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है । स्टेन कोनोव तथा रायचौधरी के मतानुसार किपिन कपिश प्रदेश था; किन्तु टार्न एवं क्लैपार्थ इसे काबुल समझते हैं । परन्तु उपर्युक्त, मान्यता को अस्वीकृत कर अनेक शोधक किपिन से कश्मीर एवं पंजाब का समीपस्थ प्रदेश समझना अधिक उपयुक्त मानते हैं । चीनी लेखकों का कथन है कि कि-पिन समतल और उष्ण था, किन्तु हुएन्-त्सं के मतानुसार वह शीतप्रधान एवं झंझाप्रधान प्रदेश था ।

चीनी ग्रन्थ 'हान-शू' से स्पष्ट होता है कि अपने मूल निवास-स्थान को छोड़कर कि-पिन जाते समय शक 'हीन-टू' होकर गये थे । विली ने 'हीन-टू' को हिन्दूकुश माना है । फाह्यान के वर्णन से ज्ञात होता है कि 'हीन-टू' स्कर्दो के पश्चिम में सिन्धु नदी पर स्थित था ।

'सई-वैङ्ग' शब्द के उत्तरार्द्ध खण्ड 'वैङ्ग' का अर्थ मुरुण्ड अथवा स्वामी होता है । इसी से इस शाखा के नायक अथवा अधीश्वर की उपाधि 'मुरुण्ड' होती थी । शकों की दूसरी शाखा ने दक्षिणी मार्ग से भारत में प्रवेश किया था, जिसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है । भारतवर्ष में आने के पूर्व यह शाखा ईरान में रही थी । अतः इस पर ईरानी प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ा था ।

अनेक साक्ष्यों से प्रमाणित होता है कि भारत के एक विस्तृत प्रदेश पर शक-मुरुण्ड जाति ईसा की तीसरी शताब्दी तक राज करती रही । जैन-ग्रन्थ 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' के अनुसार एक मुरुण्डराज कान्यकुब्ज में राज करता था । हेमचन्द्र के ग्रन्थ 'अभिधान चिन्तामणि' से प्रकट होता है कि लम्पाक (Leghmen) में मुरुण्ड रहते थे । अन्यान्य साक्ष्यों से पाटलिपुत्र के ऊपर भी मुरुण्ड जाति के आधिपत्य की सूचना मिलती है । 'आवश्यक बृहद्वृत्ति' के अनुसार पाटलिपुत्र के एक मुरुण्ड राजा ने पुरुषपुर (पेशावर) में अपना एक राजदूत भेजा था, जो उस काल बौद्धों का एक प्रबल गढ़ था । इसी प्रकार

'पादलिप्त-प्रबन्ध' का कथन है कि पादलिप्त ने पाटलिपुत्र के मुरुण्ड राजा की भयंकर शिर पीड़ा की औषधि की थी ।

सिलभ्यां लेवी महोदय ने चीनी साहित्य का एक उद्धरण दिया है, जिसके अनुसार वू-वंश (२२०-२७७) के चीनी सम्राट् के एक पदाधिकारी ने अपने स्वामी को यह सूचना दी थी कि भारतवर्ष में बौद्ध धर्म की प्रधानता है और वहाँ म्यू-लून (Meou-Loun) राजा राज्य करता है (जरनल ऑफ दि ग्रेट इण्डिया सोसाइटी, १९४३ ई, पाद टिप्पणी-७)। विद्वान् लेवी ने म्यू-लून का समीकरण मुरुण्ड से किया है ।

अन्य विदेशी लेखकों ने भी भारतवर्ष में मुरुण्ड शासन का प्रमाण उपस्थित किया है । टालमी के अनुसार मुरण्डाई गंगा नदी के पूर्वी तट पर और सरयू की घाटी में स्थित थे । इस कथन की पुष्टि ओरियन नामक अन्य लेखक के लेख से होती है । वह कहता है कि 'मुरण्डीन' जाति के लोग गंगा के मैदान के निवासी थे ।

इन सब उद्धरणों से प्रकट होता है कि शक-मुरुण्डों ने पर्याप्त अवधि तक भारतवर्ष के विशाल भाग पर शासन किया था । गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में भी शक-मुरुण्डों का उल्लेख मिलता है । इससे प्रकट होता है कि चौथी शताब्दी में भी शक-मुरुण्ड भारतवर्ष में विद्यमान थे (डा० विमल चन्द्र पाण्डेय : प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृ० ६७८-८०) ।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्टतया पता चलता है कि शक-मुरुण्डों का आधिपत्य किसी समय पूर्वी भारत के पाटलिपुत्र एवं उसके आस-पास के प्रदेशों पर हो गया था । ऐतिहासिक युग में पाटलिपुत्र वा मगध का राजनीतिक सम्बन्ध बार-बार मिथिला से होता रहा है, इसका साक्ष्य इतिहास देता है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मुरुण्डों का राज्य भी कभी मिथिला में था । परन्तु जिस प्रकार शकों के महाक्षत्रप रुद्र सिंह की पुत्री तथा महाक्षत्रप रुद्रसेन की बहन प्रभुदमा की मोहर वैशाली में प्राप्त हुई थी, उस प्रकार कोई पुराकालिक प्रत्यक्ष प्रमाण इस विषय का अब तक प्राप्त नहीं हो सका है । पाटलिपुत्र के ऊपर उनके शासन प्रमाणित होने से यह अनुमान किया जाता है कि मिथिला पर भी मुरुण्डों का आधिपत्य कुछ काल के लिए स्थापित हो गया था ।

कुषाण-राजवंश

भारत पर आक्रमण करने वाले विदेशियों में एक कुषाण-कुल भी था । उत्तर-पश्चिम चीन के कान्-सू प्रान्त में बसने वाले यूह-ची (भारतीय नामक ऋषि) नाम की घुमक्कड़ जाति के समुदाय लगभग १६५ ई० पूर्व ह्युग-नू (हूण) नामक तुर्की गृहविहीन घुमक्कड़ जाति की शक्ति से पराभव प्राप्त कर उनमें से कुछ तो दक्षिण की ओर बढ़कर तिब्बत की सीमा पर बस गये, और उनकी मुख्य शाखा सीरदरिया की ओर अग्रसर होकर मार्ग में पड़नेवाली नाना जातियों से टकराते तथा उन्हें अपने अत्याचारों एवं उत्पीड़नों से तबाह और बर्बाद करते आगे बढ़े । सीरदरिया की घाटी में रहनेवाली शक जाति के लोग दक्षिण की ओर भाग गये । किन्तु यूह-ची (ऋषिक) उस प्रान्त उस प्रान्त में अधिक दिनों तक टिक नहीं सके । ऋषिकों की ५ जातियाँ थीं, जिसमें एक का नाम कुषाण था ।

कुषाण-कुल में कई नरेश हुए, जिनमें कुजुल कदफिसेस् के अन्यत्र एवं भारत के अनेक प्रान्तों में पाये गये सिक्कों से उसकी विजयों पर विशेष प्रकाश पड़ता है। काबुल की घाटी के देशों पर विजय कर वह भारत की ओर अग्रसर हुआ। उसने पार्थिया पर आक्रमण करने के पश्चात् पूर्वी गान्धार की विजय कर भारत में यत्र-तत्र शासन करने वाले पह्लव वंश का विनाश किया। इससे उसका आधिपत्य अब अफगानिस्तान और भारत के गान्धार प्रदेश पर हो गया। उस काल में भी उसकी राजधानी तुषार प्रदेश में ही थी। उसकी मृत्यु लगभग ८० वर्ष की आयु में प्रथम शती ईसवी के उत्तरार्द्ध में हुई। कुजुल कदफिसेस् की वह विजय सम्भवतः पराक्रमी पह्लवराज महाराजा गुदुफर के देहान्तोपरान्त४५ ई० के पश्चात् हुई होगी; क्योंकि गुदुफर की शक्ति उसके अन्तकाल तक पूर्णतया अक्षुण्ण रही थी। कुजुल कदफिसेस् के विजयों ने उसके वंशजों के लिए भारत-विजय के मार्ग को प्रशस्त कर दिया।

कुजुल कदफिसेस् के पश्चात् उसका पुत्र विम कदफिसेस् (ओएम) कुषणों का नरेन्द्र हुआ। चीनी लेखकों ने उसे भारत-विजेता बताया है। उसके सिक्कों पर 'महाराज' 'महाराजाधिराजवत्' आदि उसके अनेक विरुद मिलते हैं। उसके सिक्कों पर 'महेश्वर' भी अंकित मिलता है, तथा उन पर एक ओर शिव तथा नन्दी की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, जिससे उसका शैव होना प्रमाणित होता है।

विम कदफिसेस् के पश्चात् उस कुल के सबसे प्रसिद्ध राजा कनिष्क का नाम आता है। लगभग १२५ ई० में वह सिंहासन पर बैठा (एच० सी० रायचौधरी: पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, कनिष्क पर सम्बद्ध अध्याय ; जरनल ऑफ दि रॉयल ऐशिएटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयरलैंड, १९१३-१४; इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, जिल्द, ५, १९२९, पृ० ४९-८०)।

कुषाण-कुल के नृपतियों में कनिष्क का स्थान सर्वोच्च है। भारतीय नरेशों में भी वह विशिष्ट स्थान रखता है। वह वीर, विजेता, धर्म-प्रिय, साहित्य एवं विद्वानों का तोषक एवं पोषक तथा स्वाभिमानी योद्धा था। उसके सिक्के समस्त उत्तरी भारत, बंगाल और बिहार तक में मिले हैं। उसके लेखों के विवरण से पता चलता है कि उसके भारतीय साम्राज्य में कश्मीर, पंजाब, सिन्ध, उत्तर प्रदेश, मथुरा, काशी, साकेत और सम्भवतः बिहार के कुछ पश्चिमी अंश भी सम्मिलित थे। तिब्बती एवं चीनी लेखों में उसके पूर्वी भारत के सोकेद (साकेत-सहेत-महेत) एवं पाटलिपुत्र के नृपालों के साथ हुए संघर्ष की चर्चा मिलती है (एपिग्राफिक इण्डिका-१४, १४२ ; इण्डियन ऐण्टीक्वेरी १९०३, पृ० ३८२; हेमचन्द्र रायचौधरी : पोलीटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, षष्ठ संस्करण, पृ० ४७३)। 'श्री धरमपितक निदान सुत्त' के अनुसार कनिष्क ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर उसके भूपति को जीता था। उस काल में पाटलिपुत्र के सिंहासन पर लिच्छवि अथवा कोट कुल का भूप विराजमान था। विजेता कनिष्क ने विजित भूप से बहुत बड़ी रकम युद्ध की क्षति-पूर्ति में माँगी थी। राज्यकोष में उस काल उस रकम की तिहाई से अधिक निधि विद्यमान न थी। अतः कनिष्क ने प्राप्य रकम तो राजकोष से ली ही और शेष की पूर्त्ति में बुद्ध भगवान का पवित्र एवं ऐतिहासिक भिक्षा-पात्र तथा राजसभा के परम सम्मान्य और

विद्वान् ब्राह्मण कवि साकेत-निवासी अश्वघोष को प्राप्त कर वह सन्तुष्ट हो गया। बहुत सम्भव है, मगध-सम्राट् ने कनिष्क की प्रभुसत्ता स्वीकार कर करद भूप के रूप में पाटलिपुत्र तथा उसके संलग्न प्रदेशों (मिथिला, वैशाली आदि) पर शासन करना स्वीकार किया हो। 'कुमारलता' की कल्पनामंडि टीका के चीनी अनुवाद से पता चलता है कि कनिष्क ने पूर्वी भारत पर अधिकार कर देश में शान्ति की स्थापना की (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी-८ ४७५; ३२, ३८७; कौर्पस इन्सक्रिप्सनम इण्डिकेरम, भाग-२, ७९)। सारण जिले की थेलवा की खुदाई के समय स्वर्गीय एच० पाण्डेय को कतिपय कुषाण-कालिक ताम्र-सिक्के जिन पर चाँदी का पानी चढ़ा था, प्राप्त हुए थे। सारण अब भी तिरहुत प्रमंडल का एक जिला है। बंसाढ़ (वैशाली) की दूसरी बार खुदाई श्री स्पूनर साहब की अधीनता में १९१३-१४ ई० में हुई थी। उस काल वहाँ उन्हें अन्य राजवंशों की मुद्राओं के साथ कनिष्क के सिक्कों के सदृश सिक्के भी प्राप्त हुए थे। कदफिसेस् द्वितीय का सिक्का उनमें स्पष्ट था (स्मिथ : कैटलौग ऑफ कोआएन्स इन दि इण्डियन म्युजियम, कलकत्ता, फिग०-७, ११)।

श्री डी० आर० रेग्मी के अनुसार कदफिसेस् प्रथम तथा द्वितीय के सिक्के नेपाल की तराई में खोदने पर निकले हैं (ऐन्शिएण्ट ऐंड मेडिएवल नेपाल, पृ० ४९)। उपर्युक्त तथ्यों से प्रमाणित होता है कि कनिष्क का साम्राज्य तिरहुत एवं उसके पड़ोस के प्रदेशों तक फैल चुका था (डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० १८०)। नेपाल की तराई का वह भाग भी सम्भवतः उस काल में मगध-साम्राज्य के अधीन था। कुषणों के भारत-विजय-अभियान-काल में मगध-साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। बहुत सम्भव है, लिच्छवि नरपति कुषाण-आक्रमण से अपनी रक्षा के हेतु मिथिला के परे के प्रान्त नेपाल की तराई में चले गये हों, और वहाँ तक उनका पीछा कर विजेता शक्ति ने उसका पराभव किया हो।

राँची जिले के बेलभदग थाने में १९१४ ई० मे एक स्वर्ण- सिक्के की प्राप्ति हुई थी, जो सम्भवतः जुविष्क के थे तथा दूसरा ताम्र-सिक्का कट्रा में, जो कनिष्क-कालीन था (जरनल ऑफ दि बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी- १,२३१-३२)। श्री रतन ताता ने जो खुदाई पटना में करवायी थी (खुदाई स्थान नं० १) उसमें कनिष्क के दो सिक्के मिले थे (आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया ऐनुअल रिपोर्ट १९१२-१३ प्र० ७१, ८४-८५)। पाटलिपुत्र के कुम्हरार अथवा कुमरहार (मौर्यों की राजधानी का स्थानापन्न) की खुदाई में विम कदफिसेस् के ३, कनिष्क के १२, तथा हुविष्क के ३० सिक्के प्राप्त हुए थे (जरनल ऑफ दि नुमिसमेटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया १२,१२२)। गया की एक बौद्ध-मूर्ति पर भी हुविष्क के शासनकाल के लेख उत्कीर्ण हैं। इससे मालूम पड़ता है कि बिहार पर कुषाण सत्ता का आधिपत्य विभ कदफिसेस् से हुविष्क के राजकाल तक बना हुआ था (जरनल ऑफ दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी- १९२०, पृ० २२, अयंगर : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, १८)।

शाहाबाद के बक्सर में कुषाण-कालिक मुद्राएँ बड़ी संख्या में एकत्रित मिली हैं। हुविष्क के शासनकाल के लगभग ५० वर्षों के पश्चात् भी बिहार में कुषाण-मुद्राओं का प्रचलन था। वैशाली, पाटलिपुत्र एवं बक्सर में प्राप्त कुषाण-सिक्कों के आधार पर श्री

अलतेकर की राय में मगध-साम्राज्य पर कुषाणों की विजय उनके भारत के बीच विजय-अभियान के आरम्भिक काल में ही (कनिष्क के राज्याभिषेक के पूर्व) हुई होगी (जरनल ऑफ दि नुमेसमेटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया-१२, १२२)।

कनिष्क ने भगवान् गौतम बुद्ध का भिक्षापात्र वैशाली से ही प्राप्त किया था। उन्होंने अपने महाप्रयाण यात्रा-काल में कुशीनगर के मार्ग में अपना भिक्षा-पात्र देकर वैशाली के लिच्छवियों से वापस लौटने का अनुरोध किया था, जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। उत्तर भारत की विजय सम्भवतः कनिष्क के पूर्व विम कदफिसेस् द्वारा की गयी थी। इस तथ्य का अनुमोदन चीनी लेखों के द्वारा भी होता है (जरनल ऑफ दि नुमेसमेटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया-१२,१२२-२३)। पूर्वी भारत की शासन-व्यवस्था के हेतु सम्भवतः नये केन्द्रों का निर्माण किया गया था। ऐसे प्रदेशों का शासन सम्राट् के प्रतिनिधि द्वारा कुषाण-प्रभुसत्ता के अधीन शासकगण जहाँ-तहाँ स्वतन्त्र हो गये। वैशाली में रुद्रसेन महाक्षत्रप की बहन प्रभुदमा की मोहर की प्राप्ति से यह अनुमान किया जाता है कि उज्जैन के क्षत्रप ने भी अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर पश्चाद्वर्ती काल में वे मगध साम्राज्य की वैशाली तक पहुँचे और वहाँ अपना शासन उन्होंने अरम्भ किया। यह कुषाणों के पतन काल की घटना होगी।

कनिष्क ने अपनी राजधानी को तुषार से स्थानान्तरित कर साम्राज्य के केन्द्र पुरुषपुर अथवा पेशावर में स्थापित किया था। अब पुरुषपुर ने पश्चिमी गान्धार की राजधानी पुष्करावती का भी स्थान ग्रहण कर लिया (पेशावर के आस-पास के उत्खनन से कतिपय पुरातात्त्विक सामग्रियों की प्राप्ति हुई है, जिनका सम्बन्ध कनिष्क से है। बौद्ध साहित्य में भी पुरुषपुर का उल्लेख है– (डा० राजबली पांडेय : प्राचीन भारत, पृ० २१०, पादटिप्पणी)। उसने लगभग २३ वर्षों तक राज्य किया। वह बौद्धधर्मावलम्बी था। पर उसकी धार्मिक नीति अति उदार थी। वह सभी धर्मों का आदर करता था।

सारनाथ में कनिष्क का एक लेख उसके शासन के तीसरे वर्ष का प्राप्त हुआ है। उसके अनुसार उसके द्वारा नियुक्त किया गया शासक मथुरा में महाक्षत्रप खरपल्लान और उसके अधीन वाराणसी में क्षत्रप बनस्पर प्रान्तीय शासक था। इससे ज्ञात होता है कि शासन की सुविधा के विचार से साम्राज्य कई भागों में बँटा था, जिनका शासन क्षत्रपों द्वारा होता था।

कनिष्क के पश्चात् उसका द्वितीय पुत्र हुविष्क सिंहासन पर बैठा। उसके पश्चात् उसका अग्रज-पुत्र कनिष्क द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ। उसके पश्चात् उस वंश के भूपति वासुदेव द्वितीय का नाम इतिहास बताता है। उसके पश्चात् के कुषाण-सम्राट्गण नाम-मात्र के सम्राट् रह गये थे। वे सभी प्रायः निर्वीर्य थे। द्वितीय शती के अन्तिम चरण में सम्भवतः वासुदेव द्वितीय एवं कनिष्क तृतीय ने शासन किया, जिनका अस्तित्व उनके प्राप्त सिक्कों से प्रमाणित होता है। भारतीय उदीयमान नाग-शक्ति तथा यौद्धेय, कुणिन्द, आर्जुनायन, मालव एवं मद्र के गणराज्यों ने कुषाणों के साम्राज्य को तीसरी शती में विनष्ट कर विशाल कुषाण साम्राज्य के खण्डहर पर पृथक्-पृथक् अपनी सर्वभौम प्रभुसत्ता का निर्माण किया।

पाँचवाँ अध्याय

विदेशी शक्ति का अवसान एवं भारतीय शक्ति का पुनरुदय

भारशिव नाग एवं वकाटक राजकुल

श्री वी० सी० सेन के 'सम हिस्टोरिकल ऐस्पेक्ट ऑफ दि इन्सक्रिप्सन्स ऑफ बेंगाल' (१९९) के अनुसार तीसरी शताब्दी में, जब कुषाण-शक्ति-सूर्य अस्ताचलगामी हो रहा था; बौखर राजपूतों में से किसी एक ने पूर्व भारत के शासकों में सामान्य एवं उच्च स्थान प्राप्त किया। वह मूलतः मगध का शासक था और उसे कुषाण-सम्राटों की कृपा प्राप्त थी। कहा जाता है कि उसने बहुत अंशों में सम्राटोचित सत्ता का उपभोग तथा शक्ति का उपयोग किया था (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला पृ० १८२)। पर मिथिला एवं उसके संलग्न प्रदेशों पर उसकी प्रभुसत्ता अथवा आधिपत्य कभी स्थापित हुआ अथवा नहीं, इसका प्रमाण प्राप्य नही है।

डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल के अनुसन्धानों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कुषाण साम्राज्य के पंतन और गुप्त साम्राज्य के उदय के बीच के तमसाच्छन्न ऐतिहासिक युग में दो साम्राज्यों का उदय हुआ। वे थे नाग साम्राज्य और वकाटक साम्राज्य। इन दोनों में से प्रथम का आविर्भाव एवं विकास कुषाणों के पतन के शीघ्र पश्चात् और गुप्तों के उदय के निकटपूर्व में तथा दूसरे का गुप्तों के साथ अथवा उसके कुछ पूर्व हुआ।

इसका दिग्दर्शन पूर्व में कराया जा चुका है कि तीसरी शती ईसवी में कुषाणों की शक्ति का ह्रास आरम्भ हो गया था। भारशिव नागों ने उनकी क्रमशः ढीली पड़ती हुई कभी की फौलादी मुट्ठी से उनका कराल करवाल बालपूर्वक अपने कर में कर हिन्दू एवं हिन्दी साम्राज्य की नींव पुनः एक बार अपने पराक्रम से दी। ये नागवंशी शैव थे। शिव-लिंग का भार अपनी पीठ पर ढोने के कारण इस कुल का नाम इतिहास-लेखकों के द्वारा भारशिव नाग पड़ा (जरनल ऑफ दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, मार्च-जून १९३३ ई०, पू० ३ से आगे)। सम्भवतः ये पद्मावती (ग्वालियर-राज्य के नरवर के निकट पदम पवाया) के निवासी थे। उसी स्थान से इनका प्रसार यत्र-तत्र हुआ। (डॉ० भगवत शरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, २२५)। आज के बुन्देलों के अनेक घराने स्यात् उन भारशिव नागों की ही सन्तान हैं। पुराणों के अनुसार समृद्धि-काल में नागों के चार मुख्य केन्द्र थे, यथा- (१) विदिशा (भिल्सा), (२) पद्मावती (पद्मापवाया), (३) कान्तिपुरी (कान्तित, जिला मिरजापुर), एवं (४) मथुरा।

भारशिव नाग कुल के प्रारम्भिक नृपतियों में तीरसेन अति शौर्यशील एवं प्रसिद्ध भूप हुआ। मध्य भारत तथा पूर्वी भारत में कुषाणों का बल वास्तव में उसी ने तोड़ डाला। उसने मथुरा, गंगा से पूर्व संयुक्त प्रान्त, सारनाथ, काशी, पश्चिमी बिहार, बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड आदि प्रदेशों पर अविराम गति से आक्रमण कर कुषाणों के अवशिष्ट चिह्न भी लुप्त कर दिये। भारत के गत हिन्दू-प्रताप और राजलक्ष्मी को पुनः प्रतिष्ठित करने का गौरव एवं सुयश नाग-कुल-भूषण वीरसेन ने ही प्राप्त किया था। जरनल ऑफ नुमिस्मेटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया के उल्लेखों के आधार पर कुषाणों का आधिपत्य मिथिला पर

होना सिद्ध हो चुका है, जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। कुषाणसत्ता के विनष्ट हो जाने के पश्चात् मिथिला पर किसी उदीयमान राजसत्ता का अधिकार अवश्य हुआ होगा। भारशिव नागों का आधिपत्य मिथिला पर कभी हुआ अथवा नहीं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण इतिहास देता है। एक वाकाटक उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है कि भारशिव नागों ने गंगा घाटी को जीत कर दश अश्वमेध यज्ञ किये ("अंसभारसंनिवेशित-शिवपरितुष्टशासनाना पराक्रमाधिगत-भागीरथ्यमलजलमूर्द्धाभिषिक्तानां भारशिवानाम्।"-कॉर्पस इन्स्क्रिप्सन्स इण्डिकेरम् ३ पृ० २३७)।

श्री काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार भी भारशिव नागों ने अपनी विजयों के उपलक्ष्य में काशी में गंगा के तट पर सम्भवतः दश अश्वमेध यज्ञ किये, जिसके कारण उस स्थान का नाम दशाश्वमेध घाट पड़ गया। भारशिव नाग नागवंशीय क्षत्रिय थे।

जिस काल में भारशिव नागों का प्रतापादित्य मध्याह्न-कालिक शक्ति के साथ पूर्वोत्तर भारत में तप रहा था, उसी काल में मध्य भारत में एक दूसरी उदीयमान ब्राह्मणवंशीय वाकाटकों की शक्ति भी उन्नति के पथ पर अग्रसर होती दृष्टिगत होती है। भारशिव नाग-नृपति भवनाग की कल्याणी कन्या का पणिग्रहण वकाटक-भूप प्रवरसेन के पुत्र गौतमी पुत्र के हाथ हुआ था, जिस घटना का सगर्व उल्लेख अनेक वकाटक-अभिलेखों में प्राप्त होता है (कौर्पस इन्सक्रिप्सन्स इंडिकेरम, जिल्द- ३,२३७)।

कुषाण-शक्ति रवि के अवसान के लगभग एक शताब्दी पश्चात् तक नाग-कुल का सौभाग्य-सूर्य भारतीय गगन को अपनी देदीप्यमान रश्मियों से आलोकित करता हुआ ऐतिहासिक जगत् में दीख पड़ता है। नाग वंश के अतिरिक्त कोटा राज्य के निकट मौखरी, कौशाम्बी में मघ, और पाटलिपुत्र में कोट कुल के स्थानीय राज्य थे। अवन्ती और सुराष्ट्र में अब भी शक क्षत्रपों की शक्ति यत्र-तत्र बची थी, पर वे पूर्णतः निष्प्रभ और शक्तिशून्य थे।

सम्भवतः भवनाग की दुहिता का गौतमीपुत्र के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होने के पीछे भारशिवनाग-साम्राज्य और वकाटक राज्य मिलकर दोनों एक हो गये, क्योंकि उस ऐतिहासिक ब्राह्मण-क्षत्रिय विवाह के पश्चात् का भारशिव-नाग-वंश का इतिहास अंधकार में पड़ा है। अनुमानतः भवनाग भारशिव कुल का अन्तिम राजा था। उसका राज्य काल ३०५ से ३४० ई० तक कूता जाता है (डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० १८३)।

बकाटक राजकुल

वकाटक-राज्य का संस्थापक विन्ध्यशक्ति था। वह ब्राह्मणवंशीय था। तीसरी शती के उत्तरार्द्ध में, गुप्त-युग के आरम्भ के कुछ पूर्व तथा नागों के अभ्युदय के कियत्काल पश्चात् वकाटकों के साम्राज्य का उदय भारत में हुआ। विन्ध्यशक्ति ने वकाटक-राज्य की नींव विन्ध्यपर्वत के उत्तर बुन्देलखण्ड में दी थी, जिसका विस्तार किंचित् काल में ही विन्ध्य पर्वतमाला के दोनों ही ओर हो गया, एवं वह विशाल वकाटक-साम्राज्य के रूप में विकसित हुआ। यह साम्राज्य आन्ध्र-शातवाहन साम्राज्य का उत्तराधिकारी था, यदि यह कहा जाय तो इसमें अत्युक्ति नहीं होगी। बुन्देलखण्ड में वकाटकों का प्राचीन निवासस्थान

वकाट था, जिसका अर्वाचीन स्थानापन्न नगर ओरछा राज्य का वगाट है (के० पी० जायसवाल : जरनल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी १९३१, पृ० ६७)।

पुराणों के कथन तथा इस कुल के अभिलेखों से वकाटकों का आधिपत्य बुन्देलखण्ड, मध्यभारत, दोनों बरार, आसमुद्र उत्तरी-दक्षिणी प्रदेश, तथा समीपवर्ती अनेक दुर्बल राज्यों पर होना सिद्ध है। भारशिव नागों के साम्राज्य का वकाटकों के साम्राज्य में विलयन के पश्चात् वकाटक साम्राज्य की सीमाएँ बहुत विस्तृत हो गयी होंगी, ऐसा अनुमान किया जाता है। अजन्ता की ऐतिहासिक गुफाओं की भित्तियों पर उस कुल के अनेक उत्कीर्ण अभिलेख प्राप्त हुए हैं (स्मिथ : जरनल ऑफ दि रॉयल एशिएटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयर लैंड, १९१४,पृ०३१७-३८; गोविन्द पाई: जरनल ऑफ दि इण्डियन हिस्ट्री, १४,१९३५ ई०, पृ० १-२१, १६५-२०४)।

वकाटक-कुल में विन्ध्यशक्ति (यह नाम न होकर विरुद भी हो सकता है; क्योंकि इस कुल की शक्ति का उदय विन्ध्य-अंचल में ही हुआ था) के पश्चात् क्रमशः प्रवीर वा प्रवर सेन प्रथम, उसका पौत्र रुद्रसेन प्रथम, रुद्र सेन प्रथम का पुत्र पृथ्वी सेन एवं पृथ्वी सेन का पुत्र रुद्रसेन द्वितीय ने वकाटक-सिंहासन से बड़े शौर्य के साथ विशाल साम्राज्य का शासन किया। उत्तरकाल में हरिषेण वकाटक इस कुल में सबसे प्रतापी भूपति हुआ था। उसका राज्यकाल पाँचवीं शती का अन्तिम चरण था।

पुराण-प्रसिद्ध प्रवीर (प्रवर सेन प्रथम) ने अपने पिता से भी अपने को अधिक पराक्रमी और विजेता सिद्ध किया। उसने चक्रवर्ती सम्राट् के योग्य चार-चार अश्वमेध, बाजपेय बार्हस्पत्य आदि यज्ञ किये। उसके प्रतापादित्य के प्रखर प्रभा-पुंज के प्रकाश से प्रभावित देश के लब्धप्रतिष्ठ क्षत्रिय-सम्राट् कुल गौरव भवनाग भी इस वर्द्धमान राजवंश के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थपित करने में गौरव अनुभव करने लगा, और उत्तर भारत के उस सर्वशक्तिमान् सम्राट् ने अपनी पुत्री का विवाह उसके पुत्र के साथ किया, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। प्रवर सेन प्रथम ने सम्राट् के योग्य विरुद धारण किया, और उसका आधिपत्य भारतवर्ष के बहुत बड़े अंश पर सुदृढ़ हो गया (जरनल ऑफ दि रॉयल एशिएटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैंड, १९१४, ३३७; जरनल ऑफ दि इण्डियन हिस्ट्री १९३५, पृ०१-२६, १६५-२०५; एच० सी० रायचौधरी : पोजिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, षष्ठ संस्करण, ४४१-४२; आर० सी० मजूमदार एण्ड ए० एस० अल्तेकर : ए न्यू हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पीपुल जिल्द-६, अध्याय-५)।

रुद्रसेन द्वितीय का विवाह महापराक्रमी गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) की महारानी कुबेर नागा से उत्पन्न पुत्री प्रभावती गुप्त के साथ हुआ था। उस युग में ब्राह्मणक्षत्रिय विवाह का वह द्वितीय उदाहरण था।

प्रवरसेन, रुद्रसेन प्रथम, पृथ्वीसेन, रुद्रसेन द्वितीय, हरिषेण अदि द्वारा विजय किये गये प्रदेशों की लम्बी सूची प्राप्त है, पर उसमें पूर्वोत्तर भारत के किसी अंश की विजय का उल्लेख नहीं है। यदि वकाटकों की विजय वहाँ हुई भी हो तो यह स्पष्ट है कि उधर के प्रदेशों पर स्वशासन स्थापित करने में वे कभी सफल न हुए। स्थानीय शासकों का ही आधिपत्य वकाटक-युग में मिथिला आदि प्रदेशों पर बना रहा। भारशिव नाग-साम्राज्य

के वकाटक साम्राज्य के साथ संभावित विलयन के पश्चात् भी वकाटकों के सीधे मिथिला पर शासन का प्रत्यक्ष प्रमाण देने में इतिहास अब तक अक्षम रहा है ।

कुछ विद्वानों का मत है कि उत्तरकालीन वकाटकों के शासनकाल में लिच्छविशक्ति का पुनः उदय हुआ । पाटलिपुत्र के मगध-साम्राज्य की सत्ता के क्षीण होने पर उसके अन्दर के गणराज्यों को पनपने और विकसित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ, और वे अपने शासन-क्षेत्र में शक्ति का संचय एवं संवर्द्धन करने लग गये । पाटलिपुत्र पर लिच्छवियों का एक बार पुनः आधिपत्य होना इस तथ्य का बहुत अंशों में पृष्ठपोषण करता है (कील हौर्न– 'उत्तर भारत के उत्कीर्ण लेख' नं० ५४१ से लिच्छवियों एवं पुष्पपुर अथवा पाटलिपुत्र के बीच कुछ सम्बन्ध का पता चलता है) ।

गुप्त-कुल के चन्द्रगुप्त प्रथम का विवाह लिच्छवि कुल की कन्या के साथ हुआ था, और उस सम्बन्ध के द्वारा गुप्त-कुल के गौरव, पराक्रम, प्रताप, शौर्य एवं शक्ति में वृद्धि हुई, इसका वर्णन भारतीय इतिहास ने स्पष्ट रूप से किया है । लिच्छवि-शक्ति का विलयन इस वैवाहिक सम्बन्ध के पश्चात् संभवतः गुप्त साम्राज्य के साथ हो गया; क्योंकि गुप्त-युग अथवा उसके पीछे के इतिहास में लिच्छवियों के स्वतन्त्र अस्तित्व का पता कहीं नहीं चलता है ।

वकाटकों के साम्राज्य की रीढ़ षष्ठ शती ईसवी के उत्तरार्द्ध में बढ़ती हुई कलचुरि शक्ति की चोटों ने तोड़ दी ।

गुप्त-राजकुल

गुप्त-काल को हिन्दू-राज्यकाल का स्वर्ण-युग कहा जाता है । पुराणों के अनुसार गुप्तों के राज्य का उदय प्रयाग और साकेत के बीच सम्भवतः प्रयाग के निकट कौशाम्बी में लगभग तीसरी शती ईसवी के अन्तिम चरण में हुआ । समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति का प्राप्ति-स्थान भी इस अनुमान को पुष्ट करता है । इस कुल का संस्थापक महाराज श्रीगुप्त था । इसकी पुष्टि गुप्त-सम्राटों के प्राप्त अभिलेखों से भी होती है । भारशिव नागों के पश्चात् भारतीय इतिहास के रंगमंच पर से जब यवनिका ऊपर उठती है तब मगध के पाटलिपुत्र और उसके निकटवर्त्ती प्रदेशों पर गुप्तवंशीय नृपतियों का आधिपत्य देखा जाता है । विद्वानों की राय में श्रीगुप्त ने सम्भवतः २७५ ई० से ३०० ई० तक राज्य किया था । श्री एच० सी० रायचौधरी की 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ इण्डिया'– षष्ठ संस्करण पृष्ठ ५३१ के आधार पर डॉ० उपेन्द्र ठाकुर ने हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० १८५ की पाद-टिप्पणी में अंकित किया है कि अल्लन की राय में श्रीगुप्त के काल में भी पाटलिपुत्र उसके अधिकार में था । श्रीगुप्त के पुत्र घटोत्कच गुप्त के नाम की एक मोहर बिहार राज्य के मुजफ्फरपुर जिलान्तर्गत प्राचीन लिच्छवियों की राजधानी वैशाली (बनिया बसाढ़) ग्राम के उत्खनन में प्राप्त हुई थी, जिसपर 'घटोत्कच गुप्त' उत्कीर्ण था (टी० ब्लॉक : आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऐनुअल रिपोर्ट, १९०३-४ ई०, पृ० १०७) । घटोत्कच गुप्त का शासनकाल ३०० से ३१९ ई० तक बताया जाता है । उसका विरुद 'महाराज' का था । अतः उसके शासन का क्षेत्र भी पिता श्रीगुप्त के शासन-क्षेत्र के समान सीमित था ।

घटोत्कच गुप्त का पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम हुआ । उसके सम्बन्ध में श्री के० पी० जायसवाल ने 'कौमुदी महोत्सव' नाटक के आधार पर अति मनोरंजक चरित्र-चित्रण किया

है। उसके अनुसार पाटलिपुत्र के कोटक वंशीय राजा सुन्दर वर्मन् ने चन्द्रगुप्त (चण्डसे-चन्द्रसेन) को गोद लिया। परन्तु पीछे उसको अपनी रानी से कल्याण वर्मन् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इससे चन्द्रगुप्त के मन में राज्य का उत्तराधिकारी न हो सकने की आशंका उत्पन्न हुई। इस कारण वह शीघ्र सुन्दर वर्मन् को मार कर सिंहासन का स्वामी बन गया। पर इस प्रकार का पितृघात राज्य के मन्त्रियों को प्रिय नहीं लगा। कुछ दिन पश्चात् उनकी मन्त्रणा से सुन्दर वर्मन् का पुत्र कल्याण वर्मन् पाटलिपुत्र के सिंहासन पर आसीन हुआ। उस काल में चन्द्रगुप्त विन्ध्यवासी जंगली जातियों के विद्रोह को शमन करने के हेतु बाहर गया हुआ था। लौटने पर उसका प्रवेश राजधानी के नगर में न हो सका। वहाँ से हताश होकर वह अपने पैतृक राज्य में लौट गया, और वहीं से अपने राज्य की सीमाओं के विस्तार में वह महत्त्वाकांक्षी संलग्न हुआ। चन्द्रगुप्त प्रथम के शासनकाल में गुप्त-वंश का प्रतापरवि गगनोन्नतगामी हुआ। पाटलिपुत्र का चिर अमित्र एवं प्रतिशोध-तत्पर उत्तर विहार के प्रख्यात गणराज्य, जिसका पराभव मगध ने ५वीं शती ईसा-पूर्व में किया था, के वीर्यवान् लिच्छवि-भूप की कन्या कुमार देवी का पाणिग्रहण कर चन्द्रगुप्त ने अपनी शक्ति की वृद्धि की। लिच्छवि-कुल के साथ वैवाहिक सम्बन्ध से गुप्तवंश अति गौरवान्वित हुआ, और उससे उसके ऐश्वर्य एवं उदीयमान शौर्य में अपरिमेय योगदान प्राप्त हुआ, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। इस विवाह से चन्द्रगुप्त प्रथम की क्षमता अत्यधिक बढ़ गयी, और उसने 'महाराजाधिराज' का विरुध धारण किया। उसका शासनकाल ३२० से ३३५ ई० तक था। अधोऽङ्कित पुराण-वाक्यों से उसके राज्य की सीमाओं का पता चलता है :-

"अनुगंगं प्रयाग्रं च साकेतं मगधांस्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥"

पातंजाल भष्य (२, १, २) में भी उल्लेख है, यथा- "अनुगंगं हस्तिनापुरम् अनुगंगं वाराणसी, अनुशारेणम् पाटलिपुत्रम्।"

परन्तु उपर्युक्त पुराण-उल्लेख में वैशाली जनपद का नाम नहीं है। चन्द्रगुप्त प्रथम के पुत्र "सर्वराजोच्छेत्ता" भारत-विजयी समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में भी उसकी विजयों की सूची में वैशाली का उल्लेख नहीं है। हाँ, उसमें नेपाल को उसके साम्राज्य का सीमा-राज्य एवं प्रत्यन्त राज्य बताया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पाटलिपुत्र से उत्तर और नेपाल से दक्षिण का जनपद, जिसमें मिथिला का समावेश हो जाता है, भी समुद्र गुप्त के साम्राज्य का एक अंग था। (एच० सी० रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पष्ठ संस्करण, ५३१)। ऊपर के पुराण-श्लोक पर विचार करने से अल्लन महोदय की यह राय कि वैशाली को चन्द्रगुप्त ने आरम्भ में ही जीता था, यह पूर्णतया आधारशून्य प्रतीत होता है। उनका यह कहना कि पुरुगुप्त के काल में गुप्तों का अधिकार वैशाली पर था, मान्य हो सकता है। वैशाली-राज्य चन्द्रगुप्त प्रथम को वैवाहिक यौतुक में प्राप्त हुआ हो, यह सम्भव हो सकता है।

लिच्छवि-दौहित्र समुद्रगुप्त की विजयों तथा उसके प्रताप और साम्राज्य-विस्तार का पता प्रयाग के किला में खड़े प्रस्तरस्तम्भ पर उत्कीर्ण अभिलेख से चलता है। उसके अनुसार उसका आधिपत्य उत्तर भारत के बिहार, पश्चिम बंगाल, आसाम, नेपाल तथा सुदूर

दक्षिण भारत एवं सीमाप्रान्त के प्रदेशों पर भी स्थापित हो चुका था । इनके अतिरिक्त मालव, अर्जुनायन, योधेय, मद्रक, आभीर प्रार्गण, सनकानीक, लाक, खरपरिक आदि गणराज्यों को भी उसकी शक्ति और विक्रम के समक्ष नतमस्तक होना पड़ा था। कतिपय विदेशी राज्य, जैसे-देवपुर शाहि शाहनुशाही, शक-मुरुण्ड और सिंहल तथा अन्य देशवासियों ने भी उसके पराक्रम से सशंक एवं संत्रस्त होकर उससे मित्रता कर लेने में ही अपनी कुशलता समझी थी । इस प्रकार समुद्रगुप्त सारे भारत का विजेता और एकछत्र सम्राट् था, और उसका आधिपत्य मिथिला पर भी था, इसमें सन्देह नहीं है । उसने ३३५ ई०३७५ ई० तक राज्य किया ।

समुद्रगुप्त के द्वितीय पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के समय में मिथिला उसके साम्राज्य का अभिन्न अंग था, यह प्रमाणों से प्रमाणित है । चन्द्रगुप्त द्वितीय के पूर्व उसका अग्रज रामगुप्त सिंहासन पर बैठा । पर अचिर उसने अपनी क्लीबता के कारण या तो स्वेच्छा से राज्य का परित्याग किया अथवा उसका वध किया गया । अमोघ वर्ष प्रथम के ९ वीं शती ई० के सज्जन ताम्र-पत्र- लेख से रामगुप्त की चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) द्वारा हत्या का संकेत मिलता है । रामगुप्त की विधवा साम्राज्ञी ध्रुवस्वामिनी से चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विवाह किया तथा रामगुप्त के पश्चात् गुप्त-सिंहासन पर बैठा ।

विशाखदत्त रचित 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक से पता चलता है कि रामगुप्त अति कायर और क्लीब था । बाणभट्ट का 'हर्षचरित' और उसकी शंकरार्य-कृत टीका से भी उस कथन की सम्पुष्टि होती है । किसी शक-राज के पराक्रम से आतंकित होकर वह अपनी परम सुन्दरी साम्राज्ञी ध्रुवस्वामिनी को भी स्वरक्षार्थ उसे समर्पण करने के हेतु उद्यत हो गया था । पर उसका वह अपमानजनक कार्य उसके कुल के अन्य सदस्यों तथा आत्माभिमानी अनुज चन्द्रगुप्त द्वितीय को असह्य हो उठा । गुप्त-वंश की प्रतिष्ठा के रक्षार्थ कामिनी वेशधारी चन्द्रगुप्त द्वारा परपत्नीलोलुप कामुक शकपति का उसके ही पुर में वध हुआ और चन्द्रगुप्त की मेधा और वीरता से गुप्त-कुल की मान-रक्षा सम्भव हो सकी ।

समुद्रगुप्त एवं अपने अन्य पूर्वजों द्वारा विजय किये गये प्रदेशों के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय मध्य देश एवं सिन्धु की सातों सहायक नदियों के बीच के पंजाब प्रदेश को लाँघ कर अपने दिग्विजय-अभियान में वाह्लीकों के देश में पहुँचा, तथा वहाँ उसने हूणों का पराभव किया, एवं सीमान्त के विदेशियों को पराजित कर उनका विनाश किया (महरौली-लौह-स्तम्भ अभिलेख, यथा- "तीर्त्वा सप्तमुखानि तेन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका ।"-जे० एफ० फ्लीट : कौर्पस इन्सक्रिप्सनम् इण्डिकम्- वॉल्यूम-३,नं०३२, पृ० १४१, श्लोक-१)। बंगाल के विद्रोह का शमन उसने पूर्व में ही किया था । उसने अपने पिता समुद्रगुप्त के विशाल साम्राज्य को अपनी विजयों द्वारा विशालतर बनाया । अब मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र भी उसमें सम्मिलित कर लिये गये । उसका आतंक वक्षु की घाटी तथा वाह्लीक तक फैल गया ।

महरौली-अभिलेख से यह स्पष्ट हो जाता कि बंगाल और सौराष्ट्र की विजय से चन्द्रगुप्त द्वितीय का आधिपत्य पूर्व और पश्चिम के दोनों सागरों (बंगाल की खाड़ी और अरब सागर) के बीच की वसुन्धरा पर हो गया । मिथिला की भूमि भी बंगाल और मगध

के बीच में पड़ने के कारण उसके साम्राज्य के अन्तर्गत थी। चन्द्रगुप्त ने अपनी उपर्युक्त विजयों के पश्चात् अपने अपरिमेय विक्रम के अनुरूप 'विक्रमादित्य' का विरुद धारण किया था।

इसका उल्लेख प्रसंगवश संक्षेप में पूर्व में किया जा चुका है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी एक रानी नाग-कन्या कुवेर नाग से उत्पन्न कन्या-रत्न कुमारी प्रभावती का विवाह वकाटक-नरेश पृथ्वी सेन प्रथम के पुत्र महाराज रूद्र सेन द्वितीय के साथ कर अपनी सामरिक शक्ति को और भी सुदृढ़ किया था। इस ब्राह्मण-क्षत्रिय-सम्बन्ध के कारण चन्द्रगुप्त की शक्ति में पर्याप्त वृद्धि हुई, जिसके द्वारा उसने मालवा एवं सीमाप्रान्त के शकों का नाश कर 'शकारि' का विरुद प्राप्त किया।

महापराक्रमी चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में तीरभुक्ति वा तिरहुत (मिथिला) गुप्त-साम्राज्य की अनेक भुक्तियों, यथा-पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति (उत्तर बंगाल), नगरभुक्ति (दक्षिण बिहार), श्रावस्ती भुक्ति (अवध प्रदेश), अहिक्षेत्र भुक्ति (रोहिल खण्ड) आदि में से एक भुक्ति थी, जिसका शासन सम्राट् के प्रतिनिधि राजकुमार द्वारा होता था (एच० सी० रायचौधारी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पष्ठ संस्करण, ५३१, ५६०)। जिस प्रकार सम्प्रति एक प्रमंडल में कई जिले होते, सम्भवतः गुप्त साम्राज्य के क्षेत्र का भौगोलिक विभाजन भी उसी प्रकार शासन-सुविधा के हेतुं भुक्तियों में हुआ था। (गुप्त-पोलिटी, २४२)।

बसाढ़ (वैशाली) के राजा विशाल के गढ़ के नाम से प्रसिद्ध टीलों का उत्खनन पुरातत्त्व विभाग की ओर से १९०३-४ ई० में श्री टी० ब्लौक की ओर १९१३-१४ ई० में श्री स्पूनर महोदय की देख-रेख में हुआ था। उन खुदाइयों में अनेक राजकीय मोहरों की प्राप्ति हुई थी, जिससे वैशाली एवं तीरभुक्ति (तिरहुत-मिथिला) के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। पिछली खुदाई जितनी गहराई तक जा सकी, उससे ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी से लेकर ईसा पश्चात् चौथी शताब्दी तक की वैशाली विषयक ऐतिहासिक सामग्रियाँ प्राप्त हुईं। यदि खुदाई उससे भी गहराई तक हो पाती तो उससे वैशाली के और भी प्राचीन इतिहास पर प्रकाश पड़ता (आर्कियोलौजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट, १९१३-१४, एक्सकैवेशन ऐट बसाढ़, ४३, ४४, ४५)।

वैशाली के १९०३-४ ई० के उत्खनन से प्राप्त शासकीय मोहरों से अनुमान किया जाता है कि उस काल में वैशाली गुप्त-साम्राज्य की एक भुक्ति (तीरभुक्ति) की राजधानी थी, जहाँ भुक्ति-शासक का निवास था। प्राप्त मोहरों में से मोहर नं० २ में ''श्री घटोत्कच गुप्तस्य'' अंकित था। एक में ''तीरभुक्तौ वैशाली तारा'' वाक्य उत्कीर्ण था, जिसका अर्थ होता है– 'तीरभुक्ति में वैशाली का तारा'। सम्राट् अथवा उनके पदाधिकारियों के नाम की मोहरें सम्भवतः सम्राट् अथवा उनके प्रतिनिधियों को राजाज्ञा अथवा पत्र जो भुक्ति के शासक अथवा जिले के प्रधान, जैसे नगर दण्डाधिकारी अथवा समाहर्त्ता आदि के नाम प्रेषित किय जाते थे, उन पर व्यवहृत होती थीं। उत्खनन से प्राप्त मोहरों से तत्कालीन तीरभुक्ति (तिरहुत) के प्रान्तीय शासन, नगर-निगम, व्यापारिक संगठन, एवं संस्था-व्यवस्था के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। मोहर नं० १ में– महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त-पत्नी

महादेवी श्री ध्रुवस्वामिनी'' वाक्य अंकित था। चन्द्रगुप्त द्वितीय का महारानी ध्रुवस्वामिनी से उत्पन्न पुत्र गोविन्द गुप्त सम्बद्ध प्रान्त का शासक था, और उसका मुख्य कार्यालय एवं राजकीय आवास वैशाली में था। इतिहास-लेखक आयंगर की राय में चन्द्रगुप्त द्वितीय का युवराज कुमारगुप्त सम्राट् का प्रतिनिधि शासक था, पर आवश्यकतावश उसके राजधानी में रुके रहने के कारण उसका भाई गोविन्द गुप्त शासन-कार्य अपने अग्रज के नाम पर किया करता था (ऐन्शिएण्ट इण्डिया-२८५ ; वी० आर० आर० दीक्षितार : गुप्त पौलिटी, ६९; डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला– पृ० १८७)।

वैशाली की खुदाई से प्राप्त गुप्तकालीन मोहरों में से अनेक शासकीय पदाधिकारियों के पद की संज्ञावाली मोहरें हैं, जैसे–भटाश्वपति (हयदल-सेनाधीश), महादण्डनायक (दण्डाधिकारीवर अथवा स्थानीय सेनानायक), विनय स्थितिस्थापक (विधि व्यवस्था स्थापक), महाप्रतिहार (राजप्रासाद-अधीक्षक), तलवर (स्थानीय सरदार अथवा सेनानी), उपरिक (शासक), कुमार-अमात्य (सैनिक कला-शिक्षार्थी-प्रशिक्षण-मन्त्री), युवराज-पादीय कुमार अमात्य-अधिकरण (युवराज-मन्त्रिपरिषद्-कार्यालय), रणभाण्डागार-अधिकरण (युद्ध विभागीय मुख्य कोषाध्यक्ष-कार्यालय), बलाधिकरण (युद्ध-कार्यालय), तीरभुक्तौ विनय स्थिति-स्थापक-अधिकरण (तिरहुत में विधि अनुसार शान्ति-सुव्यवस्था स्थापन करनेवाला कार्यालय), वैशाल्यधिष्ठानाधिकरण (वैशाली नगर-सरकार-कार्यालय), श्री परम भट्टारक-पादीय कुमारामात्य अधिकरण (सम्राट्-सैनिक-कला-शिक्षार्थी-प्रशिक्षण-मन्त्री-कार्यालय), दण्डपाशाधिकरण (स्थानीय शासक कार्यालय) आदि।

उपर्युक्त मोहरों में उत्कीर्ण प्रयोगों से पता चलता है कि तिरहुत-सरकार (वैशाली सरकार) के कार्यालय एवं सम्राट् की सरकार (केन्द्र सरकार) के कार्यालय पृथक्-पृथक् थे और उनके पदाधिकारियों के कार्यालयों की मोहरें भी भिन्न-भिन्न थीं।

ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि तीरभुक्ति (तिरहुत) सरकार का शासन सम्राट् के प्रतिनिधि शासक द्वारा होता था। गोविन्द गुप्त अपने भ्राता कुमार गुप्त के नाम पर वहाँ का शासन करता था। इस स्थानीय सरकार के अस्तित्व का अनुमोदन 'तीरभुक्तौविनयस्थिति-स्थापक अधिकरण', 'वैशाल्यधिष्ठानाधिकरण' आदि प्रयोगों वाली मोहर से होता है, तथा सम्राट् को केन्द्रीय सरकार के कार्यालय के अस्तित्व का पता 'श्री परमभट्टारक-पादीय कुमारामात्य-अधिकरण' वाली मोहर से चलता है (एच० सी० रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ५६३; बी० आर० आर० दीक्षितर, गुप्त पोलिटी, १५२-६३)।

बसाढ़ (वैशाली) के उत्खनन में राजकीय कार्यालय की मोहरों के अतिरिक्त अन्य व्यापारियों आदि संस्थाओं, उनके कार्यपालकों तथा अध्ययनों के प्रयोग की मोहरों की भी प्राप्ति हुई थी, जिनका उल्लेख यथास्थान पूर्व में किया जा चुका है। उन मोहरों से वैशाली में श्रेष्ठियों (बैंकरों), सार्थवाहों (व्यापारियों), तथा कुलिकों (कलाकारों, शिल्पियों, यान्त्रिकों आदि) के निगमों का अस्तित्व प्रमाणित होता है। 'श्रेष्ठी-सार्थवाह-कुलिक-निगम' की मोहर में अंकन इस तथ्य का द्योतक है कि उपर्युक्त व्यवसायियों का अपना प्रमाणित निगम था, जिसके द्वारा उनका कारोबार देश एवं विदेश में चलता था (आर्कियोलौजिकल

सर्वे ऑफ इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट, १९०३-४ ई०, पृ० ११२-१८ देखें) । उनके ऐसे संगठनों के लिए 'श्रेणी', 'निकाय' एवं 'निगम' शब्दों का प्रयोग पाया जाता है और जिस स्थान पर एकत्र होकर उसके सदस्यगण सभा करते थे, उसका नाम 'निगम-सभा' होता था (आर० डी० बनर्जी : दि एज ऑफ दि इम्पोरियल गुप्तराज-८३-८५)। प्रत्येक संगठन का अपना अध्यक्ष होता था, जिसे 'प्रथम' कहा जाता था । ऐसे संगठनों के समूह के उच्च स्तरीय संघों के भी अस्तित्व का पता वहाँ की मोहरों से चलता है । व्यापारियों एवं महाजनों के पत्रों पर प्रयुक्त मोहरों के ठप्पों से उन दिनों वैशाली नगर के प्रधान एवं पाटलिपुत्र, श्रावस्ती, विदेह आदि नगरों के प्रमुख वाणिज्य-व्यावसायिकों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध का दिग्दर्शन होता है । यह मिथिला के उन दिनों की व्यावसायिक उन्नतावस्था का प्रमाण है । महाजनों, व्यापारियों तथा व्यवसायियों के निगमों का हाथ नगर के सफल शासन में भी बहुत अंशों तक रहा करता था, (गुप्त पोलिटी-२६८-७१) ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ३७५ से ४१४ ई० तक शासन किया । उसके पश्चात् उसके पुत्र कुमार गुप्त (४१४-४५५ ई०) तथा पौत्र स्कन्दगुप्त (४५५-४६७ ई०) के शासनकाल में तिरहुत सरकार पर गुप्तों का शासन पूर्ववत् बना रहा । स्कन्दगुप्त ब्रह्मचारी एवं सुर-सेनप-शंकर-सुत-स्कन्ध के समान ही दक्ष समर-शास्त्री तथा पराक्रमी शास्त्री था । स्कन्दगुप्त ने पुष्यमित्रों एवं हूणों के विकट आक्रमणों को अपनी तपस्या, तत्परता, एवं वीरता के बल विफल कर दिया । उक्त हूणों के साथ भयंकर समर में उसे तीन दिनों तक बिना बिछावन के भूमि पर शयन करना पड़ा था, यथा– 'विचलित कुल लक्ष्मी-स्तम्भनायोद्यतेन, क्षिति-तल-शयनीये येन नीता त्रियामा ।'' (फ्लीट : गुप्त-अभिलेख) । पुष्यमित्रों पर उसकी विजय के विषय में भी उल्लेख है कि–''समुदितबलकोषान्पुष्यमित्रांश्च जित्वा क्षितिप-चरणपीठे स्थापितो वामपादः ।।४।।'' (फ्लीट : गुप्त-अभिलेख) । उसने अनेक दुर्मद नृपतियों को अपने पराक्रम से पराभूत कर 'क्षितिपशतपतिः' का विरुद धारण किया था (कौर्पस इन्सक्रिप्सनम् इंडिकेरम्, नं० १५, पृ० ६५-६८) । उसके हूणों के साथ भयंकर युद्ध के वर्णन में अंकित किया गया है कि–''हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यांधरा कम्पिता भीमावर्त्तकस्य'' (कॉपर्स इन्सक्रिप्सनम् इंडिकेरम्-३, ५४-५५) । उपर्युक्त कथन का सारांश यह है कि समर में स्कन्दगुप्त की भुजाओं का हूणों से टकरा जाने के कारण भयंकर आवर्त्त का आविर्भाव हुआ, और पृथ्वी कम्पित हो गयी । स्कन्दगुप्त ने हूणों से सफल लोहा तो लिया अवश्य, पर उनकी अनवरत आक्रमणों की शृंखला ने गुप्त-साम्राज्य की नसें ढीली कर दीं ।

स्कन्दगुप्त के पश्चात् उसका विमाता-पुत्र पुरुगुप्त वृद्धावस्था में गुप्त-सिंहासन पर बैठा । उसी के काल से गुप्त साम्राज्य का ह्रास दृष्टिगोचर होने लगा (हेमचन्द्र रायचौधरी : पोलिलिटकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, षष्ठ संस्करण, पृ० ६२७) ।

पुरुगुप्त के पश्चात् ह्रासोन्मुख गुप्त-साम्राज्य-सिंहासन पर क्रमशः नरसिंह गुप्त, कुमार गुप्त द्वितीय, बुद्धगुप्त और भानुगुप्त बालादित्य बैठा । बौद्ध साहित्य एवं प्राप्त सिक्कों के अनुसार भानुगुप्त बालादित्य के पश्चात् वज्र, तथागत, विष्णुगुप्त, चन्द्रादित्य, वैन्यगुप्त द्वादशादित्य आदि गुप्तकुल में भूपति हुए ।

भानुगुप्त बालादित्य के समय में गुप्त-शक्ति का कुछ काल के लिए पुनरुत्थान हुआ। इसी के शासनकाल में हूणों के नेता तोरमाण ने ५०० और ५१० ई० के बीच भारत पर आक्रमण किया तथा मालवा को अपने अधिकार में कर लिया। भानुगुप्त के एरण-अभिलेख से पता चलता है कि ५१० ई० के हूणों के साथ भयंकर युद्ध में यद्यपि उसका सेनाध्यक्ष गोपराज वीरगति को प्राप्त हुआ और उसकी चिता पर उसकी स्त्री उसके साथ सती हो गयी, पर उसने हूणों को मालवा से बहिष्कृत करके ही दम लिया। एरण में गुप्त-कुल का एक विजय-स्तम्भ गोपराज के स्मारक-स्वरूप खड़ा किया गया था। हुएन्-त्सं के अनुसार भानुगुप्त बालादित्य ने हूण-राज मिहिरकुल को रणबन्दी बनाया था। परन्तु अपनी दयाशीला माता की आज्ञा के अनुसार उसने उसे मुक्त कर दिया।

स्कन्दगुप्त एवं पुरुगुप्त के शासनकाल तक गुप्तों के विशाल साम्राज्य से कोई प्रदेश बाहर नहीं निकल सका था यद्यपि आपत्तियाँ बहुत आयीं (वी० पी० सिंह : दि डिकलाइन ऑफ दि किंगडम ऑफ मगध-५३, ४१-४४)। बुद्ध गुप्त (४७६-४९४) ई० के उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होता है कि पूर्व में बंगाल से लेकर पश्चिम में नर्मदा के किनारे तक उसका आधिपत्य था (डॉ० राजबली पांडेय : प्राचीन भारत, पृ० २३७)। उसके अभिलेख सारनाथ (उ० प्र०), दामोदरपुर (बंगाल) एवं एरण (म० प्र०) में पाये गये हैं। सारनाथ अभिलेख में उल्लेख है कि– 'गुप्तानां समतिक्रान्ते सप्त-पंचाशद् उत्तरेशते समानां पृथ्वीं बुद्धगुप्ते प्रशासति' (आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट, १९१४-१५, पृ० १२४-२५; सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, वॉल्यूम-१, पृ० ३२०-३२३; आर० सी० मजूमदार ऐंड अल्तेकर : ए न्यू हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन पीपुल, वॉल्यूम-६, पृ० १८९) बुद्ध गुप्त के शासन की पुंड्रवर्द्धन भुक्ति सम्भवत: उत्तर में हिमालय तक फैली हुई थी। उसके अन्दर नेपाल और उसका वराहक्षेत्र, जिसे कोकामुख स्वामी-तीर्थ भी कहा जाता है, भी था (इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली- २१, ५६, डॉ० लक्ष्मण झा की राय में यह वराहक्षेत्र कोशी के पूर्वी किनारे पर चत्रागद्दी तथा हिमालय की त्रिवेणी नदियों के बीच है- डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला- पृ० १९०)।

उपर्युक्त उल्लेखों से पता चलता है कि घटोत्कच गुप्त के काल से लेकर बुद्धगुप्त एवं भानुगुप्त के राज्यकाल तक मिथिला का सम्बन्ध गुप्त साम्राज्य के साथ बना रहा था। भानुगुप्त बालादित्य के शासन के पश्चात् के गुप्त नृपतियों का आधिपत्य मिथिला पर रहा अथवा नहीं, इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त नहीं है।

इतिहासकारों ने गुप्तों के शासनकाल को भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहा है। मौर्यों के पश्चात् विदेशी आक्रमणों के शिथिल होने पर गुप्तों ने एक निश्चित योजना के साथ आदर्श शासन-व्यवस्था की स्थापना की थी। उस काल में प्रजा सुखी एवं समृद्ध थी। गुप्तों की शासन-प्रणाली से विदेशी चीनी यात्री विद्वान् फाहियान अत्यधिक प्रभावित हुआ था। इतिहास लेखक श्री वी० एम० स्मिथ की राय में प्राच्य शैली के अनुसार इससे अच्छा शासन भारतवर्ष में कभी नहीं हुआ था।

विदेशियों, विशेषकर हूणों की बार-बार की चढ़ाइयों के कारण देश की आर्थिक एवं सामरिक शक्ति का भी ह्रास हुआ था। स्कन्दगुप्त ने अपने शासन के आरम्भ में हूणों

को हरा कर भारत से बाहर निकाल दिया था, पर हिन्दूकुश के दक्षिण में जो हूणों का जमघट हो गया था उससे भारतवर्ष को एक अस्थायी आशंका और संकट उत्पन्न हो गया। स्कन्दगुप्त के बाद भीतरी दुर्बलता, अन्तर्द्रोह, तथा बाहरी आक्रमणों के कारण गुप्तों की शक्ति क्षीण होने लगी। औलीकर कुल के यशोधर्मन्, जो गुप्तों का सामन्त नृपति था, ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर युद्धों के द्वारा गुप्त साम्राज्य के शासित प्रदेशों को स्वायत्त करना आरम्भ कर दिया। गुप्त साम्राज्य को विनष्ट करने में वह तात्कालिक उत्तेजक कारण बन गया। गुप्तराजवंश का अंत ५५१ ई० में हुआ प्रतीत होता है (हेमचन्द्र रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, षष्ठ संस्करण, ४८१-४९८)।

गुप्त सम्राटों का वंश-वृक्ष

श्रीगुप्त (२७५-३०० ई०)
|
घटोत्कच गुप्त (३००-३१९ ई०)
|
प्रथम चन्द्रगुप्त-कुमारदेवी (३१९-३३५ ई०)
|
लिच्छवी दौहित्र समुद्रगुप्त (३३५-३७५ ई०)

- रामगुप्त
- द्वितीय चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य) (३७५-४१३ ई०)
  - प्रभावती गुप्ता (पुत्री) (इसका विवाह रुद्रसेन द्वितीय, वकाटक-भूप के साथ हुआ)।
  - कुमार गुप्त प्रथम (४१३-४५५ ई०)
    - स्कन्दगुप्त (४५५-४६७)
    - पुरु गुप्त | नरसिंह गुप्त | द्वितीय कुमार गुप्त } ४६७-४७५ ई०
    - बुद्ध गुप्त (४७५-४९५ ई०) | भानुगुप्त (४९५-५१० ई०) | वज्र गुप्त | तथागत | विष्णुगुप्त चन्द्रादित्य | वैन्यगुप्त | द्वादशादित्य

मालवा-भूप-यशोधर्मन्

भारत के राजनीतिक आकाश में छठी शताब्दी के द्वितीय चरण के आरम्भ में मालवा के प्राचीन औलीकर कुल के गुप्तों के सामन्त भूप यशोधर्मन् को उल्का की भाँति चमकते पाते हैं, जिसने अपने प्रताप-पुंज के आलोक से भारत की तात्कालिक राज-शक्ति, क्या देशी, क्या विदेशी, सबों की आँखों के सामने चकाचौंध उत्पन्न कर दी थी । मालवा के मन्दसौर के युगल स्तम्भ-लेखों से स्पष्ट होता है कि उसने हूण-भूप तोरमान-पुत्र मिहिरकुल का रण-पराभव कर उससे अपने चरण पुजवाये थे, यथाः– ''चूडापुष्पोपहारै-र्मिहिरकुलनृपेणार्चितं पादयुगमम् ।'' (कोर्पस इन्सक्रिप्सनम् इंडिकेरम्, वॉल्यूम ३, नं० ३३, पृ० १४६, १४८) । राजकीय प्रशस्ति के अनुसार उसके विशाल साम्राज्य की उत्तरी सीमा पर हिमालय पर्वत तथा दक्षिणी सीमा पर उड़ीसा के गंजाम जिले का महेन्द्र गिरि था । (कौर्पस इन्सक्रिप्सनम् इण्डिकेरम्, वॉल्यूम ३, नं० ३०, ३३ तथा ३५, ५-१४२-५८) । उसके राज्य के पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी बहती थी और पश्चिम में सागर लहरा रहा था । उसमें यह भी उल्लेख है कि जहाँ गुप्तों अथवा हूणों का आधिपत्य नहीं हो पाया, वैसे प्रदेशों का भी स्वामी वह अपने शौर्य से बन गया (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० २५५) ।

उपर्युक्त वर्णन में अत्युक्ति का भी समावेश अवश्य है, पर इसमें सन्देह नहीं कि यशोधर्मन् ने गुप्त-साम्राज्य के एक बहुत बड़े अंश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था, और उसने हूण-राज मिहिरकुल को भी पराजित किया था । ये घटनायें सम्भवतः ५३० ई० के पूर्व की हैं; क्योंकि उस काल के एक प्राप्त लेख में यशोधर्मन् को बड़ा सार्वभौम भूपति बताया गया है (आर० सी० मजूमदार, ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० २५५) ।

यशोधर्मन् के प्रशस्तिकार कवि ने उसके साम्राज्य के विस्तार का जैसा वर्णन किया है, उससे यह अर्थ निकलता है कि गुप्त-साम्राज्य का उस नृपाल के काल में लोप ही हो चुका था । पर बात ऐसी नहीं दीखती है । इतिहास बताता है कि नरसिंह गुप्त, कुमार गुप्त द्वितीय, बुद्ध गुप्त और भानुगुप्त बालादित्य के पश्चात् भी कई पीढ़ी तक गुप्तों ने भारतवर्ष में अपना राज्य किया । मिहिरकुल को भानुगुप्त बालादित्य ने भी पराजित कर उसे बन्दी बनाया था, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है । इस घटना का अनुमोदन चीनी यात्री ह्वेनसांग के यात्रा-वृत्तान्त-वर्णन तथा काश्मीरी कवि कल्हण की 'राज-तरंगिणी' से भी होता है । हाँ, यशोधर्मन् ने भारत से निष्कासित मिहिरकुल को मुलतान के आस-पास में कहीं पराभूत किया था । इस पराजय के पश्चात् हूणों के पैर उखड़ गये और उनकी शक्ति क्रमशः विनष्ट हो गयी ।

स्थिति के अध्ययन से पता चलता है कि यशोधर्मन् की विजय चिरस्थायी नहीं रह सकी । मन्दसोर प्रस्तर-स्तम्भ-उत्कीर्ण-अभिलिख-काल के लगभग १० वर्षों के पश्चात् का उत्तर बंगाल में प्राप्त ५४३ ई० का एक भू-दान-प्रमाण-पत्र प्रमाणित करता है कि उस काल में वहाँ ''गुप्त परम-भट्टारक महाराजाधिराज पृथ्वीपति'' का प्रतिनिधि शासक (उसका पुत्र ?) शासन करता था और उसी ने प्रमाण-पत्र के साथ वह दान दिया था (डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० १९२) । इस दानपत्र में अन्तिम दो अक्षर 'गुप्त' के अतिरिक्त सम्पूर्ण नाम के अक्षर मिटे हैं । 'गुप्त' विरुद से अनुमान किया जाता है कि वह

गुप्त-काल का भूप था'। सम्भवतः वह कुमार गुप्त द्वितीय का पुत्र और नरसिंह गुप्त का पौत्र विष्णु गुप्त था (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० २५७)। इससे ज्ञात होता है कि यशोधर्मन् की विजय से कुछ ही काल पश्चात् पूर्व भारत के गुप्तों के साम्राज्य पर पुनः गुप्तों का आधिपत्य स्थापित हो गया; क्योंकि मन्दसोर-प्रशस्ति के अनुसार ब्रह्मपुत्र नदी के तट तक के प्रदेशों पर यशोधर्मन् का आधिपत्य हो चुका था।

उपर्युक्त वर्णन से इस सिद्धान्त पर पहुँचना पड़ता है कि कुछ काल के लिए यशोधर्मन् का भी आधिपत्य मिथिला पर स्थापित हुआ होगा, पर वह स्थिर नहीं रह सका। उसने बंगाल की खाड़ी से लेकर अरब सागर तक के विशाल-गुप्त-साम्राज्य में अपनी तलवार की शक्ति से हड़कंप उत्पन्न कर उसे छिन्न-भिन्न कर दिया, तथा स्वयं विस्मृति के गर्त में पड़ कर विलीन हो गया। एक उल्का की ज्योति के समान वह राजनीति के क्षेत्र में आलोकित हुआ और शीघ्र अन्तर्ध्यान हो गया। किन्तु इसमें शंका का स्थान नहीं है कि उसका आधिपत्य एक समय उत्तर भारत के मगध, मिथिला तथा हिमालय पर्वत तक के सभी प्रदेशों पर स्थापित हो चुका था (वी० पी० सिंह : दि डिकलाइन ऑफ दि किंगडम ऑफ मगध, ११७-२०)।

परवर्त्ती गुप्त राजवंश

बिहार राज्य के गया जिले के अफसाद तथा शाहाबाद जिले के देव वर्णिक नामक स्थानों से क्रमशः आदित्य सेन और जीवित गुप्त के दो अभिलेख प्राप्त हुए हैं, (कॉपर्स इन्सक्रिप्सनम् इण्डिकेरम-नं० ४६, पृ० २१३-१८; फ्लीट : गुप्त अभिलेख, सं० ४२ तथा ४६)। इनकी ऐतिहासिकता के विषय में सर्वसम्मत मत यही माना गया है कि ये लोग सम्भवतः गुप्त-सम्राटों की मूल शाखा के पतन के पश्चात् उद्भूत हुए थे। विशाल गुप्त-साम्राज्य के पतनोपरान्त उसी कुल के शासन का मगध की अत्यन्त संकुचित सीमाओं के भीतर चलते रहना असम्भव नहीं प्रतीत होता है।

इस परवर्त्ती गुप्त-काल का प्रतिष्ठाता कृष्ण गुप्त था। उसके उत्तराधिकारी क्रमशः हर्ष गुप्त और जीवित गुप्त हुए। ऐसा लगता है कि गुप्त सम्राटों के शासन के अन्तिम चरण में उनके विद्यमान रहते ही इस नवीन गुप्त-कुल की प्रतिष्ठा मगध में हो चुकी थी। उत्तर भारत में भी मौखरी राजकुल भी अपने राज्य के विस्तार एवं प्रभुसत्ता के प्रसार में तल्लीन था। अतः मगध के इस गुप्त राजकुल एवं कन्नौज के मौखरी राजवंश में प्रतिस्पर्द्धा तथा शत्रुता का होना अस्वाभाविक नहीं था। दोनों में अन्त तक मरणात्मक संघर्ष चालू रहा। इस संघर्ष के फलस्वरूप मैत्री-सूत्र में बँधे बंगाल के गौड़ाधिप और मगध त्याग कर मालवा की शरण लेने वाले मालव-गुप्त-कुल ने मिल कर अन्त में मौखरी राजवंश का अन्त ही कर दिया, और अन्ततोगत्वा उस मालव गुप्त-कुल का भी उन्मूलन मौखरियों के सम्बन्धी थानेश्वर के पुष्यभूति-वंश द्वारा हुआ। इस सत्यानाशी संघर्ष के परिणामस्वरूप मिथिला पर आधिपत्य कभी परवर्त्ती गुप्त-राजकुल का रहा, कभी मौखरियों का और कभी गौड़ के राजा शशांक का और फिर थानेश्वर के पुष्यभूति वंश के हर्षवर्द्धन का। उस काल उत्तर भारत के पूर्वी भाग की राजनीतिक स्थिति डँवाडोल थी। वहाँ के मगध-मिथिलादि प्रदेश पड़ोस के राजाओं के बल-संतोलन का अखाड़ा बन गये थे। आज से कुछ दिन-पूर्व मुजफ्फरपुर जिले के कटरा ग्राम के प्राचीन गढ़ के खण्डहर में संलग्न

चामुण्डा-स्थान के निकट किसी ग्रामीण जनता को एक भग्न प्रस्तर-खण्ड तथा ताम्र-पत्र मिला था, जिस पर जीवित गुप्त का नाम उत्कीर्ण था। इससे परवर्त्ती गुप्तों का मिथिला पर शासन निर्विवाद सिद्ध होता है। उपर्युक्त शिला-खण्ड उत्कीर्ण अभिलेख के रहस्योद्घाटन के हेतु बिहार सरकार के एक वरिष्ठ पुरातत्त्वविद् विद्वान् अधिकारी के पास प्रेषित किया गया था।

अफसाद-अभिलेख से ज्ञात होता है कि ईशान वर्मन् मौखरी को कुमार गुप्त तृतीय ने पराजित किया था। हरहा के अभिलेख में ईशान वर्मन् की तिथि ६११ मालव सम्वत् उल्लिखित है। यह तिथि ईसाब्द ५५४ ई० का समकक्ष है। अतः कुमार गुप्त तृतीय का शासनकाल लगभग ५५४ ई० में पड़ता है। कृष्ण गुप्त ने संभवतः ५१० ई० के पश्चात् गुप्त-सम्राट् भानुगुप्त की मृत्यु के पीछे किसी समय ५३० ई० के आस-पास में नवीन गुप्त-वंश की स्थापना की थी। कृष्ण-गुप्त के उत्तराधिकारी हर्ष गुप्त और जीवित गुप्त प्रथम के समय में बंगाल के गौड़ों से इनका युद्ध चलता रहा। मौखरियों की सहायता से गुप्तों ने गौड़ों को पराजित किया था। इस प्रकार मौखरियों और गौड़ राजवंश के बीच शत्रुता का सूत्रपात हुआ, जिसका प्रभाव मिथिला की राजनीति पर पड़े बिना न रहा।

जीवित गुप्त का प्रशस्ति-मूलक उत्कीर्ण-अभिलेख बंगाल में प्राप्त हुआ है (कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम इण्डिकेरम, वॉल्यूम-३, पृ० २००)। उसके पूर्ववर्त्ती नृपतिगण श्री कृष्ण गुप्त एवं श्री हर्ष गुप्त का शौर्य जीवित गुप्त की तुलना में बराबर न था (वी० पी० सिंह : दि डिकलाइन ऑफ दि किंगडम ऑफ मगध, पृ० १५९; हेमचन्द्र रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, षष्ठ संस्करण, पृ० ६०१)। उपर्युक्त प्रशस्ति में जीवित गुप्त को "क्षितीश-चूड़ामणि" के विरुद से विभूषित किया गया है। सम्भवतः अनवरत युद्धों के द्वारा उसने गुप्त-वंश की प्रतिष्ठा को हिमालय पर्वत से लेकर पूर्वी सागर (बंगाल की खाड़ी) तक पुनः स्थापित कर लेने में सफलता प्राप्त कर ली थी। जीवित गुप्त का पुत्र कुमार गुप्त तृतीय भी पराक्रमी भूप था। उसको इतिहास सार्वभौम स्वतन्त्र नृपति के रूप में बताता है।

मौखरियों की सहायता से गुप्तों ने गौड़ पर विजय तो प्राप्त कर ली, पन उन दोनों की यह मित्रता चिरस्थायी न रह सकी। कुमार गुप्त तृतीय ने ईशान वर्मन् मौखरी को पराजित कर उसके राज्य का कुछ अंश अपने राज्य में मिला लिया। कुमार गुप्त तृतीय के पश्चात् दामोदर गुप्त मगध के राज्य-सिंहासन पर बैठा। मौखरियों के साथ समर में उसका पराभव हुआ और वह समरांगण में सीमरशायी हुआ, (कौपर्स इन्सक्रिप्सनम इण्डिकेरम-३, पृ० २०३ से आगे)। अब मौखरियों ने मगध-साम्राज्य के बहुत बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। मागध गुप्तों ने मगध का त्याग कर मालवा की शरण ली। दामोदर गुप्त के पुत्र महासेन गुप्त ने 'हर्ष चरित' के वर्णनानुसार मालवा जाकर वहाँ एक नये गुप्त-राजकुल की नींव दी। इस प्रकार गुप्तों की मिथिला पर मौखरियों का आधिपत्य हुआ इतिहास बताता है।

'महाकूट-स्तम्भ-अभिलेख' से पता चलता है कि षष्ठ शताब्दी में चालुक्यों ने अंग, बंग एवं मगध आदि प्रदेशों की विजय की थी (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० १९४)। यह आक्रमण कुमार गुप्त तृतीय अथवा दामोदर गुप्त के काल में

हुआ होगा । उपर्युक्त प्रशस्ति में मिथिला का नाम नहीं है । अतः चालुक्यों का सम्भवतः उस काल मिथिला पर अधिकार नहीं हो सका था, ऐसा लगता है ।

बिहार के एक उत्कीर्ण अभिलेख में ईशान वर्मन् के पुत्र परमेश्वर वर्मन् के नाम का उल्लेख है । उसमें जीवित गुप्त द्वितीय के द्वारा एक पूर्ववर्ती ग्रामदान के नवीनीकरण की चर्चा की गयी है । यह अभिलेख सातवीं शताब्दी के तृतीय चरण के अन्त के लगभग का है । उसमें सरवर्मन् को नगर भुक्ति (पटना जिला) तथा बारुणीक ग्राम (शाहाबाद जिला, वर्तमान देव वरणक) का पूर्ववर्ती शासक बताया गया है । गया जिले के बराबर पहाड़ (गोराठ गिरि, प्राचीन परवर गिरि) के एक तथा नागार्जुन पर्वत के दो गुफा-उत्कीर्ण अभिलेखों से पता चलता है कि बिहार से परवर्ती गुप्तों का सम्बन्ध उस काल में नहीं रह गया था । वहाँ मौखरियों का अधिकार था ।

मौखरी राजकुल

ईशान वर्मन् के हरहा-उत्कीर्ण-अभिलेख (एपि० इण्डिका, १४, पृ० ११५, यथा- "सुतशतं लेभे नृपोऽश्वपतिर्वैवश्वताद्यद्गुणोदितम् । तत्प्रसूता दुरितवृत्तरुधो मुखराः क्षितीशाः क्षतारयः ।।"३।।) के वर्णनानुसार पौराणिक सावित्री के पति सत्यवान् के पिता राजा अश्वपति ने वैवस्वत यम से जो एक सौ पुत्र पाये थे, उन्हीं से मौखरी क्षत्रियों की उत्पत्ति हुई । राजस्थान एवं बिहार में प्राप्त उत्कीर्ण अभिलेखों से उनकी कई शाखाओं का पता चलता है । गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् उनकी एक शाखा का उदय शक्तिमान् राजवंश के रूप में कान्यकुब्ज में हुआ । इस राजकुल का वैवाहिक एवं मैत्री सम्बन्ध प्रारम्भ में गुप्तवंश के साथ था और दोनों ने अपनी संयुक्त शक्ति से बंगाल के गौड़-भूप का पराभव किया था, इसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है । मौखरी-राज ईशान वर्मन ने इस वंश की शक्ति एवं प्रतिष्ठा की वृद्धि की थी । उसने आन्ध्रों को पराभूत किया, शूलिकों को जीता तथा गौड़ों को उनकी सीमा के अन्दर घेर रखा (एपि इण्डिका, १४, पृ० १७७-१२०), यथा-

> "जित्वा आन्ध्रपतिं सहस्रगणितत्रेधाक्षरद्वारणं
> व्यावल्गन्नियुतातिसंख्यतुरगान्भंक्त्वा रणे शूलिकान् ।
> कृत्वा चायति मोचितस्थलभुवो गौडान्समुद्राश्रया-
> नध्यासिष्ट नतिक्षितीशचरणः सिंहासनं योजिती ।।"१३।।

मौखरियों की बढ़ती हुई शक्ति से मगध के परवर्ती गुप्त सशंकित हो गये । अतः ईशान वर्मन् एवं सर्ववर्मन् मौखरी के शासनकाल में उनका गुप्तों के साथ संघर्ष चालू रहा । पश्चात् मौखरियों ने स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर) के पुष्यभूति राजकुल से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपनी राजनीतिक शक्ति की वृद्धि की । उनका संघर्ष गुप्तों के साथ आरम्भ हुआ, जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है । ईशान वर्मन् के पुत्र सर्ववर्मन् ने पुष्य-भूतियों की सहायता से पश्चिमोत्तर सीमा पर हूणों को पराजित किया । फिर मगध में दामोदर गुप्त को रणक्षेत्र में वीर गति प्राप्त करा कर उसने अपने पिता के हार रूपी ऋण का परिशोधन किया । पूर्ववर्मन् के पश्चात् अवन्ति वर्मन् राजा हुआ । उसके विषय में

इतिहास कुछ बताने में असमर्थ है। अवन्ति वर्मन् के पुत्र ग्रहवर्मन् का विवाह पुष्यभूति वंश के नृपाल प्रभाकर वर्धन की पुत्री एवं राज्यवर्द्धन तथा हर्षवर्द्धन की बहन राज्यश्री के साथ हुआ। गौड़ के राजा शशांक और मालवा के गुप्त वंशीय राजा देव गुप्त (दामोदर गुप्त को पौत्र तथा महासेन गुप्त का पुत्र) ने मिलकर कन्नौज के तत्कालीन राजा ग्रह वर्मन् पर आक्रमण कर उसे युद्धक्षेत्र में मार डाला, तथा मौखरी कुल की महारानी राज्यश्री को बन्दी बनाकर कारागृह में डाल दिया।

गुप्त-मौखरी-संघर्ष के कारण दामोदर गुप्त के समय में गुप्तों के राज्य पर मौखरियों का अधिकार हुआ, इसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। उसके पूर्व कुमार गुप्त तृतीय ने मौखरी-भूप ईशान वर्मन् को पराजित कर उसके राज्य के कुछ अंश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। पीछे देव गुप्त और शशांक ने मिलकर मौखरी राज्य को नष्ट-भ्रष्ट किया। इस प्रकार उस काल में पूर्वोत्तर भारत के राजनीतिक मंच पर बराबर अत्यल्प काल के अन्तर पर पट-परिवर्तन होता दीख पड़ता है। इस राजनीतिक उथल-पुथल के काल में पराधीन मिथिला के प्रभुओं का थोड़े-थोड़े समय पर बदलना राज-परिवर्तन के साथ स्वाभाविक हो गया। उसके प्रभु कभी परवर्त्ती गुप्त हुए, कभी मौखरी और कभी गौड़ाधिपति शशांक। उसके बाद उत्तर भारत की राजनीति में पुष्यभूति वंश के वर्द्धन कुल का स्थान सर्वोच्च हुआ भारतीय इतिहास बताता है, जिसने कुछ काल के लिए देश की विकेन्द्रीकरण-शक्तियों को अवरुद्ध कर उत्तर भारत में एक शक्ति-सम्पन्न विशाल साम्राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की।

पुष्यभूति अथवा वर्द्धन राजकुल

हूणों के आक्रमणों से जब छठीं शताब्दी के आरम्भ में गुप्त-साम्राज्य का पश्चिमी भाग छिन्न-भिन्न हो रहा था, उसी काल के लगभग पूर्वी पंजाब में पुष्यभूति-वंश का उदय हुआ। बाणभट्ट के 'हर्ष-चरित' के अनुसार इस राजवंश का संस्थापक पुष्यभूति नामक राजा था। वह शिव का अनन्य भक्त था। उसने श्रीकंठ (पूर्वी पंजाब) में अपना राज्य स्थापित किया। सम्भवतः पुष्यभूति आरम्भ में गुप्त-भूपतियों का सामन्त नृप था, जिसने अपनी राजनीतिक शक्ति की स्थापना हूणों के आक्रमणों से निर्बल बने गुप्त-साम्राज्य में विकेन्द्रीकरण-शक्तियों के उदय के काल में की थी। 'मंजुश्री मूलकल्प' नामक बौद्ध ग्रन्थ के उल्लेखानुसार पुष्यभूति राज-कुल मूलतः वैश्य वर्ण का था (यथा– 'आदित्यनामा वैश्यास्तु स्थाण्वीश्ववासिनः'– डॉ० राजबली पांडेय : प्राचीन भारत, पृ० २६७)। हुएन्-त्सं ने भी अपने यात्रा-वृत्तान्त में कान्य-कुब्ज के भूपाल को फी-शे (वैश्य) अंकित किया है। परन्तु पीछे चलकर इस राजकुल ने क्षत्रिय-पद प्राप्त कर लिया। गुप्तों के विषय में भी इसी प्रकार की कथा कही जाती है। पर दोनों ही राजवंशों का सम्बन्ध क्षत्रिय राज-कुलों के साथ होता था।

हर्ष वर्द्धन के मधुवन एवं बाँसखेरा ताम्र-पत्र अभिलेखों (एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द-१ तथा ४) से ज्ञात होता है कि उसके सिंहासन पर आसीन होने के पूर्व उसके कुल के पाँच नृपतियों ने शासन किया था। उन राजाओं के नाम क्रमानुसार नर वर्द्धन, राज्य वर्द्धन (प्रथम), आदित्य वर्द्धन, प्रभाकर वर्द्धन एवं राज्य वर्द्धन द्वितीय थे।

पुष्यभूति के कुछ काल पश्चात् नरवर्द्धन का आविर्भाव उस काल में हुआ। यह सूर्य का अर्चक था। उसने गुप्त साम्राज्य के शक्ति-ह्रास से लाभ उठा कर अपनी शक्ति बढ़ा ली। उसके पौत्र आदित्य वर्द्धन ने गुप्त राजकुमारी महासेन गुप्ता का पाणिग्रहण कर अपनी राजनीतिक शक्ति में वृद्धि की तथा विदेशनीति को सुदृढ़ किया। उसका पुत्र प्रभाकर वर्द्धन युद्ध-कलाविद, योग्य एवं कुशल सेनानी तथा महत्त्वाकांक्षी विजेता था। उसने युद्धों के द्वारा अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार किया तथा 'महाराजाधिराज' का विरुद धारण किया। दिग्विजय के पश्चात् उसने 'महाराजाधिराज परमभट्टारक' तथा 'प्रताप शील' की उपाधियाँ भी धारण कर लीं। उसने अपनी राजकुमारी राज्यश्री का विवाह कान्यकुब्ज के मौखरी-भूप ग्रह वर्मन् के साथ अन्तर्राज्यों में अपना प्रभाव बढ़ाने के विचार से किया। उसका पुत्र राज्यवर्द्धन भी वीर एवं विजेता था, पर स्वभाव से वह सीधा व कोमल था तथा सिद्धान्ततः दृढ़ एवं सत्यप्रतिज्ञ भी। पिता के जीवन-काल में ही उसने अपने सीमान्त राज्य पर आक्रमण करनेवाले हूणों को परास्त कर उन्हें देश के बाहर खदेड़ दिया था। उसका वह कृत्य उसकी वीरता का परिचायक है।

प्रभाकर वर्द्धन की पुत्री का विवाह ग्रह वर्मन् मौखरी के साथ होने के कारण कन्नौज एवं थानेश्वर राज्य मित्रता के सूत्र में बँध गये थे। इससे दोनों की राजनीतिक शक्ति में वृद्धि होना स्वाभाविक था। मगध से विस्थापित गुप्त-वंशीय मालवा-नरेश देव गुप्त एवं बंगाल के गौड़ का शौर्यवान् राजा शशांक दोनों ही उस राजनीतिक वैवाहिक सम्बन्ध एवं मैत्री से सशंक हो उठे। उन दोनों ने भी अपने चिरशत्रु की बढ़ती को रोकने तथा उनसे बदला लेने के हेतु आपस में मैत्री सन्धि की (वी० पी० सिंह : दि डिकलाइन ऑफ दि किंगडम ऑफ मगध, पृ० २४५)। इन मैत्रियों का परिणाम दोनों दलों के लिए दुःखान्तक हुआ। अपने नये मित्र शशांक की सहायता से देव गुप्त ने कन्नौज पर आक्रमण कर मौखरी-भूप ग्रहवर्मन् का वध कर डाला और उसकी स्त्री पुष्यभूति कुलोद्भवा राज्यश्री को कारागार में बन्द कर दिया।

पुष्यभूति-नृप राज्यवर्द्धन (प्रभाकर वर्द्धन का पुत्र एवं हर्षवर्द्धन का ज्येष्ठ भ्राता) ने अपने बहनोई की मृत्यु एवं भगिनी की दुःखद दशा से विचलित होकर देव गुप्त के विरुद्ध युद्ध-यात्रा की, तथा उसे परास्त कर सम्भवतः रण में ही उसको निहत भी किया। पश्चात् शशांक को सुन्दर सबक सिखाने के विचार से वह ससैन्य उसकी ओर बढ़ा। परन्तु शशांक ने कूटनीति का अवलम्बन कर अपनी पुत्री का उसके साथ विवाह करने के बहाने उसे आमन्त्रित किया, और उस निरस्त्र एवं एकाकी राज्यवर्द्धन को अपने स्कन्धावार में विश्वासघात कर हत्या कर दी (हर्ष चरित, कलकत्ता संस्करण, पृ० ४३६)। अब कुछ काल के लिए उत्तर भारत के बहुत बड़े अंश पर शशांक की प्रभुसत्ता स्थापित हो गयी, जिसमें अन्यान्य प्रदेशों के अतिरिक्त सम्पूर्ण बिहार एवं उड़ीसा भी सम्मिलित था (वी० पी० सिंह : दि डिकलाइन ऑफ दि किंगडम ऑफ मगध, २३५, २४४; जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी, १९४९, ११९-२०, १३३ तथा १४३)। इससे अनुमान किया जाता है कि उसने कुछ काल तक मिथिला की राजनीति का भी नियन्त्रण अवश्य किया होगा।

हर्षवर्द्धन को अपने बहनोई एवं अग्रज की मृत्यु के पश्चात् पहले अपने पैतृक राज्य थानेश्वर का तथा पीछे बहनोई के कन्नौज राज्य का भी संचालन-भार वहाँ की मंत्रिपरिषद

के नेता पौनी की सम्मति से स्वीकार करना पड़ा। उसने ६०६ ई० से ६४६ अथवा ६४७ ई० आरम्भ तक शासन किया। राज्यारोहण के पश्चात् हर्षवर्द्धन को भारत का राजनीतिक एकीकरण करना राजनीतिक दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुआ। इसके हेतु उसे दिग्विजय-अभियान के हेतु दृढ़प्रतिज्ञ हो अग्रसर होने की आवश्यकता हुई। उसे अपने भातृ-हन्ता शशांक से भी बदला लेना था। उसने अपने शासन के प्रथम छः वर्षों तक अविराम युद्ध कर उत्तर भारत में अपने साम्राज्य का विस्तार किया। गौड़ाधिपति शशांक का भी पराभव कर उसके उत्तर भारत पर प्रभुसत्ता स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा को उसने चकनाचूर कर दिया। ह्वेनसांग (चीनी यात्री, जो उसके शासनकाल में भारत पधारा था) के लेखानुसार उसने पूर्व की ओर बढ़कर उन राज्यों पर आक्रमण किया, जिन्होंने उसका आधिपत्य स्वीकार नहीं किया था। उसने पंच गौड़ों (पाँच इण्डिया) को अपने अधीन कर लिया। ये पाँच गौड़ उत्तर भारत के पाँच भौगोलिक मंडल थे, यथा– (१) सारस्वत मंडल (कश्मीर-पंजाब), (२) गौड़ (दिल्ली के आस-पास के प्रदेश), (३) कान्यकुब्ज (पूरा उत्तर प्रदेश, दक्षिण में विन्ध्य प्रदेश तक तथा बिहार का अधिकांश), (४) मैथिल (पूर्वोत्तर बिहार, बंगाल तथा आसाम), और (५) उत्कल (बिहार का दक्षिणी छोर, उड़ीसा-कलिंग) (डॉ० राजवली पांडेय : प्राचीन भारत, पृ० २७१)। उपर्युक्त मंडलों की विजय में छः वर्षों से अधिक समय लगा था अवश्य, पर इसमें सन्देह नहीं कि हर्ष ने उत्तर भारत के अधिकांश का अधिपति बनकर 'सकलउत्तरापथनाथ' की उचित उपाधि प्राप्त की थी (दक्षिण के एक प्रशस्ति अभिलेख में पुलकेशिन् द्वितीय को ''समर-संसक्त-सकलोत्तरापथेश्वर श्रीहर्षवर्द्धन पराजयोपलब्ध-परमेश्वरापरनामधेयः'' कहा गया है; क्योंकि उसके विरुद्ध युद्ध में हर्षवर्द्धन को सफलता नहीं मिली थी)। हर्षचरित में हर्ष द्वारा सिन्धु एवं हिमालय-विजय का भी वर्णन पाया जाता है (यथा–''अत्र पुरुषोत्तमेन सिन्धुराज्यं प्रमथ्य लक्ष्मी आत्मीकृता''– हर्ष चरित, कलकत्ता संस्करण, पृ० २१०-११, तथा–''अत्र परमेश्वरेण तुषार-शैलभुवो दुर्गायाः गृहीतः करः'')। इस प्रकार उत्तरापथ के सतत युद्धरत अनेकानेक छोटे-छोटे नृपालों को, जो वहाँ के राजनीतिक संतुलन में सदा अपनी युद्धप्रियता के कारण विघ्न-बाधा उपस्थित करते रहते थे, वश में करके उसने उत्तर भारत में एक राष्ट्र की स्थापना की (त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, ७७; वी० पी० सिंह : दि डिकलाइन ऑफ दि किंगडम ऑफ मगध, २७५)। किन्तु दक्षिणापथ की विजय करने में वह अक्षम रहा। पुलकेशि के साथ समर में उसका पराभव हुआ। दक्षिण के चालुक्य वंशीय भूप पुलकेशि द्वितीय के ऐहोल-अभिलेख में उस युद्ध का वर्णन निम्नांकित रूप में किया है:– ''अपरिमित-विभूतिस्फीतसामन्त-सेना-मुकुट-मणिमयूखाक्रान्तपादारविन्दः। युधि पतित-गजेन्द्रानीकबीभत्सभूतो भयविगलितहर्षः येन चाकारि हर्षः।'' अतः सम्पूर्ण भारत को एक राष्ट्र के रूप में देखने का उसका स्वप्न साकार नहीं हो सका। पर उसके हेतु प्रयत्न करने से वह कभी चुका नहीं (जनरल ऑफ दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, १९२३, पृ० ३१९; इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, ६, ४)। उसने भारत की सभी दिशाओं के राजाओं को दण्डित किया, तथा ६४१ ई० में मगध के महाराज की उपाधि धारण की (इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, ९, १९; हेमचन्द्र रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, षष्ठ संस्करण, ६१०; जरनल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, ३२, १२९-३०; डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० १९७)।

बाणभट्ट के 'हर्षचरित' से पता चलता है कि हर्षवर्द्धन ने अपने साम्राज्य को मंडलों में विभक्त कर उनके शासन के हेतु अपना प्रतिनिधि शासक प्रत्येक प्रदेश के लिए पृथक्-पृथक् नियुक्त किया था (हर्ष चरित, कलकत्ता संस्करण, २११) । ऐसे प्रतिनिधि शासकों को सामन्त एवं महा सामन्त कहा जाता था । गुप्त कुल का माधव गुप्त, जो हर्ष वर्द्धन का मित्र था और उसके दरबार में शरणार्थी के रूप में उपस्थित हुआ था, संभवत: मगध के सम्राट् की ओर से प्रतिनिधि शासक नियुक्त किया गया था । गुप्त साम्राज्य में जिस प्रकार भुक्तियों एवं विषयों का विभाजन था, उसी प्रकार हर्ष के साम्राज्य का भी विभाजन भुक्तियों तथा विषयों में हुआ पाया जाता है । तीरभुक्ति अथवा तीरहुति या तिरहुत (मिथिला) एवं उसके आसन्न स्थित वैशाली का स्थान हर्ष के काल में भी अवश्य ही प्रधान भुक्तियों में रहा होगा । चीनी यात्री वांग हुएन्-से ने छठी शताब्दी में 'टीह-लो' प्रदेश का नामांकन किया है । 'टीह-लो' से उसका मतलब सम्भवत: तीरभुक्ति अथवा तिरहुत से था (जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी, १९५२, पृ० ३५६; इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, १९११, पृ० ११; वील सी-यु-की, भूमिका, १५) ।

हर्षवर्द्धन के काल में राजसत्ता कन्नौज में केन्द्रीभूत हुई । अत: धार्मिक महत्ता भी स्थानान्तरित होकर वैशाली से कान्यकुब्ज पहुँच गयी । सम्राट् ने वहाँ एक बौद्ध-महासभा का आयोजन किया । हुएन्-त्सांग ने ६३५ ई० में तीरभुक्ति की यात्रा की थी । उस काल वहाँ बौद्ध धर्म ह्रासोन्मुख था और बौद्धों की संख्या नगण्य थी । वैशाली, पुण्ड्रवर्द्धन आदि स्थानों में जैन सम्प्रदाय वालों की संख्या पर्याप्त थी । दिगम्बर जैन साधुओं की भी वहाँ कमी न थी। ब्राह्मण-वैदिक धर्म उन्नत अवस्था में था। मिथिला, काशी, प्रयाग आदि वैदिक धर्म का सुदृढ़ किला उन दिनों समझा जाता था । बाणभट्ट ने भी उन स्थानों के निवासियों को कपिल, कणाद आदि ऋषियों द्वारा प्रदर्शित उपनिषद् मार्ग का अनुयायी बताया था । हुएन्-त्सांग ने भी बाणभट्ट के कथन का अनुमोदन मिथिला को 'पो-लो-मेन-कुओं' अर्थात् ब्राह्मणों का देश बताकर किया है (रीस डेविड : हुएन्-त्सांग का भ्रमण, २, ६३-८०) ।

बंगाल का भूप शशांक

जिस काल में थानेश्वर का नृपाल प्रभाकर वर्द्धन अपने राज्य की सीमाओं का त्वरित गति से पश्चिम एवं दक्षिण में विस्तार कर रहा था, उसी समय बंगाल एवं आसाम में दो शक्तिशाली राज्यों की नींव पड़ी । गुप्त-साम्राज्य के विघटन के पूर्व तक भारत की राजनीति में बंगाल की किसी प्रकार की प्रधानता का साक्ष्य इतिहास नहीं देता है । लगभग ५२५ ई० में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना बंग (पूर्वी एवं दक्षिणी बंगाल) में हुई थी । पर उत्तर बंगाल तब भी गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत था । गुप्त साम्राज्य के पतन के उपरान्त गौड़ (पश्चिम एवं सम्भवत: उत्तर बंगाल) ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी, किन्तु मौखरियों ने उसे (गौड़ राज्य को) पराजित कर दिया । उसके लगभग आधी शताब्दी पश्चात् गौड़ के सिंहासन पर शशांक विराजमान हुआ (आर० सी० मजूमदार-ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० २६२) । उसने मुर्शिदाबाद के निकट कर्ण सुवर्ण में अपनी राजधानी बनायी। यह कर्ण सुवर्ण मुर्शिदाबाद से १२ मील दक्षिण था, जिसका स्थानापन्न वर्तमान रंगमती

नामक ग्राम है (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ५४९) । युद्धों के द्वारा शीघ्र उसने सम्पूर्ण बंगाल पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया । उसके पूर्व के तथा पीछे के उसके कुल के राजाओं का परिचय इतिहास नहीं बता रहा है । शशांक के शासन-काल में बंगाल के गौड़ राज्य का प्रताप चमक उठा । साम्राज्य-विस्तार का अभियान आरम्भ कर गौड़-भूप ने उड़ीसा की विजय कर उसे अपने राज्य में मिला लिया । गंजाम जिले के कौंगोडा को भी उसने स्वायत्त किया । पश्चात् पश्चिम की ओर मुड़कर उसने बंगाल के चिरशत्रु मौखरियों के कन्नौज राज्य पर आक्रमण करने की योजना प्रस्तुत की । यह पूर्व में लिखा जा चुका है कि मौखरी-भूप ग्रहवर्मन् का विवाह थानेश्वर के पराक्रमी राजा प्रभाकर वर्द्धन की पुत्री के साथ सम्पन्न होने के कारण मौखरियों की राजनीतिक शक्ति पूर्वापेक्षा अत्यधिक बढ़ चुकी थी । शशांक ने भी मौखरियों के शत्रु मालवा के गुप्त-नृपति देवगुप्त से मैत्री कर अपनी शक्ति बढ़ा ली । देवगुप्त भी शौर्य-सम्पन्न शशांक का सहाय्य प्राप्त कर अति प्रसन्न हुआ । अतः राज्यवर्द्धन एवं ग्रहवर्मन् के शासनकाल में उत्तर भारत में दो सशक्त राजनीतिक शक्तियाँ उद्भूत हुई । दोनों प्रतिस्पर्द्धी शक्तियाँ एक-दूसरे को उदरस्थ करने की ताक में सतत तल्लीन थीं । पर ऐसा लगता है कि गौड़-भूप के दल ने मौखरियों के राजनगर पर आकस्मिक धावा कौशल के साथ करके कान्यकुब्जेश्वर ग्रहवर्मन् को मार डाला तथा उसकी महारानी राज्यश्री को बन्दीगृह में रख कर मौखरी एवं पुष्यभूति-कुल को अपमानित किया । इसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है ।

शशांक एवं देवगुप्त का वह आक्रमण गुप्त रूप से इतनी शीघ्रता के साथ किया गया कि उस युद्ध तथा ग्रहवर्मन् की मृत्यु का समाचार एक साथ थानेश्वर के भूपति राज्यवर्द्धन को प्राप्त हुआ । राज्यवर्द्धन के पिता की मृत्यु अचिर पूर्व हुई थी, जब वह हूणों के साथ संग्राम में लीन था । युद्ध से विजयी होकर लौटने पर वह अपने प्रतापी पिता के राज-सिंहासन पर अभिषिक्त हुआ । राज्याभिषेक की टीका उसके भाल में सूखने भी नहीं पायी थी कि उसको अपने बहनोई की मृत्यु तथा बहिन की दुर्दशा का दुखद समाचार प्राप्त हुआ, इसका भी उल्लेख किया जा चुका है । उसने दस सहस्र अश्वारोही सैन्य के साथ अपनी बहन के प्रति किये गये अत्याचार का बदला लेने के हेतु शत्रु-दल पर वायु-वेग से आक्रमण किया । उसने मार्ग में मालवा-नरेश को पराजित कर तथा सम्भवतः उसे समरशायी बनाकर अत्याचार-ऋण का परिशोध किया (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० २६३) । बची हुई छोटी सेना को लेकर वह कन्नौज की ओर अग्रसर हुआ । मार्ग में शशांक का कहीं शिविर था । राज्यवर्द्धन के साथ छल का व्यवहार कर उसने उस निष्कपट एवं प्रतिज्ञापालक वीर को आमन्त्रित किया तथा अपने स्कन्धावार में उसकी कायरतापूर्ण हत्या उसे धोखा देकर कर दी । इसका भी उल्लेख किया जा चुका है । शशांक इसके पश्चात् कुछ काल के लिए मौखरी साम्राज्य का अधीश्वर हुआ ।

इतिहास-लेखक श्री आर० सी० मजूमदार को बाणभट्ट तथा हुएन्-त्सांग द्वारा राज्यवर्द्धन की हत्या के वर्णन पर सन्देह है (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० २६३) । उपर्युक्त दोनों ही विद्वान् हर्षवर्द्धन के समकालीन थे । चीनी यात्री ह्वेनसांग हर्षवर्द्धन के मित्र थे तथा बाणभट्ट उसके राज्यसभा के सभासद् । श्री मजूमदार महोदय हर्षवर्द्धन के मधुवन एवं बाँसखेड़ा के ताम्रपत्रों के अभिलेखों के आधार पर शशांक द्वारा

राज्यवर्द्धन की छल से कायरतापूर्ण हत्या की कथा पर विश्वास नहीं करते हैं। उन ताम्रपत्र-अभिलेखों का वर्णन निम्नांकित है :-

"राजानो युधि दुष्टवाजिन इव श्रीदेवगुप्तादय:
कृत्वा येन कशाप्रहारविमुखा: सर्वे समं संयता: ।
उत्खाय द्विषतां विजित्य वसुधां कृत्वा प्रजानां प्रियं
प्राणानुज्झितवानरातिभवने सत्यानुरोधेन य: ।।"

श्री मजूमदार "अरातिभवने सत्यानुरोधेन" से यह अर्थ लेते हैं कि राज्यवर्द्धन ने अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा में शत्रु के राजप्रासाद में अपने प्राण छोड़े। बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में अंकित किया है कि–"तस्माच्च हेलानिर्जित-मालवानीकमपि गौड़ाधिपेन मिथ्योपचारोचित विश्वासं मुक्तशस्त्रमेकाकिनं विस्रब्धं स्वभवन एव भ्रातरं व्यापादितमश्रौषीत् ।" (कलकत्ता संस्करण, पृ० ४३६)।

"हर्षचरित" के टीकाकार शंकराचार्य ने स्पष्ट लिखा है कि शशांक ने राज्यवर्द्धन के साथ अपनी कन्या के विवाह का प्रस्ताव कर उसको अपने स्कन्धावार में आमन्त्रित किया और उसे वहाँ एकाकी पाकर उसकी हत्या कर दी।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि राज्यवर्द्धन ने शशांक की बातों पर एक सत्यनिष्ठ वीर की भाँति विश्वास कर उसके स्कन्धावार में अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अकेला ही प्रवेश किया। उसके साथ उसके विजयी सैन्य की टोली थी। पर उनमें से उसने अंगरक्षकों को भी साथ नहीं लिया। वह शशांक के जाल में फँस कर उसके अनुरोध पर नि:शस्त्र होकर अरक्षित दशा में आमन्त्रित अतिथि के रूप में शत्रु के शिविर में पहुँचा। उसने अपनी सत्यप्रतिज्ञा की रक्षा की। पर शत्रु ने उसे धोखा दिया। मधुवन एवं बाँसखेड़ा के दान-पत्रों के उल्लेख (एपी० इण्डिका जिल्द-१ तथा ४) एवं बाणभट्ट के वर्णन में कोई विरोधाभास नहीं दीख पड़ता है। अत: श्री मजूमदार की शंका आधारशून्य प्रतीत होती है।

अपने अग्रज की हत्या तथा बहनोई के निधन से दु:खित एवं क्षुब्ध तथा क्रुद्ध हर्ष-वर्द्धन ने गौड़ों से पृथ्वी को रहित करने और समस्त उद्धत राजाओं के पैरों की बेड़ियों से उसे प्रतिध्वनित कर देने की प्रतिज्ञा की थी। वैसा न करने पर पतंग की भाँति जलती अग्नि में अपने को झोंक देने की भी उसकी प्रतिज्ञा हुई थी। पर गौड़ पर आक्रमण कर हर्ष ने शशांक का क्या किया, इसका स्पष्ट पता नहीं चलता है। हर्षवर्द्धन ६०६ ई० में सिंहासन पर बैठा तथा उसने अपना विजय-अभियान भी उसी समय आरम्भ किया। पर उड़ीसा के गंजाम में प्राप्त एक लेख से ज्ञात होता है कि ६१९ ई० में शशांक जीवित था। उस काल गंजाम पर उसका आधिपत्य भी था। किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि हर्ष ६३४ ई० तक युद्ध करता ही रहा। उसके फलस्वरूप उसने कश्मीर से आसाम तक तथा नेपाल से नर्मदा एवं महेन्द्र पर्वत (उड़ीसा) तक अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। पीछे गौड़ भी उसके साम्राज्य में समा गया। हर्षचरित एवं उत्कीर्ण लेखों में गौड़, उत्कल, मिथिला, सिन्ध, नेपाल, सुराष्ट्र आदि देशों के ऊपर हर्ष की विजय के उल्लेख पाये जाते हैं (डॉ० राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत, पृ० २७१)।

यद्यपि मिथिला पर शशांक के शासन का स्पष्ट प्रमाण इतिहास नहीं बता रहा है, पर घटना-चक्रों के अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचना आवश्यक हो जाता है कि ग्रह-वर्मन् एवं राज्यवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् से लेकर हर्षवर्द्धन द्वारा शशांक पर आक्रमण करने तथा उससे मौखरियों के विजित प्रदेश छीन लेने तक की अवधि तक गौड़ का शासन मिथिला पर स्थापित हो गया था। हाँ, तत्कालीन अस्थिर राजनीतिक स्थिति के कारण वह शासन सुस्थिर नहीं था। ऐसी स्थिति में विजित प्रदेश की जो गति होती है, मिथिला उसी अवस्था से यात्री करती हुई काल क्षेपण कर रही थी। शशांक के अस्थायी शासन के पश्चात् निश्चित रूप से पुष्यभूति कुल का शासन हर्षवर्द्धन की मृत्युपर्यन्त मिथिला पर बना रहा, इसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

वांग-हुएन्-त्से के नेतृत्व में तिब्बतियों की मिथिला पर चढ़ाई एवं विजय

सकलोत्तरापथनाथ हर्षवर्द्धन की मृत्यु ६४७ ई० में हुई। उसकी मृत्यु के पश्चात का मिथिला का इतिहास वास्तव में तिमिराच्छन्न है। असली बात यह है कि उसके पश्चात् उसके विशाल साम्राज्य की रक्षा करनेवाला कन्नौज में कोई रह नहीं गया। हर्षवर्द्धन को कोई पुत्र नहीं था। अतः राज्य का कोई उत्तराधिकारी भी नहीं रह गया था। साम्राज्य-शासन से उसके लौह-कठिन हाथों के हटते ही उसके मित्र भी शत्रु बन उसके साम्राज्य-शव को नोच कर उदरस्थ करने के हेतु भूखे गृद्धों की भाँति उस पर टूट पड़े। कामरूप का भास्कर वर्मन् हर्ष के जीवन-काल में उसका मित्र था। उसने कन्नौज से सम्बन्ध-विच्छेद कर बंगाल के कर्ण-सुवर्ण तथा उसके आस-पास के प्रदेशों को अपने राज्य में मिला लिया। हर्षवर्द्धन के मगध के शासक माधव गुप्त के पुत्र आदित्य सेन ने भी मगध में अपने को स्वतन्त्र कर लिया तथा अपनी विजयों से परवर्त्ती गुप्त-राजवंश की कीर्ति-पताका को चतुर्दिक् फहराना आरम्भ कर दिया। मिथिला का कोई शासक व सामन्त राजा अरुणाश्व अथवा अर्जुन हर्षवर्द्धन के मन्त्रियों में से एक था। उसने अपने गृह राज्य तीरभुक्ति अथवा तिरहुत (मिथिला) का सम्बन्ध केन्द्र-राज्य कन्नौज से विच्छिन्न तो कर ही लिया, और साथ ही चीनी साहित्य के उल्लेखानुसार कन्नौज के सिंहासन पर भी बलात् आधिपत्य स्थापित कर लिया। किन्तु इस घटना का समर्थन किसी भी भारतीय साहित्य अथवा पुरातत्त्व के अन्वेषकों के अन्वेषण से अब तक नहीं हुआ है।

कहा जाता है कि अरुणाश्व अथवा अर्जुन ने हर्ष की मृत्यु के पश्चात् चीन सम्राट द्वारा हर्षवर्द्धन के पास भेजे गये द्वितीय दूत-मंडल को अपमानित किया तथा उसे हानि भी पहुँचायी, जिसका वर्णन विशद रूप से इसके पूर्व किया जा चुका है। उस दूत-मंडल का नेतृत्व वांग-हुएन्-त्से कर रहा था। दूत-मंडल के कतिपय सदस्य मारे गये। शेष को साथ लेकर दूत-मंडल का नेता रातोरात नेपाल पहुँचा। वहाँ से वह तिब्बत गया। यह भी कहा जाता है कि तिब्बत और नेपाल के दोनों ही नरेश चीन-सम्राट् के सम्बन्धी थे। सम्भवतः तिब्बत के भूप स्रौंग-त्सान्-गम्पो का एक विवाह नेपाल-नरेश की कन्या के साथ तथा दूसरा चीन-सम्राट् की पुत्री के साथ हुआ था। अतः वांग-हुएन्-त्से को दोनों ही राज्यों से सैनिक सहायता मिली। तिब्बत से १००० अथवा १२०० अश्वारोही सैन्यों की टोली मिली तथा नेपाल से सात सहस्र घुड़सवार मिले। चीनी दूत-मंडल-नेता ने इस छोटी-सी

संयुक्त सेना की सहायता से केवल तीन दिनों के घेरे के पश्चात् तिरहुत की विजय कर ली तथा वहाख़ के निवासियों की मनमानी हत्या कर अरुणाश्व के कुकृत्य का बदला चुकाया। चीनी साहित्य में यह भी उल्लेख है कि अरुणाश्व पुनः सैन्य एकत्रित कर युद्ध में आया, पर पराजित होकर सपरिवार बन्दी बना। चीनी दूत-मंडल-नेता वांग-हुएन-त्से ने उसको उसी अवस्था में चीन ले जाकर अपने सम्राट् के सम्मुख उपस्थित किया। कामरूप के कुमार भास्कर वर्मन् ने भी चीनी राजदूत को आर्थिक सहायता तथा अन्यान्य आवश्यक एवं उपयोगी सामग्री देकर मदद की थी। (त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑफ कन्नौज-१८९-९०; जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल-६, ६९; ऐंन्टीक्वेरी-९, २०; इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली-३, ७९२; हिस्ट्री ऑफ बंगाल-वॉल्यूम-१, ९१-९३)।

तिब्बतियों के द्वारा तिरहुति की अस्थायी विजय का समर्थन इतिहास करता है, पर इसमें सन्देह नहीं कि चीनी साहित्य का एतद्विषयक वर्षण विशेषतया प्रशस्तिवाचक मात्र है, और वस्तुस्थिति से बहुत बढ़ा-चढ़ा कर लिखा गया है। कन्नौज-साम्राज्य को अरुणाश्व द्वारा अधिकृत करने तथा कन्नौजेश्वर के रूप में उसे एक छोटी-सी सेना की टुकड़ी के सहारे वांग-हुएन्-त्से द्वारा बन्दी बना कर चीन ले जाने की बात कदापि विश्वास करने की नहीं है। इस विषय पर पूर्व में विशेष चर्चा की गयी है। हर्ष की सेना चीनी यात्री हुएन-त्सं के वर्णनानुसार विशाल थी। उसका सेनापति भाण्डि उद्‌भट योद्धा, विजेता एवं हर्षवर्द्धन का निकटतम सम्बन्धी था। उसके जैसे पराक्रमी सेनानी के विद्यमान रहते कन्नौज-सिंहासन पर अरुणाश्व का बलात् अधिकार करना कदापि संभव नहीं था। चीनी राजदूत ने केवल तिरहुत की विजय की, और उसी से संतुष्ट होकर कन्नौज-सिंहासन के अधीश्वर को जय कर लेने का ढिंढोरा पीटना आरम्भ कर दिया। यदि सत्यतः उसकी विजय कन्नौज-नरेश के ऊपर हुई होती तो वह कन्नौज राज्य पर आधिपत्य स्थापित किये बिना नहीं रह सकता था। युद्ध तिरहुत में हुआ, कन्नौज में अथवा उसके निकटवर्त्ती किसी स्थान में नहीं। यही सिद्ध करता है कि चीनी साहित्य में उल्लिखित कन्नौजेश्वर अरुणाश्व पर की विजय की कथा पूरी-कपोल-कल्पना है। वह विजय एक छोटे प्रादेशिक राज्य तिरहुत के राजा अरुणाश्व के ऊपर की विजय मात्र थी।

ऊपर अंकित किया जा चुका है कि अरुणाश्व कोई तिरहुत का शासक अथवा छोटा सामन्त राजा था। वह हर्ष के मंत्रिमंडल का सदस्य था अथवा नहीं, इसमें भी सन्देह है। हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उसने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की। वह ब्राह्मण था, और वैदिक धर्म का अनुयायी। स्वभावतः उसका द्वेष बौद्धों से था। बहुत सम्भव है कि उसने चीनी दूतमंडल के बौद्ध सदस्यों के साथ दुर्व्यवहार किया हो। कामरूप का नृपाल कुमार भास्कर वर्मन् भी बौद्ध था। उसकी सहानुभूति चीनी दूत-मंडल के बौद्ध सदस्यों के साथ स्वाभाविक थी। चीनी दूत-मंडल को तिब्बत एवं नेपाल से सहायता प्राप्त हुई। कामरूप-नरेश ने भी उसकी मदद की। उसने अरुणाश्व से बदला लेने के हेतु उसपर तिब्बत और नेपाल की सेना लेकर आक्रमण किया। उसको पराजित कर उसे रणबन्दी बनाया तथा अहिंसक बौद्ध होते हुए भी उसने निर्दयतापूर्वक तिरहुत के निरीह निवासियों की निर्मम हत्या कर अपनी हिंसक प्रवृत्ति का परिचय दिया। यह सब स्थानीय एवं वैयक्तिक घटना थी। उसका सम्बन्ध कन्नौज-नरेश पर की विजय से रंचमात्र भी नहीं

था। उस विजय के परिणामस्वरूप तिब्बत का अधिकार कुछ काल के लिए तिरहुत पर हो गया। तिब्बत-साम्राज्य का प्रताप उन दिनों दिगन्तव्यापी था। लगभग आधी शताब्दी तक तिब्बत का शासन तिरहुत पर रहा। पश्चात् काल में परवर्त्ती गुप्त राजवंश के प्रताप-सूर्य की प्रखर रश्मियों का तपना मगध एवं मिथिला के राजनीतिक व्योम में इतिहास बताता है, जिसका वर्णन संक्षेप में आगे किया जायगा।

यदि किंचित् काल के लिए यह अनुमान कर लिया जाय कि अरुणाश्व का अधिकार कन्नौज के सिंहासन पर हो चुका था तो निस्सन्देह वह उस काल में हर्षवर्द्धन के साम्राज्य का उत्तराधिकारी 'सकल-उत्तरापथ-नाथ' था। ऐसी अवस्था में जब चीनियों ने उसे कन्नौज जाकर पराजित किया और उसे बन्दी बनाया तब उसकी राजधानी महोदयश्री तथा उसके सारे राज्य को उन लोगों ने अधिकृत क्यों नहीं किया ? एक बात और, अरुणाश्व ने बिना किसी उत्तेजना के विदेशी चीनी अतिथियों को मारा ही क्यों ? भारत और चीन में मित्रता थी। उन दिनों दोनों के बीच किसी प्रकार की झंझट उत्पन्न नहीं हुई थी। वह तथाकथित घटना आकस्मिक थी। चीन से जो उपहार दूत-मंडल के साथ हर्षवर्द्धन के पास चीन सम्राट् ने प्रेषित किया था वह तो यदि अरुणाश्व कन्नौज का सम्राट् बन गया था तब उसको ही मिलता। ऐसी स्थिति में अरुणाश्व को उपहार की वस्तुओं को लूटने की क्या आवश्यकता थी, यह भी विचारणीय विषय है। ये सब बातें स्पष्टतया बताती हैं कि चीनी साहित्य का उपर्युक्त विषयक वर्णन पूर्णतया आधारहीन एवं मनगढन्त और अविश्वसनीय है।

प्रतिहार वंशीय नागभट्ट के पौत्र मिहिर भोज के ग्वालियर-अभिलेख से ज्ञात होता है कि हर्षवर्द्धन के मातुल एवं सेनापति भाण्डि के वंशजों से प्रतिहार-कुल ने राज्य छीन लिया था (दि एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, आर० सी० मजूमदार एवं के० एम० मुंशीकृत, अध्याय-२, पृ० २२)। उक्त अभिलेख से यह पता चलता है कि कन्नौज के केन्द्रीय सिंहासन पर अरुणाश्व का नहीं, वरन् भाण्डिकुल का आधिपत्य था, जिससे साम्राज्य प्रतिहारों ने हस्तगत किया।

परवर्त्ती गुप्त राजकुल के आदित्य सेन तथा उसके वंशज

पूर्व के पृष्ठों में यह अंकित किया जा चुका है कि परवर्त्ती गुप्त-राजवंश के दामोदर गुप्त के मौखरियों के साथ युद्ध में रण-निधन के पश्चात् उसके पुत्र महासेन गुप्त ने मालवा जाकर वहाँ एक नये राज-वंश की स्थापना की। महासेन गुप्त ने कामरूप के राजा भास्कर वर्मन् के पिता सुस्थित वर्मन् को लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी के किनारे युद्ध में पराजित किया। उसके पुत्र देव गुप्त के मौखरी-नृप ग्रहवर्मन् के साथ समर का भी वर्णन किया जा चुका है। गुप्त राजकुमारी महासेन गुप्ता का विवाह पुष्यभूति कुल के भूपति आदित्य वर्द्धन (हर्षवर्द्धन के पितामह) के साथ हुआ था। ग्रह वर्मन् हर्षवर्द्धन का बहनोई था। पर महासेन गुप्त भी हर्षवर्द्धन एवं उसके अग्रज राज्यवर्द्धन का सम्बन्धी था, इसमें सन्देह नहीं है।

महासेन गुप्त का अन्तिम जीवन सुखमय नहीं बीता। उसको अपने जीवन एवं राज्य से हाथ धोना पड़ा। उसके दो राजकुमार कुमार गुप्त एवं माधव गुप्त ने अपने निकट

सम्बन्धी थानेश्वर के पुष्यभूति कुल के भूपति प्रभाकर वर्द्धन की शरण में शरणार्थी के रूप में उपस्थित होकर अपने प्राणों की रक्षा की (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० २७२)। प्रभाकर वर्द्धन के दोनों पुत्र राज्यवर्द्धन एवं हर्षवर्द्धन शरणार्थी राजकुमारों के हितचिन्तक मित्र बन गये । फलतः हर्षवर्द्धन की सहायता से उसके शासनकाल में माधव गुप्त मगध का शासक एवं सामन्त राजा नियुक्त किया गया, इसकी चर्चा भी पूर्व में की जा चुकी है । महासेन गुप्त मालवा-नरेश के एक पुत्र देव गुप्त के, प्रभाकर वर्द्धन के पुत्र राज्यवर्द्धन के शासन-काल में, मालवा में राज करने की कथा इतिहास बताता है । उसने शशांक की सहायता से कन्नौज पर आक्रमण कर मौखरी भूप ग्रह वर्मन् को मारा था । अब प्रश्न यह उठता है कि जब महासेन गुप्त का एक पुत्र मालवा के अपने पैतृक सिंहासन पर आरूढ़ होकर राज कर रहा था तब उसका पिता राज्यच्युत किस प्रकार हुआ ? उसकी मृत्यु कैसे हुई एवं उसके दो राजकुमारों को थानेश्वर में जाकर शरण लेने की आवश्यकता क्यों पड़ी ? सम्भवतः गृह-कलह इन सबों का कारण था, ऐसा जान पड़ता है ।

हर्षवद्धन की मृत्यु के कियत्काल पश्चात् मगध के राजनीतिक रंगमंच पर पुनः एक बार गुप्त-कुल के भूपति गण को सूत्रधार के रूप में इतिहास प्रकट करता हुआ दृष्टिगत कराता है । 'हर्षचरित' बताता है कि राज्यवर्द्धन द्वारा मालवा-नृपति देव गुप्त के निधन के पश्चात् हर्षवर्द्धन ने अपने बाल्य-मित्र माधव गुप्त को मगध का शासक एवं सामन्त नृपति नियुक्त किया । माधव गुप्त के पश्चात् उसका प्रतापी पुत्र आदित्य सेन मगध के सिंहासन पर आसीन हुआ । वह प्रबल पराक्रमी, प्रभावशाली, विजयशील एवं सशक्त शासक था । उत्तरकालीन गुप्त-कुल का सम्भवतः वह सर्वश्रेष्ठ, शक्ति-सम्पन्न एवं सबल नृपाल था । हर्ष के मरणोत्त उसने अपने शौर्य एवं प्रभाव का पूर्णतया प्रदर्शन कर कंधे से परतन्त्रता के जूए को उतार कर अपनी सार्वभौम स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी । उसने सम्राट् का विरुद धारण कर दिग्विजय-अभियान किया, तथा अनेक प्रदेशों का विजय कर अवश्वमेध का अनुष्ठान भी किया । उसके शाहपुर का शिलालेख इस कथन को प्रमाणित करता है। उसके राज्य का विस्तार दक्षिण पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक हो गया था । वह ६७० ई० तक जीवित था (कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इण्डिकेरम, नं० ४३, पृ० २०९-२१०) । उसके अफसाद-अभिलेख में उसकी विजयों का वर्णन निम्नांकित रूप में किया गया है :-

''येनेयं शरदिन्दुबिम्बधवला प्रख्यात भूमण्डले
लक्ष्मीसंगमकांक्षया सुमहती कीर्त्तिश्चिरं कोपिता ।
याता सागरपारमद्भुतमसापत्न्यं च वैरादहो
तेनेदं भवनोत्तमं क्षितिभुजा विष्णोः कृते कारितम्''।।२६।।

आदित्यसेन के शाहपुर-अभिलेख के अतिरिक्त और भी अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें मन्दार (भागलपुर जिला), देव वर्णाक (शाहाबाद जिला) एवं अफसाद (गया जिला) के नाम आते हैं । इन अभिलेखों से उसकी विशाल विजयों तथा उसके 'सम्राट्' के इस विरुद का पता चलता है । उसने 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' का विरुद धारण किया था, जिसे निराधार नहीं कहा जा सकता है । मूलतः मन्दार पर्वत से प्राप्त देवघर

उत्कीर्ण अभिलेख से स्पष्ट होता है कि उसने कन्नौज-साम्राज्य के भू-भागों को स्वायत्त कर देश में अधिराट् का स्थान प्राप्त किया था (जे० एफ० फ्लीट : कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इण्डिकेनम्, वॉल्यूम-३, इन्सक्रिप्सन नं० ४२, ४५, पृ० २०२, २११; डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला-पृ० २०१) । आदित्य सेन को आसमुद्रक्षितीश अर्थात् समुद्र पर्यन्त समग्र पृथ्वी के स्वामी के रूप में वर्णन किया गया है, तथा उसे अवश्वमेध एवं अन्यान्य बृहद् यज्ञों का कर्त्ता बताया गया है । एक नेपाली अभिलेख में उसको महान् आदित्य सेन तथा मगध का आदर्श एवं पराक्रमी भूप बताया गया है (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, ९, १८१) । उपर्युक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि ऊर्ध्वांकित अभिलेखों के काल ६७२-७३ ई० तक मगध, तिरहुत (वैशाली, मिथिला) आदि प्रदेश हिमालय पर्वत तक उसके शासन के अन्दर आ चुके थे (वी० पी० सिंह : दि डिकलाइन ऑफ दि किंगडम ऑफ मगध, २८९) । नेपाल का लिच्छवि भूप शिवदेव आदित्य सेन का समकालीन था । शिवदेव मौखरी-राज भोग वर्मन् का दामाद था जिसने (भोगवर्मन् ने) आदित्य सेन की पुत्री का पाणिग्रहण किया था (कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इण्डिकेरम्-३, ६१०; डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला- पृ० २०२) ।

आदित्य सेन के पश्चात् उत्तरकालीन गुप्तवंश के राजा देव गुप्त तृतीय, विष्णुगुप्त एवं उसके पुत्र जीवित गुप्त द्वितीय ने अपने पैतृक साम्राज्य का शासन किया । डा० अलतेकर द्वारा सम्पादित विष्णुगुप्त के सम्बन्ध में शाहाबाद जिले के बक्सर नगर के निकट मँगराम ग्राम से प्राप्त अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसमें उसका विरुद 'महाराजाधिराज परमेश्वर' अंकित है (डा० राजबली पांडेय : प्राचीन भारत-पृ० २६५) । इस वंश का अन्तिम राजा जीवित गुप्त था । कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मन् ने अपने विजय-अभियान के काल में युद्ध कर उसे मार डाला ('गौडवहो' नामक प्राकृत महाकाव्य) । इन तीनों के विरुद सम्राट् के अनुरूप थे । अतः उनका शासन आदित्य सेन द्वारा विजत प्रदेशों पर अन्त तक बना रहा, इसमें सन्देह नहीं है । पश्चिमी चालुक्य-भूप विनयादित्य (विक्रमादित्य का पुत्र) जिसका ज्ञात काल ६८१-६९६ ई० है, ने अपने अभिलेखों में गुप्त-कुल के नरेशों को 'उत्तरापथ-नाथ' स्वीकार किया था । वे (उत्तर-कालीन गुप्त सम्राटों) सातवीं शती के अन्तिम चरण तक अपने पैतृक साम्राज्य पर शासन करते रहे थे (हेमचन्द्र रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, षष्ठ संस्करण, ६११; इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, १०, ११०) । पुस्तक के पूर्व पन्नों में अंकित किया जा चुका है कि नेपाल एवं भारतीय प्रदेश के अंश पर तिब्बती शासन लगभग ७०३ ई० तक रहा । बहुत सम्भव है कि तिब्बतियों का नेपाल पर आधिपत्य रहते हुए भी आदित्य सेन ने सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अपनी विजयों के द्वारा तिरहुत को विदेशी शासन से मुक्त कर उसे स्वायत्त कर लिया था, जिसकी पुष्टि उपर्युक्त उल्लेखों से होती है । डा० वी० पी० सिंह की राय में तिरहुत; जो तिब्बत साम्राज्य का एक अङ्ग बन गया था, को विष्णु गुप्त अथवा जीवित गुप्त द्वितीय ने सम्भवतः अपने राज्य में मिला लिया (डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २०३, पाद टिप्पणी) । यशोवर्मन् ने आठवीं शती के आरम्भ में कन्नौज के सिंहासन पर अधिकार किया, और अपने विशाल साम्राज्य में तिरहुत को भी सम्मिलित कर लिया ।

कन्नौज-राज यशोवर्मन् एवं कश्मीरेश्वर ललितादित्य मुक्तापीड़

हर्षोत्तर काल के लगभग ७५ वर्षों का इतिहास तमसावृत है । सहसा ७२१ ई० के आस-पास कन्नौज के सिंहासन पर यशोवर्मन् नामक एक शौर्यशील नृपति को आसीन इतिहास बताता है । कोई इतिहासकार उसे मौखरी कुलोद्भव बताते हैं और कोई मौर्य वंशीय । कई जैन ग्रन्थों में उसे मौर्य कुलीय कहा गया है । किन्तु इसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है । वह अपने काल का महान् प्रतापी राजा था, जिसने अपनी विजयों के द्वारा उत्तर भारत में हड़कम्प उत्पन्न कर दिया था, और कन्नौज-राज्य को उसके पूर्ववर्त्ती गौरवपूर्ण पद पर पुनः प्रतिष्ठित करने के हेतु पूर्ण प्रयत्न किया था। प्राकृत महाकाव्य 'गौड़वहो' का विद्वान् लेखक वाक्पति उसे असाधारण विजेता बताता है, तथा अनेक विजयों का गौरव उसे प्रदान करता है । मगध-राज जीवित गुप्त द्वितीय को उसने भयंकर समर के पश्चात् समरशायी किया तथा उसके राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया था ।

'गौड़वहो' (गौड़-वध) काव्य के अवलोकन करने पर पता चलता है कि यशोवर्मन ने अपनी विजय-यात्रा में मलय, वंग, मगध, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, मरु, पंजाब, श्रीकण्ठ तथा हिमालय प्रदेश पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहरायी थी । इन विजित देशों में तिरहुत (वैशाली, मिथिला) का भी समावेश हो जाता है । मगध-साम्राज्य का तिरहुत एक अङ्ग था । अतः जीवित गुप्त द्वितीय की पराजय एवं मृत्यु के पश्चात् तिरहुत पर उसके आधिपत्य का स्थापित हो जाना स्वाभाविक था ।

कश्मीर के कर्कोटक कुल का प्रसिद्ध भूप ललितादित्य मुक्तापीड़, प्रतापादित्य द्वितीय का तृतीय पुत्र था और अपने अग्रज तारापीड की मृत्यु के पश्चात् कश्मीर के राज्य-सिंहासन पर आसीन हुआ था । वह कन्नौज-भूप यशोवर्मन् का समकालीन था । दोनों में पहले मैत्री थी, और दोनों ने मिलकर अपनी सम्मिलित शक्ति से अरब, तिब्बत और चीन के विरुद्ध अपनी मातृभूमि भारत की सीमाओं के द्वारों को सुरक्षित रखा था, पर पीछे राजनीतिक प्रतियोगिता के कारण दोनों में संघर्ष हो गया, जिसमें यशोवर्मन् पराजित हो गया । कहा जाता है कि पहले दोनों में सन्धि की बातें हुईं । पर पीछे समस्या यह उत्पन्न हुई कि सन्धि-पत्र पर पहले हस्ताक्षर कौन करेगा । इसका हल न हो सका। इस बात को लेकर दोनों में तनाव बढ़ा । अन्त में युद्ध हुआ, जिसमें कश्मीर की विजय हुई। इस विजय ने यशोवर्मन् के राज्य के पश्चिमी भाग पर ललितादित्य का अधिकार स्थापित कर दिया ।

ललितादित्य मुक्तापीड़ कर्कोटक कुल का सबसे बड़ा एवं प्रतापी राजा था । इसने ७२४ ई० से ७६० ई० तक राज किया । कश्मीर का इतिहास लेखक कल्हण कवि ने अपने प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ 'राजतरंगिणी' में उसकी विजयों का विशद वर्णन किया है । यशोवर्मन पर विजय प्राप्त करने से उसका प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया । कन्नौज-विजय के पश्चात पूर्व की ओर बढ़कर उसने मगध, गौड़, कामरूप एवं कलिंग को रौंद डाला । पश्चात् उसने दक्षिण में चालुक्यों पर चढ़ाई की । मालवा और गुजरात को उसने जीता तथा सिन्ध के अरबों को भी उनकी राज्य-सीमा के निकट कहीं परास्त किया । इन विजयों के कारण कश्मीर-साम्राज्य उस काल में भारत का सबसे बड़ा साम्राज्य, प्राचीन गुप्त-साम्राज्य के

टक्कर का वन गया, और यशोवर्मन् का विशाल साम्राज्य उसमें विलीन हो गया। सम्पूर्ण उत्तर भारत का ललितादित्य स्वामी बन गया। इससे यह स्पष्ट झलकता है कि उसका आधिपत्य तिरहुत पर भी अवश्य हुआ होगा।

ललितादित्य मुक्तापीड़ की ५वीं पीढ़ी में कश्मीर के सिंहासन पर एक और युद्धप्रिय प्रबल प्रतापी राजा जयापीड विनयादित्य को इतिहास आरूढ़ बताता है। उसने भी मध्यदेश (कान्यकुब्ज), उत्तरी बंगाल और नेपाल के विरुद्ध विजय-अभियान किया था। कहा जाता है कि उसने कन्नौज के राजा वज्रायुध अथवा इन्द्रायुध को परास्त कर पंचगौड़ पर अधिकार कर लिया था। पंचगौड़ में तिरहुत का भी समावेश होने के कारण उसका आधिपत्य कुछ काल तक तिरहुत पर होना सम्भव प्रतीत होता है।

कामरूप-भूप श्रीहर्ष

श्रीहर्ष कामरूप का राजा था। उसकी पुत्री का विवाह नेपाल के लिच्छवि-कुल के प्रसिद्ध नृपाल शिवदेव के पुत्र जयदेव द्वितीय के साथ हुआ था। श्रीहर्ष महापराक्रमी एवं विजेता भूप था। उसने गौड़, ओड्र, कलिंग, कोशल आदि को जीत कर अपने अधीन कर लिया था। नेपाल के पशुपति अभिलेख से पता चलता है कि श्रीहर्ष ने बिहार पर आक्रमण कर उसे जीता था। जयदेव द्वितीय का यह अभिलेख ७४८ ई० में उत्कीर्ण किया गया था[1]। यदि उसने सत्यतः बिहार को जीता था तब उसके आधिपत्य को भी कुछ काल के लिए तिरहुत पर होना स्वीकार करना ही होगा। परन्तु वह अभिलेख प्रशस्तिवाचक प्रतीत होता है। संभव है, वर्तमान बिहार के कुछ अंश पर उसका कभी अधिकार हो गया हो। बंगाल और कलिंग आदि प्रदेशों को उसने जीता था। तिरहुत की सीमा उन विजित प्रदेशों की सीमा से संलग्न थी, और तिरहुत उत्तर-बिहार में पड़ता ही है। अतः श्रीहर्ष का आधिपत्य तिरहुत के कुछ अंशों पर हो जाना असम्भव भी नहीं जँचता है।। कहा जाता है कि वह श्रीहर्ष महाभारत-प्रसिद्ध भगदत्त का वंशज था (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३७४)।

जनता में अशान्ति एवं पाल-राजकुल की स्थापना

इतिहास-लेखक तिब्बती बौद्ध विद्वान् तारानाथ के लेखानुसार सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बंगाल में कहीं पर औदिविस में सिंहचन्द्र का पुत्र बालचन्द्र राज्य करता था। संभवतः लिच्छवि-कुल के प्रतापी राजा पंचमसिंह, जिसका राज्य तिब्बत से त्रिलिंग एवं काशी तथा समुद्र तक विस्तृत था, ने बालचन्द को बंगाल से निष्कासित कर दिया था। वह अपने पैतृक राज्य से विस्थापित होकर तीरभुक्ति अथवा तिरहुत वा तीरहुत आया और वहाँ अपने लिए उसने एक नयी राजधानी की स्थापना की। उसका राज्य बंगाल तथा उसके अतिरिक्त और पाँच प्रदेशों में था, जिनमें मिथिला भी एक प्रदेश था (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २०४)। बालचन्द्र का पुत्र विमलचन्द्र महाप्रतापी एवं विजेता नरेश हुआ। उसने बंगाल एवं कामरूप पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। विमलचन्द्र का पुत्र गोविन्दचन्द्र हुआ। वह संन्यास-मार्ग का अनुयायी बना। उसका पुत्र ललितचन्द्र था। उसे भी सांसारिक सुख-भोग से विरक्ति हुई और अपने पूज्य पिता के चरण-चिह्नों पर चलना उसे प्रिय लगा। दोनों ही ने क्रमशः प्रव्रज्या ली और

अनासक्ति एवं त्याग को अपनाने वाले ब्रह्मविद् तत्त्वज्ञों द्वारा निर्देशित संन्यास-मार्ग के अवलम्बन द्वारा सिद्धि प्राप्त की (हिस्ट्री ऑफ बुद्धिज्म इन इण्डिया इन दि इयर ६०८ ए० डी०, पृ० १४६, १५८ तथा १७२ के आधार पर, डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २०४-५)। राजा के अभाव में देश शासनहीन हो गया। जनता में अराजकता फैल गयी। अन्याय का प्रसार हुआ। सबल निर्बल को सताने लगे। चारों ओर मत्स्य-न्याय का बोलबाला हुआ। (इण्डियन एन्टीक्वेरी, ४, ३६५-६६ के आधार पर)। देश में अशान्ति मच गयी। (आर० सी० मजूमदार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, १, १८३; बी० सी० सेन : सम हिस्टोरिकल ऐसपेक्ट ऑफ दि इन्सक्रिप्सन्स ऑफ बंगाल, ३७५; इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, १६, २२०-२८; जरनल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, ३२, १३१-३२)। सभी त्राहि-त्राहि करने लगे। अन्ततोगत्वा बढ़ती हुई अराजकता से ऊबकर जनता ने क्रान्ति की। उनके प्रतिनिधियों ने अपने में से एक सुयोग्य व्यक्ति को अपना नेता निर्वाचित किया। उसका नाम गोपाल था। अनुमानतः यह घटना आठवीं शती के मध्य में घटी। वह सर्वप्रिय व्यक्ति गोपाल बंगाल एवं तिरहुत के राज्य-सिंहासन पर आसीन हुआ। उसके शासन में अराजकता मिट गयी। प्रजा में सुख-शान्ति की वृद्धि हुई। गोपाल की मृत्यु ७७० और ७८० ई० के बीच हुई। उसने पालराज-वंश की स्थापना की। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका विक्रमी पुत्र धर्मपाल अपने पिता के सिंहासन पर उत्तराधिकारी हुआ।

उपर्युक्त चन्द्रकुल के राजाओं का आधिपत्य भंगाल (बंगाल), कामरूप (आसाम) तथा तिरहुत अथवा तीरहुति (तीरभुक्ति) पर था और वे उन तीनों राज्यों पर शासन करते थे (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २०५)।

पाल, गुर्जर, प्रतिहार, चन्देल एवं चेदि (कलचुरि)-राजवंश

ऊपर अंकित किया जा चुका है कि प्रजा-वर्ग द्वारा नायक चुना जाकर चन्द्रकुल के स्थान में गोपाल ने पालवंश की स्थापना की। गोपाल का पुत्र धर्मपाल पिता के समान ही प्रतापी एवं महत्त्वाकांक्षी हुआ। उसने ७८० ई० से ८१५ ई० तक राज्य किया। धर्मपाल के पुत्र देवपाल ने ८१५ ई० से ८५५ ई० तक तथा उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी विग्रहपाल ने ८५५ ई० से ८६० ई० तक शासन किया। विग्रहपाल के उत्तराधिकारी नारायणपाल का शासनकाल ८६० ई० से ९१५ ई० तक था (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्डट इण्डिया, पृ० २९९)।

पाल-वंश के संस्थापक गोपाल का आधिपत्य बिहार पर शीघ्र स्थापित हो गया। उसके पौत्र महाराज देवपाल के मुंगेर दान-पत्र में उसको 'पृथ्वीपति' एवं 'भूपचूड़ामणि' के विरुद से विभूषित किया गया है (एपिग्राफिया इण्डिका : १७, ३०४ ; वी० पी० सिंह : दि डिकलाइन ऑफ दि किंगडम ऑफ मगध, ३३३)। अभिलेखों के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि यदि पूर्णरूप से नहीं तो आंशिक रूप से भी उसका प्रभुत्व तिरहुत पर स्थापित हो चुका था (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २०५)। धर्मपाल के शासनकाल में उत्तर भारत के राजनीतिक मंच पर पालों के अतिरिक्त और दो शक्तियाँ गुर्जर प्रतिहारों की तथा दक्षिण के राष्ट्रकूटों की प्रकट हुई। तीनों ही के बीच 'उत्तरापथनाथ' बनने की होड़ मची थी, जिसका परिणाम त्रिकोणात्मक युद्ध एवं संघर्ष का

सूत्रपात हुआ। राष्ट्र कूट-भूपति ध्रुव (७७९-७९३ ई०) और उसके पुत्र गोविन्द तृतीय (७९४-८१३ ई०) ने उत्तर भारत की विजय के हेतु प्रबल सैन्य शक्ति के साथ वायु-वेग से उत्तर भारत पर क्रमशः आक्रमण किया। दोनों ही को प्रचुर सफलता भी मिली, पर वह चिरस्थायी न रह सकी (आर० सी० मजूमदार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, १, १०४)। पालों एवं प्रतिहारों का द्वन्द्व दीर्घकालीन हुआ, जिसका उत्तर भारत की रानजीति पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा और दोनों की शक्ति क्षीण होने पर दोनों ही के साम्राज्यों का विकेन्द्रीकरण हुआ। उपर्युक्त तीनों ही राजनीतिक शक्तियों की लोलुप दृष्टि कन्नौज के सिंहासन पर अटकी हुई थी। कान्यकुब्ज की राजधानी महोदयश्री तथा उस साम्राज्य को उदरस्थ करने की होड़ में जो संघर्ष चला, उसमें भाग लेने वाले ऊर्द्धांकित तीनों राजकुलों में से पालकुल के राजाओं के नाम ऊपर दिये जा चुके हैं। वह संघर्ष धर्मपाल के शासनकाल में आरम्भ हुआ था। अतः धर्मपाल के समकालीन अन्य दोनों राजकुलों के राजाओं से लेकर उस चिरकालव्यापी संघर्ष में भाग लेनेवाले दोनों ही राजवंशों के राजाओं के नाम पाठकों के ज्ञान के हेतु यहाँ अंकित कर देना आवश्यक है। गुर्जर प्रतिहार नृपतिगण, जिन्होंने उस त्रिकोणात्मक समर में भाग लिया था, में सबसे पहला वत्सराज था, जिसका ज्ञात काल ७८३ ई० है। 'जैन हरिवंश' के अनुसार वह वत्सराज अवन्ति का शासक था तथा नागभट्ट द्वितीय का पिता था (बम्बे गजे० १, २, पृ० १९७; एपिग्राफिया इण्डिका, पृ० १९५-९६)। नागभट्ट द्वितीय का ज्ञात काल ८१५ ई० है। उसके पश्चात् उसका पुत्र रामभद्र राजा हुआ। रामभद्र के बाद उसका पुत्र मिहिर भोज प्रतिहार सिंहासन पर बैठा। उसका ज्ञात शासनकाल ८३६ ई० से ८८५ ई० है। मिहिर भोज का उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल हुआ। उसने ८८५ से ९१० ई० तक राज्य किया। राष्ट्रकूट राजाओं में उस संघर्ष में भाग लेने वाले तीन नरेश थे। सबसे पहला ध्रुव था, जिसने ७७९ ई० से ७९३ ई० तक राज्य किया। दूसरा भूप गोविन्द तृतीय था, उसका शासनकाल ७९४ ई० से ८१३ ई० तक था। उसकी मृत्यु के बहुत दिनों के बाद कृष्ण द्वितीय ने उत्तर भारत के विजय का अभियान आरम्भ किया। उसने ८७८ ई० से ९१४ ई० तक राज्य किया। इस प्रकार वह संघर्ष एक सौ वर्षों से भी अधिक समय तक चलता रहा (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० २९९)।

सर्वप्रथम धर्मपाल का युद्ध गुर्जर-प्रतिहार-भूप वत्सराज के साथ हुआ जिसमें धर्मपाल की करारी हार हुई। पर इसी बीच राष्ट्रकूट-नृपति ध्रुव के वत्सराज पर आक्रमण कर उसे बुरी तरह पराजित किया। उसके परिणामस्वरूप वतसराज को रणभूमि त्याग कर मरुभूमि की शरण लेनी पड़ी तथा उसकी धूलि फाँकनी पड़ी (वानी दिन्दोरी तथा राधनपुर के राष्ट्रकूट-लेख)। इस आकस्मिक घटना से धर्मपाल को साँस लेने का अवसर प्राप्त हुआ। ध्रुव के लौट जाने पर कुछ काल के लिए वातावरण शान्त रहा। पर धर्मपाल से चुप बैठा नहीं रहा गया। उस महत्त्वाकांक्षी नरेन्द्र ने कन्नौज के अधीश्वर इन्द्रायुध को पराजित कर महोदयश्री (कन्नौज) के सिंहासन पर अधिकार कर लिया। उसने भोजों, कुरुओं, मत्स्यों, यदुओं, यवनों, आदि को भी अपने अधीन बनाया (धर्मपाल का खालिमपुर दानपत्र, एपिग्राफिया इण्डिया, वाल्यूम-४, पृ० २५१)। निस्सन्देह धर्मपाल बंगाल का एक महान् भूपाल था, जिसने बाधाओं के बीच भी उत्तर भारत में अपना विशाल साम्राज्य

के पश्चात् नेपाल पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित की थी (जरनल ऑफ इण्डिन हिस्ट्री, ३२, १३४; डॉ० वी० पी० सिंह : दि डिकलाइन ऑफ दि किंगडम ऑफ मगध, ३४२-४४)।

धर्मपाल का पुत्र परमेश्वर परमभट्टारक महाधिराज देवपाल अपने पिता से भी बढ़कर रणदुर्द्धष एवं उद्‌भट योद्धा था। उसका मुंगेर-दान-पत्र (इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, २१, २५५, श्लोक-१५) बताता है कि उसके विशाल साम्राज्य की सीमाएँ उत्तर में हिमालय पर्वत, दक्षिण में भगवान् राम का सेतु (रामेश्वरम्) तथा पूर्व एवं पश्चिम में वरुण एवं लक्ष्मी का निवास स्थान (रत्नाकर) थीं। नारायण पाल के काल का बादल-स्तम्भ-उत्कीर्ण लेख (गरुड़-स्तम्भ-अभिलेख) में भी उसके राज्य का विस्तार हिमालय पर्वत से विन्ध्याचल तक बताया गया है (एपिग्राफिया इण्डिका, २, १६५, श्लोक-५)। सम्भवत: वह सम्पूर्ण उत्तर भारत से कर वसूलता था। यह भी कहा जाता है कि उसने कामरूप के भूपति को अपने अधीन किया तथा गुर्जर प्रतिहार-नृपाल मिहिरभोज को रणनत किया था (इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, १५, ३०५; एपिग्राफिया इण्डिका, १८, १०९, ११३, ४; जरनल ऑफ दि इण्डियन हिस्ट्री, ३२, १३४; एच० सी० राय, डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया, १,२९६)।

पाल-प्रशस्तियों में महाराज देवपाल के साम्राज्य की जो सीमाएँ बतायी गयी हैं उनमें अधिकांश को प्रशस्ति वाचक उल्लेख एवं अतिशयोक्ति मानते हुए भी इसको निर्विवाद स्वीकार करना पड़ेगा कि बिहार तथा बंगाल पर उसका प्रभुत्व अक्षुण्ण था। उसके मुंगेर-दान-पत्र, नालन्दा-दानपत्र, घोसरामा-प्रस्तर-उत्कीर्ण-अभिलेख, नालन्दा-मूर्ति-उत्कीर्ण-अभिलेख आदि में उसकी प्रभुसत्ता के विस्तार (इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, १५, ३०४) का जो वर्णन है उसमें भी सत्य की कमी नहीं प्रतीत होती है (डा० वी० सिंह : दि डिकलाइन ऑफ दि किंगडम ऑफ मगध, ३७५)। उसके शासनकाल में पाल-साम्राज्य उन्नति के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ हो चुका था। किन्तु देवपाल की मृत्यु के पश्चात पालों की शक्ति में ह्रास होना आरम्भ हो गया। शनैः-शनैः उसका साम्राज्य भी छिन्न-भिन्न होने लग गया। उत्तर भारत में उसकी प्रभुसत्ता नाम मात्र की ही रह गयी। विग्रह पाल (सुरपाल) के समय तक देवपाल द्वारा अर्जित साम्राज्य पर उसका आधिपत्य था, किन्तु उसमें सम्राट् के योग्य व्यक्तित्त्व का अभाव था। उसने बहुत अल्पकाल तक शासन किया, और अचिर प्रव्रज्या लेकर तपस्वी का जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया। उसने राजा के राजनीतिक हिंसामय सामरिक जीवन से ऊब कर संसार से विरक्त हो वैरागी जीवन व्यतीत करना ही श्रेयस्कर समझा था। कुछ विद्वान् सुरपाल और विग्रहपाल प्रथम को एक ही व्यक्ति मानते हैं। पर डा० वी० पी० सिंह ने उन दोनों को पाल-कुल के दो भिन्न भूपति माना है। (दि डिकलाइन ऑफ दि किंगडम ऑफ मगध, पृ० ३७९)। उनकी मान्यता के अनुसार सुरपाल या तो देवपाल का एक पुत्र था, अथवा वह उसके युवराज राज्यपाल का तनय था जिसकी मृत्यु अपने पिता देवपाल के जीवन-काल में हो चुकी थी (डा० वी० पी० सिंह : डिकलाइन ऑफ दि किंगडम ऑफ मगध ३७८-८५)। विग्रहपाल के पश्चात देवपाल का द्वितीय पुत्र नारायण पाल सिंहासन पर आसीन हुआ। उसके शासनकाल के ५ उत्कीर्ण शिलालेख प्राप्त हुए हैं, यथा-(१) गया-शिलालेख (आर्क्यिोलौजिकल सर्वे रिपोर्ट ऑफ इण्डिया-३, पृ० १२०, नं० ९), (२) इण्डियन म्युजियम स्टोन इन्सक्रिप्शन

(बंगीय साहित्य पत्रिका, १५, १३; मेमॉयर ऑफ दि ऐशिएटिक सोसाइटी ऑफ-बंगाल, ५, पृ० ६२, नं० ३), (३) भागलपुर दानपत्र (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, १५, ३०४), (४) बादल पिलर इन्सक्रिप्शन (गौड़जमाल, ७०), तथा (५) उदान्तपुर मूर्ति-अभिलेख (इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, १९१८, पृ० १०९-११०) । इन सबों में भागलपुर का दान-पत्र तिरहुत के लिए ऐतिहासिक दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण है । वह दान मुद्गिरि (मुंगेर) के जयस्कन्धावार से कलशपोत के शिवभट्टारक एवं पाशुपताचार्य-परिषद्-मन्दिर को दिया गया था । परमभट्टारक महाराजाधिराज विग्रहपालदेव पादानुध्याता परमभट्टारक महाराजाधिराज नारायण पाल ने तीरभुक्ति (तिरहुत) के मुकुतिका ग्राम कक्ष-विषय का दान पूर्वोक्त शिवमन्दिर को दिया था, तथा उस अंचल में उक्त शिव के १००० मन्दिर भी बनवाये थे । अपने शासन के १७वें वर्ष में उसने उपरोक्त दान दिया था । भागलपुर दानपत्र के अतिरिक्त भी और सभी नारायण पाल के उत्कीर्ण अभिलेख बिहार में ही प्राप्त हुए हैं । उन अभिलेखों एवं दान-पत्रों से प्रमाणित होता है कि नारायण पाल का आधिपत्य तिरहुत एवं बिहार के अधिकांश भाग पर अन्त तक निर्बाध बना था ।

नारायण पाल के शासनकाल में प्रतिहार राजा प्रथम महेन्द्रपाल ने मगध और उत्तर बिहार पर अधिकार कर लिया था । पूर्वी बंगाल भी उसके हाथ से निकल चुका था । किन्तु ऐसा लगता है कि अन्त में उसने प्रतिहारों से उत्तर बंगाल और उत्तर बिहार वापस कर लिये । वह ८५६ ई० में गद्दी पर बैठा और उसकी मृत्यु ९१२ ई० में हुई ।

नारायण पाल के शासन के बाद से लगभग ३७ वर्षों तक के पालभूतियों का कोई अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ है । इससे उस कुल की समृद्धि के ह्रास का पता चलता है । राष्ट्रकूट-भूप अमोघवर्ष (गोविन्द तृतीय के पुत्र) का नील-गुंड-शिलालेख से भी इस तथ्य का पृष्ठपोषण होता है । वह शिलालेख ८६६ ई० का है, तथा उसमें अंकित किया गया है कि अंग, वंग एवं मगध के राजाओं ने उसकी अर्चना की थी (एपिग्राफिया इण्डिका, ६, १०३, पंक्ति ८; इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, १२, पृ० २१८, पंक्ति-६) । सीरपुर के लेख के अनुसार उसने अंग, वंग एवं मगध के राज्यों पर अपना विजय-केतु फहराया था (डॉ० राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत, पृ० ३६६) । कृष्ण द्वितीय के विषय में भी उल्लेख है कि उसने गौड़ों को नत किया था तथा उत्तर भारत के अंगवासियों, मागधों तथा अन्यान्य से पूजा प्राप्त की थी (एपिग्राफिया इण्डिका, ५, १९३) । कृष्ण राज द्वितीय अकाल वर्ष अमोघ वर्ष का पुत्र था ।

उत्कीर्ण अभिलेखों से पता चलता है कि गुर्जर प्रतिहार राजा मिहिरभोज (द्वितीय नागभट्ट का पौत्र एवं रामभद्र का पुत्र) तथा उसके पुत्र महेन्द्रपाल ने अनवरत युद्धों के द्वारा अपने पैतृक साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार कर लिया था । उनका आधिपत्य उत्तर भारत में पंजाब के करनाल जिला से लेकर दक्षिण में कठियावाड़ अन्तरीप तक तथा पूर्व में पालों के राज्य की सीमा तक हो गया था । (एपिग्राफिया इण्डिका- १, १६२, ९, पृ० ३, ५, २०८; इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, १५, ११२; आर० एस० त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, २४६, २५२; इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली-१६, १८१) । इसमें भी सन्देह नहीं है कि भोज तथा उसके पश्चात् महेन्द्रपाल ने अपने साम्राज्य का विस्तार हिमालय पर्वत के पाद भाग तक कर लिया था, जिसमें तिरहुत अंचल एवं हजारीबाग जिला के भू-भाग का भी

समावेश हो जाता है (आर्कियोलौजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट, १९०३-४, पृ० २८२ (५, २१); आर० एस० त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, २५२; डा० वी० पी० सिंह : डिकलाइन ऑफ दि किंग्डम ऑफ मगध, ३९०-९१, ३९३-९४; एच० सी० राय : डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया, १, ३०३)। उपर्युक्त उल्लेख से पता चलता है कि पालों के हाथों से साम्राज्य का अंश शनैः-शनैः निकलता जा रहा था। गुर्जर-प्रतिहार-भूप गंगा के उत्तरी किनारे से पूर्व की ओर बढ़ते जा रहे थे। महेन्द्रपाल के शासन के तेरहवें वर्ष के समाप्त होते-होते मालूम पड़ता है कि उसने सम्पूर्ण तिरहुत एवं उत्तरी बंगाल को अपने साम्राज्य में मिला लिया था। शेष पर पालों का आधिपत्य अब भी शेष था (एस० सी० राय : डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया, वॉल्यूम १, ३०३)। पर राष्ट्रकूट भूपति इन्द्र तृतीय नित्य वर्ष (कृष्ण द्वितीय का पौत्र) ने गुर्जर प्रतिहार भूपति की बढ़ती को अपने आक्रमणों से अवरुद्ध कर दिया। राष्ट्रकूट-नृपति गोविन्द चतुर्थ के लेखों से विदित होता है कि उसने महोद्य (कन्नौज) नामक शत्रु-नगर को पूर्णतः नष्ट कर दिया, तथा सामन्त नरसिंह चालुक्य के साथ प्रयाग के गंगा-यमुना-संगम तक की उसने विजय-यात्रा की (डा० राजबली पांडेय : प्राचीन भारत-पृ० ३००)। इन्द्र तृतीय का आक्रमण महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल के समय में हुआ था (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३०५)। इन्द्र तृतीय ९१६ ई० में अपने गृह-राज्य में वापस गया। तब महिपाल को अपने विजित राज्य का बहुत कुछ अंश शत्रु से लौटा लेने का अवसर प्राप्त हुआ, और उसमें सफलता मिली थी। उसकी मृत्यु ९३१ ई० में हुई। इन्द्र तृतीय के आक्रमण से महिपाल की बिगड़ी हुई परिस्थिति का लाभ पालों ने भी लिया। प्रतिहारों के पूर्वी शत्रु पालों ने उसकी उस कठिन घड़ी में सोन नदी तक के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। महिपाल के शासनकाल में प्रतिहारों के राजसभा-पंडित वृद्ध राजशेखर जीवित थे। उन्होंने महिपाल को सम्पूर्ण आर्यावर्त्त का महाराजाधिराज तथा मुरल, मेकल, कलिंग, केरल, कुलूत, कुन्तल, रमठ आदि प्रान्तों का विजेता लिखा है। पर राष्ट्रकूट-भूप कृष्ण तृतीय के आक्रमण पुनः उसके समय में उत्तर भारत पर आरम्भ हो गये, और प्रतिहारशक्ति का ह्रास महिपाल के अन्तिम समय में प्रारम्भ हो गया।

महिपाल के पश्चात् उसका पुत्र द्वितीय महेन्द्रपाल प्रतिहार-गद्दी पर बैठा। उसने अपने शेष पैतृक साम्राज्य को किसी प्रकार सुरक्षित रखा। उसके पश्चात् देवपाल तथा देवपाल के पीछे विजयपाल प्रतिहार सिंहासन का क्रमशः स्वामी हुआ। इन दोनों के समय में साम्राज्य के अनेक सहायक सामन्त स्वतन्त्र हो गये। दशमी शती के अन्तिम चरण में राज्यपाल गद्दी पर बैठा। राष्ट्रकूटों के बोधगया के उत्कीर्ण लेख (बोधगया, पृ०१९४, दिनांक दशमी शताब्दी ईसवी) तथा अन्यान्य से पता चलता है कि उस काल में भी पालों का आधिपत्य बिहार के पटना जिले तथा सम्भवतः मुंगेर, भागलपुर एवं संथाल परगना के जिलों पर था (इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, ४७, पृ० १११; जरनल ऑफ दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, २६, २३६; एपिग्राफिया इण्डिका, १४, ३२४)। गुर्जर प्रतिहारों का आधिपत्य उस काल में शाहाबाद, गया तथा हजारीबाग जिलों पर था। उत्तर में सम्पूर्ण तिरहुत एवं वरेन्द्री प्रदेश को उन सबों ने रौंद डाला था। प्रतिहारों ने पालों के हाथों से मिथिला का कुछ अंश संभवतः पाल के शासन के सताइसवें वर्ष के पश्चात् छीन लिया

था। परन्तु वह स्थिति बहुत दिनों तक न रह सकी (जरनल ऑफ दि इण्डियन हिस्ट्री, ३२, १३४)।

प्रतिहार-सम्राट् देवपाल के समय में ही जेजाक भुक्ति के चन्देल राजा यशोवर्मन ने लगभग ९४८ ई० के आस-पास अपने को प्रतिहार-साम्राज्य से स्वतन्त्र कर लिया था। राष्ट्रकूटों एवं गुर्जर प्रतिहारों के आक्रमणों के रुकने पर पालों पर चढ़ाई करने की बारी अब चन्देलों की आयी। खजुराहो के वि० सम्वत् १०११ (९५३-५४ ई०) के उत्कीर्ण शिलालेख से ज्ञात होता है कि चन्देल-भूप हर्ष के पराक्रमी पुत्र यशोवर्मन् ने पालों का पराभव रणक्षेत्र में अति सुगमता से किया। कालिञ्जर के किले पर उसने अधिकार किया, पतनशील गुर्जरों को नत किया, मैथिलों को जीता, एवं मालवों के साथ सफल संग्राम किया (एपिग्राफिया इण्डिका, पृ० १२३)। उसने चेदिओं, खसों एवं कुरुओं पर भी विजय प्राप्त की (एपिग्राफिया इण्डिका, पृ० १२३, श्लोक-२३)।

खजुराहों के उत्कीर्ण अभिलेख में चन्देल-राज यशोवर्मन् के द्वारा विजित प्रदेशों की जो सूची अंकित की गयी है, उसमें मिथिला का नाम अलग दिया गया है (एपिग्राफिया इण्डिका, पृ० २३, पंक्ति-२, ''शिथिला मिथिला''; डॉ० वी० पी० सिंह : दि डिकलाइन ऑफ दि किंगडम ऑफ मगध, ४००; वी० सी० सेन : सम हिस्टोरिकल आस्पेक्टस ऑफ दि इन्सक्रिप्सन ऑफ बंगाल, ३६६, जरनल ऑफ दि इण्डियन हिस्ट्री, ३२, १३५), बंगाल के गौड़-नृपति पालों के साम्राज्य के प्रदेशों के साथ नहीं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस काल तक उत्तर बिहार पर पाल-भूपतियों का अधिकार रह नहीं गया था। प्रतिहार-लेखों के आधार पर ऊपर लिखा जा चुका है कि गुर्जर प्रतिहार भूपति ने सम्पूर्ण तिरहुत एवं वरेन्द्री को रौंद डाला था। इसका पृष्ठपोषण खजुराहों के उक्त अभिलेख से होता है। इस प्रकार विचार करने पर इस तथ्य को स्वीकार करना पड़ता है कि चन्देलों ने तीरभुक्ति (तिरहुत) गुर्जर प्रतिहारों को पराजित कर प्राप्त किया था, पालों का पराभव कर नहीं। पालों से गुर्जर प्रतिहार मिथिला पहले ले चुके थे।

यशोवर्मन् का पुत्र धंग भी अपने पिता के समान ही उद्भट योद्धा था। उसने भी अपने को विक्रमी एवं विजेता सिद्ध किया। उसने अपने ९५४ से १००० ई० तक के लम्बे शासन में अपने पिता द्वारा अर्जित भू-भाग को सुरक्षित रखा तथा युद्धों में शत्रुओं का विनाश किया (एपिग्राफिया इण्डिका, श्लोक ४४) एवं पृथ्वी पर सुशासन स्थापित किया। उसके चरण नतमस्तक नृपतियों के मुकुटों से पतित सुमन-मालों से पूजित होते रहते थे। परिणामतः पतनोन्मुख पाल साम्राज्य के शासक राज्यपाल एवं उसके दो उत्तराधिकारी गोपाल द्वितीय तथा विग्रहपाल द्वितीय के शासनकाल में चन्देलों के बंगाल और अन्यान्य प्रदेशों पर के आक्रमणों ने उत्तर भारत की सारी राजनीति में उथल-पुथल उत्पन्न कर उसे नष्ट-प्राय कर दिया था (आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, पृ० १३२)।

दशमी शताब्दी के अन्तिम चरण में विग्रहपाल के शासनकाल में कम्बोजों ने पालों पर आक्रमण कर उत्तर तथा पश्चिम बंगाल पर अधिकार कर लिया (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३३६)। परन्तु उसके पुत्र महीपाल प्रथम (९८० से १०३० ई०) ने वीरतापूर्वक प्रत्याक्रमण कर अपने पैतृक राज के उस विजित भाग को

शत्रुओं के पंजे से मुक्त कर लिया। पालों की निर्बलता से लाभ उठाकर १०१९ ई० के पूर्व कलचुरि आक्रामक सम्भवतः मिथिला तक बढ़ आये। उसी समय चोल-नृपति राजेन्द्र चोल तथा चालुक्य-भूप ने भी पालों के राज्य पर चढ़ाई कर दी। महीपाल ने अपने राज्य की रक्षा चोल, चालुक्य एवं कलचुरि आक्रामकों के आक्रमणों से तो की ही, और कम्बोजों को बंगाल से बाहर निकाला भी, किन्तु सबसे बढ़कर उसके लिए गौरब की बात यह हुई कि उसने ऊद्धर्वांकित आपत्तियों के बीच १०५५ ई० के पूर्व अपने राज्य की सीमा काशी (वाराणसी) तक बढ़ा ली। महीपाल प्रथम के प्राप्त अभिलेखों से पता चलता है कि उसके शासन के आरम्भ-काल में उसका अधिकार बिहार पर था, और उसने अपने विक्रम से अपने पैतृक साम्राज्य का शत्रुओं से उद्धार किया (सी० वेन्डल : कैटलौग ऑफ दि बुद्धिस्ट संस्कृत मैनुसक्रिप्ट्स, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी लाइब्रेरी, पृ० १०१; जरनल ऑफ दि ऐशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, ४, न्यू.सीरीज, १०६-०७, ११, न्यू सीरीज, १७; एपिग्राफिया इण्डिका, १७, ३५३-५५; एच० सी० राय : डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया, १, पृ० ३११; जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, २५, २३६, नं० ४९)। परन्तु महीपाल प्रथम के उत्तराधिकारियों के राजत्वकाल में राज्य का भू-भाग शनैः शनैः पालों के शासन से निकलने लग गया था।

महीपाल प्रथम का पुत्र नयपाल अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् पाल सिंहासन पर आसीन हुआ। त्रिपुरी के कलचुरियों के साथ उसका युद्ध बहुकालव्यापी हुआ। जैसा ऊपर अंकित किया गया है, इस विषय पर विश्वास कर लेने के लिए पर्याप्त आधार है कि कलचुरि-भूप गांगेय देव विक्रमादित्य ने १०१९ ई० के पूर्व तिरहुत (तीरभुक्ति, मिथिला) पर अधिकार कर लिया था। पर महीपाल ने उसको पुनः प्राप्त कर लेने में सफलता प्राप्त कर ली, और उसका अधिकार काशी एवं काशी तथा मिथिला के बीच के सम्पूर्ण भू-भाग पर १०२६ ई० तक हो गया। किन्तु यह भी सत्य है कि महीपाल प्रथम के शासन के अन्तिम चरण में अथवा नयपाल के राज्यारोहण के अचिर पश्चात् पालों के विरुद्ध गांगेयदेव ने पुनः संघर्ष आरम्भ कर दिया। उसने काशी को जीत लिया। १०३४ ई० में काशी नगरी पर गांगेयदेव कलचुरि के आधिपत्य का पता इतिहास बताता है।

जिस काल की राजनीतिक विवचेना अभी यहाँ की जा रही है, उस काल के तिरहुत का सारा इतिहास आक्रामकों के आक्रमण तथा रक्तपात का इतिहास है। युद्धरत भिन्न-भिन्न राजशक्तियों के रण-कौतुक के बीच मिथिला की स्थिति क्रीडास्थली के खिलाड़ियों के पदाघातों से उछलते हुए गेंद-सी हो गयी थी। सातवीं शती के मध्य में सम्राट् हर्षवर्द्धन के देहावसान के पश्चात् तिरहुत को अनेक समर-रत राजशक्तियों की दासता की कठिन शृंखला में बँधने के हेतु बाध्य होना पड़ा। राष्ट्र नायक-हीन हो गया था। वह आपदा की घड़ी थी। यह अवस्था ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक बनी रही। विदेशी तिब्बतियों का तिरहुत पर आक्रमण हुआ। पीछे उत्तरकालीन गुप्त, कन्नौज-पति यशोवर्मन्, कश्मीरी-भूप ललितादित्य, पाल, प्रतिहार, राष्ट्रकूट, चन्देल, चालुक्य, चेदि (कलचुरि) आदि कुलों के भूपतियों ने आपस में छीना-झपटी की। राष्ट्रीय भाव का उनमें अभाव था। उन राजशक्तियों में राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति के लिए कभी मेल न हुआ। देश में राजनीतिक लूट-खसोट मची हुई थी। जनपद वीरान हो चुका था। सदियों की दासता ने उसे बेकाम बना दिया था।

जेजाक भुक्ति के चन्देलों के पश्चात् डाहल के कलचुरियों अथवा चेदियों का आक्रमण तिरहुत पर हुआ, और उन्होंने वहाँ कुछ काल तक शासन भी किया (कनिंगहम की आर्कियोलौजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग-२१, पृ० ११३)। डाहल के कलचुरियों को चेदि का कलचुरि भी कहा जाता था। उनकी राजधानी त्रिपुरी में थी। त्रिपुरी का वर्तमान स्थानापन्न ग्राम तेवर है, और वह जबलपुर से छः मील पश्चिम दिशा में बसा है (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३०९)। कलचुरि-राज गांगेयदेव का शासन तिरहुत पर था, इसका प्रमाण विक्रम सम्वत् १०७६ (१०१९ ई०) में लिखी गयी एक नेपाली कायस्थ पंडित की रामायण की पांडुलिपि के अवलोकन से प्राप्त होता है। उसमें अंकित किया गया है कि—'महाराजाधिराज पुण्यावलोक-सोम-वंशोद्भव-श्रीमद्गांगेय देव भुज्यमान-तीरभुक्तौ कल्याण विजय राज्ये नेपाल देशीय-श्रीमान् चुशालि-श्री आनन्द दास्य पाटकावस्थित (कायस्थ) पंडित श्री श्रीकुरस्यात्मजा श्री गोपति-आलेखितम्' (वेण्डल : जरनल ऑफ ऐशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९०३, भाग-१, पृ० १८-१९; जरनल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, ९, ३००, १०, ३९)। उपर्युक्त लेख में गांगेयदेव को चन्द्रवंशीय क्षत्रिय (सोमवंशोद्भव) बताया गया है। उक्त लेख से सम्बन्ध रखने वाला गांगेयदेव कलचुरि कुल का भूपति गांगेय देव था, इसमें कुछ विद्वानों को सन्देह है। इतिहास के प्रकाण्ड पण्डित आर० सी० मजूमदार महोदय ने इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली (भाग-७, पृ० ६७९) में 'ली-नेपाल' (२, पृ० २०२, टिप्पणी-१) से उद्धृत किया है कि उसके लेखक सिलभ्यां लेवी को सम्बद्ध गांगेयदेव का डाहल (त्रिपुरी) का कलचुरि भूप होना स्वीकार नहीं है। वे उसी लेख के आधार पर इस गांगेयदेव को कर्णाट कुलीय, तिरहुत नृपति नान्यदेव का पुत्र बताते हैं। पर प्रमाणों के आधार पर उनकी यह मान्यता मान्य नहीं जान पड़ती है। एम० सिलभ्यां लेवी का कहना है कि उपर्युक्त लेख में गांगेयदेव के नाम के पूर्व 'पुण्यावलोक' की उपाधि जोड़ी हुई है। 'अवलोक' राष्ट्रकूट नामों के साथ पाया जाता है, कलचुरि-संज्ञाओं के साथ नहीं। अतः उस रामायण के पन्नों में अंकित गांगेयदेव उनके विचार में कलचुरि-कुलोद्भव नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त उनका यह भी तर्क है कि उक्त लेख में अंकित 'गौड़ध्वज' से ज्ञात होता है कि उस गांगेयदेव की किसी प्रकार की राजनीतिक प्रभुसत्ता गौड़ (बंगाल) पर थी। परन्तु उसका कोई प्रमाण नहीं है कि कलचुरि गांगेयदेव ने कभी बंगाल पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सफलता प्राप्त की थी। किसी अन्य सूत्र से भी यह प्रमाणित नहीं होता है कि कलचुरि गांगेयदेव ने तिरहुत में शासन कभी किया था। श्री सिलभ्यां लेवी के तर्क में श्री आर० पी० चन्द अपने ग्रन्थ 'गौड़ राज माल' (पृ० ४२) में एक और तथ्य का समावेश करते हैं। उनका विचार है कि जब मगध पर पालों का आधिपत्य था, और पश्चिम के प्रदेशों पर जेजाकभुक्ति के चन्देलों का, तब ऐसी दशा में यह विश्वास नहीं किया जा सकता है कि तिरहुत पर कलचुरि गांगेय का अधिकार रहा होगा।

उपर्युक्त तर्क के विपरीत अनेक विद्वानों का निश्चित मत है कि सम्बद्ध गांगेयदेव चेदि-राज कर्ण के पिता गांगेयदेव के अतिरिक्त कोई दूसरा व्यक्ति नहीं था (आर० डी० बनर्जी : मेम्वायर्स ऑफ दि आर्कियोलौजिकल सोसाइटी ऑफ बंगाल, ५, ७५-७६; एच० सी० राय : डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया, १, २१७; के० पी० जायसवाल :

जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, ९, ३००; ए० घोष; इण्डियन कलचर-७, ३)।

सिलभ्यां लेवी का यह तर्क कि अवलोकान्त विरुद अथवा विशेषण का व्यवहार केवल राष्ट्रकूटों के नाम के साथ पाया जाता है, पूर्णतया मान्य नहीं है। नान्यदेव कर्णाट क्षत्रिय थे। तिरहुत के राजा होने के साथ ही प्रतिष्ठित लेखक भी थे। उनके भाष्य में लेखक नान्यदेव को 'धर्मावलोक' विरुद से विभूषित किया गया है (क्वार्टर्ली जरनल ऑफ दि आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी, वॉल्यूम-१, पृ० ५६, यथा- '.....धर्मावलोक श्रीमन्नान्यपति विरचिते ....')। इससे यह प्रमाणित होता है कि अवलोकान्त उपाधि राष्ट्रकूटों के अतिरिक्त अन्यों के नामों के साथ भी व्यवहृत होती थी। उस उपाधि को अन्य उपाधियों की भाँति कोई भी नरेश अपने नाम के साथ जोड़ सकता था।

गांगेयदेव ने पाल-भूप महिपाल पर विजय प्राप्त की थी। सम्भवतः उस विजय के परिणाम में उसका आधिपत्य तिरहुत पर हो गया था। तिरहुत उस काल में बंगाल के पंच गौड़ों में से एक था। मिथिला बंगाल का एक भाग बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक अंग्रेजी साम्राज्य-काल में भी था। अतः मिथिला की विजय कर लेने के कारण गांगेयदेव को गौड़ का विजेता कहना अनुचित नहीं जान पड़ता है। महोबा के चन्देलों के उत्कीर्ण अभिलेख में उसे 'विक्रमादित्य' एवं 'विश्वविजेता' के विरुदों से विभूषित किया गया है (एपिग्राफिया इण्डिका, २, पृ० २१९, २२, १, पृ० १२२)। ये उच्च उपाधियाँ बिना बड़ी विजयों के प्राप्त नहीं की जा सकती थीं। इससे भी अनुमान किया जाता है कि उसकी विजय गौड़ राज्य के तिरहुत अंश पर हुई होगी। 'गौड़ध्वज' विरुद के व्यवहार का कारण सम्भवतः उपर्युक्त तर्क रहा होगा।

पिअवान-उत्कीर्ण अभिलेख के २४ वें श्लोक में गांगेयदेव की विशाल विजयों की सूची दी गयी है (कनिंगहम्स आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट- १२, ११३)। वह अभिलेख गांगेयदेव के एक प्रतिद्वन्द्वी चन्देल-नृपति का है। अतः उसपर विश्वास कर लेने में शंका का स्थान नहीं हो सकता है। उस सूची में तिरहुत का नाम स्पष्टतया अंकित नहीं किया गया है। किन्तु उस सूची के सन्दर्भ में अवलोकन करने पर उसकी तिरहुत पर प्रभुसत्ता मान लेने में सन्देह शेष नहीं रह जाता है। गांगेयदेव लगभग १०१९ ई० में कलचुरि सिंहासन पर बैठा और उसकी मृत्यु १०४० ई० में हुई। सारनाथ उत्कीर्ण शिलालेख में पाल-भूप का कलचुरि अथवा चेदिनृपति गांगेयदेव के साथ युद्ध का उल्लेख है (इण्डिया ऐन्टीक्वेरी, भाग-१४, पृ० १३९-४०)। गांगेयदेव कलचुरि से पाल-भूप महीपाल ने १०१९ और १०२६ ई० के बीच उसके द्वारा पूर्व में अधिकृत अपने राज्य का बड़ा भाग बनारस एवं तिरहुत अंचल का उद्धार किया था। उक्त सारनाथ-अभिलेख में विजेता पाल-भूप महीपाल द्वारा विक्रम संवत् १०८३ (१०२६ ई०) में कई धार्मिक भवनों की मरम्मत का भी वर्णन है जो उन अंचलों में पड़ते थे। सम्भवतः १०३२ ई० में महीपाल की मृत्यु के पश्चात् तिरहुत पुनः कलचुरियों के हाथ में चला गया। गांगेयदेव के पुत्र लक्ष्मीकर्ण के तनय यशःकर्ण का तिरहुत पर अधिकार १०७३ ई० तक बना रहा। सिलभ्यां लेवी के अनुसार नान्यदेव ने मिथिला की विजय १०९७ ई० में की थी। इस मान्यता का पृष्ठपोषण 'मुदितकुवलयाश्व' नाटक से होता है जिसका अनुमोदन विद्यापति की 'पुरुषपरीक्षा'

नामक पुस्तक से भी हुआ है। नान्यदेव के काल की एक पांडुलिपि से भी यही सिद्ध होता है जो उसी साल लिखी गयी थी (ली नेपाल-२, १९७,३; जरनल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग ९, पृ० ३०४)। अतः वह गांगेयदेव नान्यदेव का पुत्र कदापि नहीं हो सकता है। नान्यदेव के पुत्र का नाम गंगदेव था, गांगेयदेव नहीं।

बिहार राज्य के मुजफ्फरपुर जिले के ईमादपुर ग्राम से प्राप्त दो मूर्त्ति-अभिलेखों से, जो पाल-राज महीपाल के शासन के ४८ वें वर्ष में उत्कीर्ण किये गये थे, पता चलता है कि उसने उत्तर बिहार, विशेषतया तिरहुत का रिपुओं से पुनः उद्धार किया (इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, १४, १६५, टिप्पणी १७, भण्डारकर की सूची नं० १६२८)। इन अभिलेखों से भी सारनाथ-अभिलेख की पुष्टि होती है। यह घटना १०१९ एवं १०२६ ई० के बीच की है, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। ईमादपुर से प्राप्त मूर्ति-अभिलेखों से इतना तो पता अवश्य चलता है कि महीपाल के सिंहासनारोहण-काल में उसके पैतृक साम्राज्य की जो सीमाएँ रही हों, पर उसके शासन के ४८ वें वर्ष के पूर्व उसका आधिपत्य बिहार के गया, पटना तथा मुजफ्फरपुर (मिथिला अथवा तिरहुत) के जिलों पर अवश्य था। महीपाल प्रथम का शासनकाल ९८० से १०३० ई० तक रहा (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३३६)। काशी १०३३ ई० के पूर्व पुनः चेदियों (कलचुरियों) द्वारा अधिकृत हुई। गांगेयदेव के पुत्र लक्ष्मीकर्ण का काशी-ताम्रपत्र-अभिलेख १०४२ ई० में उत्कीर्ण किया गया था। उस अभिलेख से उपर्युक्त तथ्य का पता चलता है। उसके अनुसार वह नगरी उस काल में गंग के अधीन थी। इलियट उक्त गंग को कलचुरि गांगेयदेव मानते हैं (वॉल्यूम-२, पृ० १२३; इण्डियन कलचर-७, ७; डॉ० वी० पी० सिंह : डिकलाइन ऑफ दि किंगडम ऑफ मगध मगध ४१३; आर० सी० मजूमदार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल-१, १६५)। महीपाल के शासन के अन्तिम चरण में दाक्षिणापथ के पराक्रमी चोल-नृपाल राजेन्द्र चोल (राजराजदेव के पुत्र) ने उत्तर भारत पर चढ़ाई कर बंगाल के भिन्न-भिन्न अंचलों को लूटा, सुरों को जीता तथा कोशल को अपने अधीन बनाया (एपिग्राफिया इण्डिका, ९, २२९; राजेन्द्र चोल के शासन के १३ वें वर्ष में उत्कीर्ण तिरुमलई-अभिलेख, तिरुवा लंगाडु-अभिलेख-आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट- १९११-१२, पृ० १७१; एच० सी० राय : डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नौर्दर्न इण्डिया, १, ३१८; वी० सी० सेन : सम हिस्टोरिकल ऐसपेक्ट्स ऑफ इन्सक्रिप्ट्स ऑफ इन्सक्रिप्सन्स ऑफ बंगाल, ३९०; वी० पी० सिंह : डिकलाइन ऑफ दि किंगडम ऑफ मगध-४१४, आदि)। पर चोल की तलवार बंगाल तक ही चमक कर रह गयी। गंगा की दूसरी ओर उसका विजय-अभियान न बढ़ सका। अतः मिथिला का कोई हानि चोलों के द्वारा न हुई।

ऊपर अंकित पालों एवं कलचुरियों के अभिलेखों से पता चलता है कि उस काल में तीरभुक्ति (तिरहुत) की चचंला राजलक्ष्मी कभी पालों के प्रासाद में बैठकर और कभी कलचुरियों के क्रोड़ में लुक-छिप कर आँख-मिचौनी खेल रही थी। वह कभी पालों का राजप्रासाद त्याग कर चेदियों के चरणों पर लोटती और कभी उनसे अप्रसन्न होकर अपने पूर्व के अधीश्वर पालों के पास पहुँच जाती थी। यही उस काल की मिथिला की राजनीतिक स्थिति थी।

महीपाल प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र नयपाल सिंहासन का उत्तराधिकारी हुआ। उसके शासनकाल में काशी एवं तिरहुत पर फिर से चेदियों ने आधिपत्य स्थापित कर लिया। गांगेयदेव के पश्चात् उसके पुत्र लक्ष्मीकर्ण ने भी अपने पिता की नीति को अपनाकर बार-बार गौड़-भूपति के शासित प्रदेशों पर आक्रमण करना चालू रखा। उसने उत्तर भारत में अपनी शक्ति को सुदृढ़ कर पालों के मगध को बार-बार लूटा। तिब्बत से प्राप्त लेखों से पता चलता है कि लक्ष्मीकर्ण एवं नयपाल के बीच शत्रुता बहुत काल तक चलती रही। दोनों के बीच बहुकालव्यापी समर चालू था। आरम्भ में कर्ण को किंचित सफलता मिली थी। वह मगध के मध्य तक पहुँच गया। पर अन्ततोगत्वा पराजित होकर शत्रु सैन्य से घिर गया। उसकाल प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् दीपंकर श्री ज्ञान, उपनाम अतिस महाराज बोधगया में निवास कर रहे थे। उन्होंने लक्ष्मीकर्ण को अपनी शरण में अभय बना कर रखा। पश्चात् स्वयम् मध्यस्थता कर उन्होंने नयपाल एवं लक्ष्मीकर्ण के बीच संधि करवायी (जरनल ऑफ ऐशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९००, पृ० १९१-९३; बी० सी० सेन : सम हिस्टोरिकल ऐसपेक्ट्स ऑफ इन्सक्रिप्सन्स ऑफ बंगाल, ४०१)। परन्तु नयपाल की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र विग्रहपाल तृतीय के शासन-काल में कर्ण ने पूर्ववर्त्ती सन्धि की अवहेलना कर पुनः गौड़ के साथ संघर्ष आरम्भ कर दिया। किन्तु पाल-नृपाल के साथ संगर में फिर उसकी हार हुई। इस बार आचार्य अतिस के उद्योग से कर्ण ने अपनी पुत्री यौवनश्री का विवाह पाल-भूप के साथ करके युद्ध को समाप्त किया। उस वैवाहिक सम्बन्ध में परिणामस्वरूप दोनों ही राजकुलों में मैत्री सन्धि हुई (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३३७)। बहुत सम्भव है कि लक्ष्मीकर्ण की उक्त पराजयों के कारण पालों का तिरहुत एवं काशी पर पुनः आधिपत्य स्थापित हो गया हो। लक्ष्मीकर्ण के पुत्र यशःकर्ण ने भी उत्तर बिहार (तिरहुत) पर चढ़ाई की थी (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३४५)। इससे भी यह पता चलता है कि उस काल में कलचुरियों का आधिपत्य उत्तर बिहार पर नहीं था।

आचार्य श्री० आर० के० चौधरी, उप आचार्य, गणेशदत्त महाविद्यालय, बेगूसराय ने मुंगेर जिला के बेगूसराय (साम्प्रतिक बेगूसराय जिला-नगर) से १६ मील उत्तर नौलागढ़ ग्राम में दो पाल-उत्कीर्ण-अभिलेखों का पता लगाया है। उन अभिलेखों से उस काल मिथिला में पालों का शासन प्रमाणित होता है (गणेशदत्त, कालेज, बेगूसराय, बुलेटिन सीरीज नं० ११-२)। यह अभिलेख डॉ० डी० सी० सरकार द्वारा 'जरनल ऑफ बिहार रिसर्च सोसाइटी'-३७, भाग ३-४, पृ० १-४ में संकलित एवं सम्पादित हुआ है। विग्रहपाल तृतीय के वनगाँव के ताम्रपत्र अभिलेख से भी इसकी पुष्टि होती है। वह ताम्रतत्र-अभिलेख उसके राजकाल के २४वें वर्ष में प्रस्तुत किया गया था। उसमें एक मूर्त्ति के निर्माण का उल्लेख है। उस देव-विग्रह के मूर्त्याधार पर वह अभिलेख उत्कीर्ण बताया गया है। उक्त-वनगाँव-ताम्रपत्र की खोज डॉ० डी० सी० सरकार ने की है, और उन्होंने ही उसका सम्पादन भी किया है (डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २२१-२२)।

'रामचरित' का भाष्य (१, ९) भी बताता है कि पाल-भूपति विग्रहपाल तृतीय ने कलचुरि-नरेश लक्ष्मीकर्ण को युद्ध में पराजित किया था (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला-पृ० २२१)। उपर्युक्त उल्लेखों से पता चलता है कि यद्यपि चेदियों (कलचुरियों)

के आक्रमण बार-बार बंगाल एवं बिहार पर हो रहे थे, पर सभी समय उन्हें पाल-शक्ति से टकरा कर पीछे हटना पड़ता था। उन आक्रमणों के कारण पालों की शक्ति क्षीण होती गयी और उसके परिणाम में केवल बंगाल में ही नहीं, बिहार में भी उनके राजनीतिक महत्त्व में कमी आती गयी। परन्तु इतना होने पर भी उनका मिथिला पर आधिपत्य रामपाल के शासनकाल तक अक्षुण्ण बना रहा। नौलागढ़ के निकट ही एक रजतमुद्रा की प्राप्ति हुई थी। डॉ० अल्तेकर की राय में वह विग्रहपाल तृतीय के समय की थी (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २२१)। मिथिला के भिन्न-भिन्न भागों में अनेक पालकालीन मूर्तियाँ बिखरी पायी जाती हैं, जिनकी ओर अब तक जनता का ध्यान आकृष्ट नहीं हो पाया है। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि मिथिला में पालों का शासन लगातार अवाधगति से चालू था। बाहरी आक्रामक आते थे और कुछ काल के पश्चात् लूट-पाट मचा कर लौट जाते थे।

विग्रहपाल के तीन पुत्र थे–(१) महीपाल द्वितीय, (२) शूरपाल द्वितीय, तथा (३) रामपाल। रामपाल पतनोन्मुख पाल-कुल में प्रतापी नरेश हुआ। ताम्रपत्र पर अंकित 'कुविजा-मातम' की पांडुलिपि प्राप्त हुई थी (शास्त्री कैटलाग-५४)। ग्रन्थ के अन्त में पुस्तक-प्रणेता एवं उसके निर्माण-काल आदि के परिचय में उल्लेख है कि वह प्रतिलिपि नेपाल के अधिराट् बौद्ध नृपाल रामपाल देव के शासनकाल में उतारी गयी (जायसवाल : क्रोनोलॉजी ऐंड हिस्ट्री ऑफ नेपाल-९९)। उसमें यह भी उल्लेख है कि उस प्रतापी भूपति ने मिथिला एवं आसाम का शत्रु से उद्धार किया। वैद्यदेव का कमौली का ताम्रपत्र-अभिलेख भी इस पर प्रकाश डालता है कि रामपाल ने जनक के देश (मिथिला) को प्राप्त कर अपनी कीर्त्ति को संसार में प्रसारित किया (एपिग्राफिया इण्डिका, २, ३५५, श्लोक-४)। ताम्र-पत्र का अभिलेख निम्नांकित है :–

'यस्योर्ज्जस्वल-पौरुषस्य नृपतेः श्री रामपालोऽभवत्
पुत्रः पालकुलाधिशीतकिरतः साम्राज्यविख्यातिभाक्।
तेने येन जगत्त्रये जनकभूलाभाद् यथावद्यशः
क्षोणीनायक्र-भीमरावतवधाद्युद्धार्णवोल्लंघनात्॥'

पर इन श्लोकों में श्लेषार्थ निहित है। यहाँ पालवंशीय राजा रामपाल और रामायण के नायक कौशलकिशोर भगवान् राम, दोनों का इस वर्णन से बोध होता है। उसी प्रकार 'जनकभू' का अर्थ राजा जनक की भूमि तथा पिता की भूमि दोनों ही होता है।

रामपाल ने भीम को पराजित किया था। वह कैवर्त्त कुल का नृप था। उसने रामपाल के पिता विग्रहपाल तृतीय से वारेन्द्र जीत कर उसे स्वायत्त कर लिया था। पर उसका मिथिला पर अभी अधिकार हुआ अथवा नहीं, इसका पता नहीं है। उसके मिथिला पर अधिकार होने के प्रत्यक्ष प्रमाण का अभाव है। अतः इस श्लोक से यही निष्कर्ष निकालना श्रेयस्कर एवं उचित होगा कि रामपाल ने भीम का पराभव कर उसके द्वारा अपहृत अपने पिता की भूमि वारेन्द्र राज्य का उद्धार किया।

परमार भूप भोज के भ्राता उदयादित्य के उत्कीर्ण अभिलेख से पता चलता है कि कलचुरि गांगेय के पुत्र लक्ष्मीकर्ण ने शौर्यशील सागर की उत्तुंग तरंगों के समान सारे

क्षितितल को प्लावित कर दिया था । उसकी महत्त्वाकांक्षा सम्पूर्ण भारत की जय करने की थी । पर ऊपर बताया गया है कि उस चेदि भूप की हार दो-दो बार पालनृपतियों के सामने हुई । जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी (१०, ३९, ३) में अंकित किया गया है कि उसका (चेदि नृपति लक्ष्मीकर्ण का) वाराणसी एवं मिथिला पर अधिकार अडिग बना रहा । उसके पुत्र कथा-कर्ण (१०७३) का भी सम्भवतः अधिकार उन प्रदेशों पर था । पर ईमानपुर, नौलागढ़ एवं वनगाँव से प्राप्त अभिलेखों से, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, तिरहुत एवं काशी पर लक्ष्मीकर्ण एवं यशःकर्ण के आधिपत्य का खंडन होता है ।

पालभूप महीपाल के काल में ही विदेशी मुसलमानों ने भारत में प्रवेश कर स्थानीय हिन्दू शक्तियों के साथ शक्ति-संतोलन आरम्भ कर दिया था । उस काल यद्यपि उनका प्रभाव विशेषकर पश्चिमोत्तर भारत पर ही प्रकट रूप में खड़ा पड़ा था, पर शेष उत्तर भारत उससे अछूता न रहा । गजनी का सुलतान महमूद भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर खड़ा हाथ में नंगी तलवार लिये देश की सुख-शान्ति को चुनौती दे रहा था । पर भारत की समर्थ राजशक्तियों को, जिनमें पाल, राष्ट्रकूट प्रतिहार, चन्देल, चेदि, चालुक्य, चोल, पम्पार आदि थे, आपसी झगड़े से अवकाश नहीं था । राष्ट्र विकेन्द्रित था । चन्द्रगुप्त मौर्य, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) एवं हर्षवर्द्धन जैसे भारत को एक सूत्र में बाँधनेवाले सम्राट् की कमी हो चुकी थी । यत्र-तत्र नयी-नयी राज-शक्तियाँ उठ खड़ी हुई थीं और दिनानुदिन खड़ी होती जा रही थीं । परिणामतः बिहार एवं बंगाल में अनेक नये राजवंशों की स्थापना हुई, जिनमें मिथिला के कर्णाट राजवंश तथा बंगाल के सेन राजकुल उल्लेखनीय हैं ।

चालुक्य-भूप सोमेश्वर प्रथम तथा उसका पुत्र विक्रमादित्य षष्ठ

कश्मीरी कवि विल्हण, 'विक्रमांकचरित' महाकाव्य के रचयिता के अनुसार चालुक्य भूप सोमेश्वर प्रथम आहव मल्ल (१०४३-६८ ई०) ने मालवा में परमारों की राजधानी धारानगरी को विनष्ट कर दिया । भोज को मालवा त्याग कर अन्यत्र भागना पड़ा । त्रिपुरी (डाहल) के कलचुरि-राज कर्ण की शक्ति को भी उसने चकनाचूर कर दिया (इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली- ७, ६८३) । उक्त भोज के विषय में कहा गया है कि किसी समय उसके राज्य का विस्तार कैलाश पर्वत तक हो गया था (एपिग्राफिया इण्डिका १, २३७-३८) । इससे यह संभव प्रतीत होता है कि कभी उसका आधिपत्य तिरहुत पर भी अवश्य रहा होगा । मिथिला में आज भी भोज से सम्बन्धित अनुश्रुतियाँ नर-नारियों के बीच प्रचलित हैं । पर कहा जाता है कि कलचुरि कर्ण ने शीघ्र उसको वहाँ से बहिष्कृत कर दिया था । पर भोज का नाम कहानियों के रूप में अपढ़ जनता भी जानती है । कर्ण का नाम केवल इतिहास के पन्नों में पाया जाता है ।

सोमेश्वर प्रथम आहव मल्ल के पुत्र विक्रमादित्य षष्ठ ने अपने पिता के जीवनकाल में ही उत्तर भारत में विजय-यात्रा कर बंगाल, आसाम आदि प्रदेशों को जीता था (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३६९) । सिंहासन पर बैठने के बाद उसने पुनः अपना विजय-अभियान आरम्भ किया । उसने १०९८ ई० के एक लेखानुसार नर्मदा नदी

को पार कर उसकी दूसरी ओर के भूपतियों को जीता। उसी वर्ष के दूसरे लेख से इसकी पुष्टि होती है कि विक्रमादित्य षष्ठ उस काल नर्मदा नदी के उत्तर अपने साम्राज्य में था (इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली-७, ६८२-८३)। इससे ज्ञात होता है कि उपर्युक्त दोनों ही पिता-पुत्र कर्णाटक-नृपतियों ने ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उत्तर भारत की राजनीति में महत्त्वपूर्ण चहल-पहल एवं तहलका उत्पन्न कर दिया था। उपर्युक्त प्रदेशों पर की विजयों के अतिरिक्त उन्होंने नेपाल पर भी अपनी प्रभुसत्ता स्थापित कर ली थी, इसका पता उस कुल के अभिलेखों से लगता है। सोमेश्वर तृतीय विक्रमादित्य षष्ठ का पुत्र था। उसके उत्कीर्ण अभिलेख में यह वर्णन किया गया है कि उसने अपने चरण आन्ध्र, द्रविड़, मगध एवं नेपाल के राजाओं के नतमस्तक पर स्थापित किये (इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, ७, ६८३; जरनल ऑफ दि बाम्बे ब्रांच ऑफ दि रॉयल ऐशिएटिक सोसाइटी, ११, २६८)। उसके उत्तरभारत के विजय-अभियान अथवा सामरिक संघर्षों के विषय में इतिहास इससे अधिक नहीं बताता है। उसके पिता एवं पितामह के काल में कर्णाट वंशीय चालुक्यों की चढ़ाई उत्तर भारत पर हुई थी। उनके वंशज एवं उत्तराधिकारी होने के नाते उन विजयों का गौरव उसने अपने प्रशस्तिवाचक अभिलेख में अपने लिए भी सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया हो, यह भी संभव हो सकता है (इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, ७, ६८३)। किन्तु यह भी सही है कि नेपाल, बंगाल एवं बिहार में उस समय कर्णाट कुल के कतिपय शासक शासन कर रहे थे। सम्भवतः वे सब विक्रमादित्य षष्ठ के आक्रमण-काल में उसके साथ आये, और उसकी विजयों के पश्चात् उसके प्रतिनिधि शासक के रूप में उन विजित स्थानों में शासन करने लग गये। चालुक्य-राज सोमेश्वर तृतीय के पदाधिकारी वर्ग स्वभावतः उन शासकों को सम्राट् सोमेश्वर के अधीन मानते थे (आर० सी० मजूमदार : ऐंन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३९८)। आन्ध्र एवं तामिल देश पर की विजय का जो उल्लेख उसके उक्त अभिलेख में किया गया है, वह उसके चोलों के साथ युद्ध के विषय में है, जिसमें पहले उसे थोड़ी सफलता मिली, पर पीछे ११३४ ई० के पूर्व पूर्वीय चालुक्य-राज्य से उसे हाथ धोना पड़ा।

शक्तिशाली कलचुरि-राज कर्ण एवं प्रतिभावान् प्रतापी पम्मार-राज भोज के चालुक्य राज सोमेश्वर प्रथम आहव मल्ल के द्वारा पराभव के पश्चात् उत्तर भारत की राजनीति में स्थायी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने के लिए कर्णाटों का मार्ग प्रशस्त हो गया। पाल एवं प्रतिहार आपस में संघर्ष कर निर्जीव से हो गये थे। अब उनमें धर्मपाल और देवपाल एवं वत्सराज तथा नागभट्ट द्वितीय जैसे पराक्रमी वीर नृपतियों का अभाव था। प्रादेशिक शासकों ने जहाँ-तहाँ अपने को स्वतन्त्र घोषित कर छोटे-छोटे अनेक दुर्बल राज्यों की स्थापना कर ली थी। बाहरी आक्रमणों से उत्तर भारत की जनता बेहाल हो रही थी। ऐसे आक्रमण लगातार हो रहे थे। सारे उत्तर भारत की स्थिति डँवाडोल थी। जनता बेचैन थी, और चाहती थी कि शक्तिशाली राज्य की स्थापना हो, जो उनकी नित्य की लूट-खसोट एवं अराजकता से रक्षा करें। कर्णाटों का आगमन सोमेश्वर प्रथम के काल से ही उत्तर बिहार में आरम्भ हो गया था। उनमें से विक्रमी वीर अपने लिए शक्तिशाली राज्य की स्थापना करने के हेतु सचेष्ट एवं प्रयत्नशील हुए। यह ध्यान देने का विषय है कि जिस काल में कर्णाट देशीय सेन-कुल के विजयसेन बंगाल में अपनी राजसत्ता स्थापित करने

के हेतु संघर्ष कर रहा था, ठीक उसी समय दूसरे कर्णाट-कुल का नान्यदेव मिथिला एवं नेपाल में अपने लिए एक नये राज्य की स्थापना के हेतु व्यग्र था । दोनों को सफलता मिली भी । गौड़ (बंगाल) में सेन-राजवंश की स्थापना हुई और मिथिला में नान्यदेव के सिमराओं राजकुल की । इसी समय के लगभग कन्नौज में चन्द्रदेव गहड़वाल ने गहड़वाल अथवा राठौर राजकुल की स्थापना की । गांगेयदेव, लक्ष्मीकर्ण तथा मालवा-भूप भोज ने अपने जीवन-काल में राजनीतिक दस्यु के रूप में कान्यकुब्ज के केन्द्र राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था । उसके बर्बाद करने में चन्देल धंग, गंड एवं विद्याधर का हाथ भी कम न था । मुसलमानों के आक्रमण भी उस पर हुए ही । कान्यकुब्ज का राजनगर महोदयश्री उस समय निष्प्राण-सा हो रहा था । प्रतिद्वन्द्वी शक्ति कलचुरिकर्ण एवं परमार भोज के अभाव में चन्द्रदेव को वहाँ अपना आधिपत्य स्थापित कर लेने में कोई कठिनाई न हुई । जनता ने तीनों स्थानों में तीनों राजकुलों की स्थापना का हृदय से स्वागत किया । कर्णाट-देशीय चालुक्य नृपति सोमेश्वर प्रथम के द्वारा विक्रमशील कर्ण एवं भोज के पतन के परिणामस्वरूप तीन नये राजकुलों की नींव कन्नौज, मिथिला एवं गौड़ (बंगाल) में पड़ी (इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, ७, ६८४) ।

इतिहास-लेखक सिलभ्यां लेवी ने स्पष्ट शब्दों में अंकित किया है कि नान्यदेव तिरहुत के सिंहासन पर १०९७ ई० में आसीन हुआ (ली नेपाल, २, १९७) । 'मुदित कुवलयाश्व' नामक नाटक में भी इसका उल्लेख है । विद्यापति के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पुरुष परीक्षा' के एक स्मारक छन्द से भी इसकी पुष्टि होती है । नान्यदेव के शासनकाल में १०९७ ई० में प्रणीत एवं लिखित एक पांडुलिपि से भी उपर्युक्त उल्लेख का समर्थन होता है (जरनल ऑफ दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, ९, ३०४; ली नेपाल, २, १९७, पृ० ३)। श्री के० पी० जायसवाल का अनुमान नान्यदेव के राज्यारोहण के काल के विषय में दूसरा है । उनके विचार में उसके तिरहुत के सिंहासन पर बैठने का अब्द १०९३ ई० के लगभग है (जरनल ऑफ दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, ९, ३०७-०८, १०, ४०-४१) । पर उनका यह विचार केवल अनुमान पर आधारित है । उसके लिए कोई ठोस प्रमाण नहीं है । सिलभ्याँ लेवी की मान्यता का अनुमोदन दो लेखों से होता है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है ।

नान्यदेव के तिरहुत की गद्दी पर बैठने के काल के पूर्व चन्द्रदेव महोदयश्री के सिंहासन पर आसीन हो चुका था । पूर्व में विजय सेन की आक्रामक कार्यवाहियों के शमन करने के प्रयत्न में वह तल्लीन था (आर० एस० त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, ३०३)। उसकी दृष्टि तिरहुत की ओर नहीं थी । जायसवाल महोदय का यह अनुमान, कि तिरहुत के सिंहासन पर प्रबल नान्यदेव आसीन था, इस कारण चन्द्रदेव अयोध्या से आगे नहीं बढ़ा, मान्य नहीं है । अभिलेखों के अनुसार चन्द्रदेव का राज्य कान्यकुब्ज के अतिरिक्त दिल्ली, काशी एवं अयोध्या के प्रदेशों पर भी था । उसने अपने को दिल्ली का उद्धारकर्त्ता बताया था । लार ताम्रपत्र-अभिलेख विक्रम सम्वत् १२०२ (११४५ ई०) में प्रस्तुत हुआ था । उसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि चन्द्रदेव के वंशज विक्रमी गोविन्दचन्द्र गहड़वाल ने अपनी विजय-यात्रा मुद्‌गिरि (मुंगेर) तक की थी । मिथिला-पति नान्यदेव के लिए गोविन्दचन्द्र

का वह अभियान निश्चय ही चिन्ता का विषय हुआ होगा । चन्द्रदेव को कन्नौज के सिंहासन पर बैठने के कई वर्ष पश्चात् तक अपनी स्थिति एवं शासन को सँभालने तथा सुदृढ़ करने में ही व्यतीत हुआ होगा । वही दशा नान्यदेव की भी रही होगी । आरम्भ काल में दोनों में से किसी को अपने अर्जित राज्य की प्रतिरक्षा के अतिरिक्त अन्य आक्रामक योजना पर विचार करना शक्य नहीं था । अतः श्री के० पी० जायसवाल का यह विचार कि चन्द्रदेव के कन्नौज-सिंहासन पर बैठने के पूर्व तिरहुत की गद्दी पर नान्यदेव जैसा पराक्रमी नरेन्द्र आसीन हो चुका था, इसलिए चन्द्रदेव की विजय-यात्रा आगे तक न हो सकी, अन्यथा वह तिरहुत को भी स्वायत्त करके ही दम लेता, सारहीन प्रतीत होता है । यह निर्विवाद सिद्ध है कि चन्द्रदेव के कन्नौज की गद्दी पर बैठने के पश्चात् कर्णाट क्षत्रिय कुलोद्भव नान्यदेव ने अपने राजकुल की प्रतिष्ठा मिथिला में की । पर इसमें भी सन्देह नहीं है कि गहड़वाल, सेन एवं कर्णाट नान्यदेव के राजकुलों की प्रतिष्ठा लगभग एक ही समय एक दशक के अन्दर क्रमशः कन्नौज, बंगाल एवं तिरहुत के नान्यपुर और पीछे सिमराओं में हुई थी ।

षष्ठ अध्याय

कर्णाट अथवा सिमराओं राजकुल (१०९७-१३२४ ई०)

कर्णाट अथवा सिमराओं राजकुल का संस्थापक नान्यदेव अथवा नान्युपदेव सूर्यवंशीय कर्णाट क्षत्रिय था। मिथिला में राज्य-स्थापना के पूर्व मिथिला में बस कर वह पूर्णतः वहाँ का अधिवासी बन चुका था। विदेह राजवंश के राजतान्त्रिक शासन के पतन तथा साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षी पितृहन्ता मगध-सम्राट् अजातशत्रु (बिम्बसार का पुत्र) के वैशाली के लिच्छवियों के संघ में अपने कूटनीति पारंगत ब्राह्मण मन्त्री वर्षकार (वस्साकार) द्वारा छल-छद्म से फूट और द्रोह उत्पन्न करने तथा अन्त में अपनी सैन्य-शक्ति से उनका विनाश कर वहाँ राजतन्त्र स्थापित करने एवं वैशाली राज्य के अधिवासियों को दासता शृंखला में जकड़ लेने के लगभग चौदह सौ वर्षों की लम्बी अवधि के पश्चात् विदेह एवं वैशाली जनपद की अपने प्रतापी पुत्र कर्णाट क्षत्रिय-कुलोद्भव नान्यदेव के नेतृत्व में एक बार पुनः स्वतन्त्रता प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसकी शताब्दियों की दासता का अवसान हुआ, और उससे उसको मुक्ति मिली। राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास के हेतु पुनः मिथिला को अवकाश मिला, और वह सुखमय अवस्था उसकी लगभग सवा दो सौ वर्षों तक बनी रही। मिथिला में सिमराओं अथवा कर्णाट राजवंश की नींव से एक नये युग का श्रीगणेश हुआ, और वह युग राज्य-स्थापना एवं राज्य-विस्तार का था (जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, ९,३००)। आगे चलकर इस सिमराओं राजकुल का साम्राज्य नेपाल में भी स्थापित हुआ। इस कुल के प्रथम नृपति नान्यदेव ने १०९८ में नेपाल की विजय की और १११८ ई० तक उसकी तीनों राजधानियों (पाटन, काठमांडू एवं भाट्गाओं) पर अधिकार कर सारे नेपाल का वह अधिराट् बना रहा (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३७५)।

कर्णाट-कुल का परिचय

पूर्व में इसका उल्लेख किया जा चुका है कि कर्णाट चालुक्य-सम्राट् सोमेश्वर प्रथम आहव मल्ल (१०४३-१०६८ ई०), उसके प्रथम पुत्र सोमेश्वर द्वितीय तथा द्वितीय प्रतापी पुत्र विक्रमादित्य षष्ठ के उत्तर भारत के विजय-अभियानों के साथ कर्णाट से पधारे हुए अनेक सरदार चालुक्य-सम्राट् के प्रतिनिधि शासक के रूप में नेपाल, बंगाल एवं बिहार में बस कर अपने-अपने क्षेत्र में शासन कर रहे थे। यह भी अंकित किया जा चुका है कि सोमेश्वर प्रथम के द्वारा शक्तिशाली कलचुरि-नृप कर्ण एवं परमार-भूप भोज के पराभव के पश्चात् कर्णाटों के लिए उत्तर की डँवाडोल राजनीतिक स्थिति में स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना के हेतु, प्रबल प्रतिरोधक के अभाव में, मार्ग प्रशस्त हो गया था, और ऐसी स्थिति से लाभ उठाकर उत्तर भारत के पूर्वोक्त अंश में दो कर्णाट राज्यों की स्थापना हुई, तथा मध्य के कनौज में गढ़वालों के साम्राज्य की; जिसका संस्थापक चन्द्रदेव गहड़वाल (राठौर) भूप था। उत्तर भारत के पूर्वीय भाग में कर्णाट क्षत्रियों के जो दो राज्य ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्थापित हुए, उनमें एक का संस्थापक सामन्त देव अथवा सामन्त सेन था, तथा दूसरे का नान्यदेव। ग्यारहवीं शती के मध्य में जब दाक्षिणात्य के कल्याणी

के चालुक्य-भूप विक्रमादित्य षष्ठ ने बंगाल पर आक्रमण किया, तब उसके एक सेनापति सामन्त देव अथवा सामन्त सेन ने उड़ीसा में सुवर्ण रेखा नदी के किनारे काशीपुर नामक नगरी में एक राजवंश की स्थापना की। सामन्त सेन का वंश सेन-वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वह चन्द्रवंशी कर्णाट क्षत्रिय था (देवपारा-अभिलेख, एपिग्राफिया इण्डिका, १, ३०५; डॉ० राजबली पांडेय : प्राचीन भारत, पृ० ३२३)। पश्चिम बंगाल के राधा में पीछे सेन आ बसे। उनमें पहला प्रतापी राजा विजय सेन हुआ, जिसने पाल-कुल के भूपति मदनपाल को पराजित कर बंगाल जीत लिया। उसने आसाम एवं मिथिला तक की विजय-यात्रा की, और सम्भवतः वह मगध भी पहुँचा, जिसके कुछ भाग पर उसके पश्चात् भी पालों का शासन बना रहा (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३४०)। विजय सेन की मिथिला-विजय-यात्रा नान्यदेव के शासनकाल में हुई थी, ऐसा देवपारा-अभिलेख के वर्णनों से ज्ञात होता है (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २२९; एपिग्राफिया इण्डिका, १,३०७; इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, ७, ६८)। विजय सेन के पौत्र लक्ष्मण सेन के मधाई नगर-दानपत्र में सामन्त सेन को 'कर्णाट क्षत्रिय कुल-शिरोमणि' के विरुद से विभूषित किया गया है (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, ५, न्यू सीरीज, १९०९, पृ०४७१)। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सेन कुलीय क्षत्रियों ने दक्षिण भारत के कर्णाट से आकर उड़ीसा के काशीपुर होते हुए पश्चिम बंगाल के राधा में आकर निवास किया था। विजय सेन के पुत्र वल्लाल सेन का नैहारी दान-पत्र (एपिग्राफिया इण्डिका, १४, १५९) भी लगभग उपर्युक्त कथन के समर्थन की ओर ही प्रकारान्तर से संकेत करता है। उपर्युक्त उल्लेखों से यह साबित होता है कि बंगाल का सेन कुल भी कर्णाट क्षत्रिय था।

बंगाल के सेनों के समान ही मिथिला के नान्यदेव का कुल भी दक्षिण भारत के कर्णाट से आये क्षत्रियों का कुल था। नेपाल के लेखों एवं वहाँ के राजाओं की वंशावलियों के वर्णन से भी उपर्युक्त मान्यता का समर्थन होता है। छन्दबद्ध ग्रन्थ 'भारत नाट्यशास्त्र' के भाष्य (अध्याय-१८-१९) में नान्यदेव को 'कर्णाट-कुल-भूषण' लिखा गया है। उस ग्रन्थ के प्रणेता स्वयं नान्यदेव ही थे। उक्त पुस्तक में गान-विद्या के सभी पहलुओं पर विशद विवेचना की गयी है (क्वार्टर्ली जरनल ऑफ दि आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी, १, ५५, ५६)। नान्यदेव ने उस पुस्तक में अपने भिन्न-भिन्न नामों एवं विरुदों से संगीत शास्त्र से सम्बन्धित गांधर्व विद्या के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर विचार प्रकट किया है। उस ग्रन्थ में उसके जो नाम तथा विरुद आये हैं, वे हैं– ''नान्यपति', 'नान्य', 'महा-सामन्ताधिपति धर्म्मावलोक', धर्माधारभूपति' 'मिथिलेश' तथा 'कर्णाट-कुल-भूषण' आदि। पुस्तक के अध्यायों के अन्त में लेखक का परिचय दिया गया है, जिसमें अंकित किया गया है–'इति महासामन्ताधिपति धर्मावलोक श्री मन्नान्यपति विरचिते'। श्री के० पी० जायसवाल ने नान्यदेव के नाम के विषय में अपना विचार व्यक्त किया है। उनके मतानुसार 'नान्य' संस्कृत मूल का शब्द नहीं है। उसको उन्होंने द्रविड़ मूल के 'नन्निय' शब्द का संस्कृत रूप माना है, जिसका अर्थ कनारी भाषा में होता है स्नेहास्पद एवं सच्चा। दशमी शताब्दी के एक उत्कीर्ण अभिलेख में किसी राजकुमार गंग को (नान्यदेव के पुत्र गंग को नहीं) नन्निय गंग अंकित किया गया है (जरनल ऑफ बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, ९,

३०६; एपिग्राफिया इण्डिका, ३, १८३; सिलभ्यां लेवी : ली नेपाल, २, २०१)। यह गंग भी कर्णाटक देश का एक राजकुमार था। नान्यदेव ने 'भारत नाट्यशास्त्र' के भाष्य के ग्यारहवें अध्याय में विशेष कर कर्णाट ढंग के सभी देशी रागों का वर्णन किया है। इससे भी सिद्ध होता है कि उस ग्रंथ के रचयिता मिथिलापति नान्यदेव का आदि निवास-स्थान कर्णाटक देश था (क्वार्टर्ली जरनल ऑफ दि आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी, १, ६२)। मिथिला में उसने वहाँ की नागरिकता स्वीकार कर अपने राज्य की स्थापना की थी, जिससे (कर्णाट अथवा सिमराओं राजवंश की स्थापना से) वहाँ एक नये युग का आरम्भ हुआ (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, ५, न्यू सीरीज, १९०९, पृ० ४७१)।

अब प्रश्न यह उठता है कि दक्षिण को छोड़ कर सुदूर स्थित मिथिला में कर्णाट क्षत्रिय आकर क्यों और कैसे बस गये ? इस विषय में विद्वानों की भिन्न-भिन्न राय है। के० पी० जायसवाल के विचारानुसार कर्णाटक-निवासी, जो पूर्व उत्तर में आकर बस गये थे, वे या तो राजेन्द्र चोल की सेना के सदस्य थे अथवा कर्णाटों के मित्र त्रिपुरीश कर्ण (गांगेयदेव के पुत्र) के सैनिक सरदारों में से थे। कर्ण ने सारे मिथिला को १०४० एवं १०६० के बीच रौंद डाला था। वह मिथिला का सम्राट् भी था। षष्ठ विक्रमादित्य का नागपुर-प्रशस्ति-अभिलेख बताता है कि कर्णाटों ने कलचुरि कुल के भूपति कर्ण की भरपूर सहायता की थी। दोनों की सम्मिलित शक्ति ने अपार पाराबार की बाढ़ के समान सम्पूर्ण मालवा को प्लावित कर दिया (एपिग्राफिया इण्डिका, २, १८५)। सम्बद्ध अभिलेख से कर्णाटों एवं चेदियों (कलचुरियों) के बीच राजनीतिक मैत्री-सम्बन्ध का पता चला है। इस प्रकार की मित्रता के कारण कर्णाट-सरदारों का कलचुरि-राज कर्ण का सेना के साथ उत्तर भारत के पूर्व तथा उत्तर के प्रदेशों पर आक्रमणों के समय उपस्थित रहना एवं विजय-अभियान में भाग लेना असम्भव नहीं कहा जा सकता है। राजेन्द्र चोल की सेना का अवशेष पूर्व के प्रदेशों में बसे हुए कर्णाटों को बताना उचित नहीं जँचता है। चोल की चढ़ाई बंगाल तक ही सीमित रही थी। उसके मिथिला में पदार्पण करने का प्रमाण इतिहास नहीं देता है। अतः मिथिलेश नान्यदेव का चोलों के साथ मिथिला आना सम्भव नहीं प्रतीत होता है।

रामकृष्ण कवि राष्ट्रकूटों को कर्णाट मूल का मानते हैं। उनके विचारानुसार वे दक्षिण से उत्तर तब आये, जब दशमी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वहाँ (दक्षिण में) उनकी शक्ति का ह्रास हुआ। उन सबों ने उत्तरापथ में प्रवेश कर पूर्व दिशा में अपने राज्य स्थापित किये, तथा वहाँ वे तब तक शासन करते रहे, जब तक बारहवीं एवं तेरहवीं शताब्दियों में मुसलमानों के अनवरत आक्रमणों के कारण विस्थापित न हो गये (क्वार्टर्ली जरनल ऑफ दि आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी, १, ५७)। परन्तु इस विचार की आधारशिला सुदृढ़ नहीं प्रतीत होती है। वह तथाकथित राष्ट्रकूट-सह कर्णाटों का अभियान और दिशाओं में न होकर उत्तर में ही क्यों हुआ, इस प्रश्न का समाधान उनके कथन से नहीं होता है। अतः उनका यह विचार मान्य नहीं जँचता है। सिलभ्यां लेवी की इस विषय की मान्यता कि उत्तर भारत में कर्णाट-शक्तियों के उदय का सम्बन्ध कर्णाट-सम्राट् चालुक्य वंशीय सोमेश्वर प्रथम एवं उसके पराक्रमी उत्तराधिकारी विक्रमादित्य षष्ठ के विजयपूर्ण सैनिक अभियानों से था, विशेष संतोषप्रद प्रतीत होती है। इस तथ्य की संपुष्टि उस काल

के अनेक लेखों से भी होती है (आर० सी० मजूमदार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, १, २०९; इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, ७, ६६३)। विह्लण कवि रचित प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य-ग्रन्थ 'विक्रमांकदेव चरित' से पता चलता है कि चालुक्य-सम्राट् सोमेश्वर प्रथम (१०४०-१०६९ ई०) ने मालवा के परमारों की राजधानी धारानगरी पर भयंकर आक्रमण कर वहाँ के प्रसिद्ध राजा भोज को पलायन के हेतु बाध्य किया। उसके विक्रमी पुत्र विक्रमादित्य षष्ठ ने गौड़ तथा कामरूप को जीत कर उत्तर भारत में दो बार विजय-अभियान १०८८-८९ एवं १०९८ ई० में किया। इससे भी प्रमाणित होता है कि राष्ट्रकूटों तथा चालुक्यों के उत्तर भारत पर बार-बार आक्रमणों ने कर्णाटों को उत्तर भारत में बस जाने का अवसर प्रदान किया था। वे विशेषकर मगध और बंगाल में आ बसे थे।

राष्ट्रकूटों एवं चालुक्यों के आक्रमण उत्तर भारत पर बराबर होते थे। इसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। उन आक्रमणों के कारण ही कर्णाटों को उत्तर भारत में आकर निवास करने का अवसर प्राप्त हुआ। वे एक बार ही वहाँ आकर बस गये, ऐसी बात नहीं है। उत्तर भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में समय-समय पर धीरे-धीरे आकर बसते गये, इसका साक्ष्य इतिहास देता है। क्षेमेश्वर के 'चण्ड कौशिक' नाटक में अंकित है कि पाल-सम्राट् महीपाल ने बंगाल पर आक्रमण करनेवाले एक कर्णाट भूप का रण-पराभव किया था। इस विषय का वर्णन निम्नांकित रूप में किया गया है–

"यः संश्रित्य प्रकृतिगहनामार्य चाणक्यनीतिं, हत्वा नन्दान् कुसुमनगरं चन्द्रगुप्तो जिगाय। कर्णाटत्वं ध्रुवमुपगतानुद्धातानेव हन्तुं दादैपीद्यः स पुनरभवत् श्रीमहीपालदेवः"॥ (श्याम नारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत पृ० ६०; आर० डी० बनर्जी : बंगला इतिहास, प्रथम संस्करण, १, पृ० २२३)। वह कर्णाट कुलीय नृपति सामन्त सेन अथवा विजय सेन रहा होगा। बंगाल में सेन कुल के संस्थापक भूपतियों ने अपने अभिलेखों में अपने को कर्णाट-कुल-लक्ष्मी का संरक्षक अंकित किया है। यह सिद्ध करता है कि वे कर्णाट कुलोद्भव थे। उनके विषय में यह भी उल्लेख है कि वे बंगाल की सीमा पर चालुक्य-सम्राद षष्ठ विक्रमादित्य के आक्रमण-काल में सर्वप्रथम बसे थे (बी० सी० सेन : सम हिस्टोरिकल ऐसपेक्ट्स ऑफ दि इन्सक्रिप्सन्स ऑफ बंगाल, ४५६; गौड़राज माला, ४७)। उसी कर्णाटकेन्दु विक्रमादित्य के नागपुर-प्रशस्ति के अनुसार चेदिराज कर्ण से मिलकर चालुक्यों की विशाल सेना ने मालवा को समुद्र की उमड़ती-घुमड़ती वेगवती प्रबल लहरों की भाँति प्लावित कर दिया। विक्रमादित्य के गौड़-आक्रमण तथा चेदि-मित्रता ने कर्णाटों को उत्तर की ओर बढ़ने और कलचुरि कर्ण की मृत्यु के पश्चात् मिथिला आदि अंचलों में स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का सुअवसर दिया, ऐसा जान पड़ता है, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

विद्वान् लेखक रामकृष्ण कवि ने मिथिला-नरेश नान्यदेव के विरुद 'श्री सामन्ताधिपति धर्मावलोक श्री मन्नान्यपति' में 'अवलोक' शब्द पढ़ कर उन्हें राष्ट्रकूट-नरेश कीर्त्तिराज का भ्राता बताया है। बोधगया का 'तुंग धर्मावलोक-उत्कीर्ण-अभिलेख' कीर्तिराज का नाम बताता है (क्वार्टर्ली जरनल ऑफ दि आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी, १, ५६-५७)। उक्त अभिलेख का दानदाता कीर्तिराज का पुत्र तथा नन्नगुणावलोक, राष्ट्रकूट-भूपति

का पौत्र था । परन्तु इस विचार के परिपोषक का सर्वथा अभाव है (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २३२) । नान्यदेव के प्रशस्तिकार श्रीधर ने भी दरभंगा जिले के मधुबनी अनुमंडल के अन्हराठाढ़ी से प्राप्त उत्कीर्ण अभिलेख में उनको राष्ट्रकूट राजवंश में उत्पन्न होने का श्रेय नहीं दिया है (जरनल ऑफ बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, ९, ३०३-०४) । यदि नान्यदेव सत्ताधारी सार्वभौम स्वतन्त्र राष्ट्रकूट कुल-भूप के वंशज होते तो वे अपने को केवल 'महासामन्ताधिपति' विरुद से विभूषित कर कदापि सन्तुष्ट न हो जाते । इसमें सन्देह नहीं है कि 'अवलोक' विरुद विशेषतया राष्ट्रकूट नृपतियों के नाम के अन्त में पाया जाता है । पर पूर्व में यह दर्शाया जा चुका है कि स्वयं नान्यदेव ने अपने विरुदों में 'कर्णाट-कुल-भूषण' के साथ 'महासामन्ताधिपति धर्मावलोक' विरुद का अंकन अपने ग्रन्थ 'भारत नाट्य-शास्त्र' में किया है । 'कर्णाट-कुल-भूषण' से उनका कर्णाट वंशोद्भव होना सुस्पष्ट हो जाता है । अतः उक्त विद्वान् लेखक का 'अवलोक' विरुद के व्यवहार के आधार पर यह तर्क कि नान्यदेव राष्ट्रकूट-भूप था, सर्वत्र मान्य नहीं हो सकता है । यदि तर्क की कसौटी पर कसे बिना ही उनकी इस मान्यता को स्वीकार कर लिया जाय तो ऐतिहासिक तथ्य के अन्वेषण में भयंकर भूलों के होने की संभावना हो सकती है ।

प्रवासी कर्णाटों ने उत्तर भारत के भिन्न-भिन्न भागों में, विशेषकर मगध एवं बंगाल में शनैः-शनैः निवास किया, इसका उल्लेख हो चुका है । पूर्ववर्त्ती शासन के शिथिल एवं विकेन्द्रित होने पर राजनीति में उच्च स्थान प्राप्त करने की होड़ उनमें मची । ग्यारहवीं शती के उत्तरार्द्ध के उत्तर भारत की अव्यवस्थित एवं अराजकतापूर्ण स्थिति से उन्होंने अपने को लाभान्वित किया । यह भी संभव हो सकता है कि कर्णाटकेन्दु विक्रमादित्य षष्ठ के बंगाल (गौड़) पर के आक्रमण तथा विजय के कारण उनकी महत्त्वाकांक्षा एवं उत्साह में नवीनता आ गयी हो (इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, १९१९, पृ० ११४), और पीछे उनमें से अनेक अपने लिए स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना करने के हेतु सचेष्ट एवं सयत्न हो गये हों । तिरहुत की राजनीति में कलचुरि-राज कर्ण की मृत्यु के पश्चात् परिवर्तन हुआ । कर्णाट वीर नान्यदेव ने उस अवसर से लाभ उठाकर अपना सार्वभौम स्वतन्त्र राज्य वहाँ स्थापित कर लिया । इसी परिवर्तित काल के लगभग दूसरी कर्णाट-शक्ति सेनों की बंगाल में जाग उठी थी, जो अपने तेज, पराक्रम एवं राज्य का विस्तार पूर्व के प्रदेशों में अविराम गति से करने में लीन थी । इन दोनों उदीयमान कर्णाट शक्तियों में भी यदाकदा शक्ति-संतोलन-हित युद्ध हो जाया करता था । इतिहास इसका पता देता है । कुछ विद्वानों की राय में नान्यदेव के किसी पूर्वज ने अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्त्ति के हेतु दक्षिण से आकर उत्तर में निवास किया था, तथा अपने शौर्य एवं पराक्रम से वहाँ के किसी भूपति का सामन्त शासक बन गया था । पीछे उसने अपने प्रभु को पदच्युत कर तिरहुत में अपनी प्रभुसत्ता की स्थापना कर ली । कर्णाट-वीर विजयी विक्रमादित्य के विजय-अभियान की अनुवर्तिनी उसकी वह क्रिया हुई होगी, इसमें भी संशय का स्थान हीं है; क्योंकि उसकी विजयों से विजित प्रदेशों के कर्णाट-निवासियों की महत्त्वाकांक्षा एवं उत्कंठा अत्यधिक बढ़ गयी होगी ।

जिज्ञासुओं की जिज्ञासा की उत्कंठा यह देखकर तीव्र हो जाती है कि चालुक्य-राज

विक्रमादित्य षष्ठ के पश्चात् के दक्षिण के नृपतियों के उत्कीर्ण अभिलेखों एवं प्रशस्तियों में नेपाल की चर्चा अप्रत्याशित रूप से शीघ्रता के साथ पायी जाती है। पट्टाडकल उत्कीर्ण अभिलेख ११६२ ई० में अंकित किया गया था। उसमें उल्लेख है कि नेपाल उस काल में चालुक्य-सम्राट् सोमेश्वर तृतीय (विक्रमादित्य षष्ठ का पुत्र), उसके पिता विक्रमादित्य षष्ठ तथा उसके पूर्व उसके पितामह सोमेश्वर प्रथम ने आक्रमण कर विजय प्राप्त की थी (इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, ७, ६८२, ३०, नं० ३, पृ० २०६, २०८, ९)। एक भित्ति लेख, जो १२०० ई० में उत्कीर्ण हुआ था, बताता है कि दक्षिण के कलचुरि-भूप विज्जल ने दक्षिणी विजेता चालुक्य-नृपाल सोमेश्वर तृतीय के पुत्र तैलप तृतीय को पराजित एवं राजच्युत कर उसके अधीन एवं संरक्षित राज्य नेपाल को छिन्न-भिन्न कर दिया था। लगभग उसी काल के मनगली-उत्कीर्ण अभिलेख से ज्ञात होता है कि दक्षिण के यादव राजा जैतुगी (राज्यकाल ११९१-१२१० ई०) ने नेपाल की सेना के नायकों को पराजित किया था। उपर्युक्त प्रशस्तियों के पाठ से पता चलता है कि उस काल दक्षिणियों के चरण शनैः-शनैः उत्तर में सुस्थिर हो चुके थे तथा और भी स्थिर होते जा रहे थे। इन घटनाओं पर विचार करने से जान पड़ता है कि नान्यदेव के पूर्वजों ने नेपाल की सीमा पर के प्रदेश तिरहुत में, चालुक्य-सम्राटों के उत्तरापथ के हिमवत श्रेणी के पाद भाग तक की तराई एवं पार्वत्य भूमि पर आक्रमण एवं विजय-काल में उनके अधीन सामन्त शासक के रूप में निवास कर शासन करना आरम्भ किया था, पर चालुक्य भूप की विजेता सेना के लौट जाने के पश्चात् सम्भवतः वहाँ के सामन्त शासक ने शक्ति-संचय कर प्रसिद्धि प्राप्त की, तथा उपर्युक्त अवसर की प्राप्ति के पश्चात् राट से सम्बन्ध विच्छेद कर अपने को तिरहुत का सार्वभौम स्वतन्त्र नृपति घोषित कर दिया। मिथिला में कर्णाटकुल का प्रथम स्वतन्त्र भूपाल नान्यदेव हुआ, तथा उसने 'मिथिलेश्वर' एवं 'कर्णाट-कुल-भूषण' की उपाधियाँ धारण कीं।

स्थानीय जनश्रुतियों के आधार पर कतिपय साहित्यसेवियों ने नान्यदेव को पम्मार वंशीय माना है। 'विद्यापति के सुभाषित' के संकलयिता एवं व्याख्याकार विद्वान् पंडित कमल नारायण झा, 'कमलेश' ने पुस्तक के परिचयात्मक परिच्छेद (पृ० १-२) में अंकित किया है कि—''मालवा के पम्मार वंशीय सुप्रसिद्ध राजा भोज के शासनकाल में कर्णाट-विजय भारत के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। राजा भोज ने कर्णाट की शासन-व्यवस्था अपने गोतिये को सौंपी थी। मालवा की शक्ति क्षीण होने पर कर्णाटक स्वतन्त्र राज्य बन गया। कर्णाट के पम्मार वंशीय राजा नान्यदेव ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में शत्रुओं द्वारा भगाये गये। अपने कुछ विश्वासी सामन्तों के साथ वे मिथिला के एक जंगल में पहुँचे'', आदि। मिथिला की जनता में इस प्रकार का अनैतिहासिक विचार जहाँ-तहाँ दृढ़-मूल हो चुका है। परिणामतः कुछ लोगों की यह धारणा बन चुकी है कि नान्यदेव पम्मार अथवा परमार क्षत्रिय थे, कर्णाट क्षत्रिय नहीं। पर ऐतिहासिक दृष्टि से इस पर विचार करने की आवश्यकता है जिससे सच्ची बात जनता की दृष्टि के सामने आ जाय, और वह उसके बल पर स्वयं सत्य निष्कर्ष पर पहुँचने में सक्षम हो सके।

यह बात सत्य है कि पम्मार-राज सियाक द्वितीय के पुत्र अथवा दत्तक पुत्र मुंज का सबसे प्रबल शत्रु कल्याणी का चालुक्य-राज तैलप द्वितीय था। उसने पम्मारों के प्रदेश

मालवा पर प्रभुसत्ता स्थापित करने के हेतु छः बार आक्रमण किया, पर सदा मुंज के समक्ष उसकी हार ही हुई । मुंज ने बदला लेने के विचार से तैलप द्वितीय के राज्य पर प्रत्याक्रमण कर गोदावरी के किनारे उसे बुरी तरह हराया । विजयी मुंज ने पराजित तैलप का उसके राज्य में नदी के पार जाकर अपने दूरदर्शी मन्त्री रुद्रादित्य की सम्मति के विरुद्ध दूर तक पीछा किया, किन्तु अपने युद्ध-शिविर से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने के कारण वह वहाँ तैलप द्वितीय द्वारा बन्दी बना लिया गया । तैलप ने ९९३ ई० के थोड़ा पश्चात् (९९३ तथा ९९८ ई० के बीच) मुंज का वध कर नर्मदा नदी तक के उसके प्रदेश को अपने राज्य में मिला लिया । मुंज कला-प्रेमी एवं कुशल कवि था । साथ ही वह महान् योद्धा भी था ।

मुंज के पश्चात् उसका कनिष्ठ भ्राता सिन्धुराज परमार सिंहासन पर बैठा । उसने तैलप द्वितीय के पुत्र सत्याश्रय पर चढ़ाई कर उसको पराजित किया, तथा अपने भ्राता मुंज से उसके पिता द्वारा अपहृत प्रदेशों का उद्धार कर अपने अग्रज की हत्या तथा पराभव के ऋण का परिशोध किया (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३९४ के आधार पर) ।

सिन्धुराज की मृत्यु १००० ई० में हुई । उसके पश्चात् उसका पुत्र भोज परमार अथवा पम्मार सिंहासन पर आसीन हुआ । अब भोज ने चेदिराज गांगेयदेव तथा चोल नृपति राजेन्द्र चोल से मिलकर अपने पुराने कुल-शत्रु चालुक्यों से बदला चुकाने के हेतु चेदि, चोल तथा पम्मारों की संघ-सेना के साथ चालुक्य-राज सत्याश्रय के कनिष्ठ पुत्र जय सिंह द्वितीय के विरुद्ध आक्रमण किया । आरम्भ में संघ-सैन्य को किंचित् सफलता मिली अवश्य, पर अन्ततोगत्वा उनको वहाँ से लौटने के हेतु बाध्य होना पड़ा । उसके पश्चात जय सिंह द्वितीय के पुत्र सोमेश्वर प्रथम आहव मल्ल ने भोज से बदला लेने के हेतु उसके राज्य पर आक्रमण किया । उसने मांडु के अभेद्य किले पर अधिकार कर लिया । मालवा के प्रसिद्ध नगर उज्जैन तथा पम्मारों की राजधानी धारा को सोमेश्वर ने स्वायत्त कर पूर्णतः लूटा (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३४६) ।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्टतया मालूम पड़ता है कि चालुक्यों के विरुद्ध आक्रमण कर उसके गृहराज्य अथवा राजधानी पर आधिपत्य स्थापित करने वा चालुक्य-नृपति को राजच्युत करने में न सिन्धुराज को ही सफलता मिली और न उसके पुत्र भोज को ही । हाँ, अपने पैतृक विजित राज्य का सिन्धुराज ने अपने कुल के चिर शत्रु चालुक्यों से उद्धार करने में कामयाबी प्राप्त की थी, उसके राज्य पर अधिकार करने में नहीं । भोज का तो चालुक्यों के समक्ष पराभव ही हुआ था, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । चालुक्यों के कर्णाटक पर भी कभी पम्मारों का अधिकार हुआ था, यह इतिहास नहीं बता रहा है । अतः नान्यदेव के पूर्वजों को विजेता पम्मार के रूप में कर्णाटक पर राज करना सर्वथा अविश्वसनीय है । नान्यदेव मूलतः कर्णाटक-निवासी होने के कारण कर्णाट क्षत्रिय था, जो उसके विरुद 'कर्णाट-कुल-भूषण' से सिद्ध होता है । वह पम्मार कुलीय नहीं था । पम्मार क्षत्रिय अग्निवंशीय हैं और नान्यदेव को नेपाल वंशावली तथा अन्य अभिलेखों में सूर्यवंशी बताया गया है । इसके अतिरिक्त नान्यदेव ने कभी अपने को पम्मार कुलोद्भव नहीं बताया । 'भरत नाट्यशास्त्र' का भाष्य ग्रंथ उसी के द्वारा प्रणीत हुआ था । उसमें उसने अपने को 'कर्णाट-कुल-भूषण' बताया है, पम्मार वंशोद्भव नहीं ।

नान्यदेव का शासनारम्भ-काल

पं० चन्दा झा का मिथिला के विशिष्ट विद्वानों में अतिसमादृत स्थान है । वे विख्यात मनीषी, कवि, लेखक एवं अन्वेषक थे । उन्होंने नान्यदेव के सिमराओं गढ़ राजधानी के खण्डहर के प्रस्तर-स्तम्भ पर उत्कीर्ण श्लोकों का पता लगया है, जिससे नान्यदेव के सिंहासनारोहण के काल पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है । सिमराओं अथवा शिवराम गढ़ के किले का निर्माण भूपति नान्यदेव ने स्वयं नेपाल तथा तिरहुत की सीमा के निकट-चम्पारण जिले की उत्तर-पूर्वीय सीमा के सन्निकट किया था, जो सम्प्रति नेपाल राज्य के रोहतक जिले में पड़ता है । उक्त खण्डहर के निकटवर्ती रेलवे स्टेशन बिहार राज्य के अन्दर से जानेवाली उत्तर-पूर्वीय रेलवे के दो हैं- (१) छौड़ादानो, तथा (२) घोड़ाशाहन । शोधकुशल विद्वद्वर चन्दा झा ने कविवर विद्यापति के ग्रन्थ 'पुरुषपरीक्षा' का सम्पादन किया था, जिसमें उन्होंने उक्त खण्डहर के प्रस्तर-स्तम्भ पर के उत्कीर्ण श्लोकों का उल्लेख किया है (चन्दा झा : पुरुष परीक्षा, दरभंगा संस्करण, पृ० १९) । सम्बद्ध मूल श्लोक निम्नांकित हैं :-

'नन्देन्दु विन्दु विधु सम्मित शाक वर्षे, सच्छ्रावणे सितदले मुनिसिद्धितिथ्याम् । स्वातौ शनैश्चर दिने करिवैरिलग्ने श्रीनान्यदेवनृपतिर्व्यदधीत वास्तुम् ।।' अर्थात् नृपति नान्यदेव ने शकाब्द १०१९ (१०९७ ई०) श्रावण, सप्तमी, शुक्ल, शनिवार, स्वाती नक्षत्र में पृथ्वी को प्राप्त किया । सिलभ्यां लेवी के पाठ में पूर्वोक्त चन्दा झा के श्लोक-पाठ से किंचित् अन्तर दीखता है (ली नेपाल, २, पृ० १९४) । उपर्युक्त उत्कीर्ण श्लोक स्पष्ट रूप से सिद्ध करता है कि नान्यदेव ने १०९७ ई० में मिथिला का राज्य-सिंहासन प्राप्त किया था । कुछ विद्वानों की राय इस तथ्य के विपरीत है । मनमोहन चक्रवर्ती की धारणा के अनुसार नान्यदेव का तिरहुत-राज्य-प्राप्ति-काल १४वीं शताब्दी था । उसके पूर्व की अवधि के मिथिला के इतिहास को उन्होंने तमसावृत बताया है (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, न्यू सीरीज, १९१५, पृ० ४०७) । वे कह्लण द्वारा निर्दिष्ट शकाब्द १०१९ (१०९७ ई०) नान्यदेव के सिंहासनारोहण काल, तथा नेपाल वंशावली में अंकित उसके नेपाल की विजय (इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, ९,१८८) की बात को अविश्वसनीय मानते हैं (जरनल ऑफ़ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, न्यू सीरीज, १९१५, पृ० ४०९) । परन्तु चक्रवर्ती जी के तर्क को सिमराओं गढ़ से प्राप्त शिलालेख ने समाप्त कर दिया है ।

नेपाली वंशावली में कर्णाट-कुल के तिरहुत के अन्तिम राजा हरिसिंह देव की नेपाल-विजय का काल १३२४ ई० अंकित किया गया है । नान्य के शासनारंभ तथा हरिसिंह देव के नेपाल-पलायन के बीच २२६ वर्षों की अवधि की चर्चा उसमें की गयी है। बीच में २१९ वर्षों तक वहाँ नेपाल में ठाकुरियों का शासन था तथा उसके पश्चात् ७ वर्षों तक अराजकता का साम्राज्य । हिसाब लगाकर देखने से नान्यदेव की राज्य-प्राप्ति का काल मिथिला में प्रचलित अनुश्रुति के अति सन्निकट (१३२४-२२६=१०९८) पहुँच जाता है । 'नन्देन्दुविन्दु विधु सम्मित शाक वर्षे' को अंक में परिवर्त्तित करने में भ्रान्ति होने से नान्यदेव के शासनारंभ-काल के निश्चय करने में भूल होने की सम्भावना होती है । छन्द-शास्त्र के नियमानुसार कविता में 'अंकस्य वामा गतिः' होती है । इस प्रकार अंकों को मिलाने पर (विधु-१, विन्दु-०, इन्दु-१, तथा नन्द-९) १०१९ शकाब्द होता है । शकाब्द

१०१९ में में ७८ जोड़ने से १०९७ ई० बनता है । यही काल नान्यदेव के तिरहुत की राज्यप्राप्ति का है । किन्तु जब दाहिने से बायाँ अंकों को न बैठा कर उसके प्रतिकूल बायें से दाहिना लाते हैं तो प्राप्तांक भ्रामक हो जाता है । वैसी स्थिति में हिसाव लगाने पर (नन्देन्दु-९१, विन्दु-०, तथा विधु-१) ९१ शकाब्द आता है जो पिंगल-शास्त्र के नियमानुसार ठीक नहीं है । नान्यदेव के सिंहासनारोहण के समय-निर्धारण में नेपाल-वंशावली के अतिरिक्त 'मुदित कुवलयाश्व' नामक नाटक भी सहायक सिद्ध हुआ है । इस पुस्तक का प्रणयन १६२८ ई० में हुआ था, तथा इसके लेखक थे नेपाल के भटगांओं के भूपाल जग-ज्योतिर्मल्ल, जो हरि सिंह देव के वंशज माने जाते हैं । उन्होंने उस नाटक में उक्त तिथि के विषय में अंकन किया है– 'नवेन्दुख-चन्द्रयुक्ते शाके' आदि । हिसाब बैठाने पर यह काल १८ जुलाई, १०९७ ई० होता है, तथा उस तिथि में शनिवार एवं स्वाती नक्षत्र भी पड़ता है (डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २३५; जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, ९,३०५) । नान्यदेव-रचित 'भारत नाट्य शास्त्र' के भाष्य की पांडुलिपि का पता प्रो० वेण्डल्ल ने लगाया था । उस ग्रन्थ से भी उपर्युक्त काल-निर्णय की सम्पुष्टि होती है । पर पाठकों के ज्ञातृत्व एवं जिज्ञासु शोधकों के शोध के हेतु यहाँ यह अंकन करना आवश्यक प्रतीत होता है कि डा० के० सी० पाण्डेय ने इस विषय में एक नये रहस्य का उद्घाटन किया है । उनका कहना है कि अभिनवगुप्त ने नान्यदेव की चर्चा की है और उनके भाष्य के एक अंश को उद्धृत भी किया है । अभिनवगुप्त का वह लेखन १०१४-१५ ई० का है । अतः नान्यदेव का काल उसके पूर्व होना चाहिये (अभिनवगुप्त : ए हिस्टोरिकल ऐण्ड फिलॉसोफिकल स्टडी, पृ० १२१-२३; डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पाद-टिप्पणी, पृ० २३६) । इस विषय पर विशेष अनुसन्धान की आवश्यकता है । कर्णाट कुलीय मिथिला के राजाओं में दो नान्यदेव का पता इतिहास नहीं देता है । नान्यदेव के शासनारंभ का काल १०९७ ई० प्राप्त विश्वसनीय प्रमाणों के आधार पर निश्चित किया गया है । अभिनवगुप्त के नान्यदेव को कोई दूसरा नान्यदेव मानना होगा, जिसका काल १०९७ ई० के पूर्व था । उसके समय-निर्णय में भी भ्रान्ति हो सकती है । पर प्रमाणों के अभाव में इस विषय पर अभी निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना संभव नहीं है । आर० सी० मजूमदार ने भी 'हिस्ट्री ऑफ बंगाल', (वॉल्यूम-१, २१२) में दो नान्यदेव के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया है । अतः विद्वानों की राय में अभिनवगुप्त का नान्यदेव तथा मिथिला में कर्णाट क्षत्रिय राजवंश का संस्थापक नान्यदेव, दोनों एक व्यक्ति प्रतीत नहीं होते हैं । भाष्य के उद्धरण के सम्बन्ध में खोज की आवश्यकता है कि पश्चाद्वर्त्ती पुस्तक की चर्चा वहाँ किस रूप में और कैसे आयी ? पुराने ग्रन्थों में प्रक्षिप्त अंश परवर्त्ती काल में प्रचुर मात्रा में मिलाये पाये जाते हैं । पर वास्तव में तथ्य क्या है, इसका निर्णय तो विद्वत्-समाज का अन्वेषण ही कर सकेगा ।

नान्यदेव की मिथिला-राज्य-प्राप्ति के विषय में प्रचलित अनुश्रुति एवं उसकी विवेचना

नान्यदेव के मिथिला में आगमन तथा वहाँ के राज्य की प्राप्ति के विषय में प्रचलित अनुश्रुतियों को मिथिला के विद्वानों ने अपने प्रणीत ग्रन्थों में प्रायः स्थान दिया है, जिनका ऐतिहासिक महत्त्व विचार करने पर प्राचीन कहानियों और गल्पों से अधिक नहीं ज्ञात होता

है । उन अनुश्रुतियों के अनुसार पूर्व काल में नान्यदेव दक्षिण के नीलगिरि अंचल में शासन करता था । उसी काल में महमूद गजनवी का आक्रमण दक्षिण पर हुआ था । मुसलमानों का आक्रमण, उनके निर्दयतापूर्ण अत्याचार तथा लूट-मार से ऊब कर नान्यदेव ने अपने दक्षिण के राज्य का परित्याग किया, तथा अपने परिवार, सम्बन्धियों, राजकीय कर्मचारियों, सैनिक पदाधिकारियों एवं प्रजा-वर्ग के साथ वह पाटलिपुत्र पहुँचा । वह वहाँ से चलकर मुजफ्फपुर जिले के सीतामढ़ी अनुमंडल में नानपुर परगना के ग्राम कोइली (पुपरी के निकट) में आया । उसने वहाँ दल-बल के साथ अपना शिविर स्थापित किया । वहाँ अपने शिविर के सामने एक दिन उसने एक सर्प को देखा, जिसके फण पर कुछ लिखा था । नान्यदेव स्वयं फणि-फण पर अंकित वाक्यों को पढ़ने में असमर्थ रहा । अतः रहस्योद्घाटन के हेतु उसने एक स्थानीय पण्डित का आह्वान किया । उस पण्डित ने आकर उस नाग के मस्तक पर के लेख को पढ़ा तथा नान्यदेव को बताया कि निम्नलिखित श्लोक उस विषधर के फण पर अंकित है :—

''रामो वेत्ति नलो वेत्ति वेत्ति राजा पुरूरवा ।
अलर्कस्य धनं प्राप्य नान्यो राजा भविष्यति ।।''

उक्त पण्डित ने उस श्लोक का अर्थ समझा कर नान्यदेव को बताया कि उसे (नान्यदेव को) वहाँ अलर्क का सुरक्षित अपार धन प्राप्त होगा, और उसके द्वारा वह मिथिला का भूपति होगा, जिसका साक्षी राम, नल एवं पुरूरवा हैं (महामहोपाध्याय पं० परमेश्वर झा— मिथिला-तत्व-विमर्श (मैथिली), ९७; महामहोपाध्याय पं० मुकुन्द झा— मिथिला भाषामय इतिहास (मैथिली), ४६०-७०; बिहारीलाल— आइन-ए-तिरहुत, बहर क़श्मीरी प्रेस, लखनऊ, पृ० १०-११; इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, १८८०, नं० १८; सी० एम० डफ : क्रौनोलाजी ऑफ इण्डिया (१८९९ संस्करण), पृ० १६९; श्यामनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ६०; हण्टर : स्टैटिस्टिकल एकाउण्ट ऑफ बंगाल, तिरहुत ऐण्ड चम्पारण, १८७७, पृ० २५३) । उसके पश्चात् सबों के देखते-देखते वह आश्चर्यमय सर्प अन्तर्धान हो गया । नान्यदेव ने तदनुसार पृथ्वी खोदकर निर्देशित सम्पत्ति प्राप्त की एवं मिथिला में राज्य की स्थापना भी की । नान्यदेव के प्रथम निवास होने के कारण उस गाँव का नाम नान्यपुर अथवा नानपुर पड़ा । लोग उसे कोइली नानपुर कहते हैं । पीछे चलकर मंडल-विभागों की सृष्टि होने पर उस अंचल के परगने का नाम भी नान्यपुर अथवा नानपुर पड़ा, जो अद्यपर्यन्त उसी नाम से पुकारा जाता है, तथा शासकीय कार्यालयों में भी वही नाम अंकित है ।

उपर्युक्त किम्वदन्ती में ऐतिहासिकता की मात्रा है अथवा नहीं, यह कहना कठिन है । पर विचार करने पर तर्क इसे स्वीकार करने के हेतु नहीं होता है । नान्यदेव दक्षिण में राज करता था, और परिजन-प्रजा के साथ पटना, तथा पीछे कोइली तक पहुँच कर उसने मिथिला में अपने लिए एक सार्वभौम स्वतन्त्र राज्य की स्थापना बिना प्रतिरोध के कर ली, यह कथानक विश्वसनीय नहीं जान पड़ता । ऐसी जनश्रुति का समर्थन युक्ति द्वारा नहीं होता है । प्राचीन साहित्य अथवा अभिलेख में इसकी चर्चा नहीं है । कविवर विद्यापति तथा उस युग के अन्यान्य लेखकों के लेखों से भी नान्यदेव के जीवन की उपर्युक्त घटना

का पता नहीं चलता है । नृपति नान्यदेव के प्रशस्तिकार एवं मन्त्री श्रीधर के अन्हराठाढ़ी-उत्कीर्ण अभिलेख (जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, ९, ३०३-०४) में भी उक्त आश्चर्यमयी घटना की चर्चा नहीं है । मालूम पड़ता है कि उस भूपति के सिंहासन पर बैठने के पश्चात् उसकी प्रजाहितैषिता एवं जनप्रियता से मुग्ध तथा प्रेरित होकर किसी कवि ने उपर्युक्त श्लोक का निर्माण किया था, जिसका प्रचार कालान्तर में स्थानीय जनता में विशेष रूप से हो गया, और लोग उसे सच्ची घटना मानने लग गये।

पूर्व में इसका उल्लेख किया जा चुका है कि नान्यदेव तथा उसके पूर्वजगण आरम्भ में किसी अधिराट् के सामन्त नृपति थे । नान्य के द्वारा प्रवीत 'भाष्य' में अंकित उसके विरुद 'श्री महासामन्ताधिपति श्रीमन्नान्यपति' (क्वार्टर्ली जरनल ऑफ दि आन्ध्र हिस्टोरिकल सोसाइटी, १, ५५-५६) से भी उपर्युक्त कथन का समर्थन होता है । श्रीधर ने भी अन्हरा-ठाढ़ी-अभिलेख में उसके नाम के पूर्व 'श्रीमान्' विशेषण का प्रयोग किया है (जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, ९,३०३) । इससे भी यह स्पष्ट होता है कि नान्यदेव पहले वहाँ किसी सम्राट् का प्रतिनिधि शासक अथवा सामन्त था । पीछे वह अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर सार्वभौम-सत्ताधारी राजा बन गया (इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, ७, ६६०) । नान्यदेव के भाष्य ग्रन्थ 'भरतनाट्यशास्त्र' के अध्यायों के अन्त में लेखक का परिचय जहाँ अंकित किया गया है, वहाँ जिन विरुदों का उसने अपने लिए प्रयोग किया है, उनका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है । पुस्तक के बीच-बीच में भी जहाँ-तहाँ लेखक ने अपने विरुदों का अंकन किया है, और वे हैं– 'कर्णाट-कुल-भूषण', 'मिथिलेश्वर' 'धर्माधार भूपति', 'राजनारायण', 'मोहन मुरारि', नृपमल्ल', एवं 'प्रत्यग्रवाणीपति'। अध्यायों के अन्त में तथा पुस्तक के मध्य में उल्लिखित उस भूपति के विरुदों से अनुमान किया जाता है कि उसने अपने प्रारम्भिक तथा पीछे के जीवन में क्रमशः दो रूपों में शासन किया था । प्रारम्भिक जीवन में वह किसी अधिराट् का 'सामन्ताधिपति' था, पर पीछे चलकर वह स्वतन्त्र नृपति बन गया । सम्भवतः कर्णाट कुलीय चालुक्य सम्राट् सोमेश्वर प्रथम, विक्रमादित्य षष्ठ तथा सोमेश्वर तृतीय की ओर से 'महा सामन्ताधिपति' के रूप में नान्यदेव आरम्भ में शासन करता था । 'भरत नाट्यशास्त्र' भाष्य की रचना का आरम्भ सम्भवतः उसी काल में हुआ था । इसीलिए उसने अपने को 'महासामन्ताधिपति' के रूप में पुस्तक के कई अध्यायों में अपना परिचय दिया है । पर ग्रन्थ का प्रणयन पूरा करने के पूर्व उसने अपने राट् से सम्बन्ध-विच्छेद कर अपने को पूर्ण स्वतन्त्र कर लिया था, ऐसा अनुमान किया जाता है । इसी कारण उसने स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने पर अपने लिए 'मिथिलेश्वर', 'राजनारायण', 'नृपमल्ल', 'धर्माधार भूपति', 'कर्णाट-कुल-भूषण' आदि विरुदों का प्रयोग अपनी पुस्तक में पीछे चलकर किया ।

नान्यदेव ने अपने 'महा सामन्ताधिपति' विरुद का परित्याग मिथिला के स्वतन्त्र भूप हो जाने पर भी नहीं किया । हो सकता है कि पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने पर भी अपने पूर्व के सम्राटों के वंशजों की नाम-मात्र की प्रभुसत्ता को वह स्वीकार करता रहा हो । भारतीय इतिहास इसका प्रमाण देता है कि अधिराट् शक्ति के ह्रास होने पर कई सामन्तों ने स्वतन्त्र होकर भी अपने को अधिराट् अथवा भूपति घोषित नहीं किया । नेपाल के राजा अंशुवर्मन् तथा मौर्यवंश के अन्तिम राजा के सेनापति पुष्यमित्र ने भी वैसा ही किया था।

पुष्यमित्र भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण शुंग राजवंश का संस्थापक था । वह मौर्य कुल के अन्तिम राजा बृहद्रथ का सेनापति था । उसने सम्राट् की सारी सेना के सामने अपने तीक्ष्ण बाणों से मौर्यराट् का वध कर मगध के राज्य सिंहासन पर अधिकार कर लिया था । सम्राट्-पद की प्राप्ति के पश्चात् भी वह अपने को 'सेनापति' ही कहा करता था । (हेमचन्द्र रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, षष्ठ संस्करण, ३७१) । ऐसा प्रायः जन-समुदाय को भुलावा देने के लिए किया जाता था, इसको स्वीकार करना अनुचित न होगा । नान्यदेव ने भी इन्हीं कारणों से 'महा सामन्ताधिपति' के विरुद का परित्याग भूपति-पद-प्राप्ति-पश्चात् भी नहीं किया, यद्यपि उसने मिथिला का सार्वभौम स्वतन्त्र भूपति १०९७ ई० में अपने को घोषित कर अपने अधिराट् से राजनीतिक सम्बन्ध का सर्वथा विच्छेद कर लिया था ।

नान्यदेव, उसका पड़ोसी राज्यों से संघर्ष एवं विजय तथा शासन

नान्यदेव का एक अन्य नाम नान्युपदैव भी था (श्यामनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ५९) । जिस काल में उसने मिथिला में अपने लिए स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी, उसी समय के लगभग उत्तर भारत के अन्य अंशों में भी राजनीतिक उथल-पुथल हुई थी, इसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी थी । अनन्त वर्मन् चोड गंग के नेतृत्व में उड़ीसा में १११८ ई० में गंग-राज्य की, सामान्त सेन अथवा उसके प्रतापी पुत्र विजय सेन के नायकत्व में ग्यारहवीं शती के मध्य के लगभग बंगाल में सेन-राज्य की, तथा चन्द्रदेव गहड़वाल के द्वारा काशी-कन्नौज राज्य की महोदयश्री में स्थापना भी उसी काल के आस-पास हुई । इन चारों राज्यों में मिथिला-राज्य सबसे छोटा था । सभी नव-स्थापित राज्य अपने आधिपत्य एवं अधिकार के विस्तार के हेतु अपने-अपने पड़ोसी राज्यों के साथ संघर्ष में लीन थे । मिथिला की सीमाओं पर के नेपाल राज्य, बंगाल राज्य, दक्षिण बिहार का पाल-राज्य तथा काशी-कन्नौज का गहड़वाल-राज्य चारों ओर से उसे घेरे थे । डाहल (त्रिपुरी) के कलचुरि क्षत्रियों का आधिपत्य पूर्व में मिथिला पर था । उसका राज्य उस काल में भी दक्षिण-पश्चिम बिहार तथा काशी तक फैला हुआ था (जरनल ऑफ दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, ९,३०१) । अतः कलचुरि-नरेश स्वभावतः अपने कुल का आधिपत्य पुनः मिथिला पर स्थापित कर लेने के हेतु सब प्रकार सयत्न था । नान्यदेव के लिए ऐसी विकट परिस्थिति में सुख की नींद सोना सम्भव नहीं था । परन्तु उसने अपने शौर्य, चातुर्य एवं नीतिमत्ता से अपने व्यक्तित्व एवं मिथिला राज्य की स्वतंत्रता को सुरक्षित ही नहीं रखा, प्रत्युत उसने नेपाल पर विजय कर अपने साम्राज्य का विस्तार भी किया ।

अनन्त वर्मन् चोडगंग भी नान्यदेव तथा विजय सेन की भाँति दक्षिण भारत का ही मूलतः अधिवासी था, और मैसूर से चलकर उसने उड़ीसा में गंग राजवंश की स्थापना की थी । उसने बंगाल पर आक्रमण कर हुगली जिले में गंगा तक की भूमि जीत ली थी । सेनों की दृष्टि भी मिथिला पर अटकी हुई थी । विजयसेन के देवपारा उत्कीर्ण लेख में मिथिला-पति नान्यदेव को पराजित वीर बताया गया है (इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, ७,६८५) । सम्भवतः उसका वह आक्रमण मिथिला को उदरस्थ करने के हेतु हुआ था । पर देवपारा अभिलेख में नान्यदेव को विजित वीर बताने पर भी इतिहास मिथिला पर उसी

का अक्षुण्ण अधिकार उस काल भी बताता है । इससे ज्ञात होता है कि सेनों का आक्रमण मिथिला पर हुआ तो सही, पर अपने लक्ष्य की प्राप्ति में वे अक्षम एवं असफल रहे । विजय सेन की वह विजय-यात्रा बंगाल-विजय के पश्चात् आसाम, मिथिला तथा मगध तक की हुई थी । कहा जाता है कि विजय सेन के पुत्र वल्लाल सेन ने भी मिथिला पर आक्रमण कर उसे ज़ीता था ।

अल्हण देवी के भेड़ाघाट-अभिलेख से विदित होता है कि कलचुरि-राज लक्ष्मीकर्ण के पुत्र यशःकर्ण गहड़वालों की वाराणसी के प्रतिरोध का अतिक्रमण कर मिथिला राज्य के चम्पारण तक पहुँचा और उसे उसने लूटकर विनष्ट किया, यथा- 'चम्पारण्यविदारणोद्गत-यशः' आदि (एपिग्राफिया इण्डिका, २,२) । के० पी० जायसवाल की राय में यशःकर्ण का आक्रमण मिथिला पर उसी दशा में हुआ होगा जब उसके कुल का आधिपत्य उस अंचल पर से उसके पूर्व समाप्त हो चुका होगा । निःसन्देह चम्पारण मिथिला का एक भाग था। यह घटना चम्पारण पर नान्यदेव के शासन का समर्थन करती है (जरनल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, ९, ३०१) । कलचुरियों ने गहड़वालों से काशी का उद्धार ११२२ ई० के लगभग किया था । अतः उसकी चम्पारण की चढ़ाई उस काल के पश्चात ही हुई होगी । यशःकर्ण चम्पारण को केवल लूट सका, उसपर आधिपत्य स्थापित करने में वह सर्वथा असफल रहा । उसे मिथिला-विजय की आशा त्याग कर लौट जाना पड़ा। लगभग ११२४-२५ ई० में उसे काशी परित्याग करने के हेतु भी बाध्य होना पड़ा । गहड़वालों का उस प्रसिद्ध नगरी पर पुनः अधिकार हुआ । उसके पश्चात् नान्यदेव को कलचुरियों के आतंक से सदा के लिए छुट्टी मिल गयी ।

स्थानीय अनुश्रुतियों के अनुसार नान्यदेव ने चम्पारण में भी अपने नाम पर १०९७ ई० में नान्यपुर अथवा नान्यपुरा अथवा नन्हापुर नगर बसाकर शासन की सुविधा के हेतु वहाँ अपनी दूसरी राजधानी बनायी थी । वहाँ के विशाल राजभवन का भग्नावशेष खण्डहर अब भी विद्यमान है । राजमहल के प्रवेश-द्वार (सिंह द्वार) पर वही सिमराओं दुर्ग से प्राप्त प्रस्तर-स्तम्भ पर उत्कीण- 'नन्देन्दु विन्दु विधु ...... अभिलेख उत्कीर्ण है । उस खण्डहर को स्थानीय जनता अतिश्रद्धा एवं आदर की दृष्टि से देखती है (महामहोपाध्याय पं० मुकुन्द झा : मिथिला भाषामय इतिहास, ४६१; बिहारी लाल : आइन-ए-तिरहुत, १०, ११; अन्नल्स, ३५, ९३-९४) । सम्भवतः यशःकर्ण का आक्रमण चम्पारण स्थित नान्यदेव की उक्त राजधानी के विरुद्ध हुआ था, जिसपर आधिपत्य स्थापित करने में वह सक्षम न हो सका।

मिथिला के निवासी श्रीधर जाति के कायस्थ थे । ये विद्वान् थे एवं नान्यदेव के प्रियपात्र प्रधानामात्य थे । नान्यदेव के पुत्र गंगदेव के शासनकाल में भी वे उसके मुख्य-मन्त्री थे । वे कर्णाट-कुल-भूषण राजा नान्यदेव के प्रशस्तिकार भी थे । बिहार राज्य के दरभंगा जिले के मधुबनी अवर प्रमण्डल के अन्तर्गत अन्हराठाढ़ी ग्राम से प्राप्त विष्णु भगवान् की मूर्ति के मूर्त्याधार पर श्रीधर द्वारा उत्कीर्ण अभिलेख में नान्यदेव को विजेता (यथा- 'श्रीमान् नान्य पतिर्ज्जेता') एवं संसार को द्वितीय क्षीरसागर में परिणत करने वाला (यथा- 'यत्कीर्त्या जनितं विश्वं, द्वितीयः क्षीरसागरः') कहा गया है (जरनल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, ९, ३०३, प्रथम पंक्ति) । श्रीधर नान्यदेव के समकालीन

थे और उन्होंने ही उपर्युक्त विष्णु के विग्रह की स्थापना की थी । नान्यदेव के समय का वही एक अन्हराठाढ़ी का ऐतिहासिक अभिलेख प्राप्य है, जिसकी प्रथम एवं चतुर्थ पंक्तियों में कई अक्षर स्पष्ट नहीं है (जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, ९, ३०३-०४) । नान्यदेव को विजेता के साथ श्रीमान् की उपाधि से विभूषित कर लोग प्रायः अधीश्वर अथवा प्रभु भी कहते थे । नान्यदेव के 'भरत-नाट्य-शास्त्र' भाष्यग्रन्थ के अनुसार उसने मालवा एवं सौवीर को पराजित किया तथा बंगाल एवं गौड़ के नृपतियों की शक्ति को तोड़ दिया । उक्त विजयों का उल्लेख निम्नलिखित पंक्तियों में अधोऽङ्कित रूप में किया गया है :-

'श्रीरागस्यैकभूमिर्ललित मधुरवाग्भिन्न् बंगाल-गौड़, प्रौढ़प्रारम्भसारः ककुभमुभयथा साधयन्विश्वमुच्चैः । संग्रामे भैरवो यः प्रविलसित मुहुर्धूर्जटीयस्य कण्ठे, सौवीरो ध्यायमानं व्यधित कृतमतिर्भूपतिर्नान्यदेवः ॥ (क्वार्टर्ली जरनल ऑफ दि आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी, १, ५७) । उक्त त्रैमासिक पत्रिका में एतद्विषयक और भी उद्धरण दिये गये हैं, यथा- 'जित सौवीर वीरेण सौवीरक उदहृतः', 'लुप्त मालवभूपालकीर्त्तिर्मालवपंचमीम्', 'बंगालिकेति कथिता मिथिलेश्वरेण' आदि ।

कलचुरि-राज कर्ण ने मालवा की विजय नान्यदेव के मिथिला की गद्दी पर बैठने के लगभग पाँच दशक पूर्व की थी । उस युद्ध में कर्णाट-नरेश की सहायता उसे प्राप्त हुई थी । नान्यदेव का राजनीतिक जीवन 'महासामन्ताधिपति' के रूप में आरम्भ हुआ था । यह सम्भव नहीं प्रतीत होता है कि 'सामन्ताधिपति' के अधिकार से राज्य-प्राप्ति के ५० वर्ष पूर्व उसने उस समर में कर्ण के सहायक कर्णाटों का नेतृत्व किया होगा । नान्यदेव कर्णाट-सम्राट् सोमेश्वर प्रथम, उसके पुत्र विक्रमादित्य षष्ठ तथा पौत्र सोमेश्वर तृतीय का 'महासामन्ताधिपति' था । यह विरुद सम्राट् के प्रतिनिधि शासक होने का द्योतक है । सोमेश्वर प्रथम एवं विक्रमादित्य षष्ठ ने बंगाल, बिहार एवं नेपाल की विजय की थी । अतः अपने सम्राट् के प्रतिनिधि शासक के रूप में बंगाल, बिहार आदि विजित प्रदेशों पर नान्यदेव की अपनी कर्णाट-प्रभुसत्ता के अस्तित्व का दावा आधारहीन नहीं कहा जा सकता है । भाष्यग्रन्थ में वर्णित उसके सौवीर एवं मालवा की विजयों के मूल में भी यही विचार निहित जान पड़ता है । पूर्व में विक्रमादित्य षष्ठ के नर्मदा नदी के उत्तर के प्रदेशों के जीतने का संकेत दिया जा चुका है । सौवीर एवं मालवा नर्मदा नदी के उत्तर में पड़ते हैं । यह भी सम्भव हो सकता है कि नान्यदेव अपने सम्राट् विक्रमादित्य षष्ठ के साथ उस दिशा के विजय-अभियान में सैनिक के रूप में अथवा सामन्ताधिपति के रूप में उपस्थित रहा हो । उसका उन युद्धों में भाग लेना भी सम्भव हो सकता है । विजय कर्णाटों की हुई थी । नान्यदेव कर्णाट क्षत्रिय था ही । उस पर भी सम्राट् का सामन्ताधिपति । इन्हीं कारणों से मालवा-सौवीर की विजय का श्रेय अपने भाष्य ग्रन्थ में उसने स्वयं लिया है, अन्यथा यह उस काल की परिस्थिति में सम्भव नहीं था कि यह मिथिला से चलकर अपनी सीमित सामरिक शक्ति के द्वारा, मार्ग में पड़नेवाली शक्तिशाली राजकीय शक्तियों का पराभव करता हुआ सुदूर पश्चिम में पहुँच कर सौवीर तथा मालवा की विजय कर लेने में सफलता प्राप्त करता । उसके अपने मिथिला-राज्य के पश्चिम में गहड़वालों का तथा दक्षिण-पश्चिम में पालों का शक्तिशाली राज्य था । उन राज्यों के कठिन प्रतिरोधों का अतिक्रमण किये

बिना नान्यदेव के लिए आगे बढ़ना असम्भव था । उसके उन राज्यों के साथ संघर्ष का साक्ष्य इतिहास नहीं देता है ।

नान्यदेव ने बंग एवं गौड़ की विजय का श्रेय भी अपने ऊपर लिया है । विजय सेन के देवपार-उत्कीर्ण-अभिलेख में नान्यदेव को पराजित वीर अंकित किया गया है (एपिग्राफिया इण्डिया, १, ३०५, श्लोक-२०)। नान्यदेव के गौड़-विजय के दावा तथा उक्त अभिलेख के वर्णन में विरोधाभास है । सच्ची बात यह है कि गौड़ एवं बंग की विजय कर उन प्रदेशों पर आधिपत्य स्थापित कर लेने के हेतु दोनों कर्णाट-विजेताओं (विजय सेन एवं नान्यदेव) में होड़ थी । उस काल बंगाल की राजनीतिक स्थित सुस्थिर न थी । पाल वंशीय विक्रमी नृपाल रामपाल ने कैवर्त्तों का पराभव कर उनसे अपने पैतृक राज्य का उद्धार किया था, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है । रामपाल के वारेन्द्री पर पुनः अधिकार हो जाने से गौड़ की राजनीति में भूडोल की स्थिति उत्पन्न होना स्वाभाविक था। पूर्वीय बंगाल में वर्मनों के नये राजकुल की स्थापना हो चुकी थी । सेनों की शक्ति राधा एवं दक्षिण-पश्चिम बंगाल में उदीयमान थी । इन सबों के अतिरिक्त और भी अनेक स्थानीय क्षुद्र शक्तियों का उदय देश में यत्र-तत्र हो चुका था, जो अपने को स्वतन्त्र भूप मानते थे । नान्यदेव ने अपने लिए उत्तर बिहार की मिथिला में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करने में सफलता प्राप्त कर ली थी । वह पराक्रमी, विजेता एवं महत्त्वाकांक्षी था। उसकी लोलुप दृष्टि गौड़ एवं बंग (उत्तर एवं पूर्व बंगाल) पर पड़ी । उन प्रदेशों को स्वायत्त कर लेने की महत्त्वाकांक्षा उसके लिए उतनी ही स्वाभाविक थी जितनी राधा एवं दक्षिण-पश्चिम बंगाल के विजेता वीर विजय सेन की । दोनों ही उन प्रदेशों को हथिया लेने की चेष्टा कर रहे थे । अतः इस प्रश्न को लेकर दोनों के बीच वैमनस्य एवं संघर्ष होना अस्वाभाविक नहीं था । दोनों ही बंग एवं गौड़ को अपने राजनीतिक प्रभाव के अंतर्गत के प्रदेश मानते थे; क्योंकि दोनों ही राज्यों की सीमाएँ उपर्युक्त प्रदेश बंग एवं गौड़ के निकट पड़ती थीं (एपिग्राफिया इण्डिका, ७, ६८६ के आधार पर) । इस विचार का कोई आधार नहीं है कि पूर्व में दोनों ही कर्णाट-शक्तियाँ (सेनों एवं नान्यदेव की) मिलकर कार्य करती थीं, पर पीछे जीत के प्रदेशों के बँटवारे के प्रश्न पर दोनों में अनबन हो गयी। दोनों ही कर्णाट-विजेताओं के आक्रमण दो ओर से हुए थे। नान्यदेव का आक्रमण उत्तर बिहार से बंगाल पर उत्तर-पश्चिम की ओर से हुआ था तथा सेनों का दक्षिण-पश्चिम से । पर बंगाल-विजय में सफलता ने साथ सेनों का दिया, नान्यदेव का नहीं ।

श्री के० पी० जायसवाल के मतानुसार नान्यदेव ने दक्षिण बिहार के पाल-भूप तथा काशी-कन्नौज के गहड़वाल भूपति के साथ मिलकर राधा के सेनों के विरुद्ध संघ बनाया था (जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी) । सम्भवतः उसने सेनों की उदीयमान शक्ति की प्रसार-लिप्सा से आतंकित होकर ही ऐसा किया था, यह स्यात जायसवाल जी की राय थी । उनके विचार में गहड़वाल-भूप गोविन्दचन्द्र के साथ मिथिलेश्वर कर्णाट कुलीय नृपति का उपर्युक्त समझौता या तो नान्यदेव के शासन के अन्तिम चरण में हुआ होगा अथवा नान्य-पुत्र गंगदेव के राजत्व-काल के आरम्भ में । उनकी इस मान्यता

के दो कारण प्रधान थे । प्रथम कारण यह कि गोविन्दचन्द्र के सान्धि-विग्रहिक मन्त्री

लक्ष्मीधर ने व्यवहार (कानून) के ऊपर प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कृत्यकल्पतरु' लिखा था, जिसके अनुसार ही नान्यदेव के वंशधरों के शासनकाल में मिथिला में राज्य-कार्य चलता था तथा अपराधों का निर्णय होता था । लक्ष्मीधर ने उस ग्रन्थ को सम्राट् गोविन्द की आज्ञा से प्रस्तुत किया था जिसका प्रचार गहड़वाल-राज्य के साथ-साथ मिथिला में भी पूर्णरूप से हुआ था । दूसरा कारण नान्यदेव के एक पुत्र मल्लदेव का गोविन्द चन्द्र के पौत्र (विजय चन्द्र के पुत्र) जयचन्द्र की सेना में सेवा करना था । पाल-गहड़वाल गठबंधन के अस्तित्व के विपरीत गहड़वाल भूपति गोविन्द्रचन्द्र का मुद्‌गिरि (मुंगेर) तक बढ़ आना एवं उसको अपने अधिकार में कर लेना यह सिद्ध करता है कि पालों के राज्य के एक अंश पर उस काल में गहड़वालों का आधिपत्य स्थापित हो चुका था, और गहड़वाल नृप ने पाल-भूप को अपने सम्मुख नत किया था । गोविन्दचन्द्र के एक उत्कीर्ण अभिलेख से मुंगेर का उसके हाथों में चला जाना प्रमाणित होता है (एपिग्राफिया इण्डिका, ७, ९८, ९९) । पीछे पश्चिमी बिहार पर अधिकार करने के हेतु संघर्ष सेनों और और गहड़वालों के बीच हुआ, इसका भी प्रमाण इतिहास देता है (जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, ९, ३०९-१०) । अतः गहड़वालों का विजय-अभियान स्वतन्त्र था, पाल एवं मिथिलेश के सहयोग से नहीं ।

'कृत्यकल्पतरु' के मिथिला में नान्यदेव के शासनकाल में प्रचार का पक्का प्रमाण उपलब्ध नहीं है । यदि उसका प्रचार वहाँ रहा भी हो तो इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि गोविन्दचन्द्र के नान्यदेव के ऊपर प्रभुत्व स्थापित हो जाने के कारण ही उक्त विधिग्रन्थ का व्यवहार नान्यदेव के राज्य तिरहुत में होना सम्भव हुआ होगा । समाज-हितैषी उपयोगी पुस्तकें सर्वप्रिय होती हैं, और वे बिना प्रयत्न एवं बिना दबाव के सर्वमान्य हो जाती है । ऐसे अनेक अमर प्राचीन ग्रन्थ हैं जो आज भी सर्वमान्य हैं तथा उनके निर्देशानुसार आचरण करना मनुष्य अपना परम कर्त्तव्य मानते हैं ।

विद्यापति के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पुरुष परीक्षा' (ग्रियर्सन-सम्पादित, पृ० १३) के अनुसार नान्यदेव का एक पुत्र मल्लदेव कन्नौज-सम्राट् महाराज जयचन्द्र (विजयचन्द्र के पुत्र) के दरबार में था । जयचन्द्र गहड़वाल ११७६ ई० में महोदयश्री (कन्नौज) के सिंहासन पर बैठा था (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३३६), और अपने समय का वह महाप्रतापी सम्राट् था । उसका साम्राज्य भी विशाल था । मल्लदेव जयचन्द्र का समकालीन माना गया है । यदि नान्यदेव की अवस्था सिंहासनारोहण-काल में २५ वर्षों की रही होगी तब मृत्यु के समय ११४७ ई० में उसकी उम्र ७५ साल की अनुमानित होगी । नान्यदेव की मृत्यु के २९ वर्षों के पश्चात् जयचन्द्र गद्दी पर बैठा था । उस काल मल्लदेव की अवस्था पर्याप्त रही होगी । नान्यदेव के अन्य पुत्र गंगदेव को हम मिथिला में नान्यदेव की मृत्यु के पश्चात् राज करते पाते हैं । इस कारण मल्लदेव एवं गंगदेव की आयु में बहुत कम अन्तर प्रतीत होता है । ऐतिहासिकता की दृष्टि से मल्लदेव का जयचन्द की सेवा में रहना सन्देहजनक प्रतीत होता है । 'पुरुष परीक्षा' के अनुसार वीर मल्लदेव जयचन्द्र के दरबार में जाकर रहा, पर मतभेद हो जाने के कारण वह वहाँ से पिथि के सामन्त राजा चिक्कोरनृप के यहाँ पहुँचा । चिक्कोर भूप ने उसे अपने यहाँ ससम्मान आश्रय दिया । यह बात जयचन्द को अच्छी न लगी । उसने पिथि-राज्य पर आक्रमण कर दिया । फलतः चिक्कोर एवं

जयचन्द्र के बीच भयंकर समर छिड़ गया । यह पिथि राज्य पूर्वोत्तर भारत में कहीं पर था, जिसके वर्तमान नाम और स्थान का निश्चयात्मक पता अब तक नहीं चल सका था ।

परन्तु तिब्बती संत धर्म-स्वामिन्, जिसने वज्रासन (बोधगया) के राजा बुद्धसेन से १२३४ ई० में भेंट की थी, के जीवनी-ग्रन्थ (बायोग्राफी ऑफ धर्मस्वामिन्) की सम्पादकीय विषय-प्रवेश-टिप्पणी के पृ० १५ में डा० ए० एस० अल्तेकर ने दो प्राप्त अभिलेखों की चर्चा की है । उनमें एक है राजा बुद्धसेन का तथा दूसरा राजा जयसेन का । प्रथम का प्राप्तिस्थान है बोधगया (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, ४८, पृ० ४५) तथा दूसरे का गया जिले का ज्ञानी विद्याग्राम (जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी, ४, २६६, २७९; इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, ४८, पृ० ४७)। जानी विद्या से प्राप्त अभिलेख में उसका लेखन-काल लक्ष्मणाब्द ८३ अंकित है, तथा जयसेन को बुद्धसेन का पिता बताया गया है । बुद्धसेन के अभिलेख में काल का अंकन नहीं है । सम्भवतः उक्त अभिलेख का उत्कीर्ण कराने वाला भूपति बुद्धसेन द्वितीय था । दोनों ही अभिलेखों में उन दोनों भूपतियों को पिथि-पति बताया गया है । इससे स्पष्ट होता है कि पिथि नामक प्राचीन राज्य वर्तमान बिहार राज्य के बोधगया के सन्निकट कहीं था । जयचन्द्र की दूसरी राजधानी भी गया के निकट काशी में थी ।

जयचन्द्र वीर, शक्तिशाली एवं स्वाभिमानी सम्राट् था, जिसका साम्राज्य विदेशी लेखकों के अनुसार विशाल और समुन्नत था । हो सकता है, इसके आधार पर जयचन्द के दरबार एवं मल्लदेव के विषय में जनश्रुति बन गयी हो और विद्यापति ने उसी के अनुसार उक्त कथानक का सृजन किया हो । 'कमिलू-टी-तवारीख ऑफ इब्नअसर' (भाग-२, पृ० २५०-५१) के अनुसार कन्नौज एवं काशी के सम्राट् जयचन्द्र, जिसका भारत में सबसे विशाल साम्राज्य चीन की सीमा से मालवा तक फैला हुआ था, को पराभूत करने के लिए ११९३ ई० में गजनी और गोर के सुलतान शिहाबुद्दीन गोरी ने अपने सेनापति कुतुबुद्दीन को भेजा था । इस समाचार को प्राप्त कर जयचन्द्र ने ७०० हाथी, और लगभग १०,००,००० (दस लाख) पैदल सेना के साथ सुलतान के प्रतिहार में उससे युद्ध करने के हेतु सुलतान के ही मुसलमानी राज्य में प्रवेश किया । शिहाबुद्दीन गोरी ने भी बढ़कर यमुना नदी के किनारे उसका सामना किया । भयंकर युद्ध हुआ । मुसलमान इसके पहले भी महमूद गजनवी की चढ़ाइयों के पश्चात् उधर जा बसे थे । वृद्ध वीर जयचन्द्र ने मातृभूमि की स्वतन्त्रता की रक्षा के हेतु प्रलयंकर युद्ध कर वीर गति प्राप्त की । इस युद्ध के पश्चात विजेता ने आबाल-वृद्ध अनन्त हिन्दू स्त्री-पुरुषों का वध करवाया, तथा अतुल धन राशि (१४०० ऊँटों पर लादकर) गजनी ले गया । लगभग ९० हाथियों को भी उसने अपने अधिकार में किया, जिनमें एक श्वेत गज भी था । उक्त इतिहास-लेखक अरब निवासी था, जिसको आँखों देखा समाचार उस समर में भाग लेनेवाले किसी योद्धा ने सुनाया था (श्यामनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत के वर्णन के आधार पर) ।

दरभंगा जिले के मधेपुर थाने के भीठ भगवानपुर ग्राम में मूर्त्तिकला के अनेक उत्कृष्ट नमूने अब भी विद्यमान हैं । उन मूर्त्तियों में लक्ष्मीनारायण, गणेश तथा सूर्य के पाँच विग्रह एक छप्पर के गृह में प्राप्य हैं । उनमें से भी लक्ष्मीनारायण के मूर्त्याधार पर 'ऊँ श्री मल्लदेवस्य' उत्कीर्ण है । लेख दो-तीन पंक्तियों में है । पर सभी पढ़े नहीं जा सकते हैं । प्रचलित जनश्रुति के अनुसार यह भीठ भगवानपुर मल्लदेव की राजधानी था (डॉ०

उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २५४-५५) । सम्भवतः दोनों सहोदर मल्लदेव और गंगदेव में प्रेमभाव का अभाव था । राज्य के उत्तराधिकार का प्रश्न लेकर उन दोनों में मनमोटाव होना सम्भव था । गृह-कलह के परिणामस्वरूप नान्यदेव का राज्य उनके दोनों पुत्रों के बीच बँट गया होगा । अनुमानतः पूर्व मिथिला एवं नेपाल पर मल्लदेव का अधिकार हुआ, और शेष मिथिला पर गंगदेव का ।

उपर्युक्त भीठ भगवानपुर ग्राम में एक कृष्ण-प्रस्तर-प्रस्तुत प्राचीन द्वार-चौखट का अवशेष मिला है, जिसपर कलापूर्ण कर्णाट-शैली का स्त्री-पुरुष-आलिंगन-चित्र अंकित है । इससे तथा मूर्तियों की प्राप्ति से स्पष्ट होता है कि वहाँ पर कभी दर्शनीय राजभवन एवं मन्दिरों का अस्तित्व था (डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २५५)।

उपर्युक्त उपलब्धियों से ज्ञात होता है कि नान्यदेव के पुत्र मल्लदेव ने अपने पिता के राज्य के एक अंश पर कुछ काल तक शासन भी किया था । पर उसका राजत्व-काल अत्यल्पकालीन था । अतः उसके विषय में विशेष जानकारी इतिहास को नहीं है । किन्तु इससे यह सिद्ध अवश्य होता है कि उसको जयचन्द्र की सेवा करने के हेतु अवकाश अपने राज्य-शासनकार्य से नहीं मिला होगा । यदि गृह-कलह के कारण वह जयचन्द्र के दरबार में अपने भाई गंगदेव के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने के हेतु गया होता तो उसकी चर्चा विद्यापति ने अपनी पुस्तक 'पुरुषपरीक्षा' में अवश्य की होती । जयचन्द्र १२वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में विद्यमान था, तथा विद्यापति १५वीं शती के उत्तरार्द्ध तक । अतः दोनों के अस्तित्व में लगभग तीन शताब्दियों मात्र का अन्तर था । इन विषयों पर विवेकपूर्ण विवेचना करने के पश्चात् इसी निष्कर्ष पर अन्त में पहुंचना पड़ता है कि मल्लदेव का जयचन्द्र के दरबार में सेवार्थ उपस्थित होना निराधार है ।

गहड़वाल गोविन्दचन्द्र ने मुंगेर (मुद्गिरि) की विजय की होगी अपनी प्रसार-लिप्सा के वशीभूत होकर । गहड़वालों का संघर्ष सीधे सेनों से था । वह संघर्ष गौड़ाधिप लक्ष्मण सेन तथा कन्नौज-सम्राट् जयचन्द्र के काल तक चालू था । इतिहास इसका प्रचुर प्रमाण दे रहा है । जयचन्द्र के तिरहुत-नरेश के साथ किसी संघर्ष का वर्णन इतिहास नहीं करता है । 'पुरुष परीक्ष' में विद्यापति ने अंकित किया है कि मिथिलेश-कुमार मल्लदेव केवल १६ वर्षों की अवस्था में समरशायी हुआ (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९१५, न्यू सीरीज, पृ० ४०८)। पूर्व में यह अंकित किया जा चुका है कि जयचन्द्र ११७० ई० में गहड़वाल-राज्य-सिंहासन पर बैठा था । मल्लदेव को यदि जयचन्द्र के दरबार में उपस्थित होने की आवश्यकता पड़ी होगी तो उसके गद्दी पर बैठने के पश्चात् ही । यदि यह अनुमान कर लिया जाय कि मल्लदेव ११७० ई० में जयचन्द्र की सेवा में गया, और उसी साल १६ वर्षों की अवस्था में उसका रण-निधन हुआ, तो उसका जन्म ११५४ ई० में हुआ मानना पड़ेगा । पर इतिहास बताता है कि उसके पिता नान्यदेव की मृत्यु ११४७ ई० में हुई । यदि यह मान लिया जाय कि नान्यदेव की मृत्यु ११४७ ई० में न होकर मल्लदेव के तथा अनुमानित जन्माब्द ११५४ ई० में हुई तब उसकी शासन-अवधि ५७ वर्षों की हो जायगी, जिसका अनुमोदन नेपाल-वंशावली से नहीं होता है (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, १८४४, ४१४) । विद्यापति के उपर्युक्त वर्णनों की सच्चाई में सन्देह का पर्याप्त स्थान प्रतीत

होता है (इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, ७, ६८८, २; आर० एस० त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, २९९-३२२; अन्नलस, ३५, ९६)। उपर्युक्त कथानक की वर्णन-शैली से भी पता चलता है कि विद्यापति ने प्रचलित जनश्रुति के आधार पर ही वैसा लिपिबद्ध किया था, नहीं तो वे स्वयं भी उसकी सच्चाई के विषय में पूर्णतया शंकाशून्य न थे। इन तथ्यों पर विचारने पर स्वीकार करना पड़ेगा कि मल्लदेव जयचन्द्र की सेवा में कभी न था, और वह अपनी राजधानी भीठ भगवानपुर में निवास कर अपने पिता के राज्य के एक अंश का उपभोग करता था। किन्तु कितने दिनों तक उसका वहाँ शासन रहा, इसका पता इतिहास नहीं देता है।

शोध-कुशल विद्वान् के० पी० जायसवाल का यह विचार है कि नान्यदेव ने गहड़वालों एवं पालों से मिलकर सेनों के विरुद्ध संघ बनाया था, तर्क की कसौटी पर कसने पर ठीक नहीं उतरता है। पाल-भूप मदनपाल और गोविन्द पाल के शासनकाल में लगभग सारा बंगाल पालों के अधिकार से निकलकर सेनों के अधीन हो गया था। मदनपाल के पश्चात् जब गोविन्द पाल सिंहासन पर बैठा, उस काल में उसका स्वामित्व दक्षिण बिहार के केवल कई जिलों पर ही शेष रह गया था। गोविन्द चन्द्र का ११२४ ई० का मनेर-पत्र-अभिलेख बताता है कि उसका वह सीमित राज्य भी सुरक्षित न था। उस अभिलेख के अनुसार काशी और कन्नौज के गहड़वाल पालों के राज्य में पटना जिले तक बढ़ आये थे (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १८, ८१)। फिर ११४६ ई० के लार-पत्र-अभिलेख से ज्ञात होता है कि गहड़बाल-भूपति विजय चन्द्र ने मुद्‌गिरि पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया, जिसका उल्लेख प्रसंगवश ऊपर किया जा चुका है। मुंगेर जिले के लखीसराय के निकट के जयनगर-उत्कीर्ण-लेख तथा अन्यान्य प्रमाणों से प्रमाणित होता है कि मदनपाल के शासन के १४वें वर्ष अर्थात् ११५७-५८ ई० में गहड़वालों के विरुद्ध उसे किंचित सफलता मिली थी, और उसने मुंगेर का उद्धार गहड़वालों से कर दिया था (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १७, १९५७, नं०-१, पृ० २९)। मदनपाल ने मुद्‌गिरि (मुंगेर) को गहड़वालों से युद्ध कर वापस तो किया पर शीघ्र उसे उसको उदीयमान मिथिलापति कर्णाट-नृपति को सौंपने के लिए बाध्य होना पड़ा। पश्चिम बंगाल में सेनों की सत्ता पूर्णतया स्थापित हो चुकी थी। पालों पर दोनों ओर से कर्णाटों को चोट पड़ती थी। अतः बंगाल में राधा की सेन-शक्ति तथा बिहार में मिथिला के नान्यदेव के साथ वे उलझे हुए थे। इन आक्रमणों का परिणाम यह हुआ कि बंगाल से पाल-शक्ति का सदा के लिए लोप हो गया। मदनपाल के शासन के अन्तिम दिनों में उसका आधिपत्य बिहार के केवल एक भाग पर ही शेष रह गया था (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३३९)। मदनपाल की मृत्यु ११६० ई० में हुई थी। पाल कुल के प्रसिद्ध विजेता भूपाल धर्मपाल एवं देवपाल के वंश का वह अन्तिम नृपति था। एक और राजा गोविन्द पाल को ११६२ ई० तक गया जिले में राज करते हम पाते हैं। गहड़वालों अथवा सेनों के द्वारा उसके शासन का अन्त हुआ। परन्तु यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि वह गोविन्द पाल वंशोद्‌भूत ही था।

उपर्युक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मिथिलेश नान्यदेव, गहड़वालों तथा

पालों के बीच सेनों के विरुद्ध कोई मैत्री-सन्धि म थी । श्री जायसवाल के एतद्विषयक तर्क की आधारशिला कमज़ोर होने के कारण टिकाऊ नहीं है । नान्यदेव गहड़वालों के समक्ष कभी नत भी न हुआ । उसको ऐसा करने के लिए उसके सामने कभी विकट परिस्थिति भी उपस्थित न हुई । पालों से अथवा गहड़वालों से सहायता प्राप्त करने की उसे कभी आवश्यकता ही न पड़ी । हां, सेनों की समस्या तीनों के सामने थी, और तीनों ही रक्षात्मक अथवा आक्रामक कार्य स्वयं करते थे, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है । आवश्यकता आने पर तीनों पृथक्-पृथक् निपट लेते थे ।

विजयसेन के देवपार-उत्कीर्ण-अभिलेख, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है, के रचयिता पं० उमापतिधर थे । प्रसिद्ध भक्त कवि जयदेव ने अपने ग्रन्थ 'गीत गोविन्द' में इन्हें (पं० उमापतिधर को) राजा लक्ष्मण सेन की राजसभा के पंचरत्नों में से एक बताया है, यथा-''वाच: पल्लवयत्युमापतिधर: । ख्यातो गोवर्द्धनाचार्य उमापतिधरस्तथा । शरणो जयदेवश्च धोयी कविनृप: क्रमात् । राज्ञो लक्ष्मणसेनस्य पंचरत्नानि संसदि ।'' इससे पता चलता है कि उमापतिधर विजय सेन, उसके पुत्र वल्लाल सेन तथा पौत्र लक्ष्मण सेन, तीनों ही राजसभा के मान्य सदस्य थे । देवपार-अभिलेख विजय सेन की प्रशस्ति से सम्बन्ध रखता है । उसके अनुसार विजय सेन ने नान्यदेव की राज्य-विस्तार-नीति को सफल नहीं होने दिया था । उक्त अभिलेख के २१वें श्लोक से श्री हेमचन्द्र राय का अनुमान है कि विजय सेन ने नान्यदेव तथा राघव को युद्धबन्दी बनाया था (डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया-१, ३५८)। परन्तु उस श्लोक में इतना ही अंकित किया गया है कि विजय सेन का कारागृह बन्दी राजाओं के नाद से प्रतिध्वनित हो रहा था । इस वर्णन से यह कदापि स्पष्ट नहीं होता है कि विजय सेन ने नान्यदेव को बन्दी बना लिया था (जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी-पी० टी० एस० ३-४, १३३) । सम्भवत: नान्यदेव की पराजय विजय सेन के आक्रमण-काल में हुई थी । पर युद्ध में पराजित होने से ही कोई राज्यच्युत अथवा शत्रु का बन्दी नहीं हो जाता है । इतिहास इसका साक्ष्य देता है कि विजय सेन के काल से बहुत पश्चात् तक नान्यदेव तथा उसके वंशजों का शासन मिथिला पर बना रहा (इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, ३०, पृ० २०९) । नान्यदेव तथा उसके पुत्र गंगदेव एवं आगे के उसके सभी वंशधर मिथिला के सार्वभौम स्वतन्त्र नृपति थे, किसी के सामन्त अथवा करद भूप नहीं । विजय सेन ने गंगा के जलमार्ग से अपने युद्धपोतों को पश्चिम के प्रदेशों की विजय करने के हेतु भेजा था (डा० आर० मजूमदार : इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, ७, ६८७-८८) । उसकी विजय-वाहिनी बेरोक उस मार्ग से पश्चिम की ओर बढ़ती गयी थी । इससे कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि मार्ग में पड़नेवाले मिथिला-राज्य के अधीश्वर को बिना नत एवं सहमत किये प्रतिरोध-रहित होकर विजय सेन की वाहिनी का आगे बढ़ना संभव न था (डा० आर० सी० मजूमदार : इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, ७, ६८७-८८)। अधिक संभव यह जान पड़ता है कि राधा के विजय सेन तथा मिथिला के नान्यदेव, दोनों ही कर्णाट-विजेता बंगाल में अपनी-अपनी शक्ति स्थापित करने के हेतु सयत्न हुए थे । सफलता-प्राप्ति के हेतु दोनों ही शक्तियों में प्रतिस्पर्द्धा थी, पर लक्ष्यप्राप्ति में सफलता सेनों को ही मिली । नान्यदेव

ने पूर्व की ओर साम्राज्य-विस्तार करने में अपने को अक्षम पाकर अपना विजय-अभियान उत्तर दिशा में चालू कर नेपाल राज्य के बहुत बड़े भाग को अधिकृत कर लिया। उस काल नेपाल में गृहकलह ने जोर पकड़ लिया था। सामन्त राजाओं में वैमनस्य था, और वे सब एक दूसरे से राज्याधिकार की छीना-झपटी में लीन थे। ठाकुरी कल की नयकोटा शाखा के राज्याधिकारी शिवदेव को पाटन शाखा के लोगों ने लगभग १०८० और १०८८ ई० के बीच बहिष्कृत कर दिया था। नान्यदेव ने नयकोटा शाखा को इस गृहकलह में साथ देकर पहले नेपाल की तराई भूमि पर अपना अधिकार जमाया (डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २५१)। पीछे जयदेव मल्ल का सिंहासनच्युत कर उसने पाटन और काठमांडू पर कब्जा किया एंव राजा आनन्द मल्ल को पराभूत कर भटगाँव राज्य पर अधिकार कर लिया। शिवदेव, जिसका पक्ष नान्यदेव ने लिया था, वैश्य ठाकुरी क्षत्रिय कुल का राजकुमार था। मिथिला-भूप नान्यदेव ने शिवदेव के न्यायपूर्ण राज्याधिकार के समर्थन को निमित्त बनाकर शनैः-शनैः सारे नेपाल पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

डी० आर० रेगमी के 'ऐन्शिएण्ट ऐण्ट मिडिएव्हल नेपाल' (१,४४-४६) के अनुसार नान्यदेव ने नेपाल पर कई बार अधिकार किया और उसे खोया। परन्तु नान्यदेव की मृत्यु के पश्चात् भी नेपाल के शासकगण उसके उत्तराधिकारियों की प्रभुसत्ता को किसी न किसी अंश तक सर्वदा स्वीकार करते रहे। हरिसिंह देव ने तो अन्त में नेपाल पर पूर्णरूप से अधिकार स्थापित कर वहीं अपनी राजधानी बनायी, तथा वहीं से छापा मार-मार कर मिथिला पर भी अपना शासन कुछ अंश तक बनाये रखने में सफलता प्राप्त की थी।

नेपाली अनुश्रुतियों के अनुसार नान्यदेव ने अपनी मिथिला की राजधानी सिमराओं से ही सम्पूर्ण नेपाल पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था (जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी-२२, २५६, २०४; सिलभ्यां लेवी : ली नेपाल-२, १९९; एच० सी० राय : डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया, १, २०६; डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २५१)। उसने १०९८ ई० से १११८ ई० तक उसकी तीनों राजधानियों पर अधिकार कर सम्पूर्ण देश का शासन किया (आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया पृ० ३७५)। सिमराओं गढ़ पीछे मिथिला और नेपाल दोनों ही राजधानी बना। यह स्थान दोनों राज्यों के संगम पर था। सिमराओं दुर्ग का भग्नावशेष खण्डहर के रूप में अब भी नेपाल की तराई में पर्वत की जड़ से १५ मील की दूरी पर वर्तमान नेपाल राज्य के रोहतक जिले में बिहार राज्य के चम्पारण जिले की दूसरी ओर घोड़ासाहन तथा छौड़ादानों रेलवे स्टेशनों से कुछ दूर विद्यमान है।

ऊपर लिखा जा चुका है कि देवपार-उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार सेनों के समक्ष नान्यदेव की हार हुई। किसी-किसी विद्वान् की राय में वह युद्धबन्दी भी बनाया गया। कुछ लोगों का कहना है कि नान्यदेव के मिथिला राज्य पर सेनों का अधिकार भी हो गया और रण में पराभव के पश्चात् पकड़े जाने पर वह अपने ही राज्य मिथिला में दरभंगा के गण्डेश्वर किला में बन्दी बना कर सेन-सम्राट् विजय सेन द्वारा कुछ काल तक रखा गया। नान्यदेव के पुत्र गंगदेव ने शक्ति-संचय कर अपने पिता के शत्रु सेन-भूप से युद्ध किया, तथा उसे पराजित कर मिथिला को उससे मुक्त कर लिया। पर नान्यदेव की अस्थायी पराजय के अतिरिक्त और सब बातें निराधार ज्ञात होती हैं। यदि इनमें सच्चाई होती तो

देवपार-अभिलेख के लेखक ने अपने स्वामी नरेश की महत्ता प्रकट करने के हेतु शक्ति-सम्पन्न शब्दों में उन घटनाओं का उल्लेख अवश्य किया होता, पर बात ऐसी नहीं है ।

उद्धृत उल्लेखों पर विचार करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि विजय सेन को मिथिलेश नान्यदेव तथा पश्चिम की अन्य शक्तियों के साथ, जिनके विरुद्ध उसने जल-मार्ग से विजय-अभियान किया था, संघर्ष करना पड़ा था । पर मिथिला में साम्राज्य-विस्तार की दिशा में उसे स्थायी अथवा अस्थायी किसी प्रकार की सफलता कभी मिली थी, इस पर विश्वास करना कठिन है; क्योंकि उस अभियान के पश्चात् भी नान्यदेव के उत्तराधिकारीगण वहाँ लगभग पौने दो सौ वर्षों तक सार्वभौम भू-पालों के रूप में शासन करते पाये गये हैं (इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, ३०, पृ० २०९)।

कतिपय विद्वानों का यह कहना है कि मिथिला में लक्ष्मण संवत् का प्रचार विशेष रूप से पाया जाता है । विद्यापति ने भी अपनी पुस्तकों में जहाँ-तहाँ लक्ष्मणाब्द का व्यवहार किया है । इससे अनुमान किया जाता है कि लक्ष्मण सेन का आधिपत्य कभी मिथिला पर अवश्य था । वह आधिपत्य उसके पितामह विजय सेन के काल से भी मिथिला पर माना जा सकता है; क्योंकि देवपार-अभिलेख में नान्यदेव की सेनों के समक्ष हार की चर्चा की गयी है । पर किसी भी सम्वत् का आरम्भ उसके प्रवर्त्तक नरेश के सिंहासन पर बैठने के काल से होता है । सेन वंश के तीनों प्रसिद्ध भूपति—विजय सेन, वल्लाल सेन एवं लक्ष्मण सेन के सिंहासनारोहणकाल निर्विवाद रूप से विद्वानों ने क्रमशः १०९५ ई० ११५९ ई० तथा ११७८ ई० मान लिया है (इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, ७, ६८७, ३, १८६, ५९४, ५, १३३; इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, १९२२, पृ० १४५; जरनल ऑफ दि ऐशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९२१, पृ० ७) । अतः लक्ष्मण सम्वत्, जिसका व्यवहार मिथिला में पाया जाता है, यदि सेन-भूप लक्ष्मण सेन द्वारा आरम्भ किया गया मान लिया जाय तो उसका आरम्भ-काल ११७८ ई० मानना पड़ेगा । किन्तु हिसाब लगाने से ज्ञात होता है कि उक्त सम्वत् का प्रवर्त्तन ११७८ से कई दशक पूर्व हो चुका था, जिस काल में सेन-सिंहासन पर सम्भवतः लक्ष्मण सम्वत् से माना नहीं जा सकता है । उसका सम्बन्ध केवल लक्ष्मण सेन से ही मानना पड़ेगा, यदि उसका प्रवर्त्तक सेन वंशीय राजा लक्ष्मण सेन को स्वीकार कर लिया जाय तो (इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, ३०,२०९) । विजय सेन के शासनकाल में यदि सेन-नृपति द्वारा उसका प्रवर्त्तन माना जाय तो उसका नामकरण लक्ष्मणाब्द न होकर विजयाब्द होना चाहिये, जो नहीं है । बारहवीं शती के पूर्वीय भारत में लक्ष्मण सेन नाम के किसी दूसरे नरेश का पता भी इतिहास नहीं देता है । अतः इस गुत्थी का सुलझाना अन्वेषकों के समक्ष किंचित् कठिन प्रतीत होता है ।

विद्यापति ने ओइनवार कुल के छठे भूपति देव सिंह की मृत्यु के अब्द के विषय में 'अनल रंध्र कर लक्खन नरवए' (कर-२, रंध्र-९, तथा अनल-३) लिखा है[1] । इस प्रकार पिंगल शास्त्र के मतानुसार, जिसमें 'अंकस्य वामा गतिः' कहा गया है, उक्त 'अनल, रंध्र और कर' में निहित संख्याओं को क्रमानुसार बैठाने पर २९३ लक्ष्मणाब्द होता है । विद्वानों ने हिसाब लगाकर उक्त राजा देव सिंह की मृत्यु का साल १४१२-१३ ई० निश्चित

१. विद्यापति ने वहीं एक साथ शाके एवं लक्ष्मण संवत् का उल्लेख कर सबका समाधान कर दिया है।
शक समुद्द कर आगिन शशी — १३२४ शाके +७८ = १४०२ ई० ल० सं० २९३ = ११०९ ई०
लक्ष्मण सेन का जन्मकाल में संवत् का प्रारम्भ हुआ ।— सम्पादक ।

किया है । इस तरह मिलाकर देखने से लक्ष्मण सम्वत् का आरम्भ-काल (१४१२-२९३=१११९) १११९ अथवा ११२० ई० होता है । किन्तु इतिहास बताता है कि सेन वंशीय लक्ष्मण सेन उस काल के ५८ अथवा ५९ वर्ष पीछे बंगाल के सिंहासन पर बैठा था । इस प्रकार विचार कर देखने में यह लक्ष्मण सम्वत् एक रहस्यमय पहेली जान पड़ता है, जिसका सुलझाना इतिहास-मनीषियों का कर्त्तव्य है । तिरहुत में लक्ष्मणाब्द का प्रचार तथा देवपार-प्रशस्ति के लेखानुसार विजयसेन के समक्ष नान्यदेव की हार की बातों को लेकर ही कतिपय विद्वान लक्ष्मण सेन का तिरहुत में शासन करना स्वीकार करते हैं[1] । पर उक्त देवपार-प्रशस्ति-लेख के रचयिता विद्वान् उमापतिधर ने प्रशस्ति-लेखन के समय शब्दों को बहुत तौल कर प्रयोग किया है । नान्यदेव तथा अन्य राजाओं के विरुद्ध विजय सेन के विजय-अभियान का वर्णन करते समय उसने कहीं नहीं लिखा कि उसने आक्रान्त नृपतियों के प्रदेशों की विजय की। कवि ने केवल उनके आक्रान्त अथवा पराजित होने की ओर अपने शब्दजाल एवं वाक्चातुर्य से संकेत किया है । प्रशस्ति का सम्बद्ध श्लोक नान्यदेव तथा राघव के दर्प को केवल नत किये जाने की बात बताता है । किसी से एक बार नहीं, अनेक बार गर्व को खर्व करने तथा उसको पराजित करने पर भी उसके प्रदेश को उसे पराभूत करनेवाला शत्रु निश्चित रूप से अपने आधिपत्य में कर ही लेगा, यह कोई आवश्यक नहीं है (जरनल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, २५, भाग-३-४, पृ० १३३)। पूर्व में इसका उल्लेख किया जा चुका है कि उक्त प्रशस्ति के २१वें श्लोक से यह कदापि स्पष्ट नहीं होता है कि नान्यदेव तथा राघव को विजय सेन ने बन्दी बना कर कारावास में रखा था । उसके बन्दी गृह में इन दोनों के अतिरिक्त अन्य नृपति भी हो सकते थे, जिनके निनाद से उसका कारागृह प्रतिध्वनित हो रहा था । प्रशस्ति में कोई ऐसा शब्द अथवा वाक्य नहीं है जिससे यह प्रमाणित होता है कि आक्रामक ने नान्यदेव तथा राघव को कैदी बनाकर कैदखाने में रखा था (जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, २५, भाग, ३-४, पृ० १३३)। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि विजय सेन ने आक्रमण कर अपने विजय-अभियान-काल में भूपतियों को पराजित किया, पर उनके राज्यों पर वह आधिपत्य स्थापित न कर सका । पराजय के पश्चात् भी सभी अपनी-अपनी राज्य पर शासन करते ही रहे । इससे यह भी पता चलता है कि पश्चिम में साम्राज्य-विस्तार करने हेतु सेन-भूप ने भरपूर प्रयत्न किया, पर गहड़वाल-नृपति गोविन्द चन्द्र के पौरुष ने उसे सफल होने न दिया । किन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् सेन को उस ओर बढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ, और उसने ११८० और ११९० ई० के बीच कभी प्रयाग तक के प्रदेश को विजित कर काशी एवं प्रयाग में अपने विजय-स्तम्भ खड़े किये । किन्तु मिथिला में उस काल भी नान्यदेव के वंशजों का पूर्ण आधिपत्य एवं शासन था । वे मिथिला के स्थायी शासक एवं नृपति थे और सिमराओं में उनकी राजधानी थी, जिसको विद्वान् इतिहास-लेखक सिलभ्यां लेवी भी स्वीकार करते हैं (ली नेपाल, २, पृ० २०५-१९; इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, ७, ६८९; एच० एन० राय : डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, १, २०६)। लक्ष्मण सेन ने प्रयाग तक की भूमि की विजय करते समय मिथिला को भी विजित कर उसपर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित की, इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं किया गया है । इसके अतिरिक्त गहड़वालों पर अस्थायी

---

१. बल्लाल सेन कृत 'अद्भुतसागर' ज्योतिषग्रन्थ में उन्होंने अपने लिये 'मिथिलाधीश' शब्द व्यवहार किया है– टिप्पणीकार ।

विजय कर लेने का स्मारक उसने काशी एवं प्रयाग में विजय-स्तम्भ के रूप में पृथक्-पृथक् बनवाया, जिसका साक्ष्य इतिहास देता है, पर तिरहुत की विजय के विषय में वह मौन है। मुसलमान विजेता बख्तियार ने ११९९ ई० में नदिया पर आक्रमण कर बंगाल के बहुत बड़े भाग पर अधिकार कर लिया था। लक्ष्मण सेन के शासन का अन्त होने पर भी मिथिला में नान्यदेव के वंशज (मुसलमानों द्वारा बंगालविजय कर लेने के पश्चात् तक) १४ वीं शताब्दी के प्रथम चरण तक स्वतन्त्र रहकर राज करते रहे। मुसलमानों का अधिकार मिथिला पर नहीं हुआ। यह भी सिद्ध करता है कि सेनों का आधिपत्य मिथिला पर न था।

यह पूर्व में लिखा जा चुका है कि जब नान्यदेव को पूर्व दिशा में राज्य-विस्तार के प्रयास में सफलता न मिली, तब उसने उत्तर में नेपाल को स्वायत्त करने की योजना बनायी। शिवदेव-काराड से उसे सहायता मिली। अवसर से लाभ उठाकर वह शनैः-शनैः सम्पूर्ण नेपाल का अधीश्वर बन गया। उसकी पहली राजधानी नान्यपुरा में बनी थी। सम्भवतः उसने उसका परित्याग किया, क्योंकि उसकी चर्चा करना इतिहास ने पीछे छोड़ दिया। सिमराओं में उसने राजधानी पीछे बनायी थी। वहीं से वह तिरहुत एवं नेपाल दोनों का शासन करता था।

नान्यदेव ने नेपाल-विजय कर लेने के पश्चात् वहाँ के स्थानीय शासकों को विनष्ट नहीं किया। उसने उन सबों को अपना सामन्त बनाकर उन्हें यथावत् रहने दिया, और वे सब उसके (नान्यदेव के) तथा उसके वंशजों के अन्दर करद भूप के रूप में अपने राज्य में राज करते थे। नेपाल के उत्कीर्ण लेखों में नान्यदेव के उत्तराधिकारियों के नाममात्र अंकित मिलते हैं, उससे अधिक और कुछ नहीं। राजा प्रताप मल्लदेव के काठमाण्डु-उत्कीर्ण-लेख में कर्णाट वंशीय राजाओं के नाम दिये गये हैं, और वे हैं– (१) नान्यदेव, (२) गंगदेव, (३) नृसिंह देव, (४) रामसिंह, (५) शक्ति सिंह, (६) भूपाल सिंह तथा (७) हरिसिंह देव (इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, ९, १८४-८७, पृ० १८९-९७)। यह अभिलेख नेपाल सम्वत् ७६९ में उत्कीर्ण किया गया था।

डॉ० उपेन्द्र ठाकुर ने अपनी 'हिस्ट्री ऑफ मिथिला' के पृ० २५२ में ७६९ नेपाल सम्वत् को खिष्टाब्द १६४९ ई० माना है। उक्त विद्वान् लेखक के अनुसार नेपाल सम्वत् का आरम्भ १६४९-७६९=८८ ई० में हुआ था। डॉ० आर० सी० मजूमदार ने अपने ग्रन्थ 'ऐन्शिएण्ट इण्डिया' के पृ० ३७५ में लिखा है कि नेपाल तिब्बत से ८८० ई० में स्वतन्त्र हुआ, और नेपाली सम्वत् का आरम्भ स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपलक्ष्य में उसी साल किया गया। सिलभ्यां लेवी तथा कई अन्य इतिहासज्ञ मनीषियों की राय आर० सी० मजूमदार की मान्यता के विपरीत है। वी० पी० सिंह ("दि डिकलाइन ऑफ दि किंगडम ऑफ मगध' के लेखक) ने चीनी एवं तिब्बती लेखकों के आधार पर लिखा है कि नेपाल तथा मिथिला आदि तिब्बत के भारतीय प्रदेश ने ७०३ ई० में तिब्बत के विरुद्ध विद्रोह किया। तीरभुक्ति सम्भवतः परवर्त्ती गुप्त-काल के नृपति विष्णुगुप्त अथवा जीवित गुप्त के शासनकाल में मगध-साम्राज्य में मिला ली गयी। सिलभ्यां लेवी तिब्बत से नेपाल एवं मिथिला को स्वतन्त्र होने का साल ७०२ ई० बताते हैं (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २५९ तथा २५३, पाद-टिप्पणी)।

धर्मदेव लिच्छवि भूपति के शासनकाल में नेपाल ने तिब्बत की पराधीनता से अपने को मुक्त किया था। तीरभुक्ति ने उससे एक वा दो वर्ष पूर्व अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की थी। ये दोनों घटनाएँ आठवीं शती के प्रथम चरण के प्रथम दशक के पूर्वार्द्ध की हैं, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। नेपाल सम्वत् का प्रवर्त्तन यदि तिब्बत की दासता से मुक्त होने के उपलक्ष्य में नेपाल में किया गया तो उसका आरम्भ-काल ८८० ई० को न मानकर ७०३ ई० के लगभग मानना होगा।

वैश्य ठक्कुरी वंश का राघव देव ८८० ई० में नेपाल के सिंहासन पर आसीन हुआ था। कुछ विद्वानों का कहना है कि उसने लिच्छवि-वंश के अन्तिम भूप से नेपाल छीन कर अपनी उस विजय के उपलक्ष्य में उसी साल ८८० ई० में नेपाल सम्वत् का प्रवर्त्तन किया। किन्तु जयदेव द्वितीय के अभिलेख (७४८ ई०) से इसकी पुष्टि नहीं होती है। उसके अनुसार उस काल के पूर्व ७३४ ई० में लिच्छवि-राजा वसन्त देव द्वितीय की मृत्यु के साथ लिच्छवि राजकुल का शासन नेपाल में समाप्त हो चुका था। उक्त अभिलेख में वसन्त देव को मृत भूप कहा गया है और वह लिच्छवि-कुल का अन्तिम राजा था। अंशुवर्मन् ने वैश्य ठक्कुरी राजवंश की नींव दी थी, पर उसके वंशजों ने अपने अभिलेखों में अपने को लिच्छवि-वंशीय बताया है। इसकी चर्चा पुस्तक के नेपाल खण्ड में की जायगी। राघव देव भी वैश्य ठक्कुरी राजकुल का था। कहीं-कहीं पर अंशुवर्मन् को लिच्छवि-नरेश शिवदेव का दत्तक पुत्र बताया गया है। सम्भवतः इसी कारण से उसके वंशजों ने अपने को लिच्छवि-कुलोद्भव भूप कहा है। राघव देव के पूर्व से नेपाल पर वैश्य ठक्कुरी-कुल का शासन चालू था। अतः यह कहना भी ठीक नहीं जँचता है कि ७७९ अथवा ७८० ई० में राघव देव के द्वारा लिच्छवियों के शासन का अन्त हुआ और उस घटना के स्मारक स्वरूप उसने नेपाल सम्वत् नामक एक नये सम्वत् का श्रीगणेश किया। यदि राघव देव के द्वारा उक्त नेपाल सम्वत् की नींव पड़ी तो उसका कारण लिच्छवियों के राज्य-शासन के अन्त के अतिरिक्त कुछ अन्य होगा। इतिहास के मर्मज्ञ विद्वानों की राय में मिथिला ने लगभग ७०२ ई० में तिब्बतियों की दासता के जूए को अपने कन्धे से फेंक कर स्वतन्त्रता की घोषणा की, और नेपाल ने उससे दो वर्षों के पश्चात्, लगभग ७०४-५ ई० में। प्रताप मल्लदेव के काठमांडु-अभिलेख तथा 'मुदित कुवलयाश्व' नाटक एवं अन्य विद्वानों के लेखों में उक्त कर्णाटवंशीय राजाओं के नामों की क्रमागत सूची में कहीं-कहीं किंचित् अन्तर पड़ता है। उत्कीर्ण अभिलेख में नान्यदेव की तीसरी तथा छठी पीढ़ी के नृपतियों का नाम क्रमशः नृसिंह एवं भूपाल सिंह अंकित है, पर सम्बद्ध नाटक में उनकी जगह नरसिंह देव और भवसिंह देव लिखा पाया जाता है। हरिसिंह देव के पूर्व के भूपतियों के शासनकाल के विषय में भिन्नता पायी जाती है। उक्त नाटक ग्रन्थ में इस कुल के पाँचवें नृपति शक्तिसिंह अथवा शक्तिकुमार का नाम नहीं है। पर यह नाटककार की भूल हो सकती है। उस पुस्तक को नाटक ही कहा जायगा, इतिहास-ग्रन्थ नहीं, यद्यपि उसमें ऐतिहासिक पुरुषों के नाम पर चरित्र-चित्रण किया गया है।

कर्णाट क्षत्रिय नृपति नान्यदेव से लेकर उस कुल के अन्तिम राजा हरिसिंह देव तक सात भूपतियों ने १०९७ ई० से १३२४ ई० तक २२७ वर्ष राज्य किया। प्रताप मल्लदेव के काठमांडु-अभिलेख से यह भी पता चलता है कि नेपाल एवं तिरहुत में उस कुल की दो

शाखाओं ने लगातार पृथक्-पृथक् राज्य किया था, और हरिसिंह देव उस कुल का अन्तिम नरेश था। नान्यदेव के द्वारा नेपाल-विजय के अतिरिक्त उसके वहाँ और किसी प्रकार के कार्य का पता इतिहास नहीं देता है। अनुमान किया जाता है कि विजेता की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों की प्रभुसत्ता नेपाल की तराई के स्थानीय शासकों पर नाम मात्र के लिए थी। हाँ, मिथिला से मुसलमानों द्वारा बहिष्कृत किये जाने पर उस कुल के अन्तिम भूप हरिसिंह देव ने नेपाल जाकर निवास किया, और वहाँ से नेपाल पर शासन करने के साथ-साथ तिरहुत पर पुनः अपना आधिपत्य स्थापित कर लेने के हेतु वह सचेष्ट एवं सयत्न रहा।

नान्यदेव ने ५० वर्षों तक मिथिला के सिंहासन से मिथिला एवं नेपाल का शासन किया। उसकी मृत्य ११४७ ई० में हुई। उसकी मृत्यु के समय भी प्रतापी गहड़वाल भूप गोविन्दचन्द्र का प्रताप पूर्व के प्रदेशों को कम्पित कर रहा था, और उस ओर अपने साम्राज्य का विस्तार कर रहा था, पर तिरहुत उससे अछूता था।

नान्यदेव वीर योद्धा, विद्वान् एवं विद्या-व्यसनी, संगीतज्ञ तथा संगीत-शास्त्र का निर्माता, कला-प्रेमी, साहित्य-सेवी, विद्वानों का आश्रयदाता और महत्त्वाकांक्षी नृपति था। उसके संस्कृत-प्रेम ने मिथिला के साहित्यिक-जीवन में नयी स्फूर्ति ला दी, और वह उस दिशा में अपने विनष्ट गौरव को पुनः प्राप्त करने के हेतु प्रयत्नशील हुई। नान्यदेव के राज में सदियों के पश्चात् मिथिला ने स्वतन्त्र होकर पुनः एक बार अपना मस्तक ऊपर उठाया और उसकी गिनती स्वतन्त्र राज्यों में हुई। हर्यंक वंशीय अजातशत्रु ने उसके भाल में जो कलंक का टीका उसका पराभव कर लगाया था, उसे मिथिला ने नान्यदेव जैसा सपूत नेता प्राप्त कर मिटा दिया।

ऊपर अंकित किया जा चुका है कि नान्यदेव के दो पुत्र थे। उनमें से एक का नाम मल्लदेव था तथा दूसरे का गंगदेव। इन दोनों में कौन बड़ा था और कौन छोटा, इसका पता नहीं है। नान्यदेव की मृत्यु का अब्द विवादग्रस्त है। मिथिला में प्रचलित अनुश्रुतियों के अनुसार नान्यदेव की मृत्यु ११३३ ई० में हुई थी (जरनल ऑफ बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, १०, ४६)। पर नेपाल-वंशावली के आधार पर डॉ० बुलर तथा भगवान लाल जी ने नान्यदेव का शासनकाल ५० वर्षों का बताया है। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए ११४७ ई० में उसकी मृत्यु का साल स्वीकार कर लेना युक्ति-हीन नहीं बताया जा सकता है।

मल्लदेव

नान्यदेव के पुत्र मल्लदेव ने यदि राज्य किया तो यह मानना पड़ेगा कि उसका शासनकाल अति अल्पकालीन था। उसके विषय में इतिहास विशेष जानकारी नहीं दे रहा है। विद्यापति की पुस्तक 'पुरुष-परीक्षा' एवं उसके विषय की प्रचलित अनुश्रुतियों के आधार पर मल्लदेव के सम्बन्ध में कुछ पूर्व में प्रसंगवश लिखा जा चुका है। मल्लदेव के काल के दरभंगा जिले के मधेपुर थाने के भीठ-भगवानपुर ग्राम में मूर्त्तिकला के अनेक उत्कृष्ट नमूने अब भी विद्यमान हैं। उन मूर्त्तियों में लक्ष्मीनारायण, गणपति तथा सूर्य की मूर्त्तियाँ एक छप्पर-आच्छादित गृह में प्राप्य हैं, जिनकी संख्या ... है। उनमें से लक्ष्मीनारायण

की मूर्त्ति के आधार पर 'ऊँ श्री मल्लदेवस्य' वाक्य उत्कीर्ण है । लेख दो-तीन पंक्तियों में हैं, पर काल के प्रभाव से शेष अंश पढ़ने योग्य नहीं रह गया है । प्रचलित अनुश्रुति के अनुसार यह भीठ-भगवानपुर मल्लदेव की राजधानी था (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २५४-५५)।

विद्यापति ने अपने ग्रन्थ 'पुरुष-परीक्षा' में मल्लदेव को महान् योद्धा बताया है और यह भी अंकित किया है कि उसकी मृत्यु १६ वर्षों की अवस्था में समर-क्षेत्र में हुई । वह कन्नौज-सम्राट् जयचन्द्र की सेवा में उपस्थित हुआ था, पर उस तेजस्वी वीर की पटरी वहाँ न बैठी । उसने कन्नौज का परित्याग कर उत्तर-पूर्व भारत में पिथि-राज्य के सामन्त भूप चिक्कोर-भूप की शरण ली । मल्लदेव को आश्रय देने के कारण जयचन्द्र एवं पिथि चिक्कोरों के बीच भयंकर संग्राम छिड़ गया । पर 'पुरुष-परीक्षा' के उपर्युक्त उल्लेख को आधारशिला मानकर उसके विषय में कुछ निश्चित मत प्रकट करना संभव नहीं है । इस विषय की किंचित् विवचेना पूर्व में की जा चुकी है । नान्यदेव की मृत्यु के २९ वर्षों के पश्चात् ११७६ ई० में सम्राट् जयचन्द्र अपने पिता विजयचन्द्र की मृत्यु के बाद कन्नौज की गद्दी पर बैठा था । 'पुरुष-परीक्षा' के अनुसार मल्लदेव की मृत्यु १६ वर्षों की अवस्था में हुई थी । इस प्रकार हिसाब बैठाकर देखने से पता चलता है कि जयचन्द्र के सिंहासनारोहण के कई वर्ष पूर्व मल्लदेव इस संसार से चल बसा था । वह जयचन्द्र का समकालीन नहीं था । डा० राजबली पांडेय जयचन्द्र के सिंहासन पर बैठने का समय ११७० ई० मानते हैं (प्राचीन भारत, पृ० ३०२), किन्तु डा० आर० सी० मजूमदार की राय में ११७६ ई० में वह अपनी पैतृक गद्दी पर आसीन हुआ था । यदि जयचन्द्र के सिंहासन का अब्द ११७० ई० स्वीकार कर लिया जाय तो इससे भी मल्लदेव का उसका समकालीन होना किसी प्रकार प्रमाणित नहीं होता है । मल्लदेव के पिता नान्यदेव की मृत्यु ११४७ ई० में हुई थी, इसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है ।

कथा प्रचलित है कि गंगदेव एवं मल्लदेव में स्नेह का अभाव था । अनुश्रुतियाँ बताती हैं कि नान्यदेव के एक पुत्र ने नेपाल में राज्य किया । इतिहास इस बात का साक्ष्य देता है कि नान्यदेव की मृत्यु के अचिर पश्चात् उसका पुत्र गंगदेव मिथिला के सिंहासन पर आसीन हुआ । इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पिता की मृत्यु के पश्चात मिथिला के गृहराज्य पर युवराज गंगदेव का अधिकार हुआ, और नेपाल-राज्य; जहाँ का मल्लदेव संभवतः पूर्व से शासक था, पर उसने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया । भीठ-भगवानपुर मिथिला के पूर्वीय भाग में है । अतः अनुमानतः उसका अधिकार पूर्वीय तिरहुत पर भी बना रहा । पूर्व वर्णित लक्ष्मीनारायण के मूर्त्याधार पर अंकित 'ऊँ श्री मल्लदेव' वहाँ पर उसके शासन का समर्थन करता है ।

कहा जाता है कि मल्लदेव ने कभी अपने भ्राता गंगदेव की सहायता नहीं की । अतः दोनों बन्धुओं में राज्य का बँटवारा हुआ । पश्चात् गंगदेव ने राज्य-विस्तार के हेतु पूर्व दिशा में बंगाल की ओर अपनी दृष्टि फेरी । उस काल वहाँ की राजनीतिक स्थिति सुस्थिर न थी । मिथिला के कर्णाट-भूपति गंगदेव के इस कार्य ने सेन्‍ा के सेनों को और भी पूर्व की ओर खसकने के लिए बाध्य किया । कर्णाटों का आधिपत्य का विस्तार दक्षिण

बिहार के पूर्वीय भाग में अंग प्रदेश के वर्त्तमान भागलपुर प्रमंडल के मधेपुरा अनुमंडल तथा पूर्णिया जिले तक होने का प्रमाण प्राप्त होता है। सहरसा जिले के मधेपुरा अनुमंडल में गंगदेव के नाम पर गंगापुर तथा पूर्णिया जिले में मल्लदेव के नाम पर मल्लडीही नामक नगरों का निर्माण हुआ था, जिससे मिथिला के कर्णाट-भूपों के उस दिशा के विजय-अभियान का पता चलता है (अन्नलस, ३५, १०१; डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २५६ से)।

मिथिला स्थित भीठ-भगवानपुर को मल्लदेव का राजनगर कहा गया है। उस स्थान से नेपाल की तराई की सीमा बहुत दूर नहीं है। बहुत संभव है कि मल्लदेव अपनी राजधानी भीठ भगवानपुर से ही मिथिला के पूर्वीय अंश तथा नेपाल के कुछ भाग पर शासन करता रहा हो। पर वर्त्तमान स्थिति में इस विषय में अधिकार-पूर्ण मत व्यक्त करना सम्भव नहीं है।

मल्लदेव को महाशिवभक्त पंडित वर्द्धमान उपाध्याय का आश्रयदाता कहा जाता है। वे १२ वीं एवं १३ वीं शताब्दियों में विद्यमान थे। स्मृतियों के ऊपर उन्होंने ग्रन्थ लिखे थे। दरभंगा जिले के लहेरियासराय के निकट देकुली ग्राम में एक प्राचीन शिव-मन्दिर है। उसे शिव-वर्द्धमानेश्वर-मन्दिर जनता कहती है। जनश्रुति प्रसिद्ध है कि वहाँ के मन्दिर का निर्माण एवं शिव-लिंग की स्थापना मल्लदेव के आश्रित पं० वर्द्धमान उपाध्याय द्वारा की गयी थी। एक दूसरे वर्द्धमान का भी पता इतिहास देता है। उन्होंने 'दण्ड-विवेक' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। वे सम्भवत: १५वीं शती में विद्यमान थे। यह देकुली वही स्थान है जहाँ ओइनवार कुल के छठे भूप देवसिंह ने अपनी राजधानी ओईनी (वैनी, वर्त्तमान पूसारोड) से स्थानान्तरित कर स्थापित की थी। यह ग्राम वर्त्तमान लहेरियासराय स्थित शासकीय न्यायालय एवं रेलवे स्टेशन से केवल २ मील उत्तर है।

गंगदेव

नेपाल-वंशावली के वर्णनानुसार नान्यदेव का पुत्र गंगदेव ११४७ ई० में अपने पैतृक सिंहासन पर आसीन हुआ, तथा ४१ वर्षों तक मिथिला पर पराक्रम के साथ शासन किया। परन्तु स्थानीय अनुश्रुति उसके सिंहासनारोहण का काल ११३४ ई० तथा उसकी शासनावधि केवल १४ वर्षों की बताती है। उस (प्रचलित जनश्रुति) के अनुसार नान्यदेव का राज्यकाल ५० वर्षों का न होकर केवल ३६ वर्षों का ही होगा, यदि गंगदेव ११३४ ई० में मिथिला की गद्दी पर बैठा था (महामहोपाध्याय परमेश्वर झा : मिथिला तत्वविमर्श, १०२)। के० पी० जायसवाल नें डा० बुलर तथा भगवान लाल के नेपाल-वंशावली के आधार पर कहे गये नान्यदेव के ५० वर्षों के शासनकाल को स्वीकार किया है। 'पुरुष-परीक्षा' में विद्यापति ने नान्यदेव के पुत्र मल्लदेव को जयचन्द्र का समकालीन अंकित किया है (पुरुष-परीक्षा, १,३)। जयचन्द्र ११७० ई० में कन्नौज के सिंहासन पर बैठा था। उस काल मल्लदेव की उम्र लगभग १६ वर्षों की मानी गयी है। यदि 'पुरुष-परीक्षा' के कथानक को ठीक माना जाय तो नान्यदेव की मृत्यु का साल (११७०-१६ =११५४) ११५४ ई० के कुछ काल पश्चात् मानना होगा। विद्यापति मिथिला के परम प्रसिद्ध कवि एवं लेखक थे। नान्यदेव की मृत्यु ११३३ अथवा ११३४ ई० में हुई (जरनल ऑफ बिहार ऐंड उड़ीसा

रिसर्च सोसाइटी १०, ४६), इस मिथिला की स्थानीय जनश्रुति का अनुमोदन विद्यापति के पूर्वोक्त लेख से भी नहीं होता है । नान्यदेव की मृत्यु के वर्ष के विषय में विद्यापति का उक्त अंकन भी सही नहीं प्रतीत होता है, जिसकी विवेचना पूर्व में की जा चुकी है । सभी बातों पर विचार करने पर नान्यदेव की मृत्यु तथा गंगदेव के सिंहासनारोहण का काल ११४७ ई० ही ठीक जँचता है ।

गंगदेव का समकालीन सेन-वंशीय गौड़-नरेश वल्लाल सेन था । वह ११५९ ई० में सेन-सिंहासन पर बैठा तथा ११७८ ई० तक १९ वर्ष राज किया । पूर्व में यह उल्लेख किया गया है कि वल्लाल सेन के पिता विजय सेन ने गंगदेव के पिता नान्यदेव को पराजित किया था । अतः दोनों ही विजेता एवं विजित क्षितिपालों के उत्तराधिकारियों के बीच वैमनस्य तथा संघर्ष होना स्वाभाविक था । मिथिला में प्रचलित अनुश्रुतियाँ वल्लाल सेन एवं गंगदेव के बीच मनोमालिन्य और संघर्ष का संकेत करती है (महामहोपाध्याय पं० परमेश्वर झा : मिथिला तत्वविमर्श, ११०) । 'वल्लाल चरित' में सेन-भूपति वल्लाल सेन के राज्य के ५ प्रदेशों के नाम आये हैं, और वे हैं – (१) वंग, (२) वागदी, (३) वरेन्द्र, (४) राधा, तथा (५) मिथिला । उसके ३ राजनगरों के भी नाम उसमें दिये गये हैं, जहाँ वह समय-समय पर निवास करता था (वल्लाल चरित, अध्याय-१, श्लोक ८. मजूमदार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल– १, २१२, २१६-१७, १७०) । वल्लाल सेन ने 'अद्‌भुत सागर' नामक ग्रन्थ का स्वयं प्रणयन किया था । उसमें उसने अपने को 'मिथिला महीमहेन्द्र निश्शंकर' विरुद से आभूषित किया है । परन्तु यह उसका विरुद केवल प्रशस्तिवाचक ही प्रतीत होता है । वास्तव में नान्यदेव तथा उसके उत्तराधिकारियों का मिथिला पर शासन अक्षुण्ण बना हुआ था ।

इसमें सन्देह नहीं कि गंगदेव के शासन का आरम्भ-काल उसके लिए शान्तिपूर्ण एवं सुखद न था । स्वयं अपना भाई उसका सहायक न था । पड़ोसी राज्य के स्वामी सेनों से उसकी शत्रुता चल रही थी । मिथिला पर आधिपत्य स्थापित करने में असफल होने पर भी सेन-राज अपने को, केवल नान्यदेव को कभी अपने पिता विजयसेन द्वारा रणनत किये जाने के कारण, 'मिथिलामही-महेन्द्र-निश्शंकर' कहने में संकोच नहीं कर रहे थे । महामहोपाध्याय पंडित मुरलीधर झा ने भिन्न-भिन्न स्थानों से 'अद्‌भुत सागर' की कई हस्तलिखित पांडुलिपियों को एकत्र कर पुस्तक का संकलन एवं सम्पादन किया था । उसके प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में 'अथ मिथिला-मही-महेन्द्र-निश्शंकर' श्रीमद् वल्लाल सेन देव सम्पादितोऽयम् अद्‌भुतसागरः' तथा अन्त में 'इति श्री महाराजाधिराज-निश्शंक-शंकर श्रीमद् वल्लाल सेनदेव-विरचितेऽद्‌भुत सागरे' अंकित है (अन्नल्स १२, २१२-१७)। उपर्युक्त 'मिथिला-मही-महेन्द्र-निश्शंकते' लेख को देखकर ही कतिपय विद्वानों की यह निश्चित धारणा हो गयी कि वल्लाल सेन तथा उसके उत्तराधिकारी ने वास्तव में मिथिला पर कुछ काल तक शासन किया था । डा० आर० सी० मजूमदार ने 'वल्लाल चरित' (अध्याय-१, श्लोक संख्या ८) के आधार पर अपना निश्चित मत व्यक्त किया है कि वल्लाल सेन द्वारा शासित ५ प्रदेशों में मिथिला प्रदेश भी एक था (हिस्ट्री ऑफ बंगाल-१, २१२, २१६-१७, १-७०) ।

इतिहास-लेखक एच० सी० राय की राय में वल्लाल सेन के राज्य की पश्चिमी

सीमा के अन्तर्गत मिथिला का होना असम्भव नहीं जँचता है। उनका विचार है कि नान्यदेव को विजयसेन ने पराजित किया था। अतः उसका आधिपत्य मिथिला पर हो गया होगा। ऐसी दशा में कोई कारण नहीं दृष्टिगोचर होता है जिससे यह अनुमान किया जाय कि उसकी दूसरी पीढ़ी के भूपाल वल्लाल सेन के अधिकार से मिथिला निकल गयी थी। वल्लाल सेन के मिथिला-आक्रमण का समर्थन 'लघुकथा' में अंकित कथानक से भी हो जाता है (एच० सी० राय : डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया, १, ३६४)। विद्वान लेखक ने तिरहुत में लक्ष्मणाब्द के प्रचार का सम्बन्ध भी वल्लाल सेन के मिथिला-आक्रमण के साथ जोड़ा है। उनके विचार में जिस काल वल्लाल सेन मिथिला पर आक्रमण कर वहाँ समरलीन था, उसी समय उसे अपने पुत्र लक्ष्मण सेन के जन्म का शुभ समाचार प्राप्त हुआ। पुत्र-प्राप्ति के उपलक्ष्य में अपने प्रिय शिशु के नाम पर उसने एक सम्वत् का प्रवर्त्तन किया, जो लक्ष्मण-सम्वत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। लक्ष्मणाब्द का आरम्भ १११९-२० ई० में हुआ था (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १८९६; १, २६)।

पूर्व में अंकित किया जा चुका है कि १११९-२० ई० में मिथिला के सिंहासन पर नान्यदेव था, उसका पुत्र गंगदेव नहीं। नान्यदेव के राज्य पर वल्लाल सेन के पिता विजयसेन ने आक्रमण कर नान्यदेव को पराजित किया था। यदि विजयसेन का यह आक्रमण १११९-२० में हुआ होगा तो यह मानना पड़ेगा कि मिथिला में लक्ष्मणाब्द का आरम्भ विजयसेन के द्वारा किया गया होगा, उसके पुत्र वल्लाल सेन के द्वारा नहीं। एक ही समय विजयसेन को दो लाभ हुए होंगे, एक नान्यदेव पर विजय और दूसरा पौत्र की प्राप्ति। यह किसी अंश तक संभव भी माना जा सकता है कि अपने सौभाग्यशील प्रिय पौत्र की उपलब्धि का समाचार शत्रु पर विजय की शुभ घड़ी में प्राप्त कर उसने पौत्र के जन्म तथा विजय का स्मारक एक नया सम्वत् नवजात शिशु के नाम पर चलाया हो। यह भी संभव हो सकता है कि उसी शुभ वेला में दोनों विजित एवं विजेता कर्णाट वीरों के बीच आपसी मतभेदों को पाटकर किसी प्रकार की मैत्री-सन्धि हुई हो जो दोनों राज्यों के लिए मर्यादापूर्ण एवं हितकर हुई हो, और उसी का स्थायी स्मृति-चिन्ह वहाँ मिथिला में उस नव सम्वत् का आरम्भ कर जनता के हृदय-पट पर अंकित किया गया हो (वी० सी० सेन : सम हिस्टोरिकल ऐसपेक्ट्स ऑफ इन्सक्रिप्शन्स ऑफ बंगाल, ४६३-६४)।

श्री एच० सी० राय की मान्यता कि वल्लाल सेन ने गंगदेव के शासनकाल में मिथिला पर आक्रमण किया था और वह प्रान्त सेन-साम्राज्य के अन्तर्गत था, सही नहीं जँचती है। वल्लाल सेन के किसी भी अभिलेख में मिथिला-भूप के साथ संघर्ष की चर्चा सीधे अथवा प्रकारान्तर से नहीं पायी गयी है। 'बल्लालचरित' तथा 'अद्‌भुत सागर' के अंकन विशेषतया प्रशस्ति-सूचक हैं, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उपर्युक्त सभी तथ्यों पर ध्यानपूर्वक गहरा विचार करने के पश्चात् तर्क यही बताता है कि विद्वान लेखकों ने वल्लाल सेन की जिस चढ़ाई की चर्चा जनश्रुति के आधार पर की है, तथा जिसका समावेश 'लघुकथा' के कथानकों में हुआ है, उसका सम्बन्ध उसके पिता विजयसेन के मिथिला-आक्रमण से है, जिस अभियान में वह (वल्लाल सेन) अपने पिता के साथ

युद्ध-यात्रा कर रहा था । जान पड़ता है कि अपने पिता की विजय का श्रेय वल्लालसेन ने 'वल्लाल-चरित' में अपने ऊपर लिया है ।

सेन-कुल के भूपतियों के अभिलेखों में कहीं भी स्पष्टतया यह अंकित नहीं किया गया है कि मिथिला वल्लाल सेन के शासनकाल में उसके राज्य का एक अंग था । किसी अभिलेख से यह प्रमाणित नहीं होता है कि उस काल बिहार प्रदेश में सेनों का राज्य था। मुसलमान इतिहास-लेखक मिन्हाजुद्दीन के ग्रन्थ 'तवकात-ए-नासिरी' में उल्लेख है कि बख्तियार खिलजी ने लक्ष्मण सेन के राज्य के आधे पश्चिमी भाग पर विजय प्राप्त कर उसे स्वायत्त कर लिया था, किन्तु उसमें उसने बिहार के किसी अंश पर सेनों के स्वामित्व की चर्चा नहीं की है ।

भागलपुर से २० मील तथा कोलगौंग (कहलगाँव) से ११ मील की दूरी पर सनोखार बाजार के सूर्य-मन्दिर के एक कोने में कुछ दिन पूर्व डा० डी० सी० सरकार को अष्टधातु-निर्मित बटेश्वर नाथ की एक छोटी मूर्त्ति प्राप्त हुई थी । वह मूर्त्ति एक धातु के बने आच्छादन से आच्छादित थी । उस मूर्त्ति के ऊपर गौड़ीय लिपियों में लगभग १२वीं शताब्दी का उत्कीर्ण लेख था । वह लेख वल्लाल सेन के शासन के ९वें वर्ष में (लगभग ११६६ ई० में) अंकित किया गया था । इस लेख की प्राप्ति ने पहले-पहल यह प्रमाणित किया है कि १२वीं शताब्दी के मध्य में सेनों का साम्राज्य पूर्वी बिहार के कुछ अंश तक पहुँच चुका था । सनोखार बाजार तथा कोलगौंग (कहलगाँव) भागलपुर जिले में हैं, जो उस काल मिथिला के अन्तर्गत नहीं थे । भागलपुर जिला अंग प्रदेश का एक अंग था । इस अभिलेख की प्राप्ति से भी यह प्रमाणित नहीं होता है कि मिथिला पर बल्लाल सेन का शासन कभी हुआ था (इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, ३०, २१०-१३) ।

गहड़वाल भूप गोविन्दचन्द्र अपने विजय-अभियान में दक्षिण बिहार के पूर्वीय भाग में मुद्‌गिरि तक पहुँच चुका था । सेनों से उसका सौहार्द्र-सम्बन्ध न था । वल्लाल सेन को वर्द्धमान गहड़वालों से गहरी शंका थी । उसके बढ़ाव से उसे अपनी अधिकृत प्रदेशों की रक्षा करनी थी । उसके लिए सुदूर स्थित मिथिला के पड़ोसी राज्य को ऐसी विकट परिस्थिति में छोड़कर उसे भयंकर शत्रु बना लेना बुद्धिमानी न थी । इसके लिए उसे अवकाश भी न था ।

प्राचीनकाल में पंचगौड़ का मिथिला एक अंग था । वल्लाल सेन गौड़ का अधीश्वर था । गौड़ेश्वर होने के नाते उसे प्रशस्तिकारों ने 'मिथिलामही-महेन्द्र' के गौरव से वंचित न होने दिया हो, ऐसा भी हो सकता है । उसके पिता ने मिथिलेश्वर को पराजित किया था । उसकी यादगारी में भी उस विरुद का धारण करना उसके लिए संभव हो सकता है । 'अद्‌भुत-सागर' में उसने अपने को मिथिला-मही का इन्द्र न बताकर महाइन्द्र बताया है । अतः महाइन्द्र के अतिरिक्त वहाँ पर किसी साधारण इन्द्र का भी होना आवश्यक है । इन्द्र का अर्थ स्वामी होता है । इसलिए मिथिला का स्वामी वल्लाल सेन के अतिरिक्त कोई दूसरा व्यक्ति था, जो कर्णाट कुल के सूर्यवंशीय क्षत्रिय नान्यदेव का पुत्र गंगदेव था। मिथिला के भूपति से अपने को श्रेष्ठ बताने के विचार से बल्लाल सेन ने 'अद्‌भुत-सागर' में 'मिथिला-मही-महेन्द्र-निश्शंक' विरुद को अपनाया है, ऐसा लगता है ।

नेपाल-वंशावली के अनुसार गंगदेव ने ४१ (अथवा ४०) वर्षों तक राज किया था। इसके अतिरिक्त उसके शासन के विषय में इतिहास बहुत अधिक सामग्री प्रस्तुत नहीं करता है। दरभंगा जिले के मधुबनी अनुमंडल के ग्राम अन्हराठाढ़ी के एक प्राचीन मन्दिर की दीवार के भग्नावशेष पर नान्यदेव के एक उत्कीर्ण अभिलेख का पता चला है। मन्दिर का निर्माण नान्यदेव के प्रधानमन्त्री श्रीधर ने किया था, और उसमें भगवान् कमलादित्य के विग्रह की स्थापना की गयी थी। उस उत्कीर्ण अभिलेख में भी गंगदेव के विषय में कुछ अंकन न किया गया है। उस अभिलेख के पार्श्व में एक शार्दूल-विक्रीड़ित १९ अक्षरों का वर्णवृत्त छन्द भी उत्कीर्ण है, जिसके अक्षर घिस गये हैं और पढ़े नहीं जाते हैं। उसमें केवल गंगदेव का नाम पढ़ा जाता है (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २६१)। श्रीधर गंगदेव के काल में भी उसके प्रधानमन्त्री थे। किन्तु उनके मन्दिर-अभिलेख से भी गंगदेव की राजनीतिक उन्नति अथवा ह्रास पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों की ओर सिंहावकोलन करने तथा झाँक कर देखने से पता चलता है कि गंगदेव को शासन के आरम्भ में कुछ कठिनाइयों का सामना अवश्य करना पड़ा, पर पीछे उसका जीवन शांतिमय एवं सुखपूर्ण बीता। बाहरी आक्रमणों का सामना करने का दुखद संयोग उसे कभी प्राप्त न हुआ। बंगाल के सेन गहड़वालों के आतंक से आतंकित अपनी सुरक्षा में व्यस्त थे। अतः उनकी ओर से मिथिलापति को कोई शंका शेष न रह गयी थी। उधर गहड़वालों को मुसलमान आक्रामकों का सामना करना पड़ रहा था। गोविन्दचन्द्र के पुत्र विजयचन्द्र को यवन आक्रामक सम्भवतः खुसरो मल्लिक के साथ उलझना पड़ा था। उसने उसके आक्रमण को विफल कर उसे रणक्षेत्र से खदेड़ तो दिया, पर मुसलमानों की बढ़ती शक्ति से वह निश्शंक न हो सका। मेवाड़ के विजोला-अभिलेख से पता चलता है कि उसी काल के लगभग विग्रहराज विसलदेव चौहान (११५०-६३ ई०), जो साँभर एवं अजयमेरु (अजमेर) का भूप तथा पृथ्वीराज का चाचा था, ने चढ़ाई कर दिल्ली उससे छीन ली थी। विजयचन्द्र के उत्तराधिकारी जयचन्द्र को भी मुसलमानों के आक्रमणों के प्रतिकार में तत्पर रहना पड़ता था (इण्यिन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली ७, ६६३; आर० एस० त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, ३०१, ३०८, ३१९)। इन कारणों से गहड़वालों को भी साम्राज्य-विस्तार के हेतु अभियान करने का अवकाश न था। डॉ० उपेन्द्र ठाकुर ने अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑफ मिथिला' (पृ० २६३) में उक्त गहड़वाल नरेशों के समसामयिक प्रतिद्वन्द्वियों में सुलतान महमूद गजनवी का नाम अंकित किया है। पर महमूद गजनवी की मृत्यु १०३० ई० विजयचन्द्र के समय के बहुत पूर्व हो चुकी थी। अतः उसको खुसरो मल्लिक के आक्रमण का सम्भवतः सामना करना पड़ा था, महमूद गजनवी का नहीं (डा० आर० सी० मजूमदार : ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३३६)। उसके पुत्र जयचन्द्र के शासनकाल में गोर के सुलतान गियासुद्दीन के भाई तथा सेनानायक शिहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी का बार-बार भारत पर आक्रमण हुआ था। जयचन्द्र का सेनों के साथ भी संघर्ष बहुकाल-व्यापी रहा था। इस लिए सेनों और गहड़वालों को मिथिला को छेड़ने के लिए अवकाश न था। वे सब अपनी रक्षा के उपाय में संलग्न थे। मुसलमानों की बढ़ती शक्ति की अग्नि-शिखा में गहड़वालों और सेनों को पहले आहुत होना पड़ता। इस बीच मिथिला का राजनीतिक जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत हुआ और उसकी स्वतन्त्रता उस काल के बहुत पीछे तक अक्षुण्ण बनी रही। उसकाल के सम्पूर्ण उत्तर भारतवर्ष के राजनीतिक आकाश में आपत्ति

के अनन्त काले-काले बादल के टुकड़े तत्कालीन परिस्थिति तथा भारतीय नृपतियों की स्वार्थान्धता एवं आपसी फूट और द्रोह रूप झंझावात से आंदोलित जन-समुदाय को आतंकित करते हुए मंडरा रहे थे। पर मिथिला का राजनीतिक वातावरण उस उथल-पुथल की घड़ी में भी शान्त था। गंगदेव ने परिस्थिति से लाभ उठाकर जनहित की दृष्टि से अपने राज्य में अनेक प्रशासनिक सुधार किये। राजस्व की प्राप्ति में सुविधा के विचार से उसने राज्य को अनेक सीमित परगनों में विभक्त कर दिया। प्रत्येक परगने में राजस्व की वसूली के हेतु उसने समाहर्त्ता नियुक्त किया। ऐसे समाहर्त्ता अथवा मुखिया को 'चौधरी' की उपाधि प्रदान की गयी। विवादों के निपटारा के हेतु ग्रामों में पंचायत की सृष्टि की गयी (मुजफ्फरपुर डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, १८)। ग्रामपंचायतों की स्थापना तथा ग्रामों में ही विवादों का निपटारा होने से प्रजा की सुख-समृद्धि में वृद्धि हुई। अनेक बुराइयों का उसके द्वारा निराकरण हुआ तथा जनपद की साम्पत्तिक दशा में सुधार हुआ।

गंगदेव ने राज्य में धर्म की व्यवस्था के हेतु एक अलग विभाग का सृजन किया, जिसके प्रधान (अध्यक्ष) अथवा मन्त्री पं० वर्द्धमान उपाध्याय थे। उनकी उपाधि 'धर्माधिकरणिक' की थी। कुछ विद्वानों की राय है कि वर्द्धमान उपाध्याय गंगदेव के पौत्र रामसिंह देव के समय में हुए थे। उनका ठीक काल इतिहास बताने में अब तक अक्षम रहा है। बहुत संभव है कि गंगदेव, उसके पुत्र नरसिंह देव तथा पौत्र रामसिंह देव की राजसभा में रहकर उन्होंने लगातार धर्माधिकरणिक के पद को सुशोभित किया हो। महामहोपाध्याय पं० परमेश्वर झा (मिथिला तत्त्वविमर्श, ११२) के विचार में 'दण्ड-विवेक' के रचयिता पं० वर्द्धमान उपाध्याय गंगदेव के शासनकाल में हुए थे। पूर्व में मल्लदेव के सम्बन्ध में वर्णन करते समय एक और वर्द्धमान उपाध्याय की चर्चा की जा चुकी है, जिनको 'दण्डविवेक' का प्रणेता वहाँ बताया गया है, तथा उनके विषय में अंकित किया गया है कि वे सम्भवतः १५वीं शती में विद्यमान थे। अतः 'दण्ड-विवेक' के रचयिता वर्द्धमान उपाध्याय का समय विवादग्रस्त प्रतीत होता है। दरभंगा जिले के आशीग्राम में वर्द्धमान उपाध्याय द्वारा निर्मित मठिआही नामक सरोवर विद्यमान है, जिसके तट पर विष्णु एवं गरुड़ का एक प्राचीन मन्दिर था। वहाँ से एक उत्कीर्ण अभिलेख प्राप्त हुआ था जो कुछ दिन पूर्व तक हाटी की नीलकोठी में पूर्णतया अरक्षित दशा में पड़ा था[१]। वह अभिलेख निम्नांकित था :—

'जातो वंशे विल्वपंचाभिधाने, धर्माध्यक्षो वर्धमानो भवेशात्।
देवास्याग्रे देवयष्टिध्वजाग्रा-रूढं कृत्वाऽस्थापयद् वैनतेयम्'॥

कहा जाता है कि गंगदेव ने अनेक बड़े-बड़े सरोवर अपने राज्य में खुदवाये थे, जिनमें से तीन अब भी विद्यमान हैं। पर उनका विस्तार पूर्वापेक्षा सम्प्रति कम है। उन तीनों के नाम गंगदेव के नाम पर (गंग-सागर) ही प्रचलित है (महामहोपाध्याय पं० परमेश्वर झा : मिथिला तत्त्वविमर्श, १२३-१३; अन्नल्स-३५, १०६-०७; डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २६४)। यह गंग अथवा गंगा-सागर पोखर दरभंगा रेलवे स्टेशन के अति सन्निकट है, जिससे संलग्न दो सरोवर और हैं, जो गंगा-सागर से लगातार एक

---

१. सम्प्रति यह प्रस्तरस्तम्भ लेख (मिथिलाक्षर) दरभंगा के 'महाराज लक्ष्मीश्वर संग्रहायल' के आगे रखा हुआ है। इस वर्धमान का समय १४५० ई० निश्चित है— (सम्पादक)।

सीध में थोड़े अन्तर पर अब भी दृष्टिगत होते हैं। सम्भव है, कभी तीनों सरोवर एक ही विशाल झील के रूप में रहे हों और काल-क्रम से उनके बीच मिट्टी जम जाने के कारण एक ही झील तीन विशाल सरोवरों के रूप में परिदर्शित होने लग गयी हो।

अनुश्रुतियाँ बताती है कि गंगदेव ने दरभंगा जिलान्तर्गत अन्हराठाढ़ी नामक ग्राम में एक विशाल दुर्ग का निर्माण कराया था, जो सम्प्रति भू-गर्भ में छिपा पड़ा है। भग्नावशेष खण्डहर से कई ऐसे प्रस्तर-खंड प्राप्त हुए थे जिन पर गंगदेव का नाम उत्कीर्ण था (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २६४)।

नेपाल को गंगदेव के पिता नान्यदेव ने जीतकर वहाँ अपना शासन स्थापित किया था। पूर्व में इसका उल्लेख किया गया है कि पिता की मृत्यु के पश्चात् नेपाल के कुछ अंश पर गंगदेव के भ्राता मल्लदेव का शासन हुआ। गंगदेव का नेपाल से सम्बन्ध केवल एक सम्राट् के रूप में था, जहाँ से उसे सम्भवतः कुछ वार्षिक कर प्राप्त होता था। प्रजा के शासन मे उसका सीधा सम्पर्क न था। स्थानीय शासकों द्वारा देश का शासन होता था। राज्य -` वैधानिक सर्वोपरि सत्ताधारी होने के नाते अनुमानतः वह वहाँ के राजनीति के नि॰यन्त्रण करने के अधिकार को आवश्यकतानुसार यदा-कदा प्रयोग में लाता था। उसने ११४७ ई० से ११८७ अथवा ११८८ ई० तक राज किया।

नरसिंह देव

गंगदेव की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र नरसिंह देव मिथिला के सिंहासन पर ११८७ अथवा ११८८ ई० में आसीन हुआ। वह महान् योद्धा था। उसके विषय में कहा जाता है कि लगभग ३८ वर्षों तक उसने राज किया था। नेपाल-वंशावली में उसका नाम तथा उसके ३१ वर्षों का शासनकाल अंकित मिलता है (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २६५)। नरसिंह देव के शासनकाल के विषय में विद्वानों की भिन्न-भिन्न राय है। एस० के० चटर्जी तथा श्रीकृष्ण मिश्र द्वारा संपादित 'वर्णरत्नाकर' के विषय-प्रवेश में इस विषय की विवेचना की गयी है। आर० एल० दास की पुस्तक 'मिथिला दर्पण' के पृ० ६२ में नरसिंह देव का समय ११४९ तथा १२०१ ई० के बीच माना गया है, और महामहोपाध्याय पण्डित परमेश्वर झा ने अपने ग्रन्थ 'मिथिला तत्त्वविमर्श' में उसका काल ११३९ एवं ११९१ ई० के अन्दर कूता है। अन्नल्स (३५, १०७) तथा इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, (१८८०, पृ० १८८) में भी इस विषय पर विशद विवेचना की गयी है।

रामदत्त नरसिंह देव का मन्त्री था। दोनों ही राजा और मन्त्री अपने काल के साहित्यज्ञ और लेखक थे। रामदत्त ने 'दान-पद्धति' नामक पुस्तक का प्रणयन किया था। उस ग्रन्थ में नरसिंह देव द्वारा प्रस्तुत लेखांश का समावेश किया गया है। उससे केवल यही ज्ञात होता है कि कर्णाटान्वयभूषण श्रीमान् नृसिंह देव (नरसिंह देव) मिथिला का सार्वभौम नरेन्द्र था तथा रामदत्त उसका मन्त्री। नरसिंहदेव के शासनकाल से कुछ समय पूर्व (११०० शके अथवा ११७८ ई०) का चण्डेश्वराचार्य द्वारा प्रणीत 'सूर्य सिद्धान्त' का भाष्य नेपाल-राज-पुस्तकालय में सुरक्षित है। किन्तु उस ग्रन्थ से भी नरसिंह देव की राज्य-शासन-व्यवस्था तथा उस भूपति के राजनीतिक कार्य-कलापों पर किसी प्रकार का प्रकाश नहीं पड़ता है।

मनमोहन चक्रवर्ती की राय में हरिसिंह देव के मन्त्री चण्डेश्वर ठाकुर का 'नरसिंह देव का मन्त्री रामदत्त, पितृव्य-पुत्र था। अतः हरिसिंह देव तथा नरसिंह देव के समय में बहुत कम अन्तर होना चाहिये । उनकी राय में सम्भवतः नरसिंह देव हरिसिंह देव के पश्चात् का कर्णाट वंशीय भूप था । (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, न्यू सीरीज, १९९५, पृ० ४१३) । पर उनकी यह धारणा आधारहीन और असम्भव प्रतीत होती है । क्योंकि नरसिंह देव निश्चित रूप से हरिसिंह देव का प्रपितामह था, तथा उसके शासन के अन्त के लगभग एक शती पूर्व इस धराधाम पर विद्यमान था । हरिसिंह देव के पश्चात् किसी नरसिंह देव नाम के कर्णाट वंशीय राजा का मिथिला में शासन करना इतिहास नहीं बताता है । कर्णाट वंश का मिथिला में शासन करनेवाला हरिसिंह देव अन्तिम भूप था, इसमें शंका का कोई स्थान शेष नहीं है ।

विद्यापति के ग्रन्थ 'पुरुष-परीक्षा' के सत्यवीर कथा-प्रसंग के कथानक के अनुसार नरसिंह देव शिंहाबुद्दीन गोरी का सेनापति रह चुका था । उसके वीरतापूर्ण कार्य के पुरस्कार में मिथिला का राज्य शिहाबुद्दीन ने उसको प्रदान किया था । किसी का यह भी कहना है कि नृसिंह अथवा नरसिंह देव को शिहाबुद्दीन गोरी ने बन्दी बनाकर अपने शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध करने हेतु भेजा था । नरसिंह देव ने अपनी अलौकिक वीरता से सुलतान के शत्रु का रण-पराभव किया । उस पर शिहाबुद्दीन ने उसके शौर्य से प्रभावित एवं सेवा से प्रसन्न होकर मिथिला का राज्य अन्त में उसको समर्पित किया (महामहोपाध्याय पं० परमेश्वर झा : मिथिला-तत्त्वविमर्श -११५; इलियस रहमानी का मिथिला पर लेख, २ फरवरी, १९५३ ई० पृ० ६; अन्नलस, ३५, १०७) । पर उपर्युक्त दोनों ही कथाएँ विश्वसनीय नहीं हैं ।

उद्धर्वांकित दोनों ही कथाओं को यदि सत्य पर आधारित मान लिया जाय तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मुसलमानों के शिहाबुद्दीन गोरी के नायकत्व में उत्तर भारत पर आक्रमण के आरम्भ काल में ही आक्रामकों का आधिपत्य मिथिला पर स्थापित हो चुका था । परन्तु इसको न मुसलमान इतिहास-लेखक ही बताते हैं और न यह बात स्थानीय अभिलेखों से ही प्रमाणित होती है । शिहाबुद्दीन मुहम्मद स्वयं अपने आक्रमणों के आरंभिक काल में उत्तर भारत के पूर्वीय भाग तक नहीं पहुँचा था । इतिहास इसका साक्ष्य देता है कि सर्वप्रथम मुहम्मद बख्तियार खिलजी ने १२०० ई० के लगभग बिहार पर आक्रमण कर उसको तहस-नहस (नष्ट-भ्रष्ट) किया था । दक्षिण बिहार के उदण्डपुर (बिहारशरीफ) का ऐतिहासिक विशाल बौद्ध विहार के सत्यानाशी और पैशाचिक आक्रमण का उसकाल प्रथम लक्ष्य बना था ।

गौड़ेश्वर लक्ष्मण सेन (वल्लाल सेन के पुत्र) के शासनकाल में मुसलमानों ने उस पर चढ़ाई कर उसकी राजधानी लखनौती पर अधिकार कर लिया था । डा० राजबली पाण्डेय द्वारा प्रणीत 'प्राचीन भारत' के पृ० ३२४ के उल्लेखानुसार लक्ष्मणसेन के शासनकाल में नहीं, वरन् उसके पुत्र माधवसेन (लक्ष्मणेय अथवा लखमनिया) के समय में कुतुबुद्दीन के तुर्क सेनापति मुहम्मद-बिन-बख्तियार ने ११९९ ई० में बंगाल पर आक्रमण किया । मुसलमान इतिहासकारों के अनुसार माधवसेन कायरता पूर्वक खिड़की के मार्ग से भाग

निकला और गौड़ के ऊपर तुर्कों का अधिकार हो गया । लक्ष्मण सेन कुशल सेनानी और वीर योद्धा था, इतिहास इसका साक्ष्य देता है । 'आइन-ए-अकबरी' में अङ्कित 'सेन-वंश-वृक्ष' से उस वंश में उत्पन्न दो लक्ष्मणसेन का पता चलता है । किन्तु 'तवकात-ए-नासिरी' में केवल एक लक्ष्मणसेन का अंकन है । इस पुस्तक का लेखन-काल १२५० ई० है और लेखक ने अनपढ़ अफगान सैनिकों से सुने हुए वृत्तान्त को इतिहास के रूप में स्वीकार कर अंकित किया है । मिथिला उस गौड़-विजयकाल में भी स्वतन्त्र था । सन् १३२३ ई० में मुहम्मद गोरी ने नहीं, प्रत्युत मुहम्मद-बिन-तुगलक के पिता गियासुद्दीन तुगलक ने बंगाल के विद्रोह का शमन कर लौटते समय तिरहुत पर अधिकार किया था । वहाँ पर उस समय कर्णाट कुल का राजा हरिसिंह देव राज करता था । समर में हरिसिंह देव की हार हुई । बहुत संभव है, उस काल उस सूर्यवंशी कर्णाट क्षत्रिय राजकुल के किसी नरसिंह देव (उसे नरसिंह देव द्वितीय कहा जा सकता है) को मुसलमान बन्दी बनाकर दिल्ली लाये हों, तथा उसे शत्रुओं से युद्ध करने के हेतु कहीं भेजा हो । यह भी संभव है कि उसकी वीरता, ओजस्विता एवं रणचातुर्य से प्रभावित और प्रसन्न होकर विजित राज्य मिथिला का कुछ अंश उसे पुरस्कार में दिया हो; क्योंकि हरिसिंह देव के नेपाल-पलायन-पश्चात् भी कर्णाट कुल के तीन नृपतियों को मिथिला में हम किसी न किसी रूप में राज करते पाते हैं । विद्यापति की 'पुरुष-परीक्षा' के कथानक का कथा-नायक नरसिंह देव १२वीं और १३वीं शतियों में शासन करने वाला मिथिला-भूप नरसिंह देव न होकर १४वीं शताब्दी का उपयुक्त नरसिंह देव द्वितीय (?) रहा होगा, ऐसा मान लेना ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है ।

सच्ची बात यह है कि शक्तिशाली मिथिला राज्य दीर्घकाल तक मुसलमानों के प्रभाव का दृढ़ता एवं सफलता पूर्वक प्रतिरोध करता रहा । उसकी भौगोलिक स्थिति उसके इस कार्य में सहाय्य प्रदान करती रही । गौड़ (बंगाल) पर आक्रमण करने के हेतु मुहम्मद बख्तियार खिलजी ने दक्षिणी मार्ग को ही पसन्द किया, उत्तरी को नहीं । मिथिला का राज्य उत्तर में पड़ता था । अतः उसने उस मार्ग का उसकाल परित्याग किया ।

उपर्युक्त गौड़-विजय-अभियान-काल में १२०० ई० में पूर्णियाँ जिले के एक भाग पर मुहम्मद बख्तियार खिलजी का अधिकार हो गया । कुछ काल तक मिथिला के कर्णाट राजवंश की स्थिति डँवाडोल रही । उसके विरुद्ध मुसलमान आक्रामकों का प्रायः दोतरफा आक्रमण समय-समय पर हुआ करता था । कभी अवध के और कभी बंगाल के शासक समृद्ध तिरहुत जनपद को लूटने के हेतु उस पर चढ़ आते थे । कहा जाता है कि उस आपत्ति से त्राण पाने के विचार से नरसिंह देव ने बंगाल के सुलतान गियासउद्दीन (हुसमुद-दीन-इवाज), जिसका शासनकाल १२१३ से १२२७ ई० तक था, से मित्रता की, और सारे दक्षिण बिहार की विजय कर लेने में उसको सहायता की । इस मित्रता के कारण कुछ काल के लिए ही सही, मिथिला राज्य की स्थिति में परिवर्तन आया । उसको साँस लेने का अवकाश मिला, तथा उसकी शक्ति में वृद्धि भी हुई । परन्तु दिल्ली के सम्राट इलतुतमिश के द्वारा गियास-उद्दीन के पराभव के पश्चात् नरसिंह देव को भी उसके साथ मैत्री करने का फल भुगतना पड़ा । वह सम्राट् का कोपभाजन बना, तथा अपने अपराध के हेतु उसे क्षमा-याचना करनी पड़ी (बायोग्राफी ऑफ धर्मस्वामिन्, विषय-प्रवेश, डा० एस० अल्तेकर का लेख, पृ० १४) । उपर्युक्त हुसमुद्-दीन-इवाज (सुलतान गियास-उद्-दीन)

बंगाल का चतुर्थ मल्लिक था। मिथिलापति नरसिंह देव से मैत्री के पूर्व उसने तिरहुत को निर्दयता पूर्वक लूटा था।

भारत पर महमूद गजनवी के आक्रमणों के कई दशाब्दियों के पश्चात् जिस समय दूसरी बार पुनः भारतवर्ष पर गजनी के विजेता गोर-सुलतान की चढ़ाइयाँ आरम्भ हुईं उस काल के आरम्भ में तथा उसके पूर्व उत्तर भारत के कान्यकुब्ज (कन्नौज, महोदयश्री) में शक्तिशाली गहड़वाल (राठौर) क्षत्रियों का अति समृद्ध तथा शौर्य-सम्पन्न विशाल साम्राज्य था। गहड़वाल भूप गोविन्दचन्द्र विक्रमी वीर था। उसने मुसलमान आक्रामकों की चमकती तीखी तलवारों की पैनी धार को बार-बार अपनी वीरता से कुंठित कर दिया, और उसका पराक्रमी पुत्र विजयचन्द्र भी मुसलमानों के मार्ग में पहाड़ जैसा अटल होकर खड़ा था, जिसने संसार के क्रूर एवं विध्वंसक हम्मीर (अमीर) की स्त्रियों की आँखों रूपी मेघमालाओं से प्रवाहित जल (अश्रु) धारा से विश्व के संकट को प्लावित कर दिया (इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, १५, ७, श्लोक ९)। विजयी वीर विजयचन्द्र का पुत्र जयचन्द्र भी अपने पिता एवं पितामह के समान ही पराक्रमी था, तथा उसने ११९३ ई० के अन्तिम युद्ध (जिसमें उसने वीरगति प्राप्त की) के पूर्व गोरेश्वर शिहाबुद्दीन मुहम्मद को समर-भूमि में परास्त किया था। विद्यापति की 'पुरुष-परीक्षा' से भी इस तथ्य की सम्पुष्टि होती है (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ३६७; विद्यापति : पुरुष परीक्षा, ग्रियर्सन सम्पादित, ११वीं कथा)। चौहानों के अभिलेखों से भी पता चलता है कि जयचन्द्र ने अपने पराक्रम से उत्तर भारत के ८ विद्रोही सामन्त नृपतियों को बन्दी बना कर वहाँ अपने विशाल साम्राज्य को सुदृढ़ बनाया था। उसका बंगाल के सेनों के साथ चिरकालव्यापी संघर्ष था, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। पर मिथिला पर कभी उसका अधिकार हो सका था, यह प्रमाणित नहीं है। जयचन्द्र अपने काल का सर्वश्रेष्ठ सम्राट् था, यह निर्विवाद है (टौड : वॉल्यूम-२, ३६३, ३६५; इल्लियट, २ २५१)। मुसलमान इतिहास-लेखकगण भी इस तथ्य को स्वीकार करने से नहीं हिचकते हैं।

गहड़वाल भूपतियों ने अपने प्रबल पराक्रम के साथ भारत का सच्चा प्रतिहार बनकर परदेशी पीड़क आक्रामकों की बाढ़ एवं अत्याचार को आगे बढ़ने से बहुत काल तक रोक रखा था। यही कारण था कि मिथिला जैसे सुदूर स्थित छोटे राज्यों पर दृष्टिपात करने का उनको अवकाश एवं अवसर न मिला, और तिरहुत पर १३२३ ई० तक कर्णाट क्षत्रिय-वंश स्वतन्त्र भूप के रूप में शासन करता रहा।

कहा जाता है कि नरसिंह देव के शासनकाल में कर्णाट-राजवंश के गृहकलह के कारण नेपाल के कर्णाट राजकुल के शासक ने मिथिला से नेपाल को पृथक् कर अपने को स्वतन्त्र कर लिया (श्यामनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ६२; दरभंगा डिस्ट्रिक्ट गजेटियर-१८)। मिथिला-शासन के अधीन नेपाल-राज्य उस काल था। वहाँ का शासक मिथिला के कर्णाट-भूप नरसिंह देव के ही कुल का उसका निकटम सम्बन्धी था। पर स्वार्थपरता के बाहुल्य एवं प्रेम के अभाव के कारण नेपाल का सम्बन्ध तिरहुत से सदा के लिए विच्छिन्न हो गया। कर्णाट-कुल के मिथिला के अन्तिम भूप हरिसिंह देव ने १३२४ ई० में मुसलमानों द्वारा प्रपीड़ित एवं प्रतारित होकर राजधानी सिमराँव से पलायन किया, एवं नेपाल की विजय कर पुनः वहाँ कर्णाट-कुल की राजसत्ता को स्थापित किया। पर

परिस्थितिवश इतना होने पर भी नेपाल मिथिला से पृथक् ही रहा, और उसका अविच्छिन्न अंग होते हुए भी सदा के लिए वह उससे अलग हो गया ।

उपर्युक्त वर्णन के अतिरिक्त मिथिला पर नरसिंह देव के शासनकाल में मुसलमानों का अधिकार हो जाने का प्रमाण उस काल के ऐतिहासिक उल्लेखों एवं अभिलेखों से प्राप्त नहीं होता है । के० आर० कानूनगो की धारणा है कि अरिमल्लदेव की मृत्यु के पश्चात् पूर्वीय तिरहुत पर लखनावती के मुसलमानों का प्रभुत्व स्थापित हुआ (जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, वॉल्यूम-२, २२-२३; डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २६८, पादटिप्पणी) । अरिमल्लदेव नेपाल में मल्लराजकुल का संस्थापक था, और वह १३वीं शताब्दी के प्रथम चरण में विद्यमान था (आर० सी० मजूमदार : एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३७५) । उसका सम्बन्ध मिथिला-राज से कभी हुआ था, इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है । कानूनगो साहब का कथन स्पष्ट नहीं है । इस विषय की विशद विवेचना पुस्तक के 'मिथिला का मुस्लिम-विजय-काल' शीर्षक वर्णन में की जायगी ।

नरसिंह देव के शासनकाल में ऐतिहासिक महत्त्व का कोई प्रसिद्ध कार्य होने का प्रमाण इतिहास नहीं देता है । कहा जाता है कि उसने अपने पिता के चरण-चिह्नों का अनुसरण कर अनेक सरोवरों एवं मन्दिरों का निर्माण किया । स्थानीय जनश्रुति के आधार पर नरसिंह देव को ऊपर वीर योद्धा अंकित किया गया है, किन्तु के० पी० जायसवाल जी की सम्मति में वह बलहीन नृपति था (डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ़ मिथिला, पृ० २६८)। ऊपर उसके एक मन्त्री रामदत्त के नाम का उल्लेख किया गया है । उसके और दो मन्त्रियों के नामों का पता चलता है । वे थे रामादित्य एवं कर्मादित्य । हो सकता है, रामदत्त और रामादित्य एक ही व्यक्ति के दो नाम रहे हों । दोनों ही शासन के दो विभागों की देखरेख पृथक्-पृथक् करते थे, और वे नरेश के परामर्शदाता भी थे ।

नरसिंह देव की मृत्यु १२२५ ई० में हुई । किन्तु यह काल भी विवाद-वर्जित नहीं है । के० पी० जायसवाल की मान्यता के अनुसार नरसिंह देव ने ११७४ ई० से १२०८ ई० तक राज्य किया (जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, १०,४६) तथा श्री आर० के० चौधरी की राय में उसका शासनकाल ११८८ ई० से १२२७ ई० तक रहा था (अन्नल्स, २५, ११०; ३५, १०७)। इतिहासज्ञों का बहुमत ११८७-८८ से १२२७ ई० तक उसके शासन करने की बात को स्वीकार करने के पक्ष में है ।

रामसिंह देव

नरसिंह देव का पुत्र एवं उत्तराधिकारी रामसिंह देव था । उसने १२२५ ई० से १२७६ ई० तक मिथिला की गद्दी पर आसीन होकर शासन किया । 'भुजबलभीम' तथा 'भीमपराक्रम' उसके दो विरुद थे, जिनका पता इतिहास देता है । उसके इन विरुदों से ही विदित होता है कि वह वीर और शौर्यशील पराक्रमी योद्धा था ।

मनमोहन चक्रवर्ती रामसिंह देव को कर्णाट कुल का अन्तिम राजा मानते हैं, और उसका शासनकाल उनके विचार में १४वीं शताब्दी का अन्तिम चरण था । वे उसे हरिसिंह देव के पश्चात् की दूसरी पीढ़ी का राजा मानते हैं । उनकी मान्यता का आधार

लक्ष्मीधर प्रणीत 'कृत्य-कल्पतरु' (शुद्धि) की तालपत्र पर लिखित पाण्डुलिपि है, जो बंगाल की रायल एशिएटिक सोसाइटी की लाइब्रेरी में रखी हुई है। उस पुस्तक के अन्त में अंकित किया गया है कि उसका लेखन पौष, चतुर्दशी, शुक्ल, शनिवार, सम्वत् १४४६ में रामसिंह देव के शासनकाल में समाप्त हुआ। हिसाब लगाने पर वह शनिवार १३९० ई० की पहली जनवरी को पड़ता है। इसी से चक्रवर्ती महोदय रामसिंह देव के १३९० ई० में जीवित रहने तथा मिथिला में शासन करने की बात को मान्य मानते हैं। उनके इस विचार की आधारशिला एकमात्र यही उल्लेख है। परन्तु तालपत्र का वह उल्लेख उनकी उक्त मान्यता की स्वीकृति के हेतु पर्याप्त एवं अकाट्य प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

पूर्वोक्त पुस्तक के लेखक लक्ष्मीधर द्वारा प्रस्तुत और दो हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ 'व्यवहार कल्पतरु' (११७२ ई० की, मित्र : नोटिसेज, २, नं० १८३३), तथा 'कृत्य कल्पतरु' (डफ्फ : २८८, एगलिंग : ४०९) प्राप्य हैं। ये लक्ष्मीधर कन्नौज के गहड़वाल वंशीय महाराजाधिराज गोविन्द चन्द के सन्धि-विग्रहिक युद्ध एवं विदेश-मन्त्री हृदयधर भट्ट के सुपुत्र थे। उन्होंने 'व्यवहार कल्पतरु' ग्रन्थ को राजाज्ञा से १२वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पूरा किया था।

रायल एशिएटिक सोसाइटी, बंगाल के पुस्तकालय वाले 'कृत्य कल्पतरु' की पांडुलिपि के अन्तिम तालपत्र पर लक्ष्मणाब्द ३७४ अंकित है। हिसाब लगाकर देखने पर लक्ष्मण सम्वत् ३७४ ख्रिष्टाब्द १४९३ ई० होता है। वह प्रति श्रीमद् गदाधर सिंह देव की आज्ञा से लिखी गयी थी। एक ही लेखक के लेखों में अंकित भिन्न-भिन्न तिथियाँ शोधकों के मानस में शंका की जननी बनती है। कुछ विद्वान् उपर्युक्त पुस्तक से सम्बद्ध रामसिंह देव को १३९० ई० में कहीं पर शासन करने वाला कोई कर्णाट वंशीय स्थानीय सरदार अथवा भूप मानते हैं, जिसका सम्बन्ध सम्भवतः नान्यदेव के वंश के कर्णाट-नृपति रामसिंह देव से न था; क्योंकि नेपाल के अभिलेखों तथा मिथिला में प्रचलित अनुश्रुतियों के अनुसार रामसिंह देव निश्चित रूप से हरिसिंह देव का पितामह था (अन्नल्स-३५, १११-१२)। यह भी संभव हो सकता है कि लक्ष्मीधर द्वारा प्रणीत पुस्तकों की प्रतिलिपि भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न लिपिकों द्वारा भिन्न-भिन्न स्थान में भिन्न--भिन्न आश्रयदाताओं के आश्रय में उतारी गयी हों, और आश्रयदाताओं में से कतिपय का नाम उसी नाम के कर्णाट नरेश अथवा दूसरे राजकुल के भूपों में से किसी के नाम से साम्य रखता हो।

ओइनवार कुल के रामभद्रसिंह देव का शासनकाल १५वीं शताब्दी के अन्तिम चरण एवं १६ वीं शती के प्रथम चरण में पड़ता है। गदाधर रामभद्रसिंह देव के समकालीन थे। अतः इस तथ्य को स्वीकार कर लेना उचित जँचता है कि 'कृत्य कल्पतरु' की प्रतिलिपि ओइनवार रामभद्र सिंह देव के समय में १४९३ ई० में किसी के द्वारा उतारी गयी, कर्णाट रामसिंह देव के काल में नहीं। उसी प्रकार १३९० ई० में कोई दूसरा रामसिंह देव रहा होगा, ऐसा जान पड़ता है।

रामसिंह देव नान्यदेव की चौथी पीढ़ी का मिथिला-नरेश था, और उसकी राजसभा में प्रायः उत्तर भारत के सभी स्थानों से संस्कृतज्ञ विद्वानों ने आकर आश्रय प्राप्त किया था। मिथिला ही उस काल तक विदेशी एवं विधर्मी मुसलमानों के आघातों से बचा हुआ था।

अन्य प्रदेशों में उन आक्रामकों के प्राबल्य से जन-जीवन अस्त-व्यस्त हो चुका था जहाँ से विद्या-व्यसनी साहित्यसेवी संस्कृतज्ञ मनीषी-समुदाय शान्ति एवं सुव्यवस्था की खोज में तथा जीविका की प्राप्ति के हेतु मिथिला के राजदरबार में शरणापन्न हुआ था । अतः मिथिला में उस काल संस्कृत साहित्य की आशातीत उन्नति हुई ।

रामसिंह देव स्वयं विद्वान् था और विद्वानों का आदर करता था । उसके शासनकाल में अनेक अमर साहित्यिक ग्रन्थों का सृजन हुआ । बौद्धिक विकास के हेतु प्रजा को पर्याप्त अवकाश मिला । दर्शन-ज्ञान का जनता में प्रचार हुआ । वह स्वयं भक्त-हृदय का पवित्र दार्शनिक लेखक था, तथा पावन साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों पर उसने अनेक ग्रन्थों का स्वयं सृजन किया और अपने आश्रित विद्वत्-समाज से करवाया । वैदिक एवं स्मार्त धर्म के पोषक निगूढ़ दर्शनों पर विवेचना पूर्ण कई भाष्य उसके काल में लिखे गये तथा धार्मिकता को प्रश्रय शासन की ओर से मिला । वैदिक युग के मिथिलापति जनकों की भाँति रामसिंह देव की धार्मिक विचारधारा तथा उसके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में निहित जन-जीवन-नीति पश्चाद्वर्ती विद्वानों द्वारा प्रमाण रूप में उपस्थित की जाने लगी । ऐसा सौभाग्य नृपतियों के परवर्त्ती बहुत कम मिथिला के भूपतियों को प्राप्त हुआ था । इस दिशा में उसका व्यक्तित्व निश्चय ही महान् और चरित्र आदर्श था ।

मनीषिवर चण्डेश्वर के ग्रन्थ 'कृत्य चिन्तामणि' से ज्ञात होता है कि कर्मादित्य ठक्कुर अथवा ठाकुर रामसिंह का सन्धि-विग्रहिक मन्त्री था । इसका समर्थन दरभंगा-राज-पुस्तकालय में सुरक्षित हस्तलिखित 'पंजी-प्रबन्ध' से होता है, जिनमें यह विषय निम्नांकित रूप में अंकित किया गया है–

'गढ़ विसपी सं० बीजी त्रिपाटि कर्मादित्यः, ए० सुतौ सान्धिविग्रहिक देवादित्य-राजवल्लभ भवादित्यौ' ।

कर्मादित्य ठक्कुर का लक्ष्मण सम्वत् २१२ का एक उत्कीर्ण अभिलेख है जिसकी ओर सुधी समाज का समुचित ध्यान अब तक नहीं गया है (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २७०) । उसमें लिखा है कि :–

'अब्दे नेत्र शशांकपक्ष २१२ गणिते श्री लक्ष्मणक्ष्मापतेर्मासि श्रावणसंज्ञके मुनितिथौ स्वात्यां गुरौ शोभने । हावीप(त्त)ट्टन संज्ञ के सुविदिते हैहट्टदेवी शिवा कर्मादित्य-सुमन्त्रिणेह विहिता सौभाग्यदेव्ज्ञया ।।'

तिलकेश्वर के मन्दिर में भी रामसिंह देव के मन्त्री कर्मादित्य का नाम उत्कीर्ण मिलता है ।

रामसिंह देव के मिथिला के सिंहासन पर बैठने के पूर्व से ही उत्तर भारत के पूर्वीय एवं उत्तरीय भाग में परिवर्तनकारी क्रान्ति-सूचक राजनीतिक घटनाओं का घटित होना आरम्भ हो गया था । बोधगया के जयचन्द्र के उत्कीर्ण अभिलेख तथा ताराचण्डी के प्रस्तरलेख जैसे अन्यान्य अभिलेखों के अवलोकन एवं अध्ययन से पता चलता है कि कान्यकुब्ज के गहड़वालों ने ११२४ और ११८० ई० के बीच कीकट (मगध) के बीच धीरे-धीरे प्रवेश कर उसके बहुत बड़े भाग पर आधिपत्य स्थापित कर लिया था । एक ओर

से सेनों के तथा दूसरी ओर से गहड़वालों के निरन्तर प्रहारों से मगध की पालशक्ति का पूर्णतया पराभव हो चुका था। सेनों और गहड़वालों में शक्ति-संतोलन का क्रम चालू था। वे एक दूसरे के विनाश पर जी जान-से तुले थे। यह वही काल था जिस समय भारत के उत्तर-पश्चिम द्वार पर विदेशी शत्रु मुसलमान हाथ में नंगी तलवार लिये खड़े देश में प्रवेश कर उसे उदरस्थ करने तथा यहाँ के अधिवासियों को चौपट करने के हेतु उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। देश का सम्पूर्ण राजनीतिक वातावरण ओला-पानी के साथ आनेवाली आँधी के पूर्व की अवस्था जैसा गर्म एवं कम्पायमान था। विनाश की घड़ी सुरसा के जैसे मुँह फैलाये सारे देश की स्वतन्त्रता एवं सुख-समृद्धि को निगल जाने के हेतु उद्यत थी। पर भारत के भाग्यविधाता राजाओं की अहम्मन्यता, स्वार्थान्धता, वैमनस्य और ईर्ष्या में कमी उस आपत्ति की बेला में भी न आयी थी। सिर पर मड़राते हुए प्रबल शत्रु का मानो उन्हें भान ही नहीं था। राजपूताने के चौहान क्षत्रिय अपने कुछ सहायकों के साथ ११९२ ई० के तरावरी अथवा तराई युद्ध में पराभव पा चुके थे। शिहाबुद्दीन मुहम्मद को ११९१ ई० में परास्त करने वाले वीर पृथ्वीराज का उस सत्यानाशी युद्धकाल में सरस्वती के किनारे निधन हो चुका था। गहड़वाल राजा विजय चन्द्र से पृथ्वीराज के पितृव्य विग्रहराज विसल देव द्वारा छीनी गयी दिल्ली पर मुसलमानों का अधिकार हो चुका था। आक्रामकों के पैर अडिग रूप से देश की छाती पर जम चुके थे। प्राचीनतम दिल्ली के चौहानों के अधिकार के दुर्ग में उन्हें आवास मिल चुका था। वहाँ से महत्त्वाकांक्षी मुसलमान घोड़सवार अपने नायकों के अधीन गंगा-यमुना की उर्वरा तराई में फैल कर लूटपाट करते तथा सुयोग्य स्थान एवं अवसर पाकर वहाँ बस भी जाते थे। मलिक हुसाउ-उद्-दीन उन सबों में से एक सरदार था, जिसने गोर के खिलजी वंश के तुर्क सेनानी मुहम्मद-इब्न-बख्तियार के नेतृत्व में अवध में एक राज्य की स्थापना की। मुहम्मद-इब्न-बख्तियार खिलजी अपने समय का एक स्वेच्छाचारी एवं अनियन्त्रित और महत्त्वाकांक्षी वीर सेनानायक था। उसने मनेर एवं बिहार के प्रदेश में प्रवेश कर बारम्बार उसे तबाह किया तथा सुदृढ़ प्राकारवेष्ठित उदंडपुर (बिहारशरीफ) नगर पर अधिकार कर उसके दुर्गोपम विशाल बौद्ध-बिहार को विनष्ट किया और वहाँ के मुंडित मस्तक पीत परिधानधारी सभी बौद्ध भिक्षुओं एवं हिन्दुओं को मार डाला (तवकात-ए-नासिरी, ५००,५०२)।

चाहमानों की हार के पश्चात् मुसलमानों की मुठभेड़ की बारी अब कान्यकुब्ज के गहड़वालों के साथ आयी; क्योंकि दोनों राज्यों की सीमाएँ एक-दूसरे से टकरा रही थीं। इस कारण बिहार की राजनीति से गहड़वालों ने अपने को अन्ततोगत्वा पृथक् कर लिया। सेन पूर्वकाल में प्रायः बिहार पर चढ़ाइयाँ करते थे। उनकी राजधानी पूर्व दिशा में बिहार से बहुत दूर थी। पालों का पराभव पूर्व में ही हो चुका था। अतः बिहार उस काल में अनाथ बना था। उदंडपुर के बौद्ध बिहार-स्थित महाविद्यालय पर अधिकार कर लेने के पश्चात् आक्रामक मुहम्मद-इब्न-बख्तियार का अधिकार गंगा के दक्षिण सारे दक्षिण बिहार पर ११९३ ई० में हो गया। पर गंगा के उत्तर के बिहार का अंश मिथिला अब भी स्वातन्त्र्य-सुख का उपभोग कर रहा था।

शक्तिशाली गहड़वालों एवं चाहमानों के पतन के पश्चात् भारत के अधिवासियों को विश्वास हो गया कि मुसलमानों के बढ़ाव का प्रतिरोध सम्भव नहीं है (एच० सी० राय : डाइनेस्टिक हिंस्ट्री ऑफ नॉदर्न इण्डिया, १, ३७४)। मुहम्मद-इब्न-बख्तियार ने बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन पर दक्षिण बिहार की विजय के पश्चात् चढ़ाई की। उस काल उसका आवास नदिया में था। नदिया के पतन के पश्चात् लक्ष्मण सेन ने पूर्वी बंगाल में पलायन किया। शत्रु द्वारा विजित प्रदेशों में युद्ध, लूट-पाट, रक्तपात, धर्म-परिवर्त्तन एवं दासता का दृश्य हृदय-द्रावक हो उठा। यही उस काल का इतिहास था।

इसमें सन्देह नहीं कि अवध से लखनावती के विजय-अभियान-काल में मुसलमानी सेना बिहार प्रदेश होकर ही गयी होगी। पर सम्भवतः उत्तर बिहार में गहरी नदियों के बाहुल्य के कारण आक्रामक दल ने उधर होकर यात्रा करना युद्ध-नीति के अनुकूल न समझा, जिसमें मिथिला उस समय उसके आघात से बच गया।

'तवकात-ए-नासरी' से पता चलता है कि लखनावती के सुलतान हुसामुद्-दीन-इवाज (१२१३-२७ ई०) ने आक्रमण कर बंग, कामरूद (कामरूप) और मिथिला से कर वसूल किया। वह लखनावती का चतुर्थ मल्लिक था। उसने १२२५ ई० में मिथिला को पददलित किया। वह पूर्व में मुहम्मद-इब्न-बख्तियार का सेवक था। उसके अधिकार में समस्त तिरहुत, बंगाल, जजनगर और कामरूद (कामरूप) आ गये थे। उसने सुलतान गयासुद्दीन की उपाधि धारण कर ६२२ हिजरी तक उपर्युक्त देशों पर शासन किया। दिल्ली के सुलतान शमसुद्दीन इलतुतमिश को ३८ हाथी तथा ७० सहस्र टंक उसने उपहार (नजर) में भेजे और उसकी प्रभुसत्ता भी स्वीकार की। उसी वर्ष ६२२ हिजरी में सुलतान शमसुद्दीन इलतुतमिश ने बिहार और लखनावती पर आक्रमण कर गयासुद्दीन को वश में किया। उसकी नजर को स्वीकार कर उसने अपने नाम का वहाँ सिक्का चलाया तथा अपने ज्येष्ठ पुत्र को सुलतान नसीरुद्दीन मुहम्मद की उपाधि देकर उसे वहाँ का उत्तराधिकारी युवराज बनाया। उस ओर के सभी प्रदेशों को उसके अधीन करके वह दिल्ली लौट गया। परन्तु इलतुतमिश के दिल्ली लौट जाने के पश्चात् गयासुद्दीन अपने को दिल्ली का विश्वासी राजभक्त प्रमाणित नहीं कर सका। गयासुद्दीन की कार्यवाही मल्लिक नसीरुद्दीन मुहम्मद को अप्रियकर एवं असन्तोषप्रद प्रतीत हुई। अतः उसने उसे लखनावती में ही पराजित कर बन्दी बना लिया और अन्त में मार डाला। वहाँ उसे अनन्त धन-राशि लूट में प्राप्त हुई, जिसका विभाजन कर एक बड़ा भाग दिल्ली के उमराओं के पास उसने भेज दिया (अलवदओनी प्रणीत 'मुनत-खावु-त-तवारीख' का रंकिन द्वारा-अनुवाद, भाग-१, १८९८ ई० का संस्करण, पृ० ८६, ९१; श्याम नारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ५८)। परन्तु वह अपने शासन को वहाँ सुदृढ़ न कर सका। सिमाराओं के हिन्दू राजकुल का शासक उन दिनों भी मिथिला में था, इसका साक्ष्य इतिहास देता है। हुसामुद्-दीन अथवा हुसैनु-द्-दीन इवाज ने तिरहुत में बढ़कर लूट-मार की होगी, जैसा कि उस काल मुसलमान आक्रामक किया करते थे। उसका शासन वहाँ कभी नहीं हुआ था। 'तवकात-ए-नासिरी' के विद्वान लेखक के द्वारा अफगान सैनिकों से सुन कर अंकित किये गये उपर्युक्त उल्लेख विशेषतया प्रशस्तिवाचक है, जो उसकी प्रशंसा में लिखे गये हैं

(जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, न्यू सीरीज, १९१५, पृ० ४०७-०८, १९०८, पृ० १५७)।

लखनावती के नवें मल्लिक इज्ज-उद्-दीन तुघरोल (१२३३-१२४४ ई०) ने भी मिथिला को भरपूर लूटा। पर वह वहाँ ठहरा नहीं। असल में मिथिला की सीमाओं पर के मुसलमानी प्रदेश– राज्य लखनावती, दक्षिण बिहार तथा अवध के शासकों का स्थानान्तरण प्रायः होता रहता था। इसके अतिरिक्त उन सबों को घरेलू झंझट से अवकाश न था। उनको विद्रोहशील प्रजाओं के उपद्रवों का शमन करना पड़ता था। अतः उन्हें तिरहुत पर आक्रमण कर वहाँ स्थायी शासन स्थापित करने के हेतु अवकाश ही नहीं मिलता था। इज्ज-उद्-दीन का आक्रमण और लूटमार रामसिंह देव के शासनकाल में ही हुई थी।

'भुजबल भीम' एवं 'भीम पराक्रम' रामसिंह देव की वीरता तथा मिथिला की प्राकृतिक एवं भौगोलिक स्थिति भी मुसलमानों के मिथिला में स्थायी रूप से शासन स्थापित कर लेने में उन दिनों बाधक बनी हुई थी। तीन ओर मिथिला की सीमाओं पर गहरी और चौड़ी वेगवती नदियाँ थीं, और एक ओर गहन वन एवं पार्वत्य प्रदेश। मिथिला भूमि में भी छोटी-छोटी नदियों का जाल-सा सर्वत्र बिछा था, जिससे सुदूर के आक्रामकों के लिए सैन्य-संचालन सुगम न था। इसके अतिरिक्त लखनावती और अवध भी निकट नहीं थे, जहाँ से समय पर आवश्यकता पड़ने पर सैनिक सहायता उन्हें सुगमता से प्राप्त हो जाती (जरनल ऑफ एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, न्यू सीरीज, १९१५, ४०७-०८)।

रामसिंह देव के शासनकाल में प्रजा वर्ग की सुख-सुविधा एवं उन्नति के हेतु अनेक प्रशासनिक, सामाजिक एवं धार्मिक सुधार-कार्य किये गये। हिन्दुओं के धार्मिक एवं सामाजिक कर्त्तव्यों के पालन के हेतु नियमों का निर्माण किया गया। सुधार संयुक्त नव-निर्मित सामाजिक एवं धार्मिक नियमानुसार आचरण करने के कारण उत्पन्न प्रश्नों के निर्णयार्थ प्रत्येक ग्राम में एक धर्माधिकारी की नियुक्ति की गयी (मुजफ्फरपुर जिला गजेटियर-१८)। प्रत्येक ग्राम के आरक्षी-विभाग में एक ऐसे पदाधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी जिसका काम था आधुनिक ग्राम-चौकीदारों के समान, जो गाँव की विशेष घटनाओं का समाचार थाने में दारोगा के कार्यालय में पहुँचाता तथा अंकित करवाता है। ऐसे व्यक्ति को पारिश्रमिक में थोड़ी जमीन दी जाती थी, जिसकी उपज का वह तथा उसी कार्य के करने के हेतु उसका उत्तराधिकारी उपभोग करता था। ऐसे पदाधिकारियों का कार्य ग्राम में घटी उल्लेखनीय घटनाओं की सूचना परगने के सर्वोच्च समाहर्त्ता (राजस्व वसूल करनेवाला पदाधिकारी), जिसकी उपाधि 'चौधरी' होती थी, को देना होता था। ग्राम-पटवारियों की नियुक्त भी इसी काल में हुई। ये पटवारी ग्राम के शासकीय लेखापाल का कार्य सम्पादन करते थे, और उन्हें प्रतिमास १० रुपये पारिश्रमिक के रूप में ग्राम-कोष से मिलते थे। ग्राम के आय-व्यय का हिसाब रखना उनका कर्त्तव्य होता था (मुजफ्फरपुर जिला गजेटियर-१८)। पटवारियों की नियुक्ति की पद्धति, जो रामसिंह देव के शासनकाल में आरम्भ हुई थी, परवर्त्ती नृपतियों के शासन में भी चालू रही थी। यहाँ तक कि छोटे-छोटे जमींदारों के यहाँ भी पटवारी रखे जाने लगे थे और यह प्रथा मिथिला में भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् बिहार सरकार द्वारा जमींदारी-उन्मूलन-प्रस्ताव पारित

किये जाने तथा उसकी कार्यान्विति के कुछ काल पश्चात् तक कायम थी । रामसिंह देव ने अपने पूर्वजों की भाँति अनेक मन्दिरों एवं तालाबों का निर्माण किया था । उसका शासन सभी भाँति आदर्श शासन था ।

रामसिंह के शासनकाल में तिब्बती बौद्ध साधु धर्मस्वामिन् (चग-लो-त्स-वा चोस र्जे-ड्पल) ने तिरहुत की यात्रा १२३४ ई० एवं १२३६ ई० में की थी । लौटती बार पट (पट्टला वा सिमराओं) के राजा रामसिंह देव के द्वारा आमन्त्रित होकर उसने मिथिला के उस सहृदय भूप से भेंट की थी । राजा ने उस बौद्ध भिक्षु की उपयुक्त अभ्यर्थना एवं आदर-सत्कार किया, तथा उसके गृह-प्रत्यागमन के समय मार्ग-व्यय के हेतु पर्याप्त संवल एवं सोना आदि दिया । राजा सनातन आर्य धर्मावलम्बी हिन्दू था, किन्तु उपर्युक्त बौद्ध सन्त की विद्वत्ता एवं पवित्रता को देख कर तथा उससे प्रभावित होकर उसका शिष्य बनने के हेतु वह प्रस्तुत हुआ, एवं उसके लिए उसने बौद्ध भिक्षु से प्रार्थना की । परन्तु वह उसके हेतु तैयार नहीं हुआ (के० पी० जायसवाल-अनुसंधान-संस्थान द्वारा प्रकाशित धर्मस्वामिन की जीवनी अंग्रेजी, पृ० १००) ।

धर्मस्वामिन् के जीवन-चरित्र में उल्लेख है कि मिथिला के राजा रामसिंह को अपने राजप्रासाद की सुरक्षा के हेतु प्रहरी सैनिकों की संख्या बढ़ानी पड़ी थी; क्योंकि मुसलमान आक्रामकों ने एक वर्ष पूर्व राजधानी के विरुद्ध सैनिक अभियान किया था, पर उन सबों को सफलता प्राप्त न हो सकी (धर्मस्वामिन् की जीवनी, पृ० ५८)।

रामसिंह देव ने ५१ वर्षों तक राज कर १२७६ ई० में शरीर छोड़ा । कतिपय लेखकों के मतानुसार उसकी मृत्यु १२८५ ई० में हुई (अन्नल्स-३५, ११०) । डॉ० उपेन्द्र ठाकुर ने 'हिस्ट्री ऑफ मिथिला' के पृ० २७५ में रामसिंह देव का शासनकाल ५८ वर्षों का बताया है । उसके अनुसार हिसाब लगाने पर उसकी मृत्यु का साल १२८३ ई० होता है । पर १२७६ ई० में उसकी मृत्यु का होना वे भी स्वीकार करते हैं ।

शक्तिसिंह देव अथवा शक्रसिंह देव

रामसिंह देव के पुत्र एवं उत्तराधिकारी का नाम नेपाल-वंशावली (इण्डियन ऐन्टीक्वेरी-९, १८८) तथा प्रतापमल्ल देव के नेपाल सम्वत् ७६९ (१६४९ ई०) के उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार शक्ति सिंह देव था । किन्तु मिथिला में प्रचलित अनुश्रुति उसका नाम शक्र सिंह देव बताती है । पिता की मृत्यु एवं उसके सिंहासनारोहण-काल में उसकी अवस्था ४० वर्षों की थी, ऐसा बताया जाता है । जनश्रुति के अनुसार वह पराक्रम एवं रण-कुशलता में द्वतीय शक्र (इन्द्र) था । इसलिए उसका नाम शक्रसिंह पड़ा था । उसके शासनकाल में दिल्ली के सिंहासन पर सुलतान अल्ला-उद्-दीन खिलजी आसीन था । अतः उसका समकालीन था । शक्तिसिंह देव के पुत्र हरिसिंह देव के सन्धि-विग्रहिक मन्त्री चण्डेश्वर ने अपने ग्रन्थ 'कृत्य चिन्तामणि' में उसको 'हम्वीर ध्वान्त भानुः' विरुद से विभूषित किया है । इससे मिथिला के विद्वान् बताते हैं कि वह बादशाह अल्लाउद्दीन खिलजी का मित्र था, और उसने रणथम्भौर गढ़ के प्रसिद्ध चौहान वीरनृपति हम्मीर (हम्बीर), जो दिल्लीपति पृथ्वीराज का वंशज था, के विरुद्ध युद्ध में सुलतान की सहायता की थी । विद्यापति ने भी अपने ग्रन्थ 'पुरुष परीक्षा' के दया वीर-कथा-प्रसंग में

'सर्वं त्यक्त्वा समिति पतितो हम्मीरदेवः' अंकित किया है । चण्डेश्वर ने उक्त घटना का अपने ग्रन्थ में वर्णन किया है । कहा जाता है कि राजपूताने के रण-थम्भौराधिपति हम्मीर, जिसने अपने जीवन-काल में मुसलमान आक्रामकों के साथ अनेक बार संग्राम कर अन्त में १३०१ ई० में अपने नश्वर शरीर-सुमन को माता स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर समर-क्षेत्र में अर्पित किया था, तथा रणशायी हो संसार में अमर कीर्त्ति प्राप्त की थी, के विरुद्ध अल्ला-उद्-दीन की सेना के साथ जब शक्तिसिंह देव ने युद्ध-यात्रा की थी तो उस काल यात्रा में उसका वृद्ध मन्त्री देवादित्य भी अपने पुत्र वीरेश्वर के साथ था । चण्डेश्वर उक्त देवादित्य का पौत्र था । यह भी कहा जाता है कि सुलतान अल्ला-उद्-दीन ने हम्मीर के विरुद्ध युद्ध में शक्तिसिंह देव के मन्त्री देवादित्य ठाकुर की बहुमूल्य सेवा से प्रसन्न होकर उसे 'मन्त्री रत्नाकर' की पदवी दी थी । वीर हम्मीर के रण-निधन के पश्चात् भारत में मुसलमानों के आक्रमण एवं अत्याचार का प्रबल विरोधी कोई रह नहीं गया (ब्रिग्स : फेरिस्ता, हिस्ट्री ऑफ दि राइज ऑफ मुहम्मडन पावर, भाग-१, पृ० ३६६; आईन-ए-अकबरी, अबुल फजल लिखित, तजर्रेट द्वारा अनूवादित, पृ० ३०४) । इतिहास-लेखक फेरिस्ता का कहना है कि अल्ला-उद्दीन ने सम्पूर्ण बिहार को जीतकर उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया । परन्तु उसका यह कथन उत्तर बिहार के तिरहुत के सम्बन्ध में ठीक नहीं मालूम पड़ता है । यह सम्भव प्रतीत होता है कि सुलतान अल्ला-उद्-दीन की लालसा तिरहुत विजय कर अपने अधीन कर लेने की अत्यधिक रही हो, पर उसके सामने उसकी विकट भौगोलिक एवं प्राकृतिक स्थितियों का ध्यान सैन्य-बल से उसको जीतकर उस पर शासन करने के मार्ग में बाधा उपस्थित करता रहा हो । इसलिए उसने अपने लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु बल का प्रयोग न कर उसके स्थान में अपनी नीति-निपुणता से मित्रता एवं प्रेम का प्रपंच-जाल फैलाया हो और उसके द्वारा मिथिलापति शक्रसिंह को अपने वश में किया हो । यदि शक्तिसिंह देव (शक्र सिंह) ने सत्यतः हम्मीर के विरुद्ध अल्ला-उद्दीन की ओर से समर भूमि में जाकर युद्ध किया था तो उसके मूल में उपर्युक्त कारण हो सकता है ।

कतिपय विद्वानों का मत है कि हिजरी सम्वत् ६९७ (१२७७ ई०) में शेख मोहम्मद इसमाइल की अधीनता में मुसलमानों ने मिथिला पर चढ़ाई कर मिथिलेश शक्तिसिंह को पराजित किया, तथा उसे बन्दी बनाया और उससे कर भी वसूल किया । पीछे कारा-मुक्त कर उसे बादशाह के हिन्दू सैनिकों का सेनापति बनाया गया । शक्तिसिंह देव ने उसके सेनापति के रूप में रणथम्भौर के अधीश्वर वीर हम्मीर के साथ युद्ध किया, और उसका पराभव किया (रहमानी का लेख, ९ फरवरी, १९५३, पृ० ६; डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २७७) । इस घटना की चर्चा केवल मुल्ला तकिया की दैनन्दिनी में की गयी है । इसके अतिरिक्त उस काल के किसी मुसलमान लेखक ने ऐसा नहीं लिखा है । मिथिला में प्रचलित अनुश्रुतियों से भी इसकी पुष्टि नहीं होती है ।

दरभंगा में एक प्राचीन मकबरा है जिसे जनता शक्रसिंह (शक्तिसिंह देव) एवं मुसलमानों के बीच हुए युद्ध का परिणाम बताती है । 'मकबरा' अरबी शब्द है, जिसका अर्थ वह महल होता है जिसके भीतर किसी के शव को गाड़ कर रखा गया हो ।

शक्रसिंह के नाम पर बसाया सकरी ग्राम उसके नाम का स्मरण आज भी जनता को कराता है । सुखी दिग्धी को शक्रसिंह के शासनकाल में प्रस्तुत सरोवर लोग बताते हैं (अन्नल्स, ३५, ११३, ३) ।

प्राप्त प्रमाणों से पता चलता है कि शक्तिसिंह देव (शक्रसिंह) की मृत्यु १२९६ में हुई थी । अल्ला-उद्-दीन का आक्रमण रणथम्भौर पर १३०१ ई० में हुआ था । पर विद्यापति का उपर्युक्त लेख तथा स्थानीय जनश्रुतियाँ शक्ति सिंह देव के अल्ला-उद्-दीन की ओर से रणथम्भौरेश्वर हम्मीर के साथ युद्ध करने की बात बताती है । यदि शक्तिसिंह देव के हम्मीर के विरुद्ध बादशाह की सहायता करने की बात सही है तो उसकी मृत्यु १२९६ के बजाय १३०१ ई० के बाद हुई माननी पड़ेगी । उसका पुत्र हरिसिंह देव १३०३ ई० में मिथिला के सिंहासन पर बैठा था । कुछ विद्वानों के मतानुसार १३०७ ई० में उसका राज्याभिषेक हुआ ।

कहा जाता है कि शक्तिसिंह देव को उसके अपने पिता का गुण (वीरता के साथ दयालुता) उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं हुआ था । वह स्वेच्छाचारी एवं निर्दय था । उसने अपनी प्रजा के हित-चिन्तन का ध्यान कभी नहीं किया । अतः प्रजावर्ग के साथ-साथ उसके सामन्त एवं मन्त्रीगण भी उसके व्यवहारों से असन्तुष्ट तथा क्षुब्ध हो गये । चंडेश्वर ठाकुर महाविद्वान्, प्रभावशाली, राजनीतिज्ञ एवं सर्वप्रिय था और वह राजा शक्तिसिंह का प्रधानमन्त्री था । उसने निरंकुश राजा की अनियन्त्रित शक्ति एवं कार्य-कलाप पर नियन्त्रण रखने के हेतु सात मन्त्रियों की मन्त्रिपरिषद् का गठन कर उसके स्वेच्छाचार को अनुशासित एवं नियन्त्रित किया (अलबदाओनी प्रणीत मुनतखावु-त-तवारीख का रॉकेन द्वारा अनुवाद, भाग-१, १८९८ ई० का संस्करण, पृ० ८६, ९१; श्यामनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ५८; मुजफ्फपुर जिला गजेटियर-१८) । अपनी बुद्धिमत्ता से मन्त्रिप्रवर ने राजमहल में रक्तहीन क्रान्ति कर राज्य एवं प्रजावर्ग का हितसाधन किया । सम्भवतः मिथिला के इतिहास में इस प्रकार की क्रान्ति का पहला अवसर था, जिसे चंडेश्वर ने अपनी नीतिपटुता से सफल बनाया ।

शक्तिसिंह के शासन का अन्तिम चरण सुखमय न बीत सका । उसे मन्त्रिपरिषद के अधीन होकर जीवन काल में ही राजा के अधिकारों से वंचित होना पड़ा । मुसलमानों के साथ संघर्ष का उसे बार-बार संयोग होता रहा । परिषद् बुद्धिमत्ता से उससे बचने के उपाय एवं प्रयत्न में व्यस्त रही । शक्तिसिंह के जीवन-काल में तथा उसके कुछ दिन पीछे तक उस आसन्न आपत्ति को टालने में मिथिला को सफलता मिली, पर उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी हरिसिंह देव आक्रामक मुसलमानों से अपनी रक्षा न कर सका ।

हरिसिंह देव

कई विद्वानों ने हरिसिंह देव का नाम अपनी पुस्तकों में हरिसिंह देव लिखा है । चंडेश्वर के ग्रन्थ 'कृत्यरत्नाकर' (इण्डिया ऑफिस कैटलाग नं० १३८७, एगलिंग द्वारा सम्पादित) में लिखा है ...... 'अस्ति श्री हरिसिंह देव ...... कर्णाट वशोद्भवः' । ज्योतिरीश्वर के 'धूर्त्त समागम' में भी वँही नाम हरिसिंह देव पाया जाता है (एस० के० चटर्जी तथा क्रान्त मिश्र सम्पादित 'वर्णरत्नाकर', १९; नेपाल सरकार की लाइब्रेरी का कैटलाग नं०

१५३६, पृ० ६६) । परन्तु कविवर विद्यापति की 'पुरुष-परीक्षा' (२, सुबुद्धिकथा), नेपाली उत्कीर्ण लेख (इण्यिन ऐन्टीक्वेरी, १८९० ई०, पृ० ८९, श्लोक-१०), मिथिला के 'पंजी प्रबन्ध' तथा स्थानीय प्रचलित अनुश्रुतियों एवं लेखों में हरिसिंह देव नाम ही मिलता है। 'पुरुष-परीक्षा' में कवि ने अंकित किया है कि .... असीन्मिथिलायां कर्णाट-कुलसम्भवो हरिसिंह देवो नाम राजा ....।' नेपाल के उत्कीर्ण लेख में लिखा है– 'जातः श्री हरिसिंह देव नृपतिः प्रौढ़प्रतापोदयः .... ।' पंजी प्रबंध के लेख में भी उल्लेख है, यथा ...... ''शाके श्री हरिसिंह देव नृपतिः भूपार्कतुल्योऽजनि ..... ।' हरिसिंह देव के मिथिला त्यागकर नेपाल-पलायन एवं वहाँ के विजय-अभियान के विषय में अद्यावधि की जनता में निम्नांकित श्लोक प्रचलित एवं प्रसिद्ध है :–

''बाणाब्धि-बाहु-शशि-सम्मित-शाकवर्षे, पौषस्य शुक्लदशमी क्षितिसूनुवारे।
त्यक्त्वा स्व-पट्टनपुरीं हरिसिंहदेवो, दुर्दैव-दर्शित-पथा गिरिमाविवेश''॥

(जनरल ऑफ एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९०३, ४; ११४; श्री श्यामनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ६५; आर० एल० दास : मिथिलादर्पण, पृ० ६४; एस० के० चटर्जी तथा श्रीकृष्ण मिश्र सम्पादित 'वर्णरत्नाकार' कलकत्ता-१७) । उपर्युक्त उल्लेखों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि शक्तिसिंह देव के पुत्र एवं उत्तराधिकारी का नाम हरिसिंह देव था, हरसिंहदेव नहीं । मुसलमान इतिहास-लेखकों ने भी अपनी पुस्तकों में हरिसिंह देव नाम ही अंकित किया है (रहमानी, ६, अन्नल्स, ३५, ११४, ३) ।

शक्तिसिंह देव एवं हरिसिंह देव के बीच भूपालसिंह नामक एक और मिथिला के भूपति के नाम का पता प्रतापमल्ल देव के काठमाण्डु-अभिलेख से चलता है (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, ९, १८८) । उसमें लिखा है कि ..... 'श्री शक्तिसिंहो धरणीपतिरतो-भूपाल सिंहः' । परन्तु भूपालसिंह के मिथिला में शासन करने की कथा का अनुमोदन मिथिला के किसी साहित्यिक ग्रन्थ, लेख अथवा प्रचलित अनुश्रुति से नहीं होता है । बहुत संभव है कि भूपालसिंह देव हरिसिंह देव का ज्येष्ठ भ्राता रहा हो, और उसी नाते उसे जनता शक्तिसिंह देव का युवराज मानती रही हो, और सिंहासनारूढ़ होने के पूर्व उसकी मृत्यु हो गयी हो । उपर्युक्त काठमाण्डु-अभिलेख से भी भूपालसिंह के केवल नाम का पता चलता है । इससे विशेष अन्य किसी बात की जानकारी उससे प्राप्त नहीं होती है ।

प्रचलित अनुश्रुतियों के अनुसार सिंहासनारूढ़ होने के काल में हरिसिंह देव अल्प-वयस्क किन्तु तेजस्वी था । चन्द्र झा के अनुसार उसका जन्म १२९४ ई० में हुआ था । उसके इस जन्माब्द को आधार मानकर यदि हिसाब जोड़ा जाय तो उसके सिंहासन पर बैठने के काल १३०३ ई० में उसकी आयु ९ वर्षों की रही होगी । कतिपय विद्वानों की राय में गद्दी पर बैठने के समय हरिसिंह देव की अवस्था केवल १२ वर्षों की थी (महामहोपाध्याय पं० मुकुन्द झा : ''मिथिला भाषामय इतिहास', ४१४; ग्रियर्सन-सम्पादित 'पुरुष परीक्षा', पृ० ४७, १) । उसके सिंहासन पर बैठने के साल के विषय में मतभेद है । कुछ विद्वानों का कहना है कि वह १३०३ ई० में गद्दी पर बैठा और कई लेखकों के लेखानुसार १३०७ ई० में । चन्द्र झा द्वारा कथित उसके जन्म वर्ष १२९४ ई० तथा अन्य विद्वानों द्वारा स्वीकृत

उसके सिंहासनारोहणाब्द को १३०७ ई० यदि मान लिया जाय तो उसकी अवस्था गद्दी पर बैठने के काल में १२-१३ वर्षों की हो सकती है । विद्यापति के ग्रन्थ 'पुरुष परीक्षा', महामहोपाध्याय पं० मुकुन्द झा के 'मिथिला भाषामय इतिहास' तथा चन्द्र झा के साहित्यिक वर्णन में किंचित् अन्तर पड़ता है । पर इन मतभेदों के रहते भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि हरिसिंह देव को जिस काल की गद्दी मिली उस समय वह अवयस्क था, और उसकी आयु १०-१२ वर्षों से अधिक न रही होगी ।

देवादित्य ठाकुर अथवा ठक्कुर हरिसिंह देव का प्रधानमन्त्री था । वह अतिवृद्ध था । उसकी उपाधि थी 'सन्धि-विग्रह-मन्त्रीन्द्र' । दूसरा मन्त्री था देवादित्य का पुत्र वीरेश्वर ठाकुर । वह भी अपने समय का अद्वितीय विद्वान् था । मन्त्रिमण्डल में उसकी उपाधि थी 'सप्रक्रित्य महावार्त्तिक नैबन्धिक' की । वीरेश्वर का पुत्र महामहत्तक चण्डेश्वर ठाकुर भी पीछे हरिसिंह देव का सन्धि-विग्रह विभाग का मन्त्री हुआ । चण्डेश्वर के उक्त पद पर प्रतिष्ठित होने के काल में भी हरिसिंह देव की अवस्था बहुत अधिक न थी । हरिसिंह देव के शासन के आरम्भ में राज-कार्य उसके पिता शक्तिसिंह के समय में हुई रक्तहीन राज्य-क्रान्ति-प्रसूता मन्त्रिपरिषद् द्वारा सुचारु रूप से संचालित एवं सम्पादित होता था । शक्तिसिंह की मृत्यु एवं हरिसिंह देव के सिंहासन पर बैठने के बीच की अवधि में भी शासन-सूत्र का संचालन उक्त मन्त्रिपरिषद् द्वारा ही होता था ।

हरिसिंह देव के विद्वान् मन्त्री चण्डेश्वर ठाकुर ने १३१४ ई० में व्यवहार (कानून) विषयक 'कृत्यरत्नाकर' नामक सात खण्डों के बृहत् विधि-ग्रन्थ का प्रणयन किया, जिसके प्रथम खण्ड में हिन्दू-विधि तथा शेष में व्यवहार-न्यायालय (दीवानी, अदालत) सम्बन्धी विधि (कानून) का वर्णन है (एगलिंग का इण्डिया आफिस कैटलाग-३, नं० १३८७) ग्रन्थ के सातों खण्डों में निम्नांकित विषय हैं :- (१) कृत्य, (२) दान, (३) व्यवहार, (४) शुद्धि, (५) पूजा, (६) विवाद तथा (७) गृहस्थ । 'कृत्यरत्नाकर' के व्यवहार-न्यायालय सम्बन्धी विधि वाले अध्याय के अन्त में अंकित एक श्लोक में १२३६ शकाब्द का उल्लेख (एगलिंग का इण्डिया आफिस कैटलाग-३, नं० १३८७ तथा १३९०) । उससे पता चलता है कि उस ग्रन्थ का लेखन उस साल समाप्त हुआ था । शकाब्द १२३६ में ख्रिष्टाब्द १३१४ ई० था । 'कृत्य रत्नाकर' के भिन्न-भिन्न सात अध्यायों में धार्मिक एवं सामाजिक मानव-जीवन के विषय में विवेचना की गयी है, तथा शासक के लिए राज्य-शासन एवं धर्माचरण सम्बन्धी मार्गदर्शन का अंकन भी वहाँ उसमें हुआ है, जिसके आधार पर ही नृपति राज्य-शासन-कार्य का सम्पादन करता था । चण्डेश्वर-प्रणीत 'राजनीति रत्नाकर' एवं 'विवाद-रत्नाकर' ग्रन्थ भी हैं, जिनकी मान्यता मिथिला में अद्यावधि गत छः सौ वर्षों से समभाव से हो रही है । चण्डेश्वर ने १३१४ ई० में वागमती नदी के किनारे अपने शरीर की तौल के बराबर स्वर्ण का तुलादान किया था, इससे मिथिला राज्य तथा उसके मन्त्री की तत्कालीन समृद्धि का पता चलता है ।

हरिसिंह देव कर्णाट-कुल में अति प्रसिद्ध भूपति हुआ था । वह यशस्वी, तेजस्वी, वीर, समाज-सेवक एवं सुधारक नृपति था । कई अंशों में वह कर्णाट राजकुल के संस्थापक भूप नान्यदेव से भी अधिक सम्मान्य भूपति था । उसने अपने राज्य में कुलीन प्रथा की

स्थापना कर मिथिला के ब्राह्मणों एवं कायस्थों को क्रमानुसार कई सामाजिक विभागों में विभक्त किया । 'मिथिला पंजी-प्रबंध' में उसके इस प्रकार के सभी सुधारों एवं उपवर्ण-विभागों का उल्लेख किया गया है (डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २८०)।

मिथिला में आज भी हरिसिंह देव द्वारा प्रवर्त्तित क्रान्तिकारी सामाजिक सुधार कुछ न कुछ अंशों में प्रचलित है । अनेक सामाजिक कार्य उसके द्वारा नियमों के आधार पर किये जा रहे हैं । पर साम्प्रतिक स्थिति में शिथिलता उनमें आ रही है; क्योंकि उनके आचरण से लाभ के स्थान में विपरीत फल समाज को प्राप्त होने लगा है । इसका मूल कारण परिस्थिति में परिवर्त्तन है । उसके वे सुधार उस काल के लिए उपयुक्त थे । आज के युग में उसके उन सुधारों का मेल नहीं खा रहा है ।

हरिसिंह देव वीर योद्धा एवं रण-कुशल सेनानी था । वह विद्या तथा कला का पोषक और निर्माता नृपति था । उसने अपने शासनकाल में राज्य में भिन्न-भिन्न अंशों में अनेक मन्दिरों का निर्माण किया तथा जनता के हित की दृष्टि से उनके व्यवहार के हेतु यथा कृषि कार्य में जल-कष्ट दूर करने के विचार से कई सरोवर खुदवाये ।

देवगिरि का यादव राजा रामदेव, जिसका प्राप्त काल १३०९ ई० है, हरिसिंह देव का समसामयिक नृपाल था । उन दोनों नृपतियों के बीच पत्राचार का सम्बन्ध था (के० पी० जायसवाल द्वारा लिखित 'राजनीतिरत्नाकर' की भूमिका, १६) । दोनों ही नरेशों में मित्रता का बर्त्ताव था ।

हरिसिंह देव के मिथिला पर शासन के अन्तिम दिनों (१३२४) में उसपर आपत्ति का बादल-दल उमड़ आया । मुसलमानों की लोलुप आँखें समृद्धिशील मिथिला को हड़पने के हेतु शक्तिसिंह देव के समय से ही उपयुक्त अवसर की खोज में लगी हुई थीं । हरिसिंह देव निर्भीक राजा था । उसका राज्य यद्यपि छोटा था, पर उसकी शक्ति अपेक्षाकृत अधिक थी । पड़ोस के राज्यों पर उसका आतंक था । अतः मुसलमानों ने सीधे मिथिला पर आक्रमण करना युद्ध-नीति के अनुकूल न समझा । उस काल तक उन सबों के पैर उत्तर एवं पूर्व भारत के अधिकांश स्थानों में दृढ़तापूर्वक जम चुके थे । वे सब यहाँ के हिन्दू अधिवासियों तथा नृपतियों की सामरिक नीति, रहन-सहन, रीति-रिवाज, जातिगत एवं व्यक्तिगत दुर्बलताओं तथा उनके लगाव-बिलगाव, शत्रु-मित्र और आपदकाल के कुमुकी साधनों से परिचित हो चुके थे । उनके एकछत्र साम्राज्य के बीच में मिथिला का स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य आँख की किरकिरी बन रहा था । अतः उसको येन-केन-प्रकारेण स्वायत्त करने की युक्ति निकालने में वे लग गये । इसके लिए उन्हें उपयुक्त अवसर भी प्राप्त हुआ । उसकी आड़ में उन्होंने मिथिला-विजय की योजना बनायी, और उसमें वे सफलीभूत भी हुए ।

बंगाल का शासक बहादुरशाह केन्द्र साम्राज्य दिल्ली के विरुद्ध विद्रोह कर स्वतन्त्र बन बैठा था । दिल्ली के तत्कालीन सुलतान गयासुद्दीन तुगलक ने विद्रोह-शमनार्थ स्वयं बंगाल की यात्रा की । बंगाल पहुँचने के पूर्व मार्ग में उसने मिथिला को नहीं छेड़ा । बंगाल पहुँचकर उसने वहाँ के विद्रोही शासक बहादुरशाह पर आक्रमण कर उसको शमन किया ।

उसके स्थान में अहमद खाँ को उसने शासक नियुक्त किया। बंगाल के उपद्रव को शान्त कर वह मिथिला होकर दिल्ली लौटा। हातिम शाह के भ्राता उपर्युक्त बहादुरशाह ने गयासुद्दीन के पिता के शासनकाल से ही दिल्ली के विरुद्ध बार-बार विद्रोह किया था। गयासुद्दीन तुगलक को विश्वास था कि उसे मिथिला-भूप हरिसिंह देव से समय-समय पर विद्रोह अभियान में सहायता मिलती रही थी। इस कारण उसे दण्ड देने तथा तिरहुत के एकमात्र बचे हुए हिन्दू राजा को युद्ध में पराजित कर उसके राज्य पर अधिकार कर लेने की गुप्त योजना उसने बनायी। उसके मिथिला होकर लौटने का यही कारण था (आर० आर० दिवाकर : बिहार थ्रू दि एजेज, पृ० ३९० के आधार पर)। हरिसिंह देव की राजधानी सिमराओं में थी। हरिसिंह देव, सुलतान की मिथिला को स्वायत्त करने की इच्छा को समझकर, सिमराओं दुर्ग से अपनी वीरवाहिनी के साथ अग्रसर हुआ। सुलतान की सेना विशाल थी। परन्तु उसका विचार न कर वह भयंकर बलवान् शत्रु का सामना करने के हेतु आगे आया। सुलतान की बलवती विशाल म्लेच्छ-वाहिनी के सामने उसका संगर में पराभव हुआ। इतिहास-लेखक फेरिश्ता के लेखानुसार सुल्तान जब वहाँ के (मिथिला के सिमराओं के) निकट की पर्वत-उपत्यका में पहुँचा तो तिरहुत का राजा (हरिसिंह देव) ससैन्य उसके प्रतिरोध में सम्मुख आ उपस्थित हुआ। परन्तु विकट युद्ध के पश्चात् उसे समरांगण का त्याग कर घोर अरण्य में प्रवेश करने के हेतु बाध्य होना पड़ा (ब्रिग्स : फेरिश्ता : हिस्ट्री ऑफ दि राइज ऑफ मुहम्मडन पावर, वाल्यूम-१, पृ० ४०६-०७)।

राजा के (हरिसिंह देव के) जंगल में प्रवेश करने पर सुलतान ने उसका पीछा किया। पर गहन वन में उसका वाहनों के साथ आगे बढ़ना संभव न था। फेरिश्ता लिखता है कि अपनी सेना को आगे बढ़ते न देखकर सुलतान घोड़े से उतर पड़ा। उसने एक कुल्हाड़ा लेकर अपने हाथों से एक पेड़ को काट डाला। बादशाह के उस कृत्य से उत्साहित होकर म्लेच्छ-सेना ने देखते-देखते जंगल के सभी वृक्षों को बात की बात में काट डाला। सेना को आगे बढ़ने के हेतु प्रशस्त मार्ग प्रस्तुत कर गयासुद्दीन की सेना आगे बढ़ी। उसे सामने एक विशाल दुर्ग मिला। वह किला सात गहरी खाइयों से घिरा था। सभी खाइयाँ अगम जल से परिपूर्ण थीं, जिनको पार करना कठिन था। खाइयों से आगे दुर्ग चतुर्दिक् ऊँचे प्राकार से परिवेष्टित था। प्राकार और किला दोनों ही अभेद्य थे। पर सुलतान की सेना तीन सप्ताहों के परिश्रम के पश्चात् सातों खाइयों को पाटने तथा सुदृढ़ प्राकार को विनष्ट करने में सक्षम हुई। मिथिला के राजा (हरिसिंह देव) को सुलतान ने सपरिवार बन्दी बनाया, और मिथिला के शासन का भार मल्लिक तुवलिघा के पुत्र अहमद खाँ को सौंप कर वह दिल्ली लौट गया। परन्तु फेरिश्ता के राजा (हरिसिंह देव) को बन्दी बनाने वाले कथन में सत्यता का अभाव प्रतीत होता है। इतिहास बताता है कि सिमराओं त्याग कर हरिसिंह देव ने जंगल की शरण ली। पीछे नेपाल को जीत कर वहाँ उसने तथा उसके पुत्र एवं पौत्र तथा प्रपौत्र ने राज किया, जिसका वर्णन आगे किया जायगा। मिथिला के सिंहासन पर बैठ कर राज्य-शासन करने वाले कर्णाट कुल के छः राजे (काठमाण्डु अभिलेख के अनुसार सात भूपति) हुए। पर उन सबों में प्रसिद्ध प्रथम एवं अन्तिम भूप नान्यदेव तथा हरिसिंह देव ने ही प्राप्त की।

'तारीख-ए-फिरोज शाही' (इल्लियट, ३, २३४) के इतिहास-लेखक बर्नी ने

आधार पर लिखा है कि जब सुलतान गयासुद्दीन मिथिला (तिरहुत) पहुँचा तो उसने वहाँ लखनावती के शासक सुलतान नसीर-उद्-दीन को बुलाया। वह वहाँ आया तथा देश के सभी रईसों एवं राजाओं ने बादशाह की अधीनता नत होकर स्वीकार की (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २८२)।

चण्डेश्वर ठाकुर के ग्रन्थ 'दान रत्नाकर' में हरिसिंह देव का नाम आया है। उसमें उसे 'म्लेच्छ रूप उदधि-ऊर्म्मियों से उत्प्लावित धरा का उद्धारकर्त्ता' बताया गया है, यथा- 'मग्ना म्लेच्छमहार्णवे येनोधृता लीलया' (श्लोक-२, आर० एल० मित्र : नोटिसेज ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, ६, १३५, नं० २०६९)। हरिसिंह देव ने किसी मुसलमान भूप को पराजित किया था। इस तथ्य का पृष्ठपोषण नेपाल दरबार-पुस्तकालय के कैटलौग नं० १५३६, पृ० ६६, से भी होता है, जिसमें अंकित किया गया है, यथा– 'नानायोधनिरुद्धनिर्ज्जित सुरत्राणात्र सद्वाहिनी। नृत्यद् भीम कबन्धमेलकदलद्भूमिभ्रमद्भूधरः। अस्ति श्री हरिसिंह-देव नृपतिः ....।' इस उद्धरण के अनुसार कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर प्रणीत 'धूर्त समागम' नामक द्वा यांकी नाटक, जो कर्णाट-चूड़ामणि महाराज हरिसिंह देव के नेपाल-दरबार में अभिनीत हुआ था, में उसे 'सुरत्राण-जित' (सुलतान को जीतने वाला) कहा गया है। यह प्रहसन गयासुद्दीन (गयास-उद्-दीन) और हरिसिंह देव के १३२४ वाले मिथिला में हुए युद्ध के पश्चात् लिखा गया था, जिसमें उक्त भयंकर समर का लोमहर्षक चित्र-चित्रण किया गया है।

यह विश्वास किया जाता है कि मुसलमान-शक्ति के आक्रमणों के आरोह के अवरोह होने पर अथवा स्वतः उनके वहाँ से चले जाने पर हरिसिंह देव ने अपने विजित राज्य के कुछ अंश का उद्धार किया, और उसी काल में ज्योतिरीश्वर ने 'धूर्त समागम' नाटक तथा चण्डेश्वर ने 'दान रत्नाकर' ग्रन्थ का निर्माण किया (एस० के० चटर्जी तथा श्रीकृष्ण मिश्र सम्पादित 'वर्ण रत्नाकर'– १७)। यह भी सम्भव हो सकता है कि किसी पड़ोसी मुसलमानी राज्य ने मिथिला पर आक्रमण किया था, और चण्डेश्वर ने उस युद्ध में प्रमुख भाग लेकर आक्रामक को वहाँ से मार भगाया था। किन्तु अन्त में १३२४ ई० में तिरहुत से हिन्दू-राजसत्ता का लोप हो गया। यह भी हो सकता है कि चण्डेश्वर के 'दान रत्नाकर' में बंगाल की पराजय का अंकन किया गया हो (के० पी० जायसवाल सम्पादित चण्डेश्वर का 'राजनीति रत्नाकर', १८; श्याम नारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ६७; महामहोपाध्याय पं० परमेश्वर झा : 'मिथिला-तत्व-विमर्श' पृ० १३५)।

उपर्युक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि १३२४ ई० के सुलतान गयास-उद्-दीन के साथ समर के पश्चात् भी हरिसिंह देव १३२५ अथवा १३२६ ई० में विद्यमान था, और मुसलमान विजेताओं के द्वारा कदापि बन्दी नहीं बनाया जा सका था। फेरिश्ता का वैसा लिखना आधारशून्य तथा मिथ्याकल्पना पर अवलम्बित है (जरनल ऑफ एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९१५, नव संस्करण, पृ० ४१२)। हरिसिंह देव की नेपाल की विजय की यह कथा स्वतः बताती है कि उस काल तक नेपाल में किसी अन्य शक्ति का शासन स्थापित हो चुका था। सम्भवतः नेपाल पर अल्ला-उद्-दीन खिलजी का आधिपत्य उसके राजत्व-काल में हुआ था। ऐतिहासिक तत्त्व के गवेषक विद्वान् के० पी० जायसवाल के मतानुसार नेपाल का सम्पर्क दिल्ली के साथ पूर्व में ही हो चुका था, क्योंकि अल्ला-उद्-दीन

के नाम एक सिक्का (मुद्रा) वहाँ नेपाल में संलग्न पाया गया है (१२९६-१३१६ ई०) (जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, २२, ८६; जरनल ऑफ एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९२९, न्यू सीरीज, पृ० ३७)। इससे यह संभव हो सकता है कि कर्णाट क्षत्रिय वीर नृपति हरिसिंह देव ने मिथिला में मुसलमानों की बलवती विशाल वाहिनी से पराभव पाकर नेपाल पलायन किया, और वहाँ के अधीश्वर मुसलमानों को पराभूत कर मिथिला की हार रूपी ऋण का परिशोध नेपाल-विजय कर किया। हरिसिंह देव के पूर्वज नान्यदेव ने भी नेपाल की विजय की थी, जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। यह प्रमाणों से प्रमाणित है कि हरिसिंह देव ने मिथिला त्यागने के पश्चात् नेपाल की विजय की और वहाँ चार पीढ़ियों तक नेपाल के सार्वभौम सम्राट् के रूप में शासन किया। ज्योतिरीश्वर का उपर्युक्त प्रहसन नेपाल-विजय के पश्चात् प्रणीत एवं अभिनीत हुआ था।

मिथिला के विजेता गयास-उद्-दीन के पुत्र का नाम मुहम्मद तुगलक था। उसने मिथिला को तुगलकपुर उपनाम तिरहुत नाम देकर वहाँ के टकसाल से रजत-मुद्रा के स्थान में उसी मूल्य में पीतल की मुद्रा चलायी थी, और उसको स्वीकार करने के हेतु प्रजा को बाध्य किया था। उसके इस प्रकार के दो सिक्के प्राप्त हुए थे, पर दोनों की तौल में समता न थी। उसमें से एक १४० ग्रेन का था, और दूसरा १३३ ग्रेन का (जरनल ऑफ एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९१५, न्यू सीरीज, पृ० ४१२, रोजर्स इण्डियन म्युजियम कॉयन्स, भाग-१, पृ० ६३ नं० १२८११; वोडिल्लन्स कैटलाग ऑफ इण्डिन म्युजियम कॉयन्स, भाग-२, पृ० ६०, नं० ३८४; जरनल ऑफ एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १८८३, पृ० ५२)। मुहम्मद तुगलक का एक सिक्का इण्डियन म्युजियम में है, जिस पर ७३१ हिजरी अंकित है (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २८४)।

मुहम्मद तुगलक के १३४६ ई० के चम्पारण के वेदिवन-अभिलेख से पता चलता है कि उसने वहाँ एक मुसलिम मन्दिर (दूसरे पाठ के अनुसार कुएँ) का निर्माण किया था। उससे उसका उस काल पर आधिपत्य प्रमाणित होता है। मुल्ला तकिया की दैनांदिनी से भी इसका अनुमोदन होता है। मुहम्मद तुगलक ने दरभंगा में एक जामा मसजिद तथा किले का निर्माण किया था। मसजिद अब नहीं है, पर मुल्ला तकिया ने उसके मध्य द्वार से संलग्न १३२६ ई० का उत्कीर्ण अभिलेख देखा था, जिसका उद्धरण भी उसने दिया है। उसके काल की तुगलकपुर टकसाल से ढली एक प्राप्त मुद्रा पर तुगलकपुर का नाम तथा काल अङ्कित है, जिससे पता चलता है कि वह १३३०-३१ ई० में वहाँ ढाली गयी थी (आर० आर० दिवाकर : दि बिहार थ्रू दि एजेज, पृ० ३९१ के आधार पर)।

हरिसिंह देव का मिथिला-परित्याग एवं नेपालाक्रमण

कर्णाट-राजवंश की राजधानी सिमराओंगढ़ का पतन, मुसलमानों के द्वारा मिथिला की विजय, राजा हरिसिंह देव का स्व-पैतृक राज्य का परिस्थितिवश परित्याग तथा उसके द्वारा नेपाल की विजय का परस्पर ऐतिहासिक सम्बन्ध है। मिथिला में प्रचलित एतद्विषयक निम्नांकित श्लोक, जिसकी चर्चा पूर्व में प्रसंगवश की जा चुकी है, से उपर्युक्त घटनाओं के घटने के काल का पता चलता है। वह श्लोक इस प्रकार लिखा गया है—

"बाणाब्धि-बाहु-शशि-सम्मित-शाकवर्षे पौषस्य शुक्ल दशमी-क्षिति सुनूवारे, त्यक्त्वा स्व-पट्टनपुरीं हरिसिंह देवो दुर्दैव-देशित-पथा गिरिमाविवेश" (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, ४, १२४; एस० के० चटर्जी ऐण्ड श्रीकृष्ण मिश्र सम्पादित 'वर्ण रत्नाकर' १७) ।

अर्थात् निर्दय भाग्यचक्र ने शकाब्द १२४५ के पौष, शुक्ल, दशमी के दिन नृपति हरिसिंह देव को अपने सुन्दर राजनगर का परित्याग कर पर्वतारण्य में प्रवेश करने के हेतु बाध्य किया (उपर्युक्त श्लोक में बाण, अब्धि बाहु और शशि शब्द संख्या बोधक हैं, जिनको बायें से दाहिने अंकित करने पर क्रमशः १, २, ४ एवं ५ अंक प्राप्त होता है। अब्धि से साधारणतया ७ अंक का बोध होता है । किन्तु यहाँ पर चारों दिशाओं के समुद्र के लिए अब्धि शब्द को ४ अंक का परिचायक माना गया है । ठीक ही कहा गया है कि- 'स्वतन्त्राः कवयः') ।

अगम जल-परिपूर्ण सात खाइयों तथा अति उच्च सुदृढ़ प्राकार से परिवेष्ठित एवं सुरक्षित अभेद्य सिमराओं गढ़ के पतन के पश्चात् उस स्थान को त्याग कर अन्यत्र जाने के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय भूपति हरिसिंह देव के सामने नहीं रह गया था । शत्रु की अधीनता स्वीकार कर राजभोग करने की अपेक्षा उसने घोर जंगलों में जाकर हिंस्र पशुओं के बीच स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना श्रेयस्कर समझा । वहाँ रहकर सुलतान के विजयोन्मत्त अपार सैन्य से सफल लोहा लेने की क्षमता उसमें उस काल नहीं रह गयी थी । अतः उसने अपनी मातृभूमि मिथिला को विदाई सूचक प्रमाण कर उत्तर दिशा के पार्वत्य प्रदेश के गहन वन में अपने साथी योद्धाओं के साथ प्रवेश किया । वह भूमि नेपाल प्रदेश की थी, जिसको उसके पूर्वज नान्यदेव ने जीता था । हरिसिंह देव ने भी उसका पुनः विजय कर उसकी राजधानी भटगाओं में सूर्यवंशी कर्णाट राजवंश की फिर से नींव दी । सिमराओं के पराभव एवं हरिसिंह देव के मिथिला-परित्याग के परिणामस्वरूप राजधानी के स्वाभिमानी निवासियों में से कुछ ने तो हरिसिंह देव का सहचर बन कर उसका अनुसरण घोर अरण्य में किया और कुछ ने मुसलमानों द्वारा अधिकृत राजनगर का परित्याग कर अन्यत्र जाकर निवास किया । सिमराओं गढ़ से विस्थापित ऐसे लोग सिमरोइयाँ मूल से प्रख्यात हुए । वैनी से लगभग सात मील की दूरी पर पूसा के निकट शैदपुर नामक ग्राम में सिमरोइयाँ ब्राह्मणों का आवास है जो अपने को सिमराओं गढ़ का निवासी बताते हैं । उन सबों में प्रचलित अनुश्रुति के अनुसार उनके पूर्वज सिमराओं गढ़ से विस्थापित होकर शैदपुर आये तथा वहाँ के अधिपति पठान सरदार शईद खाँ को परास्त कर उसकी अचल सम्पत्ति पर उन लोगों ने अपना आधिपत्य स्थापित किया, और वहीं वे बस भी गये । शैदपुर के सिमरोइयाँ मूल वाले भारद्वाज गोत्रीय हैं । उन सबों की उपाधि पाण्ड्य की है ।

कठिन दुर्भाग्य के चक्कर में पड़कर अपने राज्य से च्युत होने पर हरिसिंह देव को अपने लिए आश्रय के स्थान की खोज में नेपाल पर आक्रमण करने की आवश्यकता हुई थी। उस काल उस पर विपत्ति के बादल उमड़ पड़े थे । उसके पूर्वज नान्यदेव ने प्रसार-लिप्सा से अपने साम्राज्य के विस्तार के लिये उस प्रदेश पर चढ़ाई की थी । उसका शासन अपने गृहराज्य मिथिला पर बना हुआ था और वहीं से वह सम्पूर्ण नेपाल का शासन

करता था। पर हरिसिंह देव को अपने पैतृक राज्य में सुदृढ़ रूप से पैर टेकने के हेतु स्थान रह नहीं गया था। अतः उसने नेपाल विजय कर भटगाओं में अपनी राजधानी की स्थापना की। नान्यदेव के काल में कर्णाटों की नेपाल पर पहली चढ़ाई हुई थी, और हरिसिंह देव का नेपाल-आक्रमण उस राजकुल की दूसरी चढ़ाई था। परन्तु दोनों आक्रमण दो परिस्थितियों में हुए थे।

नेपाल में शासकों के शासन के लिये ३ राजधानियाँ थीं। भटगाओं, पाटन एवं काठमाण्डु— उन तीन राजधानियों के क्रमशः नाम थे। हरिसिंह देव के आक्रमण-काल में नेपाल का स्थानीय शासक भूपति जयचन्द्र मल्ल था। उसने अपने स्वधर्मी सूर्यवंशीय क्षत्रिय कुलोद्भव आक्रामक कर्णाट वीर हरिसिंह देव की प्रभुसत्ता को बिना प्रतिरोध के स्वीकार कर लिया। हरिसिंह देव ने भी अपनी राजधानी की स्थापना भटगाओं में की, और स्थानीय शासकों के काठमाण्डु एवं पाटन की राजधानियों से सामन्त भूप के रूप में वहाँ शासन करने के अधिकार को स्वीकृत किया।

के० पी० जायसवाल की मान्यता के अनुसार नेपाल पर अल्ला-उद्-दीन खिलजी के काल में मुसलमानों की प्रभुसत्ता की स्थापना हो चुकी थी (जरनल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, २२, ८६)। इसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। नेपाल के स्थानीय शासकों द्वारा हरिसिंह देव की प्रभुसत्ता अप्रतिरोध स्वीकार कर लेने से यह परिलक्षित होता है कि नेपाल के स्थानीय शासकगण पूर्व से किसी अन्य प्रभुसत्ता के अधीन थे, जिसे वे अवांछनीय समझते थे। उस अवांछित शक्ति से मुक्ति पाने के उद्देश्य से उसके विरुद्ध आक्रमण करनेवाले हरिसिंह देव को स्वदेशी, स्वधर्मी एवं स्वजातीय समझ कर उन सबों ने उसका स्वागत किया, और उसकी प्रभुसत्ता सहर्ष स्वीकार कर ली। अतः नेपाल की विजय हरिसिंह देव ने जयरुद्र मल्ल से नहीं, वरन् मुसलमानी प्रभुसत्ता के विरुद्ध की, जिसकी चर्चा चण्डेश्वर ठाकुर ने 'दान रत्नाकर' में तथा ज्योतिरीश्वर ने 'धूर्त्त समागम' में की है (नेपाल दरबार पुस्तकालय के कैटलॉग नं० १५३६, पृ० ६६)। इस विषय की विवेचना पूर्व में की जा चुकी है।

हरिसिंह देव ने नेपाल में सार्वभौम स्वतन्त्र भूपति के अधिकार से नेपाल का शासन किया था। इस तथ्य का अनुमोदन काठमाण्डु-उत्कीर्ण अभिलेख से होता है। उसमें अंकित किया गया है :—

'जातः श्री हरिसिंह देव नृपतिः प्रौढ़ प्रतापोदयः
तद्वंशे विमले महारिपुहरे गाम्भीर्यरत्नाकरः।
कर्त्ता यः सरसामुपेत्य मिथिलां संलक्ष्य लक्षप्रियो
नेपाले पुनराढ्य वैभवयुते स्थैर्यः चिरम् विद्यते ॥'

(इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, १८८०, पृ० १८९, नं० १९, श्लोक-१०)।

उपर्युक्त काठमाण्डु-अभिलेख में हरिसिंह देव को 'कर्णाट-चूड़ामणि' एवं 'कर्णाट वंशोद्भव' विरुदों से विभूषित किया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि हरिसिंह देव कर्णाट क्षत्रिय था, जिसका राज्य पूर्व में मिथिला में था। कुछ लोगों का मत है कि वह तराई का रहनेवाला नेपाल देशीय नरेश था, युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है। हाँ, कर्णाट-भूपों

के शासनकाल में मिथिला राज्य का विस्तार नेपाल की तराई भूमि तक था, इसमें सन्देह नहीं है। प्राचीन ग्रन्थ पुराणों में वर्णित मिथिला की सीमाओं से भी यह झलकता है कि उस काल मिथिला राज्य के उत्तर में हिमालय पर्वत की उपत्यका का सघन वन था, जिसका अंकन पुस्तक के आदि में किया जा चुका है।

कर्णाट-कुल के मिथिला के अन्तिम राजा हरिसिंह देव ने शकाब्द १२४५, नेपाल सं० ४४५, अर्थात् १३२४ ई० में नेपाल-विजय की थी। वहाँ उसको लेकर उसके कुल के चार भूपतियों ने राज किया, जिनका ब्यौरा निम्नांकित है :- (क) हरिसिंह देव २८ वर्ष, (ख) मतिसिंह देव १५ वर्ष, (ग) शक्तिसिंह देव २२ वर्ष (कुछ विद्वानों के मतानुसार २७ अथवा ३३ वर्ष), तथा (घ) श्यामसिंह देव १५ वर्ष। महामहोपाध्याय पं० परमेश्वर झा ने अपने ग्रंथ 'मिथिला-तत्त्व-विमर्श' (पृ० १४४) में शक्तिसिंह का शासनकाल २५ वर्षों का तथा श्यामसिंह का १२ वर्षों का बताया है। ये चारों ही क्रमशः एक दूसरे के पुत्र थे। श्यामसिंह के पश्चात् भी उस कुल के दो और शासकों का नेपाल में १४१३ ई० तक शासन करना बताया जाता है, किन्तु उनके नाम का पता नहीं लग सका है। सम्भवतः वे दोनों कर्णाट वंशीय राजे जयस्थिति मल्ल के समकालीन थे, और उसके मल्ल सिंहासन पर आधिपत्य स्थापित कर लेने पर भी अपनी राजधानी से नेपाल के कुछ अंश पर राज करते थे। इस जयस्थिति मल्ल का परिचय पुस्तक में आगे दिया जायगा।

नेपाली उत्कीर्ण लेखों एवं वंशावली में अंकित पाया जाता है कि हरिसिंह देव तथा जयरुद्र मल्ल के शासनकाल में, १३२८ ई० के शरत् काल में आदित्य मल्ल के नेतृत्व में खासियों ने पुनः नेपाल पर आक्रमण किया, और ठीक उसी समय मल्ल-कुल-भूप जयरुद्र मल्ल की मृत्यु हो गयी (सिलभ्यां लेवी : ली नेपाल, वॉल्यूम-२, पृ० २२६; एच० सी० राय : डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया, १, २२१)।

हरिसिंह देव के पुत्र मतिसिंह के शासनकाल में चीन सम्राट् हांग-ऊ ने उसके पास दो बार उसको नेपाल-भूप की मान्यता प्रदान कर अपना दूत-मण्डल भेजा था। उसने अपने पत्र में मतिसिंह का नाम मा-त-न लिखा था। साथ ही चीन-सम्राट् ने एक राजकीय मोहर भी मतिसिंह के पास प्रेषित की थी, जिसके द्वारा उसने मतिसिंह की नेपाल पर प्रभुसत्ता स्वीकृत की थी। नेपाल भूप ने भी बदले में चीन-सम्राट् के पास एक स्वर्ण-मण्डप तथा अनेक पवित्र धार्मिक पुस्तकें उसकी राजधानी पेकिंग में भेजी थी। इस प्रकार का आदान-प्रदान पुनः १३९० एवं १४१३ ई० में हुआ था। श्यामसिंह ने भी अपने राज्यारोहण-काल में चीन-सम्राट् का सद्भावना-पूर्ण स्वीकृति-पत्र प्राप्त किया था (परसीवल लैण्डन : नेपाल, वॉल्यूम-१, पृ० ३७-३९)। शक्तिसिंह को चीन-सम्राट् ने चीनाब्द ५३५ में 'शक्तिसिंह राम' अंकित मोहर के साथ एक पत्र प्रेषित किया (इण्डिन ऐन्टीक्वेरी, १३, ४१४)। मालूम पड़ता है कि १४१८ ई० के लगभग हरिसिंह देव के वंशजों का अधिकार नेपाल से उठ गया। इसी कारण से जब चीन-सम्राट् हुएन-टी ने १४२७ ई० में कर्णाट-राजकुल के भूपति के साथ पुरानी मैत्री को पुनर्नवीन करने के हेतु अपना दूत-दल नेपाल भेजा तो उसे कोई उत्तर प्राप्त न हो सका (एच० सी० राय : डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया, वॉल्यूम-१, २२२-२४; जरनी बाई वेन्डल्ल, ८३-८७ तथा ११-१२)। उपर्युक्त उल्लेखों से

पता चलता है कि हरिसिंह देव के उत्तराधिकारियों को चीन-सम्राट् की ओर से नेपाल के सार्वभौम-सत्ताधारी भूपाल की मान्यता प्राप्त थी।

नेपाल में मल्ल-कुल का राजकुमार जयस्थिति मल्ल महत्त्वाकांक्षी वीर था। उसने कर्णाट-कुल के जगतसिंह की पुत्री जाजल्ल देवी से विवाह किया था। वह जाजल्ल देवी मल्लवंशीय स्वर्गीय भूपति जयरुद्र मल्ल की कन्या नायका देवी से उत्पन्न हुई थी। नायका देवी का विवाह कर्णाट-राजकुल के जगतसिंह देव के साथ हुआ था। उस जयस्थिति मल्ल ने मल्ल एवं सूर्य वंशीय कर्णाट-कुलों के सिंहासनों पर अधिकार कर सम्पूर्ण नेपाल पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उक्त वैवाहिक सम्बन्धों के कारण उसने अपने को दोनों राजकुलों का प्रतिनिधि एवं उत्तराधिकारी घोषित किया था। इस प्रकार लगभग सवा दो सौ वर्षों तक मिथिला पर और एक सौ वर्षों तक नेपाल पर शासन करने के पश्चात् कर्णाट-कुल का राजनीतिक अस्तित्व उत्तर भारत की राजनीति से तिरोभूत हो गया। हरिसिंह देव के १३२४ ई० के रणपराभव के परिणामस्वरूप चिरकाल पश्चात ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में प्राप्त मिथिला की स्वतन्त्रता रूठ गयी। वह शिथिला बन कर परवशवर्त्तिनी हुई, एवं मुसलमानों का राज्य वहाँ हो गया। सुशासन के स्थान में शोषण आरम्भ हुआ, और प्रजा के मानस में अशान्ति एवं असन्तोष ने घर करना आरम्भ कर दिया। इसका फल यह हुआ कि विजेता के सीधे शासन को भी मिथिला में सफलता न मिल सकी और अन्ततोगत्वा उसे वहाँ के अधिवासी के अधीन करना पड़ा, जिसका वर्णन आगे किया जायगा। मिथिला के पतन से सम्पूर्ण उत्तर बिहार पर मुसलमानों की विजय-वैजयन्ती फहरा गयी, जो विदेशी अंग्रेजों के आगमन तक बनी रही।

हरिसिंह देव के १३२४ ई० में सिमराओं दुर्ग के परित्याग के पश्चात् भी उसने तथा उसके ३ वंशजों ने नेपाल के सिंहासन से मुसलमानों द्वारा विजित एवं अधिकृत मिथिला राज्य पर लगभग ५२ वर्षों तक (१३२४ से १३७५ ई० तक) अपनी शक्ति तथा प्रजा के उस कुल के शासन के प्रति प्रेम के कारण प्रच्छन्न रूप से शासन किया। इस तरह उस काल मिथिला में द्वैध शासन चालू था। वहाँ के बाह्यजगत् पर विजेता मुसलमानों का ऊपर से बलात् लादा गया आधिपत्य था, और जनता के हृदय पर अधिकार कर्णाट राजवंश का था।

कर्णाट शासनकाल में मिथिला की प्रशासनिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति

ग्यारहवीं शती के अन्तिम चरण के उत्तर काल से लेकर चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चरण के लगभग अन्त तक मिथिला में उसके अधिवासी पुत्रों (कर्णाट क्षत्रियों) का शासन बना रहा। यद्यपि उस काल में भी बाहरी शत्रुओं का आक्रमण यदा-कदा वहाँ होना बन्द नहीं हो गया था पर अन्य प्रदेशीय शासकों के शोषण रुक जाने से देश समृद्ध एवं जनता सुखी हो गयी थी।

तिब्बती पर्यटक धर्मस्वामिन् (चग-लो-त्स-व) ने मिथिला (तिरहुत) की यात्रा १२३४ ई० में प्रथम बार की थी। गृह प्रत्यागमन काल १२३६ ई० में भी वह तिरहुत होकर ही लौटा था। उस समय उसने वहाँ के राजा रामसिंह देव द्वारा आमंत्रित होकर उससे भेंट भी की थी। उक्त तिब्बती यात्री के शिष्य उपासक चोस-दर ने उसके मुख से ही उसकी जीवन-घटनाओं को सुनकर तिब्बती भाषा में उसकी संक्षिप्त जीवनी तथा यात्रा-वृत्तान्त

प्रस्तुत किया था, जिसका अंग्रेजी भाषा में एक रूसी विद्वान् से अनुवाद करवा कर बिहार राज्य के पटना के 'के० पी० जायसवाल अनुसंधान संस्थान' ने पुस्तक रूप में प्रकाशित करवाया है। उस पुस्तक से उस युग की मिथिला की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साम्पत्तिक, धार्मिक एवं प्रशासनिक स्थिति पर पूरा-पूरा प्रकाश पड़ता है।

जैसा ऊपर अंकित किया गया है, उपर्युक्त तिब्बत निवासी तीर्थार्थी यात्री अपने कतिपय सहचरों के साथ तीर्थाटन के क्रम में नेपाल होता हुआ वज्रासन (बोधगया) के मार्ग में १३वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध १२३४ ई० में तिरहुत पहुँचा। उसके यात्रा-वृत्तान्त में तिरहुत के एक प्रधान नगर 'प-पट' अथवा 'पट्टला' का उल्लेख है[1]। उसके वर्णन से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि वह नगर कर्णाट क्षत्रिय राजाओं का राज-नगर सिमराओगढ़ था, जिसकी जनसंख्या एवं विस्तार विषयक उल्लेख में अत्युक्ति के समावेश का अनुमान होता है। मूल पुस्तक पर्यटक से उसकी यात्रा का वृत्तान्त सुनकर उसके शिष्य द्वारा प्रस्तुत की गयी थी। अतः निश्चित संख्या के सम्बन्ध में किंचित् भूल लेखक के द्वारा होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है। पर अन्य वर्णन यथावत् होंगे, इसमें संदेह का स्थान नहीं हो सकता है।

धर्मस्वामिन् के उल्लेखनुसार वह विशाल नगर सात उच्च एवं सुदृढ़ प्राकारों से परिवेष्टित था, जिसके अन्दर ६००,००० भवन विद्यमान थे। प्राचीरों की ऊँचाई के विषय में वह बताता है कि वह तिब्बत के दुर्गों के ऊँचाई से टक्कर लेती थी। शहर से पृथक् राजा रामसिंह देव का राजप्रासाद था, जिसमें ११ बड़े-बड़े प्रवेश-द्वार थे, तथा २१ गहरी एवं अगम जल से परिपूर्ण खाइयों से राजमहल घिरा था। खाइयों के बीच-बीच विशाल वृक्षों की पंक्तियाँ खड़ी थीं। पूरब, पश्चिम एवं दक्षिण में तीन-तीन द्वार थे, तथा उत्तर की ओर केवल दो। उस यात्री ने उत्तर के द्वारों का स्वयं निरीक्षण नहीं किया था, किन्तु औरों का आँखों देखा वर्णन उसने किया है। उसने उत्तर के दो द्वारों को छोड़कर शेष ९ द्वारों के सामने की खाइयों में आवागमन के हेतु बने सेतुओं को देखा था। खाइयाँ चौड़ी थीं। अतः उनके प्रत्येक पुल में लगभग १० से अधिक पानी निकलने के मार्ग बने थे। सेतुओं के सम्मुख प्रहरी सैनिकों की टोलियाँ सदैव सतर्क एवं सन्नद्ध खड़ी रहती थीं। सुरक्षा के हेतु इस प्रकार की सतर्कता एवं सुव्यवस्था तुर्कों (मुसलमानों) के आशंकित आक्रमणों से बचाव के विचार से की गयी थी। प्रहरी सैनिकों की संख्या में भी वृद्धि की गयी थी। तुर्कों के आक्रमण का आतंक उस काल सतत बना रहता था। धर्मस्वामिन् का उपर्युक्त वर्णन उस काल का है जब वह पहले पहल नेपाल से सीधे तिरहुत पहुँचा था। उसके कथनानुसार मुसलमानों का आक्रमण राजा रामसिंह की राजधानी सिमराओंगढ़ के विरुद्ध सन्निकट अतीत में हुआ था, पर राजनगर तक पहुँचने और उसमें प्रवेश करने में वे सब विफल रहते थे। उस तिब्बती संत का भी यह कथन था कि राजा रामसिंह देव के दुर्ग-द्वार पर असि-संचालन-कला-प्रवीण तीन सैनिक सतत सतर्क रहते थे। राजा की सवारी हथिनी पर निकलती थी (बायोग्राफी ऑफ धर्मस्वामिन्, पृ० ५८ के वर्णन के आधार पर)।

---

१. 'पष्टन' जो अन्धरा-ठाढ़ी के पास है, जहाँ अभी भी २१ खाइयाँ पंक्तिबद्ध उस स्थान को वेष्टित की हुई हैं— सम्पादक

उपर्युक्त वर्णन से तिरहुत की तत्कालीन समृद्धि, सुरक्षात्मक व्यवस्था, शासन की स्थिति तथा जनपद में विदेशी एवं विधर्मी मुसलमानों के बढ़ते हुए आतंक का पता चला है। नेपाल से तिरहुत तक की यात्रा धर्मस्वामिन् ने ३०० यात्रियों के समूह में की थी; क्योंकि मार्ग में एकाकी भ्रमण करना निरापद नहीं था। जंगली जानवरों, दस्युओं, चोर-वटमारों और विशेषकर तुर्क-सैनिकों के नाना प्रकार के अत्याचारों का आतंक यात्रियों एवं जनता के सामने सदा बना रहता था।

राजा की सवारी जब नगर में निकलती थी तो सारा नगर प्रतोलियों, चौराहे आदि बहुमूल्य रेशमी वस्त्रों, पताकाओं, तोरणों एवं बन्दनवारों से सजाये जाते थे। उसके पीछे शंख, डंका, ढोल आदि नाना बाजे बजानेवाले, नर्त्तक, ध्वजा, पताका, बल्लम-बर्छा, छत्र, चँवर एवं राजकीय व्यजन ले चलनेवाले मनुष्यों की टोलियाँ चलती थीं।

दक्षिण बिहार एवं बंगाल पर मुसलिम विजय का तिरहुत एवं उसके आस-पास के प्रदेशों पर क्या और कैसा प्रभाव पड़ा था, इसका आँखों देखा वर्णन पाठकों को धर्मस्वामिन् के यात्रा-वृत्तान्त से प्राप्त होता है। विजेता ने विजित प्रदेशों को रौंद डाला था, किन्तु उन्हें व्यवस्थित शासन स्थापित कर लेने में सफलता प्राप्त न हो सकी थी। बिहार राज्य में अनेक हिन्दू एवं बौद्ध भू-पति थे, परन्तु उनकी स्थिति संतोषजनक नहीं थी। उनकी अवस्था दयनीय थी। उनमें मुसलमान आक्रामकों के आक्रमणों के प्रतिकार एवं प्रतिरोध करने की क्षमता न थी। उनके आक्रमणों के काल में वे विवशतावश विशेषतया बीहड़ एवं विकट वनों की शरण लेते थे, और उनके लौट जाने पर पुनः वे अरण्यों से आकर अपने राज्यों की शासन-व्यवस्था को सुदृढ़ करने में तल्लीन हो जाते थे। निरीह एवं निरुपाय प्रजावर्ग की दशा अति शोचनीय थी। बिहारशरीफ (उदंडपुर अथवा उदान्तपुरी) मुसलमान विजेताओं का प्रधान सैनिक-शिविर था। वहाँ से बाहर निकल कर उनकी टोलियाँ लूट-मार करती थीं तथा आतंक फैलाती थी। उसके अतिरिक्त किसी अन्य प्रशासन-पदाधिकारी-आवास का पता उपर्युक्त यात्रा-वृत्तान्त से नहीं चलता है।

मुसलमान सैनिकों की टुकड़ियाँ घूम-घूम कर जनता को लूटती, तबाह करतीं, सताती तथा उनका शोषण कर उनको आतंकित करती थीं। एक बार गंगा नदी पार करते समय नौका पर धर्मस्वामिन् को स्वयं ऐसे दो तुर्क सैनिकों के आततायीपने का लक्ष्य बनना पड़ा था। उन दोनों ने उस तिब्बती संत से सोने की माँग की। उसने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए उनके उस अन्यायपूर्ण आचरण के विरुद्ध स्थानीय राजा के सामने अभियोग उपस्थित करने की बात कही। इस पर दोनों अति क्रुद्ध हो गये। यदि साथ के अन्य यात्रीगण हस्तक्षेप नहीं करते और उन उद्धत सिपाहियों को धर्मस्वामिन् से क्षमा-प्रार्थना के रूप में पान दिलवा कर उनको शान्त नहीं कर सकते तो अवश्य ही उस निरपराध विद्वान बौद्ध साधु का अपहरण कर उसे अपना दास बना लेते। बहुत संभव था कि उसे या तो अपना शरीर त्यागना अथवा धर्म-परिवर्तन करना पड़ता।

वैशाली पहुँचने पर धर्मस्वामिन् को सूचना मिली कि वहाँ शीघ्र मुसलमानी सेना पहुँचने वाली है। उसने उस काल सारे नगर को सूना, रिक्त एवं परित्यक्त पाया। नागरिक

दिन में अपना आवासों का परित्याग कर जंगलों में जा छिपते थे और रात्रि होने पर अंधकार में वहाँ लौट आते थे । भागलपुर जिले का विक्रमशिला-विश्वविद्यालय नालन्दा-विश्वविद्यालय की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का विश्वविद्यालय था; जहाँ एशिया महाद्वीप के अनेक देशों से विद्यार्थी विद्याध्ययन के हेतु पधारते थे । उसका अस्तित्व १२०६ ई० के पूर्व मिटा दिया गया था और उसकी नींव का एक-एक प्रस्तर-खण्ड तक उखाड़-उखाड़ कर गंगा की धारा में प्रवाहित कर दिया गया था । बोधगया का महाबोधि मन्दिर एवं बिहार खाली कर दिये गये थे । आततायियों से भगवान् बुद्धदेव की मूर्त्ति की रक्षा करने के हेतु एक अस्थायी दीवार का निर्माण कर उसे छिपा रखा गया था, और सामने एक दूसरी मूर्त्ति रख दी गयी थी । उसके पूर्व तथागत की प्राचीन मूर्त्ति की आँखों से बहुमूल्य देदीप्यमान माणिक्य खण्डों को बलात् निकालकर उनका अपहरण किया गया था । बोधगया का राजा बुद्धसेन भी उनके भावी आक्रमण के भय से गहन वन में अपने परिवार एवं अंगरक्षकों के साथ जा छिपा था । मुसलमान सैनिकों के वापस जाने पर जब राजा अपने प्रच्छन्न अटवी-आवास से राजधानी लौट रहा था, उससे मार्ग में धर्मस्वामिन् का साक्षात्कार हुआ था ।

उपर्युक्त पर्यटक के कथनानुसार नालन्दा-विश्वविद्यालय का पूर्णतया विनाश १३वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अन्त तक नहीं हो सका था । किन्तु मुसलमान आक्रामकों का आतंक वहाँ भी सतत बना ही रहता था । उसने स्वयं वहाँ छः महीने तक निवास कर विद्याध्ययन किया था । एकबार उसे अपने ९० वर्ष से भी अधिक आयु के वृद्ध गुरु राहुल श्रीभद्र,जो वहाँ के कुलपति थे, को अपने कंधे पर उठाकर मुसलमानों के आक्रमण से बचाने के हेतु कई दिनों तक निकट के ज्ञाननाथ के एक मन्दिर में छिपना पड़ा था । उस समय वहाँ केवल ७० बौद्ध भिक्षु विद्याध्ययन कर रहे थे । उन सबों ने भी अन्यत्र पलायन किया था। नालन्दा का सौन्दर्य एवं भौतिक आकर्षण विनष्ट तथा विलुप्त हो चुका था । वहाँ के विश्वविख्यात पुस्तकालय में पुस्तकों का अभाव था । भव्य एवं विशाल विहारों के खण्डहर मात्र वहाँ बच रहे थे । वज्रासन विहार के प्रांगण में कई छोटे-छोटे मन्दिर शेष रह गये थे । केवल दो विहार वहाँ ऐसे बच गये थे जिनका उपयोग किया जा सकता था। उनके नाम थे ध-न-व तथा धू-न-व । ये दोनों नाम तिब्बती भाषा के प्रतीत होते हैं । उनके बचे रहने का कारण भी धर्मस्वामिन् ने यथाश्रुत बताया है । नालन्दा पर विध्वंसात्मक आक्रमण के काल में मुसलमान ज्ञाननाथ के मन्दिर को विनष्ट कर उसके अवशेष प्रस्तर-खण्डों को उदान्तपुरी (उदण्डपुर अथवा वर्तमान बिहारशरीफ) में मसजिद बनाने हेतु ले गये थे। उन्होंने मूर्त्ति के ऊपर अवांछनीय अशुद्ध वस्तुओं को फेंक कर उसे अपवित्र किया था । उन सैनिकों में से एक, जिसने मन्दिर को विनष्ट करने तथा मूर्त्ति को अपवित्र करने में प्रमुख भाग लिया था, की मृत्यु उसी संध्या में असह्य आंत्र-वेदना के कारण हो गयी । इस घटना से मुसलमान आतंकित हुए और उस समय नालन्दा का अस्तित्व पूर्णतया नष्ट होने से बच गया । परन्तु इस प्रकार की घटना का प्रभाव अस्थायी था । नालन्दा के कुछ विहारों तथा छोटे-छोटे मंदिरों के बचे रहने के अन्य कारण भी हो सकते हैं । वहाँ भव्य एवं विशाल बिहार अनेक थे । उसी प्रकार मंदिरों की भी प्रचुरता थी । नालन्दा के विश्वविद्यालय-क्षेत्र का विस्तार भी कम न था । अतः सम्भव है कि नालन्दा पर प्रथम आक्रमण के काल में सभी विहारों एवं मंदिरों का ध्वस्त करने में ध्वंसकों को पूरी

सफलता प्राप्त नहीं हुई हो । इस प्रकार के वहाँ बचे हुए विहारों में कुछ स्थविरों, श्रावकों, भिक्षुओं, अध्येताओं, शिक्षार्थियों आदि का तबतक निवास करना जबतक उनका अस्तित्व पूर्णरूप से समाप्त नहीं हो जाता, असम्भव नहीं था । नालन्दा विश्वविद्यालय के अन्तिम कुलपति स्थविर मनीषि राहुल श्रीभद्र की वृद्धावस्था एवं अपने विश्वविद्यालय के प्रति उनका ममत्व तथा प्रेम भी उन्हें उस स्थान को त्याग कर अन्यत्र पलायन करने में बाधक हुए होंगे । अनेक अन्य कारणों और परिस्थितियों में उपर्युक्त कारण भी हो सकते हैं, जिनके फलस्वरूप नालन्दा में १२३६ ई० में भी कतिपय विद्वान् शेष रह गये थे, जिनमें राहुल श्रीभद्र प्रधान थे और जिनकी विद्वत्ता से आकृष्ट होकर धर्मस्वामिन् विद्याध्ययन के हेतु उनके पास वहाँ गया था ।

अपने यात्रा-वृत्तान्त में धर्मस्वामिन् ने नालन्दा के विश्वविख्यात ग्रंथ-भंडार की चर्चा कहीं नहीं की है । वहाँ उसने किसी ग्रंथ की पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि भी नहीं उतारी थी । सम्भवतः वहाँ का पुस्तकागार १२३५ ई० के पूर्व विनष्ट हो चुका था । जो बौद्ध भिक्षु वहाँ बच रहे थे, उनके पास कतिपय ग्रंथों की पाण्डुलिपियाँ उनके निजी एवं सामूहिक व्यवहार के लिए थीं ।

उपर्युक्त पर्यटक का कथन है कि उस काल भारत में बौद्ध धर्मावलम्बियों की संख्या अपेक्षाकृत अत्यल्प थी । बौद्ध भिक्षुओं, अर्हतों, एवं हिन्दू संन्यासियों का आदर समाज में पर्याप्त था । उनके गेरुए एवं पीत परिधान के मार्ग में पड़े टुकड़ों को भी जनता पवित्र समक्ष कर उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करती थी । बौद्ध मंदिरों के पुजारीगण सामान्यतः अति लोभी हो गये थे । बोधगया के महाबोधि मन्दिर की पूजा-अर्चा में हीनयानी लंका-निवासी बौद्ध श्रावकों का हाथ अधिक था ।

हिन्दू एवं बौद्ध मन्दिरों में आराध्य मूर्त्तियों की पूजा उस काल लगभग एक रूप में की जाती थी । पंचामृत (दधि, दुग्ध, घृत, मधु तथा चीनी) से विग्रहों को स्नान कराया जाता था । बौद्ध भिक्षुओं को मद्यपान का निषेध था ।

साधारणतया हिन्दू एवं बौद्ध आपस में प्रेमपूर्वक व्यवहार करते थे । उनमें धर्म-सहिष्णुता थी । हिन्दू बुद्ध भगवान् को विष्णु का अवतार मानने लग गये थे : धर्मस्वामिन् ने हिन्दुओं के काली-मंदिर में श्रद्धापूर्वक प्रवेश कर देवी का दर्शन किया था। बौद्ध भिक्षुओं को प्रचुर भिक्षा हिन्दू जनता से प्रेमपूर्वक मिला करती थी । नालन्दा विश्वविद्यालय के अंतिम कुलपति वृद्ध आचार्य राहुल श्रीभद्र का प्रधान सहायक एवं दानदाता उदान्तपुरी का ब्राह्मण शिष्य जयदेव था, जिसको उनकी सहायता करने के कारण एक बार कई दिनों तक वहाँ के मुसलिम आक्रमकों के सैन्य-शिविर में बन्दी के रूप में रहना पड़ा था । तिरहुत का राजा रामसिंह देव नैष्ठिक हिन्दू धर्मावलम्बी था । उसने धर्मस्वामिन् का शिष्य बनने की इच्छा प्रकट की थी तथा उसके लिए उसने उससे प्रार्थना भी की थी । पर उस बौद्ध सन्त ने अस्वीकार किया । इस पर राजा ने उस तिब्बती पर्यटक को परिधान, स्वर्ण, चावल आदि अनेक बहुमूल्य एवं सहयोगी उपहार दिये थे ।

गुरु एवं शिष्य के बीच पिता-पुत्र का नाता मान्य होता था । समाज में छुआछूत अधिक मानी जाती थी । अछूत चाण्डालों की दृष्टि प्रस्तुत भोजन पर पड़ जाने पर उसे

सवर्ण जन ग्रहण नहीं करते थे । एक बार नदी की वेगवती धारा में बह जाने का भय उपस्थित होने पर धर्मस्वामिन् ने किनारे पर खड़े एक व्यक्ति से बचाने के हेतु प्रार्थना की, पर अछूत होने के कारण आगे बढ़कर उसकी सहायता करने की हिम्मत उसने नहीं की। अछूतों का कर्णवेध नहीं होता था । यही उनकी पहचान थी ।

हिन्दू अपने मृतकों के भस्मावशेष को गंगा की धारा में प्रवाहित करना मृतात्मा की शांति के लिए हितकर समझते थे । नेपाल से तिरहुत आते समय धर्मस्वामिन् की यात्रा-मंडली में ऐसे अनेक व्यक्ति थे जो अपने सम्बन्धियों के अस्थ्यवशेष एवं चिता-भस्म को गंगा में प्रवाहित करने के हेतु लिये जा रहे थे ।

मंदिरों में प्रवेश करते समय दर्शनार्थी मंदिर-द्वार को नतमस्तक होकर स्पर्श करते तथा अपनी श्रद्धा-भक्ति व्यक्त करते थे । शिष्य अपने गुरु से विदा लेते समय उन्हें श्रद्धापूर्वक छोटी घंटी भेंट करता था । सभ्य समाज में पान खाना प्रचलित था । कत्था एवं चूने का व्यवहार पान के साथ किया जाता था । कौड़ियों को भस्म कर चूना प्रस्तुत किया जाता था । सुरती (तम्बाकू) का भी व्यवहार होता था दाँतों को साफ करने के लिए। व्यवहार के सिक्के में 'पण' का प्रचलन था । वह ताँबे के टुकड़े से प्रस्तुत होता था । उसका मूल्य ८० कौड़ियों अथवा कपर्दिका वा वराटका के तुल्य माना जाता था । भिन्न-भिन्न धान्यों के साथ ईख की भी उपज उस काल मिथिला में पर्याप्त होती थी और उससे गुड़ एवं चीनी प्रस्तुत की जाती थी (डा० जी० रोएरिच, मास्को, द्वारा धर्मस्वामिन् की जीवनी के अँग्रेजी अनुवाद, पृ० १८-२८ तक के वर्णन के आधार पर)।

मिथिला के पश्चिमी भाग वैशाली तथा उसके आस-पास जैन एवं बौद्ध धर्म के अनुयायी भी पाये जाते थे, पर उनकी संख्या नगण्य थी । पूर्व में जैन और बौद्ध धर्म दोनों की वैदिक कर्मकाण्ड और धर्म-विज्ञान की प्रतिक्रिया में सुधारक सम्प्रदाय के रूप में उत्पन्न हुए थे । दोनों ने वेदों के प्रमाण को अस्वीकार किया था । यज्ञों और विशेषकर पशुयज्ञ का दोनों ने विरोध किया था । अहिंसा और सदाचार पर दोनों का जोर था । पुनर्जन्म, कर्म और मोक्ष के सिद्धान्त को ब्राह्मण धर्मावलम्बियों की भाँति दोनों ही सम्प्रदाय मानते थे । यति और भिक्षु-धर्म ब्राह्मणों के संन्यासियों की भाँति दोनों आचार एवं संगठन का आधार था । दोनों में त्रिरत्न की शरण जाने का उपदेश था । जैन धर्म के त्रिरत्न थे – (१) सम्यक् दर्शन (२) सम्यक् ज्ञान तथा (३) सम्यक् चरित्र । उसी प्रकार बौद्ध धर्म के त्रिरत्न थे – (१) बुद्ध, (२) संघ एवं (३) धर्म । परन्तु उस युग में उपर्युक्त त्रिरत्नों के पालन में पर्याप्त शिथिलता आ चुकी थी । अतः दोनों धर्मों का उनकी जन्मभूमि में ही आशातीत ह्रास हो चुका था । ब्राह्मण धर्म में रूढ़िवादिता का समावेश था । देवी काली एवं शिव के सामने पशुओं की बलि दी जाती थी । धर्मस्वामिन् के उल्लेखानुसार कहीं-कहीं बलि-देवता के समक्ष सैकड़ों जीवित पशुओं को प्रज्वलित अग्नि-शिखा में धर्म के नाम पर स्वाहा कर दिया जाता था । ऐसा दृश्य निश्चय ही मानवता के प्रतिकूल एवं हृदयद्रावक होता रहा होगा ।

अनेक प्रशासनिक एवं सामाजिक सुधार कर्णाट-राजाओं के राजत्व-काल में लागू किये गये। सारे मिथिला राज्य को परगनों में विभक्त किया गया। प्रत्येक परगना में राजत्व एकत्र करने तथा शासन की सुविधा के हेतु एक समाहर्त्ता की नियुक्ति हुई। ऐसे पदाधिकारी को 'चौधरी' की उपाधि प्राप्त हुई। गाँवों में लेखापालों को नियुक्त किया गया। ऐसे व्यक्ति 'पटवारी' नाम से विख्यात हुए। ग्राम-आरक्षी के पदों का सृजन हुआ। धर्माधिकारियों की नियुक्ति धर्म-सम्बन्धी विवादों के निपटारा के हेतु की गयी। कुलीन प्रथा का समावेश कर ब्राह्मणों एवं कायस्थों की सामाजिक व्यवस्था के क्रमानुसार कई विभागों में विभक्त किया गया। इस प्रकार के सुधारों एवं उप वर्ण विभागों का वर्णन 'मिथिला पंजी प्रबन्ध' में किया गया है। विशेषतया सुधारों के साथ विद्या का और कला का राज्य में विकास, मन्दिरों एवं सरोवरों का निर्माण, अनेक पुस्तकों का मनीषियों द्वारा प्रणयन, राज-मन्त्रियों द्वारा तुलादान आदि उस काल में देश के समृद्ध होने के प्रमाण हैं।

संस्कृत विद्या को प्रश्रय शासन के द्वारा विशेष रूप से प्राप्त हुआ, जिसके फलस्वरूप अनेक ग्रन्थों का निर्माण उस काल में हुआ। वह साहित्योत्कर्ष का युग था। कर्णाट-भूपों की राजसभा सदा विद्वद्जनों से परिपूर्ण रहा करती थी। उस काल को यदि मिथिला का परवर्त्ती स्वर्ण-युग कहा जाय तो उसमें अत्युक्ति न होगी। मनीषि-प्रवर मन्त्री चण्डेश्वर तथा उसके कुल के अनेक अन्य विद्वानों ने संस्कृत के अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थ-रत्नों की रचना की। स्मृति-ग्रन्थों पर भाष्य लिखे गये और उनका अध्ययन चालू किया गया। शृंगार पर भी पुस्तकें लिखी गयीं। ज्योतीश्वर अथवा ज्योतिरीश्वर ने मैथिली भाषा में 'वर्णरत्नाकर' नामक ग्रन्थ की रचना की (श्याम नारायण सिंह—'हिस्ट्री ऑफ तिरहुत-पृ० ६९) श्रीनिवास ने भट्टिकाव्य पर टीका प्रस्तुत की। भवदत्त ने 'नैषधीयचरित' पर भाष्य लिखा। हरिसिंह देव के मन्त्री गणेश्वर ने 'सुगतिसोपान' ग्रन्थ का निर्माण किया था (श्यामनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ६७)। महाविद्वान् श्रीकर ने 'अमर कोष' पर भाष्य के रूप में सुन्दर शब्दार्णव की रचना की। श्रीधर पंडित ने 'काव्य प्रकाश विवेक' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। इन सबों के अतिरिक्त उस काल में और भी अनेक प्रतिभावान् विद्वान् हुए थे, जो साहित्य गगन के देदीप्यमान नक्षत्र थे। श्रीदत्तोपाध्याय, इन्द्रपति, उनके मेधावी एवं विद्वान् शिष्य लक्ष्मीपति, भवेश शर्म्मा (श्यामनारायण सिंह के 'हिस्ट्री ऑफ तिरहुत' के पृ० ६७ में इनका नाम भवेशरमन अंकित किया गया है) आदि विद्वानों ने भी उस युग को अपनी प्रतिभा से सुशोभित किया, जिनकी साहित्यिक कीर्ति-कौमुदी ने संस्कृत के क्षेत्र में मिथिला की सभी दिशाओं को द्योतित कर दिया। भानुदत्त मिश्र तथा अन्य विद्वानों ने अनेक लोकप्रिय श्लेषात्मक पद्य निबन्ध एवं शृंगार-रस-प्रधान ग्रन्थों का निर्माण किया (श्यामनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ६९)। पद्मनाभ दत्त ने 'सुपद्म' एवं उसके अन्य पूरक ग्रन्थों का प्रणयन कर व्याकरण-अध्ययन की एक नयी पद्धति को जन्म दिया था, जिसका प्रचार बंगाल के जैसोर तथा खुलना जिलों में पाकिस्तान राज्य के निर्माण के पूर्व तक था। अब वे दोनों जिले पाकिस्तान में चले गये हैं, जहाँ से हिन्दू जनता परिस्थितिवश विस्थापित हो चुकी है, तथा जो बच गयी है वह भी विस्थापित हो रही है।

कर्णाट राजकुल का वंश-वृक्ष
सूर्यवंशी कर्णाट क्षत्रिय राजकुल की वंशावली

सिमराओं राजवंश

नान्यदेव (संस्थापक, १०९७-११४७ ई०)

गंगदेव (११४७-११८७ ई०) (मिथिला)

मल्लदेव (अत्यल्पकाल) (नेपाल की तराई तथा मिथिला का कुछ अंश)

नरसिंह देव (११८७-१२२५ ई०)

रामसिंह देव (१२२५-१२७६ ई०)

शक्तिसिंह देव अथवा शक्रसिंह देव (१२७६-१२९६ ई०, १२९६ और १३०३ ई० के बीच अवयस्क युवराज हरिसिंह देव के नाम पर मन्त्रिपरिषद ने शासन-सूत्र का संचालन किया)

हरिसिंह देव (१३०३ से १३२४ ई० तक मिथिला-सिंहासन से, पीछे २८ वर्षों तक नेपाल का अधीश्वर बन कर)

मतिसिंह देव (नेपाल-सिंहासन से १५ वर्षों तक)

शक्तिसिंह देव (नेपाल से, २२ वर्षों तक)

श्यामसिंह देव (नेपाल से १५ वर्षों तक)

तथा और दो भूप (नाम अज्ञात, शासनकाल श्याम सिंह के पश्चात् १४१३ ई० तक। नेपाल के कुछ अंश पर उन दोनों का शासन सीमित था, और सम्भवतः उन दोनों ने जयस्थिति मल्ल, जिसने मल्ल सिंहासन पर अधिकार कर लिया था, के समसामयिक रह कर उसके राज्य से अलग राज किया था। पीछे जयस्थिति मल्ल ने सम्पूर्ण नेपाल पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया)।

सप्तम अध्याय

ओइनवार वंश (१३५५ से १५२६ ई० तक)

पूर्व में अंकित किया जा चुका है कि गयासुद्दीन तुगलक ने हरिसिंह देव के नेपाल-प्रवेश के पश्चात् मिथिला-राज्य का शासन-भार अपने विश्वासी एवं स्वधर्मी सरदार अहमद खाँ को सौंप कर स्वयं दिल्ली के लिए प्रस्थान किया। किन्तु उसके उस प्रबन्ध से राज्य में सुशासन न होकर उसका निर्दयतापूर्वक शोषण हुआ और साथ ही दिल्ली के केन्द्रीय राज्यकोष को भी उससे पूरा लाभ नहीं पहुँचा। हरिसिंह देव तथा उसके उत्तराधिकारियों का शासन भी प्रच्छन्न रूप से वहाँ चालू था ही। इन कारणों से मुसलमानों के पैर तिरहुत में सुस्थिर होकर जम न सके। अन्त में दिल्लीश्वर सुलतान ने राजनीतिक चाल की शरण ले किसी हिन्दू को ही मिथिला का शासन-भार सौंपने का निश्चय किया, जो परिस्थिति के अनुसार इस कार्य को सफलतापूर्वक सम्पादन करने में सक्षम हो सके, और साथ ही उसका विश्वासभाजन एवं राजभक्त भी भविष्य में बना रहे। गयासुद्दीन के बाद मुहम्मद तुगलक तथा उसके पश्चात् फिरोज तुगलक का ध्यान मिथिला की ओर आकृष्ट हुआ।

इतिहास-लेखक वर्णी के अनुसार बादशाह फिरोज तुगलक ने दिनांक १० शौआल (रमजान के पश्चात् का महीना), हिजरी सम्वत ७५४ के दिन दिल्ली से बंगाल के लिए प्रस्थान किया और १२ शावान, हिजरी सम्वत ७५५ को वह वहाँ लौट आया (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २९१)। अरबी वर्ष का शौआल दशमा महीना होता है और शावान आठवाँ महीना। अतः उस यात्रा में फिरोज तुगलक को बंगाल एवं तिरहुत की ओर लगभग १० महीने २ दिन व्यतीत करने पड़े थे। दिनांक १० शौआल, ७५४ हिजरी ख्रिष्टाब्द १३५५ का ८ नवम्बर होता है (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २९१)। इससे साबित होता है कि सुलतान दिल्ली १३५६ ई० के सितम्बर में लौट सका था। विद्वान् इतिहास-लेखक उपेन्द्र ठाकुर की गणना के अनुसार १२ शावान ७५५ हिजरी, १ दिसम्बर, १३५५ ई० होता है (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २९१)। परन्तु यह तिथि सन्देह से शून्य नहीं जँचती है। हिजरी महीनों के नाम क्रमशः नीचे दिये जाते हैं : (१) मोहर्रम, (२) सफर, (३) रबीउल औअल, (४) रबीउल आखिर, (५) जमादिउल औअल, (६) जमादिउल आखिर, (७) रहब, (८) शावान, (९) रमजान, (१०) शौआल, (११) जीकादा, तथा (१२) जिलहिज्जा। इस प्रकार हिसाब जोड़कर देखने पर पता चलता है कि सुलतान लगभग ८ सितम्बर १३५६ ई० को १० महीने से ऊपर प्रवास के पश्चात् दिल्ली लौटा। कामेश्वर ठाकुर को योग्य एवं विश्वास पात्र समझकर सुलतान फिरोज तुगलक ने मिथिला के शासन का पूर्ण अधिकार सौंप दिया।

मुहम्मद तुगलक के राज्य के २३ प्रदेशों की सूची में तिरहुत का नाम अङ्कित नहीं पाया जाता है। पर उसमें दो तेलिंग प्रदेशों के नाम हैं। सूची के क्रमांक ११ एवं २३ में अङ्कित दोनों तेलिंग प्रदेशों में से एक का तिरहुत होना सम्भव हो सकता है। ऐसा हो

सकता है कि लेख के पाठ में भूल होने के कारण तिरहुत का तेलिंग लिखा गया हो। तिरहुत को गयासुद्दीन तुगलक ने हरिसिंह देव के शासनकाल में जीता था, इसमें सन्देह नहीं है। ऐसी दशा में मुहम्मद तुगलक के राज्य के प्रदेशों में उसका होना निश्चित है (जरनल ऑफ दि राइज ऑफ मुहम्मडन पावर, १, ४०७, थोम्स : क्रौनिकल ऑफ दि पठान किंग्स ऑफ देल्ही, २०३)।

ऊपर लिखा जा चुका है कि दिल्ली के सुलतान फिरोजशाह (फिरोज तुगलक) ने बंगाल पर आक्रमण किया था। वर्णी के लेखानुसार उसने गोरखपुर, खरोस एवं तिरहुत होते हुए लखनावती की यात्रा की थी (इल्लियट : तारीख-ए-फिरोजशाही, ३, १२४)। मनमोहन चक्रवर्त्ती के मतानुसार वर्णी द्वारा अङ्कित खरोस राज्य गोरखपुर एवं तिरहुत के बीच का सम्भवतः चम्पकारण्य (चम्पारण) था (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, न्यू सीरीज, पृ० ४१३; जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी, ४०, ९९; १०१; आइन-ए-तिरहुत, २०, जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, १९३६ पृ० ८१-९१)। गोरखपुर (गोरक्षपुर) एवं खरोस के रईसों ने सुलतान के सम्मुख नत होकर उसके लखनावती के विजय-अभियान में लखनावती तक उसका साथ दिया।

कुछ इतिहासकारों के मतानुसार उस अभियान-काल में जब सुलतान फिरोजशाह गंगा और गंडक नदियों के संगम पर नदी को पार करने के हेतु पहुँचा तो उसके वह मार्ग दुर्गम प्रतीत हुआ, तथा नदी की दूसरी ओर (सम्भवतः हाजीपुर में) शक्तिशाली शत्रु-सैन्य को समर-साजों से सुसज्जित संगर के लिए सन्नद्ध शिविरस्थ होने की सूचना उसे प्राप्त हुई। उक्त हाजीपुर नगर का निर्माण तत्कालीन बंगाल-भूप हाजी इलियस शाह के द्वारा हुआ था। परिस्थिति का सम्यक् अध्ययन कर सुलतान ने लगभग एक सौ कोस आगे की यात्रा की, और चम्पारण के निकट पहुँच कर उसने हाथियों के द्वारा नदी को पार किया, तथा चम्पारण एवं राचप होता हुआ वह पंडुआह की ओर अग्रसर हुआ (इल्लियट : तारीख-ए-फिरोजशाही, ३, २९३-९४)।

पूर्व में अंकित किया जा चुका है कि फिरोजशाह की बंगाल-यात्रा १३५४ तथा ५५ ई० नवम्बर एवं सितम्बर महीने में क्रमशः आरम्भ और समाप्त हुई थी। वह समय वर्षा का अन्त तथा साधारण जाड़े का रहता है, जिस काल में बाढ़ के हट जाने के कारण नदियों में जल अपेक्षाकृत कम हो जाता है, और अनेक छोटी-छोटी सरिताएँ सूख जाती हैं। शरद, हेमन्त एवं शिशिर ऋतुओं में तिरहुत की यात्रा सुखद होती है। वहाँ नदियों एवं अनन्त क्षुद्र सरिताओं का जाल-सा बिछा हुआ है, जिनके कारण वर्षा ऋतु में विशेषतया बाहर वालों के लिए उस अञ्चल की यात्रा सुलभ नहीं हो सकती है। कारण फिरोजशाह की मिथिला की यात्रा शरत् अथवा हेमन्त ऋतु में ही हुई होगी, इसमें सन्देह नहीं है। उस काल में घोड़ों एवं हाथियों के साथ सेना के लिए नदियों को पार करना सहज रहा होगा।

इतिहासकारों का कहना है कि फिरोज तुगलक ने कई बार तिरहुत की यात्रा की और समूचे तिरहुत पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। बंगाल के शासक शमस-उद्-दीन, उपनाम हाजी इलियास ने शक्ति-संचय कर अपना विजय-अभियान आरम्भ कर दिया था। उसने तिरहुत एवं चम्पारण की विजय कर ली। वहाँ से उसने नेपाल पर भी आक्रमण

किया । वाराणसी, गोरखपुर एवं उत्तर प्रदेश के बहराइच तक उसने अपनी सफल विजय-यात्रा की । उसकी इस कार्यवाही से क्षुब्ध होकर फिरोजशाह तुगलक ने गोरखपुर, खरोस एवं जगत होता हुआ कोशी नदी को १३५२ ई० में पार किया और इलियास को मिथिला से मार भगाया । उसने एक दाला पर घेरा डालकर अपनी प्रभुसत्ता स्वीकार कराने के हेतु हाजी इलियास को बाध्य किया (आर० आर० दिवाकर : बिहार थ्रू दि एजेज, पृ० ३९१)।

मुल्ला तकिया के वर्णनानुसार हाजी इलियास ने कामेश्वर ठाकुर से मिथिला का शासन छीनकर उसे बहिष्कृत कर दिया था । फिरोज तुगलक ने पुनः उसे वहाँ का राजा बनाया । मुसलिम नियम-कानून के प्रचार-प्रसार के हेतु उस काल मुसलमान पदाधिकारियों की नियुक्ति की गयी । कुछ विद्वानों का कहना है कि सुलतान ने कामेश्वर ठाकुर को नहीं अपितु उसके कनिष्ठ पुत्र भोगीश्वर वा भोगेश्वर ठाकुर को मिथिला का राज्य दिया (आर० आर० दिवाकर : बिहार थ्रू दि एजेज, पृ० ३९२) । इस विषय की विवेचना पुस्तक में यथास्थान की जायगी ।

फिरोज तुगलक को पुनः १३५८ ई० में हाजी इलियास के पुत्र एवं उत्तराधिकारी सिकन्दर शाह को दबाने के हेतु तिरहुत होकर रण-यात्रा करनी पड़ी थी । जौनपुर प्रत्यागमन के समय वह ससैन्य बिहार होता हुआ उड़ीसा तक गया था (आर० आर० दिवाकर : बिहार थ्रू दि एजेज, पृ० ३९२)।

कुछ इतिहासकारों के मतानुसार कामेश्वर ठाकुर को मिथिला का राज्य १३४० ई० में ही प्राप्त हुआ था । तुगलकपुर उर्फ तिरहुत (दरभंगा) में दिल्ली के सुलतान का फौजदार रखा गया था । हाजी इलियास ने मिथिला पर अपना आधिपत्य स्थापित कर उसे दो भागों में बाँट दिया । दोनों विभागों के मध्य की सीमा बूढ़ी गण्डक की धारा निश्चित की गयी थी । कामेश्वर ठाकुर ने इस प्रकार के विभाजन का विरोध किया, पर उसकी वहाँ कुछ चली नहीं । फिरोजशाह ने हाजी इलियास को परास्त कर मिथिला के उक्त विभाजन को समाप्त कर दिया । उसने कामेश्वर-पुत्र भोगेश्वर को अपने अधीन करद-भूप बनाकर अखण्ड मिथिला राज्य का उसे स्वामी बनाया । हाजी इलियास ने अपने द्वारा विभाजित मिथिला के दोनों भागों में दो नगरों की स्थापना की थी । पश्चिमी भाग में उसने पटना के सामने गंगा की दूसरी ओर गण्डक (नारायणी, शालिग्रामी) के तट पर अपने विरुद के आधार पर हाजीपुर नामक नगर बसाया, तथा पूर्वी भाग में बूढ़ी गण्डक के किनारे अपने नाम के अनुसार शमस-उद्-दीनपुर बसाया, जो पीछे चलकर समस्तीपुर के नाम से विख्यात हुआ (आर० आर० दिवाकर : बिहार थ्रू एजेज, पृ० ५७ के आधार पर) ।

फिरोज तुगलक ने कामेश्वर ठाकुर को मिथिला का अपना अधीन शासक नियुक्त किया था । उसका भाग्य-विधाता दिल्ली का सुलतान था, जिसकी इच्छा पर उसका बनना और बिगड़ना निर्भर करता था । अतः अपने अधिराट को प्रसन्न रखना नव-नियुक्त शासक का परम आवश्यक कर्त्तव्य था । सम्राट् की प्रसन्नता तथा कृपा की प्राप्ति राजभक्ति-प्रदर्शन एवं वार्षिक कर की समय पर चुकती करते रहने पर निर्भर करती थी । अतः इन दो कार्यों के सम्पादन में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित होने पर सनद के द्वारा प्राप्त राज्य के सम्राट द्वारा अपहृत होने का भय सदा शासक के समक्ष उपस्थित रहता था । पर इतना होने पर

भी कामेश्वर ठाकुर को फिरोज तुगलक ने राज्य-शासन के आन्तरिक मामलों में कार्य करने की स्वतन्त्रता प्रदान की थी, जिसका पता आगे के ओइनवार कुल के नृपतियों के कार्य-कलाप से चलता है । कामेश्वर ठाकुर ओइनवार मूल का कश्यप गोत्रीय ब्राह्मण था । अत: बादशाह के द्वारा मिथिला राज्य की प्राप्ति के पश्चात् प्रथम ओइनवार मिथिलेश होने के कारण वह मिथिला में ओइनवार राजकुल का संस्थापक कहा जाने लगा । ओइनवारों की राज्य-स्थापना को मुसलमान सुलतान शाह फिरोज तुगलक की सृष्टि कही जा सकती है, जिसे वह अथवा उसका सबल उत्तराधिकारी जब चाहता तब अपनी इच्छा एवं प्रसन्नता के प्रतिकूल आचरण करने पर केवल कलम की नोंक से समाप्त कर सकता था । दिल्लीश्वर उनका अधीश्वर था, जिसके रुख के अनुकूल उनको आचरण करना पड़ता था । प्रतिकूल जाने पर आपत्ति का सामना करना उनके लिए अवश्यम्भावी था ।

अन्य अधीन सामन्त राजाओं की भाँति मिथिला के ओइनवार भूपों को भी राज्य के बाहरी मामलों में स्वतन्त्रता प्राप्त न थी । उसके लिए उन सबों को दिल्ली के सम्राट् का मुँह सदा जोहना पड़ता था । दिल्ली के बादशाह एवं गौड़ के शासकों के बीच प्राय: तनाव रहा करता था । बंगाल के शासक अपने को दिल्ली से स्वतन्त्र कर लेने के हेतु सुअवसर की खोज में सर्वदा लगे रहते थे । समय-समय पर दिल्ली के अधीन राज्य मिथिला, जिसकी सीमा बंगाल की सीमा के निकट थी, के ओइनवार-नरेशों की आपत्ति में डालने एवं आतंकित करने से वे बाज नहीं आते थे । उनकी घुसपैठ एवं लूट-पाट प्राय: मिथिला में समय-समय पर होती ही रहती थी । इन कारणों से भी अपने बचाव के लिए उन सबों को दिल्ली की दया पर आपत्ति-काल में निर्भर करना पड़ता था (जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, २२, ८६)। सुलतान की आज्ञा की किंचित् अवहेलना करने अथवा उसकी इच्छा के विपरीत कार्य का आभास मात्र ओइनवार-भूपों को राज्यच्युत करने के हेतु पर्याप्त था । ओइनवार कुल के प्रथम राजा कामेश्वर ठाकुर के साथ प्रत्यक्ष रूप में उसके सिंहासन पर बैठने के अचिर पश्चात् ऐसी घटना घटी । उसे राज्यच्युत होना पड़ा, जिसकी चर्चा आगे की जायगी ।

ओइनवारों का कुल-परिचय

ब्राह्मण भूपति कामेश्वर ठाकुर का गोत्र कश्यप था । विद्यापति के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भू-परिक्रमा' के अनुसार उसके पूर्वजों ने नैमिषारण्य से आकर मिथिला में निवास किया था (श्यामनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० २०९, पाद टिप्पणी) । मिथिला में आकर निवास करने के कारण उनकी परिणति एवं परिगणन मैथिल ब्राह्मणों में हुआ[१] । ओइनवार उन सबों का परवर्त्ती मूल है । जगतपुर एवं ओइनी में आकर निवास करने के पूर्व इन सबों का मूल खौआल था । सम्प्रति खौआल मूल के ब्राह्मणों को मैथिल समाज में सामान्य स्थान प्राप्त है । उसकी शाखा ओइनवार कुल के वंशजों को मैथिल ब्राह्मणों का एक प्रसिद्ध वंश बताया जाता है । खौआलों की एक शाखा ने सोदरपुर में जाकर निवास किया । वहाँ निवास करने के कारण वह शाखा सोदरपुरिया मूल की कहलाने लगी

१. वस्तुत: ये मूलत: मैथिल थे । बाहर से उनका आना सिद्ध नहीं है ।

(महामहोपाध्याय पं० परमेश्वर झा : मिथिला-तत्त्व-विमर्श, १४७)। इस प्रकार जैसे-जैसे खौआल मूल के ब्राह्मणों की वंशवृद्धि होती गयी, और उनमें से लोग अन्य ग्रामों में जाकर बसने लगे, वैसे-वैसे ग्राम के नाम पर उनके मूल में परिवर्त्तन होने लगा । आगे चलकर खौआल मूल के ब्राह्मणों का परिगणन हरिसिंह देव के 'पंजीप्रबन्ध' के अनुसार श्रोत्रियों में हुआ (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २९३)।

कामेश्वर ठाकुर के पूर्वज ओएन अथवा नाथ (नाह)ठाकुर जगतपुर से ओइनी ग्राम में आये । सम्भवतः खौआलों की एक शाखा सोदरपुर की भाँति जगतपुर में भी आकर बसी थी । जगतपुर और ओइनी दोनों ही ग्राम दरभंगा जिले के समस्तीपुर अनुमंडल के क्रमशः समस्तीपुर एवं ताजपुर थाने के अन्तर्गत हैं । दोनों ग्रामों की दूरी एक-दूसरे से लगभग ५-६ मील की है । ओइनी में रेलवे-स्टेशन भी है, जिसका नाम पूर्व में वैनी था, किन्तु पूसा में कृषि-सम्बन्धी खोज-शोध की प्रयोगशालाओं के स्थापन से उसकी महत्ता बढ़ गयी, और उसके निकटतम रेलवे-स्टेशन होने के कारण वैनी रेलवे-स्टेशन का नाम पूसारोड में परिवर्त्तित कर दिया गया । वहाँ के पत्रालय का नाम अब भी वैनी बना ही है । यह वही स्थान है जहाँ भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के विप्लव-युग के आरम्भ-काल १९०८ ई० में महात्यागी विप्लववादी वीर युवक खुदीराम बोस ने सुदूर बंगाल से बिहार पधार कर विदेशी अंग्रेजी नौकरशाही के वक्षस्थल पर मुजफ्फपुर में प्रथम बम मारा था, और उसी अभियोग में अंग्रेजी सरकार के वेतनभोगी आरक्षी अधिकारियों द्वारा पकड़ा जाकर उसी वैनी रेलवे-स्टेशन के निकट बन्दी बनाया गया था । देशभक्त वीराग्रगण्य खुदीराम का वैनी में बना पुण्य स्मारक उन्नत मस्तक किये उसके देश-प्रेम की वीरगाथा मूक भाषा में दर्शकों, पर्यटकों एवं गवेषकों को बड़े गौरव के साथ सुना रहा है । वैनी से विदेशी सरकार के दासों तथा अभिकर्त्ताओं ने उस वीर के शरीर को बन्दी बनाकर मुजफ्फरपुर के कारागृह में बन्द किया । वहाँ की अदालत ने कई महीने तक न्याय का स्वांग रचकर तथा नाटक खेल कर उस मातृभूमि के पुजारी को अपने देश को विदेशियों की दासता से मुक्त करने के प्रयास-रूप अपराध में फाँसी के तख्ते पर लटकाने का निर्णय दिया, और उस वीर देश-सेवक ने हँसते-हँसते अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता की बलि-वेदी पर अपने नश्वर शरीर-सुमन को सस्मितवदन एवं प्रफुल्ल मानस से चढ़ा दिया । उसके अनुपम बलिदान ने मूक अभिव्यक्ति द्वारा देश के कोने-कोने से जन-गण के मानस में देश-प्रेम, देश-भक्ति और उसके हेतु त्याग और बलिदान का महामन्त्र फूँक कर समाज को स्वातन्त्र्य-संग्राम के हेतु सोत्साह प्रोत्साहित, उद्यत एवं सन्नद्ध कर दिया ।

बहुत सम्भव है कि ओएन ठाकुर अथवा नाथ ठाकुर को ओइनी ग्राम राज की ओर से पुरस्कार मिला हो, और उसके वहाँ आकर निवास करने के कारण उसके नाम पर ही उस ग्राम का नव नामकरण ओइनी हुआ हो जिसे पीछे चल कर लोग 'वैनी' कहने लग गये हों । कामेश्वर ठाकुर के पूर्वज ओएन ठाकुर के जगतपुर से ओइनी में आकर निवास करने के पश्चात् उस ग्राम के नाम पर खौआलों की उस शाखा का मूल ओइनवार हुआ । उन दिनों यह परिपाटी थी कि जब कोई ग्राम किसी व्यक्ति को शासन की ओर से पुरस्कार में प्राप्त होता था तो उसका नामकरण उस ग्राम के नाम पर हो जाता था (डा० उपेन्द्र ठाकुर: हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २९३)। अतः यह संभव हो सकता है कि नाथ ठाकुर

का नाम ओइनी ग्राम की प्राप्ति के पीछे ओएन ठाकुर हो गया हो । मिथिला के निवासी मैथिल ब्राह्मणों के मूलों में परिवर्त्तन प्रायः डीहों के परिवर्त्तन के अनुसार होता रहता है, जिसका परिचय 'पंजी प्रबन्ध' के अवलोकन से प्राप्त होता है । ओइनी में आने के पूर्व जगतपुर में निवास करते समय ओएन ठाकुर तथा उसके पूर्वजों से सम्बन्धित शाखा को किस मूल का ब्राह्मण कहा जाता था, इसका पता नहीं है । संभव है, जगतपुर में जब तक उस कुल का निवास रहा, तब तक वहाँ की शाखा के लोग जगतपुरिया मूल से प्रख्यात रहे हों । पर निश्चित रूप से यह स्वीकार कर लेना पूर्णतया संभव नहीं है । कामेश्वर ठाकुर का मूल ओइन के ओएन ठाकुर के वंशज होने के कारण ओइनवार हो गया था। अतः मिथिला का राज्य फिरोज तुगलक की कृपा से प्राप्त होने पर ओइनवार राजकुल की स्थापना उनके द्वारा हुई, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है ।

औएन ठाकुर के पश्चात् के उनके वंशजों में से अनेक ने ओइनी छोड़ दिया और अन्य स्थानों में जाकर निवास किया । किन्तु पंजी-प्रबन्धोत्तर काल में स्थानान्तरण होने के कारण उनके मूल में वहाँ परिवर्त्तन नहीं हुआ और वे सब वहाँ भी ओइनवार मूल के नाम से ही ख्यात रहे । मुंगेर जिले के सूर्यगढ़ा थाने के अभयपुर, घोसैठ तथा लुसघानी आदि ग्रामों में ओइनवारों का निवास सहस्रों की संख्या में है । उनका मूल ओइनवार है तथा उनकी गणना भूमिहार ब्राह्मणों में है । वे सभी समृद्ध एवं श्री-सम्पन्न हैं । स्थान त्याग कर अन्यत्र निवास करने पर भी उनके मूल में परिवर्त्तन नहीं हुआ ।

उपर्युक्त ग्रामों के निवासी अपने को राजा शिवसिंह देव का वंशज बताते हैं । उन सबों के बीच जनश्रुति प्रचलित है कि मुसलमानों के आक्रमण के पश्चात् उनके पूर्वजों ने मुंगेर जिले के वहाँ के पर्वत की तराई के अरण्य में आकर निवास किया था । उद्धवाँकित स्थानों के अतिरिक्त भी ओइनी-निवासी ओइनवारों के वंशजों ने अन्यान्य जगहों में जाकर निवास किया, जहाँ उनके कुल के लोग ओइनवार मूल के ब्राह्मण ही कहे जाते हैं । राजा शिवसिंह देव के रण-पराभव के पश्चात् जिन ओइनवारों ने मिथिला का परित्याग किया था, उनमें से कतिपय ने सुदूर मालदा जिले में जाकर निवास किया जहाँ उन्हें मिथिला से आने के कारण मैथिल कहा जाता है ।

'वीरभोग्या वसुन्धरा' की प्रचलित अनुश्रुति के अनुसार राज्य जीत कर शासन करने की पद्धति प्राचीन काल में, विशेषकर क्षत्रिय-युग में थी । परन्तु कामेश्वर ठाकुर को मिथिला-राज्य के लिए युद्ध नहीं करना पड़ा था । वह उन्हें दान में मिला था । इसलिए ओइनवारों की राज्य-स्थापना दिल्ली के पठान सम्राट् सुलतान फिरोज तुगलक की कृपा और सृष्टि कही जाती है । जिस तरह सोदरपुर और ओइनी ग्राम कामेश्वर ठाकुर के पूर्वजों को दान में प्राप्त हुए थे, उसी प्रकार मिथिला राज्य की प्राप्ति भी विद्वत्श्रेष्ठ कामेश्वर ठाकुर को हुई ।

जगतपुर के जयपति ठाकुर के तनय हिंगु के पुत्र नाथ ठाकुर, जिसको ओएन ठाकुर भी कहा जाता है, पंडित एवं तपस्वी साधु था, पर विरक्त त्यागी नहीं । नान्यदेव के वंशज किसी नृपति ने उक्त तपस्वी साधु की विद्वत्ता एवं साधना से प्रभावित और प्रसन्न होकर सरैसा परगना में वैनी अथवा ओइनी ग्राम उसको उपहार में दिया था । उपहार में उस ग्राम

को प्राप्त करने के पश्चात् अपने परिवार के साथ उसने वहाँ जाकर निवास किया था, जिस कारण से आगे चल कर उसके मूल में परिवर्त्तन हुआ । ओएन ठाकुर का पुत्र अतिरूप, अतिरूप का पुत्र गोविन्द और गोविन्द का लक्ष्मण ठाकुर । लक्ष्मण ठाकुर के छः तनय हुए, जिनमें ज्येष्ठ का नाम था कामेश्वर ठाकुर, जो सम्भवतः कर्णाट-नरेश हरिसिंह देव की राजसभा का दरबारी सदस्य तथा उसका प्रियपात्र मित्र था । कहा जाता है कि वह प्रकांड पण्डित भी था । उसके अन्य पुत्रों के नाम थे-(१) हर्षण वा हरिसन, (२) त्रिपुर, (३) तेवारी, (४) सलखन अथवा सलक्षण, तथा (५) गौड़ (महामहोपाध्याय पं० परमेश्वर झा : मिथिला-तत्त्व-विमर्श-१४७)।

कामेश्वर ठाकुर के राजकुल को ओइनवार राजवंश के साथ-साथ सुगाओं अथवा सुगौना राजकुल भी कहा जाता है । इससे यह सिद्ध होता है कि कामेश्वर ठाकुर के पूर्वज ने सर्वप्रथम नैमिषारण्य से प्रस्थान कर मिथिला पधारने पर सुगौना अथवा सुगाओं में निवास किया । वह सुगौना कहाँ था, इसका ठीक-ठीक सप्रमाण निर्णय अब तक नहीं हो पाया है । कोई उसे चम्पारण जिले के बेतिया के निकट का सुगाओं बताता है और कोई दरभंगा जिले के मधुवनी अनुमंडल के मुख्य नगर मधुबनी के निकटवर्त्ती गाँव सुगौना को (श्यामनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ७०)।

ओइनवारों की उपाधि आरम्भ में 'ठाकुर' की थी । परन्तु पीछे चलकर उसमें परिवर्त्तन हुआ । उनमें से अनेकों ने मिश्र, उपाध्याय, ओझा, झा आदि उपाधियों को अपने नाम के अन्त में स्थान दिया । राज्य-प्राप्ति के पश्चात् सिंह देव तथा कुमर अथवा कुमार विरुदों को भी ओइनवार-राजकुल के सदस्यों ने अपनाया । मुजफ्फपुर जिले के पातेपुर थाने के वाजितपुर ग्राम में निवास करनेवाले ओइनवार ब्राह्मणों की नामान्त उपाधि 'कुमर' अथवा 'कुमार' की है ।

कामेश्वर ठाकुर के कुल के १५ और नृपतियों ने मिथिला पर राज किया, जिनमें दो स्त्रियाँ भी थीं । इस कुल में सबसे प्रसिद्ध भूप शिवसिंह देव हुआ, जिसने अपनी मातृ-भूमि मिथिला को विदेशियों एवं विधर्मियों की परतन्त्रता के जूए से मक्त करने के हेतु परम पराक्रमी दिल्लीश एवं उसके प्रतिद्वन्द्वी जौनपुर के सुल्तान से तीन-तीन बार लोहा लेकर अन्त में रणभूमि में ही अपने नश्वर शरीर-सुमन को माता की बलि-वेदी पर अर्पित कर दिया । इस कुल के शासन करनेवाले राजाओं एवं रानियों के नाम निम्नांकित हैः-

(१) कामेश्वर ठाकुर, (२) भोगीश्वर वा भोगेश्वर ठाकुर, (३) गणेश्वर अथवा ज्ञानेश्वर ठाकुर, (४) कीर्त्तिसिंह देव, (५) भवसिंह देव अथवा भवेश, (६) देवसिंह, (७) शिवसिंह देव, (८) लखिमा रानी (९) पद्मसिंह, (१०) रानी विश्वास देवी, (११) हरसिंह देव, (१२) नरसिंह देव, (१३) धीरसिंह, (१४) भैरवसिंह, (१५) रामभद्र सिंह देव, तथा (१६) लक्ष्मीनाथ सिंह देव, उपनाम राजा कंसनारायण । उपर्युक्त भूपतियों में अधिकांश के नामों के साथ उपनाम भी था, जिसका उल्लेख भूपतियों के पृथक्-पृथक वृत्तान्त लिखते समय किया जायगा ।

ओइनवार राजवंश के उपर्युक्त १६ शासन करने वाले राजा एवं रानियों ने लगभग पौने दो सौ वर्षों तक १३५४ से १५२६ ई० तक राज किया ।

कामेश्वर ठाकुर (१३५४ ई०)

पूर्व में इसका उल्लेख किया जा चुका है कि दिल्ली के तुगलक वंशीय पठान-सुलतान फिरोज तुगलक ने मिथिला-राज्य की सुव्यवस्था के विचार से गयासुद्दीन तुगलक द्वारा मिथिला-विजय के लगभग ३० वर्षों के पश्चात् १३५४ ई० में मिथिला के प्राचीन कार्णाट राज्य से सम्बन्धित प्रभावशाली व्यक्ति पंडित कामेश्वर ठाकुर को अपने अधीन करद राजा बनाकर, और उससे नियमित रूप से राजस्व देते रहने की प्रतिज्ञा कराकर स्वयं दिल्ली के लिए प्रस्थान किया। पर इतिहास बताता है कि कामेश्वर ठाकुर सम्भवतः परिस्थितिवश शासन-सूत्र अधिक दिनों तक संचालित करने के लिए अपने को सक्षम साबित न कर सका। उसे शीघ्र राज्यच्युत होकर शासन की बागडोर अपने पुत्र भोगेश्वर को सौंपनी पड़ी। कुछ विद्वानों का मत हैं कि फिरोज तुगलक ने ही उसे पदच्युत कर तिरहुत का राज्य अपने मित्र (कामेश्वर के छोटे कुमार) भोगीश्वर को दिया (मुजफ्फरपुर डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, १९)। भोगेश्वर की दिल्ली के सुलतान से मित्रता कैसे हुई, यह प्रश्न जटिल है। परन्तु कविवर विद्यापति ने अपने एक पद में उसको सुलतान फिरोज शाह का प्रिय सखा अंकित किया है, यथा–'मति कामेसर सन राए, तसु नन्दन भोगीस राय वर भोग पुरन्दर– प्रिय सखि भनि पिअरोज साह सुरतान समानल' (कीर्त्तिलता, पृ० १, इण्डिया गवर्मेन्ट मैनुसक्रिप्ट, द्वितीय पल्लव, पृ० ४)। इतिहास-लेखक वर्णी के लेखानुसार सुलतान फिरोज तुगलक बंगाल से दिनांक १२ शावान, हिजरी सं० ७५५ को दिल्ली लौटा (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २९१)। उसी प्रत्यागमन काल में उसने कामेश्वर को सम्भवतः राजच्युत कर उसके छोटे लड़के भोगीश्वर को, जो उसका प्रिय सखा बन चुका था, मिथिला के सिंहासन पर बैठाया (मुजफ्फरपुर जिला गजेटियर -१९)।

भोगीश्वर कामेश्वर का पुत्र था। इस नाते वह स्वयं राजा न होने पर भी अपने पिता के राज्य-कार्य में सहायक हो सकता था। कामेश्वर को राज्य-प्राप्ति के अत्यल्पकाल पश्चात् ही सिंहासन छोड़ना पड़ा, इसके पीछे कोई रहस्य अवश्य होगा, जिसका पता इतिहासकारों को अब तक न लग सका है। किसी-किसी का यह भी कहना है कि पं० कामेश्वर ठाकुर ने अनासक्तयोग के उपासक होने के कारण फिरोज तुगलक के अयाचित दान को अस्वीकार कर उसे उसने अपने कनिष्ठ पुत्र और दिल्ली-सम्राट् के मित्र भोगीश्वर को देने के हेतु उसे (दिल्ली-सम्राट् सुलतान फिरोज तुगलक को) सम्मत किया। कुछ लोगों का मत है कि सुलतान ने परिस्थितिवश कामेश्वर ठाकुर को मिथिला का राज्य हिजरी ४७१ वा १३४० ई० में दिया तो, पर (उसपर पूर्ण विश्वास न होने के कारण) बंगाल के शासक शमसुद्दीन इलियास को शासन का अधीक्षण करने और नृपति से वार्षिक राज-कर वसूल करने का अधिकार सौंपा (रहमानी, १६ फरवरी, १९५३ ई० पृ० ६; डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २९५, पादटिप्पणी)। उपर्युक्त सभी कारणों में यह अन्तिम कारण ही सर्वाधिक बुद्धिगम्य प्रतीत होता है (जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी-४०, १०१)। युद्ध में पराभव पाने तथा नेपाल पलायन-पश्चात् भी मिथिला पर हरिसिंह देव एवं उसके वंशजों का छापामार शासन चालू ही था। प्रजा का प्रेम उस राजवंश के प्रति बना हुआ था। कामेश्वर ठाकुर उस राजकुल का विश्वासी एवं राजभक्त सभा-पंडित रह चुका था। अतः उसके मानस में अपने विस्थापित भूप-कुल के प्रति

सहानुभूति तथा स्नेह-स्निग्ध दुर्बलता का होना अस्वाभाविक नहीं था । सुलतान के उस पर अविश्वास के कारणों में से यह भी एक कारण हो सकता है ।

कामेश्वर ठाकुर ने राज्य किया, इसका प्रमाण प्राप्त है । कविवर वर्द्धमान ने अपने ग्रन्थ 'गंगा-कृत्य-विवेक' में अंकित किया है– 'कामेशो मिथिलामशासत' । इससे स्पष्टतया प्रमाणित होता है कि कामेश्वर ने मिथिला में शासन किया, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसका वह शासनकाल अति अल्प दिनों तक ही स्थिर रह सका । उसे राज्याधिकार त्यागने के हेतु बाध्य होना पड़ा । अब प्रश्न यह उठता है कि आखिर ऐसा हुआ क्यों ? यदि शासनकार्य के हेतु कामेश्वर ठाकुर को अयोग्य पाकर शमसुद्दीन इलियास ने उसे राजच्युत किया तो फिर राज्य चलाने का भार उसने उसके पुत्र को ही क्यों सौंपा ? पुत्र की सहायता, चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा, युवराज होने के नाते पिता को सदा प्राप्त हो सकती थी । कामेश्वर की इच्छा यदि होती तो अपने पश्चात् सिंहासन पर बैठने का अधिकार अपने कनिष्ठ पुत्र के लिए वह स्वयं सुरक्षित कर जा सकता था । वह उस वंश का प्रथम राजा था । अतः यह नियम भी वहाँ पूर्व से प्रचलित नहीं था कि पिता के पश्चात् बड़ा पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होगा । इसलिए उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त किसी अन्य कारण अथवा कारणों को ढूँढ़ निकालने की चेष्टा करनी भी आवश्यक है, जिसकी थोड़ी चर्चा ऊपर की जा चुकी है ।

विद्यापति ने अपने ग्रन्थ 'कीर्त्तिलता' में कामेश्वर ठाकुर को 'राय' एवं 'राज-पण्डित' की उपाधि से विभूषित किया है । उसे 'राजा' कहीं नहीं बताया है । इसके आधार पर ही कतिपय विद्वानों ने अपना मत व्यक्त किया था कि कामेश्वर ने स्वयं राज्य कभी नहीं किया । किन्तु इस विचार का खंडन वर्द्धमान के उपर्युक्त ग्रन्थ 'गंगा-कृत्य-विवेक' के उल्लेख से हो जाता है । विद्वद्वर एगलिंग द्वारा सम्पादित इण्डिया आफिस कैटलाग, भाग-४, नं० २५६४ में विद्यापति की 'दुर्गाभक्ति तरंगिणी' अथवा 'दुर्गोत्सव पद्धति' के आधार पर कामेश्वर को ओइनवार कुल का प्रथम भूप बताया गया है । 'इण्डियन ऐण्टीक्वेरी' १४, १८२, ग्रियर्सन की 'मैथिली क्रेस्टोमैथी' तथा 'जरनल ऑफ एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल' के असाधारण अंक १८८२ ई० एवं 'इण्डियन ऐण्टीक्वेरी'-४, २९९ से भी एगलिंग के मत का अनुमोदन होता है । उपर्युक्त 'दुर्गोत्सव पद्धति' ओइनवार कुल के १४ वें राजा भैरव सिंह के शासनकाल में विद्यापति के द्वारा प्रणीत हुई थी । उसके अतिरिक्त अन्य परवर्त्ती पुस्तकों में भी ओइनवार कुल के नृपतियों की सूची दी गयी है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि कामेश्वर उस कुल का प्रथम राजा था ।

जिसकाल में फिरोज शाह ने कामेश्वर ठाकुर को मिथिला का राज्य दिया था, उस समय नेपाल के सिंहासन पर कर्णाट-कुल के अन्तिम मिथिला-नरेश हरिसिंह देव का पुत्र मतिसिंह देव आसीन होकर राज कर रहा था । कामेश्वर ठाकुर हरिसिंह देव का राजपण्डित और सभासद् रह चुका था । वह उसका मित्र, हितचिन्तक तथा राजभक्त भी था । मिथिला में हरिसिंह देव के रण-पराभव तथा पैतृक राज्य के परित्याग के पश्चात् भी कामेश्वर के हृदय में अपने आश्रयदाता सहृदय नृपति तथा उसके परिवार के प्रति सौहार्द्र होना स्वाभाविक

था जिसका उल्लेख किया जा चुका है । हरिसिंह देव तथा उसके पुत्र एवं पौत्रों ने मुसलमान शत्रुओं द्वारा विजित अपने राज्य को उसके फौलादी पंजों से मुक्त कर लेने के प्रयास को छोड़ा नहीं था । उनकी सेना की घुसपैठ तथा छापामार-पद्धति का युद्ध अब भी चालू था, जिससे मुसलमान शासकों को चैन न था । प्रजा का प्रेम भी अपने पूर्व के प्रजाहितैषी स्वधर्मी शासक की ओर था, जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है । फिरोज तुगलक ने मिथिला की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति को समझकर ही वहाँ मुसलमान शासक के स्थान में एक सुयोग्य हिन्दू शासक की नियुक्ति करने का निर्णय लिया था, जिसके लिए हरिसिंह देव के भूतपूर्व राजपण्डित एवं विद्वान् सभासद् कामेश्वर ठाकुर से अधिक उपयुक्त कोई दूसरा व्यक्ति उसे दृष्टिगत नहीं हुआ । परन्तु हरिसिंह देव के परिवार के प्रति कामेश्वर ठाकुर की सहानुभूति एवं उससे उद्भूत मानसिक दुर्बलता का भी उसे भान था । बहुत सम्भव है कि इसी कारण उसने अपने उस थोड़े दिन के मिथिला-प्रवास-काल में कामेश्वर-परिवार से कुशलतापूर्वक घनिष्ठता बढ़ाकर उसके सदस्यों की मानसिक स्थिति का अध्ययन कर लिया, और उसके कनिष्ठ कुमार भोगीश्वर को अपने हित-साधन के हेतु सबसे योग्य जान कर स्वार्थ-भाव से प्रियसखा कहकर सम्बोधन किया, तथा उसके पिता से राज्याधिकार वापस लेकर मिथिला सिंहासन पर उसे अभिषिक्त किया । प्रिय पुत्र को राज्य प्राप्त होने के कारण पुत्रवत्सल पिता के लिए उसके विरुद्ध आचरण करने का वहाँ कोई प्रश्न ही नहीं उठता था । इस प्रकार की राजनीतिक चाल चलकर उसने मिथिला में अपने शासन को सुस्थिर करने में सफलता प्राप्त कर ली । कर्णाट-कुल के राजनीतिक पतन के पश्चात् यद्यपि समूचे उत्तर बिहार पर मुसलमानों का औपचारिक प्रभुत्व स्थापित हो गया था, पर नैतिक एवं वास्तविक विजय प्राप्त करना उनके लिए अब भी शेष था । ओइनवार कुल को मिथिला के राज्य-सिंहासन पर प्रतिष्ठित करने से उनका अन्तिम ध्येय पूरा हो गया । फिरोज तुगलक की राजनीति ने उसे वह सफलता प्रदान की ज़िसको प्राप्त करने में उसके पूर्वज गयासुद्दीन तुगलक तथा मुहम्मद तुगलक सर्वथा अक्षम रहे थे ।

भोगीश्वर ठाकुर (१३५४-१३६० ई०)

कामेश्वर ठाकुर के दो पुत्र थे । उनके नाम थे भोगीश्वर अथवा भोगेश्वर और भवेश अथवा भवेश्वर । 'मैथिल पंजी प्रबन्ध' के अनुसार उसके (कामेश्वर के) तीन पुत्र थे-(१) भोगीश्वर, (२) कुसुमेश्वर, तथा (३) भवेश्वर (यथा-'राजपण्डित कामेश्वर सुता राजा भोगीश्वर-महामत्तक कुसुमेश्वर-महाराजाधिराज भवेश्वराः .... महीपाल दौहित्रः') । कुछ विद्वानों का मत है कि कामेश्वर ठाकुर के चार पुत्र थे-(१) भोगीश्वर, (२) कुसुमेश्वर, (३) भवेश्वर, तथा (४) लक्ष्मीकर । भोगीश्वर से तीनों भाइयों ने अपना उचित हिस्सा बाँट लिया; और उससे वे पृथक् हो गये (महामहोपाध्याय पं० मुकुन्द झा : मिथिला भाषामय इतिहास, ५१३) । भोगीश्वर को पूर्व में कामेश्वर का कनिष्ठ पुत्र बताया गया है । उससे भी सिद्ध होता है कि मिथिला पंजी में अंकित कामेश्वर ठाकुर के तीन पुत्रों के नामों के अतिरिक्त कोई चौथा पुत्र होना भी आवश्यक है, जो सबसे बड़ा था, क्योंकि वहाँ 'पंजी' में भोगीश्वर का नाम सर्वप्रथम अंकित किया गया है । इस विषय में कई प्रकार की जनश्रुति प्रचलित है, पर इसमें सन्देह नहीं कि भवेश्वर भोगीश्वर का भ्राता

था । डॉ० उपेन्द्र ठाकुर ने भी भोगीश्वर को अपनी 'हिस्ट्री ऑफ मिथिला' के पृ० २९५ में कामेश्वर का छोटा पुत्र लिखा है । सम्भव है, कि उसका कोई बड़ा भाई रहा हो, जिसकी मृत्यु हो गयी हो ।

कामेश्वर ठाकुर के सिंहासन छोड़ने के पश्चात् भोगीश्वर ठाकुर गद्दी पर बैठा । भोगीश्वर की नामान्त पदवी उसके पिता कामेश्वर की भाँति ही 'राय' की थी । विद्यापति की पदावलि से इसका पता चलता है । भोगीश्वर की रानी का नाम पद्मावती था । इस सम्बन्ध में विद्यापति ने लिखा है कि–'राउ भोगीसर गुन नागर रे पद्मादेवी रमान' । पूर्व में अंकित किया जा चुका है कि सुलतान फिरोज तुगलक ने विद्यापति की रचना के अनुसार उसे 'प्रिय सखा' कहकर सम्मानित किया था । मिथिला की अनुश्रुतियाँ बतातीं हैं कि उसकी मृत्यु १३६० ई० में हुई (जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी ४०,१०२)। इसको सही मान लेने से उसका शासनकाल केवल छः वर्षों का होता है । पं० जयकान्त मिश्र की पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर' (१, २, ४६५) के अनुसार उसने १३५३ से १३७० ई० तक शासन किया । कुछ लोगों का कहना है कि भोगीश्वर ने ३३ वर्षों तक राज किया (महामहोपाध्याय पं० उमेश मिश्र : विद्यापति ठाकुर, १७) । उसके मृत्यु-अब्द एवं शासन-अवधि के विषय में विचारभिन्नता है । पर १३६० तक उसके शासन करने का उल्लेख अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है । उसके समय के किसी उल्लेखनीय कार्य का पता इतिहास नहीं देता है, इससे पता चलता है कि उसका शासनकाल दीर्घकालीन नहीं था। विद्यापति आदि किसी लेखक ने उसके शासन की अवधि के विषय में अपनी रचनाओं के द्वारा किसी प्रकार का प्रकाश नहीं डाला है ।

ज्ञानेश्वर अथवा गणेश्वर ठाकुर (१३६०-१३७१ ई०)

भोगीश्वर की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र ज्ञानेश्वर अथवा गणेश्वर मिथिला के सिंहासन पर बैठा । पर उसके राज्याभिषेक-काल में उत्तराधिकार का प्रश्न लेकर किंचित झंझट उत्पन्न हुई । उसके पिता का भ्राता भवसिंह अथवा भवेश जीवित था । कुछ लोग गणेश्वर के और कुछ भवसिंह के पक्ष में हो गये । दोनों दलों ने अपने-अपने पक्ष के उम्मीदवार के अधिकार का समर्थन करना आरम्भ कर दिया । पर शीघ्र झगड़े का निपटारा हो गया । निर्णय गणेश्वर के पक्ष में हुआ । वह मिथिला के सिंहासन पर बैठा । यह सम्भव प्रतीत होता है कि गणेश्वर ने राज्य का एक भाग अपने पितृव्य भवसिंह को देकर उसे संतुष्ट किया । इस प्रबन्धन के कारण मिथिला का छोटा राज्य दो भागों में बँट गया और दो नरेश अपने-अपने भाग पर पृथक्-पृथक् शासन करने लगे ।

पर कतिपय स्थानीय विद्वानों के मतानुसार गणेश्वर के पूर्वोक्त राज्य-विभाजन के द्वारा भी वातावरण में पूर्णतया शान्ति नहीं आयी । तनाव का अन्त न हुआ । भवसिंह सन्तुष्ट एवं शान्त हो गया । उसने अपने भ्रातृ-पुत्र के निर्णय को स्वीकार कर लिया । किन्तु उसके दो राजकुमार हरिसिंह एवं त्रिपुर सिंह को संतुष्टि न हुई । ज्ञानेश्वर के विरुद्ध उन दोनों (राजकुमारों) ने षड्यन्त्र करना आरम्भ किया । अर्जुनराय एवं रत्नाकर के सहयोग से अन्ततोगत्वा ज्ञानेश्वर अथवा गणेश्वर की हत्या करने में षड्यन्त्रकारियों को सफलता मिली (महामहोपाध्याय पं० परमेश्वर झा : मिथिला-तत्त्व-विमर्श, १४९) । यह

अर्जुन राय तथा रत्नाकर भी सम्भवतः राजपरिवार के ही सदस्य थे । अनुमानतः अर्जुन राय त्रिपुर सिंह का तनय था, जिसे राज बनौली के द्रोणवार राजा गिरिनारायण पुरादित्य ने मार कर अर्जुन-विजेता की उपाधि प्राप्त की थी । ओइनवार राज-परिवार के एक सदस्य अर्जुन राय का वध कर उसके राज्य पर अधिकार करनेवाला राजा पुरादित्य ओइनवार कुल के सातवें भूपति शिवसिंह देव एवं कविश्रेष्ठ विद्यापति का मित्र एवं सहायक था । संभव है, अर्जुन का वध गणेश्वर की हत्या के प्रतिशोध में पारिवारिक द्वेष के कारण ही हुआ हो। विद्यापति ने अपने ग्रन्थ 'लिखनावली' में पुरादित्य को अर्जुन का हन्ता अंकित किया है, पर उसके वध के कारण पर प्रकाश नहीं डाला है । इस सम्बन्ध में 'लिखनावली' में जो श्लोक अंकित किया गया है, वह नीचे उद्धृत किया जाता है :–

'संग्रामेऽर्ज्जुनभूपतिर्व्विनिहतो बंधौ नृशंसायितः
तेनेयं लिखानावली नृपपुरादित्येन निर्म्मापिता ।।' (लिखनावली, पृ०२-३)।

यहाँ 'बन्धौ नृशंसयितः' वाक्य अर्जुन के अपने निकट सम्बन्धियों के प्रति क्रूर, असद् एवं अमानुषिक व्यवहार का परिचायक है । इस श्लोक से यह भी स्पष्ट होता है कि पुरादित्य ने अर्जुन का वध किया था । राज्य के लोभ ने आततायी अर्जुन तथा उसके परिवार के लोगों को नृशंस बना दिया था । कुछ लोग 'बन्धौ नृशंसायितः' को 'बुद्धौ नृशंसधितः' मान कर अर्जुन को बौद्धों का सहायक राजा समझते हैं, पर बात वैसी नहीं है । कवि विद्यापति ने ज्ञानेश्वर के हत्यारे का नाम असलान बताया है, जो मुसलमान था। विद्यापति के लेखानुसार राजा गणेश्वर की हत्या उस असलान ने राज्य के लोभ से लक्ष्मणाब्द २५२ अर्थात् १३७१-७२ ई० में विश्वासघात द्वारा की थी, यथा–'रज्जलुब्ध असलाने बुद्धि विक्रम बले हारल, पास बइसि विसवासि राय गएनेसर मारल' (विद्यापति- 'कीर्त्तिलता', सक्सेना सम्पादित, पृ० ७५; जरनल ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, १३,२७९; इण्डिया गर्वमेन्ट मैनुस्क्रिप्ट, द्वितीय पल्लव, पृ० २)। यह भी हो सकता है कि असलान के माध्यम से गणेश्वर की हत्या अर्जुन आदि द्वारा आरम्भ किये गये षड्यन्त्र का ही परिणाम रहा हो । इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि पवित्र ओइनवार ब्राह्मण राज-परिवार के सदस्यों द्वारा राजलोभ से किये गये निकृष्टतम जघन्य कृत्य पारिवारिक हत्या पर आवरण डालने के विचार से कवि-कोकिल के उर्वर मस्तिष्क में किसी काल्पनिक विधर्मी हत्यारे असलान की कथा के सृजन करने की कल्पना उत्पन्न हुई और उसका प्रतिफल उसके लोकप्रिय सम्बद्ध पदों का निर्माण तथा उसके गान द्वारा जनता में भ्रामक, कल्पित एवं तथ्यहीन कथानक का प्रचार हो गया हो ।

गणेश्वर की हत्या के प्रत्येक पहलू पर आर० के० चौधरी ने विचार कर अपना मत प्रकट किया है (जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी, ४०, १०२-०९) । उनके विचार में भी असलान की कथा कवि-कल्पना मात्र है । उस युग के लेखों से पता चलता है कि १३७० ई० के पश्चात् कुछ काल तक मिथिला में अराजकता फैली हुई थी (कीर्त्तिलता; पल्लव, २) । राजनीतिक अस्थिरता, गृह-कलह एवं आन्तरिक विद्वेष ने पड़ोस के शस्त्र-धारी आततायी मुसलमानों का ध्यान मिथिला की तत्कालीन दुर्व्यवस्था की ओर आकृष्ट किया और उनकी लोलुप आँखें उस पर जम गयीं । वे गतिशील हुए और उनकी घुसपैठ

आरम्भ हो गयी । गणेश्वर के राजकुमार वीर सिंह, कीर्त्ति सिंह एवं राज सिंह जब वयस्क हुए तो उन्होंने मिथिला के अपने पैतृक राज्य को शत्रुओं के पंजे से मुक्त कराने तथा वहाँ की डँवाडोल राजनीति को सुस्थिर करने की चेष्टा की और उसके लिए वे सयत्न हुए ।

भारत के मध्य-युगीन इतिहास में राज्य के उत्तराधिकार के हेतु भ्रातृघातक युद्धों के अनेक उदाहरण प्राप्य हैं । मिथिला में वैसी घटना का घटित होना कोई आश्चर्य की बात न थी । इस कारण गणेश्वर की हत्या का सम्बन्ध त्रिपुर सिंह, अर्जुन आदि राज-परिवार के सदस्यों के साथ होना असम्भव नहीं कहा जा सकता है । असलान भी कोई साधारण स्थानीय सरदार रहा होगा, जिसका पता इतिहास नहीं देता है । मिथिला की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति से लाभ उठाने की उसकी महत्त्वाकांक्षा को भी अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है । पर विद्यापति ने गणेश्वर के वध की कलंक-कालिमा को राजमहल के त्रिपुर-परिवार के मस्तक पर से धोकर दूर करने की कोशिश कुशलतापूर्वक की है, इसमें सन्देह नहीं है । गणेश्वर का हत्यारा जो कोई भी हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि उसकी हत्या उसके मिथिला राज्य का बलात् अधिकार कर लेने के विचार से की गयी ।

पितृघातक शत्रु के कुचक्र से पीड़ित गणेश्वर के युवराज वीर सिंह को आपदा से त्राण के हेतु बाहरी सहायता की आवश्यकता जान पड़ी । बंगाल के शासक से त्राण की आशा न रहने पर उसने दिल्ली की ओर अपनी दृष्टि फेरी । पर दिल्लीश उस काल स्वयं झंझट में पड़ा हुआ था । अतः उस ओर से भी निराश होने पर मिथिलेश-कुमार ने जौनपुर के उदीयमान शर्की सुलतान इब्राहिम शाह की शरण लेकर आपत्ति से त्राण करने की प्रार्थना उससे की ।

विद्यापति के लेखानुसार ज्ञानेश्वर अथवा गणेश्वर के राजकुमारों ने इब्राहिम शाह की सहायता से असलान को समर में मार डाला (यथा– 'महरान्हि मल्लिकें चप्पि लिऊ, असलान मानहु पिट्ठि दिऊ'– कीर्त्तिलता, पल्लव-४)। उस भयंकर समर में ज्येष्ठ राजकुमार वीर सिंह भी संगरशायी हुए । इब्राहिम शाह ने वीर सिंह के छोटे भाई कीर्त्ति सिंह को मिथिला के सिंहासन पर आसीन किया । इब्राहिम शाह के तिरहुत की रण-यात्रा का विवरण मुसलमान लेखकों ने जौनपुर के इतिहास में अंकित किया है । उससे भी उपर्युक्त तथ्य का पृष्ठपोषण होता है । विद्यापति ने भी लिखा है कि राजकुमारों की प्रार्थना सुनकर सुलतान (इब्राहिम शाह) ने अविलम्ब सैनिकों को प्रस्थान करने की आज्ञा दी । परन्तु उसकी वाहिनी पूर्व की ओर न जाकर पश्चिम दिशा में अग्रसर हुई । मार्ग में पड़नेवाले प्रदेशों को बिना प्रतिरोध के उसने पार किया । गणेश्वर के राजकुमारों ने समझा कि सुलतान उनकी प्रार्थना को भूल गया । पर बात ऐसी न थी । वह ससैन्य तिरहुत आया, और शत्रु को पराभूत करने में उन सबों की सहायता की । इब्राहिम शाह की वीर वाहिनी के पश्चिम की ओर अप्रतिरुद्ध गति से बढ़ने का जो वर्णन ऊपर किया गया है उसका सम्बन्ध सम्भवतः १४३५ ई० वाली कालपी की रण-यात्रा से है, जहाँ उसे किसी प्रकार के प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा था (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २९८ के आधार पर) । उसके कालपी-आक्रमण तथा वहाँ से १४३५ ई० में बिना किसी युद्ध के लौटने की चर्चा फरिश्ता ने भी की है (ब्रिग्स-फेरिश्ता, ४,३६६; जरनल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, १३,२९७-९८; जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी,

४०,१११-१२) । पर यह बहुत पीछे की घटना है । उससे तिरहुत की रण-यात्रा का सम्बन्ध हो नहीं सकता है ।

इब्राहिम शाह का शासनकाल १४०१ से १४४० ई० तक माना जाता है । हर प्रसाद शास्त्री ने (कीर्त्तिलता, शास्त्री संपादित संस्करण, २,२ में) लक्ष्मण सम्वत् २५२ में इब्राहिम शाह की उपर्युक्त तिरहुत-यात्रा की ओर संकेत किया है । गणना करने पर लक्ष्मणाब्द २५२ (२५२+१११९=१३७१ ई०) का ख्रिष्टाब्द १३७१ ई० होता है । परन्तु उस काल इब्राहिम शाह जौनपुर का सुलतान नहीं था । इसलिए के० पी० जायसवाल २५२ ल० सं० के स्थान में ३०४ लक्ष्मणाब्द स्वीकार करना उचित मानते हैं । लक्ष्मणाब्द ३०४ बराबर है १४२३ ई० के । जायसवाल जी के मतानुसार इब्राहिम शाह का तिरहुत-अभियान १४२३ ई० के पश्चात् तथा १४३५ ई० की समाप्ति के पूर्व हुआ होगा (जरनल ऑफ दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, १३,२९९-३००; मित्र-मजूमदार : विद्यापति, हिन्दी, पृ० ३४)। पर यह भी ठीक नहीं जँचता है ।

पं० जयकान्त मिश्र हरप्रसाद शास्त्री के लक्ष्मणाब्द २५२ को ही मान्यता प्रदान करते हैं । उनका कहना है कि इब्राहिम शाह ने जौनपुर के सिंहासन पर बैठने के पश्चात् १४०१ ई० में कीर्त्ति सिंह को मिथिला की गद्दी पर बैठाया । ज्ञानेश्वर अथवा गणेश्वर की मृत्यु १३७१ ई० में हुई । उस काल उसके सभी राजकुमार अवयस्क थे । किन्तु १३७१ और १४०१ ई० के बीच अन्तर ३० वर्षों का होता है । विद्यापति ने अपने को कीर्त्ति सिंह का क्रीड़ा-मित्र (खेलनकवि) बताया है[1] । उसने २९९ लक्ष्मणाब्द में लिखनावली का लेखन तथा ३०४ लक्ष्मण सम्वत् में भागवत की प्रतिलिपि उतारना समाप्त किया था । (जयकान्त मिश्र : हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर, १, १३८, १८)। अतः उस काल उसका अवयस्क होना सम्भव नहीं हो सकता है । उस समय ३०४ लक्ष्मणाब्द में कीर्त्ति सिंह और विद्यापति, दोनों की ही अवस्था लगभग ५० वर्षों से अधिक की रही होगी । इस तथ्य के आधार पर जयकान्त मिश्र जी ने हरप्रसाद शास्त्री के मत का समर्थन किया है । जौनपुर में शर्की राजकुल की स्थापना १३९६ ई० में हुई थी । जौनपुर का पहला स्वतन्त्र शर्की सुलतान मालिक सरवर ख्वाजा जहान था । उसके बाद इब्राहिम शाह गद्दी पर बैठा था । अतः यह निश्चित तथ्य है कि १४०१-२ ई० के पूर्व उसने वीर बन्धुओं को समर में सहायता न दी होगी । १३७१ और १४०१ ई० के बीच वीर सिंह, कीर्त्ति सिंह आदि की विस्थापित प्रवासी मिथिला राज्य सरकार अंतरिम सरकार के रूप में राज्य के किसी भाग में अनौपचारिक ढंग से शासन करती थी । युद्ध में विजय के पश्चात् १४०१ अथवा १४०२ में वीर सिंह का भाई कीर्त्ति सिंह मिथिला की गद्दी पर बैठा ।

विद्यापति ने कीर्त्तिलता का प्रणयन १४०२ और १४०५ ई० के बीच किया था । इससे भी अनुमान किया जाता है कि उस काल विद्यापति और कीर्त्ति सिंह, दोनों ही अवयस्क नहीं थे । विद्यापति ने अंकित किया है कि गणेश्वर वा ज्ञानेश्वर के दो राजकुमारों ने वीरता के साथ युद्ध किया, और इब्राहिम शाह की सहायता से शत्रु का पूर्णतया पराभव किया । मुसलमान लेखकों के लेखों से भी इसका समर्थन होता है । लक्ष्मणाब्द २५२ को ल० स० २८२ मान लेने पर १४०१ ई० आता है, जिस साल इब्राहिम शाह जौनपुर के

१. कीर्त्तिलता में 'खेलन कवेः' के अपपाठ 'खेलन' के आधार पर ऐसा लिखा गया था—सम्पादक ।

सिंहासन पर बैठा था । लक्ष्मण सम्वत् २८२ और ३०४, दोनों ही वर्षों में कीर्त्ति सिंह का अवयस्क होना सम्भव नहीं है । खेलन कवि से कीर्त्ति सिंह और विद्यापति के बीच अभिन्न-हृदयता एवं मित्रता का भाव भी निकाला जा सकता है ।

हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित 'कीर्त्तिलता' के पृ० १० में 'जोनापुर' नाम आया है । इस जोनापुर को वहाँ जौनपुर मान लिया गया है । जौनपुर का वर्णन पुस्तक में निम्नांकित रूप में किया गया है–'पेक्खिअउ पट्टन चारु मेखल जननीर पखारिआ'। डॉ० सुभद्र झा इस 'जओना' को यमुना नदी मानते हैं, (दि सौंग्स ऑफ विद्यापति, पृ० ४१), अथवा उसको 'योगिनीपुर' समझ कर उससे प्राचीन दिल्ली का अर्थ निकालते हैं। इब्राहिम शाह फिरोज शाह का प्रधान सैनिक पदाधिकारी था । यदि सुलतान फिरोज शाह तुगलक के सेनापति इब्राहिम शाह को कीर्त्ति सिंह का सहायक मान लिया जाय तो के० पी० जायसवाल की शंका तिरोहित हो जाती है । पर यह ध्यान देने का विषय है कि विद्यापति ने जैसा वर्णन जोनापुर का किया है वह मुसलमान लेखकों के जौनपुर के वर्णन से बहुत अंशों में साम्य रखता है । इब्राहिम शाह यदि फिरोज शाह का सैनिक पदाधिकारी होता तो मुसलमान लेखक उस तथ्य को अंकित करने में भूल कदापि नहीं करते । इसके अतिरिक्त तुगलक-साम्राज्य उस काल पतनोन्मुख था । जौनपुर के साथ उसका संघर्ष चल रहा था । उसके अधिकांश सामन्त राजभक्त नहीं रह गये थे । ऐसी दशा में उसके लिए सुदूर स्थित तिरहुत में सैनिक सहायता भेजना सम्भव नहीं था । वह अपनी रक्षा की चिन्ता में मग्न था । उस युग की राजनीतिक परिस्थिति डॉ० झा का समर्थन नहीं करती है । प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव में यह मानना पड़ेगा कि कीर्त्ति सिंह की सहायता उस आपत्ति-काल में जौनपुर ने की थी, दिल्ली ने नहीं ।

ज्ञानेश्वर वा गणेश्वर अपने पूर्वजों की भाँति स्वयं विद्वान् था । साहित्य से उसका प्रेम था । उसकी राजसभा विद्वानों का आश्रय-स्थान थी । वह विद्या और कला का पोषक था । इस दिशा में उसने अपने पूर्वजों के पद-चिन्ह का अनुसरण किया था ।

कीर्त्तिसिंह (१४०२-१४१० ई०)

राजा ज्ञानेश्वर अथवा गणेश्वर के तीन पुत्र थे– (१) वीर सिंह, (२) कीर्त्ति सिंह, तथा (३) राजसिंह । शत्रु के साथ संग्राम में वीर सिंह का निधन हुआ[1] । अतः इब्राहिम शाह ने उसके अनुज कीर्त्ति सिंह को मिथिला के सिंहासन पर आसीन किया । कीर्त्ति सिंह गणेश्वर का द्वितीय पुत्र था । पर विद्यापति ने अपनी कीर्त्तिलता में वीर सिंह को 'महा-राजाधिराजा' के विरुद से विभूषित किया है (इण्डियन गवर्नमेंट मैनुसक्रिप्ट्स, द्वितीय पल्लव, पृ० ४) । प्राचीन ग्रन्थ 'लिंगवार्तिक' की पांडुलिपि में भी वीर सिंह के शासन की चर्चा की गयी है (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३०२) । सम्भव है कि वीर सिंह ने अपने पिता की हत्या के पश्चात् तथा शत्रुओं से युद्ध के पूर्व पितृहन्ता के आधिपत्य से बचे हुए राज्य के किसी अंश पर शासन किया हो, और इसी कारण विद्यापति ने अपने ग्रन्थ में उसको महाराजाधिराजा कहा हो । यह भी हो सकता है कि पिता की हत्या के पश्चात् राज्य के भी अपहृत होने पर उसके उद्धार के प्रयत्न में वीर सिंह ने विस्थापित अवस्था में मिथिला के किसी सुरक्षित अंश में अपनी अंतरिम सरकार की

१. कीर्त्तिलता में ऐसी बात नहीं है । वहाँ तो बलराम-कृष्ण के समान उन दोनों में छोटे का शासन करना लिखा है ।– सम्पादक ।

स्थापना की हो । आधुनिक युग में भी शत्रु से प्रताड़ित एवं निष्काशित होने पर अबीसीनिया (इथोपिया) के शहनशाह हेली-सिलासी तथा फ्रांस के जेनरल डीगाले का अपने-अपने देशों की अपहृत स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त करने के विचार से राज्य से बाहर रहकर अपनी-अपनी प्रवासी सरकार का संगठन करना पड़ा था । वीर सिंह का पिता राजा था ही । अतः अन्तरिम सरकार के प्रधान को राजा अथवा महाराजा की उपाधि से उसकी प्रशस्ति एवं प्रशंसा में यदि कवि ने आभूषित किया तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है । गणेश्वर की हत्या के बाद १३७१ से १४०१ ई० तक वीरसिंह की विस्थापित सरकार का अस्तित्व तो कहीं अवश्य रहा होगा, अन्यथा इब्राहिम शाह की सहायता उसको कैसे प्राप्त होती ? वीर सिंह अपने भ्राताओं के साथ आखिर था तो मिथिला में ही, जहाँ से आततायियों द्वारा अपहृत अपने पैतृक राज्य के उद्धार के हेतु प्रयत्न करने में वह संलग्न था । हो सकता है, उस आपत्ति काल में उसका राज्य-शासन केवल कई ग्रामों तक ही सीमित रहा हो । उस काल उसका वह विरुद केवल औपचारिक रहा होगा । वास्तव में मिथिला के राज्य-सिंहासन पर वह कभी अभिषिक्त हुआ, यह सन्देहास्पद है । महाराजाधिराजा की उपाधि यदा-कदा मिथिला के राजमन्त्रियों ने भी धारण की थी, इसका प्रमाण प्राप्त है । चण्डेश्वर तथा रामदत्त मन्त्री थे, पर अपने द्वारा प्रणीत ग्रन्थों के अध्यायों की समाप्ति-स्थान पर दोनों ने अपना परिचय नाम के पूर्व महाराजाधिराज विशेषण जोड़ कर दिया है (जनरल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९१५, न्यू सीरीज, पृ० ४१६, जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी, ४०, १११, तथा १०८-११)।

कीर्त्तिसिंह का आरम्भिक जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत नहीं हुआ । वह आपत्तियों से परिपूर्ण था । पर उसने सभी अंतरायों का धैर्यपूर्वक वीरता के साथ सामना किया । विद्यापति ने अति ओजस्विनी भाषा में अंकित किया है कि कीर्त्तिसिंह ने महापराक्रमी बलि, रामचन्द्र, परशुराम आदि वीरों के जैसे संग्राम में शत्रुओं का मान-मर्दन एवं विनाश किया, और इस प्रकार उनके ऋण का परिशोध किया (कीर्त्तिलता, प्रथम पल्लव, प्रस्तावना-श्लोक-५) । राज्य-प्राप्ति में कीर्त्तिसिंह को साहाय्य जौनपुर के सुलतान की ओर से प्राप्त हुआ था । अतः वह उसका ऋणी था । इस कारण उसके सिंहासन पर बैठने के काल से १४६० ई० तक मिथिला-राज्य जौनपुर-साम्राज्य के करद सामन्त राज्यों में से एक बना रहा (जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, वॉल्यूम-२, १३५; मित्र-मजूमदार : विद्यापति, ३४)।

कीर्त्तिसिंह का विरुद 'राय गुरु' का था । उसने वीरता का प्रदर्शन कर अपने शत्रु-अपहृत पैतृक राज्य का उद्धार किया था । उसके अन्य राजनीतिक कार्यों का पता इतिहास नहीं देता है । उसके शासनकाल में साहित्य के सृजन में आशातीत वृद्धि हुई । उसकी राजसभा के कविवर विद्यापति के अतिरिक्त अन्यान्य विद्वान् लेखकों में महान् मैथिल कवि दामोदर मिश्र का नाम प्रसिद्ध है । विद्यापति ने 'कीर्त्तिलता' का प्रणयन उसके शासनकाल में ही किया था । वह ग्रन्थ मिथिलापति कीर्त्तिसिंह की विमल कीर्त्ति एवं सुयश का अद्यावधि जीता-जागता स्मारक है । मनीषि-प्रवर दामोदर मिश्र ने 'वाणी भूषण' नामक ग्रन्थ का निर्माण किया था । सम्भवतः कीर्त्तिसिंह ने १४०२ से १४१० ई० तक शासन किया (जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी, ४०, ११२) ।

भवसिंह देव (१४१०– अल्पकाल)

ज्ञानेश्वर अथवा गणेश्वर के तीनों पुत्र वीरसिंह, कीर्त्तिसिंह तथा राजसिंह को कोई सन्तान न थी । अतः राज्य का अधिकारी कामेश्वर ठाकुर का कनिष्ठ पुत्र भवसिंह अथवा भवेश हुआ[1] (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, न्यू सीरीज, पृ० ४१७)। राज्याभिषेक के काल में उसकी वृद्धावस्था थी ।

कामेश्वर ठाकुर के उत्तराधिकारी भोगीश्वर की मृत्यु के पश्चात् जब उसके पुत्र ज्ञानेश्वर वा गणेश्वर का राज्याभिषेक होने लगा तो मृत राजा के छोटे भाई भवेश्वर अथवा भवेश ने अपने को राज्य का उत्तराधिकारी बताकर झंझट उपस्थित की । अन्त में गणेश्वर ने अपने चाचा को राज्य का एक भाग देकर सन्तुष्ट किया । इससे मिथिला का छोटा राज्य दो भागों में बँट गया, जिसके एक भाग पर गणेश्वर का शासन रहा तथा दूसरे पर भवेश्वर का । अब गणेश्वर के पुत्र कीर्त्तिसिंह तथा उसके भाइयों के निःसन्तान मरने के कारण कीर्त्तिसिंह के राज्य का उत्तराधिकारी भी भवेश्वर ही हुआ । इस कारण भवेश अथवा भवसिंह वा भवेश्वर के सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् मिथिला के दोनों भाग मिलकर एक हो गये, और समूची मिथिला अखण्ड रूप में एक शासक द्वारा शासित होने लगी ।

विद्यापति ने अपने ग्रन्थों में भवसिंह का प्रायः भवसिंह नाम से ही वर्णन किया है, जो उसका पूरा नाम था । पर उसने 'विभागसार' में राजा का छोटा नाम 'भवेश' अंकित किया है । मिसरू मिश्र ने 'विवाद-चन्द्र' में तथा वर्द्धमान उपाध्याय ने 'गंगा-कृत्य-विवेक' में उसका वही छोटा उपनाम 'भवेश' लिखा है (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, न्यू सीरीज, पृ० ४१७)। कन्दहा-अभिलेख में उसका पूरा नाम दिया गया है, यथा– 'पृथ्वीपति द्विजवरो भव (सिंह) .... ' (जरनल ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, २०, १७) । उस अभिलेख में उसको विमल यश का आगार तथा ब्राह्मणश्रेष्ठ अंकित किया गया है । विद्यापति ने 'शैव-सर्वस्व-सार' में उसे महाशक्तिशाली नृपाल लिखा है, जिसके चरणों पर क्षुद्र नृपतिगण सदा दण्डवत् प्रणत होकर अभिवादन करते थे। भवसिंह को महापराक्रमी वीर एवं विजेता भी कहा गया है । परन्तु ये सभी वर्णन प्रशस्तिवाचक होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं ।

भवसिंह के राज्य में सर्वत्र शान्ति और सुख था । प्रजा समृद्ध एवं सन्तुष्ट थी। उसने अनेक यज्ञ किये तथा ब्राह्मणों को प्रचुर दान दिया । उसकी तीन रानियाँ थीं । उनमें से दो उसकी मृत्यु के उपरान्त भगवान् शंकर के सामने बागमती नदी के किनारे अपने पति के शव के साथ चिता पर बैठकर सती हो गयीं (विद्यापति : पुरुष परीक्षा, समाप्ति-श्लोक, नं० १, यथा–'वाग्वत्यां भव सिंह देव नृपतिस्त्यक्त्वा शिवाग्रेवपुः .....')।

राजा भवसिंह के समय में अनेक साहित्य-सेवी, मेधावी एवं कलाविद् विद्वान् हुए । उसके शासनकाल में अथवा उसके लगभग महान् मैथिल दार्शनिक गंगेश उपाध्याय का आविर्भाव हुआ था । वे न्यायशास्त्र के ज्ञाता होने के साथ ही मीमांसक भी थे । उन्होंने 'न्यायतत्त्व-चिन्तामणि' की रचना की थी जो आज भी न्याय विषयक सर्वोत्तम ग्रन्थ माना जाता है । वर्द्धमान उपाध्याय पूर्वोक्त गंगेश उपाध्याय के पुत्र एवं मेधावी शिष्य थे । दर्शन

१ राजा भवसिंह के आदेश से चण्डेश्वर ठाकुर ने (१२८०-१३५० ई०) ने 'राजनीतिरत्नाकर' की रचना की थी । अब १४१० ई० में उनका राजा बनना कैसे सम्भव है, यह विचारणीय है–सं०।

शास्त्र के ज्ञाताओं में उनका नाम भी अमर है । 'शुद्धिनिबन्ध' के रचयिता विज्ञ मुरारि कवि भी भवसिंह के सभासदों में से थे । उनके ही कथनानुसार उनके प्रपितामह उसके राज्य के प्रधान न्यायाधीश थे (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, न्यू सीरीज, १९१५, पृ० ४१७) । हास्यरस के अवतार महाविनोदी एवं परमं पंडित गोनू झा भी भवसिंह के काल में ही हुए थे । गोनू झा की विनोदप्रियता की कथाएँ मिथिला के घर-घर में प्रसिद्ध एवं प्रचलित हैं । उनके विषय में मैथिल 'पंजीग्रन्थ' में निम्नांकित रूप में उल्लेख है, यथा–''सोनकरियाम कर्महासं बीजी वंशधरः तत्सुताः महामहोपाध्याय हरिब्रह्म, हरिकेश, महो० धूर्तराज गोनूकाः ।''

भवसिंह की मृत्यु अति वृद्धावस्था में हुई । कीर्त्तिसिंह के पश्चात् वह सम्पूर्ण मिथिला का अधीश्वर हुआ था । उस रूप में उसने अति अल्पकाल तक शासन किया । डॉ० उपेन्द्र ठाकुर (हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३०४) ने लिखा है कि सम्भवतः उसने लगभग ३० वर्षों तक राज किया, जिसमें वह अवधि भी सन्निहित है जब वह मिथिला के केवल एक भाग पर ही शासन करता था । पर यह मान्यता भी सन्देह से शून्य नहीं जान पड़ती है; क्योंकि गणेश्वर का सिंहासनारूढ़ होना १३६० ई० में तथा उसकी मृत्यु १३७१ ई० में हुई पूर्व में मानी गयी है । ज्ञानेश्वर ने ही राज्य का एक भाग अपने पितृव्य भव सिंह को देकर झंझट को समाप्त किया था । यह कार्य उसके राज्य पाने के एक वा दो वर्षों के अन्दर ही हुआ होगा । कीर्त्ति सिंह की मृत्यु १४१० ई० में हुई थी । अतः उसी साल उसको सम्पूर्ण मिथिला का राज्य प्राप्त हुआ था । इसलिए १३७१ से १४१० ई० तक लगभग ३९ वर्षों की अवधि में से यदि २ वर्ष निकाल दिये जायँ तो भव सिंह का शासन काल लगभग ३७ वर्षों का माना जा सकता है । उसके पश्चात् भी कुछ दिनों तक उसने राज किया ही होगा । पर इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है ।

देव सिंह (१४१०-१४१३)

भव सिंह देव की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ राजकुमार देव सिंह मिथिला के सिंहासन पर बैठा । उस काल तक ओइनवार राजकुल के नृपतियों की राजधानी ओइनी ग्राम में ही थी । देव सिंह का विरुद 'गरुड़ नारायण' का था । उसने अपने पूर्वजों के वासस्थान ओइनी से राजधानी का स्थानान्तरण किया, तथा नयी राजधानी दरभंगा (लहेरिया-सराय) के शासकीय न्यायालय से लगभग २-३ मील उत्तर के गाँव में लाकर उस स्थान का नाम अपने नाम पर देकुली रखा (श्यामनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ७२; इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, १८९९, पृ० ५७) । ओइनी से राजधानी हटाने का कारण सम्भवतः गृहकलह था । डॉ० उपेन्द्र ठाकुर ने अपनी 'हिस्ट्री ऑफ मिथिला' (पृ० ३०५) में लिखा है कि अचिर राजधानी परिवर्तन का कारण राजपरिवार की वरीय एवं कनीय शाखाओं की सन्तानों के बीच निरन्तर का मनमोटाव एवं गृहकलह का परिणाम हो सकता है । पर विचार करने पर यह कारण सही प्रतीत नहीं होता है । गणेश्वर के पुत्रों के निःसन्तान शरीर त्यागने के कारण कामेश्वर ठाकुर के बड़े पुत्र भोगीश्वर की शाखा समाप्त हो चुकी थी । देव सिंह छोटे भाई भव सिंह की शाखा में थे । यदि पारिवारिक कलह किसी प्रकार का रहा होगा तो कामेश्वर ठाकुर के भाइयों की सन्तानों के साथ अथवा भवसिंह के षड्यन्त्रकारी पुत्र

हरि सिंह तथा त्रिपुर सिंह की सन्तानों के साथ, बड़े भाई की शाखा के साथ नहीं । देव सिंह का विवाह महामहोपाध्याय रामेश्वर की रूप-गुण-सम्पन्ना कल्याणी कन्या के साथ हुआ था (विद्यापति पदावली, बंगाली संस्करण, गीतांक २६९) । उसके राज्याभिषेक का काल विवादग्रस्त है । इस विषय में कई विद्वानों के कई मत हैं । मनमोहन चक्रवर्ती के मतानुसार वह शकाब्द १२६३ अर्थात् १३४२ ई० में गद्दी पर बैठा था (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३०६) । परन्तु देव सिंह के पूर्ववर्ती राजाओं के शासनकाल के विषय में जो पूर्व में उल्लेख किया गया है, उससे उस कथन का पूर्ण विरोध होता है । दो प्राचीन पुस्तकों की प्रतिलिपियों की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें एक श्रीदत्त की 'एक-अग्नि-दान पद्धति' की नेपाली पांडुलिपि है जो लक्ष्मण सम्वत् २९९ के पौष, सुदी, ९, सोमवार (३ जनवरी, १४१७ ई०) को, तथा दूसरी 'काव्य प्रकाश' पर श्रीधर के भाष्य की प्रतिलिपि, जो विद्यापति की आज्ञा से लक्ष्मण सम्वत् २९१ के कार्तिक, कृष्ण, १० को (१४१० ई० को) राजा शिव सिंह देव के शासनकाल में उतारी गयी थीं (जरनल ऑफ एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, न्यू सीरिज, १९१५, पृ० ४१८; नेपाल मैनुस्क्रिप्ट नोटिसेज, १२९; काव्य-प्रकाश-विवेक, इण्डिया गवर्मेन्ट मैनुस्क्रिप्ट, ११७, ए,– "इति-सम्भुज्यमान तीरभुक्तौ श्रीगजरथ पुरनगरे– लक्ष्मण सम्वत् २९१, कार्तिक, वदि १० (१)।") इसकी एक प्रति रायल एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल के पुस्तकालय में भी सुरक्षित है । गजरथपुर में राजधानी देकुली से राजा शिव सिंह लाये थे, देव सिंह नहीं । ल० स० २९१ में देव सिंह जीवित थे, और वे स्वयम् राज करते थे । उस काल शिव सिंह राजा नहीं था । वह देव सिंह का महत्त्वाकांक्षी वीर युवराज था । किन्तु अपने पिता के जीवन-काल में भी वह राज्य-कार्य में हाथ बँटाता था, जिसका साक्ष्य इतिहास देता है । अतः वे प्रतिलिपियाँ शिव सिंह के शासनकाल के लगभग उतारी गयी थीं, शासनकाल में नहीं । देव सिंह का पिता शिव सिंह था । इस कारण उसका सिंहासनारोहण शिव सिंह के काल के पूर्व होना स्वाभाविक है । पर यह बात भी सही है कि शिव सिंह ने अपने पिता के जीवनकाल से ही राज्य-कार्य में भाग लेना आरम्भ कर दिया था । देव सिंह के शासनकाल में ही एक बार युवराज शिव सिंह को अपने सम्राट् के विरुद्ध आचरण करने के कारण रणबन्दी बनना पड़ा था, जिसकी चर्चा आगे चलकर की जायगी । बहुत सम्भव है कि गजरथ पुर में देकुली के अतिरिक्त दूसरी राजधानी के निर्माण की योजना शिव सिंह ने अपने पिता के जीवनकाल में ही बना कर कार्य आरम्भ कर दिया हो, और वह पूरा भी हो गया हो । नगर का निर्माण हो जाने पर राजधानी का स्थानान्तरण वहाँ पीछे किया गया हो, यह भी संभव हो सकता है । नगर का नाम गजरथपुर रखा गया था । इससे यह झलकता है कि उसका निर्माण मूलतः राज्य के हाथियों एवं रथों को वहाँ रखने के हेतु हुआ होगा, पर उसकी उपयोगिता की गरिमा के ज्ञातृत्व के पश्चात् उसको राजनगर में परिवर्तित किया गया होगा । उस स्थान की चौड़ी सड़कों के अवशेषों को देखते हुए कुछ लोगों की धारणा है कि हाथी अथवा हाथियों के द्वारा खींचे जानेवाले विशाल रथ उस नव-निर्मित नगर में रखे जाते थे, जिस कारण से उसका नामकरण गजरथ पुर हुआ था ।

देव सिंह के मृत्यु-अब्द से सम्बन्धित विद्यापति का एक निम्नलिखित पद पाया जाता है, यथा– "अनल रन्ध्रकर (२९३) लक्खन नरवइ सक समुद्द कर अगिनि ससी ।

चैत कारि छठि जेठा मिलिओ वार बेहप्पै जाउ लसी ।। देव सिंह जस पुहवी छड्डिय अद्धासन सुरराय सरू । दुहु सुरतान नींदे अवे सोअउ तपनहीन जग तिमिरे भरू ।।" (विद्यापति पदावली, २) ।

उपर्युक्त पद के अनुसार देव सिंह की मृत्यु चैत्र, कृष्ण, षष्ठी, गुरुवार, लक्ष्मणाब्द २९३ तथा शकाब्द १३२४ में हुई थी । वह चैत्र, कृष्ण, षष्ठी, गुरुवार २३ मार्च १४१३ ई० को पड़ता है, जो गणना के अनुसार शकाब्द १३३४ होता है, १३२४ नहीं । हिसाब लगाने पर लक्ष्मणाब्द २९३ भी उसकाल समाप्त रहता है, तथा २९४ का आरम्भ हो जाता है । उसी प्रकार 'काव्य-प्रकाश' पर श्रीधर के भाष्य की प्रतिलिपि की हस्तलिखित प्रति, जिसकी लेखनतिथि शिव सिंह के शासनकाल में २९१ लक्ष्मणाब्द बतायी जाती है, वह भी भूल ही जँचती है; क्योंकि १४१० ई० (ल० स० २९१) में देव सिंह जीवित थे । अतः शिव सिंह को उस काल युवराज के अतिरिक्त राजा किसी दशा में कहा नहीं जा सकता था । हाँ, एक बात और हो सकती है । गजरथपुर का निर्माण शिव सिंह ने करवाया था। युवराज के रूप में वहाँ निवास करने का अधिकार उसको राजाज्ञा से प्राप्त हुआ हो और वह वहीं निवास करता रहा हो, ऐसा भी असम्भव नहीं हो सकता है । इस प्रकार युवराज के गजरथपुर के अधीश्वर होने के कारण उसकी प्रशंसा में लेखक ने यदि उसको राजा लिख दिया हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं हो सकती है । प्रशस्तिकार प्रायः ऐसा किया ही करते हैं ।

विद्यापति देव सिंह के पिता, देव सिंह तथा उसके पुत्र शिव सिंह के भी समकालीन थे । अतः उस काल के नृपतियों के सिंहासनारोहण, शासनकाल, एवं मृत्यु-अब्द आदि के लेखन में भूल करना उक्त कवि के लिए सम्भव नहीं । कवि-कोकिल की कविताएँ शताब्दियों की पुरानी है । उनमें पाठ-भेद होना तथा काल के प्रभाव से उनका विकृत रूप हो जाना सर्वथा सम्भव है । लक्ष्मण सम्वत् की गणना स्थिर करने में भी स्थानीय विद्वानों की भूल हो सकती है । अतः मुसलमान इतिहासकारों के लेखों से मिला कर तथा विवेक की कसौटी पर कस कर ही तथ्य को ढूँढ़ निकालना और अन्तिम निर्णय पर पहुँचना परमावश्यक है ।

यदि १४१३ ई० देव सिंह की मृत्यु का वर्ष स्वीकार कर लिया जाता है तो प्रश्न उठता है कि १४१० और १४१३ ई० के बीच ३ वर्षों की अल्प अवधि में दो राजाओं का शासनकाल कैसे समाप्त हो गया ? पर इसका उत्तर सरल है । भव सिंह अति वृद्ध था ही। देव सिंह की अवस्था राज्य-प्राप्ति के काल में पर्याप्त थी । इसके अतिरिक्त मृत्यु और समय किसी की प्रतीक्षा में रुकते नहीं हैं ।

देव सिंह को विद्यापति ने महान् योद्धा लिखा है ('पुरुष परीक्षा', यथा-"भाति यस्य जनको रणजेता देवसिंह नृपतिः")। 'शैव-सर्वस्व-सार' में भी कवि ने राजा को पराक्रमी वीर बताया है (मित्र, नोटिसेज, ६, पृ० ३, प्रस्तावना-छन्द-४) । पर किसी शत्रु के समर में उसके द्वारा मान-मर्दन की कथा कवि ने कहीं अंकित नहीं की है । हाँ, उसके शासनकाल में उसके युवराज शिव सिंह ने मुसलमानों के साथ सम्भवतः दो बार युद्ध किया था । कहा जाता है कि राजा देव सिंह ने अपने शरीर के बराबर तौल कर सोना तुला-दान

में दिया, तथा ब्राह्मणों को स्वर्ण-खचित गज तथा रथादि भी दान में दिये (''दत्तं येन द्विजेभ्यो ...... कनकमय तुला-पुरुषो येन दत्तः – दोवोऽसौ देव सिंहः'') । वह बहुत उदार, कला-प्रिय, निर्माता एवं विद्वानों का आदर करनेवाला तथा आश्रयदाता था । उसने अपने राज्य में अनेक सुविशाल पोखरे खुदवाये । उनमें सबसे बड़ा दरभंगा जिले में पूर्वोत्तर रेलवे की सकुरी स्टेशन के निकट है । सकुरी के सरोवर से संलग्न कुछ दूरी पर देव सिंह द्वारा निर्मित तीन और पोखरों का पता स्थानीय जनश्रुति बताती है । उन तीनों पोखरों के नाम हैं मकसूदा जरहटिया, बाढ़ समेला, तथा बढ़मोतरा । जरहटिया पोखरे में कई प्राचीन मूर्तियाँ भी मिली हैं । कहा जाता है कि बड़े पोखरे के पनिझाओ का क्षेत्रफल १८० बीघे का है ।

विद्यापति ने उसको वीरों में वीराग्रगण्य तथा मनीषियों में मनीषिप्रवर कह कर समादृत किया है (यथा–''वीरेषु मान्याः सुधियां वरेण्याः–'' इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, १४, ३)। देव सिंह की राजसभा अनेक विद्वानों से सुशोभित थी । उनमें उल्लेखनीय विद्यापति, श्रीदत्त, हरिहर तथा धर्माधिकारी महामहोपाध्याय अभिनव वर्द्धमान उपाध्याय के नाम हैं। देव सिंह की आज्ञा से विद्यापति ने 'भू-परिक्रमा' नामक ग्रंथ का निर्माण किया था । उसमें बलदेव के नैमिषारण्य से जनकपुर (मिथिला) तक की यात्रा का वर्णन है । मार्ग में उनको छोटी-छोटी उपदेशप्रद कहानियाँ भी कही गयी थीं । उनका भी समावेश उक्त ग्रन्थ में है (श्याम नारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ७१; संस्कृत कलेक्शन मैनुस्क्रिप्ट्स, ७ ए०, प्रस्तावना-छन्द, २-३) । श्रीदत्त ने भी नृपति की सम्मति तथा विद्यापति की आज्ञा से एक 'अग्नि दान-पद्धति' नामक स्मार्त ग्रन्थ का संकलन किया था । मुरारि कवि के पितामह हरिहर देव सिंह के न्यायालय के प्रधान-न्यायाधीश थे । वर्द्धमान उपाध्याय ने 'स्मृति तत्त्वामृत' नामक अमूल्य ग्रन्थ का सृजन भी उसकी राजसभा में रह कर ही किया था । उस ग्रंथ से ही पता चलता है कि वे देव सिंह की राजसभा के सदस्य थे । देकुली में 'वर्द्धमानेश्वर' महादेव का प्राचीन मन्दिर है । जनश्रुति बतालाती है कि उस मन्दिर का निर्माण धर्माधिकारी महामहोपाध्याय अभिनव वर्द्धमान उपाध्याय ने करवाया था, तथा शिवलिंग की स्थापना उन्होंने की थी । वहाँ अब भी एक प्रस्तर-स्तम्भ है जिस पर निम्नांकित छन्द उत्कीर्ण है, यथा–''जातो वंशे विल्वपंचाभिधाने धर्माध्यक्षो वर्धमानो भवेशात्–''। देव सिंह की मृत्यु १४१३ ई० में हुई । उसके दो पुत्र थे–(१) शिव सिंह, तथा (२) पद्म सिंह। उन दोनों पुत्रों की उत्पत्ति हासिनी देवी के गर्भ से हुई थी । देव सिंह की मृत्यु के पश्चात उसके बड़े बेटे शिव सिंह को मिथिला का सिंहासन प्राप्त हुआ ।

शिव सिंह (१४१३-१४१६)

शिव सिंह ओइनवार कुल में सबसे प्रसिद्ध राजा हुआ । बचपन से ही उसमें तेजस्वी के लक्षण दृष्टिगत होते थे । आरम्भ से वह स्वतन्त्र चित्त का तथा माता स्वतन्त्रता का आराधक था । युवराज शिव सिंह ने १५ वर्षों की छोटी अवस्था से ही अपने पिता के शासनकार्य में हाथ बँटाना आरम्भ कर दिया था (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३०९) । उसने मिथिला के सिंहासन पर बैठकर १४१३ ई० से १४१६ ई० तक केवल ३ वर्ष ९ महीने मात्र शासन किया । शिव सिंह का विरुद 'रूपनारायण' था। कवि विद्यापति की 'पुरुष परीक्षा' एवं 'पदावली' के अवलोकन से इसका पता चलता है । शिव सिंह की 'पदावली' की पद-संख्या २१ में लिखा है– 'रूपनारायण ... जानथि

मिथिला भूपे'' । 'पुरुष परीक्षा' के द्वितीय एवं चतुर्थ अध्यायों के समाप्ति-स्थान में इस विरुद का उल्लेख किया गया है ।

राजा शिवसिंह ने अपनी राजधानी का स्थानान्तरण देकुली से गजरथपुर में किया। कहा जाता है कि उस नगर का नामकरण गजरथपुर इसलिए हुआ कि हाथियों से खींचे जाने वाले विशाल राजकीय रथों को रखने का प्रबन्ध उस ग्राम में किया गया था । वयस्क स्थानीय जनता बताती है कि उक्त गजरथ पुर की प्राचीन सड़कें बहुत चौड़ी थीं । उन रथों को गतिशील बनाने के विचार से ही पुरा काल में वहाँ अत्यन्त चौड़ी सड़कें बनायी गयी थीं । उस नगर का द्वितीय नामकरण नृपति के ही नाम के अनुकूल 'शिवसिंह पुर' पड़ा, जिसको लोग 'शिवइ सिंह पुर' भी कहते हैं । वह स्थान दरभंगा से ४-५ मील दक्षिण-पूर्व दिशा में स्थित है । उक्त राजधानी का भग्नावशेष खण्डहर के रूप में पर्याप्त भूमि में बहुत दूर तक फैला हुआ है, जिसे कृषकों ने कृषि-कार्य के हेतु खेतों में परिणत कर लिया है।

विद्यापति शिवसिंह के अति प्रियपात्र राज-पंडित थे । विद्वान् कवि ने 'पुरुष-परीक्षा' का सृजन राजाज्ञा से ही किया था । उनकी 'कीर्त्तिलता' भी शिवसिंह के कीर्त्ति-कलाप एवं सुयश-गान से ओत-प्रोत तथा परिपूर्ण है । उक्त कवि को 'पदावली' के शताधिक पदों में शिवसिंह का नाम उसकी प्रियरानी लखिमा देवी के साथ आया है । मिथिला के घर-घर में आज भी प्रायः शिवसिंह का नाम विद्यापति के पदों के गान के साथ गूँजता हुआ पाया जाता है ।

शिवसिंह का पिता देवसिंह अपनी प्रौढ़ावस्था में मिथिला के सिंहासन पर आसीन हुआ था । अतः उसके जीवन-काल में ही तेजस्वी युवराज शिवसिंह का शासन-सूत्र के संचालन में हाथ बँटाना आरम्भ हो गया । वह प्रतिभा-सम्पन्न, महान विद्वान्, कलाविद्, कवियों एवं पंडितों का पोषक, स्वातन्त्र्योपासक तथा वीर योद्धा था । उसके (शिवसिंह के) पूर्वज राजा कीर्त्तिसिंह देव तथा उसके (कीर्त्तिसिंह के) अग्रज वीरसिंह ने जौनपुर के शर्की सुलतान की सामयिक सामरिक सहायता के द्वारा अपने शत्रु असलान को रण में परास्त कर तथा उसे मार कर अपहृत मिथिला का रिपु-करों से उद्धार किया था । अतः विजेता कीर्त्तिसिंह तथा उसके पश्चाद्वर्त्ती मिथिला-सिंहासन के उत्तराधिकारीगण जौनपुर के यवन-राज के अनुगृहीत एवं आभारी थे। दिल्ली के अधीन मिथिला पूर्व से थी ही । उस काल दिल्ली और जौनपुर के बीच वैमनस्य था, तथा दोनों के ही बीच शक्ति-संतुलन वर्षों से चल रहा था, जिसमें जौनपुर का पलड़ा भारी पड़ता था । कीर्त्तिसिंह के ज्येष्ठ भ्राता वीरसिंह को दिल्ली से शत्रु के विरुद्ध सहायता समय पर न प्राप्त हो सकी थी । अतः वीर-बन्धुओं ने जौनपुर की ओर दृष्टि की, और वहाँ से उन्हें सहायता मिली, जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है । अतः अब मिथिला-राज्य स्वभावतः जौनपुर का करद सामन्त राज्य था, यद्यपि दिल्ली का आधिपत्य निःशेष नहीं हो गया था । दोनों में खींचातानी और धक्कम-धुक्का चल रहा था । जौनपुर ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दिल्ली के विरुद्ध विद्रोह किया था, और उसके परिणामस्वरूप दोनों में युद्ध चालू था ।

अपने पिता राजा देवसिंह के शासनकाल में युवराज शिवसिंह देव ने अपने अधिराट (जौनपुर के सुल्तान) को वार्षिक राज-कर भेजना बन्द कर दिया था । शिवसिंह

के इस कार्य से असन्तुष्ट होकर सुल्तान ने उसके विरुद्ध सैनिक अभियान किया । घोर युद्ध के पश्चात् आक्रमणकारी सेना राजकुमार शिवसिंह को बन्दी बना कर राजधानी ले गयी । उसका अपराध था– माता स्वतन्त्रता की आराधना और अर्चना । उसकी मातृभूमि को पद-दलित करने वाले शत्रुओं ने उस वीर को दोषी घोषित कर उसे रणबन्दी बनाया । उसके पार्थिव शरीर पर शत्रुओं का अधिकार हुआ, पर उसकी आत्मा तब भी उन्मुक्त थी । पिंजरे में पड़ा सिंह-शिशु की भाँति वह पुरुष-सिंह जौनपुर लाया गया । कुछ विद्वानों के मतानुसार उसे दिल्ली ले जाया गया (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३११, पादटिप्पणी) । पर उस समय की राजनीतिक परिस्थिति बताती है कि राजकुमार शिवसिंह को जौनपुर के सुलतान की सेना ने ही रण-पराभव कर बंधन में डाला था । दिल्ली से जौनपुर उस काल स्वतन्त्र था । बंगाल, बिहार आदि प्रदेशों पर दिल्ली का आधिपत्य रह नहीं गया था । उसे जौनपुर के शर्की सुलतान ने हड़प लिया था । इस कारण दिल्ली और जौनपुर में युद्ध चल रहा था । युवराज शिवसिंह ने उसी अवधि में राज-कर देना बन्द कर दिया था । सम्राट् का शासन पूर्णतया व्यवस्थित नहीं था । ऐसी अवस्था में द्वैध शासन की संभावना रहती है । कहा भी है– "दुसह दुराज प्रजान में, क्यों न बढ़ावै द्वंद्व । अधिक अंधेरो जग करे, मिलि मावस रवि चन्द" । बात जो भी हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि शिवसिंह को बंधन में पड़ना पड़ा । वह बन्धन दिल्ली का था अथवा जौनपुर का, इसमें कुछ मनीषियों का मतैक्य नहीं है ।

पुत्र के समर-पराभव के पश्चात् देवसिंह ने सुलतान की अधीनता स्वीकार कर अपना राज्य तो प्राप्त किया, पर पुत्र-वियोग ने वृद्ध के हृदय को और भी जर्जर बना दिया । अतः वह बहुत दुखी हुआ ।

शिवसिंह के कारावास से राजपरिवार के साथ-साथ उसके बाल-सखा विद्यापति को भी असह्य दुःख हुआ । कवि से मित्र-वियोग सहा नहीं गया । वह उसके त्राण के हेतु सुलतान के पास राजधानी पहुँचा । उसने सुलतान को अपना परिचय देकर अपने मित्र की मुक्ति के हेतु प्रार्थना की । उसे आज्ञा मिली कि यदि वह शायर (कवि) है तो करामात (चमत्कार) दिखावे । कवि ने कहा कि वह अदृष्ट का दृष्टवत् वर्णन कर सकता है । कवि को आज्ञा हुई किसी को संकेत कर वर्णन करने के लिए । वह थी सद्यःस्नाता एक रूपसी रमणी, कवि की आखों से ओझल । कवि ने गाया–

"कामिनि करए सनाने ।
हेरितइ हृदय हनय पंचबाने ॥
चिकुर गरय जल धारा ।
जनि मुख-ससि डर रोअए अंधारा ॥
कुच युग चारु चकेवा ।
निअ कुल मिलिअ आनि कोन देवा ॥
ते संका भुज पासे ।
बाँधि धएल उड़ि जाए न अकासे ॥

तितल वसन तन लागू ।
मुनिहुँक मानस मनमथ जागू ।।
भनइ विद्यापति गावे ।
गुनमति धनि पुनमत जन पावे ।।"

उत्प्रेक्षालंकार-युत इतनी सुन्दर कविता से भी सुलतान की सन्तुष्टि न हुई । उसने काठ के सन्दूक में कवि को बन्द कर कुँए में लटकबा दिया । ऊपर एक सुन्दरी युवती आग फूँकती हुई खड़ी की गयी । तब कवि से कहा गया कि ऊपर जो है, उसका वर्णन करो । यदि वर्णन ठीक न निकलेगा तो तुम कुएँ में डुबाकर मार दिये जाओगे । सन्दूक के भीतर से ही उसने निम्नलिखित पदों को गाया :–

"सजनी निहुरि फुकु आगि ।
तोहर कमल भमर मोर देखल
मदन उठल जागि ।
जौ तोहें भामिनी भवन जएबह
ऐबह कोनह वेला ।
जों ए संकट सौं जिव बाँचत
होयत लोचन मेला ।"

सुलतान यह सुनकर अति प्रसन्न हुआ । युवराज शिवसिंह को उसने कारागृह से मुक्त कर दिया । तब कवि ने पुनः गान किया–

"भन विद्यापति चाहथि जे विधि करथि से से लीला ।
राजा शिवसिंह बंधन मोचल तखन सुकवि जीला ।।"

कारागृह से मुक्ति प्राप्त कर शिवसिंह कविवर विद्यापति के साथ राजधानी लौटा । वह स्वतन्त्र चेता था ही । अपनी मातृभूमि को विधर्मी म्लेच्छों से उद्धार करने के हेतु उसका मानस उतावला हो रहा था । वह अपने अपमान की कथा भूला नहीं था । वीरतापूर्वक महाभयंकर युद्ध करके भी वह अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता की रक्षा न कर सका था । पर इससे वह हताश नहीं हुआ । उसने अपना प्रयत्न छोड़ा नहीं । किंचित् काल पश्चात् उसने मिथिला को जौनपुर एवं दिल्ली के सुलतानों के आधिपत्य से सर्वथा स्वतन्त्र घोषित कर दिया । इससे क्रुद्ध होकर सम्भवतः जौनपुर के शर्की सुलतान ने बहुत बड़ी मुसलमानी सेना के साथ तिरहुत पर चढ़ाई कर दी । यह कहा जाता है कि वह शर्की सुलतान इब्राहिम शाह था । घोर संग्राम छिड़ गया । युवराज शिवसिंह देव ने मिथिला के चुने हुए वीर सैनिकों के साथ संग्राम में शत्रु-सेना को नाकों चना चबवाया । युद्ध चल ही रहा था कि वृद्ध राजा देवसिंह का अकस्मात् लक्ष्मणाब्द २९३ में शरीरान्त हो गया । अब शिवसिंह मिथिला का महीपति घोषित हुआ । उसने समर में शत्रु का सामना शौर्य के साथ किया, और उसे कई युद्धों में परास्त कर शत्रु-दल को तिरहुत-राज्य-सीमा से निकाल बाहर किया । तदुपरान्त अपने पूज्य पिता का श्राद्ध राजा शिवसिंह देव ने १४१२-१३ ई०

में सविधि सम्पन्न किया। नये नृपति के इस विजय से सम्पूर्ण राज्य में अनन्त आनन्द का अजस्र स्रोत उमड़ चला। देवसिंह की मृत्यु का दुःख-शोक उसमें प्लावित होकर विलीन हो गया। विद्यापति ने इस घटना का वर्णन निम्नलिखित रूप में किया है :–

"अनल रंध्र कर लक्खन नरबए, सक समुद्र कर अगिनि ससी।
चैत कारि छठि जेठा मिलिओ, वार बेहप्पए जाउ लसी॥
देव सिंह जस पुहवी छड्डिय, अद्धासन सुरराय सरू।
दुहु सुरतान नींदे अब सोअउ, तपन हीन जग तिमिरे भरू॥
देखहु ओ पृथवी के राजा, पौरुष माँझ पुन्न बलिओ।
सत बले गंगा मिलित कलेवर, देव सिंह सुरपुर चलिओ॥
एक दिस सकल जवन बल चलिओ, ओका दिसि जमराज चरू।
दूऊओ दलहि मनोरथ पूरओ, गरुअ दाब सिव सिंघ करू॥
सुरतरु कुसुम घालि दिसि दूरेओ, दुन्दुहि सुन्दर साद धरू।
वीर छत्र देखन को कारण, सुरगन सते गगन भरू॥
आरम्भिअ अंतेट्ठि महामख, राजसूय असमेध जहा।
पंडित घर आचार बखानिअ, जाचक काँ घर दान-कहा॥
विज्जाबइ कविवर एहु गावए मानव मन आनन्द भएओ।
सिंहासन सिव सिंह बइट्ठो उच्छवे वैरस विसरि गएओ॥"

ऊपर अंकित किया गया है कि जनश्रुति के अनुसार मिथिला पर उस काल आक्रमण करनेवाला सुलतान इब्राहिम शाह था, जिसने शिवसिंह के विरुद्ध देवसिंह के जीवन-काल में ही दूसरी बार चढ़ाई की थी। पर तर्क की कसौटी पर कसकर देखने के पश्चात् इसमें सन्देह उत्पन्न होता है। जौनपुर का शर्की सुलतान इब्राहिम शाह १४०५ से १४१६ ई० तक दिल्ली के बादशाह के साथ समर-रत था। सम्भवतः इब्राहिम का कोई वरीय सेनापति उसके प्रतिनिधि के रूप में युद्ध कर शिवसिंह को दंडित करने के हेतु उस काल वहाँ उपस्थित हुआ था, जिसके साथ शिवसिंह को जूझना पड़ा था, और उसके साथ संग्राम में मुसलमान सेनानी का पराभव हुआ था। विद्यापति ने उपर्युक्त पद की चतुर्थ पंक्ति में लिखा है कि–"दुहु सुरतान नींदे अब सोअउ", जिससे दो सुलतानों का सम्बन्ध उस युद्ध से प्रकट होता है, जिनको देवसिंह की मृत्यु हो जाने से गत आतंक होकर निश्चिन्ततापूर्वक सोने की बात कवि ने अंकित की है। इन दो सुलतानों में एक तो जोनपुर का ही था ही और दूसरा दिल्ली का सुलतान हो सकता है; क्योंकि जौनपुर के साथ चल रहा था शिवसिंह का युद्ध, और दिल्ली थी उसके कुल से ही क्रुद्ध। इसका कारण यह था कि कीर्त्तिसिंह ने ही दिल्ली से सम्बन्ध-विच्छेद कर जौनपुर के साथ राजनीतिक नाता जोड़ लिया था, जिसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। मिथिला का सम्पर्क दिल्ली के साथ मिट चुका था। तिरहुत राज्य अब जौनपुर साम्राज्य का एक अंग था, दिल्ली का नहीं। राजा शिवसिंह ने बंगाल के उदीयमान एवं स्वातन्त्र्य-प्रेमी राजा गणेश के साथ मित्रता का सम्बन्ध स्थापित किया था। उसी काल के लगभग बंगाल के शासक गयासुद्दीन की हत्या

हुई और सईफुद्दीन हमजा शाह १४०९ और १४१० ई० के बीच सिंहासन पर बैठा। गृह-युद्ध के कारण बंगाल की राजनीति डाँवाडोल हो गयी (हिस्ट्री ऑफ बंगाल– जे० एन० सरकार प्रणीत, भाग-२, पृ० ११९, १२७-२८)। राजा गणेश ने उस परिस्थिति से लाभ उठाकर अपने को वहाँ का राजा घोषित कर दिया। जौनपुर के सुलतान के प्रतिनिधि ने उसका शमन करने के हेतु बंगाल पर आक्रमण किया। राजा शिवसिंह ने राजा गणेश की सहायता बंगाल पहुँच कर की। फलतः सुलतान की विशाल वाहिनी की हार उस रण में भी हुई।

कविवर विद्यापति ने इस घटना का वर्णन 'पुरुष-परीक्षा' एवं 'शैवसर्वस्वसार' में किया है। 'शैवसर्वस्वसार' का एतद्विषयक श्लोक अधोऽङ्कित है :–

"शौर्यावर्जितगौडगज्जन-महीपालोपनम्रीकृताऽ-
नेकोत्तुंगमतंगजाश्च कनकच्छत्राभिरामोदयाः"

(हिस्ट्री ऑफ मिथिला, डा० उपेन्द्र ठाकुर कृत, पृ० ३१०)।

कवि के ग्रन्थ 'पुरुष-परीक्षा' का इस सम्बन्ध का उल्लेख नीचे उद्धृत किया जाता है :–

"यो गौडेश्वरगज्जनेश्वररणक्षोणीषु लब्ध्वा यशो
दिक्कांताचयकुंतलेषु नयते कुन्दस्रजामास्पदम्।
तस्य श्रीशिवसिंहदेवनृपतेर्व्विज्ञप्रियस्याज्ञया
ग्रंथं ग्रंथिलदंडनीतिविषये विद्यापतिर्व्यातनोत्॥"

(डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३१०)।

स्वतंत्रता के उपासक वीरव्रती राजा शिवसिंह ने अपने नाम के सिक्के (मुद्राएँ) ढलवाकर मिथिला राज्य की स्वतन्त्रता को प्रमाणित किया। दिल्ली अथवा जौनपुर के सुलतान को वार्षिक राज-कर देना उसने अपना तथा अपनी मातृभूमि का घोर अपमान समझा। अतः उसे अविलम्ब उसने बन्द कर दिया। उधर बंगाल में राजा गणेश की मृत्यु हुई। उसके पश्चात् उसका पुत्र यदुसेन अपने पिता द्वारा अर्जित राज-सिंहासन का स्वामी हुआ। वह कायर एवं भोगविलास में जीवन व्यतीत करने वाला युवक था। उसमें उसके पिता के गुणों का अभाव था। अधिराट को प्रसन्न कर सुखमय जीवन व्यतीत करने के लोभ से उसने हिन्दू धर्म का परित्याग किया, और मुसलमान बन गया। उसने धर्म-परिवर्त्तन करने के पश्चात् अपना नाम यदुसेन त्याग कर जलालुद्दीन रखा। राजा शिवसिंह उसका भी समकालीन था। उसने यदुसेन के उस घृणित कृत्य से क्रुद्ध होकर उस (जलालुद्दीन) के विरुद्ध चढ़ाई कर दी (विद्यालंकार तथा मेहता : 'बिहार', पृ० २१२-१३; विद्यालंकार : इतिहास प्रवेश, ३३२) और उसको रण-नत कर उसके गौड़-राज्य के कुछ अंश को अपने राज्य में मिला लिया (महामहोपाध्याय पं० परमेश्वर झा : 'मिथिला-तत्त्व-विमर्श', पृ० १५६; जरनल ऑफ बिहार रिसर्च सोसाइटी, ४०, ११५; मित्र मजुमदार : 'विद्यापति'-३७)। स्यात् इन्हीं कारणों से विद्यापति ने शिवसिंह को 'पंच गौड़ेश्वर' के विरुद से विभूषित किया है। 'शैवसर्वस्वसार' तथा 'पुरुष-परीक्षा' के उपर्युक्त उल्लेखों से भी गौड़-गज्जन

पर विजय का संकेत मिलता है । 'गज्जन' से गजनी का अर्थ लेना उचित नहीं है । उससे मुसलमान-शासित प्रदेश का अर्थ लेना ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है ।

राजा शिवसिंह देव के उपर्युक्त आचरण से क्षुब्ध होकर सुलतान ने उससे बदला लेने का निश्चय किया । उसने पूरी तैयारी कर दल-बल के साथ मिथिला पर आक्रमण किया । राजा शिवसिंह को भी इसकी सूचना मिली । उसने भी अपनी वीर-वाहिनी के चुने हुए जवानों की टोली के साथ सुलतान की सेना के बढ़ाव को रोकने के हेतु रण-यात्रा की । उसने आगे बढ़कर समर में सुलतान का सामना किया । राजा शिवसिंह के अभिन्नहृदय मित्र कवि विद्यापति भी उस समर-यात्रा में उसके साथ थे ।

राजा शिवसिंह ने दिल्ली के सुलतान के शत्रु जौनपुर के शर्की सुलतान के विरुद्ध पूर्व में दो बार विद्रोह कर युद्ध किया था । इससे तथा बंगाल के राजा गणेश को साथ देकर उसकी सेना को बार-बार पराजित करने के कारण जौनपुर के सुलतान का उसके विरुद्ध क्रुद्ध एवं प्रतिशोधरत होना स्वाभाविक था । शिवसिंह के नव-मुसलिम जलालुद्दीन के राज्य पर आक्रमण करने तथा उसके राज्य के कुछ भाग को स्वायत्त कर लेने के पूर्वोक्त कृत्य ने जौनपुर के शर्की सुलतान के क्रोधानल को और भी उसके विरुद्ध प्रज्वलित कर दिया था ।

ऊपर अंकित किया जा चुका है कि जौनपुर दिल्ली का उस काल शत्रु था । दोनों ही के सुलतान मुसलमान थे । पर स्वार्थ-भाव ने दोनों के बीच के धार्मिक प्रेम के बन्धन को तोड़ दिया था । शिवसिंह ने समर दिल्ली के शत्रु के साथ किया था अवश्य, पर उससे दिल्ली को कोई लाभ नहीं था । वह उसकी सहायता के हेतु नहीं किया गया था । उस इतिहास-प्रसिद्ध संग्राम का ध्येय था– मिथिला को विधर्मियों एवं विदेशियों के चंगुल से मुक्त करना । उस काल मुसलमान विदेशी ही माने जाते थे, भारतीय नहीं । इस कारण दिल्ली के बादशाह का भी क्रोध शिवसिंह के प्रति फूट पड़ा था । शिवसिंह के प्रति दिल्ली, जौनपुर तथा गौड़ राज्यों में से किसी की सहानुभूति नहीं थी । उस समय सभी मुसलमान उसके शत्रु थे ।

वह युद्ध उस समय महाभयंकर एवं लोमहर्षक हुआ । कवि विद्यापति ने उस संग्राम का वर्णन बड़ी ओजस्विनी भाषा में किया है । वीरों के हाथ में चपला के समान चमकती तलवार के चपलगति से संचालन के साथ-साथ युद्ध में व्यवहृत अन्य आयुधों, शस्त्रास्त्रों के प्रयोग का उल्लेख कवि ने किया है । दोनों दलों के वीरगण अपने-अपने पक्ष की विजय के हेतु प्राणों की बाजी लगा रहे थे । मिथिला के लौहजीवी शूर-समुदाय उस रण में अपनी मातृभूमि की स्वाधीनता के हेतु देह-गेह की चिन्ता त्याग कर मर मिटने को प्रस्तुत थे । उधर दूसरे दल के लोग भी अपने शोषण में बाधा के प्रतिरोध में युद्ध कर रहे थे । दोनों के पृथक्-पृथक् ध्येय थे । दोनों ही उन्मत्त हो रहे थे । मिथिला की सेना और प्रजा दोनों ही मिलकर उस पवित्र युद्ध-यज्ञ में माता स्वतन्त्रता को प्रसन्न करने के हेतु अपने शरीर एवं शीश की आहुति करने में लीन थे । उनमें से प्रत्येक का ध्येय था ''कार्यं साधयामि, शरीरं पातयामि वा'' । पर उनकी संख्या शत्रु-सैन्य की संख्या से अपेक्षाकृत अल्प थी । कहा जाता है कि उस संग्राम काल में शिवसिंह साक्षात् प्रचण्ड शमन का

रौद्ररूप धारण कर समरक्षेत्र में क्षिप्रगति से तीरतूणीर, तवर, तलवार आदि से सुसज्जित निःशंक भाव से विचरण करता हुआ ललकार-ललकार कर रिपुओं का संहार कर रहा था। रणभूमि रक्त से रंजित हो गयी थी तथा हाथी, घोड़ों एवं समर में पतित सैनिकों के रुंड-मुण्ड से पट गयी थी। शनैः-शनैः मिथिलेश की सेना की संख्या में कमी होने लगी। पर सभी देश-प्रेम के मद में मत्त थे। किसी ने संग्राम-भूमि त्यागने को सोचा भी नहीं। सभी ने शीश सुमन माँ स्वतन्त्रता की बलि-वेदी पर चढ़ा-चढ़ा कर समुद उसकी अर्चना की। एक-एक शूर ने दश-दश रिपुओं को यमलोक पहुँचाया। जब तक शरीर में चेतना रही सुभटों ने कर में कठोर कृपाण धारण किये शत्रुओं का संहार किया। पर अन्त में सभी समरशायी हुए। शिवसिंह के भी शरीर में अनेक घाव लगे थे। शरीर से रक्त-स्राव होने के कारण वह निर्बल होकर निश्चेष्ट हो गया। उसने जननी जन्म-भू का ध्यान कर अपने वपु का माता के चरणों पर बलिदान कर दिया। जब तक एक बूँद रक्त भी उसके शरीर में शेष रहा, वह कर्त्तव्य-पालन में दृढ़तापूर्वक लीन रहा। अदम्य उत्साह एवं अलौकिक शौर्य के साथ शत्रु का सामना करते हुए स्वतन्त्रता के पुजारी वीर नृपति ने रणांगण में वीरगति प्राप्त की। कुछ लोगों का कहना है कि उस युद्ध में पराजित शिवसिंह को विजेता ने बन्दी बना लिया, तथा उसी रूप में उसे दिल्ली पहुँचाया (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, १८९९, पृ० ५७-५८; डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३१७)। पर शिवसिंह देव का बन्दी के रूप में दिल्ली ले जाना सम्भव नहीं जँचता है। वह युद्ध १४१६ ई० के लगभग हुआ था। उस काल दिल्ली का आधिपत्य बिहार एवं बंगाल पर रह नहीं गया था।

यदि शिवसिंह देव शत्रु द्वारा बन्दी बनाया गया होता तो यह बात लखिमा रानी तथा विद्यापति से छिपी नहीं रह सकती थी। विद्यापति ने अपने राजा के उद्धार के हेतु प्रयत्न भी अवश्य किया होता, जैसा उसने एक बार करके सफलता भी प्राप्त की थी। इस बार कवि को सफलता मिलती अथवा नहीं, यह दूसरी बात थी। विद्यापति के किसी ग्रन्थ से इसका आभास नहीं मिलता है कि शिवसिंह को कैद कर शत्रु दिल्ली ले गया। इससे यही अनुमान एवं विश्वास किया जाता है कि या तो नृपति ने समर-भूमि में वीरगति प्राप्त की, अथवा नव-प्राप्त स्वतन्त्रता की रक्षा करने में असफल होने पर उसने भग्न-हृदय होकर संन्यास लिया, और जन-समूह से दूर जंगल में जाकर शेष जीवन व्यतीत किया। लखिमा रानी ने भी राजा के जीवित रहने की आशा में आपने प्राणों की रक्षा उसके मरने के १२ वर्षों पश्चात् तक की, और स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार अन्ततोगत्वा १४२८-२९ ई० में अपने शोक-सन्तप्त शरीर को प्रज्वलित चिता पर चढ़ा कर सती हो गयी। पति-वियोग की दारुण यातना उसे सह्य न हुई।

कुछ विद्वानों के मतानुसार उस युद्ध में पराभव के पश्चात् शिवसिंह ने नेपाल के गहन वन में प्रवेश किया, जहाँ से जनपद में वह पुनः लौटा नहीं (महामहोपाध्याय पं० उमेश मिश्र : 'विद्यापति ठाकुर', २८)। यह भी कहा जाता है कि भूपति के कतिपय स्वामिभक्त साथियों ने भी उसके साथ अरण्य की शरण ली। सम्भवतः उसका लक्ष्य वहाँ घोर कानन में निवास कर शक्ति-संचय करना तथा स्वतन्त्रता-संग्राम के हेतु तत्पर होकर पुनः तैयारी करना था। भारत और नेपाल की सीमा पर जंगल में शिवराजगढ़ का निर्माण

उसी काल के लगभग हुआ था । उसका भग्नावशेष खण्डहर स्वयं त्यक्त एवं विस्मृत रहकर भी शिवसिंह देव के स्वातन्त्र्य-प्रेम की स्मृति मिथिला की भावुक सन्तानों को आज भी दिलाता है । बहुत संभव है कि यदि वह भूपति उस संग्राम के पश्चात् भी जीवित बचा था तो उसने अवश्य जंगल में निवास कर वहाँ से ही स्वतन्त्रता का संग्राम छापा मार कर चालू रखा होगा । शिवराजगढ़ का निर्माण तथा उसका वैसे बीहड़-विकट स्थान में अस्तित्व ऐसी शंका मानव-मस्तिष्क में उत्पन्न करता है । पर इतिहास इस विषय में मौन है । कर्णाट-वंशीय भूपति हरिसिंह देव के विषय में भी प्राप्त सूचना के आधार पर लब्धप्रतिष्ठ इतिहासकारों ने लिख डाला था कि विजेता मुसलमान सुलतान गयासुद्दीन तुगलक उसे सपरिवार बन्दी बना कर दिल्ली ले गया, परन्तु अनुसन्धान के द्वारा यह प्रमाणित हो गया कि उसने तथा उसके कई उत्तराधिकारियों ने उस युद्ध के पश्चात् भी कई पीढ़ियों तक नेपाल में क्रमशः शासन किया था । हाँ, यदि वह नृपति (शिवसिंह देव) रण में मारा गया तो अवश्य उस दुर्ग का निर्माता कोई दूसरे व्यक्ति को मानना पड़ेगा । उसके रण-निधन अथवा अज्ञातवास के पश्चात् उसकी पटरानी लखिमा रानी जीवित थी । हो सकता है कि अपने प्रिय वीर पति के वीर कृत्य का स्मारक उसने उस दुर्ग का निर्माण कर स्थापित किया हो । पर इस विषय में अधिकारपूर्ण कोई मत व्यक्त करना कठिन है ।

राजा शिवसिंह देव के उस ऐतिहासिक रण-पराभव के पश्चात् खौआल-वंशीय ओइनवार राज-परिवार के शेष सदस्यों की स्थिति गंभीर हो गयी । उनमें आतंक छा गया । अपने अस्तित्व के विषय में वे सशंक हो उठे । राजा शिवसिंह देव ने मिथिला को विदेशियों एवं विधर्मियों की पराधीनता से मुक्त करने के हेतु अपने शक्तिशाली अधिराट के विरुद्ध तीन-तीन बार विद्रोह कर घोर समर किया था । सभी संगर भयंकर हुए थे, जिनमें ओइनवार राजकुल के सदस्य तथा मिथिला की प्रजा ने एकमत होकर हर बार उसका तन-मन से साथ दिया था । अतः विजेता मुसलमानों का क्रोध उस राज-परिवार के रक्त-सम्बन्धियों के प्रति अत्यधिक था ।

इतिहास इसका साक्ष्य देता है कि विजेता मुसलमान उन दिनों विजितों के प्रति घोर अत्याचार करते थे । साम्पत्तिक लूट, सामूहिक वध एवं धर्म-परिवर्तन कराना अति साधारण बात उनके लिए समझी जाती थी । इस कारण अनेक ओइनवार कुल के वीरों को, जिन्होंने उस संग्राम में प्रमुख भाग लिया था, और भाग्यवशात् जिनका रण-निधन नहीं हो पाया था, अपने अस्तित्व की रक्षा के विचार से अपनी प्यारी मातृभूमि मिथिला का परित्याग करने के लिए बाध्य होना पड़ा । शत्रु के कोपानल से त्राण पाने के हेतु उनमें से कुछ ने तो वर्तमान मालदा जिला जैसे सुदूर स्थान में जाकर अपने को निर्भय किया और अनेक ने अपने पड़ोस के ही अंग प्रदेश के मुंगेर (प्राचीन मुद्गिरि) जिले के अरण्यमय अगम पहाड़ी अंचल में छिपकर स्व-परिवार को अभय किया, तथा पीछे चलकर उस स्थान का नाम अभयपुर रखा । पूर्वीय रेलवे के उक्त जंकशन एवं जमालपुर के बीच पहाड़ों की तराई में अभयपुर नामक एक रेलवे-स्टेशन है, जिसके आस-पास कई ग्रामों में खौआल मूल के ओइनवारों का निवास है, जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है । वे सब अपने को राजा शिवसिंह देव के परिवार के वंशज बताते हैं । उन सबों के बीच चिरकाल से परंपरागत

यह कथा प्रचलित है कि उनके पूर्वज मुसलमानों के आक्रमण एवं अत्याचार से भयभीत होकर उस निर्जन एवं दुर्गम बन में सुरक्षा के हेतु आ बसे थे।

राजा शिवसिंह ने अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् १४१२ से १४१६ ई० तक केवल ३ वर्ष ९ महीने पर्यंत राज्य किया। विद्यापति ने अपने एक पद में (जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है) राजा देवसिंह की मृत्यु लक्ष्मणाब्द २९३ (अनल रंध्र कर लखन नर-वए) में हुई अंकित किया है। हिसाब बैठाकर देखने पर वह काल १४१२-१३ ई० में पड़ता है। इस विषय की चर्चा भी पूर्व की की जा चुकी है। इससे स्पष्ट होता है कि शिवसिंह अपने पिता के जीवन-काल में भी उसके साथ राज्य-शासन में अधिकारपूर्ण भाग लेता था। इसका यही प्रमाण है कि उस समर के पूर्व का संग्राम, जिसमें शिवसिंह ने विजय प्राप्त की थी, उसके पिता के जीवन-काल में ही आरम्भ हुआ था। इसका वर्णन विद्यापति के पूर्वांकित पदों में किया गया है।

भयंकर संग्राम के समय भी समर-क्षेत्र में कवि विद्यापति अपने आश्रयदाता बालसखा स्वातन्त्र्य-प्रेमी राजा शिवसिंह देव के साथ थे। राजा के वीरगति प्राप्ति का अनुमान हो जाने के पश्चात् कवि ने रानी लखिमा देवी तथा अन्यान्य राज-परिवार के सदस्यों के साथ नेपाल की तराई के सप्तरी जिले के राजा गिरिनारायण पुरादित्य के राजदरबार में जाकर शरण ली। वह पुरादित्य शिवसिंह देव का हितचिन्तक मित्र एवं विद्यापति का प्रशंसक था। उसकी राजधानी राजबनौली नामक नगर में थी। राजा गिरिजानारायण पुरादित्य का एक विरुद 'अर्जुन-विजयी' भी था। इससे प्रमाणित होता है कि पुरादित्य ने शौर्य-शील-शत्रु अर्जुन का वध कर नेपाल के सप्तरी जिले के राजबनौली नगर में अपने लिए एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। सम्भवतः कामेश्वर कुल की दो शाखाओं के बीच राज्याधिकार के हेतु हुआ गृह-युद्ध का परिणाम अर्जुन-वध था। अर्जुन त्रिपुरसिंह का पुत्र तथा संभवतः राजबनौली अंचल का अधिकार-सम्पन्न बलवान् शासक था। विद्यापति की 'पदावली' में त्रिपुरसिंह, उसके पुत्र अर्जुन राय (कमला देवी के पति), तथा दूसरे राजकुमार अमरसिंह (ज्ञान देवी के पति) की चर्चा आयी है। अनुश्रुति बताती है कि अमरसिंह भी त्रिपुरसिंह का ही पुत्र था (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, ६८-९६; डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३१५)। राजा गणेश्वर अथवा ज्ञानेश्वर ठाकुर की षड्यन्त्रकारियों द्वारा की गयी हत्या की चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। रामभद्रपुर के हस्तलिखित ग्रन्थ (एस० एन० ठाकुर की 'विद्यापति की विशुद्ध पदावली', नं० ७९ और ८६) में अर्जुन के नाम का उल्लेख हुआ है, और उसी में एक स्थान पर अमर का नाम भी आया है। अतः अर्जुन और अमर दोनों ही त्रिपुरसिंह के पुत्र थे। दोनों ही भाई सम्भवतः स्थानीय सामन्त थे। उन्हें पराजित कर गिरिनारायण ने अपने लिए स्वतन्त्र राज्य की स्थापना राजबनौली में की, ऐसा ज्ञात होता है।

कविवर विद्यापति के ग्रन्थ 'लिखनावली' का उल्लेख स्पष्टतया बताता है कि अर्जुन को पुरादित्य ने संग्राम में निहत किया। एतद्विषयक श्लोकों का उद्धरण अन्यत्र दिया गया है। 'पुरादित्य' राजा गिरिनारायण का प्रशस्तिवाचक विरुद प्रतीत होता है। अर्जुन शिवसिंह के परिवार का सदस्य था। पुरादित्य अर्जुन का हन्ता था। इतने पर भी वह

शिवसिंह का विश्वासपात्र मित्र एवं विद्यापति का प्रशंसक और पोषक था। उसने शरणार्थियों को बड़े प्रेम के साथ अपने आश्रय में रखा तथा राज-परिवार के सदस्यों एवं उनके आश्रितों की सुख-सुविधा का प्रबन्ध किया।

राजा गिरिनारायण पुरादित्य भूमिहार ब्राह्मण कुलोद्भव था, उसका मूल था द्रोणवार और गोत्र वत्स। विद्यापति ने आपत्तिग्रस्त शिवसिंह देव के राज-परिवार को लेकर ओइनवार कुल के अन्य सामन्तों अथवा राजकुमारों की शरण में जाना उचित नहीं समझा, और पुरादित्य के दरबार में सुरक्षा के विचार से वे पहुँचे, इसका भी कोई कारण अवश्य होगा। राजा पुरादित्य के कुल की चर्चा ओइनवार-वंश के राजाओं के वर्णन के पश्चात् पुस्तक में आगे की जायगी। कतिपय विद्वानों के मतानुसार राजा शिवसिंह देव की रानी लखिमा देवी द्रोणवार कुलोद्भवा थी। किन्तु इसका कोई लेखबद्ध प्रमाण अब तक उपलब्ध नहीं है। किन्तु घोर संकट के काल में उसका द्रोणवार राजा गिरिनारायण पुरादित्य के परिवार में शणरापन्न होना तथा पुरादित्य का भावी आपत्ति की आशंका की अवहेलना कर निःशंक भाव से सस्नेह उसे अपने छत्रछाया में रखकर आश्रय देना बताता है कि शिवसिंह देव एवं उसके बीच किसी प्रकार का घनिष्ठ सम्बन्ध पूर्व से ही अवश्य था।

अपनी नयी राजधानी के नगर गजरथपुर का निकटवर्ती ग्राम विसफी विद्यापति को दान देकर राजा शिवसिंह देव ने कवि को सन्तुष्ट किया था। यह दान लक्ष्मणाब्द २९३ में दिया गया था। एतद्विषयक ताम्र-पत्र पर उत्कीर्ण लेख निम्नांकित है :-

'अब्दे लक्ष्मणसेनभूपतिमिते वह्निग्रहद्व्यङ्किते
मासि श्रावणसंज्ञके मुनितिथौ पक्षेऽवलक्षे गुरौ।
वाग्वत्याः सरितस्तटे गजरथेत्याख्ये प्रसिद्धे पुरे
दित्सोत्साहसमृद्धबाहुपुलकः सभ्याय मध्येसभम्॥
प्रज्ञावान् प्रचुरोर्व्वरं पृथुतराभोगन्नदीमातृकं
सारण्यं ससरोवरं व विसपीनामानमासीमतः
श्रीविद्यापति शर्मणे सुकवये वाणीरसस्वादविद्-
वीरश्रीशिवसिंहदेवनृपतिर्ग्रामं ददे शासनम्॥'

(इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, १४, १९०-९१; एस० एन० ठाकुर : महाकवि विद्यापति, पृ० ८-९)।

उपर्युक्त ताम्रपत्र विद्यापति के वंशजों के पास भारत में अंग्रेजी राज्य के आरम्भकाल तक विद्यमान था। अतः उसको बनावटी नहीं कहा जा सकता है। पर इनमें ल० स०, सन आदि का जो व्यवहार किया गया है; उससे उसके सच्चे होने में संदेह उत्पन्न हो जाता है। ताम्रपत्र में लक्ष्मणाब्द के अतिरिक्त ८०७ सन् अंकित पाया जाता है। पर फसली सन् का आरम्भ शिवसिंह के काल के पीछे मुगल बादशाह अकबर के शासनकाल में हुआ था। सम्वत् का भी वहाँ उल्लेख है। किन्तु पूर्वीय भारत में विक्रम सम्वत् का व्यवहार उस काल विशेष रूप से नहीं किया जाता था (जरनल ऑफ एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल,

न्यू सीरीज, १९१५, पृ० ४२१-२२) । शिवसिंह के शासनकाल का उल्लेख श्रीधर के 'काव्य प्रकाश विवेक' में लक्ष्मणाब्द २९१ में किया गया है, जिसके विषय में विवेचना देवसिंह के सम्बन्ध में वर्णन के साथ पूर्व में की जा चुकी है । उस ग्रन्थ की प्रतिलिपि उस साल विद्यापति की आज्ञा से उतारी गयी थी । इण्डिया गवर्मेन्ट के मैनुस्क्रिप्ट फोलियो ११७, ए, में अंकित किया गया है-"इतितर्काचार्यठक्कुरश्रीश्रीधरविरचिते काव्यप्रकाशविवेके दशम उल्लासः । शुभमस्तु समस्तविरुदावली, महाराजाधिराज श्रीमत् शिवसिंह देव संभुज्यमानतीर-भुक्तौ श्री गजरथपुरनगरे सप्रक्रिय सदुपाध्यायठक्कुरंश्री विद्यापतीनामाज्ञया खौयालसं श्रीदेव शर्म-बलियाससं श्रीप्रभाकराभ्यां लिखितैषा स्वहस्ताभ्याम् (१) ल० सं० २९१, कार्तिक, वदि, १०" । लक्ष्मण संवत् २९१ हिसाब लगाने से ख्रिष्टाब्द १४१० ई० होता है । उस काल शिवसिंह का पिता देवसिंह जीवित था । उसकी मृत्यु लक्ष्मणाब्द २९३ में हुई थी । इससे स्पष्ट जँचता है कि शिवसिंह ने अपने पिता देवसिंह के जीवन काल से ही शासन-सूत्र के संचालन में भाग लेना आरम्भ कर दिया था । कुछ विद्वानों का कहना है कि विद्यापति की विद्वत्ता एवं अदृष्ट वस्तु को दृष्टवद् वर्णन करने के अलौकिक चमत्कार-प्रदर्शन से प्रभावित तथा प्रसन्न होकर रणबन्दी राजकुमार शिवसिंह को सुलतान ने केवल कारामुक्त ही नहीं किया, वरन् कवि को विसफी ग्राम देकर उसे सम्मानित भी किया । उसी दान की सम्पुष्टि शिवसिंह ने राजा होने पर (दान-पत्र उत्कीर्ण करवा कर) की (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३११, पादटिप्पणी)। यह सम्भव हो सकता है कि उस ग्राम के दान करने की घोषणा २९३ लक्ष्मण संवत् में की गयी हो, और दान कवि को २९१ ल० स० में ही मिला हो, जिस साल शिवसिंह को कारागृह से मुक्ति विद्यापति के प्रयत्न से मिली थी ।

फसली सन् अकबर के शासनकाल में आरम्भ किया गया था, और उसका पहला साल सन्-१, न होकर ९६३ था । अतः ताम्रपत्र का सन् अकबर के काल का फसली सन हो नहीं सकता है । उसके अतिरिक्त बंगला सन् और हिजरी सन् का भी व्यवहार यदा-कदा पूर्व भारत में होता था । लक्ष्मण सन् को दूसरे सनों में परिवर्त्तित करते समय लेखकों ने प्रायः भूलें की हैं, ऐसा देखा गया है । उस दानपात्र में भी इस प्रकार की भूल होना असम्भव नहीं है । विद्वान् ग्रियर्सन साहब को मिथिला में ब्रिटिश-शासनकाल में एक शासकीय पदाधिकारी के रूप में रह कर बहुत विषयों की जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिला था । उन्होंने दानपत्र में अंकित ८०७ सन् को अकबर द्वारा चालित फसली सन् मान कर उस दान-पत्र को मूर्खता-पत्र प्रस्तुत जाली दान-पत्र माना था । उनके मतानुसार फसली सन् ८०७ हो ही नहीं सकता है; क्योंकि उसका आरम्भ ही ९६३ सन् से हुआ था । केलहॉर्न साहब की राय में लक्ष्मणाब्द २९१ एवं २९३ के लगभग बंगाली सम्वत् ८०७ तथा हिजरी सम्वत् ८०१ पड़ता है । अतः अकबर द्वारा चालू किये गये फसली सन् की अपेक्षा बंगाली सम्वत् अथवा हिजरी सम्वत् का अंकन उस दान-पत्र में स्वीकार करना अधिक युक्तियुक्त मालूम पड़ता है । ल० स० तथा इन सम्वतों के काल में अन्तर का कारण गणना की भूल मानना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है ।

राजा शिवसिंह शूर एवं पराक्रमी होने के साथ ही अति उदार, दानी, विद्या-व्यसनी,

कला-कौशल का पोषक, विद्वानों का आश्रयदाता एवं निर्माण-प्रिय नरेश था। उसने अनेक विशाल पोखरों का निर्माण कराया, जिनमें 'घोड़दौड़' एवं 'रजोखर' प्रसिद्ध है। शिवसिंह की अमर कीर्त्ति 'रजोखर' नामक पोखर तथा उस भूपति की महत्ता के सम्बन्ध में कहावत प्रसिद्ध है, कि– 'पोखर रजौखर और सब पोखरा। राजा शिवसिंह और सब छोकरा'। (इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, १४, १८७)।

राजा शिवसिंह की उदारता एवं दानशीलता का परिचय इससे चलता है कि उसने अपने पूज्य पिता के शरीर के बराबर सोना तौलकर ब्राह्मणों को तुला-दान दिया था (इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, १४, १९०-९१)।

ओइनवार कुल का सबसे प्रसिद्ध राजा शिवसिंह था। उसकी कीर्ति को अमर कवि विद्यापति ने अपने ललित एवं भावपूर्ण मनोहर पदों द्वारा अमर बना दिया। कवि के ग्रन्थ 'पदावली' के अवलोकन से पता चलता है कि राजा शिवसिंह की छः रानियाँ थीं, जिनमें लखिमा रानी सर्व-प्रधान थी। कम से कम विद्यापति के एक सौ पदों (गीतों) में उसका नाम राजा शिवसिंह के नाम के साथ पाया जाता है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि वह राजा की परम प्रेयसी एवं पटरानी थी (जरनल ऑफ एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९९५, पृ० ४२०)। शिवसिंह देव की अन्य रानियों के नाम थे :– (१) सुखमा देवी, (२) मधुमती, (३) सुरमा देवी, (४) रूपिणी देवी, (५) मोदवती देवी। इनमें संख्या २ और ५ एक के ही दो नाम हो सकते हैं। उसी प्रकार संख्या १ तथा ३ के विषय में भी दोनों को एक माना जा सकता है; क्योंकि इन नामों में समता पायी जाती है। इस सम्बन्ध में पदावली के पदांक ६०, १२७, १८६, ३०९, ४६७, ५२३, ६७८ आदि का अवलोकन आवश्यक है, जिससे उपर्युक्त विषय पर प्रकाश पड़ता है। शिवनन्दन ठाकुर के हस्तलिखित ग्रंथ के पदांक २५ में भी एत्सम्बन्धी उल्लेख पाया जाता है (जरनल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, २७, ४२४; एगलिंग : इण्डिया ऑफिस कैटलॉग, ४, ८७४-७६; इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, १४, १९६; डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पादटिप्पणी पृ० ३१९)।

राजा शिवसिंह विद्या-प्रेमी था। उसकी राजसभा अनेक लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों, कवियों तथा लेखकों से सुशोभित थी। संस्कृत, अपभ्रंश तथा पुरानी मैथिली के अनके ग्रन्थ इस युग में प्रणीत हुए। साहित्य की उन्नति इस काल में चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। कला प्रगतिशील थी। इस काल को भी मिथिला के इतिहास का य़दि स्वर्णयुग कहा जाय तो इसमें अत्युक्ति न होगी। शिवसिंह को मिथिला का यदि राजा भोज कहा जाय तो यह कथन भी कदापि अनृत नहीं होगा। (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, १४, १८२, १८, ५७, मुजफ्फरपुर जिला गजेटियर, ११९-२० के आधार पर)। शिवसिंह देव के आश्रय में रहकर विद्यापति ने अनेक ग्रन्थों का सृजन किया। उनमें 'पदावली' का प्रचार मिथिला के घर-घर में हुआ। कवि के मनोमुग्धकारी गीत आज भी तिरहुत के असंख्य आबालवृद्ध नर-नारियों की जिह्वा पर नृत्य करते दृष्टिगत होते हैं। ईश-भजन, हरि-कीर्त्तन, यज्ञोपवीत अथवा विवाहोत्सव, जहाँ जाइये, वहाँ विद्यापति अपने पदों में रमते पाये जाते हैं। कविवर रवि के पिता महामनीषिप्रवर अच्युत ने 'मधुमती' नामक ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' की भाष्य के रूप में लिखा।

था। वह शिवसिंह का मन्त्री था। अच्युत के अतिरिक्त शिवसिंह के अन्य मन्त्रियों के नाम भी आये हैं। उनमें रेणुका-पति महेश अथवा महेश्वर, तथा रूपिणी के स्वामी रतिधर थे। विद्यापति की 'पदावली' में जयमति देवी के पति शंकर का नाम आया है। सम्भवतः वह राज्य का कोई उच्च पदाधिकारी था (जरनल ऑफ एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल-१९१५, पृ० ४१२)। अन्यान्य पदाधिकारियों के नामों का पता भी 'पदावली' के पदांक ७६, ३३३, ३५७ आदि के देखने से लगता है। उनकी चर्चा उन पदों में की गयी है। पं० वाचस्पति मिश्र ने भी राजा शिवसिंह के शासनकाल में तथा उसके लगभग कई ग्रन्थ लिखे, जिनमें 'तत्त्वकौमुदी', 'विवादचन्द्र', 'चन्द्रकौमुदी' आदि परम प्रसिद्ध है। संस्कृत साहित्य के ये अमर ग्रन्थ हैं। शिवसिंह की पटरानी लखिमा रानी भी भारतवर्ष की महामनीषिणी महिलाओं में एक थी। दार्शनिक विचार का स्रोत शिवसिंह की राजसभा में सदा प्रवाहित रहता था। वहाँ के विद्वान् सतत शास्त्र-चिन्तन एवं मनन में तत्पर रहा करते थे, जिसका प्रचार जनपद में स्वभावतः होता रहता था। इस कारण, वैदिक, शास्त्रीय एवं स्मार्त साहित्य की सम्वृद्धि एवं उन्नति उस काल में विशेष रूप से हुई।

यद्यपि शिवसिंह देव का शासनकाल अति अल्प था, पर उसकी वीरता की कथा मिथिला में चिरजीविनी बनी हुई थी। उसके युद्ध का वर्णन कवि ने बड़ी ओजस्वीनी भाषा में किया है, यथा–

'मेरु कनक सुमेरु रम्पिय धरणि पूरिय गगन झम्पिय
हाथितुरग पदाति पयभर कमन सहिओ रे
तरल तर तरवारि रंगे विज्जुदाम छटा तरंगे
घोर घन संघात वारिस काल दरसओ रे
पारभइ परिपन्थि गज्जिय भूमिमण्डल मण्डे मण्डिअ
चारु चन्द्र कलेव कीर्त्ति सुकेतु तुलिओ रे''

(महामहोपाध्याय पं० परमेश्वर झा : मिथिला तत्त्वविमर्श, १६८ से उद्धृत)

मैथिली भाषा के विकास का आरम्भ-काल शिवसिंह देव का शासन-युग था, जिसका आभास विद्यापति की रचनाओं में पर्याप्त रूप से प्राप्त होता है।

ओइनवार-कुल का शिवसिंह देव सम्भवतः प्रथम राजा था, जिसने मिथिला के सिंहासन पर आसीन होकर अपने नाम की स्वर्ण-मुद्राएँ ढलवायी एवं चलायी थीं। उसके नाम के दो सिक्के १९१३ ई० में चम्पारण्य (चम्पारण) जिले से प्राप्त हुए थे। उस मुद्रा पर एक ओर 'श्री' अंकित था तथा दूसरी ओर 'शिव-स्य'। इतिहासज्ञ विद्वान् आर० डी० बनर्जी की राय में वे दोनों मुद्राएँ मिथिला के राजा शिवसिंह देव की थीं (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३१९)। पर मुद्राकृति तथा उसकी प्राप्ति के स्थान आदि पर ध्यान देने से उसको असली स्वीकार कर लेने में किंचित शंका एवं बाधा उपस्थित होती है (आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, १९१३-१४, पृ० ५४८-४९ ई०)। परन्तु साथ ही साथ यह भी सत्य है कि इतिहास मिथिला में देवसिंह के पुत्र शिवसिंह देव के अतिरिक्त किसी दूसरे शिवसिंह का पता नहीं बताता है। अतः

यह मानना पड़ेगा कि सम्बद्ध स्वर्ण मुद्रा का प्रवर्त्तक ओइनवार वंशीय शिवसिंह के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति न था। चम्पारण (चम्पकारण्य) मिथिला राज्य के अन्तर्गत था भी।

लखिमा रानी (१४१६-१७ से १४२८-२९ ई०)

राजा शिवसिंह देव एवं सुलतान के बीच १४१६ ई० में युद्ध हुआ, ऐसा समझा जाता है। उस युद्ध में मिथिला-नरेश का निधन हुआ अथवा स्वेच्छा से उसने आजीवन अज्ञातवास का कठोर व्रत धारण कर अपनी मर्यादा की रक्षा की, जिसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। पति के देहावसान के सम्बन्ध में विश्वसनीय समाचार के अभाव में लखिमा रानी मिथिला के सिंहासन पर बैठी, तथा उसने १२ वर्षों तक पति के लौटने की आशा में राज किया (इण्डियन ऐन्टीक्वेरी-२८, ५७-५८)।

ग्रियर्सन साहब के मतानुसार लखिमा रानी पद्मसिंह के पश्चात् मिथिला की गद्दी पर आसीन हुई थी। पर ऐसा समझना सही नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि मिथिला की अनुश्रुतियाँ ऐसा नहीं बताती हैं। ग्रियर्सन साहब ने स्वयं लिखा है कि जब १२ वर्षों तक शिवसिंह का कोई समाचार दिल्ली के लखिमा रानी को न प्राप्त हो सका, तब वह सती हो गयी। उसके पश्चात् पद्मसिंह सिंहासन पर बैठा, पर केवल एक वर्ष तक ही उसने राज किया।

वीम्स के लेखानुसार शिवसिंह के पश्चात् रानी पद्मावती तिरहुत के सिंहासन पर बैठी थी (इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, ४, ३०१) राजा शिवसिंह की बड़ी रानी के रूप में रानी पद्मावती की चर्चा कहीं किसी साहित्य में अथवा मिथिला की जनश्रुति में नहीं पायी जाती है। एगलिंग ने ठीक ही अंकित किया है कि शिवसिंह के पश्चात् लखिमा रानी गद्दी पर बैठी (इण्डिया ऑफिस कैटलॉग, एगलिंग द्वारा सम्पादित, ४, नं० २५६४)। इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (२८, ५७-५८) के अनुसार शिवसिंह के निधन के बाद किसी कायस्थ चन्दकर के पुत्र अमृतकर, जो शिवसिंह का एक मन्त्री था, ने पटना जाकर सुलतान के प्रतिनिधि से तिरहुत का राज्य शिवसिंह के भाई पद्मसिंह के लिए माँगा, और गजरथपुर से सदा के लिए उसने राजधानी हटा ली। सनद प्राप्त करने के पश्चात् पद्मसिंह को उसने दरभंगा जिले के बछौड़ परगना के पदुमा ग्राम में उसके नाम पर राजधानी स्थापित कर राजसिंहासन पर अभिषिक्त किया (महामहोपाध्याय पं० उमेश मिश्र : 'विद्यापति ठाकुर', २८-२९)। पर इस कथन का कोई प्रमाण इतिहास ने अब तक उपस्थित नहीं किया है। लखिमा रानी का राज करना प्रचलित जनश्रुति बताती है। अमृतकर की कहानी को स्वीकार कर लेने से इसका पूर्णतया खंडन हो जाता है। लखिमा रानी के शासन की सम्पुष्टि अनेक प्रमाणों से होती है।

सच्ची बात यह जँचती है कि शिवसिंह देव के रण-पराभव के पश्चात् लखिमा अथवा लखिमा रानी ने पति-वियोग से पीड़िता एवं दुःखसंतप्तता होकर विद्यापति सहित चुने हुए अपने पति के कतिपय विश्वसनीय सभासदों के साथ गिरिनारायण, उपनाम धारी, राजा पुरादित्य के राजभवन में त्रिविनिली में जाकर शरण ली (मित्र-मजुमदार : विद्यापति, ३८)। वहीं निवास करती हुई विद्यापति की सम्मति से उसने सुलतान से अपने पति के

राज्य की सनद (प्रमाण-पत्र) प्राप्त की, और सम्भवतः तब वहाँ से लौट कर वह राजधानी आयी। मिथिला के सिंहासन से उसने १४१६ से १४२८-२९ ई० तक (मिथिला की जनश्रुति के अनुसार) १२ वर्ष पर्यन्त शासन किया (इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, २८, ५७-५८)।

लखिमा रानी विदुषी होने के साथ ही चुभती हुई कविता करने वाली महिला-रत्न थी। उसकी प्राप्य संस्कृत कविताओं को मिथिला का विद्वत्समाज बड़े ही चाव से पढ़ता है, तथा अति आदर की दृष्टि से देखता है। मैथिल परिवारों में उक्त रानी की बुद्धिमत्ता, काव्य-पटुता एवं विनोदप्रियता की कहानियाँ जनश्रुति तथा कहावतें बनकर आज भी विद्यमान हैं (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी -१४, ३१८-१९)। मिथिला में कन्या-विक्रय की कुप्रथा उस युग में भी प्रचलित थी। कतिपय उच्च वंश के ब्राह्मण अपनी कन्याओं अथवा भगिनियों को अर्थ के लोभ में पड़कर अपने से निम्न कुल के ब्राह्मण-कुमारों के साथ उनसे रुपये लेकर विवाह करते थे। उसी प्रकार निम्न कोटि के ब्राह्मणों की कुमारियों के पिता अथवा भ्राता वा अभिभावकों से तथाकथित उच्च-कुलिक ब्राह्मण-कुलोद्भव विवाह-लोलुप पुरुष अर्थ प्राप्त कर उनकी कुल-कन्याओं के साथ वैवाहिक सम्बन्ध किया करते थे। इस प्रकार के पुरुष बहुविवाह कर समाज को दूषित करते थे। ऐसे परिवार को बिकऊआ कहा जाता था। अब यह प्रथा मिथिला से प्रायः तिरोहित एवं विलीन हो चुकी है। ऐसी प्रथा के विरुद्ध लखिमा रानी की अनेक चुभती व्यंग्यात्मक संस्कृत कविताएँ आज भी प्राप्य हैं, जिससे उसकी प्रगतिशील सुधारवादी मनोवृत्ति का पता चलता है (महामहोपाध्याय उमेश मिश्र : विद्यापति ठाकुर, २३-२५)। लखिमा रानी की संस्कृत कविताओं में से कतिपय संगृहीत इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, १५, १९ में देखी जा सकती हैं।

लखिमा रानी के अन्य सामाजिक अथवा राजनीतिक कृत्यों का पता इतिहास हमें नहीं देता है। वह स्वयं विदुषी थी, तथा विद्वानों का आदर उसके दरबार में पूर्ववत् होता था। उसकी मृत्यु के शताब्दियों पश्चात् आज भी उसका नाम राजा शिवसिंह के नाम के साथ विद्यापति के अमर एवं अलौकिक पदों द्वारा मिथिला के घर-घर में स्मरण किया जाता है। अपने पति के समान ही वह विद्यापति की आश्रयदात्री तथा समादर करने वाली थी। कविवर विद्यापति ने भी अन्त तक सम्पत्ति एवं विपत्ति में बराबर एक भाव से उसका साथ दिया और अपने ललित पदों के द्वारा उसके नाम को राजा शिवसिंह देव के नाम के साथ अमर बना दिया।

पद्मसिंह (१४२९-१४३० ई०)

पद्मसिंह राजा शिवसिंह का छोटा भाई था। विद्यापति ने अपने ग्रन्थ 'शैव-सर्वस्व-सार' के उपोद्घात के श्लोकांक ६-८ में स्पष्ट शब्दों में अंकित किया है कि वह शिवसिंह का अनुज था। विद्वान् लेखक आर० एल० मित्र की यह मान्यता कि वह शिवसिंह का पुत्र था, मान्य नहीं है (नोटिसेज ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, आर० एल० मित्र सम्पादित, ४, नं० १९८३)। लखिमा रानी के स्वर्ग-गमन-पश्चात् शिवसिंह का अनुज पद्मसिंह, लखिमा रानी का देवर, गद्दी पर बैठा। उसका सिंहासनारोहणाब्द १४२९-३० ई० माना जाता है। सम्भवतः राजा पद्मसिंह ने अपनी राजधानी का स्थानान्तरण गजरथपुर से पदुमा

में किया, जिसका संकेत पूर्व में किया जा चुका है। उसका शासनकाल अचिर स्थायी रहा। उसका देहावसान १४३०-३१ ई० में हुआ।

शिवसिंह के समर-पराभव के पश्चात् मिथिला-राज्य शासन करने की सनद शिवसिंह के उत्तराधिकारियों को मिली तो सही, पर बार-बार विद्रोह करने के कारण मुसलमान शासकों का रुख मिथिलेश्वर के प्रति अच्छा न था। लखिमा रानी के शासनकाल से ही शासन-सूत्र का संचालन मुसलमान अधिराट् अथवा उसके प्रतिनिधि के निर्देश अथवा इच्छानुसार करना पड़ता था। कोई प्रसिद्ध कृत्य राजा पद्मसिंह के शासनकाल में नहीं हुआ। विद्यापति की कविताओं में भी उसके द्वारा किये गये किसी कार्य-विशेष की चर्चा नहीं पायी जाती है। हाँ, कवि ने प्रशस्तिवाचक शब्दों में उसे शौर्य-पराक्रम में भीम तथा दानियों में कल्पवृक्ष एवं कर्ण बताया है, यथा– संग्रामांगन सीम भीम सदृश .... दाने स्वल्पित कल्प वृक्ष ..... (शैव सर्वस्व-सार, भूमिका के श्लोकां ६-८)। उसके चरित्र को आदर्श एवं उसे कला, संस्कृति एवं विद्या का पोषक विद्यापति ने कहा है। परन्तु उसके कार्य-कलाप का पता इतिहास नहीं देता है। विद्यापति ने अपने एक पद में उसकी चर्चा की है– 'नृपति पदुम सिंह जाने' (मित्र-मजुमदार : विद्यापति, नं० २६८; एस० एन० ठाकुर, नं० २५)।

पद्मसिंह को कोई सन्तान न थी। अतः उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी रानी विश्वास देवी मिथिला के सिंहासन पर बैठी। उसके गद्दी पर बैठने के विषय में विद्वानों में मतभेद नहीं है। वह ओइनवार-कुल की दूसरी रानी थी, जिसने गद्दी पर बैठकर तिरहुत का शासन किया।

विश्वास देवी (१४३० से १४४२ ई०)

पद्मसिंह के पश्चात् उसकी पटरानी विश्वास देवी राज-सिंहासन पर आसीन हुई (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, १८, ५७-५८; एगलिंग, इण्डिया ऑफिस कैटलॉग, ४, नं० २५६४; महामहोपाध्याय पं० उमेश मिश्र, विद्यापति ठाकुर, २९)। कहा जाता है कि लखिमा रानी की भाँति उसने भी १२ वर्षों तक राज्य किया, जिसकी सम्पुष्टि नरसिंह देव के शकाब्द १३७५ (१४५३ ई०) के कन्दहा-उत्कीर्ण अभिलेख से भी होती है। नरसिंह देव ने विश्वास देवी के उत्तराधिकारी हरिसिंह देव के पश्चात् राज किया था।

उसने अपने नाम पर विसौली नगर की स्थापना कर वहाँ की राजधानी का स्थानान्तरण किया (महामहोपाध्याय पं० उमेश मिश्र : विद्यापति ठाकुर, २९; इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, १८, ५७-५८)। विद्यापति ने अपने ग्रन्थ 'शैव-सर्वस्व-सार' में विश्वास देवी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उसके शासनकाल में कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ। वह विद्याप्रेमी तथा विद्वानों को आश्रय देने वाली महिला शासिका थी। पद्मसिंह देव की वह प्रेयसी रानी थी। उसके आश्रय में रहकर कवि-कोकिल विद्यापति ने 'शैव-सर्वस्व-सार' का लेखन समाप्त किया तथा 'शैवसर्वस्वसारा प्रमाणभूत पुराणसंग्रह' एवं 'गंगाव्याक्यावली' नामक ग्रन्थों का भी प्रणयन किया था। इन पुस्तकों में विश्वास देवी की प्रशस्तियाँ एवं श्लाघन भरा है। पर वह लखिमा रानी के समान विदुषी नहीं थी। संस्कृत विद्या की संवर्द्धिका एवं पोषिका वह आरम्भ से ही थी, इसमें सन्देह नहीं है। विश्वास देवी के कोई सन्तान

न थी । अतः उसके पति पद्मसिंह के पिता देवसिंह का अनुज हरसिंह देव वृद्धावस्था में राज्य का उत्तराधिकारी हुआ ।

हरसिंह देव (१४४३ से १४४४ ई०)

विश्वास देवी के पश्चात् राजा भवसिंह का कनिष्ठ पुत्र एवं शिवसिंह तथा पद्मसिंह का पितृव्य हरसिंह देव मिथिला के सिंहासन का उत्तराधिकारी बन कर गद्दी पर बैठा । वह वृद्ध था । अतः अति अल्प काल तक उसको शासन करने का अवसर प्राप्त हुआ । उसके शासनकाल में कोई उल्लेखनीय कार्य हुआ, इसका पता उस काल का साहित्य अथवा इतिहास नहीं देता है । केवल उस भूपति के नाम का उल्लेख तत्कालीन मिथिला के मनीषियों के ग्रन्थों में मिलता है । विद्यापति ने 'विभाग सार' में, वाचस्पति मिश्र (द्वितीय) ने 'कृत्यमहार्णव' तथा 'महादाननिर्णय' में, मिसरु मिश्र ने 'विवादचन्द्र' में तथा वर्द्धमान ने 'गंगाकृत्यविवेक' में उस नृपति की चर्चा की है । परन्तु उपर्युक्त पुस्तकों में उसके द्वारा किसी कार्य का विवरण अथवा वर्णन नहीं है ।

राजा हरसिंह देव के पुत्र नरसिंह देव के भागलपुर जिले के कंदहा-उत्कीर्ण अभिलेख में उसको (हरसिंह देव को) 'वीर' तथा 'सकल कृत्य-विचार-धीर' कहा गया है, यथा– "पृथ्वीपति-द्विजवरो भव (सिंह आ) सीदाशीविषेन्द्रवपुरुज्ज्वल कीर्त्तिराशिः । तस्यात्मजः सकल-कृत्य-विचार-धीरो वीरो (व) भूव श्री (-ह-) र सिंह देव (:।।)" । डॉ० सुभद्र झा कन्हा-अभिलेख का काल शकाब्द १३७५ अथवा १४५३ ई० मानते हैं, पर के० पी० जायसवाल के अनुसार वह १३५७ शकाब्द का कृत्य है । श्री झा की मान्यता की पुष्टि विद्यापति के पदांक ४४-४५ में होती है ।

कतिपय विद्वान् ओइनवारवंशीय हरसिंह देव को कर्णाटकुलीय हरिसिंह देव मान लेते हैं । पर यह मिथ्या भ्रम है । कर्णाट कुलिक हरिसिंह देव सूर्यवंशीय क्षत्रिय था, और ब्राह्मण (श्रोत्रिय) हरसिंह देव से लगभग एक शती पूर्व उसका शासनकाल इतिहास बताता है । अतः दोनों को एक मान लेना सर्वथा भ्रामक होगा (श्री आर० एल० मित्र : नोटिसेज ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, १, १४; जरनल ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, २० में कन्दहा-उत्कीर्ण-अभिलेख, पृ० १७, पंक्तियाँ, १-२) ।

कुछ विद्वानों की राय में शिवसिंह के निधन के तुरन्त बाद हरसिंह देव गद्दी पर बैठा । महामहोपाध्याय पं० परमेश्वर झा ने ग्रियर्सन साहब द्वारा सम्पादित 'पुरुष-परीक्षा' (पृ० १७०-७१) की 'गीत-विद्या-कथा' में वर्णित हरसिंह देव को पद्मसिंह का पितृव्य हरसिंह देव मान लिया है । पर महामहोपाध्याय की यह मान्यता नहीं हो सकती है; क्योंकि 'पुरुष-परीक्षा' का प्रणयन कवि ने राजा शिवसिंह देव के जीवन-काल में किया था । अतः उसके पीछे की घटना का उस ग्रन्थ में समावेश सम्भव नहीं हो सकता है (जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी, ४०, १२०-२१) । इसके अतिरिक्त गोरक्षपुर (गोरखपुर) का नरेन्द्र उदय सिंह, जिसका सम्बन्ध उक्त कथा से है, हरसिंह देव का कदापि समकालीन नहीं था । इन कारणों से यह हरसिंह देव शिवसिंह देव का उत्तराधिकारी नहीं था । शिवसिंह के पश्चात् लखिमा रानी मिथिला की गद्दी पर बैठी थी, जिसका उल्लेख पूर्व के पृष्ठों में किया जा चुका है ।

नरसिंह देव (१४४४ से १४६०-६२ ई०)

हरसिंह देव की मृत्यु के बाद उसका पुत्र नरसिंह देव १४४४ ई० में पैतृक सिंहासन पर आसीन हुआ। उसका विरुद 'दर्पनारायण' था। कुछ लोगों ने इस नरसिंह देव को भी कर्णाट-वंशीय नरसिंह देव मान लिया था। पर यह उनकी भ्रान्ति थी। कन्दहा के उत्कीर्ण-अभिलेख की प्राप्ति ने इस प्रश्न का स्पष्टतया हल कर दिया है।

हरसिंह की भाँति ही नरसिंह देव की भूरि-भूरि प्रशंसा उसके समकालीन लेखकों ने अपने ग्रन्थों में की है। विद्यापति की 'दानवाक्यावली' एवं 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी', मिसरू मिश्र के 'विवादचन्द्र', रुचिपति की 'अनर्घ-राघवटीका', वाचस्पति मिश्र के 'कृत्य-महार्णव' तथा 'व्यवहारचिन्तामणि' एवं वर्द्धमान के 'गंगा-कृत्य-विवेक' आदि ग्रन्थ उसके प्रशस्तिवाचक श्लाघन तथा गुणकीर्त्तन से परिपूर्ण हैं।

नरसिंह देव द्वारा किया गया किसी उल्लेखनीय कार्य का पता तत्कालीन साहित्य अथवा इतिहास नहीं देता है। पर कन्दहा-उत्कीर्ण अभिलेख में, जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है, उसको महादानी एवं धीर वीर बताया गया है, यथा– "पाद-पल्लव-नख-श्रेणी-मयूखावलिः। दाता तत्तनयो मयोक्तविधिना भूमण्डलं पालयद् धीरः श्रीनरसिंहभूप-तिलकः कान्तोधुना राजते" (जरनल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, २०, १७, पंक्ति-३-४)। अभिलेख के सभी प्रशंसात्मक उल्लेख प्रशस्ति-वाचक प्रतीत होते हैं; क्योंकि उनका आधार ढूँढने पर कहीं प्राप्त नहीं होता है। उसके शासनकाल में किसी प्रकार की विशेष राजनीतिक घटना की चर्चा कहीं से प्राप्त न हो सकी है।

नरसिंह देव को 'भूपतिलक', 'वीर', 'कामन्दक की माया के राजनीतिक विचारों का अनुगामी' आदि कहा गया है, पर इन सभी प्रशस्तियों के रहते हुए भी उसके प्रगतिशील विचार का सुधारवादी एवं प्रजाहितैषी कोई कार्य दृष्टिगत नहीं होता है। हाँ, विद्यापति ने राजाज्ञा से न्यायिक कार्यवाही सम्बन्धी पुस्तक 'विभाग-सार' लिखी थी, जिसके अनुसार ही उसके शासन-कार्य चलते थे। वह पुस्तिका उसके शासन की पथ-प्रदर्शिका संहिता थी।

विद्यापति ने अपने ग्रन्थ 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' में उसको महान् योद्धा, महादानी एवं महामनीषी बताया है। राजा के आश्रय में विद्वान् सुधाकर ने ज्योतिष का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रत्नावली' तथा व्याकरण एवं तर्कशास्त्र पर पुस्तकें लिखी थीं।

राजा नरसिंह देव की दो रानियों के नामों का पता चलता है। उनमें एक का नाम था हीरा तथा दूसरी का धीरमति। रानी धीरमति अपने समय की अति समादृत एवं प्रसिद्ध महिला थी। उसकी आज्ञा पाकर विद्यापति ने 'दानवाक्यावली' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था। हीरा रानी चन्द्रसिंह की माता थी। विद्वान् लेखक मिसरू मिश्र ने 'विवादचन्द्र' में उसका उल्लेख किया है।

नरसिंह देव की मृत्यु सम्भवतः १४६० और १४६२ ई० के बीच किसी समय हुई। इस विषय में इतिहास के अनेक विद्वानों के भिन्न विचार हैं। मित्र-मजुमदार के मतानुसार उसने १४४० से १४५३ ई० तक राज किया था। उसका युवराज धीरसिंह अपने पिता के शासन-कार्य में उसके जीवन काल से ही हाथ बँटाता था। कन्दहा (जिला भागलपुर) में

भवादित्य का प्रसिद्ध प्राचीन मन्दिर है । उसके द्वार के प्रस्तर-निर्मित चौखट के दो प्रस्तर खंडों पर उसका अभिलेख उत्कीर्ण है । इससे पता चलता है कि उक्त मन्दिर का निर्माता सम्भवतः नरसिंह देव ही था । उक्त अभिलेख के उत्कीर्ण कराने के कई वर्षों के पश्चात् उसका देहावसान हुआ था । उस अभिलेख का उत्कीर्ण-काल शकाब्द १३७५ (१४५३ ई०) था । इस विषय का उल्लेख पूर्व के पृष्ठों में किया जा चुका है ।

धीरसिंह (१४६०-६२ से)

राजा नरसिंह देव के ४ पुत्र थे-(१) धीरसिंह, (२) भैरवसिंह, (३) चन्द्रसिंह तथा (४) दुर्लभसिंह । पिता की मृत्यु के पश्चात् ज्येष्ठ राजकुमार धीरसिंह सिंहासन पर बैठा । उसका विरुद 'हृदयनारायण' था (जरनल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, २०, १८, २; जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, ११, ४२६; इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, १८८५, पृ० १९६, १८९९, पृ० ५८; जरनल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, १०, ४७) ।

विद्यापति ने 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' में जहाँ धीरसिंह के पिता नरसिंह देव की प्रशंसा की है, वहाँ धीरसिंह तथा उसके अनुज भैरवसिंह की विरुदावली बखान करने में भी वे चूके नहीं हैं । धीरसिंह तथा भैरव सिंह रानी धीरमति के गर्भजात तनयद्वय थे । हीरा रानी के गर्भ से चन्द्रसिंह तथा दुर्लभसिंह का जन्म हुआ था । अतः ये दोनों धीरसिंह के वैमात्र भ्राता थे । विद्यापति के उक्त ग्रन्थ में चन्द्रसिंह की श्लाघा भी सन्निहित है । भैरवसिंह का विरुद 'रूपनारायण' था । यह विरुद राजा शिवसिंह देव का भी था । धीरसिंह के एक पुत्र का नाम राजकुमार गदाधर था (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९९५, न्यू सीरीज, पृ० ४२४) । विद्यापति की 'पदावली' में राघवसिंह तथा उसकी दो रानियों के नाम आये हैं । उन दोनों के नाम थे- (१) मोदवती, तथा (२) सोनमती । 'तन्त्र-प्रदीप' में राघवेन्द्र का नाम आया है । सम्भवतः राघवसिंह और राघवेन्द्र एक ही व्यक्ति के दो नाम थे (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९१५, पृ० ४२५) । डा० उपेन्द्र ठाकुर ने अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑफ मिथिला' के पृष्ठ ३२८ में धीरसिंह के पुत्र का नाम गदाधर लिखा है, और उसी पुस्तक के पृ० ३३१ में राघवेन्द्र अथवा राघवसिंह देव को भी धीरसिंह का पुत्र बताया है । उसके विषय में इतिहासवेत्ता उक्त विद्वान् ने अंकित किया है कि राघवेन्द्र को पैतृक सिंहासन पिता की मृत्यु के पश्चात प्राप्त नहीं हो सका था ।

धीरसिंह के शासनकाल में 'सेतुबन्ध' के श्रीनिवास कृत भाष्य 'सेतुदर्पणी' नामक ग्रन्थ की प्रतिलिपि उतारी गयी थी । पुस्तक के अन्त में कार्त्तिक, शुक्ल, शनिवार, लक्ष्मणाब्द ३२१ अंकित है । महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने उक्त हस्तलिखित ग्रन्थ की उस प्रति का पता लगाया था (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, ११, ४२६) । के० पी० जायसवाल ने भी उसी ग्रन्थ की दूसरी हस्तलिखित प्रति के विषय में जरनल ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी (१०-४७) में एक लेख का प्रकाशन करवाया था । श्री मनमोहन चक्रवर्त्ती ल० स० ३२१ को १४३८ ई० मानते हैं (जरनल ऑफ एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९१५, न्यू सीरीज, पृ० ४२६)। परन्तु हिसाब जोड़कर देखने से वह (१११९ + ३२१ = १४४०) १४४० ई० होता है । कुछ विद्वान् ल० स० को

ख्रिष्टाब्द में परिवर्तित करने में पूर्ववर्त्ती प्रचलित पद्धति द्वारा प्राप्त ईसवी के ग्यारह वर्षों का अन्तर बताते हैं। इस नयी पद्धति के अनुकूल हिसाब लगाने पर १४४० ई० के बजाय १४२९ ई० होता है (डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३२९; जरनल ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी २०, १८-१९)। महाभारत के 'कर्ण पर्व' की एक प्रतिलिपि भी, जिसके विषय में कहा जाता है कि वह धीरसिंह के शासनकाल में उतारी गयी थी, प्राप्य है। उस हस्तलिखित ग्रन्थ, के अन्त में लक्ष्मणाब्द ३२७ अर्थात् १४४६ ई० अंकित मिलता है (जरनल ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, १०, ४७)। किन्तु उपर्युक्त दोनों ही हस्तलिखित ग्रंथों में अंकित काल शंका से शून्य एवं सन्तोषदायक नहीं दीखता है। धीरसिंह के पिता, पितामह आदि का शासनकाल इसके पूर्व अंकित किया जा चुका है। उससे मिलान करने पर यह सिद्ध होता है कि १४४० अथवा १४४६ ई० में धीरसिंह मिथिला के सिहासन पर आसीन नहीं था। उसका १४६० ई० के पूर्व गद्दी पर बैठना संभव प्रतीत नहीं होता है। यह हो सकता है कि धीरसिंह की आज्ञा से उसके पिता नरसिंह देव के शासनकाल में उन ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ उतारी गयी हो। धीरसिंह युवराज था ही। अतः वह राजा का उत्तराधिकारी था। युवराज प्रायः उन दिनों पिता के शासनकार्य में हाथ-बँटाया करता था, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। राजा के युवराज की आज्ञा से प्रतिलिपि उतारने के कारण लेखक ने ग्रन्थ में युवराज का नाम अंकित किया हो, यह सम्भव हो सकता है। धीरसिंह ने कब तक राज किया, इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं है।

विद्यापति ने 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' में उसको अजेय, जग-विजेता, अप्रतिम योद्धा, विश्वविख्यात, अनेक शत्रुओं का जेता, अद्वितीय दानी आदि प्रशस्तिवाचक विरुदों से विभूषित किया है। उसको कवि ने प्रज्ञा, पराक्रम एवं मर्यादा का उद्भव-निर्झर बताया है। परन्तु कवि का उसको विश्वविजयी तथा अनेक शत्रुओं का विजेता बताना यथार्थ नहीं जँचता है। उसकी राजनीतिक स्थिति ऐसी थी कि वह अपने अधिराट् सुलतान की इच्छा के विरुद्ध एक पग भी किसी दशा में उठा नहीं सकता था। इसमें सन्देह नहीं कि अपने पूर्वजों की भाँति वह भी दानी एवं विद्या-कला का पोषक तथा विद्वानों और कवियों का आश्रयदाता था।

धीरसिंह की राजसभा अनेक लब्धप्रतिष्ठ पंडितों, कवियों एवं लेखकों से सुशोभित थी। विद्यापति, रत्नेश्वर (महामहोपाध्याय सुधाकर के सुपुत्र), महामहोपाध्याय रुचि मिश्र, मधुसूदन मिश्र, 'मुद्राराक्षस-नाटक-टीका' के रचयिता महामहोपाध्याय वटेश्वर, द्वैतनिर्णय के प्रसिद्ध प्रणेता पं० वाचस्पति मिश्र, महामहोपाध्याय नरहरि झा, मुख्य न्यायाधीश धर्माधिकारणिक जगद्धर आदि मनीषि-प्रवर अपनी ज्ञान-प्रभा से उसके राजप्रासाद को द्योतित कर रहे थे। इन विद्वानों ने अपनी अमर कृतियों से संस्कृत साहित्य के भण्डार को अनेकानेक साहित्यिक एवं धार्मिक ग्रंथ-रत्नों की रचना कर भर दिया था।

भैरवसिंह

ऊपर लिखा जा चुका है कि भैरवसिंह राजा नरसिंह देव का पुत्र था तथा धीरसिंह का अनुज। राजा धीरसिंह के दो पुत्र थे। उनके नाम थे– राजकुमार राघवेन्द्र अथवा राघवसिंह देव तथा गदाधर। पर औरस पुत्रों के रहते भी राज्य का उत्तराधिकारी हुआ

धीरसिंह का अनुज भैरव सिंह । उसका विरुद था 'रूपनारायण' । उसने पीछे 'हरिनारायण' विरुद भी धारण किया । इससे अनुमान किया जाता है कि प्रथम विरुद उस काल का था जब वह अपने ज्येष्ठ भ्राता धीरसिंह के राजकाज में कनिष्ठ भ्राता के अधिकार से हाथ बँटाता था । वह धीरसिंह का सहोदर भाई तथा प्रियपात्र था । दूसरा विरुद उसने भ्रातृ-पुत्र को सिंहासनाधिकार से वंचित कर मिथिला की गद्दी पर बैठने के पश्चात् धारण किया, ऐसा प्रतीत होता है (इण्डिया गवर्मेण्ट मैनुस्क्रिप्ट अंक ४७६०, उपोद्घात श्लोक, ५ तथा समाप्ति श्लोकांक-२) । उसके नाम का उल्लेख उसके समकालीन अनेक विद्वान् लेखकों के ग्रन्थों में किया गया है । पं० वाचस्पति मिश्र के 'द्वैत-निर्णय' तथा 'कृत्य-महार्णव', वर्द्धमान के 'दण्डविवेक' तथा 'गंगा-कृत्य-विवेक', एवं रुचिपति के 'अनर्घराघवटीका' आदि ग्रन्थों में उसकी चर्चा, उसके नाम अथवा विरुद का उल्लेख किया गया है । सम्भवतः उसने अपनी राजधानी का स्थानान्तरण दरभंगा जिले के मधुबनी अनुमंडल स्थित बछौड़ परगने के बरुआरा ग्राम में किया था (चन्द्र झा : 'पुरुष परीक्षा', दरभंगा संस्करण, समाप्ति के लगभग; डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३३१) ।

भैरवसिंह की दो रानियों से दो पुत्र उत्पन्न हुए थे । प्रथम रानी जय देवी अथवा जयात्मा से राजाधिराज पुरुषोत्तम देव का जन्म हुआ था । उसका विरुद था' गरुड़नारायण'। दूसरी रानी से, जिसका नाम अज्ञात है, रामभद्र देव उत्पन्न हुआ । रामभद्र देव का उपनाम 'रूपनारायण' था ।

राजकुमार पुरुषोत्तम देव की जननी रानी जय देवी के आदेश से वाचस्पति मिश्र ने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'द्वैत निर्णय' की रचना की थी, जिसमें स्मृतियों के शंकाजनक विन्दुओं पर प्रकाश डाला गया (आर० एल० मित्र : नोटिसेज ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, १, नं० २७५, उपोद्घात श्लोकांक, ५-७) । कविश्रेष्ठ विद्यापति ने 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' में अंकित किया है कि धीरसिंह के शासनकाल में भैरवसिंह ने अपने शौर्य एवं अलौकिक पराक्रम से पंचगौड़ के अधीश्वर को समर-नत किया था, यथा-'शौर्यवर्जितपंचगौड़धरणीनाथोपनम्रीकृताऽनेकोत्तुङ्गतरंगसङ्गतसितच्छत्राभिरामोदयः । श्रीमद्भैरवसिंहदेवनृपतिर्यस्थानुजन्मा जयत्याचन्द्रार्कम- खण्डकीर्त्तिसहितः श्री रूपनारायणः' (इण्डिया गवर्मेण्ट का मैनुस्क्रिप्ट नं० ४७६०, विषय-प्रवेश, श्लोक-५, एवं समाप्ति-छन्द-२) । उसने पंचगौड़ के अधीश्वर के 'प्रतिशरीरम्' (प्रति- निधि) केदार राय को अपने प्रभाव में आने के हेतु बाध्य किया था ('दण्ड-विवेक' का विषय-प्रवेश, श्लोकांक-४; इण्डिया गवर्मेण्ट का मैनुस्क्रिप्ट्स, नं० ४७६०) । उक्त ग्रन्थ 'दण्डविवेक' में केदार राय के विषय में नीचे लिखा वर्णन आया है, यथा- 'गौरेश्वरप्रति- शरीरमतिप्रतापः केदाररायमवगच्छति दारतुल्यं' । इस घटना का उल्लेख अन्यत्र नहीं पाया जाता है । पर विचार करने पर इस उल्लेख में तथ्य की झलक भी मिलती हैं । वाचस्पति मिश्र के 'षोडश महादान निर्णय' नामक ग्रन्थ का अवलोकन करने पर पता चलता है कि उस काल में दिल्ली की मुसलमानी राज्य-सरकार की अवस्था दयनीय हो चली थी । सिंहासन पर अधिकार करने के हेतु आन्तरिक गृहकलह एवं षड्यन्त्र जोरों से चल रहा था । प्रान्तीय शासकगण शनैः-शनैः अपने को स्वतन्त्र घोषित करते जा रहे थे । केन्द्र में साम्राज्य के इस प्रकार विकेन्द्रित होने से रक्षा करने की शक्ति शेष नहीं रह गयी थी । इस प्रकार की अराजकता से लाभ उठाकर, बहुत सम्भव है, धीरसिंह ने अपने को कुछ काल के लिए ही सही, दिल्ली से स्वतन्त्र कर लिया हो, तथा पड़ोस के

मुसलमानी राज्य बंगाल पर अपने अनुज भैरवसिंह के नेतृत्व में सेना भेजकर आक्रमण किया हो, तथा उसे जीता भी हो। परन्तु इस प्रकार की विजय का चिरस्थायी होना कदापि संभव न था।

जनश्रुतियाँ बताती हैं कि भैरवसिंह ने अनेक नगरों (पट्टनों) का निर्माण किया तथा शतशः सरोवर प्रजाहित के विचार से अपने राज्य में खुदवाये। उसने 'तुला पुरुषदान' यज्ञ भी सम्पन्न किया था (महादान-निर्णय, विषय-प्रवेश, पद्यांक ७; नेपाल नोटिसेज, पृ० ११२, ल० स० ३९२ अथवा १५११ ई० में संकलित)। कहा जाता है कि दूर-दूर के नृपतिगण भी भैरवसिंह को अति आदर की दृष्टि से देखते थे। संस्कृत विद्या के विकास हेतु उसका शासनकाल मिथिला का विशेषकर स्वर्ण-युग माना जाता है। अनेक दार्शनिक, सामाजिक एवं प्रशासनिक ग्रन्थों की रचना उसके समय में हुई। उसके ही प्राश्रय में रुचिपति ने 'अनर्घराघवटीका' का लेखन पूरा किया था। विदूच्चूड़ामणि अभिनव वाचस्पति मिश्र ने 'व्यवहार चिन्तामणि' एवं 'विवाद चिन्तामणि', 'कृत्य महार्णव', 'महादान निर्णय', 'द्वैत निर्णय', 'कृत्यचिन्तामणि', 'द्वैत चिन्तामणि' तथा इनके अतिरिक्त अनेक ग्रन्थों का प्रणयन उसके काल में समाप्त किया। परम प्रसिद्ध पंडित पक्षधर मिश्र ने 'नव्यन्यायालोक', 'तिथि चन्द्रिका' आदि ग्रन्थ लिखे, वर्द्धमान उपाध्याय ने 'दण्ड विवेक' की रचना की तथा विद्यापति ने 'दुर्गा-भक्ति-तरंगिणी' की। उपर्युक्त विद्वानों के उद्धर्वांकित ग्रन्थों में से अनेक की रचना पूर्व में आरम्भ हो चुकी थी, पर भैरवसिंह के आश्रय में रहकर उन सबों ने अपने-अपने ग्रन्थों को पूरा किया।

वाचस्पति मिश्र राजा भैरवसिंह के पारिषद अथवा शासकीय पदाधिकारी, एवं वर्द्धमान धर्माधिकारिक अथवा न्यायाधीश थे। 'शूद्राचार-चिन्तामणि' तथा 'दंडविवेक' नामक ग्रन्थों के अन्त में दिये गये परिचय-लेखों से इसका पता चलता है।

भैरवसिंह के एक भाई का नाम चन्द्रसिंह था। सम्भवतः वह उसका वैमात्र भ्राता था। कुमार गदाधर राजा नरसिंह देव (दर्पनारायण) का पौत्र तथा धीरसिंह का पुत्र था। उसने 'तन्त्र-प्रदीप' में अपने पितामह दर्पनारायण (नरसिंह देव) के पुत्रों के नाम अंकित किये हैं। वे नाम हैं- (१) धीरसिंह, तथा (२) भैरवसिंह। यदि चन्द्रसिंह धीरसिंह का सहोदर भ्राता होता तो गदाधर उसके नाम का अपने ग्रन्थ में अंकन छोड़ता नहीं। चन्द्रसिंह की स्त्री का नाम लखिमा अथवा लक्षिमा देवी था। इस विदुषी महिला का आदेश एवं प्रश्रय पाकर मिसरू मिश्र ने 'विवादचन्द्र' (संस्कृत कलेक्शन मैनुस्क्रिप्ट्स, ११, ११०७, विषय-प्रवेश, पद्यांक-४-५) तथा 'पदार्थ चन्द्र' नामक ग्रन्थों का निर्माण किया था (आर० एल० मिश्र : नोटिसेज, ९, पृ० १२, नं० २९०)।

भैरवसिंह राजनीति-पटु नरेश बताया जाता है। अनुश्रुतियाँ बताती है कि लंका के भूपति के साथ उसका मैत्री-सम्बन्ध था, तथा दोनों देशों के बीच दूतों का आदान-प्रदान होता था (महामहोपाध्याय पं० परमेश्वर झा : मिथिला-तत्त्व-विमर्श, १९१)। परन्तु इस कथन का पृष्ठपोषण अन्य प्रमाणों के द्वारा अब तक नहीं हो सका है।

भैरवसिंह ने कब से कब तक राज्य किया, इसका प्रामाणिक पता नहीं है। पर इसमें सन्देह नहीं है कि उसने कई वर्षों तक शासन किया था। डॉ० उपेन्द्र ठाकुर ने अपनी हिस्ट्री ऑफ मिथिला के पृ० ३३४ में लिखा है कि उसने ३५ वर्षों तक शासन किया,

और १५१५ ई० में शरीर छोड़ा । पर विद्वान् इतिहास-लेखक की यह मान्यता पाठकों के मस्तिष्क में शंका उत्पन्न करती है । भैरवसिंह के पश्चात् उसका पुत्र रामभद्र सिंह गद्दी पर बैठा, और उसके बाद उसका पुत्र लक्ष्मीनाथ देव । दरभंगा जिले के मधुबनी अंवर प्रमण्डल के भागीरथपुर ग्राम से प्राप्त शिलालेख ने सिद्ध कर दिया है कि लक्ष्मणाब्द ३९४ (१५१३ ई०) में भैरवसिंह का पौत्र लक्ष्मीनाथ देव राज करता था (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३३५ तथा ३३७) । 'देवीमाहात्म्य' की मैथिली पांडुलिपि को प्रतिलिपि लक्ष्मीनाथ देव के शासनकाल में लक्ष्मण सम्वत् ३९२, पौष, वदी ३, तदनुसार दिसम्बर, १५११ ई० में की गयी (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३३७)। उपर्युक्त प्रमाणों से पता चलता है कि १५१०-११ ई० में लक्ष्मीनाथ देव शासन करता था, भैरवसिंह नहीं । राजकुमार गदाधर धीरसिंह का पुत्र था । उसने 'तन्त्रप्रदीप' रामभद्रसिंह के शासनकाल में लिखा था । अत: वह उसका समकालीन चचेरा भाई था (आर० एल० मित्र : नोटिसेज ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, ६, पृ० २२३, नं० २१७, विषय-प्रवेश, श्लोक संख्या-२-४) । भोजदेव के 'विविधविद्याविचार चतुर' की पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि लक्ष्मण सम्वत् ३७२, श्रावण, वदी, शुक्रवार को, तथा 'कृत्यकल्पतरु' के 'दानकाण्ड' की कार्त्तिक, शुक्ल, ५ बुधवार, शकाब्द १४२६, ल० स० ३७४ के दिन राजकुमार गदाधर की आज्ञा से उतारी गयी । इससे यह प्रमाणित होता है कि गदाधर १४९१ से १४९३ ई० तक विद्यमान था (नेपाल नोटिसेज, ६५; इण्डिया गवर्नमेंट मैनुस्क्रिप्ट्स ४०२६, १३१ ए०)। ऊपर अंकित सभी पुस्तकों में रामभद्र देव का नाम है, जिससे प्रमाणित होता है कि १४९१ एवं १४९३ में तथा उसके पीछे भी रामभद्रसिंह का शासन मिथिला पर था । भैरवसिंह का शासनकाल रामभद्रसिंह के राजकाल से पहले होना स्वाभाविक है । उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करने से इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि भैरवसिंह इस संसार में लगभग १४९० ई० के कुछ पूर्व तक विद्यमान था । पर वह सिंहासन पर कब बैठा, इसका ठीक-ठीक पता इतिहास नहीं देता है ।

रामभद्रसिंह देव

भैरवसिंह देव की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र रामभद्रसिंह देव लगभग १४८८ और १४९० ई० के बीच सिंहासन पर बैठा । उसका विरुद 'रूपनारायण' था । यही विरुद उसके पिता भैरवसिंह तथा पूर्वज शिवसिंह देव का भी था । लक्ष्मणाब्द ३७६, पौष, वदी, त्रयोदशी, बुधवार (१३ जनवरी, १४९६ ई०) को 'गंगाकृत्य विवेक' की प्रतिलिपि उतारना रामभद्रसिंह के शासनकाल में पूरा हुआ था । इससे तथा उपर्युक्त वर्णन के अनुसार उसका १४९१, १४९३ तथा १४९६ ई० के पूर्व सिंहासन पर बैठना प्रमाणित होता है । रामभद्रसिंह ने अपने पूर्वज शिवसिंह देव की राजधानी शिवसिंहपुर (गजरथपुर) से लगभग २ मील पूर्व की ओर अपने नाम पर रामभद्रपुर नामक नगर बसाकर वहाँ राजधानी बनायी । यह रामभद्रपुर दरभंगा जिले के सदर अवर प्रमण्डल में लहेरियासराय के शासकीय न्यायालय से लगभग ६-७ नील दक्षिण पूर्व में है । ओइनवार कुल के राजागण प्राय: अपनी राजधानी को स्थानान्तरित करते पाये गये हैं । वे सब अपनी पहली राजधानी ओइनी को छोड़कर पूर्व एवं उत्तर की ओर बढ़ते गये । ऐसा लगता है कि मुजफ्फरपुर एवं चम्पारण जिले उनके

काल में किसी कारणवश उपेक्षित बने रहे। मिथिला की प्राचीन राजधानी सिमराओंगढ़ पर भी जो चम्पारण जिले की सीमा से संलग्न सम्प्रति नेपाल की तराई में है, सम्भवतः ओइनवार कुल के राजाओं की मुख्य शाखा का आधिपत्य स्थापित न हो सका था। कामेश्वर ठाकुर को शाह सुलतान फिरोज तुगलक ने राजा हरिसिंह देव की राजधानी सिमराओं सहित मिथिला के राज्य-शासन की सनद दी थी। ऐसी दशा में सिमराओंगढ़ तथा सिमराओं परगने पर उसके वंशजों का अधिकार क्यों नहीं रहा, इसका कारण भी कुछ अवश्य होगा। इस विषय पर विवेचना यथा स्थान आगे के पृष्ठ में की जायगी।

पटने में जब दिल्ली का तत्कालीन सुलतान सिकन्दर लोदी पधारा था तो रामभद्र सिंह देव ने वहाँ जाकर उससे भेंट की थी। दोनों के बीच पत्राचार का होना भी बताया जाता है। रामभद्रसिंह के अनुरोध पर रचित महामहोपाध्याय पं० विभाकर-प्रणीत 'द्वैतविवेक' नामक ग्रंथ के एक श्लोक से इस घटना का पृष्ठपोषण होता है। मनीषि-प्रवर महापंडित वाचस्पति मिश्र ने स्मार्त्तों को आनन्द देनेवाला अपना अन्तिम स्मृति-ग्रंथ 'पितृ-भक्ति-तरंगिणी' की रचना उसके प्रश्रय में रहकर की थी। वह अपने पिता के समान ही दानी, प्रियदर्शी, सुधी-समाज का तोषक एवं संस्कृत विद्या का पोषक था। विद्वान् वर्द्धमान ने 'गंगा कृत्यविवेक' एवं अन्यान्य पुस्तकें, तथा पं० विभाकर ने 'द्वैत विवेक' की रचना उससे प्रेरणा पा कर की थी। उसी ग्रन्थ 'द्वैत विवेक' से पता चलता है कि उसने गौड़, बंगाल वा मालदह, मुर्शिदाबाद आदि को जीता था (यथा– ''सिकन्दरपुरन्दरो गुरुदुरोदर-क्रीड़या दिनं गमयति ध्रुवं विविधनगरीविभ्रमैः'' तथा ''जागर्त्यद्‌भुतविक्रमः स जगतीकन्याकरग्राहको गौड़ोर्वीवलयेन्द्रदावदहनः श्रीरामभद्रो नृपः'' (महामहोपाध्याय पं० परमेश्वर झा : मिथिला तत्त्व विमर्श, २१४ से उद्धृत)। परन्तु इस प्रकार के सभी उल्लेख राजा की प्रशस्ति मात्र हैं।

वाचस्पति मिश्र के आदर्श विद्वान् पुत्र नरहरि मिश्र ने भी रामभद्रसिंह के शासनकाल में ही अपनी अलौकिक प्रतिभा से मिथिला को चमत्कृत किया था। भट्ट श्रीराम ने गया से प्रस्थान कर तीरभुक्ति (जनकपुर) तक की तीर्थ-यात्रा की थी। ब्राह्मण-भूप रामभद्रसिंह के सुयश की ख्याति ने उसे आकृष्ट किया था। उस पर्यटक ने राजा से साक्षात्कार कर तीर्थराज प्रयाग के लिए प्रस्थान किया। उसने इस घटना का उल्लेख 'सारस्वत व्याकरण' के भाष्य के अध्यायान्त में किया है (इण्डिया ऑफिस कैटलॉग, पृ० २१४, नं० ८०४)। राजा रामभद्रसिंह के पारिषद (शासकीय पदाधिकारी) के समाज सुधार- कार्यों के विषय में धनपति ने अपने ग्रन्थ 'श्राद्ध दर्पण' में अंकित किया था कि रुचिपति के भ्राता वाचस्पति (झा) ने समाज को दूषित करनेवाली अनेक प्रचलित कुप्रथाओं का अन्त किया। यह वाचस्पति (झा) और वाचस्पति मिश्र एक ही व्यक्ति थे अथवा दो, इसका पता नहीं है। डॉ० उपेन्द्र ठाकुर ने 'हिस्ट्री ऑफ मिथिला' के पृष्ठ ३६६ में महा- महोपाध्याय पं० परमेश्वर झा के 'मिथिला-तत्त्व-विमर्श' (पृ० २१७-१८) से जो उद्धरण उपस्थित किया है उसमें वाचस्पति के नाम के सामने कोष्ठ में 'झा' अंकित किया है, मिश्र नहीं। पर विद्वान् लेखक (धनपति) ने इसका दिग्दर्शन नहीं कराया है कि समाज में प्रचलित वे कुरीतियाँ क्या थीं जिनका अन्त वाचस्पति के द्वारा किया गया।

वाचस्पति, गदाधर, शंकर मिश्र, आन्ध्र भट्ट श्रीराम आदि के ग्रन्थों में कहीं-कहीं रामभद्रसिंह का नाम और कहीं उसके विरुद मात्र का ही उल्लेख हुआ है।

अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं कि रामभद्रसिंह देव ने १५२० से १५२७ ई० तक राज किया। विद्वान् एग्गलिंग (इण्डिया ऑफिस कैटलॉग-४, नं० २५६४) तथा ग्रियर्सन (ऐन इण्ट्रोडक्शन टू मैथिली लैंगवेज, भाग-२, पृ० ५०) ने भी इसका अनुमोदन किया है। पर समसामयिक साहित्य से उनकी इस मान्यता का समर्थन नहीं होता है। ऊपर अंकित किया जा चुका है कि रामभद्र सिंह के पुत्र लक्ष्मीनाथ सिंह के १५१३ ई० में मिथिला के सिंहासन पर आसीन रहने का पक्का प्रमाण प्राप्त हो चुका है।

लक्ष्मीनाथ देव (लगभग १५१० से १५२५ ई० तक)

ओइनवार राजकुल का १६वाँ नरेश लक्ष्मीनाथ देव उस वंश का अन्तिम भूपति था। उसका विरुद 'कंसनारायण' था। भगीरथपुर शिलालेख से पता चलता है कि वह रामभद्रसिंह देव का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था। बिहार राज्यस्थित दरभंगा जिलान्तर्गत मधुबनी अवर प्रमंडल के पंडौल बाजार से लगभग एक मील उत्तर भगीरथपुर ग्राम, पत्रालय डभैत नथवाँ, वाया पंडौल, रेलवे स्टेशन पंडौल, थाना मधुबनी, के एक खेत से १९५४ ई० में प्राप्त उत्कीर्ण अभिलेख में राजा कंसनारायण के सम्बन्ध में निम्नांकित रूप में अंकित लेख पाया गया है, यथा– ''द्विजोत्तमसुखप्रदा नृपतिकंसनारायणप्रवीरजननी मुदा मठमचीकरत् सुन्दरम्' (छन्द-१, पंक्ति ३-४)। 'सूनुर्ज्यायान् यदीयो यवनपतिभयाधायकस्तीरभुक्तौ राजा-राजाधिराजः समर-सरभसः कंसनारायणोऽसौ'' (छन्द-६, पंक्ति ३-४)।

उक्त उत्कीर्ण-अभिलेख के लेखन-काल के विषय में उसमें अंकित किया गया है, यथा–''वेद-रन्ध्र-हरनेत्रचिह्निते लक्ष्मणस्य नृपतेर्म्मतेब्दके''। इससे स्पष्ट होता है कि वह शिलालेख (हरनेत्र-३, रन्ध्र-९, तथा वेद-४) ३९४ लक्ष्मणाब्द में उत्कीर्ण किया गया। कहीं-कहीं रन्ध्र को '०' भी माना जाता है। पर यहाँ उसको ९ मानना ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है। 'पंजीप्रबन्ध' के उल्लेख से भी ३९४ लक्ष्मणाब्द का ही समर्थन होता है। लक्ष्मण सम्वत् ३९४ में हिसाब लगाने से ख्रिष्टाब्द (३९४ + १११९= १५१३) १५१३ ई० पड़ता है। अतः लक्ष्मीनाथ देव का प्रथम विश्वसनीय ज्ञात-काल उक्त उत्कीर्ण लेख के अनुसार १५१३ ई० है (जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी-४०, ३४७, तथा 'इण्डियन नेशन', पटना, डाक संस्करण, गुरुवार, २५ नवम्बर, १९५४, पृ० ६)।

लक्ष्मीनारायण देव ने 'कंसनारायण' विरुद धारण किया था (भगीरथपुर अभिलेख, छन्द-१; आर० एल० मित्र : नोटिसेज ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स ६, विषय-प्रवेश श्लोक ४; जरनल ऑफ एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, न्यू सीरीज, १९१५, पृ० ४३०)। इस विरुद का अर्थ किया जाता है– ''संग्रामे रिपुराज-कंस-दलनः प्रत्यक्षनारायणः'' अर्थात प्रबल रिपु रूप कंस के विनाश करने के हेतु प्रत्यक्ष नारायण का अवतार कृष्ण भगवान्। पर प्रचलित अनुश्रुतियों के अनुसार उसमें कृष्ण के सद्गुणों के स्थान में विशेष कर श्रीमद्भागवत के उग्रसेन पुत्र मथुरा के राजा कंस के दुर्गुण ही अधिक थे। उसमें अपने पूर्वजों के गुणों का अभाव था। वह कामी, दुर्बल-चरित्र, विषयी, आरामतलब एवं कुसंगप्रिय नरेश था। मिथिला में अनुश्रुति प्रचलित है कि उसका एक मन्त्री श्रीधर था।

कहा जाता है कि उसकी भार्या अति रूपसी थी । लक्ष्मीनाथ देव उसके बलात् अपहरण करने का इच्छुक था । पर उस कुकर्म में उसकी सफलता न मिल सकी । जनश्रुति रूप में प्रचलित मिथिला के इस कथानक में यदि तथ्य है तो निश्चय ही वह नीच प्रकृति का पुरुष था (महामहोपाध्याय पं० परमेश्वर झा : मिथिला-तत्त्व-विमर्श, पृ० २१९-२२)। जनक-याज्ञवल्क्य की पावन भूमि में इस प्रकार की अनैतिकता से विद्वेषाग्नि का प्रज्वलित होना स्वाभाविक था । प्रजावर्ग की श्रद्धा उसके प्रति रह नहीं गयी । जनपद में असंतोष फैल गया, जिसका फल उसे निकट भविष्य में भोगना पड़ा ।

'देवीमाहात्म्य' की मैथिली पांडुलिपि की एक प्रतिलिपि राजा लक्ष्मीनाथ देव के शासनकाल में उतारी गयी थी । उसका लेखन-काल उक्त पुस्तक के उल्लेखानुसार है बुधवार, पौष कृष्ण, तृतीया, लक्ष्मणाब्द ३९२, अर्थात् दिसम्बर १५११ ई० (नेपाल नोटिसेज, पृ० ६३, यथा–"ल० सं० ३९२, पौष, वदि, ३, बुधे, महाराज श्री कंसनारायण देवे प्रचारेण–श्री उदयकरेण लिखितैषा पुस्तीति", "मन्त्र प्रदीपे", आर० एल० मित्र : नोटिसेज ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, ६, ३४-३५, विषय-प्रवेश-छन्द-४ तथा पुस्तकान्त का परिचय-लेख) । इससे स्पष्ट हो जाता है कि लक्ष्मीनाथ देव १५११ ई० में मिथिला का सिंहासन प्राप्त कर चुका था ।

भगीरथपुर के प्रशस्ति-लेख के छन्द १ तथा ६ की तीसरी एवं चौथी पंक्तियों में राजा लक्ष्मीनाथ देव को महान् योद्धा, राजराजाधिराज, तथा यवन-भूपतियों के लिए आतंक अंकित कर वर्णन किया गया है । उपर्युक्त प्रशंसात्मक उल्लेखों के अतिरिक्त उसके शासन विषयक अन्य किसी घटना का पता उस अभिलेख में नहीं चलता है । सम्बद्ध उत्कीर्ण अभिलेख में अंकित प्रशस्तियों के सर्वथा विपरीत गुणों का उसमें विद्यमान रहना अनुश्रुतियाँ बताती हैं । राजा का चरित्र-हीनता रूप कालिमा ने पावन ब्राह्मण-राजवंश-विमल विधु को कलंकित कर दिया । वह घृणा का पात्र बन गया । मुसलमान आक्रामकों ने ऐसी परिस्थिति से लाभ उठाना उचित समझ कर मिथिला पर सोलहवीं शती के प्रथम चरण के अन्त में आक्रमण कर दिया । उस काल बंगाल का राजा नसरत शाह था । उसने दिल्ली के बादशाह सिकन्दर लोदी एवं बंगाल के राजा अल्लाउद्दीन हुसेन शाह के बीच ९०१ हिजरी में हुई संन्धि को तोड़कर तिरहुत पर चढ़ाई कर दी थी । इसके पूर्व सुलतान सिकन्दर लोदी ने जौनपुर जीतकर बंगाल के शासक अल्लाउद्दीन हुसेन शाह के विरुद्ध रण-यात्रा १४९९ ई० के लगभग की थी । उस काल दोनों के बीच सन्धि हुई, जिसके अनुसार सारण-सरकार, बिहार (दक्षिण बिहार), तथा तिरहुत प्रदेश दिल्ली के बादशाह को हुसेन शाह ने दिया । उसके बदले में सुलतान सिकन्दर लोदी ने उसके गृहराज्य बंगाल पर आक्रमण नहीं करने का वचन दिया (बदाउनी : मख्जन-ए-अफगानी, वॉल्यूम -१, पृ० ४१५-१७, डौर्न का अनुवाद मख्जन-ए-अफगानी, १८२९, भाग-१, पृ० ५९, भाग-२, पृ० ९६, इल्लियट : हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, ५, पृ० ९६) । नसरत शाह बंगाल के राजा अल्लाउद्दीन हुसेन शाह का उत्तराधिकारी था । उसका शासनकाल १५१८ से ३२ ई० तक माना जाता है । उसने संन्धि-भंग कर तिरहुत पर चढ़ाई कर दी, तथा वहाँ के राजा लक्ष्मीनाथ देव को मार डाला । उसके स्थान में उसने अपने बहनोई अल्लाउद्दीन को १५२६ ई० में मिथिला का शासक नियुक्त किया । इसमें सन्देह नहीं कि मिथिला में फैले राजा के प्रति असन्तोष एवं

क्षोभ ने उस काल नसरत शाह को मिथिला पर आक्रमण करने के हेतु आकृष्ट किया था। लक्ष्मीनाथ देव की मृत्यु के विषय में मिथिला में प्रचलित अधोऽङ्कित श्लोक से उसके निधन के उपर्युक्त अब्द की सम्पुष्टि होती है, जिसमें अंकित किया गया है कि उसका देहावसान १४४९ शकाब्द अर्थात् १५२६ ई० में हुआ। वह श्लोक नीचे दिया जाता है– "अंकाब्धिवेदशशि (१४४९) सम्मितशाकवर्षे, भाद्रे सिते प्रतिपदि क्षितिसूनुवारे, हाहा निपत्य इह कंसनाराणोऽसौ, तत्याज देवसरसीनिकटे शरीरम्"। अंकाब्धिवेदशशि शकाब्द (शशि= १, वेद = ४, अब्धि =४, तथा अंक = ९, १४४९) को अंक में लिखने से शक सम्वत १४४९ अर्थात् १५२६ ई० होता है।

मिथिला के पूर्वीय उत्तरीय भाग को जीत कर तथा वहाँ के शासन की व्यवस्था पूर्वोक्त रूप में करके नसरत शाह पश्चिम की ओर बढ़ा। उसने हाजीपुर तथा उसके आस-पास के अंचल पर अपना आधिपत्य स्थापित कर अपने द्वितीय बहनोई मखदूम आलम को वहाँ का शासक बनाया (आर० आर० दिवाकर : बिहार थ्रू दि एजेज १, पृ० ३९५; डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३३९)। विद्वान् इतिहास-लेखक डॉ० उपेन्द्र ठाकुर ने अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑफ मिथिला' के पृष्ठ ३३९ में उपर्युक्त अल्लाउद्दीन तथा मखदूम आलम को नसरत शाह का दामाद लिखा है, परन्तु आगे चलकर उसी पुस्तक के पृष्ठ ४१६ में उन दोनों को साला अथवा बहनोई (Brother-in-law) लिखकर पाठकों के मानस में भ्रम उत्पन्न कर दिया है। वे दोनों नसरत शाह के दामाद हों अथवा साला व बहनोई पर इसमें सन्देह नहीं कि वे दोनों उसके निकट सम्बन्धी थे। लेखक ने दोनों को नसरत शाह का बहनोई माना है, जिसका अनुमोदन अन्यान्य लब्धप्रतिष्ठ इतिहास-लेखकों के लेखों से भी होता है।

नसरत शाह के द्वितीय बहनोई मखदूम आलम, जिसे उसने हाजीपुर का शासक नियुक्त किया था, ने भी उसके पुत्र महमूद शाह के विरुद्ध १५३८ ई० में विद्रोह किया, तथा बिहार राज्यान्तर्गत शाहाबाद जिले के सहसराम निवासी महत्त्वाकांक्षी पठान सरदार शेर खाँ (शेरशाह) का साथ दिया। उक्त शेर खाँ ने अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्त्ति के हेतु सशस्त्र क्रान्ति आरम्भ कर दी थी, और अन्ततोगत्वा दिल्ली के सिंहासन को हस्तगत करने के प्रयत्न में उसे सफलता मिल भी गयी।

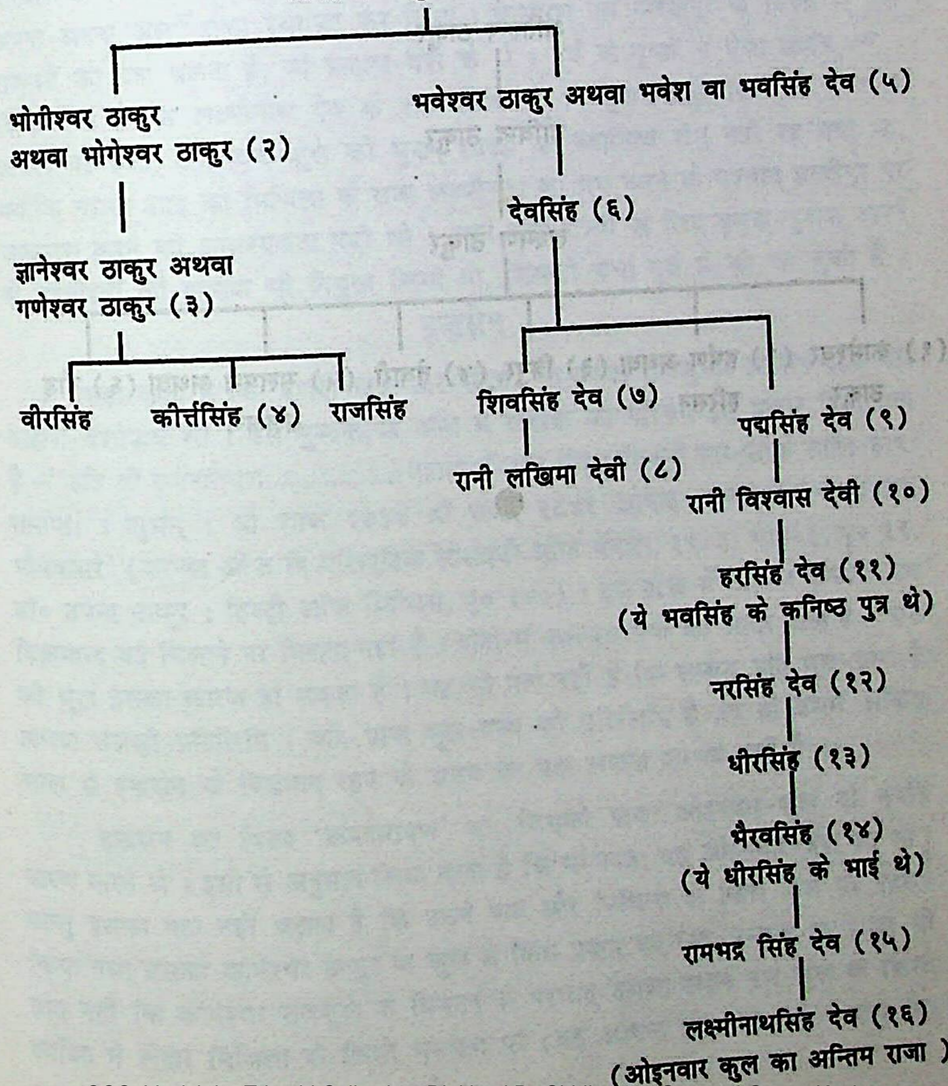
विद्वान् लेखक ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'इण्ट्रोडक्शन टू मैथिली लैंग्वेज' (भाग-२, पृ० ९६) में अंकित किया है कि लक्ष्मीनाथ देव १५४२ ई० में शासन करता था। उसी प्रकार मनीषिवर एग्गलिंग ने 'इण्डिया ऑफिस कैटलॉग, नं० २५२४' में सम्पादन करते समय लिखा है कि वह (लक्ष्मीनाथ देव) १५३२ ई० में राज करता था। पर दोनों ही विद्वानों के उपर्युक्त मत भ्रम पर आधारित है। अतः वे मान्य नहीं हो सकते हैं। नसरत शाह ने लक्ष्मीनाथ देव की हत्या की, यह लेखों से प्रमाणित है। नसरत शाह ने १५१८ से १५३२ ई० तक राज किया, यह भी निर्विवाद है। उसने एक बहनोई को तिरहुत का शासक नियुक्त किया, तथा दूसरे को हाजीपुर का, इसमें भी सन्देह नहीं है। ऐसी दशा में लक्ष्मीनाथ देव की मृत्यु अवश्य ही १५३२ ई० के पूर्व हुई मानी जानी चाहिए। 'जरनल ऑफ एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल', १९१५ (न्यू सीरीज) पृ० ४३१, तथा थोमस के 'दि क्रौनिकल्स ऑफ पठान किंग्स ऑफ देल्ही' पृ० ३९१, से उपरिलिखित मत की परिपुष्टि होती है।

नसरत शाह को तिरहुत पर आधिपत्य स्थापित कर हाजीपुर के विरुद्ध यात्रा करनी पड़ी, तथा उस अंचल को भी अधिकृत कर अपने एक बहनोई मखदूम आलम को वहाँ का शासक नियुक्त करना पड़ा था। इससे सिद्ध होता है कि वर्तमान मुजफ्फरपुर जिले के अधिकांश पर ओइनवार राजकुल की मुख्य शाखा का शासन शेष नहीं रह गया था। वहाँ का शासक कोई दूसरा था, वह भले ही ओइनवार कुलोद्भव क्यों न रहा हो।

लक्ष्मीनाथ देव के निधन से मिथिला में ओइनवार ब्राह्मण राजकुल के शासन का अन्त हो गया।

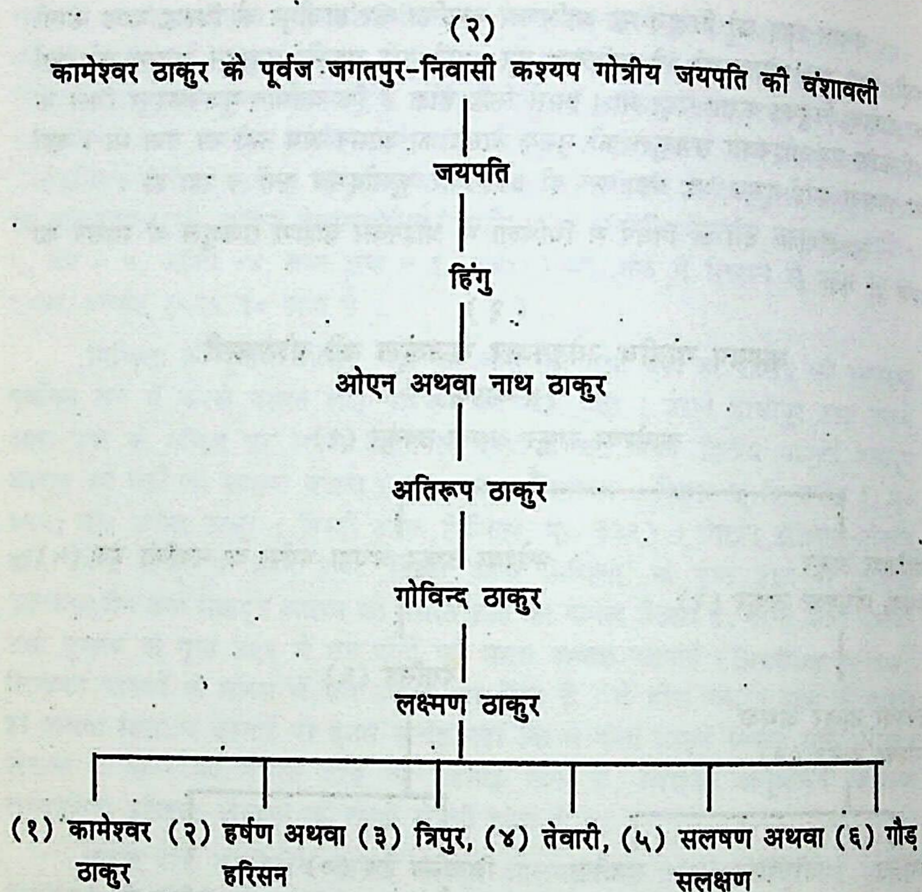
(१)

कश्यप गोत्रीय ओइनवार राजकुल की वंशावली



(२)

कामेश्वर ठाकुर के पूर्वज जगतपुर-निवासी कश्यप गोत्रीय जयपति की वंशावली



अष्टम अध्याय

मिथिला के पश्चाद्वर्त्ती अन्यान्य राज्य

सम्भवतः स्ततंत्रता के उपासक राजा शिवसिंह देव की १४१६ ई० के स्वातन्त्र्य-संग्राम में पराजय एवं निधन के पश्चात् मिथिला का शासन-यन्त्र ढीला पड़ गया। उसके परिणामस्वरूप शासन में अराजकता फैल गयी। यत्र-तत्र पराक्रमशील सरदार अथवा राज-परिवार के ही महत्त्वाकांक्षी सदस्यों ने अपने को मिथिला-राज्य के शासन से पृथक कर अपना-अपना अलग राज्य स्थापित कर लिया। चम्पारण एवं गोरखपुर के जिलों में एसे राजाओं का पता चलता है, जो ब्राह्मण-वंश के थे। पूर्व के पृष्ठों में ऐसा सन्देह व्यक्त किया गया है कि लक्ष्मीनाथ देव के शासनकाल में भी मुजफ्फरपुर जिले के हाजीपुर अंचल पर स्यात् ओइनवार-कुल की मुख्य शाखा का स्वामित्व शेष नहीं रह गया था, क्योंकि नसरत शाह को मिथिला के राजा लक्ष्मीनाथ को वध करने के पश्चात् हाजीपुर पर आक्रमण करने की आवश्यकता पड़ी थी। उसने दोनों राज्यों के लिए पृथक्-पृथक् अपने दो बहनोइयों को शासक भी नियुक्त किया था, जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है।

इन्द्रसेन

कहा जाता है कि 'शालि-होत्र-सार-संग्रह' का प्रणेता राजकुमार इन्द्रसेन ओइनवार ब्राह्मण-वंशोद्भव था। उस पुस्तक के अन्त में लेखक का परिचय इस प्रकार दिया गया है –"इति श्री रूपनारायण .... महाराजाधिराज श्रीइन्द्रसेनकृतौ सार-संग्रहे शालि-होत्रः समाप्तः। शुभम्। श्री शाके १७३४ श्री संवत् १८४१ आषाढ़ कृष्णपक्षस्य सप्तम्याम भौमवासरे"(जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९०३, भाग-१, पृ० १९, डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३४०)। इस लेख में अंकित शकाब्द एवं विक्रमाब्द को मिलाने पर मिलता नहीं है। दोनों में २७-२८ वर्षों का अन्तर होता है। पाठ की भूल इसका कारण हो सकता है। यह भी पता नहीं है कि सम्बद्ध प्रति मूल-ग्रन्थ है अथवा उसकी प्रतिलिपि। यदि प्राप्त मूल-ग्रन्थ की प्रतिलिपि है तब तो उसमें अंकित काल से इन्द्रसेन के विद्यमान रहने के समय का पता लगाना सम्भव नहीं है।

इन्द्रसेन का विरुद 'रूपनारायण' था, जिसको प्रायः ओइनवार-कुल के नृपति धारण करते थे। इसी से अनुमान किया जाता है कि सम्भवतः वह ओइनवार-वंश का था। परन्तु इसका पता नहीं चलता है कि उसने कब और मिथिला के किस अंश पर शासन किया तथा उसका कामेश्वर ठाकुर के कुल से किस प्रकार का रक्त-सम्बन्ध था। यह भी ज्ञात नहीं कि कामेश्वर राजकुल के विघटन के पश्चात् उसका स्थान उस कुल के किसी व्यक्ति ने लेकर मिथिला के किसी भू-भाग पर (वह अत्यन्त छोटा ही क्यों न रहा हो) अपना राज्य स्थापित किया अथवा नहीं।

राजा पृथ्वीनारायण सिंह देव

विक्रम संवत् १४९३ (१४३६-३७) में एक राजा पृथ्वीनारायणसिंह देव को चम्पारण में शासन करते पाया जाता है । उसके शासनकाल में 'देवीमाहात्म्य' की प्रतिलिपि चम्पकारण्य नगर में वि० सं० १४९२ (१४३५-३६ ई०) में उतारी गयी थी । प्रतिलिपि के अन्त में अंकित है, यथा–''देवीमाहात्म्यम् नागराक्षरम् संवत् १४९२ समये भाद्र सुदि महाराजपृथ्वीसिंहदेवभुज्यमानराज्ये चम्पकारण्यनगरे । शुभमस्तु'' । (शास्त्री : नेपाल दरबार कैटलॉग, पृ० ६१, नं० १५०८, श्यामनारायणसिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, ८२, मित्रमजूमदार : विद्यापति, पृ० ३८) ।

राजा शक्तिसिंह देव तथा मदनसिंह देव

राजा पृथ्वीनारायणसिंह देव का उत्तराधिकारी राजा शक्तिसिंह देव हुआ । उसके पश्चात् उसका पुत्र मदनसिंह देव चम्पारण्य के सिंहासन पर बैठा । उसकाल गोरक्षपुर (गोरखपुर) भी उसके राज्य के अन्तर्गत था । उसके शासनकाल में दो पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ उतारी गयी थीं । एक १४५३-५४ में तथा दूसरी १४५७ ई० में । उक्त दोनों पुस्तकों में से प्रथम के अन्त में अंकित किया गया है, यथा–''वि० संवत् १५११ श्रावण-शुक्लनवम्याम् शुक्रे श्रीचम्पकारण्यनगरे विप्रराजदैत्यनरनारायणस्येत्यादिविविधविरुदराज्य-विराजमानमहाराजाधिराजश्रीमन्मदनसिंहदेवानाम्संभुज्यमानविजयराजराज्यठक्कुर श्री गंगया ... . लिखितम् इति'' (शास्त्री कैटलॉग, अमरकोष, बंगलाक्षर, पृ० ५१) । महाराज मदनसिंह देव को विप्रराज उपर्युक्त लेख में कहा गया है । इससे स्पष्ट होता है कि राजा पृथ्वीनारायण सिंह देव, राजा शक्तिसिंह देव, तथा राजा मदनसिह देव ब्राह्मण थे । राजा मदनसिंह देव के समय में दूसरी प्रतिलिपि 'नरसिंह पुराण' की उतारी गयी थी । उसके अन्त में लेखनस्थान एवं लेखक का परिचय निम्नांकित रूप में दिया गया है, यथा– ''ल० सं० ३३९ श्रावण सुदि षष्ठ्याम् रविवासरे महाराजाधिराजश्रीमन्मदनसिंह देवानाम् विजयिनाम् शासति गोरक्षपुरे सिपाहकठके सदुपाध्यायश्रीरुद्रनाथशर्मभिः नारसिंहाख्यमदः पुराणम्'' (शास्त्री कैटलॉग, पृ० २९, मित्र-मजूमदार : ३९) ।

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों से पता चलता है कि महाराज मदनसिंह देव चम्पकारण्य एवं गोरक्षपुर, दोनों का अधीश्वर था । एक में चम्पकारण्य नगर का नाम दिया गया है तथा दूसरे में गोरक्षपुर (गोरखपुर) का । मदनसिंह देव स्वयं भी विद्वान् तथा लेखक था। 'मदन-रत्न-प्रदीप' नामक पुस्तक का वह स्वयम् रचयिता था । उस पुस्तक के अन्त में लेखक का नाम अंकित किया गया है, यथा –''इति श्रीशक्तिसिंहात्मज महाराजाधिराज मदनसिंहदेवविरचिते मदन-रत्न-प्रदीपे प्रायश्चित्तविवेकः .... संवत् ८४८ (नेवार)'' (शास्त्री कैटलॉग, पृ० २२९)।

यह सम्भव हो सकता है कि शासन-व्यवस्था में सुविधा के हेतु मदनसिंह ने चम्पकारण्य के अतिरिक्त गोरक्षपुर में भी एक और राजधानी का निर्माण किया हो । कन्नौज के सम्राट् विजयचन्द्र और जयचन्द्र की भी दो राजधानियाँ थीं– एक कन्नौज (महोदयश्री) में तथा दूसरी काशी में ।

उपर्युक्त राजाओं के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं, जो इस तथ्य के द्योतक हैं कि वे अपने राज्य-कार्य के संचालन में सार्वभौम स्वतन्त्र थे। मुद्रा की एक पीठ पर 'श्रीचम्पकारण्य' तथा दूसरी पर 'गोविन्दचरण-प्रणत' अंकित है। राज्य में स्वतन्त्र मुद्राओं का प्रचार उन राजाओं की प्रभुसत्ता एवं अधिकार का द्योतक है। पन्द्रहवीं शताब्दी में मुसलमानों का आधिपत्य लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारत पर स्थापित हो चुका था। वैसी विकट परिस्थिति में एक छोटे हिन्दू-राज्य का तिरहुत के एक अंश चम्पारण तथा उसके साथ गोरखपुर में संघर्ष कर स्थिर रहना आश्चर्य का विषय है। यह पृथ्वीनारायणसिंह देव तथा उसके वंशजों के शौर्य एवं नीति-पटुता का परिचायक है।

राजा पृथ्वीनारायणसिंह देव ब्राह्मण राजकुल का था, इसमें सन्देह नहीं है। पर उसका सम्बन्ध किस वंश से था, यह कहना कठिन है। उसके गोत्र अथवा मूल का भी पता नहीं है। वे ब्राह्मण-वंशीय थे तथा उनकी नामान्त उपाधि ओइनवार ब्राह्मण-वंशीय नृपतियों की भाँति 'सिंह देव' की थी। इससे अनुमान किया जाता है कि राजा पृथ्वीनारायण सिंह देव का वंश भी ओइनवार राजकुल की एक शाखा था (जनरल ऑफ एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९०३, भाग-१, पृ० १६, श्यामनारायणसिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ८३; मित्र-मजूमदार '३८)। पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है।

नृपनारायण-सुत नृप अमरसिंह

चम्पारण जिले के एक और राजवंश का पता है जो विप्र-वंशीय था, तथा उसका नाम लौरियानन्दन गढ़ के अशोक स्तम्भ पर उत्कीर्ण पाया जाता है। विक्रम संवत् १५५६ (१५०० ई०) में वह नाम वहाँ उस स्तम्भ पर खोदा गया था। उसमें लिखा है– "नृपनारायणसुत नृप अमरसिंह"। परन्तु उक्त नृपति अमरसिंह का सम्बन्ध किसी राजकुल से था अथवा नहीं, इसका पता इतिहास नहीं देता है। इस सम्बन्ध में केवल यह अनुमान किया जा सकता है कि वे दोनों ही पिता-पुत्र स्थानीय भू-स्वामी एवं सरदार रहे होंगे, तथा मुख्य शासक राजवंश की शक्ति के ह्रास अथवा उसके पतनोपरान्त अपने अधीन की भूमि को स्वतन्त्र कर उस पर राज करने लग गये होंगे। नृप एवं महाराजधिराजा आदि उपाधियों का प्रयोग यदा-कदा मन्त्रीगण भी करते पाये गये हैं। यह भी सम्भव हो सकता है कि ये नृपतिगण आदि में ओइनवार परिवार के ही भू-स्वामी रहे हों, और राजा शिवसिंह के रण-पराभव के पश्चात् मुख्य शाखा के निर्बल होने पर अपने को मिथिला को केन्द्र-राज्य से स्वतन्त्र कर अपना अलग अस्तित्व स्थापित कर लिये हों।

बेतिया वा सुगाओं राजकुल

सोलहवीं शताब्दी में चम्पारण में एक और स्वतन्त्र राज्य का अस्तित्व हम पाते हैं। वह भी विप्र-वंशीय था। ओइनवार वंशीय राजाओं के जैसी उसे भी अर्द्ध-स्वतन्त्र कहा जा सकता है। उग्रसेनसिंह नामक किसी व्यक्ति ने चम्पकारण्य के बेतिया नामक स्थान में एक राजवंश की स्थापना की थी। उसके पुत्र गजसिंह को तत्कालीन दिल्लीसम्राट् मुगल वंशीय बादशाह शाहजहाँ ने 'राजा' की उपाधि से विभूषित किया था। राजा गजसिंह की

पूर्ववर्त्ती सात पीढ़ियों तक का पता इतिहास को है । उन सबों की नामान्त उपाधि देव, राज तथा सिंह की थी । राज शब्द सम्भवतः उनके राजा होने का द्योतक है । वे सभी स्थानीय भू-स्वामी थे । उनके नाम क्रमानुसार निम्नांकित हैं :–

(१) गंगेश्वर देव, (२) मकेश्वर देव, (३) राजा देव (४) धानोराज, (५) उदय करण राज, (६) जदु राज, (७) उग्रसेनसिंह, तथा (८) राजा गजसिंह । ओइनवार राजकुल के साथ राजा गजसिंह के कुल का मिलान करने पर दोनों में अनेक बिन्दुओं पर समता दृष्टिगत होती है । दोनों ही कुलों का गोत्र कश्यप है । दोनों ही विप्रवंशीय हैं, तथा दोनों ही अपने को नैमिषारण्य का निवासी बताते हैं । विद्यापति के वर्णनानुसार कामेश्वर ठाकुर के पूर्वजों ने नैमिषारण्य से आकर मिथिला में निवास किया था । बेतिया राज्य के राज-परिवार के सदस्य भी अपने को नैमिषारण्य का निवासी बताते हैं । दोनों ही कुलों के अनेक भूपतियों के नामों का अन्त 'देव' उपाधि में हुआ है । दोनों ही राजपरिवार की राजधानियों के नाम में भी साम्य पाया जाता है । एक राजपरिवार की आदि राजधानी दरभंगा जिले में मधुबनी के निकट सुगोंना में थी तथा दूसरे की चम्पारण जिले में बेतिया के निकट सुगांओं में । दोनों ही राजवंशों ने आगे चलकर सिंह की पदवी धारण की थी। ओइनवार राजकुल के संस्थापक कामेश्वर ठाकुर ने मिथिला का सिमराओं राज्य दिल्ली के सुल्तान फिरोज तुगलक से सनद के द्वारा प्राप्त किया था । पर बेतिया राजपरिवार का भी सम्बन्ध पीछे चलकर सिमराओं राज्य से प्रत्यक्ष रूप में पाया जाता है । मझवा परगने के साथ-साथ सिमराओं परगना निकट अतीत तक (जमींदारी-उन्मूलन के पूर्व तक) बेतिया राजा के राज्यान्तर्गत था । ओइनवार राजवंश के स्थानापन्न खण्डवला राजकुल के दरभंगा महाराज महीनाथ ठाकुर एवं उसके भ्रातृपुत्र महाराजा राघवसिंह ने क्रमशः सिमराओं परगने के अधीश्वर सुगाओं-नरेश गजसिंह एवं उसके पौत्र ध्रुवसिंह पर आक्रमण कर समर किया था । बेतिया राजकुल का मूल जेथरिया वा जय-स्थलिया था जो ओइनवारों के जगतपुरिया (ओइनी आने के पूर्व जगतपुर में निवास करने के कारण उनका यह मूल हुआ होगा, क्योंकि खौआल मूल के कुछ सदस्यों के सोदरपुर जाने पर उनका मूल सोदरपुरिया हुआ तथा ओइनी पधारने पर ओइनवार) मूल से समता रखता है ।

इतिहास साक्ष्य देता है कि ओइनवार राज-वंश की स्थापना के शीघ्र पूर्व तक सम्पूर्ण मिथिला, जिसका एक अंग चम्पारण था, का शासन सिमराओं तथा उस अंचल की दूसरी पूरक राजधानी नान्यपुरा के राजाओं के द्वारा होता था । कर्णाट अथवा सिमराओं राजकुल के संस्थापक नान्यदेव द्वारा निर्मित सिमराओंगढ़ के समान एक दुर्ग नान्यपुरा में भी था जिसके द्वार के प्रस्तर खण्ड पर वही श्लोक अंकित था जो सिमराओंगढ़ के द्वार की शिला पर उत्कीर्ण था । सुगाँव भी नान्यपुरा से बहुत दूर नहीं है । तब प्रश्न यह उठता है कि क्या उग्रसेनसिंह तथा उसका पुत्र राजा गजसिंह सिमराओं राजवंशोद्भव थे । यदि यह बात नहीं है तो इसमें सन्देह नहीं कि उन लोगों ने कुछ अंश में सिमराओं राजवंश का स्थान राज्य शासन में अवश्य लिया था । दोनों एक वंश के तो हो ही नहीं सकते हैं, क्योंकि उनमें से एक कुल था सूर्यवंशी कर्णाट क्षत्रियों का तथा दूसरा कश्यप गोत्रीय ब्राह्मणों का । सिमराओं परगने पर शासन करने तथा सिमराओंगढ़ एवं नान्यपुरा दुर्ग के

निकट राजधानी रखने का कारण बेतिया-नरेशों के लिए अनुमानतः ओइनवार राजकुल के साथ सीधे सम्बन्ध के अतिरिक्त कोई और दूसरा नहीं हो सकता है ।

कर्णाट क्षत्रिय-भूपों की राजधानी चम्पारण जिले की सीमा के निकट सिमराओं में थी । उस कुल का मिथिला में राज करनेवाला अन्तिम राजा हरिसिंह देव था । उसके गयासुद्दीन तुगलक के साथ युद्ध में पराभव के पश्चात् नेपाल-पलायन करने पर कुछ वर्षों के बाद सिमराओं राज्य ओइनवार कुल के संस्थापक कामेश्वर ठकुर को फिरोज तुगलक से सनद द्वारा प्राप्त हुआ । परन्तु कामेश्वर ठाकुर अथवा उसके वंशजों ने राज्य का शासन सिमराओं राजधानी से कभी न किया । इसका भी कारण कुछ अवश्य होना चाहिए । कामेश्वर ठाकुर तथा उसके पुत्र, प्रपौत्र आदि की राजधानी ओइनी में थी । इससे अनुमान लगाया जाता है कि केवल तिरहुत के उत्तर-पूर्व भाग पर कामेश्वर कुल का पूर्ण अधिकार हो पाया था । शेष का शासन-यन्त्र ढीला था । ओइनी में निवास कर नैमिषारण्य के निवासी विप्र ओइनवार हुए । सम्भव है, कामेश्वर के राज्य-प्राप्ति-पश्चात् उसके सगोत्रीय भाई बन्धुओं ने भी यत्र-तत्र सिमराओं राज्य के भग्नावशेष पर अपने अस्तित्व का प्रतीक गढ़ बनाकर अपने को वहाँ का भू-स्वामी बनाया हो । इतिहास साक्ष्य देता है कि ओइनवार वंशीय राजागण प्रायः अपनी राजधानी एक स्थान से दूसरे स्थान में स्थानान्तरित करते रहे हैं, और सदा उन सबों का वह स्थानान्तरण पूर्व और उत्तर दिशा ही में होता रहा है, दक्षिण एवं पश्चिम की ओर नहीं। इससे भी अनुमान होता है कि दक्षिण-पश्चिम मिथिला में ओइनवारों का राज्य निष्कण्टक नहीं था । कर्णाट-राज्य की मुख्य राजधानी सिमराओं के निकट ओइनवार कुल की मुख्य शाखा की राजधानी का अस्तित्व इतिहास नहीं बताता है । इससे बहुत सम्भव लगता है कि महाराजा पृथ्वीसिंह देव अथवा राजा गजसिंह के पूर्वजों ने समय एवं अवसर पाकर सिमराओं राज्य के उस भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया होगा । गजसिंह के वंशजों के राज्य में सिमराओं तथा मझवा परगंना निकट अतीत तक थे, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है ।

कहा जाता है कि ओइनवार राजकुल के स्थानापन्न खण्डवाल राजवंश के संस्थापक महेश ठाकुर के वंजश दरभंगा के महाराज महीनाथ ठाकुर ने सिमराओं परगने के स्वामी तथा सुगाओं के राजा गजसिंह के विरुद्ध चढ़ाई कर उसके साथ घोर समर किया था । दरभंगा नरेश के प्रशस्तिकार कवि का एतद्विषयक एक प्रचलित कवित्त अधोऽङ्कित है:–

'धाय मिथिला के महीनाथसिंह महाराज बाज के झपट से सुगाओं पर चढ़ि गयो ।
घेरा करि दौड़ि दरवाजे में दरेरा लागै पैठी सेना केतु आगे आगसी लहरि गयो ।।
दौड़-दौड़ पैदल कँगूरन पै चढ़े लागे लेहू की लहरि चली सोती ताल भरि गयो ।
कहुँ ढाल कहुँ तरकस तरवार डारि राजा गजसिंह खोलि खिड़कि निकलि गयो ।।'

(श्याम नारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत)।

दूसरी बार दरभंगा-भूप महीनाथ ठाकुर के भतीजे महाराज राघवसिंह ने भी बेतिया-नरेश राजा गजसिंह के पौत्र राजा ध्रुवसिंह के ऊपर आक्रमण कर उसके साथ समर किया था । दोनों ही आक्रमणों में चाचा और भतीजे को सफलता न मिल सकी । सिमराओं एवं मझवा परगनों पर और और परगनों के साथ राजा गजसिंह के वंशजों का

आधिपत्य उक्त दोनों युद्धों के पश्चात् भी बना ही रहा। द्वितीय समर के सम्बन्ध में भी दरभंगा-नृपति के प्रशंसक कवि ने निम्नांकित पदों का निर्माण कर गाया था, यथा–

'नगहु खड्ग ध्रुवसिंह तोहि ऊपर यम चढ़ौ।
मिथिला पति सो वैर अवसि दिन-दिन तोहि बढ़ौ॥
तू कपूत कुल वधिक ए तो नृप राघव राजा।
अरि दल दलन समत्थ भीम भारत जिमि गाजा॥
कवि कहत रामरे मूढ़ सुनु, जेहि दल प्रचंड भैरो रहत।
ठहरे न फौज जथा इति को, जब सरदार खाँ तेग गहत॥'

दरभंगा-महाराज की बेतिया-नरेश के साथ शत्रुता २-३ पीढ़ियों तक चलती रही। दरभंगा के दो भूपतियों ने बेतिया-नरपालों पर क्रमशः दो बार बिना किसी प्रकार की तत्कालिक उत्तेजना के योजना बना कर तथा शक्ति-संचय कर आक्रमण किया था। इसका भी कुछ पूर्ववर्त्ती कारण अवश्य रहा होगा। इस विषय पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। खण्डवाल-कुल-भूप महेश ठाकुर के वंशज ओइनवार-वंशीय कामेश्वर ठाकुर के कुल के भूपतियों के स्थानापन्न नरेश शासक थे, क्योंकि महेश ठाकुर ने भारत-सम्राट अकबर से मिथिला-राज्य पर शासन करने के हेतु सनद प्राप्त की थी। कामेश्वर-कुल के पूरे राज्य पर शासन करने की सनद महेश ठाकुर को बादशाह अकबर ने दी थी। सनद में राज्य की सीमाओं का भी उल्लेख था, जिसमें "अज कोषतागोस अज गंग तासंग" अंकित किया गया था। इससे स्पष्ट होता है कि जो राज्य महेश ठाकुर को प्राप्त हुआ था उसका विस्तार कोशी नदी से गण्डकी (सदानीरा अथवा नारायणी) नदी तक तथा गंगा से आरम्भ कर पर्वतराज हिमालय के पाद भाग के अरण्य प्रदेश तक था। पर राज्य शासन की सनद (प्रमाण-पत्र) प्राप्त कर लेने पर भी कामेश्वर-कुल के पूरे राज्य पर आधिपत्य स्थापित न हो सकने के कारण उसे हड़प कर रखनेवालों के साथ शत्रुता महेश-कुल के लिए स्वाभाविक थी। महेश अथवा उसके शिष्य रघुनन्दन को अकबर ने जो राज्य ओइनवार कुल के अन्तिम नरपति लक्ष्मीनाथ देव, उपनाम राजा कंसनारायण की मृत्यु के पश्चात् उपहार में दिया था, उसके अधिकांश पर राजा उग्रसेन तथा राजा गजसिंह के कुल के कई भूपतियों ने महेश ठाकुर के नाम प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लेने के बाद भी अपना स्वामित्व बनाये रह कर उसके उपभोग से महेश-कुल के नरेशों को वंचित रखा था। राजा हरिसिंह देव (कर्णाट कुल का अन्तिम राजा) तथा कामेश्वर ठाकुर (ओइनवार वंश का प्रथम भूप) के राज्य के सिमराओं, मझवा आदि परगनों पर राजा उग्रसेन सिंह के वंशजों का आधिपत्य महाराज महीनाथ ठाकुर एवं उसके तीसरी पीढ़ी के उत्तराधिकारी महाराज राघव सिंह के शासनकाल में तथा उसके पश्चात् भी बना ही था। अतः बहुत सम्भव है कि महाराजा महीनाथ ठाकुर तथा उसके भ्राता गण मुजफ्फरपुर जिलों की जमीन पर आधिपत्य स्थापित करने के हुतु क्रमशः राजा गजसिंह और उसके पौत्र (राजा दिलीपसिंह के पुत्र) राजा ध्रुवसिंह के विरुद्ध आक्रमण कर युद्ध किया हो। उन सबों के बीच संमर हुआ, जिसका उपर्युक्त कविताएँ प्रमाण हैं। पर इतना करने पर भी आक्रामकों को अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफलता प्राप्त न हुई; क्योंकि राजा गजसिंह के राज्य की भूमि पर

उसके वंशधरों का आधिपत्य लगभग बीसवीं शती के मध्य तक (जब भारतीय संघ राज्य के बिहार की सरकार ने जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया था) बना हुआ था। कहा जाता है कि बेतिया एवं दरभंगा राजपरिवारों के बीच के उस झगड़े का तब अन्त हुआ, जब दोनों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध की स्थापना हुई और बेतिया राज परिवार की शिवहर शाखा की बबरा परगना दहेज में दिया गया।

कथा प्रचलित है कि जब पं० महेश ठाकुर ने दिल्ली जाकर १५५६ ई० में अपनी विद्वत्ता से बादशाह अकबर के प्रियपात्र जयपुर-नरेश महाराज मान सिंह को प्रसन्न किया तब महाराजा ने उसका परिचय सम्राट् अकबर से कराया। बादशाह भी उसकी बहुमुखी विद्वत्ता एवं प्रतिभा से प्रभावित हुआ। महेश ठाकुर ने सम्राट् अकबर से निवेदन किया कि मिथिला के ब्राह्मण वंशीय राजा कामेश्वर ठाकुर का राजवंश समाप्त हो चुका है। अतः इस विषय में वह ब्राह्मण होने के नाते सम्राट् की कृपा की आकांक्षा करता है। इस पर अकबर ने मिथिला के राज्य-शासन की सनद महेश ठाकुर को दी, और उसी के बल पर वह दिल्ली से लौटकर मिथिला (तिरहुत) पर राज करने लगा।

उक्त घटना के पश्चात् कामेश्वर-कुल के किसी महत्त्वाकांक्षी युवक ने अकबर की राजसभा में उपस्थित होकर उसके समक्ष अपने को मिथिला राज्य का अधिकारी बताया। इसके पूर्व उस राज्य के शासन करने की सनद महेश ठाकुर को मिल चुकी थी। इस कारण उसकी प्रार्थना वहाँ केवल आंशिक रूप में स्वीकृत हुई, और यह निर्णय लिया गया कि महेश ठाकुर को मिथिला-राज्य की जोत की जमीन मात्र दी गयी है, शेष जमीन, जो परती पड़ी है, वह कामेश्वर-कुल के नवागन्तुक प्रार्थी युवक को मिलनी चाहिये।

ओइनवार वंशीय युवक ने दिल्ली से लौटकर उक्त राजाज्ञा के बल पर राज्य के सभी स्थानों की परती जमीन को जोत-आबाद की जमीन से पृथक् करने के हेतु टंटा उपस्थिति किया। महेश ठाकुर ने उस नवागत झंझट से ऊब कर पुनः बस्तर राज्य में जाने तथा वहाँ पुरोहिती करने का निश्चय किया। उन्होंने बस्तर के लिए प्रस्थान भी किया। कहा जाता है कि उस यात्रा में महेश ठाकुर का मेधावी शिष्य रघुनन्दन ठाकुर (अथवा झा) भी उसके साथ था। आर० आर० दिवाकर सम्पादित पुस्तक 'बिहार थ्रू दि एजेज' के अनुसार उसका नाम रघुनन्दन राय था। रघुनन्दन को मार्ग से ही महेश ठाकुर ने दिल्ली दरबार में निकट भविष्य में होने वाले 'ईश्वर एवं उसके प्रति मानव-कर्त्तव्य' पर शास्त्रार्थ (वाद-विवाद) में सम्मिलित होकर भाग लेने के हेतु अपना प्रतिनिधि बना कर भेजा। रघुनन्दन ने वहाँ अपनी अलौकिक मेधाशक्ति एवं शास्त्र-ज्ञान द्वारा राजदरबार के एक महामनीषी मुल्ला को शास्त्रार्थ में तर्क द्वारा परास्त किया। दिल्लीश उसकी विद्वत्ता पर रीझ गया। रघुनन्दन ने इस सुअवसर को अपने गुरु के हितसाधन के हेतु उपयोग करना उचित समझा। उसे सफलता मिली। मिथिला पर महेश ठाकुर के अधिकार को सम्राट् ने स्वीकार किया। शाही संरक्षकों के साथ इस शुभ संवाद को लेकर वह बस्तर पहुँचा। महेश ठाकुर ने अपने प्रिय शिष्य का हार्दिक स्वागत किया। दोनों मिथिला लौटे। महेश ठाकुर ने राज्य-शासन अपने हाथ में लिया। कामेश्वर-कुल के तथा अन्य भू-स्वामियों के साथ उसने मैत्रीपूर्ण समझौता कर लिया। पर सनद में अंकित सारे भू-भाग पर अधिकार न प्राप्त

कर सकना उसको तथा उसके वंशजों को तो खटकता ही रहा । अवसर आने पर शक्ति-संतुलन कर महेश ठाकुर के कुलज भूपों ने सम्राट् प्रदत्त सम्पूर्ण भू-भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित करने की चेष्टा की, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं थी ।

ओइनवार वंश के अन्तिम राजा लक्ष्मीनाथ देव, उपनाम कंसनारायण की मृत्यु के उपरान्त के ओइनवारों के इतिहास का ठीक-ठीक पता नहीं चलता है । पूर्व में अंकित किया जा चुका है कि 'शालिहोत्र-सार-संग्रह' के रचयिता कुमार इन्द्रसेन, उपनाम 'रूप-नारायण' को कोई-कोई लक्ष्मीनाथ देव के पश्चाद्वर्त्ती ओइनवार कुलिक भू-स्वामी बताते हैं, क्योंकि उसका उपनाम कई ओइनवार भूपों के उपनाम के समान 'रूपनारायण' था । पर उसके समय और स्थान का सच्चा एवं पक्का पता अब तक इतिहास नहीं दे सका है। यहाँ पर ध्यान देने की एक बात है । इन्द्रसेन की नामान्त पदवी 'सेन' थी । यह 'सेन' उपाधि बेतिया राज के संस्थापक उग्रसेन की भी थी, जिसके पीछे 'सिंह' जुटा हुआ था। एक व्यक्ति की दो-दो नामान्त उपाधियाँ आज भी मिलती हैं, यथा राय चौधरी, सिंह राय, सेन गुप्त आदि । सिंह उपाधि पराक्रम का द्योतक है, अतः धनी मानी बनने तथा विभव सम्पन्न होने पर लोगों को 'सिंह' की उपाधि अपनाते आज भी देखा जाता है ।

कुमार इन्द्रसेन की भाँति ही चम्पारण के स्वतन्त्र राजा पृथ्वीनारायण सिंह देव तथा उसके पुत्र तथा पौत्र शक्तिसिंह देव और मदनसिंह देव को उनके ब्राह्मण होने तथा उनके नामों के अन्त में 'सिंह देव' विरुद लगे रहने के कारण मिथिला के इतिहास के विद्वान लेखक डॉ० उपेन्द्र ठाकुर ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ मिथिला' के पृष्ठ ३४१ में 'जरनल ऑफ एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल' (१९०३, भाग- १, पृ० १६) आदि के आधार पर अनुमान किया है कि सम्भवतः उपर्युक्त राजाओं का रक्त-सम्बन्ध ओइनवार-कुल से था । 'हिस्ट्री ऑफ तिरहुत' के लेखक श्री श्यामनारायण सिंह की राय भी डॉ० ठाकुर की राय से मिलती-जुलती है (श्यामनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ८३) ।

यदि उपर्युक्त प्रकार के अनुमान को यथार्थ स्वीकार कर लिया जाय तो उसी चम्पारण जिले के स्वतंत्र अथवा अर्द्ध-स्वतन्त्र राजा गजसिंह, जिसका उल्लेख पूर्व में पृथ्वीनारायण सिंह देव की भाँति किया जा चुका है, के कुल का ठीक-ठीक से राजा गजसिंह के कुल का मिलान करने पर दोनों कुलों में अनेक बिन्दुओं पर समता प्राप्त होती है, जिसका उल्लेख पूर्व के पृष्ठों में किया जा चुका है । इन दोनों कुलों में जितने बिन्दुओं पर साम्य का पता हमें लग चुका है, उतना पृथ्वीनारायण सिंह देव के कुल एवं ओइनवार राजकुल के बीच नहीं लग सका है ।

ओइनवार-वंश के लोग दरभंगा जिले के कई ग्रामों में निवास करने के अतिरिक्त मुजफ्फरपुर जिले के कुमर बाजितपुर आदि गाँवों में वास करते हैं । वहाँ के ओइनवारों की उपाधि 'कुमार' अथवा 'कुमर' है । वे अपने को ओइनवार राजकुल के राजकुमार का वंशज बताते हैं । राजकुमार के वंशज होने के कारण उन सबों की उपाधि 'कुमार' अथवा 'कुमर' हुई । उसी बाजितपुर ग्राम से दरभंगा जिले के पुतई आदि गाँवों में पीछे चलकर कुछ ओइनवार वंशीय ब्राह्मण जा बसे थे, जिनकी उपाधि भी 'कुमर' ही है । वे सब उच्च

मूल के श्रोत्रिय ब्राह्मण माने जाते हैं । आरम्भ में इन ग्रामों के 'कुमर' भी बड़े-बड़े भू-स्वामी थे । मुजफ्फरपुर तथा चम्पारण जिले में जेथरिया वा जयस्थलिया, जिनकी चर्चा प्रसंगवश पूर्व में की जा चुकी है, शिवहर, मधुबन तथा अन्य अनेक ग्रामों में यथेष्ट रूप में निवास करते पाये जाते हैं । वे सब भी बड़े-बड़े भू-स्वामी रहे हैं । जिनका प्रभाव राजपरिवार के समान पर्याप्त था । शिवहर तथा मधुबन के भू-स्वामियों को प्रायः 'राजा' ही कहते सुना जाता था ।

राजा पृथ्वीनारायण सिंह देव तथा उसके वंशजों को १५वीं शताब्दी के मध्य में चम्पारण आदि प्रदेशों पर शासन करने का साक्ष्य इतिहास देता है । राजा उग्रसेन सिंह ने १६वीं शती के अन्तिम चरण में बेतिया अथवा सुगाओं राजवंश की नींव दी थी । उसके पूर्व उसके कुल के सदस्यगण चम्पारण्य के उस अंचल के भू-स्वामी थे, जो उनकी नामान्तक पदवियों से परिलक्षित होता है यह स्मरण रखने की बात है कि ओइनवार राजवंश को प्रायः सुगौना वा सुगाओं राजवंश भी कहा जाता है । उग्रसेनसिंह के ऊपर की ७ पीढ़ियों का पता इतिहास को है, जो सभी चम्पारण जिलों के भू-स्वामी थे । यदि प्रत्येक पीढ़ी को पन्द्रह-पन्द्रह वर्ष का मान लिया जाय तो यह कहा जा सकता है कि उग्रसेनसिंह के पूर्वज गंगेश्वर देव का काल मदनसिंह देव के शासनकाल के लगभग रहा होगा । दोनों ही चम्पारण के रहने वाले थे । हाँ, मदनसिंह का राज्य गोरक्षरपुर (गोरखपुर) तक फैल चुका था । गंगेश्वर देव केवल भू-स्वामी था, जिसकी सातवीं पीढ़ी की सन्तान ने राज्य-स्थापना करने में सफलता प्राप्त की । यद्यपि राजा पृथ्वीनारायण सिंह तथा गंगेश्वर देव, दोनों ही विप्रवंशीय थे, पर यह अधिकारपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि बेतिया अथवा सुगाओं राज पृथ्वीनारायण सिंह देव के कुल की ही एक शाखा था, तथा पृथ्वीनारायण सिंह देव के वंश के समाप्त होने के पश्चात् गंगेश्वर देव के वंशजों ने उसी के राज्यावशेष पर अपने लिए एक नये राज्य की नींव डाली । उस प्रकार अनेक समताओं के रहते भी यह निश्चयात्मक रूप से कहना कठिन है कि राजा गजसिंह (बेतिया-नरेश) ओइनवार वंश का ही था । पर उपर्युक्त दोनों बातें असम्भव भी नहीं कही जा सकती हैं । इस दिशा में विद्वानों द्वारा अनुसंधान अपेक्षित है ।

कतिपय मुसलमान इतिहासकारों ने बेतिया के राजा को स्वतन्त्र शासक बताया है । 'रियाजू-एस-सलतिन' में बेतिया-नरेश को उद्धत सामन्त लिखा है, जिसके शासन-क्षेत्र में नाजिमों की सेना कभी प्रवेश न कर सकी थी और जिसने किसी सूबेदार के आधिपत्य को कभी स्वीकार नहीं किया था ।

अलीवर्दी खाँ ने १७२९ ई० में बेतिया के विद्रोही राजा का शमन करने के हेतु उस पर सेना के साथ आक्रमण कर १७३० ई० में उसे नत किया तथा अपने अधीन बनाया (शईर-उल-मुतखरिम और रयाजू-एस्-सलतिन, पृ० २८६, एस० अब्दुल सलाम द्वारा अनूदित, १९०४ का संस्करण) ।

बेतिया के राजा ने १७४८ ई० में दरभंगा के विद्रोही अफगान सरदार से मैत्री कर उसे अलीवर्दी खाँ के विरुद्ध सहायता दी थी । परन्तु जब उस अफगान सरदार को अलीवर्दी खाँ के साथ संग्राम में पराजित होना पड़ा, तब नरेश ने नबाब को ३ लक्ष रुपये

नजर देकर उसको शान्त किया । 'शईर-उल-मुतखरिम' (रयमण्ड का अनुवाद, भाग-२, पृ० ५८, १९०२ का संस्करण) के अनुसार बेतिया-नरेश ने १७५० ई० अलीवर्दी खाँ के दिल्ली सम्राट् के राज प्रतिनिधित्व-काल में कई विद्रोही पठान परिवारों को अपने संरक्षण में रखा था । अंग्रेज जेनरल कल्लाउड ने १७५९ ई० में बेतिया-दुर्ग पर आक्रमण कर वहाँ के राजा को नत होने के हेतु बाध्य किया (शईर-उल-मुतखरिम, भाग-२, १९०२ का संस्करण), तथा श्री ब्रूम की 'हिस्ट्री ऑफ दि राइज एण्ड प्रोग्रेस ऑफ दि बंगाल आर्मी, के अनुसार लगभग १७६० ई० में जेनरल कल्लाउड एवं मीरजाफर के पुत्र मीरन के अधीन एक बड़ी सेना ने आक्रमण कर बेतिया के राजा को अपने अधीन किया था (वही, शईर-उल-मुतखरिम) । सर राबर्ट बारकर के अधीन पुनः सेना भेजकर बेतिया के विरुद्ध ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने तीसरी चढ़ाई की थी । मीर कासिम ने बंगाल के नबाब की गद्दी प्राप्त करने के पश्चात् १७६२ ई०के मार्च महीने के प्रारम्भ में सामन्तों को वश में करने के अभियान में बेतिया राजा के दुर्ग पर ससैन्य आक्रमण किया था (आर० आर० दिवाकर सम्पादित 'बिहार थ्रु दि एजेज' के लेख के आधार पर) ।

राजा ध्रुवसिंह का नाती राजा युगुलकिशोर सिंह उसका दत्तक पुत्र बनकर बेतिया के सिंहासन पर १७६३ ई० में बैठा । वार्षिक कर के रुपये नहीं चुकाने के कारण उस पर भारी रकम बाकी पड़ गयी थी । दीवानी अदालत के न्यायाधीशों के निर्णयानुसार उसने विद्रोह कर ब्रिटिश सरकार की सेना के साथ युद्ध करने का अपराध किया था । उस युद्ध में हार खाकर उसने बुन्देलखण्ड में पलायन किया । अतः उसका बेतिया राज ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रबन्ध के अधीन ले लिया गया । किन्तु थोड़े ही दिनों में वहाँ शासन करना कम्पनी के लिए एक विकट समस्या बन गया । उसने राजा युगुलकिशोर सिंह को वापस बुला कर उसके राज्य के मझवा एवं सिमराओं के परगनों को उसके साथ बन्दोबस्त किया, तथा राज्य के शेष भाग को उसके नाना ध्रुवसिंह के चचेरे भाई किसुनसिंह एवं अवधूतसिंह के साथ बन्दोबस्त किया। वे दोनों ही राजा गजसिंह के पौत्र थे तथा दोनों ही क्रमशः मुजफ्फरपुर जिले के शिवहर एवं चम्पारण जिले के मधुबन राजवंश के संस्थापक हुए । इस प्रकार अंग्रजों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार ने अपनी कूटनीति के द्वारा एक छोटे, पर शक्तिशाली बेतिया राज्य को तीन भागों में विभक्त कर उसे बलहीन बना दिया।

मझवा तथा सिमराओं अथवा शिवराओं के परगनों को पुनः राजा युगुलकिशोर सिंह के पुत्र वीरकेश्वर सिंह के साथ १७९१ ई० में १० वर्षों के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा बन्दोबस्त किया गया, जो निकट अतीत तक बेतिया राज का अधिकांश भू-भाग था ।

उक्त वीरकेश्वर सिंह ने नेपाल-युद्ध में अंग्रेजों का सहायक बनकर प्रमुख भाग लिया था । आनन्दकेशवर सिंह उसका पुत्र था । वह १८१६ ई० में अपने पिता की गद्दी पर बैठा। लार्ड विलियम बेंटिंक ने उसे 'महाराजा बहादुर' का विरुद प्रदान किया । उसका उत्तराधिकारी नवलकेशवर सिंह हुआ । उसके देहावसान-पश्चात् १८५५ ई० में राज्य का अधिकारी राजेन्द्रकेश्वर सिंह हुआ । भारतीय स्वतंत्रता के प्रथम संग्राम, जिसे अंग्रेजों ने 'सिपाही-विद्रोह' की संज्ञा दी थी तथा जिसका नेतृत्व बिहार में शाहाबाद जिले के वृद्ध वीर स्वनामधन्य महान् योद्धा श्रीमान् बाबू कुँवर सिंह ने किया था, में उसने परिस्थितिवश

विदेशी अंग्रेजों की सहायता की । उक्त सशस्त्र स्वातन्त्र्य-संग्राम तथा आन्दोलन को अंग्रेजों ने कुछ काल के लिए अपने दमन-चक्र के प्रभाव से कुचल कर शान्त कर दिया । पश्चात पुरस्कार में राजेन्द्रकेश्वर सिंह तथा उसके पुत्र हरेन्द्रकेश्वर सिंह को 'महाराजा बहादुर' का विरुद विदेशी शासन द्वारा प्रदान किया गया । हरेन्द्रकेश्वर सिंह बेतिया के अन्तिम नरेश था । उसे के० सी० आई० ई० की उपाधि भी प्राप्त हुई । उसकी मृत्यु १८९३ ई० में हुई । उसे दो रानियाँ थीं । बड़ी की मृत्यु १८९६ ई० में हो गयी । उसके बाद राज 'कोर्ट ऑफ वार्ड्स' (प्रतिपालक अधिकरण) के प्रबन्ध में गया । पर राज्य की अधिकारिणी उसकी द्वितीय रानी बनी रही ।

बाबर ने चम्पारण को एक पृथक् राजस्व विभाग बताया था (तुजाकी बाबरी, इल्लियट, भाग-४, पृ० २६२) । 'आईन-ए-अकबरी' में भी चम्पारण को पृथक् सरकार स्वीकार किया गया है (जर्रेट का अनुवाद, भाग-२, दश वर्षीया बन्दोबस्ती) ।

शेख रजकुल्ल मस्तकी-प्रणीत परशियन 'वाकियात-ए-मुस्तकी' में उल्लेख है कि सारण और चम्पारण का जागीरदार मियाँ हुसेन फरमुली ने अपने सेनानी मुगल किरानी के साथ आक्रमण कर चम्पारण के राजा को १४९० ई० में लूटा (इल्लियट: हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग-४, पृ० ५४६-४७) । अकबर के समय में हाजीपुर के युद्ध-काल में १५७५ ई० के लगभग राजा कचिती (गजपति) सम्राट् का मित्र बताया गया है (तवकात-ए-अकबरी, इल्लियट-भाग-५, पृ० ३७७; डॉ० वी० सी० लॉ का अलवरूनी का अनुवाद, भाग-२, १८५४ ई० का संस्करण, पृ० २४४-४५ तथा २९३) ।

अब प्रश्न उठता है कि यह राजा कचिती अथवा गजपति कौन था, जिसने हाजीपुर पर आक्रमण करते समय बादशाह अकबर की सहायता की थी । क्या वह चम्पारण के बेतिया राज्य के अधीश्वर राजा गजपति था अथवा कोई अन्य व्यक्ति ? राजा गजपति निस्सन्देह चम्पारण का राजा था । फारसी लिपि में गजपति एवं कचिती के लेखन में समता होती है । 'काफ' और 'गाफ' दोनों एक प्रकार लिखे जाते हैं । 'गाफ' के मस्तक पर केवल 'काफ' से एक '/' ऐसा चिन्ह अधिक पड़ता है । उसी प्रकार 'जिम' और 'चे' में साम्य हैं । दोनों ही अक्षर एक रूप में लिखे जाते हैं । अन्तर केवल इतना ही है कि 'जिम' के नीचे एक बिन्दु दिया जाता है और 'चे' के नीचे तीन । वैसे ही 'ते' और 'पे' अक्षरों में अन्तर होता है । 'ते' में ऊपर दो बिन्दु और 'पे' में नीचे तीन । हाथ की लिखावट में प्रायः लेखक बिन्दु, चिन्ह, जबर, जेर, पेश, हमजा आदि के प्रयोग करने में कंजूसी करते हैं, जिसके कारण कभी-कभी अर्थ का अनर्थ हो जाता है । 'गाफ' 'ग' का द्योतक है तथा 'काफ' 'क' का, उसी प्रकार 'चे' 'च' का और 'जीम' 'ज' का । 'पे' से 'प' लिखा जाता है और 'ते' से 'त' । मात्रा में इकार वा ईकार अथवा एकार के लिए 'ये' अक्षर का व्यवहार किया जाता है । इस कारण लेखक के 'गजपति' लेख को पाठक द्वारा 'कचिती' पढ़ा जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं कहा जा सकता है ।

अबुलफजल के 'अकबरनामा' (इल्लियट-भाग-६, १८७५ ई० के संस्करण के पृ० ३६ तथा ४९) में बताया गया कि चम्पारण के राजा उदीकरण ने १५९० ई० में शाही फौज को हाजीपुर के निकट रोका ।

उपर्युक्त उद्धरणों से पता चलता है कि प्राचीनकाल में चम्पारण की सरकार एक शासक के अधीन थी । उग्रसेनसिंह के पितामह का नाम भी उदयकरण राज था । उपर्युक्त दोनों नाम बेतिया के नरेशों के हैं, जो चम्पारण जिले में अपने अन्दर के भू-भाग पर शासन करते थे । परन्तु यह पता नहीं चलता है कि उन सबों का रक्त-सम्बन्ध किस राजकुल से था ।

ऊपर के वर्णनों से यह भी स्पष्ट होता है कि बेतिया राज्य निकटवर्त्ती अन्य राज्यों से अपेक्षाकृत शक्तिशाली, स्वतन्त्र-चेता, स्वाभिमानी एवं आत्म-गौरवशाली था । ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी की अंग्रेजी-नौकरशाही ने उसके तीन टुकड़े कर उसको निर्बल बना दिया तथा अपनी राजनीतिक चालों के द्वारा अपने स्वार्थ की सिद्धि की । उनकी उस चालबाजी से एक छोटा सा बेतिया राज, जो विदेशी शोषकों के विरुद्ध यदा-कदा सिर उठाने का प्रयत्न करता था, तीन क्षुद्रतम राज्यों में विभक्त हो गया ।

खण्डवाल राजकुल

ऊपर प्रसंगवश अंकित किया गया है कि ओइनवारवंशीय कामेश्वर-कुल की राजलक्ष्मी ने ओइनवारों से रुष्ट होकर उनका त्याग किया, तथा खण्डवाल-वंश के महेश ठाकुर को अपना स्नेहिल पुत्र बनाया । कहा जाता हे कि ग्यारहवीं शताब्दी में दरभंगा जिले के गंगावली ग्राम में एक श्रोत्रिय ब्राह्मण गंगाधर निवास करते थे । उनका प्रपौत्र संकर्षण महाविद्वान्, धर्माचारी एवं ईश्वरभक्त था । वह घूमता-घामता मध्यप्रदेश के ग्राम खण्डवा में पहुँचा । वहाँ उसकी विद्वता की ख्याति चतुर्दिक् फैल गयी । वह अपने शुद्धाचरण के कारण आध्यात्मिक नायक माना जाकर 'स्वामी' के नाम से वहाँ प्रसिद्ध हुआ । मध्यप्रदेश का खण्डवा ग्राम संकर्षण को पमजापाठ में चढ़ावा के रूप में प्राप्त हुआ, और राजस्थान एवं काठियावाड़ के कुमारों के समान ही वह 'ठक्कुर' उपाधि से भूषित हुआ ।

संकर्षण की सातवीं पीढ़ी में चन्द्र ठाकुर उत्पन्न हुआ । उसके चार महाविद्वान् पुत्र हुए, जिनके नाम थे-(१) थेघ, (२) मेघ, (3) दामोदर, तथा (४) महेश । उन सबों ने दरभंगा जिले के भउर नामक ग्राम में एक पाठशाला की स्थापना की, जहाँ उनके पांडित्य की ख्याति से आकर्षित होकर दूर-दूर के छात्र विद्याध्ययन के हेतु आते थे । सुदूर प्रान्त बंगाल से भी विद्यार्थी भउर में विद्याध्ययन के हेतु पधारा करते थे । यह भउर ग्राम दरभंगा जिले के मधुबनी अनुमण्डल में मधुबनी नगर से लगभग ९-१० मील पूरब लोहट चीनी मिल के निकट है । महेश ठाकुर का आदि-निवास उसी ग्राम में था ।

महेश ठाकुर दिल्ली के बादशाह अकबर का समकालीन था । संकर्षण की आठवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुआ था । यदि एक पीढ़ी को २० वर्षों का मान लें, तो संकर्षण का समय महेश ठाकुर से १६० वर्ष पूर्व स्वीकार करना पड़ेगा । पर मिथिला में प्रचलित जनश्रुति बताती है कि संकर्षण का काल ग्यारहवीं शताब्दी था । इस कारण या तो संकर्षण का काल ग्यारहवीं शताब्दी के बाद मानना पड़ेगा, अथवा महेश ठाकुर को उसकी आठवीं पीढ़ी से आगे की सन्तान स्वीकार करना पड़ेगा । असली तथ्य का पता लगाने के लिए सुधी-समाज द्वारा खोज अपेक्षित है ।

कहा जाता है कि उन चारों भाइयों ने महेश ठाकुर के मेधावी शिष्य रघुनन्दन के साथ दूर देशों का परिभ्रमण करते हुए खण्डवा, मंडल, रत्नपुर एवं बस्तर की यात्रा की। उन स्थानों के शासकों ने उनका अपने-अपने राजनगरों में सादर स्वागत किया। मण्डल की ख्यातनामा रानी दुर्गावती का व्यवहार भी उन सबों के साथ अति श्लाघ्य बताया जाता है। वह गौड़ क्षत्रिय कुलोद्भवा थी। परन्तु इन सबों की अनुमति से ही उसका विवाह नागवंशीय क्षत्रिय यादव (जादो) राय के साथ हुआ था। पीछे चलकर वह उन चारों भाइयों में से एक की शिष्या भी बनी। जनश्रुति बताती है कि एक बार रानी ने पं० महेश ठाकुर के शिष्य रघुनन्दन के प्रति अप्रिय एवं असामान्य व्यवहार तथा बातें कीं। इस पर चारों भाइयों ने उस नगर का परित्याग किया। यह भी कहा जाता है कि वहाँ से वे सब बस्तर के राजा के दरबार में आये। राजा ने अनेक हाथी दान देकर उन सबों का सम्मान किया। उन हाथियों को लेकर वे पुनः मण्डल गये। रानी दुर्गावती ने राजभवन से बाहर पधार कर स्वयं उन सबों का स्वागत प्रतिष्ठा के साथ किया। चारों भाइयों को क्षुब्ध होकर अपनी राजधानी से बाहर जाते समय उनसे रानी ने कहा था कि-"देखूँ, कितने गजेन्द्र ये सब अन्यत्र से ले आते हैं!" अपने उक्त कथन पर रानी को पश्चात्ताप था।

यह अनुश्रुति भी प्रसिद्ध है कि दिल्ली के सम्राट् अकबर ने चारों भाइयों की प्रगाढ़ विद्वत्ता की ख्याति से आकृष्ट होकर उन्हें अपनी राजधानी में आमन्त्रित किया था। वहाँ शास्त्रार्थ में उनकी योग्यता से बादशाह प्रसन्न हुआ। उसने उन्हें मिथिला का राज्य देकर सम्मानित किया, जो उन सबों की जननी-जनमभूमि थी।

यह कथा भी प्रचलित है कि महेश ठाकुर एवं भ्रातागण विधर्मी द्वारा दिये गये दान को स्वीकार करने में हिचकिचाते थे। इस पर महेश ठाकुर के प्रिय विद्यार्थी रघुनन्दन ने अपने नाम से सनद प्राप्त कर वह राज्य गुरु-दक्षिणा में अपने गुरु को दिया। मेघ, थेघ तथा दामोदर ने क्रमशः बस्तर, मण्डल एवं रत्नपुर में जाकर निवास किया। वहाँ उन सबों को बड़ी-बड़ी जागीरें मिलीं। महेश ठाकुर अकेले मिथिला आया। वहाँ पधारने पर तिरहुत के पूर्ववर्त्ती शासक दरभंगी खाँ के साथ उसका संघर्ष होना स्वाभाविक था। पर शनैः-शनैः मिथिला पर महेश ठाकुर का अधिकार स्थापित हो गया। यह घटना १५५६ ई० की बतायी जाती है। खण्डवा ग्राम में महेश ठाकुर के पूर्वज संकर्षण के निवास के कारण उसका वंश खण्डवाल कुल के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जो उन सबों का मूल कहा जाता है। महेश ठाकुर पक्षधर मिश्र का शिष्य था। उसके भाई मेघ ठाकुर का दूसरा नाम भगीरथ ठाकुर था। वह बस्तर के राजा का पुरोहित तथा मन्त्री भी था। महेश ठाकुर की राजधानी मिथिला के भउर नामक ग्राम में बनी, जहाँ पूर्व में उसकी पाठशाला थी।

पं० महेश ठाकुर की मिथिला-राज्य-प्राप्ति विषयक अन्य कथाएँ भी प्रचलित हैं। कहा जाता है कि महेश ठाकुर का विद्यार्थी रघुनन्दन बड़ा ही मेधावी एवं प्रत्युत्पन्नमति था। एक बार महेश ठाकुर ने उसे बस्तर की महारानी के पास किसी पौराणिक कथा की व्याख्या कर समझाने के हेतु भेजा। किसी कारण से रानी क्रुद्ध हो गयी, और उसने उसे अपने राज्य से बाहर निकल जाने को कहा। उस काल अकबर ने अपनी राजधानी दिल्ली में सभी धर्मों के मर्मज्ञ विद्वानों की सभा बुलाने का विचार किया था। उसने देश के

बड़े-बड़े विद्वानों को पत्र भेज कर आमन्त्रित किया । पं० महेश ठाकुर भी आमन्त्रित हुए। अपने गुरु का विद्वद्-मण्डली में प्रतिनिधित्व करने के हेतु रघुनन्दन दिल्ली गया । वाद-विवाद का विषय वहाँ था-'ईश्वर एवं उसके प्रति मानव-कर्त्तव्य' । रघुनन्दन ने अपनी प्रतिभा, मेधाशक्ति तथा दर्शनज्ञान से दिल्ली-दरबार के एक महाविद्वान् मुल्ला को तर्क द्वारा शास्त्रार्थ में पराजित किया। उसके कार्य से प्रसन्न होकर उदार दिल्लीश अकबर ने रघुनन्दन को तिरहुत सरकार की विशाल जमींदारी प्रदान कर उसे पुरस्कृत किया । उसने भी उसे स्वयं न रखकर अपने गुरु महेश ठाकुर के श्रीचरणों में अर्पित किया । महेश ठाकुर ने उसे लेना स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वह दान उसे नहीं, वरन् उसके शिष्य रघुनन्दन को मिला था । अतः रघुनन्दन ठाकुर उसके साथ दिल्ली गया । अकबर के दरबार के विद्वान् उल्माओं के साथ धार्मिक विषयों पर वाद-विवाद कर महेश ठाकुर ने सम्राट् को प्रसन्न किया, और तिरहुत राज्य की सनद अपने नाम पर करवा ली । कहा जाता है कि जयपुर-नरेश महाराज मानसिंह का इस कार्य में महान् हाथ था ।

इस विषय की दूसरी प्रचलित कथा यह है कि महेश ठाकुर ने एक बार दिल्ली की यात्रा की। वहाँ उसने महाराजा मानसिंह को अपनी प्रतिभा से प्रभावित किया। महाराजा ने उसका परिचय सम्राट् अकबर से करा कर उसकी प्रगाढ़ विद्वत्ता की प्रशंसा की। वह भी महेश ठाकुर की बहुमुखी शास्त्रदर्शन ज्ञान एवं प्रतिभा से प्रसन्न हुआ। कहा जाता है कि महेश ठाकुर ने बादशाह से निवेदन किया कि मिथिला में ब्राह्मणवंशीय कामेश्वर ठाकुर का कुल राज करता था, वह राजवंश समाप्त हो गया । ब्राह्मण का राज्य ब्राह्मण को ही मिलना अपेक्षित बता कर उसने उसे प्राप्त करने की अभिलाषा प्रकट की। अकबर ने इस पर मिथिला का राज्य महेश ठाकुर को सनद (प्रमाण-पत्र) के द्वारा प्रदान किया, और वह शाही फरमान (आज्ञा-पत्र) के साथ दिल्ली से लौट कर वहाँ मिथिला में राज करने लगा।

यह कथा भी प्रचलित है कि महेश ठाकुर के राजकीय प्रमाण-पत्र लेकर मिथिला प्रत्यागमन के पश्चात् कामेश्वर-कुल का कोई युवक दिल्ली-दरबार में अकबर के समक्ष उपस्थित हुआ। उसने बादशाह से निवेदन किया कि मिथिला-राज्य का अधिकारी कामेश्वर-कुल-संतति होने के कारण, वह है, अन्य नहीं । अतः वह राज्य उसे ही मिलना चाहिए, अन्य किसी को नहीं । उसकी प्रार्थना वहाँ आंशिक रूप में स्वीकृत हुई, और यह निर्णय किया गया कि महेश ठाकुर को मिथिला की वही जमीन दी गयी है, जिस पर सम्प्रति कृषि कार्य होता है । अतः वहाँ की परती पड़ी जमीन, जंगल आदि को कामेश्वर-कुल के प्रत्याशी के साथ बन्दोबस्त करने में कोई बाधा नहीं है । तदनुसार इस प्रकार का भू-भाग प्रार्थी के साथ बन्दोबस्त किया ।

ओइनवार-कुलीय प्रत्याशी ने राजकीय सनद (प्रमाण-पत्र) प्राप्त कर मिथिला लौटने के पश्चात् वहाँ की सभी परती जमीन को जोत की जमीन से पृथक् करने के हेतु टण्टा खड़ा किया । इस नवागत झंझट से ऊब कर शान्तिप्रिय पं० महेश ठाकुर ने बस्तर जाकर पुनः पुरोहिती करना ही श्रेयस्कर समझा । अतः मिथिला त्याग कर उसने बस्तर की यात्रा की । उस यात्रा में उसके साथ उसका मेधावी एवं प्रभावशाली शिष्य रघुनन्दन भी था ।

जिस काल की यह घटना बतायी जाती है, उसी के लगभग दिल्ली दरबार में विद्वानों की धार्मिक विषयों पर विचार-विमर्श एवं वाद-विवाद के हेतु सम्मेलन करने की तैयारी हो रही थी । यह समाचार पाकर मार्ग में ही यह तय किया गया कि रघुनन्दन से बस्तर की महारानी अप्रसन्न है, अतः वह वहाँ जाने के पूर्व दिल्ली जाकर उक्त धार्मिक समारोह की कार्यवाही में भाग ले, और मिथिला की सभी प्रकार की भूमि पर अपने गुरु के अधिकार की प्राप्ति के हेतु प्रयत्न करें । रघुनन्दन तदनुसार दिल्ली गया । वहाँ उसको पूरी सफलता प्राप्त हुई । वह शाही संरक्षकों से परिवेष्ठित राजकीय सम्मान के साथ बस्तर लौटा । इससे रानी को आश्चर्य हुआ । महेश ठाकुर ने अपने शिष्य का हार्दिक स्वागत किया । पश्चात् महेश ठाकुर ने मिथिला लौट कर राज्य का शासन-सूत्र अपने हाथ में ले लिया । कामेश्वर-कुल के साथ भी उसने मैत्रीपूर्ण समझौता कर लिया । महेश ठाकुर ने खण्डवाला राजवंश की नींव मिथिला में दी । इस कुल के २० राजाओं ने मिथिला में राज किया, जिनके नाम संक्षिप्त विवरण के साथ नीचे दिये जाते हैं ।

महेश ठाकुर खण्डवाला कुल का प्रथम राजा था । उसके चार पुत्र हुए-(१) रामचन्द्र ठाकुर, (२) गोपाल ठाकुर, (३) परमानन्द ठाकुर एवं (4) शुभंकर ठाकुर । इन चारों में प्रथम पुत्र रामचन्द्र ठाकुर की मृत्यु पिता के जीवन-काल में अविवाहित अवस्था में हुई । महेश ठाकुर ने १५५६ से १५६९ ई० तक राज किया । उसकी राजधानी भउर में थी ।

महेश ठाकुर की मृत्यु के पश्चात् उसका द्वितीय पुत्र गोपाल ठाकुर मिथिला के सिंहासन पर बैठा । उसने १५६९ से १५८१ ई० तक शासन किया । उसकी पैतृक राजधानी भउर में पम्मार क्षत्रियों का भी निवास था । वे सब पूर्व से ही शक्तिशाली थे । गोपाल ठाकुर ने उन सबों को पराभूत कर भउर त्यागने तथा अन्यत्र जाकर निवास करने के हेतु बाध्य किया । राजा गोपाल ठाकुर के काशी-वास-पश्चात् उसका अनुज परमानन्द ठाकुर गद्दी पर बैठा ।

राजा परमानन्द ठाकुर के पश्चात् राजा महेश ठाकुर का चतुर्थ पुत्र शुभंकर ठाकुर, जो गोपाल ठाकुर का विमाता-पुत्र था, मिथिला के सिंहासन पर विराजमान हुआ । शुभंकर ठाकुर ने अपने नाम पर दरभंगा के सन्निकट शुभंकरपुर नामक ग्राम बसाया । उसने भउर से अपनी राजधानी को मधुबनी के निकट भउआरा में स्थानान्तरित किया ।

शुभंकर ठाकुर के देहावसान के पश्चात् उसके पुत्र पुरुषोत्तम ठाकुर ने मिथिला की गद्दी प्राप्त की । उसने १६१७ से १६४१ ई० तक राज किया । कहा जाता है कि उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका वैमात्र भ्राता नारायण ठाकुर राज्य का उत्तराधिकारी हुआ । सम्भवतः नारायण ठाकुर अति अल्प काल तक ही मिथिला के सिंहासन पर आसीन रहा । उसके नाम का उल्लेख किसी समसामयिक साहित्य में नहीं है । अतः उसका मिथिला में राज करना संदिग्ध है । सम्भवतः नारायण ठाकुर की मृत्यु पिता के जीवन काल में ही हो गयी थी । राजा पुरुषोत्तम ठाकुर के पश्चात् सुन्दर ठाकुर का मिथिला के सिंहासन को सुशोभित करना अधिक प्रामाणिक प्रतीत होता है । वह शुभंकर ठाकुर का सातवाँ पुत्र था । उसने १६४१ से १६६८ ई० तक राज किया ।

सुन्दर ठाकुर की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र महीनाथ ठाकुर को मिथिला का राज्य मिला। वह महत्त्वाकांक्षी, पराक्रमी वीर योद्धा था। उसका शासनकाल १६६८ से १६९० ई० तक रहा। उसने सिमराओं परगने के अधीश्वर सुगाओं-नरेश (बेतिया के राजा) गजसिंह पर आक्रमण कर उसके साथ युद्ध किया, जिसकी चर्चा पूर्व में बेतिया अथवा सुगाओं राजकुल के वर्णन के साथ प्रसंगवश की जा चुकी है।

महीनाथ ठाकुर के पश्चात् उसके भ्राता नरपति ठाकुर को मिथिला का सिंहासन प्राप्त हुआ। उसने १६९० से १७०० ई० तक शासन किया। उसके शासनकाल में कोई उल्लेखनीय राजनीतिक घटना नहीं घटी।

नरपति ठाकुर के पश्चात् उसका पराक्रमी पुत्र राघव ठाकुर 'सिंह' की उपाधि धारण कर राज-सिंहासन पर आसीन हुआ। उसने १७०० से १७३९ ई० तक राज्य का शासन किया। बेतिया-नरेश राजा ध्रुवसिंह के साथ उसने उसके राज्य पर आक्रमण कर तुमुल युद्ध किया, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। किन्तु उस समर के पश्चात् बेतिया राजवंश की एक शाखा शिवहर के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होने के बाद दोनों राजपरिवारों के बीच शान्ति की स्थापना हो गयी, और दहेज में बबरा परगना महाराज राघवसिंह ने शिवहर को दिया। इसके शासनकाल में उसके कोशी-अंचल एवं उस नदी की तलहटी की भूमि का व्यवस्थापक वीरू कुर्मी ने विद्रोह किया। वह राजा राघवसिंह का पूर्व में प्रिय पात्र खवास था। पर अन्त में उसने अपने को स्वामिभक्त एवं राजभक्त सिद्ध नहीं किया। महाराजा राघवसिंह ने उसके विद्रोह का बड़ी वीरता के साथ शमन किया। उसने नेपाल तराई के पचमहाल परगने के रहने वाले उपद्रवी राजा भूपसिंह को युद्ध-क्षेत्र में रण कर मार डाला।

वीरू कुर्म्मी खवास के विषय में कथा प्रसिद्ध है कि वह महाराजा का बड़ा ही विश्वासभाजन सेवक था। इसी कारण से महाराजा ने कृपा कर उसे कोशी-अंचल की भूमि का व्यवस्थापक एवं समाहर्त्ता नियुक्त किया था। पर अधिकार पाकर उसने अपने को वहाँ का राजा घोषित किया, और जहाँ उसका आवास था, उस स्थान का नामकरण उसने अपने नाम पर 'वीर नगर' किया। इस पर महाराजा राघवसिंह ने उस पर चढ़ाई करने की आज्ञा दी। जब उसे इसकी सूचना मिली कि महाराज राघवसिंह उस पर आक्रमण करने की योजना बना रहे हैं, तब उसने यह दोहा पढ़ा:—

वीर नगर विरशाह का, बसा कोशिकी तीर।
अब पत राखे कोशिकी, अथवा श्री रघुवीर॥

वीरू खवास युद्ध में परास्त हुआ, और उसका निधन हुआ। उस अंचल पर महाराजा राघवसिंह का पुनः निष्कण्टक आधिपत्य स्थापित हो गया।

खंडवाला राजकुल का ही एक कुमार एकनाथ ठाकुर, जो शुभंकर ठाकुर के पुत्र नारायण ठाकुर के वंश का था, ने अमर्ष एवं ईर्ष्या के वशीभूत होकर बंगाल और बिहार के नवाब अलीवर्दी खाँ को महाराज राघवसिंह के विरुद्ध उभाड़ा। नबाब ने राजा की १०-१२ लाख की सम्पत्ति जप्त कर ली, तथा उसे सपरिवार बन्दी बना कर पटना ले गया।

पश्चात् मिथिला का राजस्व वसूल करने के हेतु दो रुपये सैकड़ा छूट पारिश्रमिक निश्चित कर उसने उसे राज्य का समाहर्त्ता बनाया, तथा कारामुक्त कर अपने राज्य मिथिला लौट जाने की अनुमति दी। कथानक प्रसिद्ध है कि यह घटना उस वर्ष के भाद्र पद (भादो) शुक्ल, चतुर्थी को घटी। राजा राघवसिंह की कारामुक्ति के उपलक्ष्य में उस तिथि के (पुराणों की कथा के अनुसार) कलंकित चन्द्रमा की पूजा उसके राज्य तिरहुत में उसी दिन से आरम्भ हुई। पीछे चलकर वह तिथि पर्व दिवस बन गयी, और उसका नाम चौथ-चन्दा पड़ा। इस पर्व के बड़े समारोह के साथ मनाने का प्रचलन मिथिला के अतिरिक्त भारत के अन्य प्रदेशों में नहीं है।

राजा राघवसिंह के पश्चात् उसका पुत्र विसुनसिंह राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। उसने १७३९ से १७४३ ई० तक मिथिला के शासक के रूप में राज्य किया।

विसुनसिंह के निधन के पीछे राघवसिंह के द्वितीय पुत्र नरेन्द्र सिंह ने १७४३ ई० से १७७० ई० तक मिथिला के सिंहासन पर बैठकर राज्य-शासन किया। निश्चित समय पर राजस्व नहीं चुकाने के कारण उसके विरुद्ध अलीवर्दी खाँ ने पुनः अभियान किया। इस प्रकार की राजस्व सम्बन्धी झंझट खण्डवाल कुल के मिथिलेश के विरुद्ध अलीवर्दी खाँ के समय में तीसरी बार उठ खड़ी हुई थी इस बार बड़ी तैयारी के साथ अलीवर्दी खाँ की सेना ने राजा पर चढ़ाई कर दी। परिस्थिति कठिन देखकर महाराजा नरेन्द्रसिंह ने अपने मित्रों की कुमुक के साथ आक्रामक सेना के प्रतिरोध के विचार से रण-यात्रा की। उस काल के समर में दरभंगा जिले के नरहन राज्य के द्रोणवार ब्राह्मण कुलोद्भव राजा केशोनारायण (केशोशाह) के वीर पुत्र राजा अजित नारायण ने भी महाराजा के साथ होकर शत्रु के विरुद्ध लोमहर्षक युद्ध किया था। उस संगर का सुन्दर वर्णन दरभंगा महाराजा के एक प्रशस्तिकार कवि ने कवित्त में किया है। वह कवित्त नीचे अंकित किया जाता है, यथा :—

"ऐसे महा जोर घोर जंग सुलतानी बीच झुकत ववर जंग संगर करिन्द्र है।
औलिया नवाब नामदार पूछे बार बार दोउ कौन लड़े अति वारणा परिन्द्र है॥
साहब सुजान जैन उद्दीन अहमद खाँ आगे हो अरज करे, कहे कवि चन्द्र है।
एतो द्रोणवार केशो शाह को अजीत शाह आगे राघवसिंह के नवल नरिन्द्र है॥
"किलकिलै योगिनी वैताल करताल दै दै गहि करवाल कर कालिका सकाती है।
भभकि भभकि उठै लोह की लहर रण लखि लोथ वैरी-वधु विष खोज खाती है॥
एके आये पाँव रोप्यों राघव महीप-सुत धीर कवि बाढ़ौ रोष जाकी रंग राती है।
गाजीराम शेर खाँ की कैसी फौज भागी जैसे नाहको निरखि कै नवोढ़ा फिर जाती है॥"

(श्यामनारायण सिंह : 'हिस्ट्री ऑफ तिरहुत' के वर्णन के आधार पर)

उपर्युक्त युद्ध, जिसका वर्णन ऊपर के कवित्तों में किया गया है, १७५० ई० के लगभग बिहार और बंगाल के नवाब (दिल्ली के बादशाह का प्रतिनिधि शासक) अलीवर्दी खाँ की आज्ञा से सम्भवतः उसके निजी सैनिकों ने किया था। उसके पहले उसका आदेश पाकर पटना के सूबेदार राजा रामनारायण ने सेनापति महथा के अधीन महाराज नरेन्द्रसिंह के विरुद्ध सेना भेजकर महाराजा पर आक्रमण किया था। उस चढ़ाई के काल में भी पीछे

अलीवर्दी खाँ की सेना महाराजा के विरुद्ध टूट पड़ी थी । यह युद्ध कंदर्पीघाट पर हुआ था । इस समर का अति रोचक वर्णन मंगरौनी ग्रामवासी लाल कवि ने किया है, जिसका प्राप्त अंश नीचे अंकित किया जाता है । महाराजा ने उस युद्ध में सूबेदार की सेना को बुरी तरह परास्त किया था ।

कन्दर्पीघाट का युद्ध

''रामनारायण भूप सों, कह्यो मुखलिफ जाय ।
हाकिम को मिथिलेश ने, दीनो अदल उठाय ।।
सीरकरो तिरहूत को,ताके रचो उपाय ।
फौजदार महथा भये, संग सलावत राय ।।
वखत सिंह कुल उद्धरण, रोडमल्ल दिलपूर ।
चौगान-भानु भानु शुकुल, एक एक ते सूर ।।
याही सब तैनात करि, फौजहि पाँच हजार ।
दिगशुल सम्मुख योगिनी, महथा उतरे पार ।।
सभै पेटि वान्हेयो कम्मर जड़ावा । पूछे राज में दूर केते भवाड़ा ।।
खबरदार ने खबरि करि, नृप से कहेउ बुझाय ।
पाँच हजार सवार लै, महथा पहुँचे आय ।।
किल्ला हूँ ते कूच करि, कर में गहे कमान ।
महाराज डेरा दियौ, हरिणा के मैदान ।।
रामपटी ते कूच करि, पड़ौ अचानक जाय ।
तब डंका भूपति सन्यो, नाजिम पहुँचे आय ।।
जाफर खाँ के साथ में, दूजे हाला राय ।
डंका दे बख्सी चले, चढ़े खेत पर जाय ।।
महथा पेच खेलाय के, काहु देखायो वाट ।
सबै फिरे मैदान छोड़ि फौजदार भागि गो ।
भयो फतह भू-पाल की सुकत वम्व वाजि गो ।।
लूटि लूटि लायो सबनि, लिधुर लपेटे अंग ।
लाल कवि ऐहि भाँति भौ, समर भिखारी भंग ।।''

उपर्युक्त कविता में स्थानों के नाम, जैसे 'हरिणा का मैदान', 'रामपट्टी' 'गंगदुआर घाट', आदि अंकित किये गये हैं । इससे पता चलता है कि वह समर कहाँ हुआ था । मिथिला के निवासियों की उस युद्ध में शानदार जीत हुई थी । महाराज ने वह समर नवाब एवं सूबेदार की ज्यादतियों के विरोध में किया था । कन्दर्पी घाट का अस्तित्व कमला और बलान नदियों के बीच दरभंगा जिले में वर्तमान झंझारपुर नगर के निकट था ('सर्चलाईट', पटना, २१-५-१९६७) । नदियों की धारा विशेषकर मिथिला में, बार-बार बदलती रहती है । इसलिए समर का स्थान अब नदी की धार से हटकर पड़ता है । अब वह घाट नहीं रह गया है । उस काल भी रण नदी के घाट से हटकर मैदान में ही हुआ होगा ।

अलीवर्दी खाँ और महाराज नरेन्द्रसिंह के बीच का वह युद्ध, जिसमें नरहन के राजा केशव नारायण राय के द्वितीय पुत्र (फतहनारायण राय का अनुज) अजित नारायण राय ने महाराजा के सहायक-मित्र के रूप में अरि-दल का दलन किया था, आज भी मिथिला में अनुश्रुति का रूप धारण कर वहाँ के निवासियों के मानस में जननी जन्मभूमि के प्रति श्रद्धा, भक्ति, तथा उसकी मान-मर्यादा की रक्षा के हेतु बलिदान का सन्देश अहर्निश देता हुआ भावी सन्तान को स्वाभिमान के मन्त्र से दीक्षित तथा देश-प्रेम की भावना से अनुप्राणित कर रहा है ।

ऊपर अंकित संग्राम की चर्चा गुलाम हुसेन सलीम प्रणीत एवं एस० अब्दुल सलीम द्वारा अनुदित 'रियाजू-एस-सलतिन' (कलकत्ता, १९०२ ई० का संस्करण) के पृ० २०६ में की गयी है । उसमें लेखक ने अंकित किया है कि अफगानों की सहायता लेकर अलीवर्दी खाँ ने अपनी वाहिनी के साथ बेतिया एवं भौआरा के राजाओं के राज्यों पर चढाई की थी । वे दोनों ही अनुशासन-हीन थे, और उनके अभिमानी मस्तक कभी किसी सूबेदार के सम्मुख झुके नहीं थे । उनके राज्य के अन्दर इसके पूर्व किसी भी नाजिम की सेना के पैर नहीं पड़े थे, और उन्होंने कभी सम्राट् अथवा उसके प्रतिनिधि के यहाँ राजस्व अथवा राजकरों की चुकती न की थी । अलीवर्दी खाँ उनके साथ लगातार तुमुल युद्ध कर अन्त में सफलीभूत हुआ आदि । उपर्युक्त वर्णन से पता चलता है महाराज को नवाब एवं सूबेदार के विरुद्ध बार-बार संग्राम करना पड़ा था । पहले अलीवर्दी खाँ ने सूबेदार राजा रामनारायण को आदेश देकर महाराजा के विरुद्ध रणयात्रा करवायी । उसके रण में विफल होने पर उसने चुने हुए अपने सुरक्षित सैनिक जवानों को पुनः महाराजा का दमन करने के हेतु भेजा । पर यह युद्ध कहाँ हुआ, इसका पता नहीं है । लेखक के इस लेख से कि-'अलीवर्दी खाँ उसके साथ लगातार तुमुल युद्ध कर अन्त में सफलीभूत हुआ', यह पता चलता है कन्दर्पीघाट का समर तथा दूसरा संग्राम भी किंचित् काल के अन्दर ही क्रमशः आरम्भ हुआ था ।

महाराजा नरेन्द्रसिंह ने बंगाल और बिहार के सूबेदार को अफगान सरदार मुस्तफा खाँ के विरुद्ध सहायता भी दी थी ।

नरेन्द्रसिंह के पश्चात् उसकी रानी पद्मावती ने १७७० ई० तक राज्य का शासन किया । एकनाथ सिंह का पुत्र प्रतापसिंह नरेन्द्रसिंह का दत्तक पुत्र था । वयस्क होने पर उसने १७७८ ई० से १७८५ ई० तक मिथिला के सिंहासन पर विराजमान होकर राज किया । इस भूपति ने अपनी राजधानी को भौआरा से झंझारपुर में स्थानान्तरित किया ।

प्रतापसिंह के पश्चात् उसका विमाता-पुत्र माधवसिंह मिथिला की गद्दी पर बैठा । उसने १७८५ से १८०७ ई० तक शासन किया । माधवसिंह ने अपनी राजधानी झंझारपुर से हटा कर दरभंगा में बनायी । लार्ड कार्नवालिस ने उसके शासनकाल में जमीन की दमामी बन्दोबस्ती करवायी थी ।

माधवसिंह के पश्चात् छत्रसिंह दरभंगा की गद्दी पर बैठा। उसको मारक्विस हेस्टिंग्स (लौर्ड मोआएरो) ने महाराजा की उपाधि दी थी । इस भूपति ने नेपाल-युद्ध में, जो १८१४-१५ ई० में हुआ था, अंग्रेजों की सहायता की थी । छत्रसिंह ने १८०७ से १८३९

ई० तक राज किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् महाराजा रुद्रसिंह ने १८३९ से १८५० ई० तक शासन किया। महाराजा रुद्रसिंह के बाद महेश्वर सिंह मिथिला की गद्दी पर बैठा। उसने १८५० से १८६० ई० तक राज किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् दरभंगा-राज प्रतिपालक अधिकरण (कोर्ट ऑफ वार्ड्स) की देख-रेख में ले लिया गया। जब ज्येष्ठ कुमार लक्ष्मीश्वर सिंह बालिग (वयस्क) हुआ तब वह अपने पैतृक सिंहासन पर विराजमान हुआ। उसको के० सी० आई० ई० तथा जी० सी० आई० ई० की उपाधियाँ ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदान की गयीं। महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह का शासनकाल १८८० से १८९८ ई० तक रहा। वह उदार विचार का लोक-हितैषी नरेश था। उसके दरबार में अनेक लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों को प्रश्रय प्रायः सर्वदा मिलता रहा। उसकी उदारता एवं जनप्रियता की अनेक कथाएँ मिथिला की जनता में प्रचलित हैं। वह विद्या एवं कला का प्रेमी था। उसके शासनकाल में अनेक प्रजाहित कार्य हुए। अस्पतालों (चिकित्सालयों) एवं विद्यालयों का निर्माण किया गया तथा देव-मन्दिर भी बने।

महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह के शरीरान्त के पश्चात् उसका अनुज महाराजा रमीमेश्वर सिंह सिहासनारूढ़ हुआ। उसको ब्रिटिश सरकार की ओर से 'महाराजाधिराज' का विरुद प्राप्त हुआ, तथा और भी अनेक उपाधियाँ मिलीं। वह अपने अग्रज की भाँति ही विद्वानों का संरक्षक, कलाओं का पोषक, एवं निर्माण-प्रिय अति उदार नरेन्द्र था। उसने भारत के मुख्य- मुख्य नगरों में अपने अनेक राजभवन बनवाये तथा मन्दिरों का भी निर्माण किया। उसके निर्माण-कार्यों के कारण उसकी तुलना प्रायः दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ से की जाती थी। दरभंगा जिले के मधुबनी अनुमण्डल के राजनगर में उसने एक विशाल एवं भव्य राजप्रासाद का निर्माण करवाया था, और उसकी इच्छा थी कि दरभंगा से राजधानी का वहाँ स्थानान्तरण किया जाय। पर उसके उस विचार की कार्यान्विति न हो सकी। काशी- विश्वविद्यालय के निर्माण में महामना पं० मदनमोहन मालवीय जी के साथ उसका भी बहुत बड़ा हाथ था। वह स्वयं विद्वान् था, विद्वानों का समादर करता था, तथा विद्या के प्रचार में तन-मन-धन से सतत प्रयत्नशील रहता था। उसको अन्य उपाधियों के साथ 'डॉक्टर ऑफ लिटरेचर' की उपाधि भी प्राप्त हुई थी। उसके दो पुत्र थे-(१) महाराजाधिराज कामेश्वर सिंह, तथा (२) राजा बहादुर विश्वेश्वर सिंह।

महाराजाधिराज रमेश्वर सिंह की मृत्यु के बाद महाराजाधिराज कामेश्वर सिंह मिथिला के राज्य-सिहासन पर आसीन हुआ। अपने राज्य में उसने सुधार एवं जनहित-कार्य किये। अपने पूज्य पिता के अनुरूप ही वह भी निर्माण-प्रिय एवं कलाविद् भूपति था। महाराजा कामेश्वर सिंह का विचार प्रगतिशील था। उसकी अभिरुचि देश की राजनीति में अधिक थी। उसने विदेश की यात्रा भी की थी, और भारतीय नेतृ-मण्डल के एक सदस्य के रूप में अपने देश की तात्कालिक राजनीतिक स्थिति पर अंगेजी सरकार के नीतिज्ञ अधिकारियों के साथ विचार-विमर्श किया था। महाराजाधिराज कामेश्वर सिंह के शासनकाल में ही भारत ने ब्रिटिश सरकार की परतन्त्रता के जूए को अपने कन्धे से उतार फेंका था। देश स्वतन्त्र हुआ। जमींदारी प्रथा का उन्मूलन हुआ, और जमींदारों को उनकी जमींदारी का प्रतिकर (क्षतिपूर्ति) देने का आश्वासन नवीन कांग्रेसी सरकार ने दिया। देश की स्वतंत्र

करने में महात्मा मोहनदास करमचन्द गांधी (युगपुरुष बापू) के नेतृत्व में अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस के तत्कालीन नेताओं एवं सदस्यों की त्याग-तपस्या उल्लेखनीय तथा आदर्श थी । अतः देश की जनता ने राष्ट्र में आदर्श शासन स्थापित करने के हेतु अत्यधिक मत से कांग्रेस को अपनी सरकार कायम करने के प्रयत्न में सहयोग देकर उसको सफल बनाया । उसके आरम्भ के अनेक सुधार-कार्यों में जमींदारी का उन्मूलन भी एक क्रांतिकारी कार्य था । जमींदारी-उन्मूलन होने के साथ-साथ मिथिला से महाराजाधिराज कामेश्वर सिंह तथा बेतिया, शिवहर, मधुबन, नरहन, सुरसंड आदि का शासन भी समाप्त हो गया । सामन्तशाही समाप्त हो गयी । पर इसमें सन्देह नहीं कि जमींदारों एवं सामन्तों का स्थान स्वतन्त्र भारत में राज्य सरकार के सम्बद्ध अधिकारियों ने ले लिया । इस प्रकार जमींदारी प्रथा के विधानतः कागज से उठ जाने पर उसके रूप में नाम मात्र का परिवर्तन हुआ, और जमींदार बदल गये । पहले जमींदारों की सामन्तशाही की कथा सुनी जाती थी और अब जमींदारी से सम्बन्धित सरकारी पदाधिकारी वर्ग और उनके अधीन कर्मचारियों की सुनी ही नहीं, देखी भी जाती है । स्वतंत्रता-संग्राम के चालू रहने के काल में कराँची कांग्रेस ने किसानों के जो मौलिक अधिकार स्वीकृत किये थे, यदि देश के कांग्रेसी तथा अन्य शासन द्वारा उनका अक्षरशः पालन होता तो किसानों के भाग्य पलट जाते । दरभंगा, नरहन, बेतिया, सुरसंड, शिवहर आदि राज्यों की वयस्क प्रजा, जिन्होंने उन राजाओं के शासन तथा वर्त्तमान पदाधिकारियों के शासन को अपनी आँखों देखा है, का कहना है कि शोषण उन सामन्तों के काल में ही कम था और वे सुखी थे । सरकार तो केवल नीति-निर्धारित करती है पर कार्यपालक हैं—उसके पदाधिकारीगण । सुशासन एवं प्रजा वर्ग की संतुष्टि उन सबों की ऊँची और नीची नैतिकता पर निर्भर करती है ।

जमींदारी उन्मूलन के पूर्व उदार महाराजाधिराज कामेश्वर सिंह ने अपने प्रिय छोटे भाई राजा बहादुर विश्वेश्वर सिंह को दरभंगा में एक भव्य राजभवन के अतिरिक्त अपने पूज्य पिता द्वारा निर्मित राजनगर का विशाल एवं दर्शनीय राजप्रासाद देकर तथा उस अंचल का राज्य-व्यवस्था-भार उसको सौंप कर उसे वहाँ का राजा बनाया था । समाज-हित के कार्यों में भ्रातृद्वय को अत्यधिक प्रेम तथा रुचि थी । महाराज कामेश्वर सिंह ने अपने शासनकाल में अनेक जनहित कार्य किये । उसका अनुज राजा बहादुर विश्वेश्वर सिंह अति जनप्रिय, सरल हृदय, मिलनसार, मृगया-कुशल, दीनबन्धु एवं लोक-हित-चिन्तक व्यक्ति था । दोनों ही भाई विद्या और कला के पोषक तथा विद्वानों का समादर करने वाले थे । महाराजा कामेश्वर सिंह ने दरभंगा में संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना करवायी तथा उसके लिए आनन्दबाग का विशाल एवं मनोरम राजमहल दान में दिया । दरभंगा में मेडिकल स्कूल, जो पीछे चलकर कॉलेज में परिवर्तित हुआ, की स्थापना में भी महाराजाधिराज का बहुत बड़ा हाथ था । प्रतिवर्ष 'कामेश्वर प्रिया पूअर होम' में दीनों एवं असहायों के सेवार्थ नेत्र-दान-यज्ञ का देश के विशिष्ट नेत्र-रोग-विशेषज्ञों द्वारा अनुष्ठान आदि सत्कार्य अन्तिम मिथिलेश दरभंगा-नरेश की उदार दानशीलता का प्रतीक है । महाराजाधिराज कामेश्वर सिंह भारतीय संघ राज्य के संसद-सदस्य भी रह चुके थे । उनके कनिष्ठ भ्राता राजा विश्वेश्वर सिंह ने दरभंगा जिला परिषद् का दो बार सदस्य निर्वाचित होकर अध्यक्ष का पद सुशोभित किया था । दोनों भाइयों की समाज-सेवा के प्रति श्रद्धा

एवं रुचि के उनके उपर्युक्त सेवा-कार्य परिचायक हैं । महाराजाधिराज कामेश्वर सिंह खण्डवाला-कुल का अन्तिम नरेश था । उसने अपने शासनकाल में अनेक भव्य भवनों का निर्माण किया । कामेश्वर सिंह को संतति नहीं थी । अतः राजबहादुर विश्वश्वेर सिंह जी के ज्येष्ठ पुत्र कुमार जीवेश्वर सिंह दरभंगा महाराज के राजविभव का वर्तमान उत्तराधिकारी है ।

दरभंगा के सभी खण्डवाल-वंशीय महाराज उदार, कला-प्रिय, साहित्य-सेवी, धार्मिक आचरणशील, विद्या-प्रेमी एवं मनीषियों के पोषक और तोषक थे । महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह का राजनीतिक विचार अति उच्च था । स्वयं बड़ा सामन्त रहते हुए भी वह अपनी मातृभूमि भारत को उन्नत एवं विदेशियों की पराधीनता से मुक्त देखना चाहता था। पर उस समय परिस्थिति प्रतिकूल थी । महाराज रमेश्वर सिंह का काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना में विशेष हाथ था, जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है । खण्डवाल राजकुल के शासनकाल में मिथिला में साहित्य-संवर्द्धन-कार्य भी सम्यक् रूप से हुआ। अनेक भव्य देव-मन्दिरों का निर्माण भिन्न-भिन्न स्थानों में किया गया । खण्डवाल-नरेशों का राज्यकोष नाना प्राकर के बहुमूल्य रत्नों से परिपूर्ण था । अन्तिम दरभंगा महाराज कामेश्वर सिंह ने भी उनका पर्याप्त संग्रह किया था । फ्राँस की प्रसिद्ध जनक्रान्ति का लक्ष्य अभागा राजा सोलहवें लुईस की भाग्यहीन महारानी मेरी अण्टोएनेट के बहुमूल्य रत्नों का ग्रीवाहार, जो उस राजकीय दम्पति के ऐतिहासिक विनाश के बाद क्रान्तिकारियों को उनकी अन्य सौख्य-सामग्रियों एवं विलास ऐश्वर्य के साथ हाथ लगा था, को भी महाराज कामेश्वर सिंह ने अपने विलायत-यात्रा-काल में क्रय किया था । कहा जाता है कि मिथिला-भूप के राज्यकोष में बहुमूल्य रत्नों का संचय भारत के अद्वितीय धन-कुबेर निजाम से भी अधिक था । रत्न-मणियों को अनुत्पादक सम्पत्ति समझ कर महाराजा की मृत्यु के पश्चात् उनमें से अधिकांश बेच दिये गये हैं परन्तु फ्राँस का वह इतिहास-प्रसिद्ध हार अखबारों में प्रकाशित समाचार के अनुसार १९६८ ई० के नवम्बर महीने तक राज्यकोष में ही था । जौहरियों ने उसका मूल्य ग्यारह लाख से भी अधिक लगाया है । किन्तु उसको अभाग्य का प्रतीक समझ कर किसी ने खरीदा नहीं है । उसको धारण करने वाली महारानी तथा उसके पति की फ्राँस में बुरी गति हुई । दरभंगा के राजमहल में उसके पहुँचने पर अचिर राज्य के विनाश के साथ उसके स्वामी का भी अकाल अन्त हो गया ।

महात्मा गांधी द्वारा चालित, भारतवर्ष को विदेशियों के शासन से मुक्ति दिलाने के लिए किये गये, राजनीतिक आन्दोलन को भी मिथिला में महाराज कामेश्वर सिंह का नैतिक सहयोग सर्वतोभावेन प्राप्त था ।

द्रोणवार ब्राह्मण राजकुल

ओइनवार-कुल के सातवें भूप राजा शिवसिंह के शासनकाल के वर्णन के सम्बन्ध में वर्तमान नेपाल तराई के सप्तरी जिले के राजबनौली के राजा पुरादित्य (गिरिनारायण) का उल्लेख किया जा चुका है । सुलतान की सेना के साथ स्वतन्त्रता के अन्तिम संग्राम में राजा शिवसिंह के निधन के पश्चात् उसकी महारानी लखिमा रानी विद्यापति की

संरक्षिता में राजपरिवार के साथ राजबनौली के द्रोणवार-वंशीय राजा पुरादित्य के राज-दरबार में शरणार्थी के रूप में उपस्थित हुई थी । राजा ने उन सबों का सादर स्वागत कर यत्नपूर्वक अपने यहाँ उनके आपत्ति के दिनों में सुरक्षित अवस्था में रखा । इसकी चर्चा भी पूर्व के पृष्ठों में की जा चुकी है ।

राजा पुरादित्य (गिरिनारायण) द्रोणवार वंशीय ब्राह्मण था । संभवतः गिरिनारायण उसका नाम था और 'पुरादित्य' उसके शौर्य का प्रतीक विरुद । द्रोणवारों के मूल के विषय में कुछ विद्वानों का मत है कि पूर्व में वे सब किसी पर्वत-उपत्यका अथवा अधित्यका के अधिवासी थे । वहाँ से शनैः-शनैः वे सब समतल भूमि में आये ।

द्रोणी दो पर्वतों के मध्य की भूमि को कहा जाता है । पुरादित्य का निवास आधुनिक नेपाल तराई के सप्तरी जिले के सम्भवतः किसी पहाड़ी एवं वन्य-प्रदेश में रहा होगा । इसी कारण उसको द्रोणवार-कुल का कहा गया होगा । राँची, संथाल परगना, आदि जिलों के पहाड़ी प्रदेशों में जैसे वहाँ के आदि निवासीगण उराओं, तानाभगत आदि जाति के लोग निवास करते हैं, ठीक उसी प्रकार पुरादित्य के पूर्वज भी वर्तमान नेपाल के नीचे की पहाड़ियों के बीच तलहटी में निवास करते रहे होंगे, जिससे उन्हें 'द्रोणवार' की संज्ञा मिली थी । परन्तु तर्क इसको स्वीकार नहीं करता है । द्रोण एक पर्वत विशेष का प्राचीन पौराणिक नाम है । पर वह नेपाल के सप्तरी जिले से दूर है । द्रोण का अर्थ होता है काष्ठ-निर्मित पात्र, जिसमें अति प्राचीन काल में सोम-रस रखा जाता था । कठौता, नाव आदि को भी द्रोण कहा जाता है । द्रोणी काष्ठ-निर्मित छोटे कठौते को कहते हैं, तथा दो पहाड़ियों के बीच की भूमि को भी । पर शब्द है द्रोणवार, द्रोणीवार नहीं । सप्तरी जिले की सीमा के संलग्न हिसार, खजुरी, कोलुआ, मूरा, मधुबन तथा उनके आस-पास के ग्रामों में द्रोणवार ब्राह्मणों का अब भी निवास है । वहाँ की जनश्रुति बताती है कि उनके पूर्वजों ने दरभंगा जिले के समस्तीपुर अनुमंडल के बैनी ग्राम के निकटवर्त्ती किसी ग्राम से आकर नेपाल तराई में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी । पीछे चल कर नेपाल महाराज के उन सबों की बढ़ती शक्ति से सशंक होने के कारण दुरभिसन्धि द्वारा उस राजपरिवार की विष-प्रयोग से हत्या की गयी । एक स्वामिभक्त राजा के निजी अनुचर राकू कमती ने शिशु राजपुत्र को उसकी माता के साथ प्रच्छन्न रूप से राज्य के बाहर ले जाकर एक सुरक्षित स्थान में उन्हें रखा, तथा उन दोनों का पालन-पोषण किया, और कुछ लोग जो वहाँ से अलग थे, उन्हें वहाँ से हटने के हेतु बाध्य होना पड़ा । वे सब हिसार आदि ग्रामों में बस गये । हिसार के अतिरिक्त सप्तरी जिले की सीमा से संलग्न भारत-राज्य के मिथिला के कई ग्रामों में अब भी द्रोणवार ब्राह्मणों का निवास है, जो पहाड़ियों के बीच की भूमि के रहने वाले नहीं हैं ।

प्रचलित अनुश्रुति आधुनिक महोतरी एवं सप्तरी जिले की सीमा के निकटवर्ती झहुरी (जहरी) पोखरे का सम्बन्ध द्रोणवार राजकुल के सदस्यों के वहाँ विष-प्रयोग द्वारा विनाश से बताती है । उपर्युक्त पोखरे के निकट के गाँवों में भी द्रोणवारों का निवास है। अब भी वहाँ के कतिपय द्रोणवारों को प्राचीन राजकुल का बताया जाता है । उस स्थान की ग्रामीण जनता उनके परिवार वालों को 'राजा जी' कह कर सम्बोधित भी करती है । लेखक ने झहुरी ग्राम के द्रोणवार ब्राह्मणों के साथ सम्पर्क स्थापित कर उनके रक्त-सम्बन्ध

के विषय में उनसे जानकारी प्राप्त की है। वे सब अपने को राजा पुरादित्य (गिरिनारायण) का वंशज बताते हैं। गिरिनारायण के नाम के अन्त में उन लोगों ने 'सिंह' की उपाधि जोड़ रखी है। उनका कहना है कि झहुरी पोखर राजा गिरिनारायण सिंह पुरादित्य का खुदवाया हुआ है। उस ग्राम के बसने वाले एक द्रोणवार परिवार को समाज अद्यावधि राजपरिवार का मानता आया है, और उसके सभी सदस्यों को स्थानीय सभी लोग 'राजा' की आदर-सूचक पदवी से बातचीत में विभूषित कर उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हैं। पुरादित्य को 'अर्जुन-विजयी' का विरुद भी प्राप्त था। वह अर्जुन ओइनवार कुल के राजपरिवार का सदस्य था, जिसको राजा पुरादित्य ने रण कर पराजित किया था, तथा उसको मार कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया था।

विद्यापति के ग्रन्थ 'लिखनावली' में इस सम्बन्ध के दो श्लोक आये हैं, जो नीचे उद्धृत किये जाते हैं :-

"संग्रामेऽर्ज्जुनभूपतिर्व्विनिहतो बन्धौ-नृशंसायित ।
स्तेनेयं लिखनावली नृपपुरादित्येन निर्म्मापिता" ।।
"जित्वा शत्रुकुलं तदीयवसुभिर्येनार्थिनस्तर्पिता ।
दोर्दपार्ज्जितसप्तरीजनपदे राज्यस्थितिः कारिता"।।

ऊपर के श्लोक में 'बंधौनृशंसायितः' वाक्य अर्जुन के अपने निकट सम्बन्धियों के प्रति क्रूर, असद् एवं अमानुषिक व्यवहार का परिचायक है। इस श्लोक से यह भी स्पष्ट होता है कि पुरादित्य ने अर्जुन का वध किया था। राज्य के लोभ ने आततायी अर्जुन को नृशंस बना दिया था।

कुछ विद्वानों ने 'बन्धौनृशंसायितः' का पठान्तर 'बौद्धौ नृशंसायितः' कर उक्त पद से यह अर्थ निकाला है कि राजा अर्जुन ने अपनी बौद्ध धर्मावलम्बी प्रजा को उकसा-उभाड़ कर विद्यापति द्वारा किये जाने वाले यज्ञ में बाधा उपस्थित करवायी थी। यह घटना कवि के राजबनौली में शरण लेने के पश्चात् हुई। राजा गिरिनारायण पुरादित्य ने इससे क्रुद्ध होकर अर्जुन का वध किया। पर इस अर्थ में खींचातानी है, और उसमें तथ्य का अभाव है। पवित्र ओइनवार राजपरिवार के सदस्य द्वारा किये गये घृणित कर्म पर यवनिकापात करने तथा आवरण डालने के विचार से सम्भवतः ऐसा पठान्तर किया जाता है।

मिथिला के दरभंगा जिले में पूसा रोड स्टेशन से लगभग चार मील की दूरी पर एक ग्राम पुनास है, जो द्रोणवारों का तिरहुत में निवास का आदि-स्थान माना जाता है। यह पूर्व में लिखा जा चुका है कि ओइनवार कुल वाले ब्राह्मणों के ओइनी में निवास करने के पूर्व उनका वासस्थान जगतपुर में था। जगतपुर पूसा रोड (बैनी) रेलवे स्टेशन से लगभग ५-६ मील की दूरी पर है। वह ग्राम बूढ़ी गण्डक नदी के किनारे है। पुनास नामक ग्राम जगतपुर से संलग्न है, और वह भी उक्त नदी के तट पर बसा है। इसी पुनास से द्रोणवार-परिवार शनैः-शनैः निकल कर आगे बढ़े, और अपने शौर्य एवं पराक्रम से अपने लिए राजबनौली, नरहन आदि राज्यों की स्थापना की। यह उनकी प्रसारनीति का परिणाम था।

दरभंगा जिले की ओइनी (वर्त्तमान बैनी, पूसा रोड) में राजा शिवसिंह के पिता राजा देवसिंह तथा उनके पूर्वजों की राजधानी थी। देवसिंह ने ही परिस्थितिवश वहाँ से अपनी राजधानी को देकुली में स्थानान्तरित किया था। पुनास ओइनी के पड़ोस का ग्राम था। दोनों ग्रामों के बीच की दूरी भी लगभग चार मील से अधिक न थी। पुनास का भौगोलिक अस्तित्व जगतपुर और ओइनी के बीच था। इससे बहुत सम्भव है कि ओइनी के ओइनवारों और पुनास के द्रोणवारों के बीच पड़ोसी के नाते सौहार्द रहा हो।

भोगीश्वर ठाकुर के पुत्र गणेश्वर ठाकुर की हत्या कामेश्वर ठाकुर के पौत्र त्रिपुरपुत्र अर्जुन ने की अथवा करवायी थी। त्रिपुर के पिता का नाम भवेश अथवा भवसिंह था। भवसिंह के सम्भवतः चार पुत्र थे–(१) हरिसिंह, (२) त्रिपुरसिंह, (३) देवसिंह तथा (४) पद्मसिंह। ओइनवार–कुल के प्रसिद्ध राजा शिवसिंह के पिता का नाम देवसिंह था। इसलिए राजा शिवसिंह और त्रिपुर के पुत्र अर्जुन के बीच चचेरे भाई का सम्बन्ध था। भोगेश्वर अथवा भोगीश्वर ठाकुर भी कामेश्वर ठाकुर का ही पुत्र था। अतः उसके पुत्र गणेश्वर का सम्बन्ध भवेश–पुत्र त्रिपुर के साथ चचेरे भाई का था।

शिवसिंह के पिता देवसिंह का सम्बन्ध गणेश्वर की हत्या करने के हेतु किये गये अपने भाई हरि एवं त्रिपुर के षड्यन्त्र के साथ नहीं था। गणेश्वर की हत्या हो गयी, यह इतिहास बताता है। बहुत संभव है कि देवसिंह तथा उसके पुत्र शिवसिंह को अपने परिवार के एक सदस्य की हत्या के लिए कुचक्र रचने वाले अपने ही परिवार के व्यक्ति अर्जुन के प्रति हार्दिक घृणा हुई हो। स्मृतिकार मनु ने कहा है कि आततायी कोई भी क्यों न हो, उसकी हत्या बिना विचारे, बिना किसी प्रकार का आगा–पीछा किये, कर देनी चाहिए। शिवसिंह के आततायी चचेरे भाई अर्जुन को पुरादित्य ने मारा। उसका राज्य भी उसने स्वायत्त कर लिया। पर शिवसिंह तथा विद्यापति का वह स्नेहिल मित्र उस घटना के पीछे भी बना रहा। आपत्काल में रानी लखिमा एवं राज–सपरिवार को साथ लेकर विद्यापति ने उसी की शरण में जाना उचित समझा। उन सबों को उस पर विश्वास था, और उसने भी शरणागत की रक्षा कर अपने कर्त्तव्य का पालन किया। अनेक विद्वानों के मतानुसार राजा शिवसिंह देव का उपर्युक्त द्रोणवार राजपरिवार के साथ वैवाहिक सम्बन्ध था। अतः रानी लखिमा ने आपत्तिकाल में अपने नैहर में जाकर शरण ली। इस जन–अनुमान की चर्चा पूर्व में की जा चुकी है।

ऐसा लगता है कि गणेश्वर की हत्या उसके चचेरे भाई त्रिपुर के पुत्र अर्जुन ने की अथवा करवायी थी, जिससे ओइनवार–परिवार में स्नेह का सूत्र ढीला पड़ गया था। हत्यारे के प्रति क्षोभ, क्रोध एवं घृणा का होना स्वाभाविक था। अर्जुन शक्तिशाली रहा होगा। उससे प्रतिशोध लेने के लिए परिवार को किसी शौर्य–सम्पन्न व्यक्ति की सहायता की आवश्यकता हुई होगी। बहुत सम्भव है, उस कार्य को सफलतापूर्वक सम्पादन करने के योग्य व्यक्ति पड़ोस के ग्राम पुनास का पराक्रमी पुरादित्य मित्र अथवा सम्बन्धी के रूप में दुःखित परिवार को सहायता देने के हेतु मिल गया हो और उसने आततायी अर्जुन का वध कर उसके वंश एवं अधिकार के भू-भाग पर अपना आधिपत्य भी स्थापित कर लिया

हो । उस कार्य से पुरादित्य का हित-साधन हुआ होगा, एवं ओइनवार-परिवार के क्षुब्ध और संतप्त हृदय को प्रतिशोध से थोड़ी शांति भी मिली होगी । पुरादित्य, शिवसिंह तथा विद्यापति के बीच आत्मीयता का कारण सामाजिक-घनिष्ठता और पारिवारिक शत्रु से प्रतिशोध लेने की भावना, तथा उसमें सफलता-प्राप्ति-हेतु सहायता के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है ।

प्रतिष्ठित द्रोणवार ब्राह्मणों का निवास अब भी ओइनी (बैनी) ग्राम में है, जो अपने को पुनास का अधिवासी बताते हैं । ओइनी के आस-पास पुनास के अतिरिक्त कुबौली राम, महमदा, बिरौली, मोरसंड, सुक्की, वीरसिंहपुर, पोखरैरा, सिंगिया, राघोपुर, बेलसंडी, बलहा, समर्था, कल्याणपुर, मन्दा, विभूतिपुर, नरहन, देसुआ, कल्याणपुर, महथी, पगरा, भुसवर, साँख मोहन, पतैलिया, रामचन्द्रपुर, अख्तियारपुर, अहमदपुर गंगशरा, गंगापुर आदि ऐसे अनेक ग्राम हैं, जो मुख्यतः द्रोणवारों की बस्तियाँ हैं, तथा वहाँ द्रोणवारों की प्रधानता है, एवं समाज में उनकी मान्यता एवं प्रतिष्ठा भी है । नरहन में तो द्रोणवारों की राजधानी ही थी ।

उपर्युक्त सारी बातें इस तथ्य की द्योतक हैं कि द्रोणवार किसी पहाड़ी जाति के नहीं थे, जो पर्वत-घाटियों के वन्य प्रदेश से बहिर्मत होकर समतल भूमि में आ बसे थे, प्रत्युत वे मिथिला के अधिवासी थे, जिनके पूर्वजों ने अन्य आर्य सन्तानों की भाँति उत्तर भारत के ब्रह्मावर्त्त, मध्य देश और कान्यकुब्ज की ओर से आकर वहाँ निवास किया था । अनुश्रुति भी प्रसिद्ध और प्रचलित है कि –'सर्वे द्विजाः कान्यकुब्जाः' । कुवौली ग्राम के श्री मदनबिहारी सिंह के घर में द्रोणवार ब्राह्मणों की एक प्राचीन वंशावली संरक्षित है । उसमें लिखा है कि उन (द्रोणवारों) के पूर्वज शाहाबाद जिले के देकुली ग्राम से आये थे। वहाँ देकुली में भी उनके पूर्वज और पश्चिम से आकर बसे थे । नरहन राज्य के उत्तराधिकारियों में से एक श्री कामेश्वर नारायण सिंह (दीवान बहादुर) बहुश्रुत मनीषि हैं। वे अपने को देकुली के पाण्डेय-परिवार का बताते हैं । अपने नाम के पूर्व पांडेय उपाधि वे जोड़ते भी हैं ।

मिथिला एवं नेपाल तराई के द्रोणवार ब्राह्मण को महाभारतकालीन पाण्डवों एवं कौरवों के प्रसिद्ध शस्त्र-शास्त्र-आचार्य द्रोणाचार्य का वंशज बताते हैं । उनके कुल के प्रायः सभी प्राप्य प्राचीन टीपनों (जन्म पत्रियों) में नाम के पूर्व 'द्रोण-कुलोद्भव' शब्द अंकित पाया जाता है । इससे ज्ञात होता है कि वे सब द्रोणाचार्य के वंशज हैं ।

पर्वतराज हिमालय की तराई में नैनीताल अंचल के काशीपुर रेलवे स्टेशन के निकटवर्त्ती उत्तरापथ में द्रोण सागर नामक एक दर्शनीय झील है । कहा जाता है कि पाण्डवों ने अपने पूज्य-गुरु की मृत्यु के पश्चात् उनके स्मारकस्वरूप उस सरोवर का निर्माण करवाया था, और उसके आस-पास की जमीन गुरु-संततियों के निवासार्थ तथा जीविका-निर्वाहार्थ दी थी । प्राचीन हस्तिनापुर (दिल्ली के निकट) से कुछ दूरी पर द्रोणाचार्य का 'गुरु गाँव' था । परिवार की वृद्धि होने पर वहाँ से गुरु द्रोण के बहुसंख्यक वंशज द्रोण सागर के निकटवर्त्ती स्थानों में जा बसे । द्रोणाचार्य को महाभारत-प्रसिद्ध पुत्र वीर अश्वथमा के अतिरिक्त भी अन्य तनय थे । उनसे उनके वंश की वृद्धि हुई । अश्वथामा बाल-ब्रह्मचारी था ।

ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में उत्तर भारत का राजनीतिक वातावरण अशान्त एवं स्थिति डँवाडोल हो रही थी । मुहम्मद गजनवी के आक्रमणों ने उसके पूर्व उस ओर की सभी हिन्दू-राज-शक्तियों के साथ-साथ 'सकल उत्तरापथनाथ' की उपाधि से विभूषित गुर्जर प्रतीहारों के प्रबल केन्द्रीय साम्राज्य कन्नौज (महोदयश्री) की रीढ़ तोड़ दी थी । उस वंश के तत्कालीन वृद्ध सम्राट् भाग्यहीन राज्यपाल पर चन्देलों एवं कच्छप-घातों (कछवाहों) ने आक्रमण कर युद्ध-क्षेत्र में उसे मार डाला था । उसका पुत्र त्रिलोचन पाल उसका उत्तराधिकारी हुआ, पर उस काल तक प्रतिहारों के शक्ति-सूर्य की रश्मियाँ अति क्षीण हो चुकी थीं । वह उस कुल का अन्तिम सम्राट था । प्रतिहार-साम्राज्य ने लगभग सवा दो सौ वर्षों तक भारत का सच्चा प्रतिहार (द्वार-रक्षक) बनकर देश की शत्रुओं से रक्षा की थी (आर० सी० मजुमदार : एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३३४) । प्रतीहारों के पतन के पश्चात् देश रक्षक-विहीन होकर श्रीहीन और वीरान हो रहा था ।

प्रतीहारों के भी पूर्व के भारत के हर्षवर्द्धन के समान कोई पराक्रमी सम्राट् अब उत्तर भारत में रह नहीं गया था, जिसके शौर्य एवं शक्ति के प्रभाव से देश सुख-शान्ति का अनुभव करता । सम्पूर्ण उत्तर भारत में उस काल मत्स्य-न्याय का साम्राज्य फैल गया था । एक दूसरे का पराभव कर उसे कवलित कर लेने में ही अपना पुरुषार्थ समझता था । शक्ति-सम्पन्न अपने से निर्बल को अपना भक्ष्य मानता था । सारे देश में लूट-पाट मची थी । चन्देल, चालुक्य, कलचुरी, पम्मार आदि अपनी-अपनी शक्ति की परीक्षा समरांगण में कर राज्य-वृद्धि में लीन थे । कन्नौज के सबल प्रतीहार राज्य का अवसान हो चुका था उसके शव को राज-विभव-लोलुप क्षुद्र शक्तियाँ बुभुक्षित गृद्ध एवं श्वान-शृंगालों की भाँति नोचने तथा आपसी छीना-झपटी करने में तल्लीन थीं ।

देश की ऐसी विकट राजनीतिक अवस्था से लाभ उठाकर स्थान-स्थान पर महत्त्वाकांक्षी शक्तिधर व्यक्ति अपना मस्तक ऊँचा किये निजकुल के हेतु नये राज्य की स्थापना करने की चेष्टा कर रहे थे । उसी काल के लगभग कन्नौज में चन्द्रदेव गहड़वाल (राठौर), तिरहुत में नान्यदेव कर्णाट, बंगाल में विजय सेन आदि ने अपने-अपने निवास स्थान से निकल कर नये राज्यों की स्थापना की थी । उत्तर प्रदेश से द्रोणवारों ने भी समय-समय पर जत्था बनाकर अपनी शक्ति और भाग्य अजमाने के लिए पूर्व की ओर अग्रसर होने लगे । औरों की भाँति उन्हें कभी सफलता और कभी विफलताओं का सामना करना पड़ा । यह क्रम सदियों तक चलता रहा । परिणामतः द्रोणवार ब्राह्मणों की टोलियाँ बिहार राज्य के शाहबाद, सारण, मुजफ्फरपुर, दरभंगा, गया आदि जिलों एवं नेपाल की तराई में भी फैलकर स्थान-स्थान पर बस गयीं । अपने अभियान में जहाँ-जहाँ भी उन्हें सफलता मिली, वहाँ-वहाँ उन्होंने सुविधानुसार निवास करने की योजना बनायी । उनमें से कुछ लोगों ने किसी काल में शाहाबाद जिले में जाकर निवास किया, और कुछ अन्यत्र गये । शाहाबाद (भोजपुर, आरा) के देकुली नामक ग्राम में बसने वाले द्रोणवार देकुली के पांडेय के नाम से विख्यात हुए । कालान्तर में वहाँ से भी विस्थापित होकर कुछ लोग नयी जगह की खोज में आगे बढ़े और छपरा, मुजफ्फरपुर, दरभंगा आदि जिलों में उन सबों में प्रवेश किया, और उनमें से कुछ और भी आगे बढ़कर नेपाल तक पहुँच गये ।

अनुश्रुति प्रचलित है कि द्रोणवारों की एक शाखा ने सारण जिले में सीवान अनुमंडल के वर्त्तमान दरोरी थाने के एक गाँव को अपना निवास-स्थान बनाकर नाम द्रोण गाँव रखा था । पर कुछ दिनों के पश्चात् उससे भी शक्तिशाली किसी दूसरे दल ने वहाँ आकर उन सबों को पराभूत किया, और उस स्थान पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया । वह दल भी द्रोणवारों के दल की भाँति ही पश्चिम से विस्थापित होकर नये स्थान की खोज में पूर्व की ओर अग्रसर हुआ आ था । उसने द्रोणवारों के पैर वहाँ से उखाड़ दिये । द्रोणवारों को वहाँ पराजित करने के कारण विजेताओं ने उस स्थान का नामकरण द्रोण-दरौरी किया । द्रोण और दरौरी दोनों संलग्न पर अलग-अलग गाँव हैं । किन्तु जनता में प्रसिद्ध नाम द्रोण-दरौरी है । दरौरी में पीछे चलकर आरक्षी-आवास (थाने) का निर्माण हुआ । द्रोण-दरौरी में प्राचीन काल का एक विशाल डीह भी विद्यमान है ।

द्रोण दरौरी त्यागने के पश्चात् वहाँ से विस्थापित द्रोणवारों को कहीं पर पुनः न्यास करने की आवश्यकता हुई । वहाँ से चलकर उन लोगों ने सदानीरा (गण्डक, नारायणी) को पार किया । अब वे मिथिला में प्रवेश कर और आगे बढ़े, और बूढ़ी गण्डक के किनारे एक सुरक्षित तथा सुरम्य स्थान को पसन्द कर वहाँ उन सबों ने पुनर्न्यास किया, जिसका नाम पीछे चलकर पुनास पड़ा । यह पुनर्न्यास अथवा पुनास ग्राम दरभंगा जिले के समस्तीपुर अवर प्रमण्डलान्तर्गत समस्तीपुर थाने के अन्दर है, और आज भी द्रोणवार ब्राह्मणों की वह प्रमुख तथा सामान्य प्रतिष्ठित बस्ती है । देकुली के पांडेय लोगों का भी कहना है कि उनके पूर्वजों में से कुछ लोग मिथिला गये, और कुछ नेपाल भी । देकुली में निवास करने वाले पाण्डेय अपने को कान्यकुब्ज ब्राह्मण बताते हैं । मिथिला के भी द्रोणवारों की प्राचीन प्राप्य वंशावली में इसका उल्लेख है कि उनकी एक शाखा नेपाल में जा बसी थी ।

बारहवीं शती के प्रथम चरण में मिथिला के राजा कर्णाट क्षत्रिय राजकुल के संस्थापक नान्यदेव का अधिकार नेपाल पर भी हो गया था, यह इतिहास बताता है । वृहद विष्णुपुराण तथा अन्यान्य प्राचीन लेखानुसार तिरहुत की उत्तरी सीमा नगराज हिमालय की उपत्यका पर्यन्त थी । नान्यदेव ने नेपाल की विजय की थी, और उसकी तीनों राजधानियों (पाटन, काठमांडु एवं भटगाँव) पर उसका आधिपत्य हो गया था (आर० सी० मजुमदार : एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३७५)।

पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में नेपाल के सप्तरी जिले के राजबनौली नामक स्थान में द्रोणवार ब्राह्मण कुलोद्भव राजा गिरिनारायण पुरादित्य (सर्वादित्य पुरादित्य के पुत्र) का राज करना साहित्य (विद्यापति की पुस्तक 'लिखनावली') एवं इतिहास से प्रमाणित है । स्वतन्त्रता-संग्राम में वीर योद्धा मिथिलेश्वर शिवसिंह देव के वीरगति प्राप्त करने के उपरान्त उसकी विधवा रानी लखिमा देवी ने राजपरिवार तथा अपने पति के प्रिय एवं विश्वासपात्र सहचर कविश्रेष्ठ विद्यापति के साथ पुरादित्य की राजधानी राजबनौली में जाकर शरण ली थी, इसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है । कालान्तर में बनौली से द्रोणवार हटे और अन्यत्र उन्होंने अपनी राजधानी बनायी । सम्प्रति बनौली में द्रोणवार नहीं हैं ।

नेपाल की तराई तथा उसके निकटवर्ती भारतीय क्षेत्र में भी द्रोणवारों की बस्तियाँ हैं। उनमें से नेपाल के वन्य प्रदेश के निकट के कुछ निवासियों का आचार-विचार तथा उन सबों की रहन-सहन थोड़ी-बहुत नेपाल की थारू जति के लोगों से मिलती-जुलती है एवं साम्य रखती है, जो उन सबों के साथ उनके चिरसंसर्ग का प्रतिफल प्रतीत होता है। ऐसे द्रोणवार भी अपने को नेपाली थरुअट जाति से भिन्न मानते और बताते हैं। इस प्रकार नेपाल पहुँचने पर द्रोणवारों की रहन-सहन और रस्म-रिवाज में कहीं-कहीं थोड़ी दरार-सी पड़ गयी, जिसका पता सूक्ष्म दृष्टि से देखने और विचार करने पर लगता है। वहाँ एक वंश के होत हुए भी कालान्तर में वे दो माने जाने लगे। कहा जाता है कि जिन द्रोणवारों ने थारू जाति की कन्याओं के साथ विवाह कर सन्तानोत्पत्ति की उनके वंशज द्रोणवार तो कहलाये, पर उनकी रहन-सहन थारू जति के लोगों के संसर्ग से भिन्न हो गयी, और समाज में उनकी प्रतिष्ठा विशुद्ध द्रोणवारों की जैसी न रह गयी। शनैः-शनैः उनका गोत्र भी बदल गया। थरुअट द्रोणवार विशेषकर अपने को पराशर गोत्रीय बताते हैं। द्रोणवार ब्राह्मणों का गोत्र वत्स है।

आरम्भ में द्रोणवारों का दक्षिण बिहार, उत्तर बिहार, मिथिला एवं नेपाल से व्यापारिक सम्बन्ध विशेषकर था। उनमें शक्ति थी, साहस और अध्यवसाय था, तथा साथ ही सम्पत्ति भी थी। इस कारण जहाँ भी वे बस जाते थे, वहाँ उनका प्रभाव व्यापक हो जाता था। राजा गिरिनारायण पुरादित्य के काल के लगभग एक शती पश्चात् १६ वीं शताब्दी के मध्य से लेकर १७वीं शती के द्वितीय चरण के आरम्भ तक की अवधि में द्रोणवारों की वंशावली के अनुसार नेपाल के मकमानी तथा सप्तरी के इलाके में द्रोणवारों की उत्क्रान्ति दृष्टिगत होती है। नारायण पाण्डेय के पुत्र सुन्दर पाण्डेय तथा पौत्र साधु पाण्डेय एवं माधो पाण्डेय की यश-कीर्त्ति अद्यपर्यन्त जनश्रुति के रूप में जनता में प्रचलित है। कहा जाता है कि उस काल में उस कुल का प्रताप-सूर्य तराई नेपाल में मध्याह्न-कालिक आदित्य की प्रखर रश्मि-माला की भाँति तप रहा था।

जयनगर से पश्चिम, नेपाल नरेश के राज्य से दक्षिण में इन सबों का गढ़ मदनपुर में था। द्रोणवार-परिवार का प्रभाव मकमानी राज्य में धीरे-धीरे बढ़ता गया। सप्तरी में उनके पूर्वजों का राज्य था ही, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। झहुरी ग्राम में रहने वाले द्रोणवार राज-परिवार के लोगों में प्रचलित अनुश्रुति के अनुसार मकमानी राज की लम्बाई पूर्व से पश्चिम तक लगभग २० योजन एवं चौड़ाई उत्तर से दक्षिण तक सात-साढ़े सात योजन की थी। यह योजन दूरी की माप की एक संज्ञा है जो किसी के मत से २ कोस का, किसी के मतानुसार ४ कोस का तथा किसी के विचार से ८ कोस का होता है।

द्रोणवार वंशावली के अनुसार साधु पाण्डेय के दो पुत्र थे, (१) राय गणेश, तथा (२) राय बरियार। दोनों के नामों के पूर्व राय उपाधि है। इससे अनुमान किया जाता है कि दानों भाई राज्य के दो भागों में पृथक्-पृथक् राज करते थे। सम्भव है कि राय गणेश के वंशज शिशु गंगाराम के उस अंचल का त्याग करने पर राय बरियार के वंशजों में से किसी ने वहाँ झहुरी में अपना निवास-स्थान बनाया हो। उसके कुल के लोगों को आज भी स्थानीय जनता राजा जी कहकर उनके प्रति सम्मान एवं आदर-प्रदर्शित करती है।

साधो पाण्डेय एवं माधो पाण्डेय की उत्क्रान्ति के दिनों में नेपाल राज्य की राजनीति की नौका आपसी द्वेष-द्रोह के आवर्त में पड़कर डँवाडोल होती चक्कर काट रही थी । 'अब डूबी तब डूबी' की आशंका उसके लिए मानव-हृदय में स्वाभाविक थी । नेपाल के सूर्य वंशीय कर्णाट राजकुल के पतनोन्मुख होने पर कर्ण-राजकुमार जगतसिंह के जामाता जयस्थिति मल्ल का आधिपत्य नेपाल राज्य पर हुआ । उसके महापराक्रमी एवं विजेता पौत्र यक्ष मल्ल (ज्योति मल्ल के पुत्र) ने राजनीतिक-अदूरदर्शिता के कारण अपने विशाल राज्य को निज कलहप्रिय तीन पुत्रों तथा एक पुत्री के बीच बाँट दिया । उसके इस कृत्य ने नेपाल के अखण्डता को समाप्त कर दिया, जिसके कारण राष्ट्र निर्बल बन गया। उन चारों के वंशजों में मेल नहीं था । केन्द्रीय शक्ति रह नहीं गयी थी, जो संघ के रूप में उन चारों की शक्तियों का समुचित समन्वय कर नेपाल को शक्तिशाली बनाती। यक्ष मल्ल के शासन का काल १५ वीं शताब्दी का मध्य था ।

द्रोणवार नेपाल के जिस अंचल में निवास करते थे, उसके राजा पर १६ वीं शती के तृतीय चरण के लगभग शत्रुओं का आघात प्रायः हुआ करता था । सम्भवतः वह शत्रु यक्ष मल्ल का ही कोई वंशज था, जो अपने ही परिवार के दूसरे राजा पर आक्रमण कर उसे नीचा दिखाने में अपनी महत्ता समझता था । वह सदा उसको युद्ध के हेतु ललकारता तथा अन्तिमेत्थम् देता था, और उस राजा को अपनी शक्ति को ध्यान में रखकर उसके सामने सदा नत होना पड़ता था । द्रोणवारों से अपने राट् की ऐसी दशा देखी नहीं गयी। उन्होंने शत्रु के अन्तिमेत्थम् को स्वीकार कर समर करने का अनुरोध अपने राजा से किया, और युद्ध करने का भार अपने माथे पर ले लिया । द्रोणवारों के प्रमुख से वीरतापूर्ण आश्वासन पाकर राजा ने शत्रु की ललकार को इस बार सहर्ष स्वीकार कर लिया, और दोनों के बीच युद्ध छिड़ गया । नेपाल-राज की ओर से द्रोणवारों ने आक्रामकों के विरुद्ध लोहा लिया । उन्होंने रण-क्षेत्र में रिपु-दल को नाकों चने चबवाये । शत्रु के पैर उखड़ गये । वे सब भाग खड़े हुए । द्रोणवारों की सहायता से नेपाल राज्य की विजय-वैजयन्ती गगनोन्नत हुई । समरांगण में उस समर का नेतृत्व सेनानी के रूप में सुन्दर पाण्डेय के वीर पुत्र माधो पाण्डेय कर रहे थे । विजयोपहार में पाण्डेय परिवार को सप्तरी का पूरा इलाका नेपाल के महाराजा की ओर से प्राप्त हुआ । पीछे साधु पाण्डेय का पुत्र गणेश पाण्डेय सप्तरी एवं मकमानी का राजा घोषित किया गया, तथा वह राय गणेश के नाम से विख्यात हुआ । राय गणंश का पुत्र राजा अभिमान हुआ । वह भी महापराक्रमी एवं वीर योद्धा था। उसका विक्रम अत्यधिक व्यापक हो चुका था । अतः नेपाल-नरेश का मन्त्रिमण्डल उसको सशंक दृष्टि से देखने लगा । वह अब नेपाल राजसत्ता के भय का कारण बन गया, यद्यपि उसका हृदय अपने राजा के प्रति कलुषित नहीं था ।

उद्धवाँकित नेपाल-राज के मन्त्रियों ने राजा अभिमान के वर्द्धमान बल-विक्रम से भयभीत होकर राजा को उभाड़ा । उन लोगों ने बताया कि जिन द्रोणवारों के पराक्रम ने नेपाल-राज के प्रबल अजेय विपक्षी को देखते-देखते बात की बात में पराभव किया, और जिसकी सामरिक शक्ति दिनानुदिन उत्क्रमित ही होती गयी है, उससे राज-सिंहासन को किसी भी समय भय हो सकता है । अतः उसका छल-बल से उन्मूलन कर देने में ही बुद्धिमता और कल्याण है ।

मंत्रियों की मन्त्रणा से नेपाल-नरेश ने मृगया के बहाने सप्तरी की ससैन्य यात्रा की। वहाँ द्रोणवार राजा अभिमान ने नरेश का भव्य स्वागत एवं आतिथ्य किया। महाराज का दूसरा शिविर वर्त्तमान झहुरी पोखरा के निकट पड़ा। यह झहुरी पोखर दरभंगा जिले के लौकही थाने से लगभग एक मील दक्षिण-पश्चिम में है। द्रोणवार परिवार, जिसको जनता 'राजा' कहकर समादृत करती है, का आवास थाने से संलग्न दक्षिण में है। दरभंगा जिला परिषद् की सड़क थाना एवं लौकही उच्च विद्यालय के निकट होकर गयी है। द्रोणवार परिवार को समूल नष्ट कर देने की वहाँ नेपाल-महाराजा के शिविर में योजना बनी। अभिमान को सपरिवार वहाँ आमन्त्रित किया गया। नाना प्रकार के सुन्दर सुस्वादु भोजन विष के संयोग से चतुर पाचकों ने प्रस्तुत किया। पोखरे के जल में भी हलाहल घोला गया। विषयुक्त भोजन एवं जल-पान के कारण बहुसंख्यक की वहीं मृत्यु हुई। जो अर्द्धचेतनावस्था में बच भी गये, उन्हें तलवार के घाट उतारा गया। एक नन्हा-सा अबोध बच्चा, उस बच्चे की माता, तथा एक राकू कमती नामक स्वामिभक्त वृद्ध खवास, जिन्होंने भोजन वहाँ नहीं किया था, बच गये। राकू ने किसी प्रकार लुक-छिप कर उन दोनों माँ-बेटे की रक्षा करते हुए उनके साथ वर्तमान मुँगेर जिले के चाक साँभोग्राम के भरद्वाज गोत्रीय चकवार मूल के मैथिल ब्राह्मण राजा राजसिंह शाही, के राज में आकर निवास किया। राजा राजसिंह के पूर्वज का नाम चिरई मिश्र था, जिनका मूल था बेलौचे गढ़। मिथिला से गंगा-स्नान करने हेतु वे चाक पहुँचे जहाँ के मनोहर दृश्य एवं उपजाऊ भूमि देखकर उन्होंने उसे अपना निवास-स्थान बनाया। चाक में बसने के कारण उनका नया मूल चकवार हुआ। अपने अध्यवसाय से उन्होंने वहाँ एक राज्य की स्थापना की। वहाँ आने के पूर्व उनके कुल को मैथिल ब्राह्मण का कुल कहा जाता था। पर चाक में आने के पश्चात् राज्य और भूमि प्राप्त करने का कारण पीछे उनकी गिनती भूमिहार ब्राह्मणों में होने लगी। राजा बख्तारवसिंह राजसिंह के कुल में ही उत्पन्न हुए थे। बालक का नाम गंगाधर था। राकू ने झोपड़ी बनाकर उसमें उन दोनों माता-पुत्र को रखा, तथा अपने शारीरिक परिश्रम से उपार्जन कर दोनों का वहाँ पालन-पोषण करने लगा। स्वामिभक्त राकू की पुण्य-स्मृति में अद्यपर्यन्त सरेसा परगने के द्रोणवार उसके कुल-देवता की पूजा भी अपने यहाँ होने वाले यज्ञोपवीत, विवाह आदि संस्कारों एवं अन्य प्रकार के यज्ञों के अनुष्ठान के पूर्व अप्रने कुलदेवता की पूजा के समय द्वार पर उसकी ही जाति वालों से करवाते हैं।

उपर्युक्त झहुरी पोखर तथा उस ग्राम का, जहाँ वह पोखर है, क्या नाम था, इसका पता नहीं है। वहाँ पर द्रोणवार-परिवार को जहर दिया गया था तथा उस पोखर में जहर घोला गया था, इस कारण से उस ग्राम तथा पोखरे को लोग जहरी गाँव तथा जहरी पोखर कहने लगे। कालान्तर में जहरी से बदलते-बदलते वह ग्राम तथा पोखर झहुरी ग्राम एवं झहुरी पोखर कहलाने लगा और उसी नाम से वह आज भी प्रसिद्ध है।

कहा जाता है कि एक दिन चाक सांभों के नरेश राजा राजसिंह की सवारी बाहर निकली। राजमहल के बाहर मार्ग में उसने एक अतिबलशाली तेजस्वी बालक को साधारण लड़कों के साथ खेलते देखा। वह खेल में ही अपने साथ वयस्क बालकों पर रोब गाँठता था, और बात-बात में उस सबों को अपनी शारीरिक शक्ति एवं बुद्धिमानी से

पराभूत करता था। यह देखकर राजा को विस्मय एवं कौतूहल हुआ। उसने उस बालक का परिचय पूछा, और उसके वंश के विषय में छानबीन की। असली बात की उसको पता चल गया। अपना चर घटना-स्थल पर भेज कर उसने राकू कमती के कथन का सत्यापन कराया। प्रमाणित हो जाने पर उसने सपुत्र माता को प्रतिष्ठा के साथ राजमहल के विशेष कक्ष में स्थान दिया, और बालक की उचित देख-रेख एवं शिक्षा के लिए समुचित प्रबन्ध किया। इस सम्बन्ध में एक दूसरी अनुश्रुति भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि शिशु गंगाराम को खेत की आड़ पर सुलाकर राकू कमती राजा राजसिंह के खेत में मजदूरी कर रहा था, अथवा गेहूँ की फसल काट रहा था। बच्चे के मस्तक पर सूर्य की प्रखर किरणें पड़ रही थी। उससे उसकी रक्षा करने के हेतु एक विषधर नाग अपना फण छत्र के जैसा उसके मस्तक पर फैलाकर वहाँ रुक गया। राजा राजसिंह की दृष्टि उस अद्भुत दृश्य पर पड़ी और उन्होंने उस अबोध शिशु की परिचय-प्राप्ति के हेतु उत्सुकता प्रकट की। असल बात की जानकारी हो जाने के पश्चात् राजा ने माता सहित उस बालक को अपने राजमहल में ले जाकर श्रद्धा एवं स्नेह के साथ शरणार्थी के रूप में रखा तथा बालक की उचित शिक्षा-दीक्षा का भी प्रबन्ध किया। बालक गंगाराम के बड़ा होने पर उसकी प्रतिभा से रीझ कर राजा ने अपनी पुत्री भागरानी का विवाह उसके साथ कर दिया। उसने कुछ काल तक विवाह के पश्चात् भी अपने श्वसुरालय में ही निवास किया, किन्तु एक दिन चौसर खेलते समय हँसी-मजाक में ही अपने साला राजकुमार से वह अपमानित हुआ। गंगाराम स्वाभिमानी एवं भावुक युवक था। उसे उक्त घटना से मानसिक कष्ट हुआ। उसने अपने आश्रितों के साथ सस्त्रीक श्वसुर के राजप्रासाद का त्याग किया। अपने बाहुबल से अपने लिए राज्य स्थापना करने का दृढ़संकल्प कर वह अग्रसर हुआ। पीछे उसके श्वसुर एवं युवक साले ने भी अपनी सेना से उसकी सहायता की। राय गंगाराम ने पुनास के निवासी अपने द्रोणवार बान्धवों का स्मरण किया। उस होनहार युवक की महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति में उन लोगों ने भी हाथ बँटाया।

दरंभगा जिले के सरैसा परगने में उस काल ताजपुर एवं सुलतानपुर के निवासी दो सहोदर ताज खाँ और सुलतान खाँ नामक पठान सामन्त थे। दिल्ली सिंहासन पर उन दिनों सम्राट् शाहजहाँ विराजमान था। राय गंगाराम ने अपने सहायकों के साथ ताजपुर एवं सुलतानपुर पर आक्रमण कर दोनों भाइयों को समर में पराभूत किया। सरैसा पर अब राय गंगाराम का अधिकार हो गया। जमुआरी नदी के किनारे ताजपुर और सुलतानपुर के सन्निकट मोरवा ग्राम में सुदृढ़ गढ़ का निर्माण कर उसने अपनी राजधानी बनायी। मोरबा को अब भी सुलतानपुर मोरबा कहा जाता है। राजधानी के निकट ही गंगापुर नामक ग्राम गंगाराम के नाम पर बसाया गया। वहाँ भी द्रोणवारों का निवास अद्यपर्यन्त है। मोरबा-विजय के कुछ दिनों के पश्चात् राय गंगाराम का दूसरा विवाह वहाँ से कुछ दूरी पर स्थित सारंगपुर तिसवार ग्राम के निवासी कुसुमारे कुल के प्रसिद्ध मैथिल ब्राह्मण पंडित गोपीनाथ ठाकुर की शक्तिशालिनी कन्या मुक्तारानी के साथ हुआ। बादशाह शाहजहाँ ने राय गंगाराम के सरैसा परगने पर आधिपत्य की मान्यता प्रदान की। केन्द्रीय शासन की ओर से उसको 'राय रायान' की उपाधि मिली। राय गंगाराम के देहावसान के पश्चात् गंगा के मार्ग में जहाँ उसकी अन्त्येष्टि क्रिया की गयी, उस स्थान का नाम 'गंगशरा' (गंग+शरा=गंगशरा;

शर=चिता) पड़ा। कहा जाता है कि मोरवा के अतिरिक्त गंगशरा के निकट सारंगपुर में भी राय गंगाराम ने एक राजमहल बनवाया था। राय गंगाराम के शरीर के साथ मुक्तारानी गंगशरा में सती हो गयी। समाचार मिलने पर अपने पति की खड़ाऊँ के साथ भागरानी भी मोरवा में जमुआरी नदी के किनारे सती हुई। मोरवा गढ़ की बगल में उस पुण्यमती रानी का स्मारक सती-स्थान के नाम से प्रसिद्ध है। सम्प्रति वहाँ एक विशाल वृक्ष है। गंगशरा में जहाँ मुक्तारानी सती हुई थी, उस स्थान पर एक मन्दिर में भगवती की स्थापना की गयी। राय गंगाराम के पश्चात् द्रोणवार-राज्य की राजधानी का स्थानानतरण उसके पुत्र ताल राय (भेलाराय) ने मोरवा से नरहन में किया। राय गंगाराम से लेकर राय ब्रह्मदेव नारायण सिंह तक नरहन में द्रोणवार राजवंश के १३ भूपतियों ने राज किया।

राय गंगाराम से सातवीं पीढ़ी में चौधरी केशोनारायण सिंह का प्रतापी एवं प्रतिभाशाली पुत्र अजितसंह बहादुर हुआ। दरभंगा के महाराजा राघवसिंह के द्वितीय पुत्र महाराजा नरेन्द्रसिंह, जो अपने अग्रज विसुन (विष्णु) सिंह की मृत्यु-पश्चात् मिथिला के सिंहासन पर बैठा था, के शासनकाल १७५० ई० के लगभग बंगाल और बिहार को नवाब (दिल्ली के बादशाह का प्रतिनिधि शासक) अलीवर्दी खाँ की आज्ञा से पटने के सूबेदार राजा रामनारायण ने सेनापति महथा के अधीन विशाल सेना भेज कर महाराजा के विरुद्ध चढ़ाई की थी और पीछे अलीवर्दी खाँ की सेना ने भी आक्रमण किया था। उस काल एक युद्ध कन्दर्पी घाट के निकट हुआ। दरभंगा एवं नरहन के नरेशों में गाढ़ी मैत्री थी। दोनों एक दूसरे के सुख-दु:ख के साथी थे। अतः उन युद्धों में कुमार अजितनारायण सिंह बहादुर (केशोनारायण सिंह का द्वितीय पुत्र तथा फतहनारायण सिंह का अनुज) ने महाराजा नरेन्द्रसिंह के साथ होकर शत्रु-शैन्य के साथ भंयकर समर किया था। उन युद्धों का संक्षिप्त वर्णन खण्डवाल कुल के शासन के सम्बन्ध में लिखते समय पूर्व में अंकित किया जा चुका है। महाराजा के प्रशस्तिकार कवि ने कुमार अजितनारायण सिंह के महाराजा के साथ होकर प्रलंयकर युद्ध करने का उल्लेख ओजस्विनी भाषा में एक कवित्त का निर्माण कर किया था, जो पूर्व के पृष्ठों में खण्डवाल-राजकुल के वर्णन के प्रसंग में उद्धृत किया जा चुका है।

राजा अजितनारायण सिंह के पौत्र कुमार महिपनारायण सिंह (दिग्विजयनारायण सिंह का पुत्र) को, बनारस (काशी) से राजा चेतसिंह के अँगरेजों द्वारा निष्कासन के पश्चात्, काशीनरेश का सिंहासन महाराजा बलवन्त सिंह के दौहित्र होने के कारण उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था।

नरहन राज्य का शासन क्षेत्र छोटा होने पर भी वह मुगल सम्राटों के समय राज्य के आन्तरिक शासन में स्वतन्त्र था। मोरवा का फँसियरवा गाछ और स्थान इस बात का प्रमाण है कि वहाँ के राजा को दंडव्यवस्था के साथ ही अपराधी को शूली-फाँसी देने का अधिकार भी प्राप्त था। राज्य में शासन की ओर से स्वास्थ्य-रक्षा एवं शिक्षा-प्रचार का भी समुचित प्रबन्ध था। रोगियों की चिकित्सा के हेतु स्थान-स्थान पर दातव्य औषधालय खोले गये थे, जहाँ चिकित्सकों को पारिश्रमिक-स्वरूप वंश-परम्परागत उपभोग के हेतु जागीरें मिली थीं। इस प्रकार के ग्रामों का नाम, जहाँ रुग्णों की चिकित्सा की जाती थी,

'वैद्य-आलया' पड़ा था, जो कालान्तर में बिगड़ते-बिगड़ते 'वैदौलिया' कहा जाने लगा। आज भी सरैसा परगने में लगभग बराबर-बराबर दूरी पर अनेक वैदोलिया ग्राम बसे पाये जाते हैं, जहाँ पर मुख्यतः शाकद्वीपीय ब्राह्मण निवास करते हैं, और उनका मुख्य व्यवसाय वैद्यक-शास्त्रानुसार चिकित्सा करना है। पुनारस वैदोलिया, चक वैदोलिया, मालती वैदोलिया आदि ग्राम अब भी वर्तमान है, जहाँ वैद्यगण निवास करते पाये जाते हैं। उसी प्रकार प्रजावर्ग की शिक्षा के हेतु जगह-जगह पर संस्कृत टोल खोले गये थे, जहाँ सभी प्रकार की संस्कृत-शिक्षा दी जाती थी। रानी-टोल आदि अनेक टोलों के नाम पर सरैसा में अद्यावधि अनेक ग्राम पाये जाते हैं, जहाँ प्रजावर्ग में से अध्ययनशील विद्यार्थियों को निःशुल्क संस्कृत शिक्षा देने की व्यवस्था थी।

ब्राह्मण कुल के राजा होने पर भी शासन धर्मनिरपेक्ष था। मोरवा, द्रोणवारों की तत्कालीन राजधानी, में जमुआरी नदी से सटे खुदनेश्वर महादेव का एक प्राचीन मन्दिर है। कहा जाता है कि खुदन नाम की कोई मुसलमान कुलोद्भवा महिला शिव की आराधिका थी। उसी के नाम पर वहाँ के स्थापित शिवलिंग का नाम खुदनेश्वर महादेव पड़ा। उस महिला की समाधि (कब्र) भी शिवलिंग के पास ही है। अनुश्रुति बताती है कि उद्ध्वाङ्कित शंकर मन्दिर का निर्माण तथा वहाँ पर शिवलिंग की स्थापना करनेवाली वही शिव-भक्त महिला खुदन देवी थी। आज भी आशुतोष भगवान गरलकंठ शंकर के आराधक जन-समुदाय वहाँ पर अहि-भूषण चन्द्रशेखर के पूजन के साथ-साथ खुदन देवी के समाधि के प्रति भी भक्तिभाव दर्शाता तथा उस पर पुष्पांजलि अर्पित करता देखा जाता है। नरहन राज्य की धर्मनिरपेक्षता का यह एक प्रत्यक्ष प्रमाण एवं नमूना जन-गण के समक्ष आज भी विद्यमान है। नरहन की प्रजा शोषण-रहित होने के कारण सम्पन्न, सुखी एवं संतुष्ट थी। भू-राजकर प्रति बीघा अपेक्षाकृत बहुत कम था। शाकम्भरी के चौहान-राज्य (पृथ्वीराज के पूर्वज का राज्य) के समान नरहन राज्य की वार्षिक आय भी केवल 'सपादलक्ष' (सवा लाख रु०) की थी। पर इतने से ही राज्य-व्यवस्था वहाँ की सुचारु रूप से चलती थी, और उसकी सर्वत्र प्रतिष्ठा भी थी।

नरहन-राज्य के शासन के अन्दर के गाँवों में दो भाग पाये जाते हैं, जिनमें से एक का नाम चौथ है, तथा दूसरे का निजामत। इस 'चौथ' एवं 'निजामत' का यह अर्थ लगाया जाता है कि दिल्ली की मुगल बादशाही की शक्ति क्षीण होने पर मरहठा एवं निजाम ने पृथक्-पृथक् आक्रमण कर पूर्व-भारत के राज्यों से कर वसूलना आरंभ कर दिया था। मरहठा विजित राज्यों से उनकी आय का चौथा (चौथाई) वसूलते थे तथा निजाम के यहाँ भी इसी प्रकार का कोई नियम रहा होगा। संभवतः नरहन राज्य ने उन आक्रामकों से अपनी तथा अपनी प्रजा की रक्षा के हेतु उन दोनों को सालाना कोई निश्चित रकम देना तय किया था, और उनकी उस रकम की चुकती के हेतु ग्रामीण प्रजा से ग्राम को विभाजित कर निर्धारित विशेष कर की वसूली की जाती थी, जिस कारण से ग्राम का विभाजन चौथ और निजामत में हो गया। नहीं तो एक ही ग्राम को चौथ एवं निजामत में बाँटने का कोई उद्देश्य दृष्टिगत नहीं होता है।

(१)

नरहन के द्रोणवार ब्राह्मण राजकुल की वंशावली

राय गंगाराम (संस्थापक)
|
ताल राय (भेला राय)
|
विक्रमादित्य राय
|
हरगोविन्द राय
|
हरेकृष्ण राय
|
चौधरी केशोनारायण
|
चौधरी अजितनारायण (बहादुर)
|
सर्वजीत सिंह
|
रंजीत सिंह
|
रूपनारायण सिंह
|
रामनारायण सिंह
|
परमेश्वरीनारायण सिंह
|
ब्रह्मदेवनारायण सिंह

(२)

नरहन के द्रोणवार ब्राह्मण-कुल के संस्थापक राय गंगाराम के पूर्वजों की वंशावली

(शाहाबाद जिले के देकुली ग्राम के कान्यकुब्ज ब्राह्मण वंशीय पण्डेय परिवार उद्भूत)

नारायण पाण्डेय

|

सुन्दर पाण्डेय

साधु पाण्डेय — माधो पाण्डेय

माधो पाण्डेय (इन्होंने नेपाल-नरेश को उसके शत्रु के विरूद्ध सहायता देकर अपने कुल के लिए तराई में मकमानी और सप्तरी का इलाका प्राप्त किया। स्मरणीय है कि सप्तरी-अंचल पूर्व में भी द्रोणवार ब्राह्मणों के ही अधीन था, और राजा शिवसिंह के समकालीन राजा पुरादित्य (गिरिनारायण) जिसका विरुद 'अर्जुन विजेता' भी था, वहाँ राज करता था। विद्यापति के ग्रन्थ 'लिखनावली' से यह तथ्य प्रमाणित है। माधो पाण्डेय नेपाल-तराई की भूमि अपने भ्राता साधु पाण्डेय की सन्तोनों के लिए सुरक्षित कर स्वयं मगध के गया जिले के एकिल परगने में चला गया, और अपने बाहुबल से वहाँ अपने वंशजों के निवास एवं उपभोग के हेतु उसने विशाल भू-भाग प्राप्त किया।)

साधु पाण्डेय के पुत्र: राय गणेश — राय बरियार

राय बरियार (जहरी पोखार हत्याकाण्ड के पश्चात इनके परिवार के बचे सदस्यों ने हिसार, कोलुआ, मूरा, मधुबन आदि ग्रामों में जाकर निवास किया।)

राय गणेश

|

राजा अभियान

|

राय गंगाराम (जहरी पोखर हत्या-काण्ड के पश्चात् राय गणेश के वंश में केवल एक शिशु गंगाराम अपनी माता के साथ जीवित बच गया, जिसे स्वामिभक्त राकू कमती ने किसी प्रकार मुंगेर जिले के चाकसांभो ग्राम में ले जाकर प्रच्छन्न रूप से रखा, तथा उसका पालन पोषण किया।)

(३)

चंपकारण्य के राजा पृथ्वीनारायण सिंह देव की प्राप्य वंशावली

|

पृथ्वीनारायण सिंह देव

|

शक्तिसिंह देव

|

मदन सिंह देव

(इनके मोरंगपुर में भी राज करने का पता चलता है)

(४)

चम्पकारण्यान्तर्गत बेतिया के कश्यप गोत्रीय ब्राह्मण राजकुल की वंशावली

गंगेश्वर देव (१२४४) ई०; जैथर गाँव; सारण जिला; लेथब्रिज : दी गोल्डेन बुक ऑफ इण्डिया, पृ० ६७; संस्करण १८९३ ई०)।

|

मकेश्वर देव

|

राजा देव

|

घानो देव

|

उदयकरण राज

|

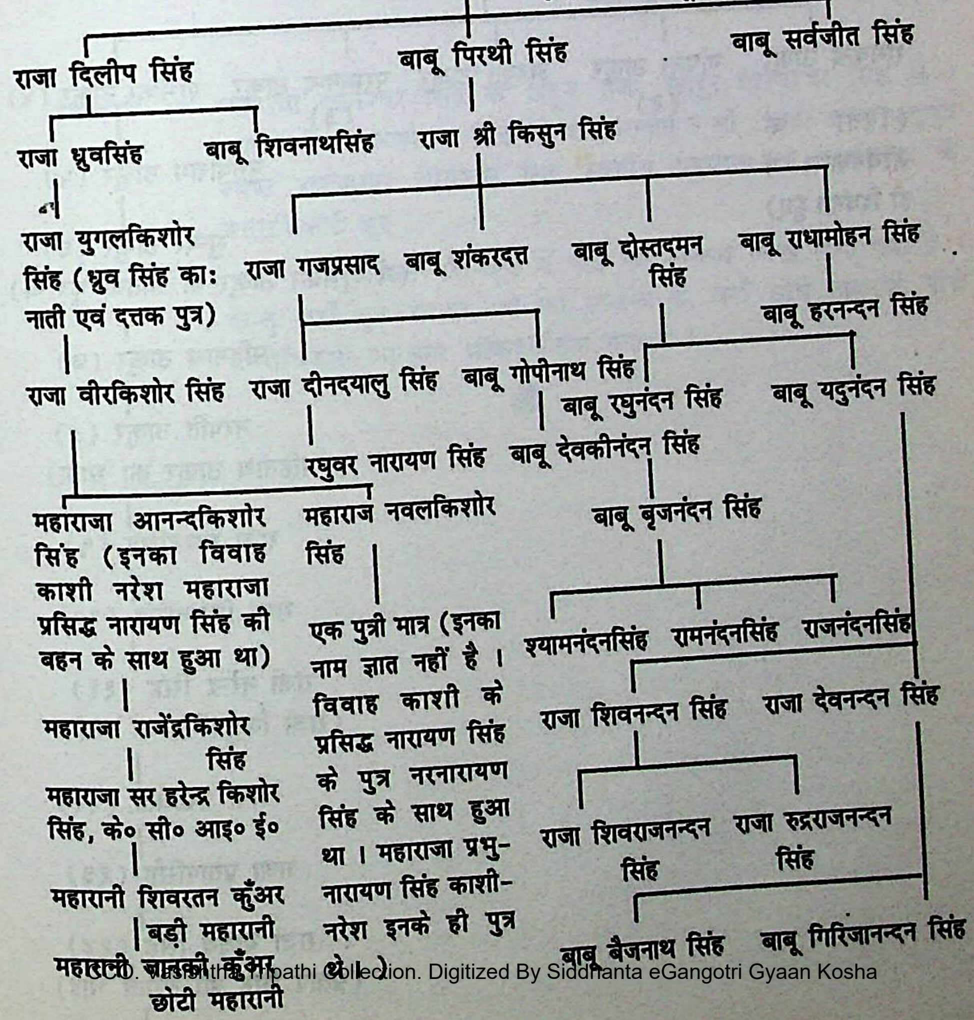
यदुराज अथवा जदूराज

|

उग्रसेनसिंह (बेतिया राज की नींव इन्होंने दी)

|

राजा गजसिंह (बादशाह शाहजहाँ ने इन्हें राजा की उपाधि से विभूषित किया)



(५)

लौरिया नन्दनगढ़ के अशोक-स्तम्भ पर उत्कीर्ण राजा नृपनारायण की वंशावली

नृप नारायण
|
अमर सिंह

(६)

इन्द्रसेन, उपनाम रूपनारायण
(वंशावली अप्राप्य)

(७)

खण्डवाल राजकुल (महाराज दरभंगा) की वंशावली

(संस्थापक)
महेश ठाकुर (१)

रामचन्द्र ठाकुर (पिता के जीवनकाल में ही दिवंगत हुए)
गोपाल ठाकुर (२)
अच्युत ठाकुर
परमानन्द ठाकुर (३)
शुभंकर ठाकुर (४)
|
पुरुषोत्तम ठाकुर (५)
|
सुन्दर ठाकुर (६)
(ये शुभंकर ठाकुर के सातवाँ पुत्र थे)
|
महिनाथ ठाकुर (७)
|
नरपति ठाकुर (८)
(महिनाथ ठाकुर का भ्राता)
|
राजा राघवसिंह (९)
|
राजा विसुनसिंह (१०)
|
राजा नरेन्द्र सिंह (११)
(राजा विसुनसिंह के भाई)
|
रानी पद्मावती (१२)
|
राजा प्रतापसिंह (१३)
|
राजा माधव सिंह (१४)
(प्रताप सिंह का वैमात्र भाई)
|

महाराजा छत्र सिंह (१५)

महाराजा रुद्र सिंह (१६)

महराजा महेश्वर सिंह (१७)

महराजा लक्ष्मीश्वर सिंह (१८)

महाराजा रमेश्वर सिंह (१९)
(लक्ष्मेश्वर सिंह का भाई)

महाराजाधिराज कामेश्वर सिंह (२०)

टिप्पणी— महाराजा कामेश्वर सिंह के अनुज राजा बहादुर विश्वेश्वर सिंह थे । महाराजाधिराज कामेश्वर सिंह को कोई सन्तान न थी । अतः उनके भ्रातृपुत्र ज्येष्ठ राजकुमार जीवेश्वर सिंह स्वर्गीय महाराजा के राजविभव के उत्तराधिकारी हुए ।

उद्ध्वांकित वंश-वृक्ष में भाई का सम्बन्ध लिख दिया गया है । परन्तु जहाँ पुत्र अथवा स्त्री का सम्बन्ध है, वहाँ सीधे नाम के नीचे उत्तराधिकारी का नाम अंकित किया गया है ।

(५)

लौरिया नन्दनगढ़ के अशोक-स्तम्भ पर उत्कीर्ण राजा नृपनारायण की वंशावली

नृप नारायण
|
अमर सिंह

(६)

इन्द्रसेन, उपनाम रूपनारायण
(वंशावली अप्राप्य)

(७)

खण्डवाल राजकुल (महाराज दरभंगा) की वंशावली

(संस्थापक)
महेश ठाकुर (१)

रामचन्द्र ठाकुर (पिता के जीवनकाल में ही दिवंगत हुए) | गोपाल ठाकुर (२) | अच्युत ठाकुर | परमानन्द ठाकुर (३) | शुभंकर ठाकुर (४)

शुभंकर ठाकुर (४)
|
पुरुषोत्तम ठाकुर (५)
|
सुन्दर ठाकुर (६)
(ये शुभंकर ठाकुर के सातवाँ पुत्र थे)
|
महिनाथ ठाकुर (७)
|
नरपति ठाकुर (८)
(महिनाथ ठाकुर का भ्राता)
|
राजा राघवसिंह (९)
|
राजा विसुनसिंह (१०)
|
राजा नरेन्द्र सिंह (११)
(राजा विसुनसिंह के भाई)
|
रानी पद्मावती (१२)
|
राजा प्रतापसिंह (१३)
|
राजा माधव सिंह (१४)
(प्रताप सिंह का वैमात्र भाई)
|

महाराजा छत्र सिंह (१५)
|
महाराजा रुद्र सिंह (१६)
|
महराजा महेश्वर सिंह (१७)
|
महराजा लक्ष्मीश्वर सिंह (१८)
|
महाराजा रमेश्वर सिंह (१९)
(लक्ष्मेश्वर सिंह का भाई)
|
महाराजाधिराज कामेश्वर सिंह (२०)

टिप्पणी– महाराजा कामेश्वर सिंह के अनुज राजा बहादुर विश्वेश्वर सिंह थे । महाराजाधिराज कामेश्वर सिंह को कोई सन्तान न थी । अतः उनके भ्रातृपुत्र ज्येष्ठ राजकुमार जीवेश्वर सिंह स्वर्गीय महाराजा के राजविभव के उत्तराधिकारी हुए ।

उद्ध्वाँकित वंश-वृक्ष में भाई का सम्बन्ध लिख दिया गया है । परन्तु जहाँ पुत्र अथवा स्त्री का सम्बन्ध है, वहाँ सीधे नाम के नीचे उत्तराधिकारी का नाम अंकित किया गया है ।

●

नवम अध्याय

ग्यारहवीं से सोलहवीं शताब्दियों के बीच मिथिला की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था तथा जन-जीवन

कर्णाटों एवं ओइनवारों की शासन-पद्धति, राजनीति, दण्डनीति, समाज-विकास-नीति, निर्माणकार्य-नीति, विद्या-प्रचार, एवं साहित्य-संवर्द्धन आदि नीतियों में विशेषतया साम्य था, यद्यपि कर्णाटों का राज्य सार्वभौम स्वतंत्र था, और ओइनवारों का क्रमानुसार दिल्ली, जौनपुर तथा पुनः दिल्ली के अधीन अर्द्ध-स्वतन्त्र। उनके शासन के युग में मिथिला में मानव-जीवन का चारित्रिक एवं बौद्धिक विकास तथा भारतीय संस्कृति की चरम उन्नति एवं प्रचार-प्रसार प्राचीन काल की मिथिला के जनक एवं याज्ञवल्क्य-युग के समान हो चला था। उक्त दोनों राजकुलों के शासन के पश्चात् की मिथिला में अपेक्षाकृत संस्कृति के विकास के ह्रास तथा जनता की नैतिक एवं बौद्धिक उन्नति के पथ का धीरे-धीरे अवरुद्ध होना परवर्तीकाल का इतिहास बताता है।

शासन

कर्णाट क्षत्रिय राजकुल के शासन के समकालीन साहित्य के अवलोकन से पता चलता है कि उस काल शासन राजतान्त्रिक था। राजा दयालु, प्रजाहित-चिन्तक, उदार-चेता थे। राजा का राज पर एकछत्र शासन होता था। राजा को उचित परामर्श देने के हेतु मन्त्री अथवा मन्त्रिपरिषद् का अस्तित्व था, पर राजा की शक्ति एवं अधिकार सर्वोपरि होता था। राजा स्वयं प्रजाहित का कार्य करना अपना परम कर्त्तव्य समझता था। कर्णाट राजकुल के संस्थापक नान्यदेव से लेकर रामसिंह देव के राजकाल तक की शासन-व्यवस्था उपर्युक्त प्रकार की दृष्टिगत होती है। उन सबों के समय में शासन के भिन्न-भिन्न विभागों की देखभाल के लिए पृथक्-पृथक् विभागों का निर्माण नहीं हुआ था।

रामसिंह देव की मृत्यु के पश्चात् शक्तिसिंह देव के समय में प्रचलित विधान में परिवर्त्तन हुआ दीख पड़ता है। शक्तिसिंह के विषय में कहा जाता है कि वह क्रूर, स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश नृपति था। उसके आचरण से ऊब कर राज्य के सरदारों एवं मन्त्रियों ने राजा की निरंकुशता पर नियंत्रण रखने के विचार से सात सदस्यों की एक मन्त्रिपरिषद का निर्माण किया। परिषद् में सात मन्त्रियों के लिये जाने से पता चलता है कि शासनकार्य को सात विभागों में विभक्त कर प्रत्येक को एक-एक मंत्री के अन्दर उसकी उचित देख-रेख के हेतु रखने का प्रबन्ध किया गया था। इस प्रकार की शासन-पद्धति का अस्तित्व मौर्य-युग के चन्द्रगुप्त-काल में था, इसका पता इतिहास देता है। पर कर्णाट-काल में सर्वप्रथम राजा शक्तिसिंह देव के समय में ही इस प्रकार की परिषद् का निर्माण राज्य के एक वरीय मंत्री के नेतृत्व में हुआ। शक्तिसिंह देव हरिसिंह देव का पिता था (के० पी० जायसवाल द्वारा सम्पादित, चण्डेश्वर ठक्कुर प्रणीत 'राजनीति-रत्नाकर', २७)।

कर्णाट-कुल के राजाओं को उचित मन्त्रणा देने वाले राजमन्त्रि-गण शक्तिसिंह देव के पूर्व भी थे, पर सात अमात्यों की परिषद् का निर्माण एक वरीय मन्त्री द्वारा हुआ, इस प्रकार के उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि वहाँ पहले से मन्त्रिपरिषद् के गठन की परिपाटी न थी। उसकाल तक मन्त्रियों का अधिकार अति अधिक बढ़ चुका था, और वे सब राजा की निरंकुशता पर रोक लगा सकते थे; और अभिलषित सुधार भी कर सकते थे। कतिपय मन्त्रियों का विरुद 'महाराजाधिराज' था। इससे पता चलता है कि मन्त्रिमंडल वैभव-सम्पन्न सामन्तों की गोष्ठी होता था, और वे सब राज्य के प्रचलित विधान में समयानुकूल आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी ला सकते थे; जिसका अनुमोदन गणेश्वर के 'सुगति सोपान' के उल्लेखों से भी होता है। (दरभंगा जिला गजेटियर-१६)।

देवादित्य चण्डेश्वर का प्रपितामह तथा वीरेश्वर उसका पिता था। चण्डेश्वर के 'कृत्यरत्नाकर' से पता चलता है कि देवादित्य राज्य का वरीय सान्धिविग्रहिक मंत्री था, यथा-''सप्रक्रियमहा-सान्धिविग्रहिकठक्कुरदेवादियमहामहत्तकः .....'' (शास्त्री : नेपाल कैटलॉग, १, १३२; जायसवाल सम्पादित 'राजनीति रत्नाकर', चण्डेश्वर ठाकुर कृत, १४, ३)। देवादित्य के पश्चात् उस पद पर उसका पुत्र वीरेश्वर शकाब्द १२३६ अर्थात् १३१४ ई० में प्रतिष्ठित हुआ। इससे पता चलता है कि महामात्य का पद भी राजा के पद की भाँति लगभग वंश परम्परागत हो गया था। चण्डेश्वर का चाचा गणेश्वर भी शक्तिसिंह के काल में एक मंत्री था। राजा हरिसिंह देव के शासनकाल में उसने महामहत्तक (प्रधान टावा मुख्य मंत्री) के पद को सुशोभित किया था। उसके ग्रन्थ 'सुगति सोपान' के विषय-प्रवेश के एक श्लोक से पता चलता कि वह सामन्तशाही शासन की परिषद् का प्रधान था, और उसका विरुद 'महाराजाधिराज' था। उस ग्रन्थ में अंकित किया गया है, यथा-''श्रीमानेष महामहत्तक-महाराजाधिराजो महासामन्ताधिपतिर्विकस्वरयशाः पुष्पस्य जन्मद्रुमः, चक्रे मैथिलभूमिनाथप्रतिभूः सप्तांगराज्यस्थिति (म्) प्रौढ़ानेकवंशवदैकहृदयो दोःस्तम्भसम्भावितः (आर० एस० कैटलाग नं० १८६४, छन्द-५; डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३४७)। गणेश्वर के पुत्र रामदत्त ने भी उपर्युक्त बातों को अपनी पुस्तक में अंकित किया है, तथा १३४३ ई० में उतारी गयी 'सुगति सोपान' की नेपाली-प्रति के पुस्तकान्त-परिचय में भी यह दुहराया गया है। 'छन्दोग्य-मन्त्रोद्धार' के विषय-प्रवेश-श्लोकांक-१ में लिखा है, यथा-''महाराजाधिराजस्य महासामन्तपालिनो महामत्तकेशस्य श्रीगणेश्वरसूनुना''। गणेश्वर के 'गंगा-त्तलक' के पुस्तकान्त में भी उल्लेख है, जैसे-''पण्डित-महामहत्तक- महासामन्ताधिपति-श्रीगणेश्वरविरचितम्'' (आर० एस० कैटलॉग, १९२३-२४)।

ऊपर के वर्णन से पता चलता है कि राज-मंत्री विशेषकर विद्या-सम्पन्न भू-स्वामी होते थे। वे अपने काल में राज्य के विशेष अधिकार-सम्पन्न सामन्त भी थे। एक परिवार के एक ही समय में एकाधिक मंत्री का होना भी इतिहास बताता है। प्रधान मंत्री का पद वंश-परंपरागत हुआ प्रतीत होता है। प्रधान मंत्री आमात्यों की परिषद् का अध्यक्ष होता था और उसकी बैठकों की अध्यक्षता करता था। परिषद् के अन्दर भिन्न-भिन्न विभाग थे, जो उसके तत्त्वावधान में कार्य करते थे।

चण्डेश्वर स्वयं महामहत्तक (प्रधान मंत्री) था (चक्र झा : पंजी प्रबंध, पृ० २६४)।

उसके पिता वीरेश्वर, पितामह देवादित्य, पितृव्य गणेश्वर एक साथ अपने-अपने काल में महामहत्तक के पद पर आसीन थे। देवादित्य का भ्राता भवादित्य 'राजवल्लभ' अथवा राजा का प्रिय पार्षद (एडीका) था। गणेश्वर के पुत्र ठक्कुर रामदत्त ने अपने पिता के महा-महत्तक (प्रधानमन्त्री) के पद पर आसीन रहने के काल में राज-मंत्री का पद प्राप्त किया था। इससे मंत्रिमण्डल तथा शासन पर ठाकुर वा ठक्कुर परिवार का कितना प्रभाव था, इसका पता चलता है। ठक्कुर-परिवर के सभी सदस्य भू-स्वामी होने के अतिरिक्त प्रतिभा-सम्पन्न विविध विद्या-विभूषित मनीषि-प्रवर थे। गणेश्वर-तनय रामदत्त ने 'वाजसनेयी-विवाह पद्धति' तथा 'महादानपद्धति' नामक पुस्तकें लिखी थीं। इस 'विवाह-पद्धति' का प्रचार अद्यपर्यन्त मिथिला में पाया जाता है, और उसके अनुसार वह संस्कार सम्पन्न किया जाता है। गणेश्वर ठाकुर ने 'सुगति सोपान' की रचना की थी, इसका उल्लेख किया जा चुका है। चण्डेश्वर ठाकुर का 'रत्नाकर' सात भागों में विभक्त था। उस ग्रन्थ के पृथक्-पृथक् भागों के नाम थे– (१) 'कृत्य रत्नाकर' (२) 'दान रत्नाकर', (३) 'व्यवहार रत्नाकर', (४) 'शुद्धि रत्नाकर', (५) 'पूजा रत्नाकर', (६) 'विवाद रत्नाकर' तथा (७) 'गृहस्थ रत्नाकर'। इनमें 'विवाद रत्नाकर' विधि-ग्रन्थ है। उसके नियमों के अनुसार अनुवर्त्ती काल में मिथिला में विवादों का निर्णय किया जाता था। वह मिथिला-देशीय हिन्दू-विधि-ग्रन्थ था, जिसकी मान्यता शासन एवं शासित के बीच शताब्दियों तक बनी रही। 'राजनीति-रत्नाकर' के पुस्तकान्त परिचय में अंकित है–"इति श्रीसप्रक्रियमहासान्धिविग्रहिक-ठक्कुर श्रीवीरेश्वरात्मज-श्रीचण्डेश्वरविरचिते" (राजनीति-रत्नाकर, के० पी० जायसवाल- सम्पादित, पृ० ७७; आर० एल० मित्र : नोटिसेज ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, ६, पृ० १३४; इण्डिया ऑफिस कैटलॉग, नं० १३८७; बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, कैटलॉग नं० २२४०)।

चण्डेश्वर हरिसिंह देव का राज-मंत्री था। उसके अन्दर 'सन्धि-विग्रह' का विभाग था। इसका उल्लेख किया जा चुका है। 'व्यवहार रत्नाकर' के अवलोकन से पता चलता है कि उस ग्रन्थ के लेखन-काल में वह राज्य के सन्धि-विग्रहिक मंत्री के कार्य के अतिरिक्त मिथिला न्यायालय के 'प्राड्विवाक' (प्रधान-न्यायाधीश) के क़ार्य का सम्पादन भी करता था। उसके 'राजनीति रत्नाकर' से यह भी ज्ञात होता है कि हरिसिंह देव के पिता शक्तिसिंह देव की स्वेच्छाचारिता पर नियन्त्रण रखने के हेतु जिस 'मन्त्रिपरिषद्' का निर्माण किया गया था, उसका अस्तित्व हरिसिंह देव के काल में रह नहीं गया था, क्योंकि उसका उल्लेख उक्त ग्रन्थ में कहीं पाया नहीं जाता है। चण्डेश्वर के 'राजनीति रत्नाकर' में हिन्दू राजा के ऊपर सम्राट् के शासन की भावना के उल्लेख का भी पता चलता है, यथा– "सम्राजे करदो यः स कर ...... लोके तु राजेति स करः"। उसके अनुसार सम्राट किसी भी जाति का हो सकता था (जायसवाल सम्पादित 'राजनीति रत्नाकर', २)।

चण्डेश्वर कूट राजनीतिज्ञ था। उसका विचार समयानुकूल था। उसको विश्वास हो गया था कि देश में मुसलमानों का आधिपत्य पूर्ण रूप से स्थापित हो चुका है। उसका हटना तथा हिन्दू-सम्राज्य का पुनः स्थापन सम्भव नहीं है। अतः उसने अपने ग्रन्थों में राजनीति सम्बन्धी प्रचलित वैदिक नियमों में परिवर्तन करना उचित समझा। उसके मतानुसार राजा वह था जो प्रजा की रक्षा करे, यथा– "प्रजा रक्षको राजेत्यर्थः" (राजनीति

रत्नाकर, २) उसके विचार में सम्राट् अथवा राजा के लिए वैदिक मन्त्रों से सिंहासनारोहण के काल में अभिषिक्त होना आवश्यक नहीं रह गया था। गोपाल के 'राजनीति कामधेनु' तथा अन्य प्रचीन ग्रन्थ, जिनमें राज्याभिषेक की पद्धति का निर्देश किया गया था, के दिन परिवर्त्तनशील समय के प्रभाव से उसके मतानुसार लद चुके थे। 'बृहस्पति-नीति' के अनुसार विजेता राज्य का स्वामी माना जाता था। 'ऐतरेय' एवं 'शतपथ ब्राह्मण' के शासन के दिन समाप्त हो चुके थे। हिन्दू राजाओं के ऊपर दिल्ली का सम्राट् विधर्म्मी था, जिसका राज्याभिषेक वैदिक ऋचाओं के साथ नहीं हुआ था। पर उसका प्रभुत्व हिन्दू-नरेशों पर अटल एवं अनिवार्य हो चुका था। उसके विचार में पुरानी पद्धतियों में आवश्यकतानुसार परिवर्त्तन लाना समय की प्रेरणा और परमावश्यक था।

उत्तराधिकार सम्बन्धी उसका विचार प्राचीन नियमों का अनुमोदन करता था। उसके मतानुसार राजा की सम्पत्ति एवं राज्य प्रजा मात्र का था। उसमें सबों का भाग था। अतः वह अविभाज्य था। उसके विभाजन से राज्य का विनाश संभावनीय था (राजनीति रत्नाकर, ७२, यथा–"राजधने दीनानाथदिसकलप्राणिनामंशित्वं बहुनायकत्वाद्राज्य-विनाशश्चेति ...")।

चण्डेश्वर ने अपने ग्रन्थ में प्रजा का स्थान भगवान् विष्णु के समकक्ष माना है, यथा– "इति सर्वप्रजाविष्णुं साक्षिणं श्रावयेन्मुहुः" (राजनीति रत्नाकर, १६, ७४) राजा के लिए प्रजा का ब्रह्मतुल्य माना जाना प्राचीन हिन्दू-राजनीति का सिद्धान्त था। महाभरत शान्तिपर्व (अध्याय-५९, श्लोक-१०६) में राजा को राज्याभिषेक के समय प्रजा की रक्षा के हेतु शपथपूर्वक जो प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी, उसका उल्लेख किया गया है, यथा :–

"प्रतिज्ञां चाभिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत् ॥"

चण्डेश्वर का उपर्युक्त मत महाभारत के प्राचीन सिद्धान्त के ऊपर आधारित था, और राजा को अपनी प्रजा की रक्षा मनसा-वाचा-कर्मणा उसे परमात्मा-स्वरूप मानकर करने का आदेश देता था (राजनीति रत्नाकर : विषय-प्रवेश-२५)। उसके ग्रन्थ 'राजनीति रत्नाकर' से तत्कालीन शासन सम्बन्धी अनेक बातों का पता चलता है। इसमें १६ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में पृथक्-पृथक् राजा, मन्त्री एवं राज्य-शासन के सम्बन्ध में विशद विवेचना की गयी है, जिसका परिचय संक्षेप में अध्यायों का अंक अंकित कर नीचे दिया जाता है :–

(१) राजा के विभिन्न कर्त्तव्यों का उल्लेख, (2) मन्त्रियों के कर्त्तव्य तथा मन्त्री के पद के हेतु आवश्यक योग्यता एवं गुणों का होना, (३) पुरोहितादितरंग : अथवा धार्मिक कार्य मंत्री के धार्मिक कर्त्तव्यों का उल्लेख, (४) प्राड्विवाकः अर्थात् मुख्यन्यायाधीश की विधि विषयक अभिज्ञता तथा प्रत्युत्पन्नमतित्व, (५) सभ्य निरूपणम् अर्थात् राजा की परिषद् के सभासदों की विद्वत्ता तथा कार्य-दक्षता, (६) दुर्ग, उसका निर्माण तथा उसकी सामरिक एवं प्रतिरक्षात्मक महत्ता, (७) मन्त्रणा अर्थात् समय, स्थान एवं कार्यानुसार नीति-निर्धारण के हेतु विचार-विमर्श, (८) राज-कोष तथा उसका उचित व्यय, (९) सेना, उसके भिन्न भिन्न अंग, तथा शत्रुओं के आक्रमण से सुरक्षा, (१०) सेनानी अथवा प्रधान

सेनापति के कर्त्तव्य, (११) दूतादि अर्थात् राजदूतों का सर्व शास्त्र-विशारद, मेधावी, शुद्धजीवन आचारी, भद्र, तीक्ष्णबुद्धि, सहनशील, एवं धैर्यवान् होना, (१२) शासन अर्थात् राजा का प्रजा के प्रति कर्त्तव्य, उसका आत्मवत् पालन तथा रक्षा करना, सन्धि विग्रह के समय में बुद्धिमत्ता के साथ कार्य करना, शासन के सम्बन्ध की सभी बातों का यथावत् ज्ञान रखना तथा किसी भी प्रकार की उपस्थित नयी परिस्थिति का योग्यता के साथ सामना करना, (१३) दण्ड अर्थात् जनता को अनुशासित, कर्त्तव्यनिष्ठ एवं सजग रखने के हेतु अपराधियों के समुचित दण्ड की व्यवस्था, (१४) राज-पद-परित्याग अथवा बड़े पुत्र के पक्ष में आवश्यकतानुसार राजपद का परित्याग करना, (१५) नृप-नियुक्ति अर्थात् धार्मिक कार्य-मन्त्री तथा अन्य अमात्यों द्वारा नये राजा की नियुक्ति। इस प्रकार अध्याय के वर्णन से पता चलता है कि धर्मकार्य-मन्त्री प्रचीन कालिक वैदिक नियमों के अनुसार धार्मिक समारोहों को सम्पन्न कराते थे। राजनीति पर धर्म का अधिकार था। मध्यकालीन पूर्वीय एवं पश्चिमी जगत् में सर्वत्र इसका प्रचार था। (१६) राज्याभिषेक, इसके सम्बन्ध में प्रचीनपद्धति एवं चंडेश्वर के विचार का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। मध्ययुग में राजा को नररूप में ईश्वर का प्रतीक माना जाता था, यथा—''महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति'' (के० पी० जायसवाल सम्पादित 'राजनीति रत्नाकर', पृ० २-७७)।

'राजनीति रत्नाकर' के १२ वें अध्याय में तत्कालीन ग्राम-शासन-पद्धति के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है। उसमें गुल्म, राष्ट्र, ग्रामपति अथवा ग्रामाधिपति, दश ग्रामपति, विंश-त्रिंश-ग्रामपति, सहस्रग्रामपति आदि की चर्चा है। एक गुल्म के अन्दर ३ से ५ ग्रामों तक का समावेश होता था। एक राष्ट्र के अन्दर सैकड़ों ग्राम रहते थे। शासित ग्रामों की संख्या के अनुसार शासन-द्वारा नियुक्त शासकों के पदों का नामकरण होता था, जैसे ग्रामपति,दशग्रामपति, विंशतीश-ग्रामपति तथा सहस्रग्रामपति (के० पी० जायसवाल सम्पादित राजनीति रत्नाकर, पृ० ६०, यथा—'द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्मप्रतिष्ठितम्। तथा ग्राम-शतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम्। ग्रामस्याधिपतिं कुर्य्याद्दशग्रामपतिं तथा विंशतीश शतेशं च सहस्रपतिमेव च''।

ग्राम के विवादों का निर्णय ग्रामपति द्वारा किया जाता था। ग्रामपति के असफल होने पर अभियोग ऊपर के पदाधिकारी के पास विचारार्थ अग्रसारित किया जाता था। इस प्रकार विवाद के निपटारे में असफलता प्राप्त करने पर ग्रामपति दशग्रामपति के पास, दश ग्रामपति विंशतीशग्रामपति के पास, विंशतीशग्रामपति शत-ग्रामपति के पास, तथा शत-ग्रामपति स्वयं जाकर सम्बद्ध विवाद को निर्णयार्थ सहस्रग्रामपति के सम्मुख उपस्थित करता था (राजनीति रत्नाकर, पृ० ६०, यथा—

''ग्रामे दोषान् समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।
शंसेद् ग्रामंदशेशाय देशेशो विंशतीशने ॥
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत्।
शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥'')

उपर्युक्त पदाधिकारियों की नियुक्ति उनकी योग्यता, दक्षता एवं कार्य-पटुता के आधार पर क्रमानुसार की जाती थी (राजनीति रत्नाकर, पृ० ६०, यथा— ''एकस्य दशानां

विंशतेः शतस्य सहस्रस्य वा ग्रामाधिपतिमेकं कुर्य्यात् । लाघवगौरवापेक्षः उक्तविकल्पः ।'' उनके वेतन में कार्यभार की लघुता-गुरुता के अनुसार अन्तर होता था । ग्रामनिवासी प्रायः राजकर की चुकती अन्न, लकड़ी आदि जिंस (सामग्रियों) के रूप में करते थे । ग्रामपतियों का वेतन भी शासन के द्वारा उन्हीं प्राप्त वस्तुओं के रूप में चुकाया जाता था । दश-ग्रामपति को पारिश्रमिक में उतनी जमीन दी जाती थी जितनी वह एक हल से जोत-आबाद कर सकता था । विंशतीज- ग्रामपति को पाँच हलों से कृषि-कार्य करने के योग्य जमीन मिलती थी । शत-ग्रामपति अथवा शतेश को एक सम्पूर्ण ग्राम दिया जाता था तथा सहस्र-ग्रामपति वा सहस्राधिपति को एक नगर अथवा पुर की आय के उपयोग करने का अधिकार होता था, (राजनीति रत्नाकर, ६१, यथाः-

''यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः ।
अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात् ।।
दशी हलं तु भुञ्जीत विंशी पंच हलानि च ।
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम्''।।

प्रत्येक परगने में राजकर की वसूली के लिए चौधरी की नियुक्ति की गयी थी । ग्रामप्रधानों के अतिरिक्त स्निग्धों की नियुक्ति राजा के द्वारा होती थी । यह मन्त्री-पद के समकक्ष था । प्रायः राज-परिवार के सदस्यों को ही इस पद पर नियुक्त किया जाता था। उसका काम भिन्न-भिन्न कोटि के ग्राम-प्रमुखों के कार्यों का अधीक्षण करना तथा देखना भी होता था । संभवतः ग्रामीण कार्यों की देखभाल के हेतु भी एक मन्त्री के अन्दर एक पृथक् विभाग था । वह अपने विभाग का सर्वोपरि अधिकार-सम्पन्न राजकीय पदाधिकारी होता था । उसका अपने विभागीय कार्यक्षेत्र के अधिकार 'अतंत्रित' होता था । प्रत्येक पुर अथवा नगरं में एक उच्च पदाधिकारी का पद होता था जिसके अधिकारी को सवार्थचिन्तकम् कहा जाता था । ग्रामीण पदाधिकारी के लिए उसका अस्तित्व ग्रहों में राहु के जैसा था (राजनीति रत्नाकर, ६१, यथा-''नगरे नगरे चैकं कुर्य्यात्सर्वार्थचिन्तकम् । उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम्''।) यह पद सम्भवतः विधि (कानून) से सम्बन्ध रखने वाले कार्यपालक न्यायकर्त्ता का था, जिसकी उपस्थितिमात्र से अपराधकर्मी पदाधिकारियों तथा जनता का मानस कम्पित हो जाता था । ग्राम शासन की उपर्युक्त पद्धति से स्पष्टतया घोषित होता है कि उन दिनों प्रजा की भलाई एवं उसकी सुरक्षा के हेतु राजा कितनी सहृदयता अथवा तत्परता के साथ सयत्न होकर शासन का कार्य करता था ।

कर्णाट-वंशीय राजा हरिसिंह देव के रण-पराभव ने मिथिला की स्वतन्त्रता समाप्त कर दी । ओइनवार कुल के राजागण अपने अधिराट् सुलतान के मुखापेक्षी थे । पर इतना होने पर भी उनके शासनकाल मिथिला में राज करने की पुरानी प्रणाली चालू रही । इस युग में विधि (कानून) पर ग्रन्थ लिखने वाले अनेक विद्वान् मिथिला में उत्पन्न हुए, जिनमें पक्षधर, वाचस्पति, मिसरू मिश्र, वर्द्धमान, नरहरि, केशव आदि अति प्रख्यात थे । इन विद्वानों ने मौलिक ग्रन्थों के निर्माण की अपेक्षा प्राचीन स्मृतिग्रन्थ मनु एवं याज्ञवल्क्य तथा परवर्त्ती विधि-ग्रन्थ 'कल्पतरु', 'कामधेनु' 'रत्नाकर', 'व्यवहार तिलक', एवं अन्यान्य का सार संग्रह कर उन पर अपना अपना भाष्य प्रस्तुत करना उचित और श्रेयस्कर समझा।

मिसरू मिश्र का 'विवाद चन्द्र', वर्द्धमान का 'दण्ड विवेक', मुरारि मिश्र का 'एकादशाध्यायाधिकरण', विद्यापति का 'विभागसार', वाचस्पति का 'व्यवहार चिन्तामणि' आदि इस प्रकार के ग्रन्थरत्न हैं, जिनमें प्रशासनिक नियमों की विवेचना की गयी है तथा पूर्वोक्त मौलिक विधिग्रन्थों के आधार पर उनका सृजन हुआ ।

मध्ययुगीन भारत और उसके अंग मिथिला के जनजीवन एवं संस्कृति पर प्रकाश ज्योतिरीश्वर के 'वर्णरत्नाकर' से अधिक अंशों में पड़ता है । यह 'आइन-ए-अकबरी' के समकक्ष का ग्रन्थ है, जो उसी के समान राज-सभा-जीवन तथा उसके चतुर्दिक् की स्थिति पर प्रकाश डालता है । उसमें पदाधिकारियों एवं दरबारियों की लम्बी सूची दी गयी है (एस० के० चटर्जी एवं श्रीकृष्ण मिश्र सम्पादित 'वर्णरत्नाकर', विषय-प्रवेश, ३३) । उसमें भूपाल, माण्डलिक, सामन्त, सेनापति, पुरपति, मंत्री, पुरोहित, धर्माधिकरणिक, सान्धिविग्रहिक, महामहत्तक, प्रतिवल-करणाध्यक्ष, शान्तिकरणिक, राजगुरु, दुर्गपाल आदि का उल्लेख है (वर्णरत्नाकर, पृ० ८-९)।

ओइनवार राजकुल के शासनकाल में धर्माधिकरणिक (न्यायाधीश अथवा मुख्य न्यायाधीश), मन्त्री, परिषद्, पार्षद, सान्धिविग्रहिक, धार्मिक-कार्य-मंत्री आदि पदाधिकारियों के पदों का उल्लेख पूर्व के पृष्ठों में किया जा चुका है । इससे पता चलता है कि कर्णाट-राजकुल शासनकाल में जैसा प्रशासनिक प्रबन्ध था तथा शासन में कार्य-सम्पादन की सुविधा के विचार से जिस प्रकार भिन्न-भिन्न विभागों का निर्माण किया गया था, उसी प्रकार की शासन-व्यवस्था ओइनवारों के काल में अन्त तक चालू थी । पर इसका स्पष्ट विवरण प्राप्त नहीं है । ओइनवारों के पूर्व की शासन-व्यवस्था के ब्योरे का पता 'राजनीति रत्नाकर' एवं 'वर्ण रत्नाकर' से पूर्ण रूप से चलता है । इस सम्बन्ध में वे दोनों ग्रन्थ एक दूसरे के पूरक हैं ।

राजनीति एवं विधि

मुसलमानों के इस देश में आगमन के पूर्व हिन्दू-विधि एवं अर्थशास्त्रों का मन्थन कर हिन्दू लेखकों ने क्रमशः उनका सार निकालना आरम्भ कर दिया था । इस प्रकार से प्राप्त नवनीत के द्वारा मध्ययुगीन लेखक लक्ष्मीधर भट्ट, कान्यकुब्जेश्वर गोविन्दचन्द्र गहड़वाल के विदेश-मन्त्री ने 'राजनीति-कल्पतरु' नामक राजनीति विषयक ग्रन्थ का सर्वप्रथम प्रणयन किया (जरनल ऑफ बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी ११, ६८) । हिन्दू-विधि-विधान के भी इस प्रकार के अनेक ग्रन्थों का निर्माण अथवा संकलन इस युग में हुआ । इस काल के हिन्दू-लेखकों ने मौलिक ग्रन्थों की रचना करने की अपेक्षा पूर्वोक्त विषयों के प्राचीन ग्रन्थों में व्यक्त नीतियों पर अपना विचार प्रकट करते हुए उनपर भाष्य लिखने अथवा उनमें से अवतरण एवं उद्धरण लेकर नवीन पद्धति से पुस्तकों के प्रणयन करने के पथ को अपनाया । इस प्रकार प्राचीन विधि ग्रन्थ एवं अर्थशास्त्र विषयक पुस्तकों के रूप में परिवर्त्तन हुआ । इससे पता चलता है कि काल-चक्र के प्रभाव से विद्वान लेखकों का दृष्टिकोण पुस्तक-प्रणयन की दिशा में परिवर्त्तित हो चुका था ।

उस युग के राजनीति-विज्ञान पर लिखे गये ऐसे ग्रन्थों के अवतरणों के अवलोकन करने पर कभी-कभी इसका पता नहीं चलता है कि वे सब विद्वान् लेखकों के द्वारा

अर्थशास्त्र से लिये गये थे अथवा धर्मशास्त्र से। धर्मशास्त्रों में भी राजनीति से सम्बन्धित अध्याय लिखे जाते थे । संविधान सम्बन्धी विधियों की विवेचना एवं वर्णन भी धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में समाविष्ट रहता था । इस प्रकार के राजनीतिक ग्रन्थों में जितने पूर्ववर्त्ती अवतरण उद्धृत किये गये थे, वे सभी कौटिल्य तथा कामन्दक के पीछे के लेखकों के ग्रन्थों से लिये गये थे । उन ग्रन्थों में कौटिल्योत्तर-काल के ग्रन्थ-प्रणेताओं के नाम भी प्रायः मिलते हैं ।

चण्डेश्वर के 'राजनीति रत्नाकर' को देखने से पता चलता है कि उसके पूर्व अनेक विद्वानों ने अर्थशास्त्र पर ग्रन्थ लिखे थे । उसने अपने उक्त ग्रंथ में गोपाल के 'राजनीति-कामधेनु' तथा लक्ष्मीधर भट्ट के 'राजनीति कल्पतरु' अध्याय से विशेषतया उद्धरण एवं विचार-स्रोत लेकर उसका प्रणयन किया था । उस लेखक के 'विवाद रत्नाकर' में लक्ष्मीधर भटट् के 'कल्पतरु' का व्यवहार विभाग पूर्णतया समाविष्ट प्रतीत होता है ।

ग्यारहवीं शती के लगभग साहित्य-लेखन में उपर्युक्त प्रकार का परिवर्त्तन आरम्भ हुआ दीखता है । राजनीति-विज्ञान पर नये ढर्रे से नयी-नयी पुस्तकें लिखी जाने लगीं । हिन्दू-राजनीति का सार प्राचीन अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, एवं दाननीति से लेकर और उसी को आधारशिला मानकर उसपर नयी-नयी ग्रन्थ-अट्टालिकाओं का निर्माण किया गया । उन लोगों ने राजनीति विषयक धर्मशास्त्रों के सिद्धान्त को स्वीकार कर पुराने नाम 'अर्थशास्त्र' तथा 'दण्डनीति' की उपेक्षा की, और उनके स्थान में नये नाम 'राजनीति' (राजकीय सिद्धान्त) को अपनाया । इस प्रकार के लेखक धर्मशास्त्रों पर आधारित विधि के प्रकाण्ड पण्डित तथा धर्म एवं विधि विषयक सार ग्रन्थों अथवा उन पर लिखे गये भाष्यों के कर्त्ता थे । ऐसे लेखकों में अलंविद्य मनीषिप्रवर लक्ष्मीधर भट्ट, चण्डेश्वर ठाकुर, वाचस्पति मिश्र तथा नीलकण्ठ आदि के नाम आते हैं ।

उक्त प्रकार के ग्रन्थ-लेखन का प्रेरक कारण ग्यारहवीं शताब्दी में मुसलमानों के अधिकार एवं प्रभाव का इस देश में विस्तार तथा प्रसार कहा जा सकता है । हिन्दुओं ने अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता लगभग खो दी थी । उसका प्रभाव हिन्दू समाज पर पड़ चुका था । राजनीतिक स्वतन्त्रता के तिरोहित होने का प्रभाव देश की आर्थिक स्थिति पर पड़ना स्वाभाविक था । ऐसी अवस्था में समाज में विशृङ्खलता उत्पन्न हो रही थी । ब्राह्मण तत्कालीन समाज के धार्मिक एवं नैतिक मुखिया थे । उन्होंने हिन्दू समाज तथा उसकी प्राचीन संस्कृति रूप मूलबद्ध सुदृढ़, पर जर्जर अटारी को भूमिसात् होने से रक्षा करने के हेतु नये मार्ग का अवलम्बन कर जीवन के सभी क्षेत्रों के उपर्युक्त धर्मशास्त्रों का सार विधि ग्रन्थों एवं राजनीति-शास्त्रों का निर्माण किया । उनके दूरदर्शितापूर्ण परिश्रम ने ऐसे-ऐसे महत्त्वपूर्ण शास्त्रों के सार स्मृतिग्रन्थों का संकलन एवं प्रणयन किया जिनके द्वारा हिन्दू समाज के अस्तित्व की रक्षा आपत्ति के दिनों में भी हो सकी (जरनल ऑफ बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसार्च सोसाइटी, १३, सर्च फॉर संस्कृत ऐण्ड प्राकृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन बिहार ऐण्ड उड़ीसा, ३-४) । काशी, नालन्दा, तथा तक्षशिला की तरह मिथिला भी प्राचीन काल से ज्ञान-विज्ञान का आगार एवं विद्या का केन्द्र था । यहाँ जनक-याज्ञवल्क्य-युग से लेकर परवर्तीकाल तक बड़े-बड़े तत्त्ववित् विद्वानों का प्रादुर्भाव हुआ था। मध्ययुग में भी

चण्डेश्वर, वाचस्पति आदि क्रान्तिकारी लेखकों ने अपनी लेखनी की प्रतिभा से माँ सरस्वती के भण्डार को भरते हुए आपदा की घड़ी में राजनीति में उथल-पुथल उत्पन्न कर डगमगाते हुए समाज की नौका की रक्षा की थी।

समाज

मैथिल-समाज में धार्मिक कट्टरता तथा रूढ़िवादिता अति प्राचीनकाल से अडिग रूप में मूलबद्ध रही है। सदियाँ बीत गयी। देश की राजनीति ने बार-बार पलटा खाया। हिन्दू साम्राज्य का पतन हुआ। देश में विधर्मियों का एवं विदेशियों का राज्य हुआ। संसार की परिस्थिति बदल गयी। मिथिला में भी अनेक राजनीतिक एवं सामाजिक उथल-पुथल हुए। पर वहाँ की सामाजिक कट्टरता तथा रूढ़िवादिता में अन्तर बहुत कम दृष्टिगोचर हुआ (ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया, वॉल्यूम ५, पार्ट-२, पृ० ४)।

विशेषकर यहाँ के ब्राह्मण-समाज में उन्होंने अपने रक्त को दूसरों की अपेक्षा अति पवित्र माना, तथा अपने को जाति में दूसरों से श्रेष्ठ। उनके इस स्वाभिमान ने दूसरों को बराबर की कोटि का मान कर उनके साथ संभाषण तथा अन्य व्यवहार करने के मार्ग में बाधा उत्पन्न की। मैथिल समाज की कट्टरता प्रस्तर-चट्टान की तरह अचल एवं अडिग रही। ग्यारहवीं, बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दियों में नित्यकर्म, स्मृति, विवाह, धार्मिक-कार्य, स्वयंवर, सम्बन्ध-निषेध, आत्मशुद्धि, यज्ञ, पंच-यज्ञ, ब्राह्मण-कर्त्तव्य, क्षत्रिय-कर्त्तव्य, वैश्य-कर्त्तव्य, शूद्र-कर्त्तव्य, कृषि, वाणिज्य आदि विषयों पर अनेक अमूल्य ग्रंथों का संकलन, सम्पादन अथवा निर्माण हुआ (गृहस्थ रत्नाकर, आर० एल० मिश्र: नोटिसेज ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स ५ नं० १९२१, १७७९, १८३०, १८३४, १८३७, आदि, 2 नं० १२५१) पर उनके प्रभाव से समाज की भावना में किसी प्रकार का परिवर्तन उन दिनों दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में मैथिल समाज के गठन में किंचित् परिवर्त्तन हुआ दृष्टिगत होता है। पर उस परिवर्तन ने समाज को प्रगतिशील बनाने के स्थान में उसे और भी कट्टर बना दिया। राजा हरिसिंह देव (कर्णाट-कुल-नरेश) के शासनकाल में मिथिला के ब्राह्मण एवं कायस्थ समाज में कुलीन प्रथा का आरम्भ किया गया। पीछे इस प्रथा का प्रचार मिथिला से आरम्भ होकर बंगाल और आसाम तक हुआ (जे० के० मिश्र : हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर, १, २८, ७८; एन० एन० वसु: सोशल हिस्ट्री ऑफ कामरूप २, पृ० १६८)। राजा हरिसिंह देव की आज्ञा से मैथिल ब्राह्मण समाज का चार विभागों में वर्गीकरण १३१० और १३१३ ई० के बीच हुआ (जे० के० मिश्र: हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर, १, २७, ७४)। इस वर्गीकरण के अनुसार ब्राह्मणों के चार विभाग क्रमशः (१) श्रोत्रिय, (२) योग्य, (३) पंजीबद्ध, तथा (४) जयवार के नाम से प्रसिद्ध हुए।

मैथिल ब्राह्मणों में श्रोत्रिय का स्थान उन परिवारों को प्राप्त हुआ जिनके सदस्य अपना समय सूर्योदय से सूर्यास्त तक केवल अग्नि-होत्र, यज्ञ-याग, पूजा-पाठ, आदि पवित्र वैदिक एवं स्मार्त कर्मों के करने में व्यतीत करते थे। कुलीन प्रथा में उनका स्थान सर्वोच्च एवं प्रथम प्राप्त हुआ। दूसरा स्थान योग्यों को प्राप्त हुआ। पंजीबद्धों का स्थान तीसरा था, तथा जयवारों का चौथा (जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी ३,

५१६; पटना युनिवर्सिटी जरनल, १, २, ११; जे० के० मिश्र: हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर, १, २७, ३१)। कहा जाता है कि राजा हरिसिंह ने उपर्युक्त प्रकार का वर्गीकरण जनक जैसे दार्शनिक नृपति की मिथिला को संसार के समक्ष धार्मिक आचरण में उच्च तथा आदर्श बनाने के विचार से किया था (जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी ३, ५१६)। इस कुलीन प्रथा के नियमानुसार वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने में उच्च और नीच की व्यवस्था की गयी, और एक वर्ग के साथ दूसरे वर्ग के सम्बन्ध के लिए नियम बनाये गये, जिनका पालन कड़ाई के साथ पीछे की शताब्दियों में भी होता रहा।

राजा हरिसिंह देव के विवाह सम्बन्धी नियमों ने ब्राह्मण समाज में एक और नये वर्ग को जन्म दिया। वह वर्ग पंजीकार अथवा घटक के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हरिसिंह देव ने नियम बना दिया था कि विवाह सम्बन्ध को अन्तिम रूप देने के पूर्व सम्बन्ध करने वालों को पंजीकारों से इस बात का प्रमाण-पत्र प्राप्त करना होगा कि वह सम्बन्ध विवाह-निषेध-नियमों के अन्तर्गत नहीं आता है।

पंजीकारों को मैथिल-परिवारों की विस्तृत वंशावली रखनी पड़ती थी। किस वंश के साथ किस वंश का विवाह नहीं होना चाहिए, निर्णय पंजीकारों को करना पड़ता था। कुछ विद्वानों का मत है कि मैथिलों की वंशावली रखने की प्रथा ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग भी थी, पर राजा हरिसिंह देव ने उसको विस्तृत रूप में वैज्ञानिक पद्धति से पंजीबद्ध करने की आज्ञा सर्वप्रथम अपने शासनकाल में दी थी।

कहा जाता है कि कुलीन प्रथा का मैथिल समाज में समावेश उस समाज की रक्तशुद्धता को सुरक्षित रखने के विचार से किया गया था। इसी कारण से पंजीकारों के यहाँ मैथिल समाज के सदस्यों को अपने पूर्वजों के नाम, धाम तथा सम्बन्ध का अंकन करवाना पड़ता था। पंजीकारों का स्थान समाज में गोत्र, वंश, जाति तथा विवाह सम्बन्ध में निर्णय देनेवाला निबन्धक तथा वंशावलियों को लेखबद्ध कर उन्हें सुरक्षित रखने वाला विश्वसनीय संरक्षक का था।

इस प्रकार की पंजी प्रथा के आरम्भ के सम्बन्ध में एक अनुश्रुति मिथिला में प्रचलित है। कहा जाता है कि किसी मैथिल ब्राह्मण पंडित हरिनाथ उपाध्याय ने भूल से किसी ऐसे कुल की स्त्री के साथ विवाह किया जिसके साथ वैवाहिक सम्बन्ध करना शास्त्रीय नियमानुसार उसके वंश के व्यक्ति के लिए उचित नहीं था। एक बार उसकी स्त्री पर नीच व्यक्ति के साथ व्यभिचार करने की आशंका हुई। वह शुद्ध-चरित्रा थी। अपने को निर्दोष साबित करने के हेतु अग्नि-परीक्षा के लिए वह प्रस्तुत हुई। उसने यह कहकर कि 'नाहम् चाण्डाल-गामिनी' जलती हुई आग को अपने हाथ पर रखा। उसका हाथ जलने लगा। उसे पूर्ण विश्वास था कि वह विशुद्ध-चरित्रा थी। अतः उसने पुनः प्रार्थना की कि उसके कहने में पहली परीक्षा के समय भूल हुई थी, इसलिए फिर से कठिन अग्नि-परीक्षा में सम्मिलित होकर अपनी चरित्र-शुद्धता को प्रमाणित करने की आज्ञा और अवसर उसको मिलना न्याय एवं आवश्यक है। उसको उसके हेतु अवसर दिया गया। इस बार उसने अग्नि को हाथ में लेकर कहा कि 'नाहं स्वपतिव्यतिरिक्त चाण्डालगामिनी', अर्थात् मैंने अपने पतिदेव के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति के साथ यौन-सम्बन्ध नहीं किया है। इस

बार वह परीक्षा में सफल हुई। अनल ने इस समय उसके हाथ को दग्ध नहीं किया। पूर्व काल में पवित्रता प्रमाणित करने के हेतु ऐसी परीक्षा की जाती थी। इसका प्रमाण प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। इससे उसके पतिदेव को बड़ी ग्लानि हुई। जाँच करने पर पता चला कि उसके पतिदेव ही अपवित्र थे, क्योंकि उन्होंने एक ऐसी नारी के साथ विवाह किया था जिसके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार उनके लिए उचित नहीं था। इस कांड ने मिथिला में हलचल मचा दी (जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी-३, ५१६)। यह भी कहा जाता है कि पं० हरिनाथ उपाध्याय को बिना छानबीन किये विवाह कर लेने के कारण लज्जा और हार्दिक दुःख हुआ। भविष्य में ऐसी भूल पुनः किसी से न होने पावे इसके लिए उक्त पण्डित ने मैथिल ब्राह्मणों एवं कायस्थों की संस्कृत में वंशावली १३११ ई० में प्रस्तुत की। 'पंजी-प्रबन्ध' के प्रस्तुत होने के पश्चात् समय-समय पर उसकी वंशावलियों में पीछे आने वाली सन्तानों के नाम तथा उनके सम्बन्धों का विवरण अंकित किया जाने लगा, जो क्रम न्यूनाधिक रूप में अद्यपर्यन्त चालू है। राजा हरिसिंह देव ने इस प्रकार की पंजी-प्रथा को राजकीय छत्र-छाया देकर प्रोत्साहित किया, तथा मिथिला में विवाह शास्त्रानुकूल सम्पन्न हो, इसके हेतु अधीक्षण की व्यवस्था शासन की ओर से की गयी। पंजीकारों को किसी प्रस्तावित वैवाहिक सम्बन्ध को जाँच कर उसे शास्त्रानुकूल विहित घोषित करने तथा उसके विषय में प्रमाणपत्र देने का पूर्ण अधिकार दिया गया। उसके बिना उस काल में न कोई सम्बन्ध की वार्त्ता पक्की हो सकती थी और न विवाह-यज्ञ ही सम्पन्न किया जा सकता था।

पंजी-प्रबन्धानुसार पुत्री के विवाह के इच्छुक श्रोत्रिय वंशीय पिता को अधिकार-प्राप्त पंजीकार से 'अधिकार माला' प्राप्त करनी पड़ती थी, जिसमें ऐसे व्यक्तियों के नाम उनके पिता और पितामहों के नामों के साथ रहते थे, जिनके साथ कन्या का शास्त्रीय नियमों के अनुसार कोई सम्बन्ध नहीं होता था, तथा उनमें से किसी के साथ सम्बद्ध कन्या का वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने में किसी प्रकार की शास्त्रोक्त बाधा नहीं समझी जाती थी। पश्चात् कन्या का पिता अथवा अभिभावक पंजीकार द्वारा प्रमाणित सूची में से एक अथवा अधिक वरों को पसन्द कर उनमें से एक के साथ विवाह करने की आज्ञा राजा से प्राप्त करने के हेतु अपने द्वारा चुने हुए नामों को शासन के समक्ष रखता था, और उससे विवाह करने का स्वीकृति-पत्र प्राप्त करने के बाद ही विवाह किया जाता था। राजा जाति के प्रश्न में ब्राह्मण-समाज का प्रधान समझा जाता था। हरिसिंह देव क्षत्रिय था। उसके बाद मिथिला का शासनाधिकार ब्राह्मण-कुल को प्राप्त हुआ, जो निकट अतीत तक बना हुआ था।

श्रोत्रियों के अतिरिक्त योग्य, पंजीबद्ध तथा जैवारों के वैवाहिक सम्बन्ध को अन्तिम रूप देने का अधिकार राजा के द्वारा पंजीकारों को प्राप्त था, और उनको आदेश दिया गया था कि वे शास्त्रोक्त नियमों तथा स्थानीय व्यवहारों को ध्यान में रखते हुए विवाह-यज्ञ को सम्पन्न करावें। समृतियों में ८ प्रकार के विवाहों का उल्लेख है, जिनमें वैदिक विधि से ब्रह्म-विवाह करने का स्थान सर्वोच्च है। वर-पक्ष एवं कन्या पक्ष में सम्बन्ध करने की वार्त्ता तय पा जाने पर ब्राह्म-विवाह की पद्धति के अनुसार विवाह-कार्य सम्पन्न किया जाता था।

ब्राह्मणों की भाँति मिथिला के कायस्थों में भी कुलीन-प्रथा का प्रचार हो चुका था। उनका भी विभाजन दो दलों में किया गया था। एक को कुलीन अथवा उच्च वंशोद्भव माना जाता था, तथा दूसरे को गृहस्थ अथवा साधारण कुल में उत्पन्न। उन सबों को भी कायस्थ पंजीकारों से विवाह -प्रमाण-पत्र प्राप्त कर विवाह करना पड़ता था। इस प्रकार की वंशावली विवाह-कार्य के हेतु केवल ब्राह्मणों तथा कायस्थों के लिए ही आवश्यक नहीं थी, प्रत्युत क्षत्रिय-परिवारों में भी इस प्रथा का प्रचार था (जे० के० मिश्र : हिस्ट्री ऑफ दि मैथिली लिटरेचर, १, ३०, ७८; आर० एस० दास : मिथिला दर्पण, २, पृ० १६)।

कुलीन-प्रथा चलाने वालों की इस प्रथा के चलाने की प्रेरणा की जड़ में उच्च भावना थी, इसमें सन्देह नहीं है। उन्होंने सामाजिक व्यवस्था को स्थिर रखने एवं मानव-जीवन को धार्मिक एवं भद्र बनाने के विचार से इस प्रथा का आरम्भ तथा प्रचार और प्रसार किया था, जिससे मनुष्यों को अपने आदर्श कर्त्तव्य द्वारा ऊँचे उठने की प्रेरणा प्रतियोगिता के रूप में ही सही, अन्तरात्मा से प्राप्त हो सके। पर वे बातें हुई नहीं। केवल तथाकथित रक्त की शुद्धता को बनाये रखना, इस प्रथा का अन्ततोगत्वा ध्येय समझा जाने लगा। इसके प्रवर्त्तकों ने इसका प्रवर्त्तन समाज-हित की दृष्टि से किया था, पर परिणाम प्रतिकूल हुआ।

जातिवाद में भी वर्गवाद का जन्म हुआ। खान-पान तथा शादी-विवाह में कट्टरता एवं संकीर्णता का समावेश हुआ। जातिगत द्वेष सर्वत्र फैलना आरम्भ हुआ। उच्च और नीच की भावना ने समाज में विशृंखलता उत्पन्न कर दी। उच्च कुलोद्भवता तथा उच्च वर्ण के भाव ने समाज के एक अंग को मदान्ध बना दिया था। उसके प्रति उपजाति वालों के हृदय में द्वेष की भावना का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। अतः अपने को कुलीन (ऊँचा) समझने वालों एवं साधारण कोटि के मनुष्यों के साथ उपजाति वालों का संघर्ष चालू हुआ, जिसका प्रतिफल समाज और देश के लिए घातक सिद्ध हुआ। समाज अनेक छोट-छोटे युद्धरत शिविरों में बँट गया, जिनका नित्य का कार्य एक दूसरे को नीचा दिखाना तथा पददलित करना हो गया।

विवाह के क्षेत्र को उक्त प्रथा ने संकुचित बना दिया। एक उपविभाग के सदस्य को उसी उपविभाग में वैवाहिक सम्बन्ध करना अनिवार्य बना दिया गया। वैसा न करने से उसको जाति से वहिष्कृत तथा उत्तराधिकार से वंचित होने की आंशका और भय बना रहता था। इससे समाज में व्यक्तियों का विकास बहुत अंशों में अवरुद्ध हो गया।

वैवाहिक सम्बन्ध में अर्थ-प्राप्ति की भावना का जन्म इस प्रकार के जाति-उपविभाग ने दिया। उच्च कुल की कन्या के लिए साधारण कुल के वर से पर्याप्त रुपये की माँग होने लगी, और उसी तरह उच्च कुल के वर के साथ साधारण कुल की कन्या का विवाह करने के लिए कन्या-पक्ष से रुपये लेने की वर-पक्ष की ओर से माँग होने लगी। इस प्रकार विवाह-संस्कार संस्कार न रहकर व्यापार बन गया। शास्त्रों की आज्ञा केवल सगोत्र, सपिण्ड तथा गोतिया में वैवाहिक सम्बन्ध नहीं करने की थी। पर कुलीन-प्रथा के प्रसार ने इनके अतिरिक्त और अनेक बाधाएँ उपस्थित कर दी। वर के कुल के सामने

कन्या-रत्न के रूप-गुण का कोई मूल्य नहीं रह गया था । वृद्ध, रुग्ण, कुरूप, अनपढ़, धार्मिक संस्कारों से हीन, निर्धन व्यक्ति भी यदि उसका जन्म कुलीन-परिवार में हुआ हो तो अपने को सर्वगुण-सम्पन्न अन्य परिवारों के सदस्यों से उच्च समझता था, और सामान्य परिवार की कन्या के पाणिग्रहण करने के हेतु उसका मूल्य पाने का अपने को अधिकारी समझता था । समाज की इस स्थिति ने बहुविवाह-प्रथा को जन्म दिया । कुलीन वंश के व्यक्ति धन के लोभ में पड़कर कभी-कभी चालीस-चालीस, पचास-पचास विवाह करने लग गये । ऐसे लोगों को 'बिकौआ' कहा जाता था । मैथिल विद्वान् इनको आदरसूचक शब्दों में अथवा व्यंग्यात्मक भाषा में मैथिल कुलीन वा 'भलमानुष' की संज्ञा देते थे (जे० के० मिश्र : हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर, १, ३०-३१), यद्यपि ऐसे सज्जनों का कर्त्तव्य भले मनुष्यों का नहीं होता था । इस प्रकार विवाहित पत्नियों में अनेक को पति- गृह देखने का जीवन में कभी अवसर प्राप्त नहीं होता था । ऐसे एक पति की मृत्यु से बीस-बीस, पचीस-पचीस अबोध नारियाँ विधवा हो जाती थीं, जिसका चारित्रिक दुष्परिणाम समाज को तथा उन नारियों को भोगना पड़ता था । पूर्वकाल में धार्मिक कृत्यों के सविधि सम्पादन तथा आचरण की उच्चता कुलीनता प्राप्त करने की आधारशिला थी । पर पीछे वह बात न रही । कुलीन-परिवार में जन्म लेने के कारण धर्म-कर्म-हीन व्यक्ति भी कुलीन माना जाने लगा । ऐसे मनुष्यों ने कुलीनता के योग्य आचरण का त्याग कर बहु-विवाह द्वारा अर्थ-प्राप्ति से सुखमय जीवन व्यतीत करना अपना ध्येय एवं जीविकोपार्जन का व्यवसाय मान लिया । इससे समाज में अनैतिकता फैलने लगी । जातिगत द्वेष एवं घृणा ने भी जनता के बीच अपना पैर जमा लिया ।

घटकों और पंजीकारों की विवाह-वार्त्ता को अन्तिम रूप देने में प्रधानता तो थी ही । पीछे वैवाहिक सम्बन्ध तय करने की एक नयी विधि और रीति निकल पड़ी । उसको सभागाछी विवाह लोग कहने लगे । सभागाछी मधुबनी नगर से थोड़ी दूरी पर सौराठ नामक ग्राम में है, जहाँ सम्पूर्ण मिथिला के प्रत्येक भाग से बहुसंख्यक विवाहेच्छुक व्यक्ति तथा उनके सहयोगीगण निर्धारित तिथियों की अवधि में एकत्र होकर विवाह-वार्त्ता तय करते हैं । सभागाछी में जाकर विवाह सम्बन्धी वार्त्ता करने की प्रथा आज भी प्रचलित है ।

सभागाछी में घटक प्रायः वैवाहिक सम्बन्ध ठीक करते थे । उनकी समाज में प्रतिष्ठा थी । वे सत्यनिष्ठ होते थे । पर शनैः-शनैः उनमें भी अनैतिकता का प्रवेश हुआ । उनका काम दलाल का हो गया । पारिश्रमिक (दलाली) प्राप्त कर वर-कन्या की समानता तथा उनके भावी दाम्पत्य जीवन पर बिना विचार किये अर्थ-लाभ के लोभ से वे अनमेल विवाह भी तय कराने लगे, जिसका परिणाम समाज-कल्याण के विरुद्ध एवं दुःसह तथा दुःखद हुआ । प्राचीन मिथिला के पवित्र नाम एवं विमल यश में इससे कलंक-कालिमा पुत गयी । घटक व्यवसायी बन गये । पंजीकार भी वंश-परम्परागत होने लग गये । प्राचीन काल में पंजीकार अध्ययनशील एवं बहुमुखी विद्या के ज्ञाता होते थे । पर पीछे चलकर उनके वंशज विद्या तथा योग्यता के अभाव में भी पंजीकार वंश में उत्पन्न होने के कारण पंजीकार-पद पर प्रतिष्ठित होने लगे ।

स्त्रियों का स्थान समाज में अति निम्न माना जाने लगा था । अनेक परिवार के पिता

एवं भ्राता अंपनी पुत्रियों तथा भगिनियों को रुपये लेकर बेचने लग गये थे । कुल-नारियों की प्रतिष्ठा घर में बहुत कम रह गयी थी । कभी स्मृतिकार मनु ने संसार को बताया था कि जहाँ नारियों की प्रतिष्ठा होती है वहाँ देवता निवास करते हैं । पर अब उनका स्थान गृह में बन्दिनियों का था । स्त्री-शिक्षा के प्रति समाज का आदर और प्रेम उठ गया । उसको लोग अनादर और घृणा के साथ देखने लगे । याज्ञवल्क्य-युग की दर्शन-ज्ञान-पटु गार्गी और मैत्रेयी का इससे समाज में अभाव हुआ । पंद्रहवीं शताब्दी तक लखिमा रानी. धीरमति, विश्वास देवी तथा कवि विद्यापति की पुत्र-वधू चन्द्रकला देवी आदि जैसी विदुषियों का प्रादुर्भाव मिथिला में होता रहा । पर परवर्त्ती काल में उसका सर्वथा अभाव हो गया । बाल-विवाह को प्रोत्साहन मिला । छोटी-छोटी अबोध बालिकाओं का विवाह वयस्क तथा वृद्ध वरों के साथ किया जाने लगा । इसका परिणाम यह हुआ कि कभी-कभी अबोध विवाहिता बाला जब समझने-बूझने की अवस्था में पहुँची तो उसे मालूम हुआ कि उसके जीवन-धन प्राणपति उसकी अनजान अवस्था में ही स्वर्गवासी हो गये । ऐसी अभागिनी नारियों को अपने पतिदेव तथा उनके घर के दर्शन से भी जीवन-पर्यन्त वंचित रहना पड़ता था । समाज में इससे विधवाओं की संख्या में वृद्धि हुई । वे घृणा की दृष्टि से देखी जाने लगीं । उनकी अवस्था गृह-दासियों से भी निकृष्टतर हो गयी । वे समाज के लिए भार हो गयीं ।

समाज में स्त्री-जाति के लिए आदर रह नहीं गया था । नारी-वर्ग को शूद्रों की कोटि का समझा जाता था (जरनल ऑफ़ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी, ३७, पार्ट-१-२, पृ० १२१) । उन्हें केवल इन्द्रिय-तृप्ति का साधन माना जाता था । ज्योतिरीश्वर ने अपने 'वर्णरत्नाकर' में स्त्री-जति के गुण एवं अवगुण दोनों का उल्लेख किया है अवश्य, पर उनके दोषों के प्रति उसकी दृष्टि तीक्ष्ण रही है । उसने लिखा है कि 'स्त्रीक चरित्र अइसन दुर्लक्ष्य' (वर्णरत्नाकर, १७) । आगे चलकर वह लिखता है कि 'स्त्रीक चरित्र अइसन दारुण' (वर्णरत्नाकर, ५४) । उसने नारियों को निर्ल्लज्ज, आचार-हीन, निर्गति, निराश्रय आदि बताया है । उसके प्रेम और विनय के विषय में उसने अंकित किया है, यथा- 'धनार्थेप्रेम', 'लोभार्थे विनय' आदि (वर्णरत्नाकर, २६-२७)। विद्वान् लेखक के विचार में जितने दोष, जितनी चरित्रहीनता संसार में है, वह सब नारियों में पायी जाती थी । पुरुषवर्ग का चरित्र तपायें हुए सोने के समान विशुद्ध एवं निर्मल उसके मतानुसार था ।

वेश्यावृत्ति की स्थापना समाज में हो चुकी थी । पुरुषों से ही तो उसको प्रश्रय मिलता था । किन्तु चरित्रहीनता एवं निर्लज्जता का दोषारोपण ज्योतिरीश्वर ने अबला जाति पर ही किया है, सबल पुरुषवर्ग पर नहीं । उसने उसके विषय में लिखा है ''वेश्या अइसन परअनुग्राहक'' आदि (वर्णरत्नाकर, पृ० ६६; जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी, ३७, १, २, पृ० १२१-२३; ३६, ३, ४, पृ० १८३-९१) । समाज में वेश्याओं का स्थान निकृष्टतम था । अपनी वृत्ति के कारण वह घृणा की पात्री थी । उसकी गिरी अर्थिक अवस्था के प्रति किसी की सहानुभूति न थी, जिसके कारण समाज में अपमानित होकर भी उस वर्ग को नीचतम वृत्ति अपनानी पड़ती थी । कहा है-'बुभुक्षित: किं न करोति पापम्' । स्त्रियों के चरित्र को तमस्पूर्ण बताया जाता था ।

मध्य-युग में उच्च परिवार की स्त्रियों के सती होने की चर्चा साहित्य में पायी जाती है। ओइनवार कुल के राजा भवसिंह की दो रानियाँ बागमती नदी के तट पर अपने पति के शव के साथ चितारोहण कर सती हुई थीं। राजा शिवसिंह देव की संदिग्ध मृत्यु के विषय में विश्वस्त होने पर उसकी पटरानी लखिमा भी 'सती' हुई थी। बादशाह अकबर ने कानून बनाकर इस प्रथा पर प्रतिबन्ध लगाया था।

वैश्यों तथा निम्नकोटि के लोगों का जीविका-व्यवसाय कृषि था। प्रागैतिहासिक युग से उस काल तक कृषि-कार्य प्राचीन पद्धति के हल के द्वारा बैलों के योग से होता था। कृषि-भूमि विशेषतया परती पड़ी रहती थी। कृषि करने के योग्य भूमि की अपेक्षा जंगली भूमि अधिक थी। सिचांई के माध्यम से खेती कठिनाई के साथ की जाती थी (ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया, ५, २, पृ० ४; जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी, ३३, ४७, ४८)। मिथिला के प्रत्येक गृह के प्रांगण में कदली-कुंज रहता था। पर्यटकों के लेखों से पता चलता है कि मिथिला के प्रधान भोजन मध्य-युग में चावल, दूध में पकायी हुई खीर, चूड़ा आदि था। कूप, वापी तड़ाग, पुष्करिणी तथा नदियों की भरमार थी। जन साधारण में संस्कृत विद्या का प्रचार था। मिथिला नगर धन-धान्य से सम्पन्न था। उसको 'यग्यी' भी कहा जाता था (१४ वीं विक्रम सम्वत् के जैन प्रभु सूरि कृत 'कल्प प्रदीप्र'; 'जैन विविध तीर्थकल्प' का 'मिथिला तीर्थकल्प भाग[१]'; जरनल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, २७, २८५-९६)। कृषक पूर्णतया उद्यमी और परिश्रमी नहीं थे। वाणिज्य, और व्यवसाय मिथिला का अन्य राज्यों के साथ होता था अथवा नहीं, इसका उल्लेख साहित्य में प्राप्य नहीं है।

ज्योतिरीश्वर ने 'वर्णरत्नाकर' की रचना लगभग १३२४ ई० में की थी (जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी ३७, ३-४, पृ० १४-२५)। वह ग्रन्थ सात अध्यायों में विभक्त है, यथा (१) नगर-वर्णन, (२) नायक-वर्णन, (३) आस्थान-वर्णन, (४) ऋतु-वर्णन, (५) प्रयाणक-वर्णन, (६)भट्टादि-वर्णन, तथा (७) कला-वर्णन। इस ग्रन्थ के अवलोकन से पता चलता है कि मैथिल-समाज की स्थिति जैसी ११वीं, १२वीं, १३वीं तथा १४वीं शताब्दियों में थी, आज भी थोड़ा बहुत अन्तर के साथ वैसी ही बनी हुई है। उस ग्रन्थ में लगभग सारे उत्तर भारत की तात्कालिक राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति का वर्णन किया गया है, पर मिथिला का विशेष रूप से; क्योंकि वह वहाँ का निवासी था (जे० के० मिश्र : हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर, १, १२१; वर्णरत्नाकर, विषय-प्रवेश १०)।

डॉ० एस० के० चटर्जी की राय में ज्योतिरीश्वर की मिथिला में शान्ति और सुख था। शान्ति का पता तो इतिहास देता है, पर सुख-स्मृद्धि की चर्चा 'वर्णरत्नाकर' में नहीं है। हाँ, अन्यत्र मिथिला नगर को धन-धान्य-सम्पन्न बताया गया है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ज्योतिरीश्वर के काल का समाज जिस प्रकार का था, वह तद्वत् आज भी मिथिला में विद्यमान है।

उस काल में भी राजप्रजा, आर्य-म्लेच्छ, ब्राह्मण-शूद्र, जाति-विभाग, वर्ग-विभाग, भोग-विलास तथा दारिद्रय अपने-अपने स्थान पर विराजमान होकर पृथक्-पृथक् अपने जैसे दृश्य दिखाते थे, उसी प्रकार मिथिला की सामाजिक दशा आज भी वही है। दीनों

और दुखियों के यहाँ दरिद्रता का ताण्डव नृत्य उन दिनों भी होता था, और वही दशा साम्प्रतिक स्वतन्त्र भारत की मिथिला की आज भी है। राजप्रासादों में सुन्दरियों के सुख-शय्या सजाने के हेतु सहस्रशः दासियाँ, दासी-पुत्रियाँ एवं परिचारिकाएँ उन दिनों नतमस्तक हो विनम्र भाव से सतत प्रस्तुत रहा करती थीं, और आज जब राजा, माण्डलिक तथा सामन्तों के दिन लद गये हैं, तब भी श्रीमानों एवं पूँजीपतियों के वेश्मों तथा अंतःपुरों एवं भीतरी और बाहरी दरबारों का दृश्य उससे कम दृष्टिगत नहीं होता है। एक ओर मखमली गद्दों से सुशोभित स्प्रिंगदार सुन्दर और बहुमूल्य गांगी-यमुनी सोफा-सेट से सजे पँचमंजिलें और सतमंजिले मनोरम मन्दिरों की चमकाहट के बीच चहकने वाली परियों के साथ आनन्द मनाने एवं कल्लोल करने वाले करोड़पतियों की सज-धज और दूसरी ओर सड़क के किनारे शीत और घाम में, खुले आकाश के नीचे जीवन-यापन करने वाले अस्थि-चर्मावशिष्ट दीन नर-कंकालों का करुण दृश्य, तथा भूख की असह्य ज्वाला से पीड़ित अपनी प्रतिष्ठा को बेचने वाली देवियों की दुरवस्था सतृदय पर्यवेक्षकों के मर्मस्थल को अतीत की भाँति आज भी मर्माहत करती है। 'वर्णरत्नाकर' के वर्णनानुसार उन दिनों चोर, चंचल, जुआर, छिनार, लगवार, पेटकट, नाककट, कनकट, आदि की कमी न थी। उसमें लिखा है कि-"अनेक जे असदर्थ अनुचिती ताकर आश्रय" अर्थात् अनेक प्रकार के असद् अनुचित करने वालों का आश्रय आदि (वर्णरत्नाकर, पृ० ६)। धानुकों एवं गोआरों की गणना सम्प्रति सु-संस्कृत पिछड़ी जातियों (शूद्रों) में की जाती है। परन्तु ज्योतिरीश्वर ने उनको भी मन्द जातियों की श्रेणी में स्थान दिया है (वर्णरत्नाकर, पृ० १)। उसमें उसने मन्द जातियों की सूची दी है, यथा-"तापसि, तेलि, तांति, तिवर,.....धांगल, धाकल, धानुक, धोआर, धुनियाँ, धलिकार, डोंव, ढाढ़ि, चमार, गोआर,.......साव, पटविया, ...नागर प्रभृति मन्द जातीय" (वर्णरत्नाकर, पृ० १; जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी, ३६, पार्ट ३-४, पृ० १८०-८१)।

ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा असीम थी। उन पर शासन की कृपा रहती थी (यथा-"ब्राह्मणेषु क्षमी", के० पी० जायसवाल सम्पादित 'राजनीति रत्नाकर', पृ० ६१)। उनकी प्रसन्नता एवं अप्रसन्नता पर किसी की भी उन्नति अथवा अवनति निर्भर करती थी। वे राजा के प्रियपात्र होते थे। उनकी बात प्रायः राजा सुनता था। नगर-प्रतोलियाँ 'योगा', 'योगी' जैसे भिखारी-भिखारिणियों तथा भड़ुआओं (वेश्याओं के दलालों) से भरी रहती थीं (वर्णरत्नाकर, पृ० १, यथा-"योगा, योगी, नगारि, भरहर, भड़ुआ, चेंगा, चतरिया,....महीर,....वाहिलि, परभा प्रभृति ये अनेक भिखारि")।

उपर्युक्त उल्लेख से पता चलता है कि आज से छः सौ वर्षों से भी अधिक पूर्व की दुनियाँ में भिखारी, साधुओं की गणना वेश्याओं के दलालों की कोटि में की जाती थी। अछूत शूद्रों का स्थान समाज में निकृष्टतम था। उनकी छाया से भी ब्राह्मणों को छूत लग जाती थी। उनका मुख्य-मुख्य राज-पथों पर प्रवेश एवं विचरण निषेध था।

दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाले परपीड़क शठों को राजाज्ञा से भृत्य घोषित किया जाता था। कृषकों की सम्पत्ति का अपहरण करने वाले अपराधी की सारी सम्पत्ति छीन ली जाती थी, और उसे राज्य से निष्कासित कर दिया जाता था (के० पी० जायसवाल सम्पादित 'राजनीति रत्नाकर', पृ० ६१,) यथाः-

"राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वदायिनः शठाः
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ।
ये कार्षिकेभ्योऽर्थमेवं गृह्णीयुः पापचेतसः
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्य्यात् प्रवासनम् ।।"

ज्योतिरीश्वर का वर्णन विशेषकर नगरवासियों के विषय में है । ग्रामीण-जीवन का पर्यवेक्षण सम्भवतः उसने उतने गहरे जाकर नहीं किया था, जितने नागरिक जीवन का । उसने द्यूतालय का नाम अंकन किया है । उसके साथ अन्य अनेक वस्तुओं के नाम भी उसने गिनाये हैं (वर्णरत्नाकर, पृ० २३-२६)। परन्तु ग्राम्य-जीवन के वर्णन का पता उसके ग्रन्थ 'वर्णरत्नाकर' से नहीं चलता है । अपने 'धूर्त-समागम' में उसने एक उन्नतिशील कृषक के भवन का किंचित् वर्णन किया है, पर उससे गाँवों की रहन-सहन, रीति-रिवाज पर प्रकाश नहीं पड़ता है । उसने उसके सम्बन्ध में लिखा है,यथा-"भअवं,पेक्ख पेक्ख, विहिद-भअ-वज्जण-मुण्ड-सरिच्छ-बहुअर-महिसि-खम्भ-सोहन्त-चउस्सालं इदो तदो सञ्चरन्त-बाल-गोबच्छ-सोहिदं पीणुत्तुङ्गत्थण-लसपरिक्खलन्त-मन्दसञ्चार-रमणिज्जचा-वासपरिसर-सञ्चरन्त-चेडियासमूहं कस्सबि महाधणस्स वासभअणं विलोइ" आदि (प्रथम दृश्य)।

विद्यापति ने अपने वर्णनों में मिथिला के तत्कालीन समाज का चित्रण स्पष्ट शब्दों में किया है । उन्होंने 'कीर्तिलता' (वी० आर० सक्सेना सम्पादित नागरी प्रचारिणी सभा संस्करण, काशी, पल्लव २, पृ० १६-१९) में निम्नांकित छन्द लिखा है :-

"ठाकुर ठक भए गेल चोरे चप्परि घर लिज्झिअ
दासे गोसाञुनि गहिअ, धम्म गए धन्ध निमज्जिअ
खल सज्जन परिभविञ कोई नहिं होइ विचारक
जाति अजाति विवाह अधम उत्तम कां पारक
अख्खर-रसबुज्भनिहारि नहिं कइकुल भमि भिख्खारि भँउ
तिरहुत्ति तिरोहित सव्व गुणें राए गएनेस जवे सग्ग गँउ।।"

कवि के उपर्युक्त पद का आशय है कि राजा गणेशराय (गणेश्वर अथवा गुणेश्वर) की मृत्यु के बाद राज्य के सभी माण्डलिक ठाकुर ठग बन गये । चारों को चोरी करने की छूट मिल गयी । धर्म पाप में प्लावित हो गया । कार्य-कलाप रुक गये, जोर-जुल्म का साम्राज्य हुआ । सद्-असद् की विवेचना लुप्त हो गयी । भले-बुरे में अन्तर करनेवाला कोई रह नहीं गया । उच्च कुलोद्भव पुरुष दरिद्र होकर भिक्षुक बन गये । विद्वान् विलीन हो गये । तिरहुत के सभी सूक्ष्म और सुन्दर गुण तिरोहित हो गये, आदि-आदि । उपर्युक्त वर्णन से पता चलता है कि तिरहुत में उस समय चिरकाल तक अराजकता, अनुशासनहीनता तथा अनैतिकता का साम्राज्य फैला हुआ था, जिसके लिए देशभक्त कवि को हार्दिक दुःख था ।

विद्यापति के ऊपर के वर्णन से स्पष्टतः पता चलता है कि उसके काल में मिथिला के निवासी हिन्दुओं की दशा अति शोचनीय थी । उसके जौनपुर नगर के वर्णन से बात और भी साफ हो जाती है । उस नगर में हिन्दू और मुसलमान, दोनों का ही निवास था ।

दोनों धर्मों के अनुयायियों में सद्भावना न थी। एक धर्म के मानने वाले दूसरे के धर्म की निन्दा किया करते थे। हिन्दू दास-दासियों, धनुष-बाण आदि के विक्रय के हेतु वहाँ बाजार थे। रुपये के विनिमय करने वाले वहाँ रहते थे। वे अनेकानेक दासों को क्रय करते थे। जब एक मुसलमान की भेंट दूसरे मुसलमान से होती थी तो उनके बीच सलाम-बंदगी पुनः होती थी। बलपूर्वक बेगारी कराने की प्रथा प्रचलित थी। सम्पन्न एवं शक्तिशाली तुर्क (मुसलमान) जब कहीं की यात्रा करता था तब वह मनुष्यों को बिना पारिश्रमिक दिये सेवा करने के हेतु बाध्य करता था। वे ब्राह्मण के लड़कों को पकड़कर उनके माथे पर गोमांस रखते थे। वे उन लड़कों के मस्तक पर से जाति-चिन्ह चन्दन आदि मिटा देते थे और उनके यज्ञोपवीत तोड़ डालते थे। इसके पश्चात् उनके ऊपर घोड़े चढ़ाना चाहते थे। वे देव-मन्दिरों को ध्वंस कर उसके स्थान में मस्जिदों का निर्माण करते थे। साधारण मुसलमान भी जहाँ-कहीं हिन्दुओं को पाता था, वहाँ उन्हें पीटता था। ऐसा मालूम पड़ता था कि मानो वे हिन्दुओं को निगल ही जायेंगे। विद्यापति ने उपर्युक्त प्रकार से मध्ययुगीन हिन्दुओं की दयनीय दशा का वर्णन कर तत्कालीन मिथिला के समाज का जीता-जागता चित्रण पाठकों के समक्ष उपस्थित किया है। उसने ऐसी विषम स्थिति का वर्णन अपने निम्नांकित पदों में किया है :-

"धरि आनय बाँभन बडुआ, मथाँ चढ़ाबए गाइक चुडुआ
फोट चाट जनऊं तोड़, उपर चढ़ाबए चाह घोड़
हिंदू बोलि दूरहि निकार, छोटेओ तुरुका भभकी मार
हिन्दूहि गोट्टओं गिलिए हल तुरुक देखि होउ भान"।।

(कीर्त्तिलता, पृ० ४४, पल्लव ३-४ सुभद्र झा : दी सौंग्स ऑफ विद्यापति, २१)

धर्म

मिथिला के निवासी ब्राह्मणों का वर्णाश्रम धर्म में विश्वास अत्यधिक था। वे देवी-देवताओं की भक्तिपूर्वक पूजा कर उनका अनुग्रह प्राप्त करने में भी विश्वास रखते थे। उनके आराध्य थे-शिव, शक्ति तथा विष्णु। तीनों में ही उनकी समान श्रद्धा थी, और तीनों ही को अलौकिक वरदान देनेवाले तथा मनोरथ पूर्ण करने वाले मानते थे। मैथिलों के ललाट पर चन्दन के तीन चिह्न आज भी देखने को मिलते हैं। उनके मस्तक पर बनी भस्म की तीन आड़ी रेखाओं का त्रिपुंड शिव-भक्ति का, स्वच्छ मलयागिरि-उद्भूत चन्दन की खड़ी रेखा विष्णु-भक्ति का, तथा मध्य में रक्त चन्दन अथवा सिन्दूर का बिन्दु शक्ति-उपासना का पृथक्-पृथक् प्रतीक माना जाता है।

मिथिला में शिव-भक्ति का प्रचार विशेषतया पाया जाता था, खासकर ब्राह्मणों में। शिव-मन्दिर प्रायः मिथिला में सर्वत्र पाया जाता है। प्रत्येक महीने के कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी, और कहीं-कहीं कृष्ण और शुक्ल-पक्ष, दोनों की चतुर्दशियों के दिन उपवास, विशेष अवसर पर लखाउरी पार्थिव पूजा, तथा मिथिला के कवियों-विद्यापति, चन्द्र झा आदि रचित नचारी, महेश-बानी आदि शिव-भक्तिपूर्ण कविताओं का प्रचार-प्रसार प्रत्यक्षतः इसका द्योतक है कि भगवान् आशुतोष शिव का स्थान मिथिला-निवासियों के मानस में

अति उच्च था। वे शिव और विष्णु में अन्तर नहीं मानते थे। वे दो रूप में एक ही परमात्मा की पूजा करते थे। विद्यापति ने अपने एक पद में कहा भी है–

भल हरि, भल हर, भल तुअ कला।
खन पितवसन खनहिं बघछला॥
खन पंचानन खन भुज चारि।
खन शंकर खन देव मुरारि॥
खन गोकुल भए चराइअ गाय।
खन भिख माँगिए डमरु बजाय॥
खन गोविन्द भए लिअ महादान।
खनंहि भसम भरु काँख बोकान॥
एक सरीर लेल दुई वास।
खन बैकुंठ खनहि कैलास॥
भनइ विद्यापति विपरित वानि।
ओ नारायण ओ सुलपानि॥

मिथिला तथा उसके आस-पास के ग्रामों एवं नगरों में शिव के अति प्राचीन मन्दिरों का अस्तित्व भी शिव-पूजा के प्रचार का द्योतक है। दरभंगा जिले के हसनपुर रेलवे-स्टेशन के निकट का कुशेश्वर स्थान, चम्पारण जिला के गोविन्द गंज थाने के अरेराज (अरराय राज) का सोमेश्वर महादेव मन्दिर, मुजफ्फरपुर के बाबा गरीब नाथ का मन्दिर, शिवहर के निकट के देकुली शिवदेवालय, लहेरियासराय के निकट देकुली का वर्द्धमनेश्वर शिव मन्दिर, भागलपुर जिले के कहलगाँव रेलवे-स्टेशन के निकट का बटेश्वर स्थान आदि अति प्राचीन शिव-मन्दिर हैं, जहाँ आज भी मिथिला की जनता दूर-दूर से आकर श्रद्धा एवं भक्ति के साथ शिव-पूजन करती है। मिथिला के निवासी वसंत पंचमी, शिवरात्रि, सोमवती अमावस्या आदि के अवसर पर चिरकाल से कंधे पर गंगाजल लेकर हजारों की संख्या में वैद्यनाथ धाम, कुशेश्वर स्थान, अरेराज के सोमेश्वर नाथ तथा मुजफ्फरपुर के बाबा गरीब नाथ के मस्तक पर गंगाजल अर्पण करने के हेतु भक्तिभाव से जाते देखे जाते हैं। यह क्रम अति प्राचीन काल से चालू है।

शक्ति की पूजा भी मिथिला में शिव-पूजन के समान ही प्रचलित थी। लोगों का विश्वास था और है भी कि शक्ति की पूजा से सिद्धि प्राप्त होती है, और शंकर भगवान मुक्ति के दाता हैं। देवादित्य, वर्द्धमान उपाध्याय, मदन उपाध्याय, तथा अनेक तान्त्रिक साधु शक्ति के उपासक हो गये हैं (जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी ३७, पार्ट्स ३-४, पृ० ४६)।

विशेष अवसरों पर, चूड़ाकरण, यज्ञोपवीत, विवाह आदि संस्कारों के पूर्व सम्पूर्ण मिथिला में मातृका पूजा करने की परिपाटी है। नवरात्र के समय आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से नवमी तक लोग नवदुर्गा का व्रत घटस्थापन कर नियमित रूप से मिथिला में करते हैं। स्थान-स्थान पर माता दुर्गा की मृत्तिका की भव्य मूर्त्तियाँ प्रस्तुत कर बड़े समारोह के साथ

प्रतिवर्ष मिथिला-निवासी पूजा करते हैं। दुर्गा-सप्तशती के पाठ का क्रम भी मिथिला में अति प्राचीन काल से चला आ रहा है।

मिथिला के पड़ोस नेपाल में 'तुलजा माता अथवा तालेजू माँ' का प्राचीन शक्ति मन्दिर है। वह वहाँ के आदि-निवासी नेवारों की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती हैं। सतरहवीं शताब्दी में वह नेपाल की राजधानी कान्तिपुर (काठमण्डु) के मल्ल भूपों की परमपूज्या देवी के रूप में पूजित होती थी। मिथिला के कर्णाट वंशीय राजा हरिसिंह देव ने जब चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में नेपाल की विजय कर उस पर अपना आधिपत्य स्थापित किया, तब उक्त देवी की अर्चना-पूजा उसने भी वहाँ आरम्भ की। इससे भी निष्कर्ष निकलता है कि मध्ययुग के मैथिल शैव होने के साथ शाक्त भी थे। नेपाल के पशुपतिनाथ महादेव के पुंजारी दक्षिणी ब्राह्मण हैं। हरिसिंह देव के पूर्वज मूलतः दाक्षिणात्य क्षत्रिय थे। पीछे उन्होंने मिथिला में आकर निवास किया। अतः उनके वंशज मैथिल में परिगणित हुए। मालूम पड़ता है कि मिथिला के कर्णाट वंशीय राजाओं के नेपाल से शासनिक सम्बन्ध होने के कारण ही नेपाल-नरेश के इष्ट देव 'पशुपतिनाथ' की पूजा का भार दक्षिण के ब्राह्मणों को सौंपा गया था। कर्णाट कुलोद्भव राजा नान्यदेव ने सर्वप्रथम नेपाल की विजय ११९९ ई० में की थी।

शालग्रामों (विष्णु भगवान् की एक प्रकार की स्वयंभू प्रस्तर-मूर्त्ति) के उद्भव-स्थान शालिग्रामी (नारायणी, सदानीरा, गण्डक) नदी के प्रति मिथिला के वासियों की श्रद्धा, रामनवमी, कृष्णाष्टमी आदि वैष्णव-उत्सवों को समारोह के साथ मनाना तथा उपवास करना, श्रीमद्भागवत, हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त एवं विष्णु पुराणों का मिथिला में प्रचार आदि से यह प्रमाणित होता है कि मैथिलों के ऊपर वैष्णव सम्प्रदाय का प्रभाव कम न था (जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी ३७, पार्ट्स १-२, पृ० १२३-२४)। विद्यापति के पदों में भी वैष्णव धर्म का पुट प्रचुर रूप से पाया जाता है। पर इसमें सन्देह नहीं है कि मैथिलों में वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायियों की अपेक्षा शैवों और शाक्तों की संख्या अधिक थी (ज़रनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी ३३, ५२; जे० के० मिश्र हिस्ट्री : ऑफ मैथिली लिटरेचर १, २०)।

भागलपुर जिले के कन्दहा के भवादित्य का मन्दिर बताता है कि उस युग में सूर्य की पूजा भी कहीं-कहीं प्रचलित थी। यह भवादित्य का मन्दिर ओइनवार कुल के राजा नरसिंह देव द्वारा १४५३ ई० में निर्मित हुआ था, जैसा कि शकाब्द १३७५ के कन्दहा-उत्कीर्ण अभिलेख से झलकता है। डा० उपेन्द्र ठाकुर ने अपनी 'हिस्ट्री ऑफ मिथिला' (पृ० ३७३, पादटिप्पणी, संख्या-४) में उक्त मन्दिर के निर्माण कराने का श्रेय कर्णाट कुलीय राजा नरसिंह देव को दिया है। नरसिंह देव का शासनकाल बारहवीं शती का अन्तिम तथा तेरहवीं शताब्दी का प्रथम चरण था। भवादित्य मन्दिर का निर्माण-काल उक्त अभिलेखानुसार पंद्रहवीं सदी का मध्य माना जाता है। डॉ० उपेन्द्र ठाकुर के ऊपर अंकित मत का खण्डन उनके ही उक्त ग्रन्थ के पृ० ३२६ के लेख से होता है, जिसमें उन्होंने ओइनवार वंशीय नरसिंह देव के सम्बन्ध में उल्लेख करते समय कन्दहा-अभिलेख की भी चर्चा की है।

शैव, शाक्त, वैष्णव तथा सूर्योपासक के अतिरिक्त एक तपसी सम्प्रदाय के नाम का उल्लेख भी यत्र-तत्र मिलता है (वर्णरत्नाकर, पृ० १)। उनको मन्द जाति का कहा गया है। सम्भवतः उन सबों का जीवन-निर्वाह मधुकरी (गृहस्थों के घर से पके अन्न की भिक्षा) द्वारा होता था। उस सम्प्रदाय के मूल में त्याग तथा विराग की उच्च भावना काम करती थी। पर कुछ विद्वानों के मतानुसार उनके भिक्षाटन की जड़ में उनकी भौतिक दरिद्रता थी (जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी ३६, पार्ट्स ३-४, पृ० १८०)।

ब्राह्मणों और बौद्धों में विद्वेष था। ब्राह्मण वर्ग मुसलमानों से भी बड़ा शत्रु बौद्धों को मानता था। ऐसी स्थिति मुसलमानों द्वारा नालन्दा विश्वविद्यालय के विनाश के पश्चात् तक बनी रही। ज्योतिरीश्वर ने बौद्धों को पतित एवं भयानक बताया है (वर्णरत्नाकर ३९, यथा– ''बौद्ध पक्ष अइसन अपात भीषण, उदयनक सिद्धान्त अइसन प्रसन्न'')। कतिपय विद्वानों ने द्रोणवार राजा पुरादित्य गिरिनारायण द्वारा नेपाल की तराई के सप्तरी-क्षेत्र के राजा अर्जुन के वध का कारण उसका बौद्धों के राजा होने के नाते बौद्धों की ओर से ब्राह्मण राजा पुरादित्य के विरुद्ध युद्ध छेड़ना था (महामहोपाध्याय पं० उमेश मिश्र : विद्यापति ठाकुर, ५६-५७; सुकुमार सेन : विद्यापति गोष्ठी, १८; जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बिहार ५२, पार्ट १, पृ० २७)। विद्यापति के ग्रंथ 'लिखनावली' के श्लोकांश ''संग्रामेऽर्जुनभूपतिर्विनिहतो बंधौ नृशंसायितः' के बंधौ नृशंसायितःका 'बौद्धे नृशंसायितः' पाठ मानकर ब्राह्मणों द्वारा बौद्धों तथा उसके राजा अर्जुन के हनन करने की कथा का प्रचार किया गया। इस विषय की विवेचना राजा शिवसिंह देव के वृत्तान्त लिखने तथा द्रोणवार- कुल के वर्णन करने के संदर्भ में की जा चुकी है।

मुसलमान विजेताओं के साथ इस्लाम धर्म का प्रवेश भारत के और भागों के समान ब्राह्मणों के जनपद मिथिला में भी हुआ। सदियों तक साथ रहने के कारण दोनों संस्कृतियों में मेल के लक्षण दीख पड़ने लगे। मुसलमानों के संसर्ग से फारसी एवं अरबी शब्दों का बाहुल्य मैथिलों की बोलचाल, कथनोपकथन की भाषा में हुआ। मुसलमानों के धार्मिक समारोह ताजिया अथवा 'दाहा' में मिथिला के हिन्दुओं ने भी श्रद्धापूर्वक भाग लेना आरम्भ किया। अकबर द्वारा चालित फसली सम्वत् का प्रचार मिथिला में होना आरम्भ हुआ। संगीत शास्त्र में लोचन (राग-तरंगिणी के प्रणेता) जैसे प्रसिद्ध मैथिल संगीताचार्यों ने इमाम और फिरदोसी रागों को भारतीय प्राचीन प्रचलित रागों के साथ स्थान दिया। मुसलमानों ने भी हिन्दुओं के पर्व-त्योहारों को आदर की दृष्टि से देखना और उसमें भाग लेना आरम्भ किया। अनेक मुसलमान सन्तों ने हिन्दू सन्तों के समान ही राम-कृष्ण के भक्तिपूर्ण भजन गाना आरम्भ किया। ऐसे संतों में रसखान, कबीर, रहिमन आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। मुसलमान-शासन-युग के न्यायाधीशगण मिथिला में हिन्दुओं के विवादों का निर्णय १८वीं शती तक प्राचीन हिन्दू-पद्धति के अनुसार करते रहे (जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी १९२०, सचल मिश्र के निर्णयों पर के० पी० जायसवाल का विचार)।

देश में अति विषम परिस्थिति के उपस्थित होते हुए भी मैथिल अपने धर्म के मामले में बड़े ही कट्टर रहे हैं। इस मामले में वहाँ पुरोहित और ब्राह्मणों का एकछत्र शासन बना

हुआ था। शूद्रों एवं ब्राह्मणेतर वर्णों के लिए उन्होंने कंठिन विधान बना रखा था। उन लोगों ने धार्मिक कार्य, दान, भवन-निर्माण, मन्दिर-निर्माण, मूर्ति-निर्माण, श्राद्ध, विवाह, यज्ञोपवीत, चूड़ाकरण आदि संस्कार, भक्ति-दर्शन, यज्ञ, शूद्र-कर्त्तव्य, स्त्री-कर्त्तव्य आदि विषयों पर ग्रन्थों की रचना कर उनके लिए नियम बनाये थे, जिनके अनुसार ही हिन्दू समाज को उपर्युक्त प्रकार के सभी कार्यों का सम्पादन करना पड़ता था। उनके निर्देश के विरुद्ध कार्य करना धर्म के विरुद्ध आचरण माना जाता था और उस प्रकार की क्रान्ति (अपराध) का दण्ड प्रायश्चित होता था।

शिक्षा

ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शती के प्रथम चरण के अन्त तक क्रमशः कर्णाट क्षत्रियों एवं ओइनवारों का स्वतंत्र एवं अर्द्ध-स्वतन्त्र राज्य मिथिला पर रहा। संस्कृत साहित्य के संवर्द्धन एवं अध्ययन-अध्यापन के हेतु इस मध्यकालीन युग को मिथिला का स्वर्णयुग कहना अनुचित न होगा। इस काल में अनेकानेक ग्रंथों, भाष्यों एवं ग्रन्थसारों का सृजन साहित्य एवं विज्ञान के सभी अंगों पर हुआ। इसी काल में अनेक विषयों की पुस्तकों का संकलन भी किया गया। स्मृतियों के अध्ययन के दिशा में लोगों की प्रवृत्ति बढ़ी। उसके विस्तार एवं विकास के हेतु विद्वानों के संकाश एवं सहयोग से सहराहनीय कार्य हुआ, तथा जनता के बीच उसके सम्यक् प्रचार के लिए समुचित अवकाश शासन के संपोषण से प्राप्त हुआ। चंडेश्वर के परिवार तथा हरिनाथ उपाध्याय, श्री दत्तोपाध्याय, भव शर्मा, इन्द्रपति एवं उसके मेधावी शिष्य लक्ष्मीपति आदि मनीषियों के नाम उल्लेखनीय हैं जिनकी लेखनियों के द्वारा स्मार्त्त-विचारधारा का प्रसार एवं प्रचार सभी स्तर के जनसमुदाय तक हो सका (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९२५ सीरीज, पृ० ४१४)। भानुदत्त मिश्र ने श्रृंगार एवं वाचन तथा लेखन कलाओं पर जनप्रिय निगूढ़ ग्रंथों का निर्माण किया। विद्वान् ज्योतिरीश्वर ने श्रृंगार-ग्रंथ 'पञ्चसायक' तथा 'रंगशेखर' का प्रणयन किया और रत्नेश्वर ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नाामक साहित्य-सिद्धान्त ग्रन्थ पर ललित भाष्य लिखा (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, ४१४)। साहित्यिक कृत्यों में भवदत्त का 'नैषध-चरितम्' पर लिखा भाष्य अद्यावधि बड़े चाव से पढ़ा जाता है। पृथ्वीधर आचार्य ने 'मृच्छकटिक' नाटक पर सुन्दर भाष्य प्रस्तुत किया, तथा श्रीकर आचार्य ने संस्कृत के सुप्रसिद्ध कोष-ग्रंथों का निर्माण किया। पश्चाद्वर्त्तीकाल में न्याय विषयक ग्रंथों के संसृजन, संकलन, सम्पादन एवं प्रणयन के क्षेत्र में गंगेश उपाध्याय का नाम स्मरणीय एवं उल्लेखनीय है।

चौदहवीं शती के तृतीय चरण के प्रथम दशक के लगभग मध्य से ओइनवारों का राज्य आरम्भ हुआ। इस काल के प्रख्यात विद्वानों में चार के नाम अति प्रसिद्ध हैं। वे हैं— जगद्धर, विद्यापति, शंकर मिश्र तथा वाचस्पति मिश्र। पं० वाचस्पति मिश्र को 'अभिनव वाचस्पति' भी कहा जाता था। इस नाम के और दो विद्वानों का पता भी इतिहास देता है। किन्तु वे दोनों ही ओइनवार-युग के विद्वान् नहीं थे। उनमें से एक नवमी शताब्दी के अन्तिम चरण में विद्यमान थे तथा वेदान्त दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने शंकराचार्य (जन्म वर्ष ७७८ ई०) के 'शारीरक भाष्य' के ऊपर 'भामती' नामक टीका

लिखी थी । यह 'शारीरक भाष्य' वेदान्त दर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' की विस्तृत व्याख्या है । 'न्यायसूची निबन्ध' के रचयिता भी ये ही वाचस्पति मिश्र थे (आर० के० मुखर्जी : एन्शिएण्ट इण्डियन एडुकेशन, ५९७; जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल १९१५, न्यू सिरीज, नं० ४००, ४३१-३२) । दूसरे वाचस्पति परवर्त्ती विद्वान् थे । वे वारेन्द्र ब्राह्मण कुलोद्भव थे तथा उनका नाम चन्द्रशेखर वाचस्पति था (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३७६, पाद-टिप्पणी) । ओइनवार-काल के विद्वान् वाचस्पति मिश्र 'विवाद चिन्तामणि' आदि ग्रंथों के प्रणेता थे ।

ओइनवार राजकुल के स्थापना-काल में महामनीषी जगद्धर विद्यमान थे (आर० के० मुखर्जी : इण्डियन एन्शिएण्ट एडुकेशन, ५९६; जनरल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९१५, न्यू सीरीज, पृ० ४३१)।

कविवर विद्यापति का काल चौदहवीं शती (१३४०-१४४८ ई०) बताया जाता है । ओइनवार कुल के सातवें नरेश स्वतन्त्रता के उपासक राजा शिवसिंह देव के काल में इनकी प्रसिद्धि अत्यधिक हुई । ये बहुमुखी विद्वान् थे । इनकी कविताएँ आज भी मिथिला के घर-घर में बड़े चाव से गायी और पढ़ी जाती हैं । ये वैष्णव होते हुए भी शिव के अर्चक एवं उपासक थे, और दोनों को भिन्न-भिन्न दो रूपों में एक प्रभु मानते थे । उनके ग्रन्थों में 'कीर्त्तिलता' तथा 'पदावली' अति प्रसिद्ध हैं । 'पदावली' का प्रभाव साम्प्रतिक वैष्णव एवं भागवत धर्म के परवर्त्ती प्रचारक बंगाल के परम प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त चैतन्य महाप्रभु पर पड़ा, और उनके द्वारा कवि के भक्ति एवं भावपूर्ण पदों का प्रचार बंगाल में भी घर-घर उसी प्रकार हुआ जैसा 'बाइबिल' का अंग्रेजों के निलयों में (ग्रियर्सन : इण्ट्रोडक्शन ऑफ मैथिली लैंग्वेज, विद्यापति के संबंध में) । विद्यापति ने स्मृति, नीति, पूजा तथा साहित्य सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की रचना उपर्युक्त पुस्तकों के अतिरिक्त की । 'विभाग-सार', 'गंगा वाक्यावली' तथा 'दानवाक्यावली' कवि के स्मृति-विषयक ग्रन्थ हैं; 'भू-परिक्रमण' एवं 'पुरुष परीक्षा' नीति-सम्बन्धी; 'शैव-सर्वस्व-सार' तथा 'दुर्गा-भक्ति-तरंगिणी' पूजा-विषयक, और 'लिखनावली' साहित्य के उनके सम्मान्य ग्रन्थ हैं । विद्यापति की कविताओं में श्रृंगार एवं भक्ति का समन्वय बड़ी पटुता से किया गया है । उनके प्रारम्भिक जीवन की कविताएँ श्रृंगार रस से ओतप्रोत हैं तथा वार्द्धक्य की अध्यात्मजनक निगूढ़ भावों से परिपूर्ण (डी० सी० सेन : हिस्ट्री ऑफ बेंगाली लैंगवेज ऐंड लिटरेचर, १, १४९; जे० के० मिश्र : हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर, १, १३०)।

मीमांसा-दर्शन के क्षेत्र में भी मिथिला ने इस युग में अभूत-पूर्व प्रगति का प्रदर्शन किया । उस काल उक्त दर्शन के अध्ययन के हेतु दो पद्धतियाँ प्रचलित थीं-(१) भट्ट-पद्धति, तथा (2) प्रभाकर पद्धति । मिथिला के ओइनवार वंशीय नवम नरेश राजा पद्मसिंह देव की रानी और उत्तराधिकारी विश्वास देवी के शासनकाल में मिथिला में विद्वानों का एक सम्मेलन बुलवाया गया था, जिसमें लगभग १४०० केवल मीमांसक पंडित आमन्त्रित किये गये थे । आगे चलकर उपर्युक्त दोनों पद्धतियों में प्रभाकर-पद्धति जनप्रिय हुई, और उसकी ओर देश के भिन्न-भिन्न भागों के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ (प्रभाकर मीमांसा, डॉ० गंगानाथ झा कृत, पृ० १०; डॉ० गंगानाथ झा कौमेमोरेशन वॉल्यूम,

२४२-४३)। बारहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों के बीच महान् तार्किक विद्वान् गंगेश उपध्याय, वर्द्धमान, पक्षधर एवं अन्यान्य विद्वानों के द्वारा न्याय दर्शन के अध्ययन-अध्यापन में नये ढंग से प्रगति आयी, और गौतम द्वारा चालित प्राचीन दर्शन का विकास हुआ (आर० के० मुखर्जी : एन्शिएण्ट इण्डियन एडुकेशन, ५९७)। मगध के नालन्दा-विश्वविद्यालय के समान ही मिथिला की प्रसिद्धि सम्पूर्ण भारत के बीच हुई, और देश के भिन्न-भिन्न भागों में न्यायशास्त्र की उच्च शिक्षा के हेतु विद्यार्थीगण आकृष्ट होकर वहाँ आने लगे । उस काल काशी आदि विद्यापीठों के समान ही मिथिला संस्कृत-अध्ययन का केन्द्र बन गयी थी । उस युग में वहाँ संस्कृत विद्या के साथ ही क्षेत्रीय भाषा मैथिली का भी विकास स्थानीय विद्वानों के प्रयत्न से आरम्भ हुआ । इन कारणों से विद्वान् मिथिला के उस साहित्यिक विकास के काल को मिथिला का 'स्वर्ण-युग' बताते हैं (जनरल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, न्यू सीरीज, पृ० ४३२)।

उच्च शिक्षा-प्राप्ति के प्रमाण-पत्र पाने के हेतु वहाँ मिथिला के विश्वविद्यालय में प्रत्याशी शिक्षार्थियों को अति कठिन परीक्षा में सम्मिलित होना पड़ता था, जिसे 'शलाका-परीक्षा' की संज्ञा प्राप्त की थी (आर० के० मुखर्जी : एन्शिएण्ट इण्डियन एडुकेशन, पृ० ५९८)। शिक्षार्थियों के समक्ष परीक्षक पंडित एक शलाका का प्रवेश सम्बद्ध विषय के हस्तलिखित ग्रन्थ में कराता था, और जहाँ वह शलाका पुस्तक के जिस पृष्ठ पर रुकती थी, उस पृष्ठ से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर परीक्षार्थी को देना पड़ता था (विद्याभूषण : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लौजिक, ५२२; गोपीनाथ कविराज : सरस्वती भवन स्टडीज, ४-,६२)। परीक्षार्थी अपने पुस्तकों का अवलोकन भी उस काल कर सकता था । प्रत्याशियों के विशाल ज्ञान-भंडार की माप उक्त प्रकार की परीक्षा-पद्धति से होती थी । उन्हें बिना तैयारी किये अपने अधीन विषय के ग्रन्थ के किसी अंश से किये गये प्रश्नों के उत्तर देने के हेतु प्रस्तुत रहना पड़ता था । उसमें सम्यक् सफलता प्राप्त होने पर उनको उस विषय में परीक्षोत्तीर्ण होने का प्रमाण पत्र प्राप्त होता था । नालन्दा-विश्वविद्यालय में भी उच्च शिक्षा के प्रत्याशियों को द्वारपाल पंडितों के सामने कठिन परीक्षा में सम्मिलित होकर उत्तीर्ण होना पड़ता था । तब उनका प्रवेश विश्वविद्यालय में हो पाता था । मिथिला में लगभग उसी प्रकार की कठिन परीक्षा की पद्धति परवर्त्ती काल में भी प्रचलित थी । 'शरयन्त्र' परीक्षा और भी कठिन थी। उस परीक्षा में सम्मिलित होने वाले विद्वान् परीक्षार्थी को परीक्षकों के साथ-साथ ज्ञान-वृद्ध जन समुदाय के समक्ष परीक्षा देनी पड़ती थी । ऐसे परीक्षार्थियों को किसी भी विषय के किसी अंग पर प्रश्न पूछे जा सकते थे । ऐसी परीक्षा के द्वारा परीक्षार्थी के बहुमुखी ज्ञान की जाँच होती थी । उसमें उत्तीर्ण होने पर 'शरयन्त्र' का प्रमाण-पत्र दिया जाता था (जायसवाल : इन्ट्रोडक्शन इन मिथिला मैनुस्क्रिप्ट्स कैटलॉग, वाल्मूय-२; आर० झा : ट्वेल्थ्थ ऑल इण्डिया ओरिएण्टल कौन्फरेन्स, बनारस, प्रोसिडिंग्स वॉल्यूम-१, पार्ट-२, पृ० ३१० एवं ३२५; डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३८०)। विद्यापीठों के आचार्यों की उपाधियाँ, यथा- उपाध्याय, महोपाध्याय तथा महामहोपाध्याय भी क्रमशः उनकी अनुक्रमिक प्रवीणता एवं वरीयता के आधार पर दी जाती थी (आर्यासप्तशती पर महामहोपाध्याय सचल मिश्र-भाष्य के केशी मिश्र संस्करण के सम्बन्ध में डॉ० गंगानाथ झा का प्राक्कथन, पृ० ११; डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३८०)।

मिथिला में अनेक ग्रामों का नामकरण वहाँ पर प्रचलित वेद, वेदांग एवं शास्त्रों के विशेष अध्ययन-अध्यापन-कार्य के नाम पर हुआ प्रतीत होता है । सम्भवतः मिथिला के मुजफ्फरपुर जिले के रीगा, अथरी, यजुआरा में क्रमशः ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं यजुर्वेद के अध्ययन-अध्यापन का केन्द्र था । उसी प्रकार भट्टसिम्मरि अथवा भट्टपुर में भट्ट-पद्धति की मीमांसा का, तथा मऊ वेहटा में यजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा का केन्द्र था, आदि (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, ३३, ४७)।

मिथिला के विद्यापीठों में बाहर के विद्यार्थीगण विद्याध्ययन कर दक्षता प्राप्त करते एवं वहाँ से प्रमाण-पत्र प्राप्त करते थे, परन्तु उन्हें किसी हस्तलिखित ग्रन्थ की प्रतिलिपि अथवा आचार्यों की बतायी हुई लिखित टिप्पणियों को अपने साथ घर ले जाने का अधिकार प्राप्त नहीं था । इन कारणें से मिथिला की विद्वत्ता का प्रसार मिथिला से बाहर बहुत कम हो पाया। वह विशेषतया अपनी सीमाओं के अन्दर सीमित रहने के कारण संकुचित हो गयी । मिथिला की इस नीति के कारण पड़ोस के अंचलों में क्षोभ-स्पर्द्धा का होना स्वाभाविक था । फलतः बंगाल के नदिया में मिथिला के विश्वविद्यालय अथवा विद्यापीठ के टक्कर के एक नये विश्वविद्यालय अथवा विद्यापीठ की स्थापना हुई । खिष्टाब्द ११९८ ई० और १७५७ ई० के बीच नदिया की ख्याति सारे भारतवर्ष में आर्य-शिक्षा के केन्द्र के रूप में बनी रही । सर्वप्रथम रघुनाथ शिरोमणि ने न्याय-दर्शन का अध्यापन नदिया में आरम्भ कर उस विषय के मिथिला के एकाधिकार को समाप्त कर दिया (आर० के० मुखर्जी : एन्शिएण्ट इण्डियन एडुकेशन, पृ० ६००)। पर इसमें सन्देह नहीं कि मिथिला और बंगाल के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध अति प्राचीनकाल से चला आता था। मिथिला के स्मार्त्त ग्रन्थों के लेखकों का प्रभाव बंगाल के स्मृति-अध्ययन पर पर्याप्त रूप से पड़ा । नदिया में स्मृति अध्ययन की शाखा भी १६वीं शताब्दी में खोली गयी, जिसका उद्घाटन तत्कालीन विद्वान् रघुनन्दन ने किया था । विद्यापति के गीतों का प्रभाव बंगाल के साहित्यिक जीवन पर तो अद्यावधि स्पष्ट है । उसके भक्तिपूर्ण पदों की छाप बंगाल के भक्त कवियों की कविताओं पर प्रत्यक्ष एवं निर्विवाद रूप से दृष्टिगोचर होती है । स्मृति के क्षेत्र में चण्डेश्वर, भवशर्मन्, हरिनाथोपाध्याय, पद्मनाभदत्त, इन्द्रपति तथा अन्यान्य लेखकों के प्रभाव से बंगाल के स्मृतिलेखकगण प्रभावित हुए (आर० के० मुखर्जी : एन्शिएण्ट इण्डियन एडुकेशन, ६०१) । बंगालियों और मैथिलों में संस्कृत विद्या के प्रति प्रेम समान रूप से था। इस कारण दोनों के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध शताब्दियों से बना हुआ था । मैथिलों और बंगालियों की रहन-सहन, चाल-चलन, विधि-व्यवहार आदि में बहुत अंशों तक समानता चिरकाल के सांस्कृतिक सम्पर्क के कारण ही पायी जाती है ।

बंगाल की भाँति नेपाल से भी सांस्कृतिक सम्बन्ध मिथिला का प्राचीन है । मुसलमानी आक्रमण के काल में मिथिला के अनेक विद्वान् परिवार अपनी एवं अपने प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की रक्षा के विचार से तथा जीविका-निर्वाह के हेतु भी नेपाल में जा बसे थे (राइट : नेपाल ७२; वेण्डल; कैटलॉग २२; बनर्जी : बंगलोर इतिहास; वॉल्यूम-१, द्वितीय संस्करण, पृ० ३५४; इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, ३०, ३८६)। कर्णाट क्षत्रियों की नेपाल-विजय से यह सम्पर्क पूर्व से स्थापित था ही । नेपाल में प्राप्य

अनेक हस्तलिखित ग्रंथ तिरहुत के लिपिकों के कृत्य हैं, जो वहाँ जाकर बस गये थे। नेपाल के अनेक लिपिकारों ने तिरहुत में निवास कर प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ उतारी थीं। इससे दोनों देशों के बीच उत्तरोत्तर बढ़ते हुए सांस्कृतिक सम्पर्क का पता चलता है (सी० वेण्डल : हिस्टोरिकल इण्ट्रोडक्शन टू एच० पी० शास्त्रीज कैटलॉग, पृ० १८)। उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि कर्णाट एवं ओइनवार-काल में मिथिला में बहुमुखी शिक्षा का प्रचार व्यापक था। संस्कृत उसका माध्यम था। मिथिला की शिक्षा एवं उसकी पद्धति का प्रचुर प्रभाव पड़ोस के देशों की शिक्षा के क्षेत्र में पड़ा था, इसमें सन्देह नहीं है।

कला

कर्णाट एवं ओइनवार-कुल के शासनकाल में विद्या के साथ-साथ कला की समुचित उन्नति हुई। देखा जाता है कि उस युग में स्थापत्य, मूर्त्ति-निर्माण, चित्र-चित्रण एंव संगीत का विकास समाज में हुआ। शासन के प्रश्रय में ये कलाएँ पर्याप्त रूप में विकसित हुईं तथा फूली और फलीं। संगीत सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ। इस काल का पोषण राज्य की ओर से विशेष रूप से होता था। कर्णाट राजकुल का संस्थापक राजा नान्यदेव स्वयं संगीत-शास्त्र का मर्मज्ञ विद्वान् था। मिथिला के संगीत में उसने कई लोकप्रिय रागों को विकसित किया, तथा संगीत पर ग्रन्थों का भी निर्माण किया। हस्तलिखित ग्रन्थ 'भरत-नाट्य-शास्त्र' (अध्याय २८-३४) के अन्त में अंकित लेखक-परिचय से पता चलता है कि वह 'सरस्वती-हृदयालंकार' का प्रणेता था (क्वार्टर्ली जरनल ऑफ दि आन्ध्र हिस्टोरिकल सोसाइटी, १, ५६, ५८)। उसके उत्कीर्ण-अभिलेख से भी यह ज्ञात होता है कि वह 'ग्रन्थ महार्णव' का रचयिता था (जरनल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, ९, ३०३)। उसने लगभग १६० रागों का समावेश अपने ग्रन्थ में किया, जिनमें ऐसे भी अनेक राग हैं जो भरत एवं अभिनव गुप्त द्वारा प्रस्तुत पद्धति में नहीं पाये जाते हैं। नान्यदेव अति उच्चकोटि का संगीतज्ञ तथा उस शास्त्र का मर्मज्ञ लेखक था जो अधिकार-पूर्ण ढंग से उस विषय पर अपना मत प्रकट कर सकता था। सारंगदेव ने अपने ग्रन्थ 'संगीत रत्नाकर' (पृ० १-१२) में उसके नाम को बार-बार संगीत-शास्त्र के अभिज्ञ लेखक के रूप में अंकित किया है (क्वार्टर्ली जरनल ऑफ दि आन्ध्र हिस्टोरिकल सोसाइटी, १-६२)। राजा नायन्यदेव द्वारा निर्देशित संगीत-पथ का अनुसरण राजा हरिसिंह देव, कविशेखराचार्य, ज्योतिरीश्वर, सिंह भूपाल, जगद्धर, जगज्ज्योतिर्मल्ल, 'रागतरंगिणी' के रचयिता लोचन आदि प्रसिद्ध गायनाचार्यों ने १२वीं शताब्दी से लेकर १७वीं शताब्दी तक अबाध गति से किया, तथा अपने स्थान पर आज भी वह पद्धति सुस्थिर एवं अचल बनी हुई है। इसी प्रकार के संगीत के विकास की देन मिथिला को आगे चलकर विद्यापति, उमापति तथा गोवन्द दास की गेय पदावलियाँ मिलीं, जिससे तत्कालीन क्षेत्रीय भाषा प्राचीन मैथिली को प्रस्फुटित होने का सुअवसर मिला। कृष्ण-कथा सम्बन्धी गीतों के गान के साथ नृत्य की पद्धति के प्रचलन का जन्म भी मिथिला में इसी संगीत-युग ने दिया।

मिथिला में स्थापत्य-कला के विकास का पता मध्ययुगीन नृपतियों एवं समृद्धिशाली नागरिकों द्वारा निर्मित अनेकानेक मन्दिरों तथा वहाँ स्थापित सुन्दर मूर्त्तियों के बाहुल्य से चलता है। सभी नृपतियों ने उस युग में देव-मन्दिरों का निर्माण अपने-अपने शासनकाल में किया था। राजप्रासादों एवं भवनों का निर्माण सम्भवतः तभी किया जाता था, जब राजधानी का स्थानान्तरण एक दूसरे स्थान पर होता था। मिथिला के देव-मन्दिरों के निर्माण की कला को देख कर तथा जाँचकर पुरातत्त्व के पण्डित डा० स्पूनर ने उसका नामकरण 'तिरहुत-मन्दिर-निर्माण-स्थापत्य-कला' किया था। वहाँ की प्रचलित पद्धति के अनुसार मन्दिर के नीचे का मुख्य भाग वर्गाकार होता था, जिसमें देव-मूर्त्ति की स्थापना मन्दिर के मध्य में उसके हेतु निर्मित विशेष चबूतरे पर होती थी। शिव-लिंग की स्थापना के लिए मन्दिर के मध्य में एक अर्घा के निर्माण का आयोजन किया जाता था। मन्दिर की दीवारें कुछ ऊँचाई तक लम्बरूप में उठकर भीतर की ओर मुड़ती और सिकुड़ती हुई अन्त में नुकीला रूप धारण करती थीं, जिसके ऊपर धातु-निर्मित सुन्दर एवं चमकीले कलशों की स्थापना की जाती थी। मन्दिर के प्रवेशद्वार से संलग्न एक गोपुर का निर्माण किया जाता था, जिससे होकर अर्चक देव-मन्दिर में स्थापित देव-मूर्त्ति तक पहुँचते थे। मन्दिरों के विस्तार के अनुसार गोपुरों का आकार छोटा अथवा बड़ा होता था। इन गोपुरों में बैठकर दर्शनार्थी एवं पुजारी यदा-कदा वर्षा, आतप अथवा वात से अपनी रक्षा करते थे। वहीं बैठकर कभी-कभी देवता के सामने कीर्त्तन किया जाता था और शास्त्र-पुराणों की पवित्र कथाएँ बाँची जाती थीं। मन्दिरों की छतें कहीं-कहीं सीधी तथा चूने और ईंट-कंकड़ों के योग से बनाये हुए फर्श के रूप में होती थीं और कहीं-कहीं छप्परदार। मन्दिरों की भीतरी दीवारों पर सुरखी चूने अथवा मिट्टी के गिलावे का लेवा चढ़ा होता था तथा उनपर चित्रकारी भी की जाती थी। संक्षेप में मिथिला के देव-मन्दिरों की बनावट के विषय में यह कहा जा सकता है कि उनका आकार वर्गाकार होता था तथा दीवारें और छतें उनकी चिकनी, साफ और बराबर होती थीं, जिनपर साधारणतया चित्रों का चित्रण किया जाता था (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, ४,१२२-२३)। किसी-किसी मन्दिर के चौखट प्रस्तर-निर्मित होते थे और अधिक के काष्ठ के बनाये जाते थे, जिनपर सुन्दर कलापूर्ण लता-गुल्मों, पशु-पक्षियों, अप्सराओं अथवा देवदूतों के आकार उत्कीर्ण रहते थे। इस प्रकार के नक्काशीदार चौखटों के अनेक प्रस्तर-खंड प्राप्त हुए हैं, जिनसे उस काल की वास्तु-विद्या-विकास पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। ओइनवारों की पुरानी राजधानी ओइनी में कुछ दिन पूर्व कुँआ खोदते समय लगभग १२-१४ हाथ जमीन के नीचे उक्त प्रकार का प्रस्तर-खण्ड एक माली-परिवार को प्राप्त हुआ था, जिसको इन पंक्तियों के लेखक ने बिहार राज्य के तत्कालीन शिक्षा-मन्त्री आचार्य बदरीनाथ वर्मा को वहाँ ओइनी (वर्त्तमान वैनी अथवा पूसा रोड) में दिखाया था।

उपर्युक्त प्रकार के मन्दिरों के अवशेष कहीं सुरक्षित दशा में और कहीं खण्डहर के रूप में मध्य-युग की स्थापत्य-कला का दिग्दर्शन मिथिला में आज भी कराता है। सिमराओं गढ़ (नेपाल राज्य) के कंकाली देवी मन्दिर, चम्पकारण्य (चम्पारण जिला) के वगदा का हरमन्दिर, तथा त्रिवेणी का कमलेश्वर नाथ-मन्दिर, दरभंगा जिले के अहियारी ग्राम के अहिल्या स्थान का राम मन्दिर (१९३४ ई० के भूकम्प के पश्चात् वहाँ दूसरा

मन्दिर बना) एवं मधुबनी के निकट सौराठ ग्राम का महादेव स्थान, मुजफ्फरपुर सदर के बाबा गरीबनाथ का मन्दिर, वहीं के नवरत्न मन्दिर की पद्धति का राम मन्दिर तथा अन्य राम-जानकी का मन्दिर और उनके ही आकार-प्रकार के अन्य स्थानों के ऊँचे-ऊँचे शिखर वाले पुराने देवालय प्राचीन मिथिला-मन्दिर-निर्माणकला के जीते-जागते प्रतीक दृष्टिगोचर होते हैं।

तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ से मुसलमानों का आगमन पूर्वी भारत में विशेष रूप से आरम्भ हुआ था। उनके सहवास के कारण शनैः-शनैः हिन्दू और मुसलमानी संस्कृति में मेलजोल होना शुरू हुआ। मुहर्रम के अवसर पर विशेष कर शीया सम्प्रदाय के मुसलमान बाँस की कमचियों एवं रंग-विरंगे कागजों के संयोग से मकबरे के आकार का मंडप बनाते हैं जिसके अन्दर इमाम हुसेन के कब्र (समाधि) की मानसिक धारणा कर ली जाती है। इमाम हुसेन के अनुयायी भक्त मुसलमान इसकी आराधना करते हैं और फिर उसे दफन कर देते हैं। तिरहुत (मिथिला) के मुसलमानों के ताजिया-निर्माण पर भी वहाँ के मन्दिर-निर्माण-स्थापत्य-कला का प्रभाव पड़ा, और उसकी बनावट में धीरे-धीरे परिवर्त्तन होने लगा। ताज़िया मिथिला के प्रायः गाँव-गाँव में बनता है, और उनका आकार-प्रकार विशेषतया हिन्दू-मन्दिरों के समान होता है, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। मुहर्रम के अवसर पर मुसलमानों के साथ हिन्दू भी आराधना में भाग लेते पाये जाते हैं।

ऊपर लिखा जा चुका है कि राजप्रासादों का निर्माण तभी होता था जब राजधानी का स्थानान्तरण एक स्थान से दूसरे स्थान पर किया जाता था। कर्णाट-राजकुल के संस्थापक राजा नान्यदेव ने नानपुरा से अपनी राजधानी का स्थानान्तरण सिमराओंगढ़ में किया था। वह स्थान चम्पारण के जिले की सीमा के सन्निकट घोड़ासाहन एवं छौरादानों रेलवे स्टेशनों से थोड़ी दूरी पर नेपाल की तराई में है, जहाँ की राजधानी से नान्यदेव से लेकर हरिसिंह देव तक, कर्णाट कुल के नृपतियों ने मिथिला पर शासन किया था। सिमराओंगढ़ का भग्नावशेष एवं खण्डहर कर्णाट-राजवंश के शासन का स्मारक है। वहाँ के राजमहल, शस्त्रागार तथा मन्दिरों के प्राप्त अवशेष से उस युग के भवन निर्माण-विषयक कला का ज्ञातृत्व प्राप्त होता है। उन भवनों की आधारशिलाएँ सुन्दर, सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित थीं। स्तम्भों पर अभिलेख उत्कीर्ण प्राप्त हुआ है, जिसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। प्रस्तर सुन्दर ढंग से काटे गये थे और नक्काशी भी वहाँ की अति मनोहर है। ऊपर की दीवारें ईंट की बनी थी। ईंट भी अति सुन्दर हैं। बनावट उसी प्रकार की है जैसी तराई नेपाल के राजप्रासादों तथा देवालयों की हुआ करती है (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, ४,१२२-२३)।

उपर्युक्त राजभवन एवं मन्दिरों के खण्डहरों से अनेक सुन्दर मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। वे प्रस्तर-खण्डों को काटकर बनायी गयी हैं और उनकी बनावट कलापूर्ण एवं अति उत्कृष्ट है। इस प्रकार मूर्तियों की संख्या २० है (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर:हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३८५)। वहाँ चार-पाँच कुएँ भी मिले हैं जिनकी जगत (कुएँ के चारों ओर बना हुआ चबूतरा) जमीन से लगभग दो हाथ ऊँची, पक्की ईंटों की बनी हुई हैं। सिमराओंगढ़ से प्राप्त प्रस्तर-खण्डों तथा ईंट की बनी दीवारों पर के उत्कीर्ण अथवा निर्मित विष्णु, शिव

एवं शक्ति की आकृतियाँ ठीक उसी प्रकार की हैं जैसी अन्हरागढ़ी(दरभंगा जिला) गाँव के मन्दिरों की दीवारों पर बनी देव मूर्तियों की आकृतियाँ हैं। दोनों ही स्थानों की निर्माण-कला एक ही प्रकार की है। भागीरथपुर की खुदाई से भी वहाँ पर के सुन्दर राजमहल के खण्डहर का पता चला था(जनरल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी, ४०,३४७)। मिथिला की वास्तु-विद्या के विकास पर उससे भी प्रकाश पड़ता है।

वहाँ स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न प्रकार के बड़े-बड़े सुन्दर प्रस्तर-खण्डों पर उत्कीर्ण मनोहर आकृतियाँ प्राप्त हुई हैं। ईंटें भी अनेक प्रकार की पायी गयी हैं। कोई पान के आकार की और कोई दूसरे प्रकार की। इन प्राचीन वस्तुओं की उपलब्धियाँ प्रमाणित करती हैं कि पन्द्रहवीं शती के आरम्भ में तथा उनके पूर्व भी मिथिला में प्रस्तर एवं ईंटों पर की जानेवाली कारीगरी से सम्बन्धित ललित-कला का विकास उच्च कोटि का हो चुका था।

भिन्न-भिन्न चिह्नों से चिह्नित ईंटें खुदाई के भिन्न-भिन्न स्तरों में प्राप्त हुई हैं। खण्डहर की दूसरी तह से प्राप्त ईंटें और उन पर अंकित चिह्नों से पता चलता है कि वहाँ के राजमहल के तीन भाग थे , जिनमें क्रमानुसार उच्च व्यक्तित्व के लोगों का निवास था। कुछ ईंटों पर तान्त्रिक चक्रों के चिह्न थे (जनरल ऑफ दि बिहार सोसाइटी ४०,३४८)।

वहाँ से प्राप्त दो प्रस्तर-खण्डों में एक बड़ा था, और दूसरा अपेक्षाकृत छोटा। बड़े टुकड़े पर नक्काशी के काम उत्कीर्ण थे। सम्भवतः प्रस्तर-निर्मित दीवार का वह ऊपर का भाग था जिसे स्तम्भों पर टिका कर भवन का निर्माण किया गया था। पत्थरों पर की उत्कीर्ण सीधी रेखाओं से अनुमान किया जाता है कि उनसे सम्बन्ध रखने वाले दूसरे प्रस्तर-खण्डों से भी उनका सरोकार था। छोटे पत्थर के नीचे की सतह की सजावट साधारण थी, किन्तु ऊपर के तले के बायें कोने की उत्कीर्ण नक्काशी विशेष कलापूर्ण थी (जनरल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी ४०,३४८-४९; 'इण्डियन नेशन', पटना, गुरुवार नवम्बर २५, १९५४ ई, डाक संस्करण, पृ० ६)। पूर्व में अंकित किया जा चुका है कि ओइनवार कुल की आदि राजधानी ओइनी में भी एक अति सुन्दर एवं स्पष्ट उत्कीर्ण नक्काशीयुत कृष्ण-प्रस्तर-खण्ड भूगर्भ से प्राप्त हुआ था जिसके अवलोकन मात्र से तत्कालीन विकसित वास्तु-विद्या के मिथिला में प्रायोगिक रूप का परिचय प्राप्त हो जाता है।

मिथिला के ब्राह्मणों एवं मैथिल कायस्थों की संस्कृति का एक अंग चिह्नकला है। घर-द्वार, बरतन-बासन, बेना-पंखा, दौरी-मौनी, डगरा-सूप आदि सभी वस्तुओं तथा पूजा-अर्चा की पद्धतियों में जहाँ देखिये वहीं ललित चित्र-कला का विकास मिथिला के ब्राह्मण एवं कायस्थ परिवारों में अनन्त काल से आज तक लक्षित होता रहा है। यज्ञोपवीत, चूड़ाकरण, विवाह आदि सभी शुभ संस्कारों के समय घर-द्वारों को चित्रकारी से सजाना मिथिला की परिपाटी थी और वह अब भी है। इन अवसरों पर कलशों, बाँस अथवा मूँज वा सींक की बनी दौरे-दौरियों पर नाना प्रकार के रंगों से चित्र-चित्रण किया जाता था, तथा अब भी यह प्रथा प्रचलित है। दौरियों और पंखों को कोमल कोढ़िला को छुरियों के द्वारा छीलकर प्रस्तुत की गयी, पतली पत्ती से छेकर उन पर रंग-बिरंग की चित्रकारी

करने की प्रथा प्रचलित थी और है भी। सौभाग्यशाली शिशुओं के जन्म लेने पर ब्राह्मणों के द्वारा उनकी जन्मपत्रियाँ ज्योतिष की गणना के अनुसार प्रस्तुत करवाने तथा यज्ञोपवीत-विवाह आदि शुभ संस्कारों के समय कायस्थों द्वारा आमंत्रण-पत्र लिखवाने की परिपाटी थी। इस प्रकार के टीपनों एवं पत्रों पर क्रमानुसार ब्राह्मण तथा कायस्थ देवताओं, वृक्ष-लताओं, मांगलिक पशु-पक्षियों आदि के मनोहर आलेख्य अंकित कर उन्हें नेत्राभिराम बनाते थे। यह प्रथा आज भी प्रचलित दीख पड़ती है। विवाह संस्कार के काल में वर के मस्तक पर धारण करनेवाला मौर कोढ़िला का बना होता था। उस पर भी सुन्दर चित्रकारी विशेषतया लाल रंग से की जाती थी। यह प्रथा भी मिथिला में अद्यपर्यन्त प्रचलित परिलक्षित होती है।

यज्ञों में हवन-कुण्डों के चतुर्दिक् तंडुल-चूर्ण, सिन्दूर आदि से शास्त्र-विहित चित्रकारी की जाती थी। दीवारों पर अस्थायी चित्र बनाना घर-घर प्रचलित था। यज्ञोपवीत एवं विवाह के हेतु प्रस्तुत किया गया मण्डप भी अनेक प्रकार के मांगलिक चित्रों से चित्रित किया जाता था। कोहवर में भी स्त्री-पुरुष, देवी-देवता, लता-गुल्म, पशु-पक्षी, बाँस-केला आदि के चित्र प्रस्तुत कर उसे सुशोभित किया जाता था। दीवारों का लेवा प्रायः कच्ची मिट्टी का होता था। अतः उन पर बने चित्र स्थायी नहीं होते थे। विवाह के समय वर (दुल्हा) के माथे पर चन्दन लगाने में भी चित्र-कला का प्रदर्शन होता था, तथा उत्सव-यात्राओं में सम्मिलित होने वाले हाथियों के माथे पर भी कलापूर्ण सुन्दर चित्र बनाकर उन्हें सजाया जाता था।

चित्र-चित्रण की प्रथा चिरकाल से चली आती है, इसमें सन्देह नहीं है। पर वे चित्र कच्ची दीवार, कलश आदि पर बनाये जाते थे, जिनका स्थायी रहना सम्भव न था। यही कारण है कि मध्ययुग में की गयी दीवार आदि पर की चित्रकारी आज प्राप्य नहीं है। परन्तु यह निर्विवाद है कि मिथिला में सम्प्रति प्रचलित उपर्युक्त प्रकार की चित्रकारी की प्रथा अति पूर्वकाल से चली आ रही है। यह वहाँ की संस्कृति का एक अंग बन गया है। प्राचीन काल का किया गया चित्र-चित्रण बनने के बाद मिटता गया, पर वह प्रथा अद्यावधि मिट न सकी। उक्त परिपाटी के प्रचार का धार्मिक समारोहों के अवसरों पर अनिवार्य रूप से रूढ़ि का रूप धारण करना इस तथ्य का द्योतक है कि यह प्रथा मिथिला में अनादि काल से चली आ रही है। पुराकाल की ऐसी कोई चित्रकारी मिले अथवा न मिले, पर इसमें शंका का स्थान शेष नहीं रह जाता है कि उपर्युक्त ढंग की चित्र-कला का व्यापक प्रचार मिथिला में मध्ययुग में भी था (मुल्क राज आनन्द सम्पादित इंगलिश क्वार्टर्ली 'मार्ग', वॉल्यूम-3, नं० 3, पृ० २५) जिसका विवेचन हम यहाँ कर रहे हैं।

उपर्युक्त प्रकार की चित्रकारी मिथिला की घरेलू कला थी, जिसका सम्पादन गृह-देवियों द्वारा होता था। उसके लिए बाहर से चित्रकारों को बुलाना नहीं पड़ता था। मंगलमय यज्ञों एवं संस्कारों के समय गृह-नारियाँ स्वतः कलाकार बनकर भित्तिचित्र उतारतीं तथा उपकरणों को भी चित्रित करती थीं। समारोह की समाप्ति के पश्चात् वे पुनः अपने गृह-कार्य में लग जाती थीं। आनन्द-उत्सव-काल में यज्ञार्थ चित्रों का चित्रण करना तथा करवाना गृह-स्वामिनियों का परम कर्तव्य होता था। परिवार में जब कभी यज्ञ-उत्सव

होता था तो घर की साधारण महिलाएँ कलाकार के रूप में दीवारों आदि पर पूर्व उल्लेखानुसार चित्र खींचती देखी जाती थीं। मिथिला की सुकुमारियों के लिए आनन्दोत्सव-काल में चित्रों का चित्रण करना उतना ही आवश्यक था, जितना साधारण स्थिति में घरों में झाड़ू लगाकर उन्हें साफ-सुथरा रखना तथा कुएँ पर जाकर पेय जल ले आना।

दीवारों पर चित्र बनाने के हेतु बाँस की पतली डाली के अग्रभाग को कुचलकर कूँची तैयारी की जाती थी। उसी कूँची से समतल दीवारों पर चित्रों का चित्रण किया जाता था। किसी रंग विशेष से दीवारों अथवा उपकरणों के बड़े भाग को रँगने अथवा पोतने के हेतु बाँस की डाली द्वारा निर्मित डंडी के अगले भाग में पटसन के रेशे बाँध कर अथवा उसमें कपड़ा लपेट कर पोतन प्रस्तुत किया जाता था, तथा उसी के द्वारा आवश्यक रंग दीवारों पर पोता जाता था। बाँस की बनी पतली कूँची से चित्र की रेखाओं का अंकन किया जाता था। वृत्त, अर्धवृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण, षट्कोण आदि बनाये जाते थे। देव, मानव, पशु-पक्षी, वृक्ष, लता, गुल्म आदि के चित्र भी उसी बाँस की कूची से तैयार किये जाते थे। आवश्यक चित्रों के प्राक्कलन प्रस्तुत किये बिना ही चित्रों का चित्रण गृह-नारियाँ कूँची और रंगों की सहायता से कर लेती थीं। चित्रों को प्रस्तुत करने में लाल, गुलाबी, पीत, नील, हरित (सुग्गा पंखी) आदि रंगों की आवश्यकता होती थी। अजा-दुग्ध में रंगों को घोलने की परिपाटी थी। उजला रंग चावल के महीन चूर्ण जल में मिला कर प्रस्तुत किया जाता था। सिन्दूर अथवा गेरू का व्यवहार लाल रंग के लिए होता था। पुआल अथवा तृण-पत्तों को जलाकर उसके भस्म से काला रंग बनाया जाता था। इन्हीं रंगों को कहीं-कहीं अकेले और कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार मिश्रित कर चित्र-चित्रण एवं रंगने के काम में लाया जाता था।

ऊपर अंकित किया जा चुका है कि यज्ञों एवं संस्कारों के आनन्दोत्सव-काल में मिथिला के घरों में चित्र-चित्रण की परिपाटी थी और है भी। यज्ञोपवीत, कुलदेवता के स्थापना आदि काल में सीता-राम, राधा-कृष्ण, शिव-पार्वती, कालिका, दुर्गा, गणेश आदि देवी-देवताओं के आलेख्यों का चित्रण किया जाता था तथा विवाह, द्विरागमन आदि शुभ अवसरों पर सूर्य-चन्द्रमा, मत्स्य, कपोत, कच्छप, शुक, कदली, बाँस, कमल-पुष्प आदि के चित्र बनाये जाते थे। इन सभी प्रकार के चित्रों में कुछ न कुछ अर्थ निहित रहता था। देवी-देवताओं के चित्र बनाकर उनसे मंगल की कामना की जाती थी। इस प्रकार के चित्रों का अंकित करना शुभ-शकुन का प्रतीक माना जाता था। कमलपुष्पों के वृत्त तथा बाँस के झुरमुट को स्त्री एवं पुरुष-जननेन्द्रियों का रूप माना जाता था, तथा उनसे वंश-वृद्धि की आशा की जाती थी। शुक, कपोत आदि दाम्पत्य-प्रेम के द्योतक माने जाते थे तथा सूर्य-चन्द्र आयु की वृद्धि करने एवं जीवन देने वाले समझे जाते थे। ब्राह्मण चित्र-शैली एवं कायस्थ चित्र-कला में सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने पर किंचित् अन्दर दृष्टिगत होता है। विद्वान् आर्चर महोदय ने मिथिला के ब्राह्मणों एवं कायस्थों के द्वारा बनाये गये चित्रों का अध्ययन कर उनके चित्र प्रस्तुत करने की शैली का नामकरण 'मैथिल-चित्र-कला' किया था। एलीफैण्टा और अजन्ता की गुफाओं की दीवारों तथा छतों पर एवं राजस्थान के अनेक भवनों में और अन्यत्र भी भित्ति-चित्रों का बाहुल्य है, पर उनसे मिथिला की

चित्रकला की तुलना करने पर भिन्नता पायी जाती है । एलीफैण्टा एवं अजन्ता की गुफाओं की दीवारों के मिट्टी के पतले लेप पर सदियों के बने जल-चित्र आज भी नवीन दीख पड़ते हैं । वही दशा राजस्थान की भी है । पर मिथिला में वह बात नहीं है । वहाँ के भित्ति-चित्र दो-चार वर्षों में ही फीके पड़कर अन्त में अदृश्य हो जाते हैं । इसके कारण हैं । अजन्ता की गुफाएँ तो पहाड़ काटकर ही बनायी गयी हैं । दीवारों पर मिट्टी की पतली परत लगाकर उस पर चित्रकारी की गयी है । पर जड़ में प्रस्तर होने के कारण मिट्टी की तह तक नमी (आर्द्रता) नहीं पहुँचती है । इससे शतियों पूर्व के बने चित्र वहाँ अद्यावधि मिटे नहीं हैं । राजस्थान तथा अन्यत्र के भित्ति-चित्रों के स्थायित्व की जड़ में भी उपर्युक्त कारण ही हैं । किन्तु मिथिला का वातावरण विपरीत है । यहाँ के भवन विशेषतया कच्चे हैं, तथा पृथ्वी में आर्द्रता अधिक है । कच्ची दीवारों में नोनी भी प्रायः लगती है । इन कारणों से यहाँ के भित्ति-चित्र शीघ्र मुरझा कर विवर्ण हो जाते हैं, तथा अन्ततोगत्वा अदृश्य भी । पर इसमें सन्देह नहीं कि मिथिला की चित्रकारी की शैली अपनी है और वह अपने ढंग की है ।

●

दशम अध्याय

मुसलिम विजय-काल

जौनपुर के शर्की राजकुल का परिचय

शर्की-वंश के प्रसिद्ध इब्राहिम शाह का नाम बार-बार ओइनवार राजकुल के वर्णन के प्रसंग में आया है। उस राज-वंश की राजधानी जौनपुर में थी। इब्राहिम शाह जौनपुर के सुलतान नाम से विख्यात था। राजा गणेश्वर ठाकुर के निधनोपरान्त उसके विश्वासघातक हन्ता मलिक असलान को गणेश्वर के पुत्रों ने इब्राहिम की सामरिक सम्यक् सहायता से मार कर अपना पैतृक सिंहासन पुनः प्राप्त किया। ज्येष्ठ कुमार वीरसिंह के समर-क्षेत्र में वीरगति प्राप्त करने के कारण गणेश्वर के द्वितीय राजकुमार कीर्त्तिसिंह को शर्की सुलतान इब्राहिम शाहने मिथिला का राजा बनाया था। उसी कीत्ति सिंह के नाम पर ओइनवार राजकुल के प्रसिद्ध कवि विद्यापति ने 'कीर्त्ति-लता' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। राजा गणेश्वर के हन्ता असलान के विषय में उक्त कवि ने 'कीर्त्तिलता' में अंकित किया था, यथा– ''रज्जलुब्ध असलाने बुद्धि विक्कम वले हारल, पास बइसि विसवासि राय गएनेसर मारल'' (कीर्त्तिलता, सक्सेना-सम्पादित संस्करण, पृ० ७५; जरनल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, १३-१९७; इण्डिया गवर्नमेण्ट मैनुस्क्रिप्ट्स-द्वितीय पल्लव, पृ० २)। इस सम्बन्ध में और भी वर्णन उस ग्रन्थ में आया है, जैसे-''महरान्हि मल्लिके चप्पि लिउन, एसलान मानहु पिट्ठि दिउन'' (कीर्त्तिलता, पल्लव-४)। उक्त सुलतान इब्राहिम शाह का नाम प्रसंगवश ओइनवार-कुल के सप्तम नरेश वीरव्रती राजा शिवसिंह के वर्णन के साथ भी कई बार आया है। अतः उसका तथा उसके कुल का परिचय पाठकों के ज्ञातृत्व के हेतु संक्षेप में यहाँ दे देना असंगत नहीं होगा।

दिल्ली के सुलतान फिरोज तुगलक का पौत्र महमूद तुगलक विक्रमशील नहीं था। उसने मलिक सरवर ख्वाजा जहान को बिहार (दक्षिण बिहार) एवं तिरहुत का जागीरदार एवं व्यवस्थापक १३९६ ई० में नियुक्त किया। उसने जयनगर तक की यात्रा कर बहुसंख्यक हाथी एवं अतुल धनराशि का संग्रह किया। सुलतान महमूद तुगलक ने पीछे अपने वजीर ख्वाजा जहान को 'मल्लिक-उश्-शर्की' की पदवी प्रदान कर उसे अपने साम्राज्य के पूर्वी प्रान्त जौनपुर, बिहार एवं तिरहुत का शासक नियुक्त किया। पश्चात् उस महत्त्वाकांक्षी कृतघ्न वजीर ने साम्राज्य की केन्द्रीय राजधानी दिल्ली की अस्थिर राजनीतिक अवस्था से लाभ उठाकर 'सुलतान-उश्-शर्की, का विरुद धारण कर लिया, और अपने सम्राट् के साथ विश्वासघात कर १३९६ ई० के अन्त में जौनपुर में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया (लेनपूल : दि मुहमडन डाइनेस्टीज, ३०९; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, ७०१; थॉमस : क्रानिकल्स ऑफ दि पठान किंग्स, ३०२; इल्लियट : ४; तारीख-ए-मुकाबार शाही, २९; श्यामनारायणसिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ८७)। उसका आधिपत्य उसकाल अवध प्रान्त, गंगा और यमुना के बीच भू-भाग, तथा पूर्व में बिहार

(दक्षिण बिहार) एवं मिथिला पर था। दिल्ली साम्राज्य से पृथक् होकर सार्वभौम स्वतन्त्र भूपति की भाँति शासन करता हुआ उसने १४०२ ई० से पूर्व कभी शरीर छोड़ा। उसके पश्चात् उसका उत्तराधिकारी इब्राहिम शाह जौनपुर के सिंहासन पर बैठा। वह १४०५ ई० तक दिल्ली के साथ युद्ध करने में रत था (ब्रिग्स : ४, अध्याय- ७)। इब्राहिम शाह का शासनकाल १४०१ अथवा १४०२ से १४४० तक रहा।

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक जौनपुर के शर्की सुलतानों की शक्ति एवं शौर्य दिल्ली के तुगलक सुलतानों की शक्ति की अपेक्षा अधिक बढ़ गया। इब्राहिम शाह के पुत्र महमूद शाह(१४४०-१४५७ ई०) ने दिल्ली पर कई बार आक्रमण किया। तुगलकों के बाद दिल्ली के गद्दी का स्वामी सैयद-वंश का खिज्र खाँ, जो तुगलक-कुल के अन्तिम सुलतान महमूद तुगलक के मुलतान का शासक था, हुआ। आलम शाह सैयद-वंश का चतुर्थ एवं अन्तिम सुलतान था। उसने १४४३ से १४५० ई० तक शासन किया। कहा जाता है कि उक्त बादशाह आलम शाह ने महमूद शाह शर्की सुलतान के भय से शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने के हेतु दिल्ली त्याग कर बदायूँ में जा कर निवास किया। उसके बार-बार के आक्रमणों से त्राण पाने के हेतु उसने अपनी बहन का विवाह महमूद के छोटे भाई हुसेन के साथ कर उसे अपना सम्बन्धी बनाया। जब आलम शाह बदायूँ से नहीं लौटा तब दिल्ली के अमीरों एवं दरबारियों ने बहलोल लोदी को दिल्ली के सिंहासन पर बैठाया। उसके सिहासनारूढ़ होने के पश्चात् लोदी-शर्की-संघर्ष का सूत्रपात हुआ, जिसके परिणामस्वरूप अन्ततोगत्वा शर्की-साम्राज्य का विघटन तथा उसके कुल का पराभव हुआ।

आरम्भ में बहलोल को महमूद के आक्रमणों से भारी क्षति उठानी पड़ी। उसकी स्थिति डँवाडोल हो गयी। उसके सन्धि-प्रस्ताव को पहले महमूद और पीछे उसके अनुज हुसेन (१४५८-१४७९) ई०) ने ठुकरा दिया। पर अन्त में बहलोल लोदी ने जौनपुर के सुलतान हुसेन शाह को १४७९ ई० में पराजित करने में सफलता प्राप्त की। इस प्रकार मिथिला पर कीर्त्तिसिंह के शासनकाल से आरम्भ होकर १४७९ ई० तक जौनपुर के शर्की सुलतानों का अधिकार सम्राट् के रूप में बना रहा। यद्यपि दिल्ली ने उस पर अपने वैधानिक अधिकार को सिद्धान्तः कभी छोड़ा नहीं था। इस कारण से उन दोनों के बीच मत्स्य-न्याय चालू था, और मिथिला को द्वैध शासन की चक्की में यदा-कदा पिस जाना पड़ता था। इससे आगे का शर्की-कुल के संघर्ष का विवरण विशेष-रूप से प्रसंगवश मिथिला के मुसलिम-विजय-काल के वर्णन करते समय अंकित किया जायगा।

किन्तु ऐतिहासिक शोध से पता चलता है कि उस काल में इलियास शाह के कुल के एक परवर्त्ती बंगाल के राजा नसीरुद्दीन महमूद प्रथम (१४४२-१४५९ ई०) का आधिपत्य भी भागलपुर में था। वहाँ तथा सतगाओं में उसके टकसाल थे, तथा उसके अभिलेख की प्राप्ति के भी वे स्थान थे (हिस्ट्री ऑफ बंगाल, २,१३२)। रुकनुद्दीन बरबक नसीरुद्दीन महमूद का पुत्र था। उसने बंगाल में १४५९ से १४७४ ई० तक शासन किया था। उसका १४६० ई० का एक उत्कीर्ण अभिलेख दिनाजपुर में प्राप्त हुआ था। उसमें 'जोर' एवं 'बरुर' का उल्लेख पाया गया था। 'बरुर' नाम का एक परगना पूर्णिया जिले में है। उस अभिलेख से पता चलता है कि उसका आधिपत्य गंगा नदी के उत्तर तक हो

गया था। जान पड़ता है कि भागलपुर ने नसीरुद्दीन महमूद की प्रभुसत्ता को स्वीकार कर लिया था। पर मुंगेर के पश्चिम के जिलों पर जौनपुर के शर्की सुलतानों का शासन था। बिहार के अंचल में शर्की-भूप महमूद के उत्कीर्ण अभिलेख प्राप्त हुए हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि उस ओर के जिलों पर शर्की सुलतान का आधिपत्य उस काल में था (हिस्ट्री ऑफ बंगाल, २, १३४)।

मिथिला का मुसलिम-विजय-काल (१२०० से १५५६ ई०)

भारत में मुसलमानी शक्ति के पैर आठवीं शताब्दी में जम चुके थे, किन्तु उसका प्रभाव सिन्ध के अतिरिक्त देश के अन्य प्रान्तों पर नहीं पड़ सका था। दशमी शताब्दी के प्रथम चरण में अल्पतगीन नामक एक वीर तुर्क दास ने गजनी के चतुर्दिक् सुलेमान पर्वत-माला में अपने लिए एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। उसी दशमी शती के तृतीय चरण में अल्पतगीन के जामाता सुबुक्तिगीन के शासनकाल में वहाँ मुसलिम-शक्ति का अत्यधिक विकास हुआ और उसने पड़ोस के राज्यों को जीतने का अभियान आरम्भ किया। उस काल में शाही ब्राह्मणों का विशाल साम्राज्य पूर्व में हकड़ा नदी से आरम्भ होकर पश्चिम में काबुल की पहाड़ियों तक फैला हुआ था। यह स्मरणीय है कि मौर्य-काल में भारतीयों का शासन हिन्दूकुश तथा उससे भी परे के देशों पर था, जिसका साक्ष्य इतिहास देता है। उन प्रदेशों में उस काल भारतीय हिन्दू संस्कृति का प्रसार एवं प्रचार था।

वर्द्धमान शौर्यशील मुसलिम शक्ति के सम्मुख शाही भूपतियों के पैर सुस्थिर नहीं रह सके। मातृभूमि की स्वतन्त्रता की रक्षा के हेतु अथक परिश्रम, त्याग तथा बलिदान करने पर भी बार-बार के युद्ध में नियति के दोष से विजय-श्री ने भाग्यवशात् शाहियों का साथ नहीं दिया। सुबुक्तिगीन के पुत्र महमूद गजनवी ने भारत पर लगातार आक्रमण कर उत्तर भारत के अधिकांश भाग पर अपना आधिपत्य एवं प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उस काल में भारतीय साम्राज्य का केन्द्र कन्नौज था, जिसके स्वामी प्रतिहार सम्राट्गण, सच्चे अर्थ में उस काल के पूर्व तक, विदेशियों को भारत के अन्दर नहीं घुसने देने के हेतु प्रतिहार (द्वारपाल) का कार्य कर रहे थे। परन्तु प्रतिहार-साम्राज्य की शक्ति उस समय पतनोन्मुख हो चली थी। शक्तिशाली साम्राज्य के पतनोपरान्त देश की जो राजनीतिक दुर्दशा होती है, भारतवर्ष की उस काल वही दशा थी। उस काल प्रतिहार सम्राटों का राज्य कन्नौज तथा उसके आस-पास के स्थानों तक ही सीमित रह गया था और शेष उत्तर भारत में अनेक छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य उस विशाल प्रतिहार साम्राज्य के भग्नावशेष पर उठ खड़े हुए थे, जो सदैव आपस में समर-रत थे। सुबुक्तिगीन और उसके पुत्र महमूद की सफलता-प्राप्ति, और मुसलमानी शक्ति का उत्तर भारत में पैर जमने का सबसे प्रधान कारण आपसी द्वेष एवं देश का छोटे-छोटे राज्यों में बँट जाना था। महमूद गजनवी की मृत्यु १०३० ई० में हुई, और उसके पूर्व १०२५ ई० तक (गुजरात के सोमनाथ के प्रसिद्ध मन्दिर पर उसके आक्रमण के अन्त तक) मुसलमानों के आतंक एवं प्रभाव सम्पूर्ण उत्तर भारत में जम गये थे। परन्तु महमूद की मृत्यु के पीछे वे शनैः-शनैः ढीला पड़ने लगे। गजनी-राजकुल की आपसी कलह तथा अस्थिर राजनीतिक स्थिति ही उसका मूल कारण था।

बारहवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण में भारत में एक नवीन मुसलमानी शक्ति का प्रवेश हुआ। वह शक्ति गजनी के विजेता गौर प्रदेश के मुसलमानों की थी। कहा जाता है कि गौर प्रदेश में भी पहले हिन्दुओं का निवास एवं हिन्दू-संस्कृति का प्रचार था। गौर का तत्कालीन शासक गियासुद्दीन गोरी ने गजनी की विजय कर अपने अनुज शिहाबुद्दीन मुहम्मद (मोइज्जुद्दीन मुहम्मद) को वहाँ का शासक नियुक्त किया। उस शिहाबुद्दीन गोरी ने भारत की ओर मुड़कर अपना विजय-अभियान आरम्भ किया (आर० सी० मजूमदार : एशिएण्ट इण्डिया,[१] पृ० ३६६-६८)।

साँभर के चौहान-नरेश पृथ्वीराज के ११९२ ई० में थानेश्वर से १४ मील की दूरी पर तराई अथवा तलावड़ी के द्वितीय युद्ध में पराभव तथा सरस्वती के किनारे शत्रुओं द्वारा निधन (फेरिश्ता का इतिहास), एवं उत्तर भारत के सम्राट्, काशी-कन्नौज के विशाल साम्राज्य के स्वामी, महाराज जयचन्द्र गहड़वाल के ७०० हाथियों एवं १०,००,००० पदाति सैन्यों की अजेय वाहिनी के साथ शिहाबुद्दीन के ही राज्य में प्रवेश कर यमुना नदी के तट पर इटावा जिले के चन्दावार के समर-क्षेत्र में मातृभूमि की स्वतन्त्रता की रक्षा के हेतु तुमुल संग्राम कर रणशायी होने के पश्चात् ११९३ ई० में पुनः मुसलिम शक्ति की धाक उत्तर भारत में जम गयी और मुसलमानों की प्रसर नीति ने शनैः-शनैः अपना साम्राज्य बढ़ाना आरम्भ कर दिया।

उत्तर भारत के पूरब के प्रान्तों की विजय मुजम्मद बख्तियार खिलजी के द्वारा की गयी। उसने दक्षिण बिहार के उदण्डपुर (बिहारशरीफ नगर के बौद्ध बिहार के बौद्ध भिक्षुओं का शिरश्छेदन कर वहाँ के दुर्गोपम बौद्ध बिहार तथा उस प्रान्त पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। नदिया पर आक्रमण कर उसने वहाँ के वीर वृद्ध अधीश्वर महाराज लक्ष्मण-सेन को पराभूत किया एवं राज्य के अन्य भाग में शरण लेने के हेतु बाध्य किया, तथा पश्चिमी एवं उत्तरी बंगाल को स्वायत्त कर लिया।

तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में बंगाल की वह विजय मुसलमानी साम्राज्यवाद-विस्तार की पहली लहर थी, जिसने सुलतान महमूद गजनवी की मृत्यु के पश्चात् मृतप्राय मुसलिम प्रसर-महत्त्वाकांक्षा में नव-जीवन का संचार किया (जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, जिल्द २, पृ० १) और धीरे-धीरे सम्पूर्ण उत्तरापथ पर नवागन्तुक मुसलमानों का अधिकार हो गया। किन्तु कुछ विद्वानों का विश्वास है कि सम्पूर्ण उत्तर बिहार पर आधिपत्य स्थापित कर लेने में वे सक्षम न हो सके थे। उनके मतानुसार उस काल में उनके पूर्व दिशा में और आगे बढ़ने के प्रयत्न को तत्कालीन मिथिला की प्रबल कर्णाट-शक्ति ने यथास्थान पर रोक दिया, और उसके फलस्वरूप बख्तियार खिलजी की आक्रामक नीति का लक्ष्य विशेषतया दक्षिण बिहार को ही बनना पड़ा।

कतिपय इतिहास-वेत्ताओं का मत है कि उस काल में मुसलमान गंगा के सुदूर उत्तर के भू-भाग पर विजय प्राप्त नहीं कर सके थे। सर्वप्रथम मुसलमान विजेता गियासउद्दीन

१. डॉ राजबली पाण्डेय के ग्रन्थ 'प्राचीन भारत', पृ० ३२४ के अनुसार कुतुबुद्दीन के तुर्क सेनापति मुहम्मद बिन बख्तियार ने ११९९ ई० में लक्ष्मणसेन के पुत्र माधवसेन (लाक्ष्मणेय अथवा लखमनिया) के समय में बंगाल पर आक्रमण किया था।

इवाज (१२११-१२२६ ई०) ने ही उनके मान्यतानुसार तिरहुत के राजा के राज्य में मुसलमानी विजय-केतु के साथ प्रवेश किया था। उसके पूर्व किसी ने उसे पराभूत न किया और न कर (राजस्व) देने के हेतु बाध्य करने में कोई सफल ही हुआ था। वह बंगाल का चतुर्थ मल्लिक था।

बंगाल-विजय में बख्तियार की नीति राज्याधिकार की अपेक्षा न्यूनतम प्रतिरोध तथा अपार धन-राशि की प्राप्ति की भावना लेकर बनी थी। उसकी कार्यान्विति के हेतु उसने विशेषतया सैनिक सुरक्षा-विहीन नगरों एवं ग्रामों को अपना लक्ष्य बनाया, और उन स्थानों से लूट में अपार सम्पत्ति प्राप्त की। उक्त मुसलमान सेनापति के बार-बार के आक्रमण, लूट, नृशंस हत्या आदि अत्याचारों ने जनता में उसके नाम को आतंक का अवतार ही बना रखा था। एक अथवा दो वर्षों तक बंगाल के हिन्दू निवासियों को लूटता रहा, और तब एकाएक बिहारशरीफ (उदण्डपुर) के विशाल बौद्ध बिहार, जिसके निकट ही नालन्दा विश्वविद्यालय का अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिवाला शैक्षणिक बिहार था, पर और भागलपुर जिले के विक्रमशीला पर टूट पड़ा। उदण्डपुर के बिहार को उसने वहाँ के राजा के सुदृढ़ दुर्ग समझा था। अत: २०० घुड़सवारों को लेकर साहस एवं शक्ति के साथ आरक्षित पिछले द्वार से उसने बौद्ध मठ में प्रवेश किया। उन दोनों ही स्थानों के विहार किले के सदृश थे, जिनमें अतुल धन-राशि के साथ अपरिमेय ज्ञान के उद्भव-स्रोत अनन्त ग्रन्थ-रत्न संचित थे। उसने उन विहारों पर अधिकार कर लिया तथा उनके निवासी निर्लोम-मस्तक पीत परिधानधारी बौद्ध विद्वान् साधुओं को तलवार के घाट उतार कर निर्मुण्ड किया। यह घटना लगभग ११९९ ई० की है। जिन विहारों को किला जानकर उसने विजय की थी, वे सब दुर्ग न होकर शैक्षणिक संस्थायें (विद्यालय) थे। उनको 'विहार' कहा जाता था। अत: मुसलमानों ने उस सारे विजित प्रान्त का ही नामकरण 'बिहार' कर दिया। उस बख्तियार ने उदण्डपुर की ओर पुन: १२०० ई० में सैनिक अभियान कर उस अंचल पर अपने शासन को सुस्थिर करने के विचार से वहाँ थानों अथवा सैनिक अड्डों की स्थापना की तथा राज-कार्य चलाने की व्यवस्था भी की। पीछे दिल्ली के सुलतान कुतुबुद्दीन ऐवक ने उसे बिहार एवं लखनौती का राज-प्रतिनिधि नियुक्त किया। उदण्डपुर से कुछ दूरी पर बख्तियार खिलजी ने अपने नाम पर बख्तियारपुर नगर बसाया, जो बिहार राज्य के पटना जिले का एक आरक्षी-निवास (थाना) है। वहाँ रेलवे स्टेशन भी है, जहाँ से गाड़ी बिहार- शरीफ (उदण्डपुर), नालन्दा तथा राजगृह जाती है।

उदण्डपुर के बौद्ध बिहार की लूट एवं हत्या वाली घटना के एक समसामयिक इतिहासकार की १२४२ ई० में उक्त आक्रामक दल के बचे हुए एक सदस्य से भेंट हुई थी। उसने उसे वहाँ के आक्रमण की बातें बतायी थीं। उसने बताया था कि किले पर अधिकार करते समय अनन्त सम्पत्ति उन सबों को लूट में प्राप्त हुई, और वहाँ पर इतने मुंडित-मस्तक ब्राह्मण (बौद्ध भिक्षुओं) को निर्मुण्ड किया गया कि जब विजेता ने वहाँ के पुस्तकालय की पुस्तकों को पढ़वाकर यह जानने की चेष्टा की कि उसमें क्या लिखा है, तो वहाँ ऐसा कोई व्यक्ति जीवित नहीं मिला जो उन्हें पढ़कर पूछी हुई बातें उनको बता सकता। वहाँ के ग्रन्थों को पढ़ने तथा पढ़कर बताने वाला कोई जीवित बच नहीं गया था।

उसने उसे बताया कि पीछे विजेताओं को पता चला कि वह स्थान राजा का नगर-दुर्ग नहीं था, वरन् विख्यात महाविद्यालय था, जिसे वहाँ की भाषा हिन्दी में 'विहार' कहा जाता था, और मारे गये व्यक्ति समुदाय उस महाविद्यालय के कुलपति, प्राचार्य, आचार्य, प्रख्याता, विद्यार्थी आदि विद्या-व्यसनी मेधावी मनीषिमात्र थे ।

स्थल-मार्ग से अथवा जल-मार्ग से तिरहुत अथवा अवध पर आक्रमण करने के हेतु बंगाल पर मुसलमानों का आधिपत्य अत्यन्त सुविधादायक था । गंगा के उत्तरी किनारे को पकड़ कर कोशी को पार करते हुए तिरहुत पहुँचने में कठिनाई नहीं थी । वहाँ से गंडक को पार कर अवध तक भी सरलता एवं सुगमता से जाया जा सकता था । सम्भवतः इन्हीं कारणों से तिरहुत के जिले का नामकरण द्वारवंग (दरभंगा) हुआ था (जे० एन० सरकार-संपादित, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, द्वितीय भाग, ५, १३)। बख्तियार ने तिब्बत पर असफल आक्रमण किया था । बंगाल का विजेता होकर उसने निकटवर्त्ती कामरूप और तिरहुत का विजय करना छोड़ दिया, तथा तिब्बत पर चढ़ाई की, इसका कारण समझ में नहीं आता है । सैनिक दृष्टि से उड़ीसा का पूर्वी गंग-साम्राज्य तथा विक्रमपुर की सेन-शक्ति मुसलमानों के सुदूरवर्त्ती बंगाल एवं दक्षिण बिहार पर के आधिपत्य के लिए अत्यधिक भयावह थी (जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, दूसरा भाग, पृ० ९)। पर इस पर बख्तियार खिलजी ने ध्यान नहीं दिया ।

तत्कालीन मुसलमान लेखकों के लेखों से पता चलता है कि प्रथम मुसलमानी आक्रमण तिरहुत पर बख्तियार खिलजी के द्वारा १२०३ ई के लगभग हुआ था । कहा जाता है कि उसने मिथिला को केवल जीता ही नहीं, वरन् कम से कम उसके दक्षिण-पूर्वी भाग को अपने नव-अर्जित राज्य में मिला भी लिया । मुसलमानी विजय के पूर्व बंगाल ५ अंचलों में बँटा था, यथा (१) राधा, (२) वागड़ी, (३) वंग, (४) वारेन्द्र, तथा (५) मिथिला । यह भी कहा जाता है कि तिरहुत को पहले विजय करके ही उसने गौड़ नगर को स्वायत्त किया एवं वारेन्द्र (उत्तर बंगाल) पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था । उस काल मिथिला (तिरहुत) पर कर्णाट कुल के भूप नरसिंह देव का शासन था (रेपसन : कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, ३, २६० के आधार पर)।

किन्तु गुलाम हुसेन सलीम की मान्यता कुछ भिन्न है । उस लेखक के अनुसार जब बख्तियार ने केवल १८ सैनिकों को लेकर ११९८ ई० में नदिया को मटियामेट किया, तथा बंगाल की विजय कर ली, उसी समय उसने मिथिला, वारेन्द्र, राधा एवं वागड़ी के उत्तर-पश्चिमी भाग को भी जीत लिया । कुतुबुद्दीन ऐवक उस काल में दिल्ली के सिंहासन पर आसीन था । कुछ लोगों का कहना है कि कर्णाट-भूप नरसिंह देव ने पराजित होकर वार्षिक कर देना स्वीकार कर लिया, और मुसलमान शासक को गियासुद्दीन इवाज के समय तक वह नियमित रूप से कर चुकाता रहा । परन्तु तत्कालीन अथवा पश्चाद्वर्त्ती लेखकों ने तिरहुत के किसी ऐसे नृपति का नाम अपने लेखों में अंकित नहीं किया है, जिसने बख्तियार से पराजित होकर उसको कर देना आरम्भ किया हो ।

बख्तियार खिलजी के पश्चात् बिहार पर सीधे कुतुबुद्दीन ऐवक का अधिकार हो गया । वह शिहाबुद्दीन गोरी का उत्तराधिकारी था (जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल,

भाग-२, पृ० १५)। बख्तियार के असफल तिब्बत-आक्रमण में अपार धन-जन की हानि हुई थी। उसके दुःखद परिणाम ने बंगाल के तत्कालीन इतिहास में परिवर्त्तन उपस्थित किया। लगभग आधी शताब्दी तक उसका स्पष्ट प्रभाव बंगाल की राजनीति पर दृष्टिगत होता रहा। इस बीच हिन्दू-शक्तियों को साँस लेने का सुअवसर प्राप्त हुआ। तिब्बत-आक्रमण में हुए सैनिक विनाश ने मुसलमानी सम्राज्य के विस्तारवाद को भारी धक्का पहुँचाया। बिहार से बख्तियार ने बहुत बड़ी संख्या में सैन्य एकत्र किया था। वह प्रदेश बंगाल के अन्दर चला गया था। भाग्य ने बख्तियार का साथ देना छोड़ दिया। खिलजियों की हिम्मत टूट गयी। विश्वासघात एवं द्रोह का साम्राज्य फैल गया। अन्त में यमराज के समान अदम्य विजेता बख्तियार को हि० स० ६०२ अर्थात् १२०५ ई० के लगभग उसके ही जाति-भाई अली मरदान खिलजी ने मार डाला।

यह भी कहा जाता है कि बख्तियार के पुत्र इख्तियार-उद्-दीन मुहम्मद को थोड़ी जागीर गंगा और सोन नदियों के बीच मिली थी। उसने वहीं से बिहार एवं तिरहुत में अपने साथियों के साथ प्रवेश कर बार-बार लूट-मार की थी। उन लूटों में उसे इतनी सम्पत्ति मिली, जिससे आकृष्ट होकर उसकी जाति के बहुसंख्यक लोग उसकी सेना में भर्त्ती हो गये (रैपसन : कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग-३, ४२)। तत्पश्चात् उसने बिहार की राजधानी उदण्डपुर (बिहारशरीफ) पर आक्रमण कर उसपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। वहाँ के बौद्ध मठ के अन्दर रहने वाले मुंडित-मस्तक साधुओं की नृशंस हत्या कर मठ की सम्पत्ति के साथ चिरकाल से एकत्र पुस्तक-राशि को भी वह वहाँ से अपने साथ लेता गया। उसके पश्चात् कुतुबुद्दीन ऐवक के सम्मुख उपस्थित होकर उसने उसकी अधीनता स्वीकार की, तथा नजर भी आदर के साथ समर्पित किया।

अली मरदान लखनावती (लखनौती) का शासक था। उसने ही बख्तियार खिलजी की हत्या की थी। उसने सुलतान अला-उद्दीन का विरुद धारण कर लिया। कहा जाता है कि उसके शासनकाल में कम से कम सोन नदी से पूर्व का अंश लखनावती के शासन के अन्दर चला गया था। इलतुतमिश के बंगाल पर आक्रमण करने के काल (१२२५-२६ ई०) तक अली मरदान के उत्तराधिकारी हुसेन उद्दीन इवाज अथवा हसमुद्दीन का अधिकार बिहार के उक्त भू-भाग पर बना हुआ था (जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग-२ पृ०२०)। इतिहास बताता है कि १२११ ई० के लगभग कामरूप तथा बंगाल के हिन्दू राजाओं के साथ ही तिरहुत के तत्कालीन राजा भी लखनावती के सुलतान, और दिल्ली के बादशाह द्वारा नियुक्त शासक, दोनों को ही पृथक्-पृथक् राज-कर देते थे (जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग-२)।

कहा जाता है कि वंग, कामरूप तथा तिरहुत के शासकगण सुलतान गियासुद्दीन इवाज खिलजी को अपना-अपना राज-कर चुकाते थे। अली मरदान का उत्तराधिकारी हुसेनउद्दीन इवाज ने ही सुलतान गियासुद्दीन इवाज का विरुद धारण किया था। वह वहाँ का चतुर्थ मल्लिक था। ऐसा उल्लेख है कि उसने तिरहुत पर आक्रमण कर वहाँ के राजा से कर वसूल किया था तथा तिरहुत को अच्छी तरह लूटा था। परन्तु उसका विस्तारपूर्वक उल्लेख प्राप्य नहीं है। उसके विषय में इतिहासकार अलवदओनी ने लिखा है कि मल्लिक हुसेन-उद्-दीन खिलजी सरदार एवं मुहम्मद बख्तियार के सेवक ने सम्पूर्ण तिरहुत, बंगाल,

जयनगर, और कमरूप पर अधिकार कर सुलतान गियासुद्दीन का विरुद धारण किया। उसने दिल्ली के सुलतान शमसुद्दीन इलतुतमिश के पास ३८ हाथी तथा ७०,००० (सत्तर हजार) टंका नकद नजर के रूप में भेजकर उसकी प्रभुसत्ता स्वीकार की (तवकात-ए-नसीरी में लिखा है कि उसने ३० हाथी और आठ लाख रुपये भेजे थे)। उस गियासुद्दीन इवाज खिलजी का शासन-काल १२१३ से १२२७ ई० तक (हिजरी सम्वत् ६१० से ६२४) बताया जाता है (तवकात-ए-अकबरी, १, ५९, ६६)। उसके आरम्भ के १२ वर्षों तक के शासन में (अर्थात् हि० स० ६१० से ६२२ तक) बादशाह इलतुतमिश ने लखनावती के शासक गियासुद्दीन इवाज के साथ किसी प्रकार का टंटा नहीं किया। उस अवधि में गियासुद्दीन का चुप बैठा रहना संभव नहीं था। पड़ोस के हिन्दू राजाओं की शक्ति क्षीण हो चुकी थी, पर उनके पास प्रचुर सम्पत्ति अब भी थी ही। अत: लखनावती के शक्तिशाली शासक का ध्यान उनकी आरक्षित धन-राशि की ओर न जाना ही अस्वाभाविक था। उनपर आक्रमण करने के हेतु उसके पास प्रचुर साधन एवं उपयुक्त अवसर भी था। हृदय में धन-लिप्सा थी ही।

मिथिला की स्थिति उस काल में ठीक-'जिमि दसनन मँह जीभ बिचारी' की थी। उसके एक ओर अवध के तथा दूसरी ओर लखनावती के सबल मुसलमानी शासन चल रहे थे। दोनों के मध्य में तिरहुत का राज्य था। उसके पूर्वी भाग (पूर्णियाँ जिला) पर मुसलमानों का अधिकार था (जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग-२, २; रियाजू एस-सलतिन, गुलाम हुसेन कृत, तथा एस० अबदुस् सालिम द्वारा अनूदित ४७; अन्नल्स, ३५-१०९)।

सुलतान गियासुद्दीन खिलजी (हुसेन-उद्-दीन इवाज) ने अपने शासन के आरम्भ के १२ वर्षों तक लखनावती तथा बिहार राज्य की सीमाओं को केवल सुरक्षित ही नहीं रखा, वरन् अपनी तलवार की नोंक से उन्हें विस्तृत भी किया। बंगाल के मुसलमानी शासन की नींव को उसने सुदृढ़ किया, तथा जजनगर (उड़ीसा), बंग (पूर्वी बंगाल) एवं कामरूप (पश्चिमी आसाम) के साथ-साथ तिरहुत पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। कर्णाट कुल के राजा नरसिंह देव का उस काल तिरहुत पर शासन था। उसको लखनावती के सुलतान को वार्षिक कर देने के हेतु बाध्य होना पड़ा था (रियाजू एस्-सलतिन, गुलाम हुसेन कृत एवं ए० अबदुस् सालिम द्वारा अनूदित ७०; मुजफ्फरपुर जिला गजेटियर-१७)।

लखनावती के सुलतान गियासुद्दीन इवाज खिलजी (हुसेन-उद्-दीन इवाज) की उपर्युक्त प्रकार की ख्याति एवं शक्ति-संचय ने दिल्ली के बादशाह का ध्यान आकृष्ट किया। वह इस पर उत्तेजित हुआ, और उसने सुलतान गियासुद्दीन खिलजी से बिहार छीन लेने के हेतु विशाल शाही सेना को युद्ध करने के लिए भेजा। बंगाल और बिहार को उससे मुक्त करने के हेतु वह स्वयं उसके विरुद्ध युद्ध-क्षेत्र में उपस्थित हुआ। यह घटना हि० सम्वत् ६२२ अथवा १२२५ ई० में घटी थी। थोड़े संघर्ष के पश्चात् दोनों में सन्धि हो गयी (वही, रियाजू-एस-सलतिन; जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग-२ पृ० २६-२७)। सम्राट् इलतुतमिश ने बिहार को लखनावती के अधिकार से पृथक् कर उसका शासक अलाउद्दीन जनी को बनाया। परन्तु सम्राट् के दिल्ली वापस जाने पर गियासुद्दीन इवाज ने अलाउद्दीन जनी को निकाल बाहर किया, और बिहार को पुन: बंगाल के

लखनावती के शासन में मिला लिया (तवकात-ए-नसीरी, परशियन टेक्स्ट, १६३; रियाजू-एस्-सलतिन ५९) । सुलतान गियासुद्दीन से सन्धि करने के पूर्व उसको नत कर तथा उसकी उपर्युक्त भेंट को स्वीकार कर बादशाह इलतुतमिश ने खुतवा और सिक्के वहाँ अपने नाम के चलाये थे । पीछे उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र को सुलतान नसीरुद्दीन की उपाधि देकर उसे अपना युवराज (उत्तराधिकारी) घोषित किया, और उन प्रदेशों का उसे स्वामी बनाकर वह स्वयं दिल्ली लौट गया था ।

गियासुद्दीन इवाज के इस विश्वासघाती कृत्य ने सम्राट् इलतुतमिश के पुत्र नसीरुद्दीन को उत्तेजित कर दिया । प्रतिशोध की भावना से उसने लखनावती पर आक्रमण कर गियासुद्दीन इवाज को पहले बन्दी बनाया तथा पीछे मार डाला, और बंगाल का शासन उसने स्वयं अपने हाथ में ले लिया (रियाजू-एस्-सलतिन-७०; तवकात-ए-अकबरी-१,५९,६६; हिस्ट्री ऑफ बंगाल, द्वितीय भाग, २७)। लखनावती की लूट में नसीरुद्दीन को अपार धन-राशि प्राप्त हुई, जिसको उसने कई भागों में विभाजित कर उपहार के रूप में अपने प्रत्येक सरदार के पास दिल्ली भेजा ।

उक्त सुलतान गियासुद्दीन इवाज का अधिकार बंगाल की लखनावती की सरकार, पूर्णियाँ, ताजपुर आदि प्रदेशों पर हो चुका था । दक्षिणी बिहार पर आधिपत्य स्थापित कर लेने से उसके द्वारा शासित राज्य की सीमा अवध, तथा उत्तर बिहार में गण्डक के मुहाने तक विस्तृत हो चुकी थी । पूर्व मुगलकाल तक बंगाल के मुसलमानी राज्य में सम्पूर्ण उत्तर बिहार का विशेष अंश सम्मिलित हो चुका था । बंगाल के कई शासकों के शासन में उड़ीसा, दक्षिण बिहार एवं मुंगेर की सरकारें भी सम्मिलित थीं (रियाजू-एस्-सलतिन, ४९, तारीख-ए-फिरोजशाही, ४६१, ५८६) ।

इलतुतमिश के दिल्ली प्रत्यागमन-पश्चात् जब सुलतान गियासुद्दीन इवाज ने अलाउद्दीन जनी से बिहार छीन लेने के हेतु उसपर चढ़ाई की, उस काल में मिथिला के कर्णाट-वंशीय राजा नरसिंह देव ने लखनावती के सुलतान की सहायता की थी, ऐसा मुहम्मद इलियास रहमानी का कथन है । नसीरुद्दीन के बंगाल पर आक्रमण करने पर वहाँ पर जो समर हुआ, उसमें गियासुद्दीन इवाज की मृत्यु हुई । राजा नरसिंह देव ने नसीरुद्दीन के सम्मुख नत होकर वार्षिक राज-कर देना स्वीकार किया (अन्नल्स, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, ३५, ११०) । परन्तु उस काल की राजनीतिक स्थिति के सिंहावलोकन से पता चलता है कि नरसिंह देव उस समय भी तिरहुत का सार्वभौम स्वतंत्र स्वामी बना था । नसीरुद्दीन का आक्रमण, सम्भव है, उसपर उस समय हुआ हो, पर तिरहुत पर उसका आधिपत्य न हो सका था । उस काल में कर्णाट-कुल का राज्य सुदृढ़ होकर मूलबद्ध हो चुका था, और चम्पारण जिले की सीमा केलिकट सिमराओं में उसकी राजधानी थी ।

दिल्ली के बादशाह इलतुतमिश ने तुघरल तुघान को बदायूँ से बदल कर बिहार भेजा था । उस काल में तिरहुत बिहार का अंग नहीं था । वहाँ कर्णाट-राजवंश का शासन था । दिल्ली के सिंहासन पर मसूद शाह २० मई, १२४२ ई० को बैठा । उसके सिंहासनासीन होने के केवल थोड़े दिन पश्चात् हिजरी सम्वत् ६४० (सितम्बर, १२४२ ई०) में मलिक इज्जुद्दीन तुघरल तुघान ने अपना विजय-अभियान आरम्भ कर दिया । अवधानिक रीति

राज्यापहर्त्ता होते हुए भी सुलताना रजिया बेगम से किसी प्रकार सनद प्राप्त कर वह बिहार एवं लखनावती के वैधानिक शासक बन बैठा (जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, द्वितीय भाग, ४६)। वह बंगाल का नवम मल्लिक था, जिसने तिरहुत को बुरी तरह लूटा।

कहा जाता है कि तिरहुत-नरेश ने दिल्ली के विरुद्ध विद्रोह किया था। इस पर तुघल खाँ ने उसपर आक्रमण कर उसे बन्दी बनाया, तथा उसके राज्य में लूट-पाट मचाकर अपार धन-राशि प्राप्त की। रहमानी का कहना है कि बन्दी राजा नरसिंह देव ने अलाउद्दीन मसूद शाह की ओर से हिजरी सम्वत् ६४२ (१२४४ ई०) में चंगेज खाँ से युद्ध किया था। यह घटना उसकाल की है जब चंगेज ने बंगाल पर चढ़ाई की थी। अलाउद्दीन मसूद ने उसकी अलौकिक वीरता से प्रसन्न होकर उसे कारा-मुक्त किया तथा मिथिला का राज्य उपहार में दिया। उसके बाद उसे सीधे दिल्ली के केन्द्रीय राजकोष में वार्षिक कर की रकम भेजने की आज्ञा दी गयी (रहमानी-६)।

'तवकात-ए-नसीरी' में मिनहाज ने तुघरल के आक्रमण की चर्चा की है, किन्तु तिरहुत के किसी राजा को बन्दी बनाने की बात नहीं लिखी है। उसी प्रकार 'रियाजू-एस्-सलतिन' में गुलाम हुसेन सलीम ने भी उस कांड का कहीं उल्लेख नहीं किया है। उसका इतना ही कहना है कि सुलताना रजिया बेगम के राज्य-काल में इज्जउद्दीन तुघरल खाँ ने लखनावती से कूचकर तिरहुत पर आक्रमण किया। उसे वहाँ लूट में अपार सम्पत्ति मिली (रियाजू-एस्-सलतिन, ७४; अन्नल्स ऑफ दि भण्डारकार ओरिएण्टल रिसर्च इन्सटीट्यूट-३५, ११२)। समकालीन इतिहास-लेखकों ने तिरहुत के राजा के विद्रोह की चर्चा कहीं नहीं की है। इसके अतिरिक्त तुघरल खाँ के आक्रमण का सम्वत् स्पष्टयता बताता है कि वह काल रामसिंह देव के शासन का था, नरसिंह देव के राज करने का नहीं। नरसिंह देव का शासनकाल ११८७ से १२२५ ई० तक तथा रामसिंह देव का १२२५ से १२७६ ई० तक इतिहास बताता है। तुघरल का तिरहुत-आक्रमण १२४२ ई० के बाद हुआ था और उसके हेतु उसने सम्राट् से आज्ञा प्राप्त नहीं की थी। उसकी वह चढ़ाई अर्थलिप्सा से प्रेरित होकर हुई थी, राजनीतिक कारणों से नहीं। धन-प्राप्ति के हेतु इस प्रकार का कार्य करना महत्त्वाकांक्षी मुसलमानों की उस काल की नीति थी। उसने केवल इस नीति का अनुसरण किया था। दिल्ली के सुलतान की शक्ति का उस काल में ह्रास हो चुका था। इसी कारण से वह तुघरल की स्वेच्छाचारिता को रोकने में सक्षम न हो सका। तिरहुत-राज्य में उसने आक्रमण कर केवल वहाँ से लूट का धन प्राप्त किया, उसे अधीन नहीं बनाया। अपनी विशाल सेना का उपयोग कर उसने अपने गृहराज्य बंगाल की सीमाओं को भी नहीं बढ़ाया। सुलतान गियासुद्दीन इवाज की मृत्यु के पश्चात् से उस काल तक वे यथावत् बनी रही (जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, द्वितीय भाग, ४६, ७६)। उपर्युक्त लेखकों के लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मिथिला के कर्णाट-कुलीय नृपतिगण उस काल में मुसलमानों के सत्यानाशी आक्रमणों एवं लूट-खसोट के बावजूद सार्वभौम स्वतन्त्र नरेश अपने शासित प्रदेश में बने रहे। उस समय तक मिथिला शिथिला एवं परतंत्र न हो सकी थी। उसकी तलवार तीक्ष्ण थी, जिसका आतंक शत्रुओं पर बना था।

उस युग में दिल्ली के केन्द्र-राज्य की अवस्था डँवाडोल हो चली थी। क्रान्ति एवं षड्यन्त्र का दौरा-दौरा प्रगतिशील था। मन्त्रियों की मन्त्रणा ने बलवन को सुलतान-पद पर प्रतिष्ठित किया। यह बलवन (गियासुद्दीन बलवन) बादशाह इलतुतमिश (अल्तमश) के कनिष्ठ पुत्र नसिरुद्दीन का मन्त्री था। नासिरुद्दीन ने २० वर्षों तक राज किया था। उसकी मृत्यु के पश्चात् बलवन १२६६ ई० में दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। इलतुतमिश (अल्तमश) की पुत्री रजिया बेगम ने अपने भाई रुकुनुद्दीन के पश्चात् १२३६ से १२४० ई० तक शासन किया था। रजिया एवं नासिरुद्दीन के राज्य-शासन के बीच (१२४० एवं १२४६ ई० के बीच) केवल ७ वर्ष बीते। इस अवधि में दिल्ली के सिंहासन पर इलतुतमिश के कुल के दो बादशाह क्रमशः बैठे, पर दोनों को ही राजधानी के सरदारों ने राज्यच्युत कर अन्त में नासिरुद्दीन को केन्द्र-राज्य दिल्ली की गद्दी दी थी, पर उसके शासनकाल में भी शासन-सूत्र उसके योग्य मन्त्री गयासुद्दीन बलवन के हाथों में ही था।

बलवन ने विद्रोही शासक मलिक महमूद गजनी को पदच्युत कर बिहार प्रदेश में तिरहुत तक लूट की। सुलतान मुधिसुद्दीन युजवक ने प्रभुहीन अनाथ अवध प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। पीछे उसी मुधिसुद्दीन युजवक ने लखनावती में अपने को स्वतंत्र घोषित कर बिहार तथा अवध को अपने राज्य में मिला लिया, पर १२५७ ई० में उसका दुःखद अन्त कामरूप में हो गया। बलवन ने हिजरी सम्वत् ६५४ (लगभग १२५६ ई०) में मलिक मसूद जनी को निकाल बाहर कर बिहार को अपनी लूट एवं शोषण से तबाह कर दिया था।

बिहार के बारहदरी-अभिलेख (जनरल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १८७३, पृ० २४७; एपिग्राफिया इण्डो-मोसलेमिका, १९१३-१४, पृ० २४) से पता चलता है कि ताजुद्दीन आर्सलान खाँ, जिसकी मृत्यु १२६५ ई० में हुई थी, बिहार एवं लखनावती का अपनी मृत्यु के पूर्व तक स्वतन्त्र शासक बना रहा। उसका पुत्र तातार खाँ भी बलवन के सिंहासनारोहण के दो वर्षों पश्चात् तक स्वतन्त्र शासक बना रहा। तब उसका देहावसान हुआ। उसकी मृत्यु के पश्चात् ही लखनावती पर दिल्ली का प्रभुत्व पुनः स्थापित हो पाया था। बलवन के मुंगेर के अभिलेख (१२७९ ई० अथवा ६७७ हिजरी; एपिग्राफिया इण्डोमोसलेमिका, १९०९-१०, पृ० ११३) से ज्ञात होता है कि उसने बिहार को बंगाल से पृथक् कर उसे केन्द्र द्वारा नियुक्त एक शासक के अन्दर रखा था। बंगाल के साम्राज्य से निकल जाने के पीछे तक बिहार दिल्ली के सीधे शासन में बना रहा।

सुलतान गयासुद्दीन बलवन ने पंजाब में मंगोलों के आक्रमण का सफल प्रतिरोध करने के पश्चात् बंगाल के तत्कालीन सुलतान मुधिसुद्दीन तुघरल को अधीनता स्वीकार करने एवं कर देने का आदेश दिया। परन्तु उसने सेना एकत्र कर बिहार की ओर प्रस्थान किया। यही शाही फरमान उसका उत्तर हुआ। उसने सुलतान का विरुद धारण किया, सिक्के अपने नाम से ढलवाये, तथा खुतुव अपने नाम से पढ़वाया (जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग-२, पृ० ६०)। बलवन ने १२७८ ई० के जनवरी महीने में उसके विरुद्ध रणयात्रा की। शाही सेना सरयू नदी को पार कर तिरहुत होते हुए आगे बढ़ी। किन्तु तिरहुत और लखनावती के मार्ग में कहीं पर उसकी प्रगति को बंगाल की सेना ने रोक

दिया। दोनों सेनाओं के बीच मुठभेड़ हुई, जिसमें शाही सेना बुरी तरह हार कर हिन्दुओं के द्वारा लूटी गयी।

पुनः हिजरी सम्वत् ६७७ (१२७९ ई०) में दिल्लीश ने दूसरा आक्रमण मुधिसुद्दीन तुघरल पर मलिक बहादुर, उपनाम मलिक शिहाबुद्दीन (अवध के शासक) के सेनापतित्व में किया। उसने भी तिरहुत के मार्ग से ही लखनावती की ओर समर-यात्रा की। इस बार भी शाही सेना की वही दुर्दशा हुई जो पूर्व में हुई थी। तत्पश्चात् बलवन स्वयं सेना लेकर आगे बढ़ा। इस बार भाग्य ने सुलतान मुधिसुद्दीन तुघरल का साथ देना त्याग दिया। उसकी युद्ध में हार हुई और वह मारा गया (जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग-२, पृ० ६०; गढ़ मुक्तेश्वर मसजिद-अभिलेख, एपिगाफिया इण्डो-मुसलेमिका, १९१३-१४, पृ० २९)।

बलवन के पुत्र तथा उत्तराधिकारी सुलतान नसीरुद्दीन बुघरा ने एक बड़ी सेना के साथ अपने विद्रोही पुत्र सुलतान कैकूवाद अथवा कैकुअस, उपनाम रुक्न-उद्-दीन को दण्ड देने के विचार से १२८६ ई० के फरवरी मास में बिहार में प्रवेश किया। नसीरुद्दीन बुघरा ने बिहार प्रदेश को अपने अधीन रख कर फिरोज अइटिगिन को वहाँ का शासक नियुक्त किया।

सुलतान रुक्नुद्दीन कैकुअस (६९०-७०१ हिजरी अथवा १२९१ से १३०२ ई०) लखनावती में अपने को दिल्ली से स्वतन्त्र कर वहाँ का सार्वभौम स्वतन्त्र सुलतान बन गया था। वह बिहार और बंगाल दोनों का अधीश्वर बना। कम से कम ८ वर्षों तक उसके बंगाल तथा बिहार का स्वतन्त्र शासक के रूप में शासन करने का प्रमाण इतिहास देता है, क्योंकि हिजरी सम्वत् ६९० से लेकर लगातार हिजरी सम्वत् ६९८ तक के लखनावती टकसाल से ढले उसके नाम के सिक्के की प्राप्ति हुई है। उसी अवधि के उसके ३ (तीन) अभिलेख-(१) हिजरी सम्वत् ६९७ का मुंगेर जिलान्तर्गत लक्खीसराय का, (२) उसी काल का देवकोट-अभिलेख, तथा (३) हिजरी सम्वत् ६९८ का त्रिवेणी (सतगाओं) का अभिलेख, भी इस तथ्य को प्रमाणित करता है (एपिग्राफिया इण्डो-मुसलेमिका- १९१७-१८, पृ० १०-१५, जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १८७३, पृ० २४६-४७)।

सुलतान रुक्नुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् फिरोज अइटिगिन (उपनाम सुलतान शमसुद्दीन फिरोज शाह) ने लखनावती की सरकार पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। बिहार का शासन-भार उसने अपने पुत्र ताजुद्दीन हातिम खाँ के ऊपर सौंपा एवं राजभक्त सेवक जियाउद्दीन उलुघ खाँ को मुंगेर से सतगाओं स्थानान्तरित किया। उसने पड़ोस के हिन्दू राजाओं के साथ युद्ध करना आरम्भ कर दिया (जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, २, ७७-७८)। उसने हिजरी सम्वत् ७०७ तक सम्पूर्ण बिहार, लखनावती, सतगाओं एवं वंग (सोनारगाओं) पर शान्ति के साथ शासन किया (जे० ए० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग-२, पृ० ८०-८१)। परन्तु उसके मिथिला पर आक्रमण अथवा वहाँ के भूपति के साथ उसके किसी युद्ध का विवरण इतिहास नहीं देता है।

कर्णाट-कुल के मिथिला (तिरहुत) के अन्तिम प्रसिद्ध भूप हरिसिंह देव के

शासनकाल में मुसलमानों का प्रबल आक्रमण हुआ था । 'सुगति सोपान' एवं 'दानरत्नाकर' नामक ग्रन्थों के अवलोकन से उस काल में फैली अराजकता तथा म्लेच्छों (मुसलमानों) की मिथिला में बढ़ती का पता चलता है । 'सुगति सोपान' के विषय-प्रवेश का श्लोकांक-४ उस काल की तनावपूर्ण राजनीतिक एवं अराजकता का दिग्दर्शन कराता है । 'दानरत्नाकर' में अंकित किया गया है कि– 'मिथिला म्लेच्छार्णव में परिप्लुत होती जा रही थी' (मित्र : नोटिसेज-६, १३५, नं० २०६९) ।

चण्डेश्वर तथा ज्योतिरीश्वर क्रमशः 'दानरत्नाकर' एवं 'धूर्तसमागम' के प्रणेता थे। दोनों ग्रन्थों की रचना आक्रामक मुसलमानों के हरिसिंह देव द्वारा पराजित किये जाने तथा उनके देश से निष्कासन के पश्चात् की गयी थी । उन दोनों ग्रन्थों से पता चलता है कि हरिसिंह देव ने किसी मुसलमान भूपति को रण में परास्त किया था (नेपाल दरबार कैटलॉग, पृ० ६६, यथा– "नानायोध निरुद्ध–न्यास्ताङ्घ्रिपङ्केरुहः") । उसने आक्रामकों से अपने राज्य का उद्धार किया था । सम्भवतः वह आक्रामक मुसलमान नृपति बंगाल का शासक बहादुर शाह था, जिसको हरिसिंह देव ने रण में पराभूत किया था ।

बहादुर शाह ने अपने भाई नसीरुद्दीन को पराजित कर बंगाल से निर्वासित कर दिया था । नसीरुद्दीन ने दिल्ली के सुलतान गयासुद्दीन तुगलक शाह की शरण ली । फिरोज शाह का बड़ा पुत्र बुघरा शाह भी अपने भ्राता बहादुर शाह से पराजित होकर १३२० ई० में तुगलक शाह (सुलतान गियासुद्दीन) का शरणागत हुआ था । वह बुघरा शाह नसीरुद्दीन का भ्राता था । उक्त बुघरा शाह तथा अन्यान्य सरदारों ने भी बादशाह गियासुद्दीन तुगलक को बहादुर शाह के विरुद्ध उभाड़ा । उसने बंगाल पर आक्रमण करने की योजना बनायी तथा उपयुक्त समय पर रण-यात्रा भी कर दी । बादशाह के दिल्ली से प्रयाण करने का समाचार पाकर बहादुर शाह सोनार गाँओं लौट आया । नसीरुद्दीन ने बादशाह से तिरहुत में आकर भेंट की । उसने उसकी अधीनता स्वीकार की, और उसके साथ लखनावती के लिए प्रस्थान किया । वहाँ पहुँच कर गियासुद्दीन ने नसीरुद्दीन को लखनावती के शासक के पद पर प्रतिष्ठित किया (गुलाम हुसेन सलीम : 'रियाजू-एस्-सलतिन', ८४, ९१-९२, चण्डेश्वर ठाकुर : 'राजनीति रत्नाकर', के० पी० जायसवाल सम्पादित, १८, जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल भाग-२, ८४, श्यामनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, ६७, ८५, मुजफ्फरपुर जिला गजेटियर-१८-१९, तबकात-ए-अकबरी, १, २१३) । रहमानी के इस कथन में कि हरिसिंह देव ने बहादुर शाह की बादशाह के विरुद्ध सहायता की थी, और उसी के प्रतिशोध में उसने उस तिरहुत-नरेश पर आक्रमण किया था, तथ्य नहीं है । बहादुर शाह का पूर्णरूप से शमन करके गियासुद्दीन तुगलक ने तिरहुत पर चढ़ाई बिना किसी प्रकार की उत्तेजना के की थी । उसके मिथिला-आक्रमण का उल्लेख प्रायः तत्कालीन सभी मुसलमान इतिहास-लेखकों के द्वारा किया गया है । उसने हिजरी सम्वत् ७२३ (जनवरी, १३२४ ई०) में बंगाल एवं तिरहुत-विजय के हेतु दिल्ली से पूर्व दिशा की ओर अभियान किया था । बंगाल से लौट कर उसने तिरहुत पर धावा किया । कर्णाट-वंशीय तत्कालीन तिरहुत-नरेश राजा हरिसिंह देव ने अति वीरता के साथ उससे लोहा लिया, पर भाग्य ने इस बार उस वीर को साथ नहीं दिया । युद्ध क्षेत्र

में उसकी पराजय हुई। शत्रु ने सिमराओं अथवा शिवराओं के दुर्ग को विनष्ट कर दिया। राजा ने नेपाल के जंगल में प्रवेश किया। वहाँ उसने तराई को जीत कर वहीं अपने लिए एक राज्य की स्थापना की (गुलाम हुसेन सलीम : रियाजू-एस्-सलतिन, ९१, ब्रिग्स : १, ४०६-०७, थॉमस : क्रौनिकल्स ऑफ पठान किंग्स ऑफ देल्ही-८,१८३, १९४, १९९, जरनल ऑफ रायल एशिएटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेटब्रिटेन एंड आयरलैंड-४, १२४, इण्डियन ऐण्टीक्वेरी-१३, ४१४, आइन-ए-तिरहुत-१३, तारीख फिरोज शाही, इल्लियट-३, २३४-४० तथा अध्याय-१०, अन्नल्स ऑफ भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट- ३५, ११७)। हरिसिंह देव के तिरहुत त्याग से तिरहुत में सार्वभौम स्वतन्त्र हिन्दू राज्य समाप्त हो गया, और तिरहुत का नाम गियासुद्दीन के पुत्र मुहम्मद तुगलक ने तुगलकपुर उर्फ तिरहुत रख कर वहाँ अपने सिक्के ढलवाने आरम्भ कर दिये, जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है (जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग-२, पृ० ८४)।

गियासुद्दीन तुगलक ने तिरहुत-विजय कर उसे बंगाल से पृथक् एक नया प्रदेश बनाया। दरभंगा को उसने उसकी राजधानी का गौरव प्रदान किया। उसका नाम तुघलकपुर उपनाम तिरहुत पड़ा (रियाजू-एस्-सलतिन, ८४)। शाही आज्ञा से वहाँ एक किला तथा एक जामा मस्जिद का निर्माण किया गया। दिल्ली द्वारा नियुक्त शासक दरभंगा में निवास कर तिरहुत का शासन-सूत्र-संचालन किया करता था। कर वसूलना उसका मुख्य कर्त्तव्य था। राज्य में शान्ति-स्थापन भी उसके कर्त्तव्य का एक अंग था। किन्तु कर्णाट-कुल के लगभग सवा दो सौ वर्ष शासन करने के पश्चात् सुव्यवस्था एवं शान्ति-सुख ने मिथिला का परित्याग किया, और प्रजा के बीच अशान्ति ने आकर अपना आसन जमा लिया।

विजेता गियासुद्दीन तुगलक के कुल के तीसरे बादशाह सुलतान फिरोज तुगलक ने मुसलमान पदाधिकारियों द्वारा नव-अर्जित राज्य तिरहुत की शासन-व्यवस्था को सन्तोषजनक नहीं पाकर शाही फरमान (सनद, प्रमाण-पत्र) के द्वारा १३५४ ई० में वहाँ का शासन-भार हरिसिंह देव की राज्य-सभा के एक सदस्य विद्वान् ब्राह्मण कामेश्वर ठाकुर को सौंपा। वह ओइनवार-वंशीय ब्राह्मण था। अतः कामेश्वर ठाकुर का कुल ओइनवार राजवंश के नाम से विख्यात हुआ। इस कुल ने लगभग दो सौ वर्षों तक मिथिला पर राज किया (वरणी : तारीख-ए-फिरोज शाही, इल्लियट-३, ३३४-५०; एकाउण्ट ऑफ सुगौना डाइनेस्टी ऑफ कामेश्वर, चैप्टर-१०; श्यामनारायणसिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ८५)। ओइनवार-राजकुल बादशाह के राज्य-कोष में निर्धारित वार्षिक राज-कर समय पर चुकती करने के अतिरिक्त शासन-संचालन सम्बन्धी अन्य विषयों में सर्वथा स्वतन्त्र था।

कहा जाता है कि मुहम्मद तुगलक (गियासुद्दीन तुगलक का पुत्र एवं उत्तराधिकारी) ने लगभग १३४२ ई० में हाजी इलियस शाह अथवा शमसुद्दीन इलियस शाह को तिरहुत से कर वसूल करने के हेतु नियुक्त किया था। वह बंगाल का भूप था, जिसका शासन-काल १३४२ से १३५७ ई० तक माना जाता है। दिल्ली के शाहनशाह मुहम्मद तुगलक की स्वेच्छाचारिता एवं अत्याचारों के कारण उत्तर भारत में अराजकता तथा शासन में विशृंखलता का समावेश हो चुका था। पूर्वीय प्रयाग तथा बहराइच (गोरखपुर, चम्पारण आदि) के हिन्दू राजाओं ने केन्द्र से अपने को पूर्णतया स्वतन्त्र कर लिया था। चम्पारण

तिरहुत का अविच्छिन्न अंग था । पर उस काल में वह उससे पृथक् कर दिया गया था, ऐसा प्रतीत होता है (जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल , द्वितीय भाग, १०३)। हिन्दू राजागण यद्यपि स्वतन्त्र हो चुके थे, पर उनमें मेल तथा आपसी सद्भावना न थी । दिल्ली के सुलतान का प्रभाव पतनोन्मुख हो ही चला था । हाजी इलियस शाह देश की इस राजनीतिक स्थिति से प्रोत्साहित होकर सर्वप्रथम बंगाल से पश्चिम के राज्य तिरहुत की ओर मुड़ा, और वहाँ उसने अपनी शक्ति का प्रयोग आरम्भ किया ।

गियासुद्दीन तुगलक द्वारा १३२४ ई० में पराजित होकर हरिसिंह देव ने अपना राज्य नेपाल में स्थापित किया था । वहाँ से उसका गुरिल्ला युद्ध अपने खोये हुए राज्य की प्राप्ति हेतु सतत चालू रहा । तिरहुत की प्रजा का सहयोग एवं सद्भावना भी उसे प्राप्त थी । अतः सिमराओं की राजधानी के निकटवर्त्ती स्थानों पर उसका पूर्ण शासन था । राज्य के शेष भाग में भी उसका प्रभाव कम न था । इन्हीं कारणों से मुसलमानी शासक गियासुद्दीन की मिथिला-विजय के पश्चात् भी वहाँ सुव्यवस्थित एवं सुस्थिर न हो सका था ।

कुछ लोगों का विश्वास है कि कामेश्वर ठाकुर को तिरहुत का राज्य १३५४ ई० से पूर्व हि० सं० ७४१ (१३४०-४१ ई० के लगभग) में प्राप्त हुआ (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ४०६, पंक्ति-६)। यदि इस कथन में तथ्य है तो निश्चय ही तिरहुत उस काल में दो प्रतिद्वन्दी राज्यों में विभक्त हो गया होगा । कामेश्वर ठाकुर की राजधानी वर्तमान दरभंगा जिले में समस्तीपुर अनुमण्डल के बैनी गाँव (ओइनी, पूसारोड) में थी, जहाँ आज भी उनका प्राचीन डीह विद्यमान है । मधुबनी के निकटवर्त्ती सुगौना को भी कामेश्वर-कुल का राजनगर कहा जाता है । सम्भवतः शासन में सुव्यवस्था लाने के हेतु वहाँ दूसरी राजधानी बनायी गयी होगी; क्योंकि ओइनी (बैनी) में कामेश्वर ठाकुर के पूर्वज ओएन ठाकुर ने आकर निवास किया था, और तब से उनके वंशज वहीं रह रहे थे। हाजी शमसुद्दीन इलियस शाह एवं कामेश्वर ठाकुर के दो प्रतिद्वन्द्वी राज्यों के बीच अपने-अपने स्वार्थ की रक्षा के हेतु वैमनस्य का होना स्वाभाविक था । ऐसी स्थिति में १३४५ ई० के लगभग तिरहुत को विजय कर लेना हाजी इलियस शाह के लिए बहुत अस्वाभाविक नहीं था, और उस हेतु उसके सामने अनुकूल परिस्थिति भी थी (जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, द्वितीय भाग, पृ० १०३-०४; रैप्सन : कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वॉल्यूम-३, १७६; रियाजू-एस् सलतिन-१०० के आधार पर) । किन्तु १३५४ ई० के पूर्व कामेश्वर का तिरहुत पर शासन प्राप्य साहित्य से सिद्ध नहीं होता है ।

तिरहुत की विजय के पश्चात् इलियस नेपाल पर आक्रमण कर उसकी मुख्य राजधानी काठमाण्डु नगर पहुँचा । वहाँ उसने स्वयम्भूनाथ के पवित्र स्थान एवं शाक्यमुनि स्तूप को जला कर विनष्ट किया (जरनल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, १९३६, पृ० ८९-९१; जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, २, १०४; डी० आर०, रेगमी : एन्शिएण्ट एण्ड मेडिएवेल् नेपाल, १५३-५४) । इलियस शाह का नेपाल पर आक्रमण करने का प्रधान कारण नेपाल के तत्कालीन भूपति हरिसिंह देव का तिरहुत में अपने स्वातन्त्र्य-संग्राम का चालू रखना हो सकता है । परन्तु वह आक्रामक वहाँ नेपाल में

अधिक दिनों तक ठहर नहीं सका। उसने तिरहुत से आगे बढ़कर चम्पारण एवं गोरखपुर पर भी आक्रमण किया। उन स्थानों के नृपतियों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। परन्तु उसका नेपाल का विजय-अभियान हरिसिंह देव के कारण असफल ही रहा।

कहा जाता है कि हाजी इलियस ने तिरहुत को दो भागों में विभाजित किया। बूढ़ी गण्डक नदी दोनों भागों के बीच सीमा मानी गयी। इलियस ने नेपाल-तराई से लेकर बेगूसराय तक के भू-भाग को अपने शासन के अन्दर कर लिया। बूढ़ी गण्डक नदी के किनारे (दरभंगा जिले में) उसने शमसुद्दीनपुर नामक एक नया नगर बसाया, जो समस्तीपुर के नाम से विख्यात है, और सम्प्रति दरभंगा जिले का एक अनुमण्डल है। अपने नाम पर हाजीपुर नामक नगर उसने गंगा और गंडक (नारायणी) के संगम पर बसाया, जो बहुत दिनों तक बंगाल के राजाओं के शासकों का मुख्य निवासस्थान बना रहा (मुजफ्फरपुर जिला गजेटियर-२०; रहमानी : आर्टिकल ऑन मिथिला, १६ फरवरी, १९५३ ई० (दरभंगा) पृ० ६: अन्नल्स-३५, १२०)।

हाजी इलियस की राज्य विस्तार-नीति एवं उसकी राजनीतिक सफलताओं ने दिल्ली के सम्राट् फिरोज शाह तुगलक की आँखें खोल दीं। वह अब उसे सशंक दृष्टि से देखने लगा, तथा आरम्भ में ही विष-बीज के अंकुर को उखाड़ फेंकने एवं आशंका के मूल को नष्ट करने तथा अपराधी को दण्ड देने के विचार से वह राजधानी त्याग कर ससैन्य बंगाल की ओर अग्रसर हुआ। अवध से कोशी नदी तक के भू-भाग को इलियस शाह ने रौंद कर उसे अपने अधीन कर लिया था। ये प्रदेश बंगाल राज्य एवं दिल्ली साम्राज्य की सीमा पर स्थित थे। ऐसे महत्त्वपूर्ण भू-भाग को अपने अधिकार में कर लेना दिल्ली-सम्राट् के लिए राजनीतिक दृष्टि से अत्यावश्यक था।

पूर्व में अंकित किया जा चुका है कि फिरोज तुगलक ने बंगाल पर सौआल, ७५४ हि० सं० (१३५४ ई०) में चढ़ाई की थी। मार्ग में उसने गोरखपुर, करुष (चम्पारण), तथा तिरहुत के भूपतियों को अधीन बनाया। उन सबों ने सम्राट् के सम्मुख भेंट उपस्थित कर उसका प्रभुत्व स्वीकार किया। सरयू नदी के कोशी नदी तक की भूमि के शासन की व्यवस्था भी बादशाह ने की। फिरोज शाह को अपनी ओर अग्रसर होते देख हाजी इलियस ने तिरहुत में प्रवेश किया, और वहाँ पंडुआ पहुँच कर वह एकडाला चला गया। बादशाह ने उसका पीछा किया, और वह अन्ततोगत्वा दिल्ली-सम्राट् के साथ समर में बुरी तरह पराजित हुआ। फिरोज शाह ने उपर्युक्त कार्य करके अतिशीघ्रता से अरबी महीना शावान, ७५५ हि० सं० (१३५५ ई०) में दिल्ली के लिए प्रस्थान किया (रियाजू-एस्-सलतिन-९१-१०५; ब्रिग्स, १, ४४८-५१; जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग-२, १०५; श्याम नारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ८५-८६; मुजफ्फरपुर जिला गजेटियर-२०; अलबदोनी-१, पृ० ३०९, ३१७, ३२४; जरनल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, ४०, (२) ११, १००)।

फिरोज तुगलक ने हाजी इलियस द्वारा विभाजित तिरहुत के दोनों भागों को मिला कर पुनः एक किया। कामेश्वर ठाकुर के स्थान पर उसके कनिष्ठ पुत्र भोगीश्वर को तिरहुत का राजा बनाया, जिसकी विशेष विवेचना पूर्व में की जा चुकी है। वरनी ने कामेश्वर की फिरोज शाह से भेंट की चर्चा अपनी पुस्तक में की है, पर उसके राज्यच्युत होने का उल्लेख उसमें नहीं है। पर इसका उल्लेख अवश्य मिलता है कि फिरोज शाह ने दिल्ली प्रत्यागमन के पूर्व वहाँ काजी एवं राजस्व-समाहर्त्ता की नियुक्ति की थी (मुजफ्फरपुर जिला गजेटियर-२०; रियाजू-एस्-सलतिन-१००; तारीख-ए-फिरोज शाही, परशियन टेक्स्ट, ५८६)।

बादशाह फिरोज शाह तुगलक ने एक पिता से राज्य लेकर उसे उसके पुत्र को प्रदान किया। इससे पता चलता है कि उसका विश्वास कामेश्वर ठाकुर में नहीं रह गया था, अथवा उसने उसे शासन करने के योग्य नहीं समझा था। उस समय से तिरहुत पूर्णतया दिल्ली का अधीन राज्य बन गया। कामेश्वर-कुल के शासकों ने १३५४ से १५२६ ई० तक शासन किया। बादशाह को वार्षिक कर जब तक वे नियमानुसार प्रति वर्ष समय पर देते रहे, तब तक उनके आन्तरिक शासन कार्यों में केन्द्र सरकार ने कभी हस्तक्षेप नहीं किया। राजस्व एवं उपहार भेजने के अतिरिक्त अन्य राज्य-शासन-कार्य में तिरहुत के हिन्दू राजागण सर्वथा स्वतंत्र थे। परन्तु ये अधिकार उन्हें तभी तक प्राप्त थे, जब तक उनके सर्व-शक्तिमान अधिराट् दिल्ली के मुसलमान बादशाह उनसे सन्तुष्ट थे। उनका बिगड़ना और बनना सम्राट् के भृकुटि-विलास पर निर्भर करता था (मुजफ्फरपुर जिला गजेटियर-१९; मजूमदार : विद्यापति-३५)।

तिरहुत के उत्तरीय भाग में हिन्दू राजागण राज करते थे। उसका दक्षिणी अंश मुसलमान शासकों के अधीन था। बंगाल-सरकार के मुसलमान शासकों का मुख्याधिष्ठान हाजीपुर में था। हाजी इलियस ने उस नगर की सुदृढ़ किलाबन्दी कर उसे सुरक्षित बनाया था। अलबदौनी का कहना है कि हिन्दुओं ने तिरहुत के बहुसंख्यक दुर्गों को नष्ट कर दिया था। हाजी इलियस ने वहाँ अनेक किले बनवाकर उस क्षति की पूर्त्ति की थी (मुन्तखाव-त्-ए-तवारीख, भाग-१, ३४८-४९, १८९८ संस्करण)। इस प्रकार नगर एवं अंचल को किलाबन्दी से सुरक्षित कर हाजी इलियस ने अपने सम्राट् के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया था। किन्तु अन्त में वह पराजित हुआ, और उसकी बढ़ती शक्ति सम्राट् के शौर्य से टक्कर खा कर शून्य में विलीन हो गयी (रियाजू-एस्-सलतिन, ९८-१०३)। परन्तु उत्तर तिरहुत की अपेक्षा आज भी दक्षिण तिरहुत में मुसलमानी अस्तित्व एवं प्रभुत्व के अनेक चिन्ह अधिक दृष्टिगत होते हैं; क्योंकि वहाँ उनके अधिकार के प्रभाव की जड़ बहुत गहराई में प्रवेश कर जम चुकी थी।

फिरोज तुगलक के शासन के अन्तिम दिनों में पुनः विघटनकारी शक्तियों का साम्राज्य में उदय हुआ। अनेक राजा-रईसों ने उस अवस्था से लाभ उठाना आरम्भ कर दिया। उस अराजकता एवं शासन-यन्त्र की शिथिलता से लाभान्वित होकर पारिवारिक कलह एवं षड्यन्त्रों से दुर्बल तत्कालीन तिरहुत-नरेश गणेश अथवा गणेश्वर (भोगीश्वर के

पुत्र, उत्तराधिकारी) को किसी असलान नामक मुसलमान सरदार ने मार डाला, जिसकी विवेचना पूर्व में की जा चुकी है। यह घटना लक्ष्मण सम्वत् २५२ (१३७१-७२ ई०) की है। उस काल में तुगलक-साम्राज्य की सीमाओं की सुरक्षा के लिए उन्हें साम्राज्य के शुभ-चिन्तक बड़े-बड़े अमीरों की देख-रेख में रख दी गयी थीं। बिहार (दक्षिण बिहार) की जागीर मलिक वीर अफगान को दी गयी थी (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, न्यू सीरीज, २६, २६२-६३; जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी, ४०, १०३; इल्लियट-४, १३)। बहुत संभव है, उसने भी अपने अधिकार का प्रभाव तत्कालीन राजनीतिक अवस्था से लाभ उठाकर तिरहुत पर फैला देने में सफलता प्राप्त कर ली हो, पर गणेश्वर का हन्ता असलान कौन था, इसका पता अब तक नहीं है, और उसके विषय में निर्णय भी नहीं हो पाया है (कीर्त्तिलता, पल्लव-२; मित्र-मजूमदार : विद्यापति, ३०; जरनल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी ४०, १०२-०३; विद्यालंकार : इतिहास-प्रवेश, ३२६)।

पूर्व में शर्की-कुल के उदय का संक्षिप्त इतिहास दिया गया है। उस कुल का भी प्रभुत्व तिरहुत पर हुआ, यह इतिहास बताता है। उस राजवंश के अभ्युदय-काल में कई दशकों तक दिल्ली के सम्राट् का स्थान शर्की सुलतानों ने ले लिया था, जिसकी चर्चा इसी अध्याय में जौनपुर के शर्की राजकुल के परिचय के प्रसंग में अन्यत्र की गयी है। दिल्ली के लोदी-वंश तथा शर्की-कुल के सुलतानों के बीच संघर्ष १४७९ ई० तक चालू रहा। अन्त में दिल्ली के साथ युद्ध में जौनपुर के शर्की राजकुल का पराभव हुआ, और दिल्ली की प्रभुसत्ता पुनः तिरहुत पर स्थापित हो गयी।

चौदहवीं शती का अन्तिम दशक एवं पन्द्रहवीं शताब्दी का आरम्भ तिरहुत के इतिहास का कष्टकर युग कहा जाता है। उस काल में अनेक मुसलमान आक्रामकों ने उस पावन भूमि को बड़ी क्रूरता के साथ लूटा। देश में अराजकता एवं अनुशासनहीनता का साम्राज्य फैल गया। शर्की-कुल के संस्थापक ख्वाजा जहाँ के तिरहुत में बढ़ते हुए प्रभाव से मिथिलापति गणेश्वर-तनय वीर सिंह एवं कीर्त्ति सिंह भयभीत हो गये। इसका वर्णन किया जा चुका है कि राजभवन के षड्यन्त्र एवं किसी विश्वासघातक सरदार असलान के द्वारा राजा गणेश्वर की हत्या की गयी थी। गणेश्वर के राजकुमारों के ऊपर आकस्मिक आपत्ति उपस्थित हुई थी। बंगाल के शासक से त्राण की आशा न रहने पर दिल्ली की ओर उन्होंने दृष्टि फेरी। दिल्ली की ओर से भी निराश होने पर मिथिलेश-कुमार द्वय ने जौनपुर के उदीयमान शर्की सुलतान इब्राहिम शाह की शरण लेकर आपत्ति से त्राण करने की प्रार्थना उससे की। उसपर सम्भवतः १४०२ ई० में वह तिरहुत पहुँचा, और असलान को मार कर कीर्त्ति सिंह को उसने तिरहुत के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। शर्की-कुल का प्रभाव मिथिला पर इन्हीं कारणें से आरम्भ हुआ जो १४६० ई० तक लगातार बना रहा। वैसे तो दिल्ली के अन्तिम रूप से जौनपुर के शर्की-कुल का पराभव १४७९ ई० में किया, और तिरहुत पर पुनः अपनी प्रभुसत्ता स्थापित कर ली।

पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रथम एवं द्वितीय चरण भारत के इतिहास में राजनीतिक हलचल का काल माना जाता है। बंगाल की राजनीतिक स्थिति अस्थिर एवं डँवाडोल हो रही थी। चौदहवीं शती के तृतीय चरण में तैमूर के भारत आक्रमण ने तुगलक-कुल की राजसत्ता की जड़ ढीली कर दी थी। उसके गृह-प्रत्यागमन से दिल्ली ने थोड़ा दम लेना आरम्भ ही किया था कि उसकी लड़ाई जौनपुर के शर्की सुलतान से आरम्भ हो गयी, जो पन्द्रहवीं शती के आरम्भ से चलकर १४१६ ई० तक चालू रही। ऐसा हलचल का युग किसी भी साहसी एवं महत्त्वाकांक्षी को अपनी महत्त्वाकांक्षा की सिद्धि के हेतु लुब्ध और आकृष्ट कर सकता था।

मिथिला का तत्कालीन अधीश्वर शिवसिंह महत्त्वाकांक्षी युवक था। मातृभूमि को विधर्मियों एवं विदेशियों से स्वतन्त्र कर लेना उसका आरम्भ से ही ध्येय था। परिस्थिति से लाभ उठाकर उसने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी, और अपने नाम के सोने के सिक्के भी चलाये। उस काल बंगाल में सईफुद्दीन हमजा शाह, शिहाबुद्दीन बयाजिद शाह, अलाउद्दीन फिरोज शाह और राजा गणेश, उपनाम दनुज-मर्दन देव स्थान-स्थान पर राज कर रहे थे। ये सब ही शिवसिंह देव के समसामयिक नृपति थे। यह कहा जाता है कि शिवसिंह देव ने एक मुसलमान राजा को युद्ध कर पराजित किया था, पर उसके नाम का पता इतिहास नहीं देता है।

राजा शिवसिंह देव के उक्त कार्य ने जौनपुर के शर्की सुलतान इब्राहिम शाह के क्रोधानल को प्रज्वलित कर दिया। वह स्वयं तो आया नहीं, पर उसके प्रतिनिधि, जिसको उसने बंगाल के विद्रोह का शमन करने के हेतु भारी सेना के साथ भेजा था, लौटते समय शिवसिंह पर आक्रमण कर उसे पराजित कर दिया। उसकी मृत्यु से उत्तर-पूर्व भारत ने एक महान् स्वतन्त्रता-प्रेमी भूपति को खो दिया। उसे तिरहुत का ही नहीं, वरन् माता स्वतन्त्रता की बलि-वेदी पर अपने को साहस के साथ बलिदान कर देने वाला उस युग के भारत का अन्तिम महान् योद्धा कहने में अत्युक्ति नहीं होगी। तिरहुत उस काल से लेकर लोदी-वंश के उदय तक जौनपुर के शर्की सुलतानों के अधीन बना रहा (गुलाम हुसेन सलीम : रियाजू-एस्-सलतिन, ११४; थॉमस : क्रौनिकल ऑफ दि पठान किंग्स ऑफ देल्ही, ३६५)।

बहलोल लोदी ने १४७९ ई० में शर्की सुलतान को पराजित कर दिया था, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी सिकन्दर लोदी के शासनकाल में शर्की-लोदी युद्ध ने अति विकराल रूप धारण किया। पटना के निकट के युद्ध में सिकन्दर लोदी ने शर्की-सुलतान हुसेन शाह को पूर्णरूप से परास्त कर उसे बंगाल की ओर भागने तथा वहाँ शरण लेने को बाध्य किया। उसने जौनपुर के साम्राज्य को लोदी-साम्राज्य् के अन्तर्गत कर लिया, जो उस समय बिहार तक फला हुआ था। अब दिल्ली का सीधा अधिकार पटना, तिरहुत, सारण, तथा चम्पारण पर हो गया। शेख रजकुल्ला मुश्तकी ने अपनी पुस्तक 'वाकियात-ए-मुश्तकी' में चम्पारण को तिरहुत का एक भाग बताया है। यह वर्णन सिकन्दर लोदी (१४८९-१५१७ ई०) के शासनकाल का

है। मियाँ हुसेन फरमूली उस समय सारण और चम्पारण का जागीदार था, जिसने हिन्दुओं के कम से कम २०,००० ग्राम अपने अधीन कर लिये थे। फरमूली के नेतृत्व में अफगानों ने चम्पारण के राजा पर आक्रमण किया। उसने उस राज्य को विनष्ट कर दिया तथा जनपद को निर्मम बन कर लूटा। वहाँ से उसने अपरिमित सम्पत्ति प्राप्त की (इल्लियट-४, ५४६-४७; चम्पारण जिला गजेटियर-२४; श्यामनारायणसिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ८९)।

लोदी-साम्राज्य का विस्तार बंगाल के द्वार तक हो जाना उस (बंगाल) के लिए निरापद न था। अतः बंगाल सशंक हो उठा। सिकन्दर लोदी का आधिपत्य ऐसे स्थानों पर हो गया था, जहाँ से उसका आक्रमण बंगाल एवं उसके निकटवर्त्ती प्रान्तों पर आसानी से हो सकता था। बंगाल राज्य की सुरक्षा में बाधा का भय उपस्थित हो चुका था (जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, द्वितीय भाग, १४५)। इन्हीं कारणों से बंगाल के तत्कालीन भूपति अलाउद्दीन हुसेन (१४९३-१५९९ ई०) ने हुसेन शाह शर्की सुलतान का कहलगाँव (भागलपुर जिले का कौलगौंग) के निकट सादर स्वागत किया (रियाजू-एस्-सलतिन, १३५)। सिकन्दर लोदी भी स्थिति का अनुभव कर १४९५ ई० में तुगलकपुर (तिरहुत, जिसकी राजधानी दरभंगा में थी) पहुँचा, और वहाँ उसने आक्रमण की तैयारी आरम्भ कर दी। तुगलकपुर बंगाल की सीमा के निकट था।

बंगाल-भूप अल्लाउद्दीन हुसेन ने अपने पुत्र दनियाल के अधीन एक सेना बादशाह की वाहिनी का सामना करने तथा उसके प्रतिरोध के हेतु भेजी। मुंगेर जिले के बाढ़ नगर के निकट दोनों सेनाएँ आमने-सामने युद्ध के लिए सन्नद्ध खड़ी हुई। सिकन्दर लोदी के आदेश से दोनों के बीच अनाक्रामक सन्धि हुई। दनियाल ने सिकन्दर के शत्रु को शरण न देने के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, परन्तु सिकन्दर लोदी के वहाँ से लौट जाने के पश्चात् की वस्तु-स्थिति से पता चलता है कि वास्तव में सन्धि की शर्त्तों का यथावत् पालन बंगालभूप ने नहीं किया। शर्की सुलतान हुसेन शाह उस सन्धि के पश्चात् भी कहलगाँव में ही रहा, जहाँ उसकी स्वाभाविक मृत्यु समय पर हुई (हिस्ट्री ऑफ बंगाल, १४५-४६; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, ३, २७१; जरनल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, २८, २९०-९५)। सन्धि के पश्चात् बंगाल-राज्य एवं दिल्ली के बीच क्या सीमा निर्धारित हुई, इसका उल्लेख नहीं है। सिकन्दर लोदी ने तुगलकपुर तथा उसके आस-पास के भू-भाग आजम हुमायूँ को दिया। दरिया खाँ लोहानी का अधिकार बिहार पर हुआ। वह उसका 'इक्ता' बना (बदाओनी, १, ३१९)। मुंगेर और बिहार के शिला-लेखों से पता चलता है कि हुसेन का आधिपत्य दक्षिण बिहार के पटना के चतुर्दिक् केवल कई मीलों तक में सीमित था, पर शीघ्र ही उसका राज्य सारे उत्तर बिहार में फैल गया। उसके सारण-अभिलेख से इसका पता चलता है (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १८७४, पृ० ३०४)। उसके पश्चात् के (हि० सं० ९०९ के) एक वहीं के अभिलेख में हुसेन का नाम अंकित पाया गया है। इससे सिद्ध होता है कि उसका आधिपत्य उधर के अंचल पर उस काल अक्षुण्ण था। ऐसा होना दो बातों पर निर्भर करता है। पहली बात यह कि या तो यह स्थिति सन्धि की शर्तों के अनुकूल हुई होगी, अथवा इसमें शंका होने पर दूसरी बात की ओर ध्यान जायगा ही, और उस अवस्था में यह

अनुमान करना होगा कि सिकन्दर लोदी के सन्धि करने के बाद दिल्ली लौटने पर सैनिक शक्ति का प्रयोग कर हुसेन ने अपने राज्य का विस्तार किया था (हिस्ट्री ऑफ बंगाल, २, १४६; रियाजू-एस्-सलतिन, गुलाम हुसेन, ५९, १९४; तारीख फिरोजशाही ४५१, ५८६; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, ३,२५५)।

उपर्युक्त सन्धि-वार्ता में यह भी तय पाया था कि सिकन्दर लोदी का अधिकार बिहार, तिरहुत एवं सारण-सरकार पर बना रहेगा। इसके बदले में वह बंगाल पर आक्रमण नहीं करेगा। उसके पश्चात् सिकन्दर लोदी तिरहुत की ओर मुड़ा। उस काल तिरहुत में सम्भवतः रामभद्र सिंह देव, उपनाम रूपनारायण का शासन था। सम्राट् की सेना का सामना करना उसके लिए असम्भव था। उसने कई लाख रुपये दण्ड-स्वरूप सम्राट् के सम्मुख उपस्थित कर उसकी कृपा प्राप्त की। तिरहुत में १४९५ ई० में रामभद्र सिंह का शासन था। 'गंगा कृत्य विवेक' का प्रणयन उसके शासनकाल में हुआ था (चम्पारण जिला गजेटियर २३; मुन्तखावत-ए-तवारीख, अल बदौनी प्रणीत एवं रैकिंग द्वारा अनूदित १८९८ संस्करण, भाग-१,४१५-१७; डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ४१६)।

परन्तु उपर्युक्त सन्धि जो बंगाल-नरेश एवं दिल्ली सम्राट् के बीच हुई थी, वह चिरस्थायी न रह सकी। इस तथ्य का दिग्दर्शन ऊपर किया जा चुका है। अल्लाउद्दीन हुसेन शाह के पुत्र नसरत शाह (१५१९-१५३२ ई०) ने दिल्ली-साम्राज्य के विद्रोही लोहानी सरदारों के साथ मित्रता कर ली। बिहार में १५२२ ई० में लोहानी राज्य की स्थापना हो चुकी थी। मियाँ हुसेन फरमूली, सारण एवं चम्पारण के जागीरदार, के अनुयायी भी इस गुट में सम्मिलित थे। लोदी-साम्राज्य उस काल पतनोन्मुख था। उसकी नसें ढीली पड़ चुकी थी। लोहानियों और फरमुलियों का अधिकार जौनपुर से पटना तक के प्रदेशों पर हो चुका था। नसरत शाह के हिस्से में टौन्स नदी के उत्तर के जिले मिले थे। उसने तिरहुत पर आक्रमण कर वहाँ के राजा लक्ष्मीनाथ देव, उपनाम कंसनारायण को मार डाला, और अपने बहनोई अल्लाउद्दीन को वहाँ का शासक बनाया (रियाजू-एस्-सलतिन, १३४; जे० ए० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, द्वितीय भाग, १५३; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, ३, २७२)। उसके राज्य का विस्तार इस प्रकार आजमगढ़ जिले तक हो गया। हिजरी सम्वत् ८१३ का उसका उस जिले के सिकन्दरपुर का उत्कीर्ण अभिलेख इस बात का साक्ष्य दे रहा है (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १८७३, २९६-९७, १८७२, पृ० ३३२)। पश्चात् नसरत शाह ने आगे बढ़ कर हाजीपुर के अचंल पर भी अधिकार कर लिया, और उसे अपने दूसरे बहनोई मखदूम आलम के अधीन किया (रियाजू-एस्-सलतिन, १३६; मुजफ्फरपुर जिला गजेटियर-२१)। इस प्रकार सम्पूर्ण तिरहुत पर नसरत शाह का अधिकार हो गया। उसने १५१९ से १५३२ ई० तक राज्य किया। लक्ष्मीनाथ देव की मृत्यु से पूर्वोत्तर भारत के अन्तिम हिन्दू-राज्य का अस्तित्व का भारतवर्ष के मानचित्र से लोप हो गया।

नसरत शाह की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र महमूद शाह बंगाल की गद्दी पर बैठा। उसके शासनकाल में मखदूम आलम, हाजीपुर के शासक, ने लगभग १५३२ ई० में विद्रोह

कर शाहाबाद जिले के सासाराम के अफगान सरदार उदीयमान शेर खाँ (शेर शाह) का साथ दिया (फेरिश्ता-ब्रिग्स : भाग-१, पृ० ५३७, ५५३, ५५५, ५६०, ५७२; अल बदौनी-रैकिंग का अनुवाद, भाग-१, पृ० ४६९-७०)। शेरशाह उस काल में अपने राज्य-स्थापना के हेतु सयत्न एवं संलग्न था। उसी समय के लगभग मुगलों के बाबर के नेतृत्व में १५२६ ई० के आक्रमण ने लोदी-कुल की राजसत्ता को पानीपत के प्रथम युद्ध में विनष्ट कर दिया, और बाबर दिल्ली के सिंहासन पर आसीन हुआ। इसी बीच सूर वंशीय फरीद खाँ, जिसका नाम पीछे चल कर शेर खाँ, और फिर शेरशाह पड़ा, ने बिहार के शासक वहार खाँ के पुत्र जलाल खाँ के शासनकाल में उसके तथा बंगाल के राजा के सम्मिलित सैन्य-दल को पराभूत किया, और स्वयं बिहार का स्वतन्त्र शासक बन बैठा। परन्तु इसके पश्चात् उसने शीघ्र ही बाबर की अधीनता स्वीकार कर ली।

मुगलों के भारत में अभ्युदय से सशंक होकर अफगानों, पठानों एवं लोहानियों का उनके (मुगलों के) विरुद्ध सम्मिलित संघ बना था। किन्तु शेर खाँ के उस कृत्य ने संघ की जड़ को हिला दिया। नसरत शाह के जीवन-काल में आरम्भ की गयी उसकी नीति पूर्णतया असफल हो गयी, एवं संघ की शक्ति विशृंखल हुई।

हाजीपुर के शासक मखदूम ने नसरत शाह के उत्तराधिकारी गियासुद्दीन महमूद के राज्याभिषेक का विरोध कर बंगाल के सिंहासन पर अपने पुत्र अल्लाउद्दीन फिरोज (१५३२-३३ ई०) को बैठाया था। ('हिस्ट्री ऑफ मिथिला' के विद्वान् लेखक डा० उपेन्द्र ठाकुर ने अपने ग्रन्थ के पृ०४१७ की पंक्तिं ६ में महमूद शाह को नसरत शाह का पुत्र लिखा है और उसी पृष्ठ की अन्तिम कंडिका की प्रथम एवं द्वितीय पंक्तियों में गियासुद्दीन महमूद को उसका अनुज अंकित किया है। दोनों में रक्त-सम्बन्ध जो हो, पर महमूद नसरत का उत्तराधिकारी था। गियासुद्दीन महमूद (१५३३-३८ ई०) ने मुंगेर के शासक कुतुब खाँ को बिहार-विजय के हेतु भेजा (रियाजू एस्-सलतिन, १४०; जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, द्वितीय भाग, १६०)। मखदूम ने शेर खाँ से मित्रता कर विद्रोह की तैयारी की। किन्तु युद्ध में मखदूम शाह की हार हुई और वह समर में मारा गया। परिणामतः जलाल ने अपने सहायकों के साथ बंगाल पर आक्रमण करने के बहाने से सीमा पार कर महमूद की अधीनता स्वीकार कर ली।

महमूद ने अब शेर खाँ को पराभूत करने का विचार किया। उसने १५३४ ई० में इब्राहिम खाँ के सेनापतित्व में उसके विरुद्ध शक्तिशाली सैनिक अभियान किया। उसने मुंगेर से लोहानी-भूप के साथ प्रस्थान किया। एक महीने के पश्चात् शेर खाँ ने सामने उपस्थित होकर बाढ़ से पूरब थोड़ी दूरी पर सूरजगढ़ के मैदान में उसका सामना किया। इब्राहिम का रण-निधन हुआ, और जलाल को रण-क्षेत्र त्यांग कर पलायन करने के हेतु बाध्य होना पड़ा। इस समर-विजय ने शेर खाँ की ख्याति एवं सामरिक शक्ति, दोनों की वृद्धि की।

मुगल-कुल के प्रथम बादशाह बाबर ने १५२६ से १५३० ई० तक दिल्ली के सिंहासन से शासन किया। तिरहुत उस काल उसके साम्राज्य का एक प्रदेश था, जिससे वार्षिक आय (खिरमताना) के रूप में उसे २,५०,००० टंकाह नुकराह (रजत मुद्रा) तथा

२७,५०,००० टंकाह स्याह (काला), अर्थात् दोनों मिला कर ५,२५,००० रजत-मुद्राएँ प्रति वर्ष प्राप्त होती थीं (विलियम एर्सकिन : हिस्ट्री ऑफ इण्डिया अण्डर बाबर एण्ड हुमायूँ, भाग-१, पृ० ५४०; लीडेन : मेमोरीज ऑफ बाबर-३३४; जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९१५, न्यू सीरीज, पृ० ४३१)। तिरहुत के अतिरिक्त चम्पारण का भी अलग नाम उसके साम्राज्य के प्रदेशों में अंकित पाया जाता है (इलियट : तुजुक-ए-बाबरी, भाग-४, पृ० २१२) ।

बिहार के अवयस्क लोहानी वंशीय शासक जलाल का अभिभावक एवं शिक्षक शेर खाँ शनैः-शनैः अपने प्रभाव का विस्तार कर अन्त में १५३४ ई० में वहाँ का राजा बन गया (जरनल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, ७, ४५-४७; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग-४, पृ० ४५-४६) । उसने १५३९ ई० में शाहाबाद जिले के चौसा नामक स्थान के युद्ध में दिल्ली के मुगल बादशाह हुमायूँ को पराभूत किया । उस विजय से उसका अधिकार बंगाल पर भी हो गया । पश्चात् बिलग्राम के समर की विजय ने उसे दिल्ली के सिंहासन का स्वामी बना दिया । उसने १५४० से १५४५ ई० तक राज किया । तिरहुत की सरकार उसके साम्राज्य के अनेक सरकारों (राजस्व वसूल करने के हेतु निर्माण किये गये जिलों) में से एक थी । शेर खाँ ने 'शेर शाह' का विरुद धारण कर दिल्ली के सिंहासन से ५ वर्षों तक शासन किया ।

शेरशाह के पश्चात् उसका पुत्र इस्लाम शाह (सलीम शाह) दिल्ली की गद्दी पर बैठा । उसने १५३५ से १५५३ ई० तक राज किया । उसके शासनकाल में मुहम्मद खाँ सूर बंगाल एवं उत्तर बिहार का शासक था (रियाजू एस्-सलतिन, १४८) । इस्लाम शाह की मृत्यु के पश्चात् अफगान-साम्राज्य का विघटन आरम्भ हो गया । सर्वप्रथम बंगाल उससे पृथक् हो गया (जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग-२, पृ० १७९)। इस्लाम के पुत्र फिरोज को शेर शाह के भतीजा मुबारिज खाँ ने मार डाला । मुबारिज ने अब मुहम्मद शाह आदिल की उपाधि धारण कर दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार किया। यह आदिल शाह संघर्षशील अफगान सरदारों को अपने वश में नहीं रख सका । वे सब आपस में ही लड़ने लगे । गृह-युद्ध में उन सबों में से अनेक मारे गये । शेष भाग कर अपने-अपने प्रान्त में चले गये, और वहाँ पहुँच कर उन सबों ने खुल्लम-खुल्ला विद्रोह कर दिया ।

बंगाल का सम्राट्-प्रतिनिधि शासक १५५३ ई० में उसी सूर-वंश का मुहम्मद खाँ था। उसने शमसुद्दीन मुहम्मद शाह गाजी का विरुद धारण कर अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी । वह जौनपुर पर अधिकार कर आगरा की ओर बढ़ा, परन्तु मार्ग में आदिल शाह के हिन्दू सेनापति हेमू के द्वारा १५५५ ई० में मारा गया । इस घटना के पश्चात् १५५६ ई० में समसुद्दीन के पुत्र खिजिर खाँ ने गियासुद्दीन बहादुर शाह का विरुद धारण कर प्रयाग (इलाहाबाद) के परे झूसी में अपना राज्याभिषेक कराया । उसने बंगाल एवं उत्तर बिहार पर लगभग ७ वर्षों तक शासन किया (रयाजू-एस्-सलतिन, १४८) । तिरहुत पर उसका शासन उस अवधि में अक्षुण्ण रहा ।

इसी बीच हुमायूँ ने अफगान सुलतान सिकन्दर सूर से पंजाब एवं दिल्ली का उद्धार किया। हुमायूँ की मृत्यु १५५६ ई० में हुई। इसके बाद उसका पुत्र अकबर दिल्ली का सम्राट् हुआ। उसने आदिल शाह के सेनापति हेमू को उसी साल पानीपत के मैदान में परास्त कर एवं मार कर सूर-साम्राज्य का नाम मिटा दिया। बंगाल के सुलतान गियासुद्दीन बहादुर शाह ने १५५७ ई० में मुंगेर जिले के सूरजगढ़ से ४ मील पश्चिम फतहपुर गाँव में आदिल शाह को पराजित कर मार डाला (रियाजू-एस्-सलतिन, १४८)। पश्चात् उस बहादुर शाह को भी मुगल-सेनापति खाँ-ई-जहाँ ने रण-पराभूत कर उसके राज्य को लूटा। इसके बाद उसका भ्राता जलाल शाह उपनाम गियासुद्दीन द्वितीय बंगाल और बिहार की गद्दी पर १५६० ई० में बैठा, तथा उसने बिहार के अंग तिरहुत पर भी शासन किया।

गियासुद्दीन द्वितीय ने मुगल-सम्राट् से मित्रता का सम्बन्ध स्थापित किया, तथा उसे चालू रंखा किन्तु कुर्रानी-कुल के बंगाल और बिहार में शक्ति-संचय एवं कुत्सित व्यवहार से उसे जीवन भर सुख-शान्ति और चैन न रहा। उसकी मृत्यु १५६३ ई० में हुई। उसके बाद उसके सिंहासन पर उसका पुत्र बैठा, किन्तु गियासुद्दीन तृतीय के द्वारा तुरन्त उसकी मृत्यु हुई। इस गियासुद्दीन तृतीय को भी ताज खाँ कुर्रानी ने मार डाला। उसने अब बंगाल और बिहार पर अपना आधिपत्य स्थापित किया (रियाजू-एस्-सलतिन, १४८-५६; जरेंट-अनूदित आइन-ए-अकबरी, २,४७७)। उस समय से कुर्रानी-कुल का प्रभुत्व मिथिला (तिरहुत) पर हुआ।

नव-अफगान सरदारों के बीच चालू सत्यानाशी गृह-कलह एवं संघर्ष से लाभ उठाकर ताज खाँ एवं उसके भाई सुलेमान खाँ कुर्रानी ने पश्चिमी बंगाल और बिहार के दक्षिण-पूर्वी भाग के अधिकांश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। सुलेमान कुर्रानी ने बंगाल और बिहार पर स्वतन्त्र रूप से १५६५ से १५७२ ई० तक शासन किया (रियाजू-एस्-सलतिन, १५२)। बिहार पर उसका शासन तो शेरशाह के काल से ही था। वह बड़ा ही राजनीतिज्ञ था। अकबर से तथा उसके सेनापतियों से उसने कभी छेड़खानी नहीं की। उसने सदा उन सबों के साथ मित्रतापूर्ण पत्राचार किया, एवं उनके पास समय-समय पर बहुमूल्य उपहार भेज कर उनका सौहार्द वह सदा प्राप्त करता रहा (जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, द्वितीय भाग, पृ० १८२)। उसने अपने सिक्के कभी नहीं ढलवाये, और न वह कभी राज्य-सिंहासन पर ही बैठा। उसने सदा बादशाह अकबर को अपना सम्राट घोषित किया। उसकी मृत्यु १५७२ ई० में हुई (रियाजू-एस्-सलतिन, पृ० १५३)।

बंगाल का अन्तिम स्वतन्त्र राजा मुहम्मद शाह था। उसके पश्चात् तिरहुत पर शासन करने हेतु दिल्ली के सम्राट् ने समय-समय पर अनेक शासक नियुक्त किये। उत्तर बिहार दिल्ली साम्राज्य का सीधा एक अंग बन गया था। पर मुगल साम्राज्य की नींव अब तक पूर्ण रूप से सुदृढ़ न हो सकी थी। राज्य में स्थान-स्थान पर असन्तुष्ट अफगान-सरदारों का निवास था। मुगलों की अधीनता स्वीकार कर लेने वाले अफगान भी उनसे जा मिले थे। वे सब नवागन्तुक मुगलों से असन्तुष्ट थे। उनकी भारत में राजनीतिक उन्नति से वे जलते थे। इसी बीच सुलेमान कुर्रानी की मृत्यु हुई। उसके स्थान पर उसका भाई दाऊद

खाँ १५७४ ई० में बंगाल का राजा हुआ। उसकी नीति उसके अपने भ्राता से भिन्न थी। दिल्ली की अधीनता से उसने अपने को मुक्त कर लेने का विचार किया। उसके उस कार्य में सहयोग देने के हेतु बहुत से पठान सरदार सन्नद्ध हो गये।

दाऊद खाँ के शासनकाल में अफगान-प्रधान सेनापति गुजर खाँ ने बायजिद के पुत्र को बिहार का शासक बनाया। दाउद खाँ ने उसके विरुद्ध बंगाल से लोदी खाँ को ससैन्य भेजा। इसी बीच सम्राट् अकबर ने मुगल सेनापति खान-ए-खानान (मुनीम) को बिहार प्रदेश पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए अग्रसर किया। विकट स्थिति में पड़ कर लोदी खाँ और गुजर खाँ ने आपस में मेल कर लिया, और दाऊद की ओर से २,००,००० (दो लाख) रुपये एवं अन्य अनेक बहुमूल्य सामान मुगल-सेनापति मुनीम को भेंट देकर उसे प्रसन्न किया। उन दोनों ने सम्राट् अकबर के प्रति राजभक्ति प्रदर्शित करने की प्रतिज्ञा भी की। उस काल दाऊद खाँ हाजीपुर के दुर्ग में था। वह झगड़ा इस प्रकार उस काल शान्तिपूर्वक तय पाया गया। सन्धि कर लेने के पश्चात् दाऊद खाँ ने पटना में जाकर निवास किया (अलबदोनी, भाग-२, लोवी का अनुवाद, १७६-७८; जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग-२, १८५)।

गुजरात की विजय कर अकबर ने मुनीम खाँ के पास उसकी सैन्य-शक्ति को सुदृढ़ करने हेतु कुमुक भेजी। मुगल सेना स्थल मार्ग से चली, और अकबर ने स्वयं आगरा से प्रस्थान किया तथा गंगा की राह पटना के निकट पहुँच कर वहाँ शिविर डाल दिया। उसने वहाँ से चुने ३०००(तीन सहस्र) घुड़सवारों को नाव द्वारा सामरिक सामानों से पूर्णतया सुसज्जित कर हाजीपुर किले पर अधिकार कर लेने के हेतु भेजा। दाऊद खाँ को हाजीपुर से सहायता मिलती रहती थी। उस स्रोत को समाप्त कर देना ही अकबर का ध्येय था। मुगलों के उस सैन्य-दल का सेनापति खाँ-ए-आजम को बनाया गया था। राजा कचिति (सम्भवत: गजपति) को उसका सहायक नियुक्त किया गया (तवकात-ए-अकबरी, इल्लियट, ५, ३७७)। अकबर स्वयं गंगा के दूसरे किनारे से उस युद्ध को देख रहा था। दाऊद खाँ की अफगान सेना का सेनानी फतह खाँ वरहा था। भीषण रक्तपात के पश्चात् १५७४ ई० में हाजीपुर दुर्ग का पतन हुआ, और उस पर शाही सेना का आधिपत्य स्थापित हो गया। किंचित्-काल पश्चात् हाजीपुर एवं पटना के जमींदार कचिति (सम्भवत: गजपति) ने भी विद्रोह किया, पर उसे पराभूत कर मटियामेट कर दिया गया (अलबदओनी, भाग-२, १८२-८३, २४४-४५; रियाजू-एस्-सलतिन, १५४; हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग-२, पृ० १८५-८६; मुजफ्फरपुर जिला गजेटियर-२१; आइन-ए-अकबरी, ३, १५०-५३, अबुल फजल प्रणीत एवं जरेंट द्वारा अनूदित)। जिन लोगों ने शाही सेना की सहायता हाजीपुर के युद्ध में की थी, उन सबों को हाजीपुर सरकार में जमीन एवं जागीरें मिलीं, और वे सब अपने अनुयायियों के साथ वहाँ बस गये।

विजेता मुगलों ने राजा टोडरमल के नायकत्व में दाउद खाँ का पीछा किया। तुकरोई के रण-क्षेत्र में १५७५ ई० में दोनों सेनाओं के बीच घमासान युद्ध हुआ। मुगलों की विजय हुई, परन्तु उनके बहुसंख्यक पदाधिकारीगण उस समर में काम आये तथा आहत हुए।

दाउद खाँ उस पराभव के पश्चात् बिहार छोड़ कर कटक भाग गया। वहाँ उसने अपनी रक्षा के हेतु किले की शरण ली, और कुछ दिनों तक उसके अन्दर वह छिपा रहा। अन्त में उससे बाहर निकल कर मुगल-सेनपाति खान-ए-खानान के सम्मुख वह प्रणत हुआ। वह बन्दी बना लिया गया, और १५७६ ई० में खान-ए-जहान ने उसे छिन्न मस्तक कर उसकी ऐहिक लीला समाप्त कर दी। दाऊद की मृत्यु के पश्चात् तिरहुत पर मुगलों का अकंटक राज्य हो गया। उनके अधिकार में बाधा देने वाली कोई दूसरी शक्ति अब शेष नहीं रह गयी। इस घटना के पूर्व ही अकबर ने तिरहुत का राज्य खंडवाल कुल के महामनीषि-प्रवर महेश ठाकुर के अलौकिक पाण्डित्य से प्रभावित एवं प्रसन्न होकर उन्हें प्रमाण-पत्र (सनद) द्वारा पारितोषिक में दिया था। सम्राट् के अधीन महेश कुल का शासन मिथिला में मुगल एवं ब्रिटिश-साम्राज्य-काल तक चलता रहा, जिसका अन्त स्वतन्त्र भारत में जमींदारी प्रथा को उठा देने पर बीसवीं शताब्दी के मध्य के लगभग हो गया।

●

एकादश अध्याय

नेपाल-खण्ड

नेपाल की उत्स[1] सम्बन्धी पौराणिक अनुश्रुति तथा विषय-प्रवेश

स्कन्द पुराण में नेपाल विषयक आख्यान प्राप्य हैं । आख्यानों से ज्ञात होता है कि कई हजार वर्ष पूर्व काठमांडु उपत्यका का उद्धार 'ने' नामक एक महर्षि के द्वारा हुआ था। वह उपत्यका कभी 'नागह्रद' नाम से प्रख्यात थी । काठमांडु का स्थान जल-परिप्लुत था। वह भी उल्लेख मिलता है कि नागह्रद में एक बार विपखि नामक प्रथम बुद्ध पधारे थे, और उन्होंने वहाँ उस झील में एक कमल-पुष्प को देखा था । उनके पश्चात् तृतीय बुद्ध विश्वभू ने अपने सहचरों (दल) के साथ पधार कर बहुत दिनों तक वहाँ निवास किया था । 'मंजुश्री' ने उस उपत्यका को मनुष्यों के बसने के योग्य बनाया । उस झील के जल को अपनी अभियन्त्रण-कला से निकाल कर वहाँ की उस जल-परिपूर्ण भूमि को नगर-निर्माण के योग्य उन्होंने बना दिया ।

नेपाल के राजवंश के प्राचीन इतिहास में गोपाल-वंश का महत्त्वपूर्ण उल्लेख है । एक अनुश्रुति 'ने' नामक गौ की भी प्रचलित है । वहाँ 'ने' नाम के एक ऋषि भी निवास करते थे । एक विशेष स्थान पर उस गौ के पधारने पर उसके थनों से दुग्ध-स्राव आरम्भ होता था । ऋषि ने उस स्थान की मिट्टी खुदवायी । उस उत्खनन से 'पशुपतिनाथ' ज्योर्तिलिंग का आविर्भाव जमीन के भीतर से हुआ । ज्योर्तिलिंग के देखते ही गोपाल-वंश का आदि-पुरुष जल कर भस्म हो गया । गोपाल की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र भुक्तमान नेपाल का सर्वप्रथम नरेश हुआ । उस गोपाल-वंश ने ८८ वर्षों तक वहाँ राज किया । उसके बाद अहीर वंश का वहाँ राज्य हुआ । अहीर-कुल के अन्तिम नरेश भुवनसिंह को किरातों ने मारकर सिंहासन पर अधिकार कर लिया । किरात कुल के पश्चात् निमिष-वंश (सोम-वंश), लिच्छविवंश, (सूर्य-वंश), कर्णाट-वंश, वैश्य ठक्कुरी-वंश, मल्ल-वंश, तथा सेन-वंश का प्रादुर्भाव हुआ । सेन-वंशीय राजा दिग्विजय सिंह की पुत्री के पुत्र (दौहित्र) नरभूपाल शाह हुए । यही वर्त्तमान नेपाल-नरेश के पूर्वज प्रथम गोरखा नेपाल-नरेश पृथ्वी नारायण शाह के पिता थे ('आर्यावर्त्त', पटना, दिनांक ६-१२-६४ ई०, रविवार अंक में प्रकाशित लेख के आधार पर)। पृथ्वी नारायण शाह के ही वंशज का शासन अद्यावधि (बीसवीं शताब्दी के तृतीय चरण में) नेपाल में चालू है ।

नेपाल सम्बन्धी ज्ञातव्य बातें

प्राप्य एवं प्रचलित अनुश्रुतियों के आधार पर पूर्व में नेपाल के आदि-इतिहास के सम्बन्ध में किंचित् प्रकाश डाला जा चुका है । यह उत्तरीय नगराज हिमालय के क्रोड़ में स्थित एक गिरि-प्रधान देश है, जिसकी लम्बाई लगभग ५०० मील तथा चौड़ाई अनुमानतः २०० मील है । नेपाल की जनसंख्या, जनश्रुति पर आधारित लगभग १,००,००,००० (एक करोड़) की है । इसमें नेपाल के निवासियों के अतिरिक्त विश्व के अन्य भागों में रहने

१. उद्गम स्रोत ।

वाले प्रवासी नेपाली भी सम्मिलित हैं । जनसंख्या विषयक कोई प्रामाणिक शासकीय प्रतिवेदन लेखक के सम्मुख अब तक नहीं आया है । नेपाल-निवासी शुकराज शास्त्री की पुस्तिका 'शहीद की कलम से' के पृष्ठ १२ के उल्लेखानुसार नेपाल में निवास करनेवाले नेपालियों की जनसंख्या उक्त पुस्तक के लेखलकाल में अनुमानतः ८५,००,००० थी । अनुदिन इसमें वृद्धि होती रहती है । अतः उपर्युक्त जनसंख्या अब लगभग १,००,००,००० (एक करोड़) तक पहुँच गयी होगी । उसके अतिरिक्त देश से बाहर रहने वाले प्रवासी नेपालियों की संख्या होगी ।

नेपाल की राजधानी 'काठमांडू' है । इसका शुद्ध संस्कृत नाम 'काष्ठमण्डप' अथवा 'कान्तिपुर' है । वहाँ अनेक विशुद्ध काष्ठ-निर्मित दर्शनीय एवं अति भव्य विशाल मन्दिर हैं । सम्भवतः इसी कारण से उस नगर का नामकरण आगे चलकर 'काठमांडू' हुआ था । आदि में उसका नाम 'कान्तिपुर' अथवा 'कान्तिपुरी' था, जिसका अर्थ होता है 'सौन्दर्यपुरी' । रमणीय प्रकृति की गोद में बसा हुआ यह राजनिवास अति उच्च गिरि-शृंगों से परिवेष्टित अत्यन्त सुहावना एवं दर्शनीय है । यहाँ के प्राप्य भोज्य पदार्थ चावल, दाल, शाक, फल, मूल, कन्दादि प्रायः अति सुस्वादु एवं सुगन्धिपूर्ण होते हैं । यहाँ के निवासियों का मुख्य भोजन मध्य तिरहुत के निवासियों के मुख्य भोजन के समान चावल है । हाँ, पर्वतीय जन-समुदाय का प्राप्य प्रिय खाद्य मक्का है । आटे का व्यवहार नेपाल में बहुत कम होता है । बड़े घराने के लोग आटे के व्यवहार को निन्द्य मानते हैं । पार्वतीय नेपाली आटे की गिनती अन्न में नहीं करते हैं । उससे व्रत आदि के उपवास-काल में फलाहार करते हैं । यह कम आश्चर्य का विषय नहीं है ।

शिवरात्रि के अतिरिक्त नेपाल में अन्य देशवासियों का आवागमन शासकीय आज्ञा पर निर्भर करता है । शिवरात्रि के दिन नेपाल में भगवान् पशुपतिनाथ महादेव का बृहत् मेला लगता है, जिसमें नेपाल के अतिरिक्त भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों से भी धर्म-प्राण आर्य-सन्तान एवं साधु-सन्त एकत्रित होते हैं । उस काल नेपाल में प्रत्येक व्यक्ति का प्रवेश अबाधगति से होता है । शिवरात्रि के समय 'पासपोर्ट' (राहदानी) की आवश्यकता नहीं होती है ।

रक्सौल होकर नेपाल जाने के लिए सीधा मार्ग है । रक्सौल से एन० जी० आर० रेल-मार्ग के द्वारा यात्रीगण अमलेख गंज जाते हैं । वहाँ रेलवे स्टेशन है । अमलेख गंज पहुँचने के पूर्व वीरगंज स्टेशन पर उतर कर नेपाल के यात्रियों को 'पासपोर्ट' (राहदानी) प्राप्त कर लेना न्याय्य एवं आवश्यक है । यहाँ गाड़ी लगभग एक घंटा ठहरती है । इतने समय में यह कार्य साधारणतया सरलता से पूरा हो जाता है । यदि बिना 'पासपोर्ट' प्राप्त किये कोई व्यक्ति अभिलेख गंज जाना चाहे तो उसे असफल-मनोरथ होकर बीच से ही लौटने के लिए बाध्य होना पड़ सकता है ।

रेलमार्ग के अतिरिक्त नेपाल पहुँचने के हेतु हवाई मार्ग भी है । सिमरा आदि हवाई अड्डा व्योमयानों के उतरने के हेतु हैं । नेपाल का विकास अति द्रुत गति से हो रहा है । नयी-नयी सड़कें तथा व्योमयानों के मार्ग आये दिन खुल रहे हैं । पटना, सिमरा, भैरवा, विराटनगर आदि स्थानों से व्योमयानों के द्वारा लगभग ५०-६० (पचास-साठ) रुपये व्यय

करने पर यात्रीं काठमांडू पहुँच जाते हैं । सम्प्रति त्रिभुवन राजपथ से मोटर द्वारा भी लोग काठमांडू आते जाते हैं । जनकपुर होकर भी काठमांडू जाने के हेतु सीधी सड़क का निर्माण प्रगति पर है । इस निर्माण के पूरा हो जाने पर काठमाण्डू की यात्रा यात्रीगण केवल कई घण्टे में पूरा कर सकेंगे । नेपाल की यात्रा उसके द्वारा बहुत सहज हो जायगी, और लोग बिना अधिक परिश्रम के वहाँ शीघ्र पहुँच सकेंगे ।

पैदल यात्रियों को अमलेख गंज स्टेशन पर उतर कर वहाँ से मोटर में सवार होकर अथवा पैदल भीमफेरी नामक स्थान की यात्रा करनी चाहिए । यह स्थान वीरगंज से लगभग २२ कोस की दूरी पर स्थित है । भीमफेरी से पैदल, तामदान, खटोली अथवा डोकी में बैठ कर लोग प्राय: नेषाल की यात्रा करते पाये जाते हैं । यह डोकी नेपाल में खास ढंग से बनायी जाती है । उसका आकार छकड़े के रूप का होता है, पर वह बहुत हल्की और ऊँची होती है । उसपर एक व्यक्ति को बैठा कर केवल एक कुली उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है । कुछ दिन पूर्व तक एक डोकी का किराया भीमफेरी से काठमांडू तक केवल १० (दश) रुपये मात्र था । स्त्रियाँ एवं रुग्णजन डोलियों में बैठकर यात्रा करते दृष्टिगत होते हैं । एक डोली का किराया पूर्व में लगभग २४-२५ रुपये लगता था । परन्तु अब तो महँगी देशव्यापी हो गयी है । अत: उसी अनुपात में उसका बढ़ना स्वाभाविक है ।

भीमफेरी से लगभग ५ कोस तक पर्वतों का आरोह एवं अवरोह है । चढ़ाई-उतराई के करण नेपाल जाने के हेतु यह महा कष्टदायक मार्ग है । भीमफेरी से प्राय: ४ घण्टे तक पहाड़ी यात्रा करने के पश्चात् गढ़ी नामक एक विशेष पार्वत्य स्थान मिलता है, जहाँ शासकीय तोपखाना है, तथा सेना का निवास-केन्द्र भी है । यहाँ पर नेपाल-सरकार का खास पहरा रहता है । सड़क पर अहर्निश बन्दूकधारी सैनिक सतर्क होकर विचरते रहते हैं । बड़े-बड़े राज्य-कर्मचारियों एवं पदाधिकारियों के उस मार्ग से आने-जाने पर उन्हें वहाँ पर तोपों की सलामी दी जाती है । वहाँ पर सभी यात्रियों की तथा उनके सामानों की जाँच होती है । वीरगंज से प्राप्त 'पासपोर्ट' वहीं ले लिया जाता है । साथ के नये माल पर चुंगी ली जाती है । केवल व्यापार के माल पर ही नहीं, निजी व्यवहार की वस्तुओं पर भी यहाँ चुंगी लगती है । गढ़ी को पार कर लेने पर नेपाल-प्रवेश सुगम हो जाता है । वैसे तो सामान्य रीति से जाँच स्थान-स्थान पर होती रहती है, पर गढ़ी की जाँच महत्त्व रखती है ।

भीमफेरी से लगभग ५ कोस की चढ़ाई-उतराई के पश्चात् थानकोट नामक स्थान मिलता है । मार्ग में केबल दो पर्वतों का आरोह-अवरोह समाप्त करना पड़ता है । एक भीमफेरी का तथा दूसरा चन्द्रगिरि का ये दोनों ही पहाड़ एक से एक भयानक हैं । किन्तु अब मार्ग अपेक्षाकृत सरल एवं सुविधाजनक हो गया है । वहाँ थानकोट में भी आरक्षी-पदाधिकारी का निवास है । उस स्थान पर भी यात्रियों के माल-असवाबों की जाँच होती है । थानकोट से ३ कोस पर नेपाल का राज-नगर है । सड़कें वहाँ की बढ़िया हैं । किराये की मोटर गाड़ियों की वहाँ प्रचुरता है ।

नेपाल के (एक) रुपये के १०० पैसे होते हैं । पूर्व में वहाँ का एक रुपया भारतीय साढ़े बारह आने के बराबर होता था । भारत के एक रुपये के नेपाली १२५ पैसे मिलते थे । इस अनुपात में यदा-कदा घटी-बढ़ी भी होती रहती थी । एक बार भारतीय मुद्रा की दर

नेपाल में घटकर ७०-८० पैसे तक आ गयी थी । इधर भारतीय मुद्रा (रुपये) का अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अवमूल्यन के कारण नेपाल में भी विनियम में अस्थिरता दृष्टिगत होने लगी है ।

नेपाल में चर्खे का प्रचार अधिक है । वहाँ कोई महिला ऐसी न मिलेगी जो चर्खा चलाना और सूत कातना न जानती हो । नेपाल का पहनावा साधारण, पर अपने ढंग में विशेषता रखता है । साधारण घरों से लेकर बड़े-बड़े घरों की स्त्रियाँ भी चर्खा चलाना एवं कपड़ा बुनना जानती हैं । अमीर से गरीब तक के विवाह के समय दायज में अन्य सामग्रियों के साथ चर्खा अनिवार्य रूप से दिया जाता है । राजघराने तथा कतिपय अन्य बड़े-बड़े नागरिकों के अतिरिक्त नेपाली जनता स्वदेशी ढंग से स्वदेशी वस्त्र धारण करती हुई पाई जाती है । पहाड़ी जातियों में चर्खे का चलन नहीं है ।

नेपाल में एक 'नेवा' अथवा 'नेवार' जाति के लोग निवास करते हैं । 'नेपाल' और 'नेवा' वा 'नेवार' तीनों ही के पूर्वाक्षर 'ने' है । 'ने मुनि' के विषय में पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है । तथा 'ने' नामक गौ के विषय में प्रचलित अनुश्रुति का वर्णन किया गया है । 'नेवा' अथवा 'नेवार' जाति का आदि अक्षर 'ने' उसे नेपाल का आदि-निवासी होना बताता है । नेवा जाति एवं गोरखा जाति के आचार-व्यावहार में अन्तर पाया जाता है । दोनों की भाषा एवं लिपि में साम्य नहीं है । नेवा-लिपि हिन्दी से किंचित् भिन्न है । उसका साम्य बंगला एवं मैथिली लिपि से है । गोरखाली भाषा की लिपि देवनागरी और भाषा भी हिन्दी से बहुत मिलती-जुलती है । राज्य-कार्य में देवनागरी अक्षरों का ही व्यवहार होता है ।

नेपाल में एक बृहत् राजकीय पुस्तकालय है, जिसमें प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकें चिरकाल से संचित एवं संरक्षित है । अनेक अप्राप्य प्राचीन ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ आज भी वहाँ देखने को मिलती हैं । नेवारी अक्षरों में लिखे गये अनेक विषयों पर अनेक ग्रंथों की वहाँ प्रचुरता है । वे पुस्तकें विशेषतया तान्त्रिक हैं । तिब्बती अक्षरों में लिखे गये ग्रंथों की राशि भी वहाँ उपलब्ध है । परन्तु उन सबों का उचित उपयोग पूर्णरूप से नहीं हो पाया है । जनसाधारण उस संचित ज्ञान-निधि का प्रचुरता से उपयोग कर अपने को लाभान्वित नहीं कर सका है । नेपाल-सरकार का ध्यान इस ओर वहाँ की जनता द्वारा आकृष्ट किया जाना अत्यावश्यक है । राजकीय पुस्तकालय के अतिरिक्त नेपाल के सुदूर देहातों में भी अनेकानेक सुन्दर नेपाली अक्षरों में लिपिबद्ध-गन्थ-रत्न समूह छिपे पड़े हैं । उनमें तान्त्रिक एवं बौद्ध साहित्य अधिक पाये जाते हैं । यदि नेपाल-सरकार उन पुस्तकों की खोज करवा कर उन्हें प्रकाशित करवावे तो उससे शासन और शासित, दोनों को ही बहुत लाभ हो । प्राचीन पुस्तक अन्वेषण-विभाग की कमी तथा शिथिलता के कारण अभाव-ग्रस्त नेपाली जनता उत्तमोत्तम अलभ्य प्राचीन अमूल्य ग्रन्थ-रत्नों को नेपाल से बाहर ले जाकर कलकत्ता आदि स्थानों में उन्हें विदेशियों के हाथ शाक-पात के मूल्य पर बेच डालती है, जिससे राष्ट्र की महान् क्षति होती है ।

नेपाल में प्राचीन काल के बने मन्दिरों की संख्या विशाल है । उनमें हिन्दू-मन्दिर एवं बौद्ध-मन्दिर भी सम्मिलित हैं । बौद्ध धर्म का वहाँ पूर्णतया ह्रास हो चुका है । किन्तु

तान्त्रिक ग्रन्थों की नेपाल में उपलब्धि आज भी वहाँ पर बौद्ध धर्म का कभी प्रचुर प्रसार का द्योतक तथा साक्षात् प्रमाण है ।

नेपाल की सीमाएँ एवं उसकी प्राकृतिक स्थिति

श्वेत तुषाराच्छादित पर्वतों एवं हरित मनोहर नयनाभिराम वन-वृक्षों से परिपूर्ण नेपाल प्रदेश लगभग ५०० मील लम्बा तथा अनुमानतः २०० मील चौड़ा भारतीय संघ-सरकार के बिहार राज्य एवं उत्तर प्रदेश के उत्तर में एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में विश्व के मानचित्र में सुशोभित दृष्टिगत होता है । इसके उत्तर में तिब्बत (जिसे साम्यवादी चीन ने अपनी प्रसारलिप्सा की तृप्ति के हेतु उदरस्थ कर लिया है), दक्षिण में भारत का विशाल प्रजातन्त्र राज्य, पूर्व में सिक्किम राज्य और पश्चिम में कुमायूँ-अंचल है । आनन्ददायक सुरम्य सुखद वृक्ष-लता-गुल्म-सुशोभित हरित अरण्य एवं धवल हिमपूर्ण पर्वतमालाओं के बीच का हिमगिरि के क्रोड़ में बसा हुआ वह मनमोहक देश अपनी प्राकृतिक शोभा एवं छटा से मानव हृदय को बलात् अपनी ओर आकृष्ट करता है, और उसके दर्शन मात्र से दर्शकों के उर-उदधि में हर्षानन्द की बीचिमालाएँ तरंगित होने लगती हैं । अति प्राचीन काल में नेपाल भारत की सीमाओं के अन्तर्गत था । उसका बहुत बड़ा भाग पुराणों के वर्णनानुसार मिथिला का अंश है । भारत के पड़ोस का एक यही देश अब तक ऐसा रहा है जिसके ऊपर विदेशियों ने आजतक कभी सीधे शासन करने में सफलता प्राप्त नहीं की । कुछ काल तक तिब्बत आदि की प्रभुसत्ता स्वीकार करनें पर भी देश का शासन-सूत्र नेपाल की सन्तानों के हाथों में ही बना रहा । वार्षिक कर की समय पर चुकती करने के अतिरिक्त अन्य आन्तरिक मामलों में वह पूर्णतया स्वतन्त्र था । उसकी प्रकृति-प्रदत्त प्राकृतिक स्थिति कुछ ऐसी थी, जिसके कारण बाहरवालों का वहाँ पैर टिकना सम्भव न था । यही कारण था कि विदेशी वहाँ बहुत दिनों तक टिक न सके । अनेक आक्रामकों का वहाँ आक्रमण हुआ । उनमें से अनेकों को क्षणिक सफलता भी मिली । पर अन्त में उन्हें वहाँ से हटना पड़ा । नेपाल पराधीन नहीं हुआ, और उसकी स्वाधीनता बनी ही रही । उसकी सभ्यता एवं संस्कृति का विनाश नहीं हुआ । वहाँ आर्यसभ्यता, आर्य-धर्म, आर्य-शासन एवं स्वराज्य सदा वैसा ही बना रहा, जैसा कि आज भी हम उस देश में पाते हैं ।

गोपाल वंश

प्राचीन नेपाल के इतिहास का उद्गम-स्रोत अनुश्रुतियाँ मात्र हैं । जनता में प्रचलित कथानकों को आधारशिला मानकर उसपर नेपाल के इतिहास की जो अट्टालिका इतिहासकारों ने प्रस्तुत की है, उसके अनुसार पूर्व काल में सम्भवतः ऐतिहासिक युग के आरम्भ के अचिर-पूर्व गोपाल का राज्य हुआ, जिसकी चर्चा पुस्तक के नेपाल खण्ड के आरम्भ में की जा चुकी है । गोपाल नेपाल राज्य के संस्थापक व्यक्ति-विशेष का नाम था। डॉ० आर० सी० मजूमदार ने अपनी पुस्तक 'एन्शिएण्ट इण्डिया' के पृष्ठ ३७३ में अंकित किया है कि सर्वप्रथम गोपालकों (गाय चराने वाले ग्वालों) की ८ पीढ़ियों ने प्राचीन काल में नेपाल पर राज किया । पर 'गोपाल' का अर्थ गोपालक जाति विशेष लेना उचित नहीं जँचता है । गोपाल को व्यक्तिवाचक संज्ञा समझना अधिक युक्ति-युक्त ज्ञात होता है, जाति-वाचक

नहीं । गोपाल वंश के शासनकाल की घटनाओं का पता हमें इतिहास नहीं देता है । वह तमसावृत है । केवल इतना पता है कि गोपाल-वंश के आठवें क्षितिपाल के शासनकाल में आभीरों ने नेपाल पर आक्रमण किया, जिसमें आक्रामक दल की विजय हुई, और गोपाल-कुल के शासन का नेपाल में अन्त हो गया ।

आभीर-वंश

गोपाल-वंश के अष्टम एवं अन्तिम राजा को समर में पराभूत कर नेपाल के सिंहासन पर विजेता आभीर नृपति विराजमान हुआ । परन्तु उसके नाम, धाम तथा काम का पता इतिहास नहीं देता है । आभीर अथवा अहीर वास्तव में विदेशी थे । किन्तु भारत आकर इन लोगों ने शनैः-शनैः भारतीय रहन-सहन एवं धर्म को अपना लिया था, जिससे वे पूर्णतया भारतीय हो गये थे और भारतीय समाज में दूध-पानी के समान घुल-मिल गये थे । रसखान कवि ने भगवान् कृष्ण की बाल-लीला का वर्णन हुए कहा कि-'ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाँछ पै नाच नचावै ।' इसवी सन् (ख्रिष्टाब्द) के आरम्भ काल के में चिरस्मरणीय उथल-पुथल एवं क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी । सम्भवतः उसी वीर जाति की पूर्ववर्ती किसी एक शाखा ने गोपाल-वंश के अन्तिम नेपाल-नरेश को पराभूत कर नेपाल के सिंहासन को अधिकृत किया तथा वहाँ नेपाल में आभीर राजकुल की नींव डाली थी । उस कुल के केवल ३ राजाओं ने नेपाल में राज किया । आभीर भूपतियों के शासन एवं कार्य-कलाप का ज्ञान इतिहास नहीं देता है । उस राजवंश के अन्तिम भूपति राजा भुवन सिंह के शासनकाल में किरातों का आक्रमण नेपाल पर हुआ, जिसमें आभीरराज का रण-पराभव हुआ, और नेपाल के राज्य -सिंहासन पर विजेता किरातों का आधिपत्य हो गया ।

किरात राजवंश

भारतीय प्राचीन साहित्य, वेद, पुराण तथा पश्चाद्वर्ती ग्रन्थों में भी वनवासी किरात जाति का नाम अनेक स्थलों में आया है । सम्भवतः हिमालय एवं गंगा के बीच पार्वत्य वन-प्रदेशों में रहने वाली तिब्बत-बर्मी जाति का नाम किरात है (आर० सी० मजूमदार एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३७३)। किरात कुल के २९ राजाओं ने नेपाल में राज्य किया, जिसकी वंशावली नृपतियों की शासन-अवधि के साथ के० पी० जायसवाल की पुस्तक 'क्रौनोलॉजी ऑफ नेपाल' (पृ० १०५-०६) से उद्धृत कर नीचे दी जाती है ।

किरात राजवंश

	नृपतियों के नाम	शासनकाल
१.	संस्थापक का नाम अज्ञात	ई०-पूर्व ५९० वर्ष के पूर्व
२.	धस्कम्	५९० ई०-पूर्व
3.	वलम्भ	५६५ ,, ,,
४.	ह्निति	५४० ,, ,,

५.	हुमति	....	....	५१५ ई०-पूर्व
६.	तुस्कहाट (किर्क पत्रिक वंशावली)	....	....	४९० ,, ,,
७.	जितेदारित (सुपस्ट-किर्क पत्रिक०)	....	.....	४६५ ,, ,,
८.	गलिंज	....	.....	४४० ,, ,,
९.	पुष्क पंचम (किर्क०)	....	....	४१५ ,, ,,
१०.	सुयर्म	....	....	३९० ,, ,,
११.	पर्व (सुनन्द -किर्क०)	....	....	३६५ ,, ,,
१२.	थुंक (थूमू -किर्क०)	....	....	३४० ,, ,,
१३.	केम्के	....	....	३१५ ,, ,,
१४.	स्वनन्द (जैध्रो-किर्क०)	....	....	२९० ,, ,,
१५.	स्थुंको (अशोक का समकालीन था)	....	.....	२६५ ,, ,,
१६.	गिघ्री (सुएन कोह-किर्क०)	....	....	२४० ,, ,,
१७.	नने (थूर-किर्क०)	....	....	२१५ ,, ,,
१८.	लुक (थमू-किर्क०)	....	....	१९० ,, ,,
१९.	थोर (वमहि-किर्क०)	....	....	१६५ ,, ,,
२०.	थोको (गंजेह-किर्क०)	....	....	१४० ,, ,,
२१.	वर्म (कश्कून-किर्क०)	....	....	११५ ,, ,,
२२.	गुज (तीस्-किर्क०)	....	....	९० ,, ,,
२३.	पुस्क (सुगमीय-किर्क०)	....	....	६५ ,, ,,
२४.	केसू (जूश-किर्क०)	....	....	४० ,, ,,
२५.	सुग (गोन्थो किर्क०)	....	....	१५ ,, ,,
२६.	संस (खेम भूम-किर्क०)	....	....	१० ई०
२७.	गुनन (गलि जंग -किर्क०)		....	३५ ,, ,,
२८.	खिम्वु	....	....	६० ,, ,,
२९.	पतुक	...	....	८५ ,, ,,
३०.	गस्ति	....	....	११० ,, ,,

किरात कुल का शासन नेपाल पर लगभग ७०० वर्षों की अति लम्बी अवधि तक रहा, पर उस काल की राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति का ज्ञान हमें प्राप्त नहीं है। इस राजवंश का शासन जिस युग में नेपाल में चालू था, उस अवधि में उत्तर भारत में क्रमशः हर्यंककुल, शिशुनाग-राजकुल, नन्द-वंश, मौर्य-वंश, शुंग (मित्र) वंश, कण्व-वंश एवं आन्ध्र-वंश का राज्य-शासन होना इतिहास बताता है। कुषाण-कुल के भारत में शासन करने का काल भी नेपाल के किरात-कुल के उत्तरकालीन राजाओं के शासनकाल से टकराता है, क्योंकि अनेक प्रकार के वाद-विवाद के पश्चात् इतिहास कनिष्क का राज्यारोहण-काल ७८ ई० बताता है। (आर०सी० मजमूदार : एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० १२८)। अशोक ने अपने धर्म-विजय के अभियान में नेपाल की यात्रा की थी। उस काल वहाँ किरात-वंशीय राजा स्थुंको का शासन था। बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार अशोक ने

अपनी कन्या चारुमती एवं जामाता देवपाल के साथ नेपाल में जाकर वहाँ अनेक विहार और स्तूप बनवाये थे ।

निमिष राजकुल

किरात-कुल के अन्तिम राजा गस्ति के शासनकाल में सोमवंशीय क्षत्रिय कुल के महत्त्वाकांक्षी वीर निमिष ने आक्रमण किया । उसने युद्ध में किरात-भूप को पराभूत कर नेपाल के राज्य-सिंहासन पर अधिकार कर लिया । किर्क पत्रिक वंशावली के अतिरिक्त अन्य प्राप्य वंशावलियाँ किरात-राजकुल के अवसान के पश्चात् एवं सूर्यवंशीय लिच्छवि-राजकुल के नेपाल में उदय के पूर्व ५ राजाओं के नाम देती है, जो अधोऽकित है :–

(१) निमिष (नेवेसित-किर्क०)

(२) मनाक्ष अथवा मताक्ष

(३) काक वर्मन्

(४) पशुप्रेक्ष देव (पशुपति नाथ महादेव का संस्थापक तथा मन्दिर का निर्माता, जिसने भारत से आर्यों को नेपाल ले जाकर बसाया और वहाँ हिन्दू-संस्कृति के चातुर्वण्य नियमों का समावेश किया (के० पी० जायसवाल : 'क्रौनोलौजी ऑफ नेपाल' पृ० १०१-०२)।

(५) भास्कर वर्मन् (सम्पूर्ण भारत का विजेता । सन्तान-विहीन होने के कारण उसने भूमिवर्मन् को दत्तक पुत्र के रूप में वरण कर उसे गोद लिया । सम्भवतः भूमिवर्मन् भास्कर वर्मन् के गोत्र का ही कोई बालक था) ।

उपर्युक्त निमिष वंशीय क्षत्रिय चन्द्रवंशी माने जाते हैं । चन्द्रवंशी को सोमवंशी भी कहा जाता है, क्योंकि 'सोम' 'चन्द्र' का पर्याय है । लिच्छवि सूर्यवंशीय क्षत्रिय थे । निमिष कुल के पश्चात् नेपाल में लिच्छवियों का शासन प्रारम्भ हुआ ।

परन्तु के० पी० जायसवाल जी की मान्यता के अनुसार (' जो किर्क पत्रिक लेख पर आधारित है) नैमिष राजवंश एवं लिच्छति-राजकुल दो नहीं, वरन् एक थे । उनके मतानुसार नैमिष-राजवंश 'नेवेसित' से आरम्भ होकर 'नेवेसी', 'निमिष' 'निविसी', 'निचिवी', 'निसवी', 'निच्छविभि' आदि से रूपान्तरित होते-होते अन्त में 'लिच्छवि' कहलाने लगा । किर्क पत्रिक वंशावली भूमिवर्मन् के गोद लेने की बात स्वीकार करती है, पर नेवेसित (निमिष) राजकुल और पश्चाद्वर्त्ती भूमिवर्मन् के वंशजों के राजकुल को एक मानती है । परन्तु अन्य वंशावलियाँ भूमिवर्मन् से एक दूसरे राजकुल का आरम्भ बताती हैं । किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि निमिष-वंशीय भास्करवर्मन् ने भूमिवर्मन् को अपना दत्तक पुत्र स्वीकार किया था ।

जायसवाल जी ने अन्वेषण के अनुसार जयदेव प्रथम के पूर्व ७ लिच्छवि-नरेशों ने वैशाली के ही सिंहासन से नेपाल का शासन किया था । वैशाली के लिच्छवियों ने नेपाल विजय कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया था । भारत का महान् विजेता भास्कर वर्मन्

सम्भवतः गुप्त-कुल के प्रसिद्ध सम्राट् समुद्रगुप्त का मातामह तथा चन्द्रगुप्त प्रथम का श्वसुर था। उस काल भी अनुमानतः वह वैशाली संघ-राज्य (वज्जि संघ) का अध्यक्ष था। उसने वैशाली से अपनी राजधानी को स्थानान्तरित कर नेपाल के सुशासन के हेतु वहाँ अपने लिए एक नये राजनगर का निर्माण किया। भारत-स्थित वैशाली राज्य का उत्तराधिकार उसने अपने जामाता चन्द्रगुप्त प्रथम को दिया, तथा नेपाल राज्य का उत्तराधिकारी अपने दत्तक पुत्र भूमिवर्मन् को बनाया। उसके वंशज जयदेव प्रथम ने नेपाल के शासन में राजतन्त्र को स्थान दिया, परन्तु वैशाली के गणराज्य की छाप वहाँ भी पूर्णरूप से मिट न सकी। द्विराज एवं द्वैध शासन नेपाल में पीछे तक प्रचलित पाया जाता है। वज्जि संघ में राजा और उपराजा का पद्धति पूर्व से प्रचलित थी। नेपाल में सम्भवतः उसी का अनुकरण होता है। हम अंशुवर्मन् को कैलाशकूट राजमहल से एक तानाशाह के रूप में शासन करते पाते हैं, और साथ ही शिवदेव प्रथम को मानगृह राजप्रासाद से नेपाल-सम्राट् के अधिकार से महासामन्त अंशुवर्मन के अभिस्ताव पर एक ग्राम का दान देते हुए (शिवदेव का उत्कीर्ण अभिलेख, गुप्त सम्वत् ३१६, ज्येष्ठ शुक्ल-१०, ६३५ ई०, वेण्डल्स जरनी, पृ० ७२, इण्डियन ऐन्टक्वेरी, १४, १७, पुनश्च-शिवदेव का उत्कीर्ण लेख, गुप्त सम्वत् ३२०, चैत्र, कृष्ण-५, खोपसी में प्राप्त, ६३९ ई०, वहाँ अंशुवर्मन् की सम्मति से एक गाँव की सुविधा प्रदान की गयी थी)। अंशुवर्मन् के पहले और पीछे भी नेपाल में द्वैध शासन के प्रचलन का साक्ष्य इतिहास देता है। जिष्णुगुप्त के ६४३ ई० के कार्त्तिक, शुक्ल-२ के मीननारायण-अभिलेख से पता चलता है कि उसने सम्राट्, ध्रुवदेव लिच्छवि-नरेश के आधिपत्य में किसी सामन्त को एक जल-प्रवाहपथ दिया था। जिष्णुगुप्त ने लिच्छवि-सम्राट्, ध्रुवदेव के रहते हुए भी अपनी प्रभुसत्ता का अधिकार वंश-राम्परागत बताया था (इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, ९, १९१)।

वैशाली एवं विदेह राज्य, दोनों ही नेपाल के अति सन्निकट थे। विदेहों की राजधानी मिथिला (जनकपुर) नगरी में थी, जो सम्प्रति नेपाल राज्य में है। विदेह राज्य का संस्थापक निमि था। कुछ लोगों का मत है कि नेपाल के किरात नृपति गस्ति का विजेता निमि-कुल का कोई वीर भूप था, जिसे निमि के वंशज होने के कारण निमिष नाम से लोगों ने सम्बोधित किया। निमि दाशरथी राम के श्वसुर सीरध्वज जनक का पूर्वज था। पर निमि इक्ष्वाकु-पुत्र होने के कारण सूर्यवंशी था, सोमवंशी नहीं। उसी प्रकार लिच्छवियों को भी सूर्यवंशी बताया गया है, जिसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है।

लिच्छवि राजवंश

निमिष-वंश के नेपाल में राज्य के सम्बन्ध में विद्वानों की भिन्न-भिन्न मान्यताएँ इसके पूर्व अंकित की जा चुकी हैं। उस कुल के पाँचवें भूपति के राज्य-शासन के पश्चात नेपाल के सिंहासन पर लिच्छवि-भूप का आसीन होना इतिहास बताता है।

कहा जाता है कि भूमिवर्मन् लिच्छवि-कुल का प्रथम नरेश था, जिसने नेपाल में लिच्छवि राजवंश की नींव डाली। पर यह भी ध्रुव सत्य है कि भूमिवर्मन् निमिषकुल के अन्तिम क्षत्रिय राजा भास्कर वर्मन् का दत्तक पुत्र था। शास्त्रानुसार किसी भी स्वजातीय कुल के बालक को गोद लेने पर उस बालक का वही गोत्र हो जाता है जो उसके गोद

लेनेवाले पिता का होता है। इस कारण से शास्त्रानुकूल भुवनवर्मन् का भी वही गोत्र होना चाहिए जो उसके दत्तक पुत्र स्वीकार करनेवाले पिता भास्करवर्मन् का गोत्र था। इस भाँति विचार करने पर श्री के० पी० जायसवाल की मान्यता युक्ति-युक्त प्रतीत होती है, और उनके इस मत की पुष्टि होती है कि निमिष-कुल के भूपति-गण लिच्छवि-कुलोद्भव थे।

ईसा-पूर्व छठी शताब्दी में वर्तमान बिहार राज्य के मुजफ्फरपुर जिले में प्राचीन लिच्छवियों का प्रमुख गणराज्य वैशाली (विशालापुरी) में था। साम्प्रतिक बनिया बसाढ़ गाँव उक्त प्राचीन वैशाली का स्थानापन्न है। उस वैशाली राज्य की सीमा पर गंगा नदी के पार मगध (कीकट) में प्रबल राजतन्त्र था, जहाँ हर्यंक कुल का साम्राज्यवादी राजतान्त्रिक शासक विम्बसार-पुत्र अजातशत्रु राज करता था। ईसा-पूर्व ५ वीं शताब्दी के आरम्भ में अजातशत्रु ने वैशाली की विजय वहाँ के गण-संघ के प्रमुख राजा चेतक, जो अजातशत्रु का मातामह भी था, को परास्त कर की थी। वैशाली-विजय के पूर्व अजातशत्रु ने लिच्छवियों की अजेय संघ-शक्ति से आशंकित एवं भयभीत होकर उनमें फूट डालने के विचार ने कूटनीतिज्ञ मन्त्री वस्साकार (वर्षाकार) ब्राह्मण को कूटनीतिक चाल से प्रताड़ित कर छद्म वेश में वैशाली भेजा था। पीछे अपनी भेदनीति की सफलता का समाचार उस मन्त्री के विश्वासी अनुचर द्वारा प्राप्त कर उसने लिच्छवियों पर आक्रमण किया, और उनका वहाँ विनाश किया। उस भयंकर युद्ध में अधिकांश लिच्छावि-सरदारों एवं उनके अनुयायी सैनिकों ने वीरगति प्राप्त की। जो बचे, उनमें से अनेक ने अपने शेष दल के साथ वैशाली का परित्याग किया, और नेपाल के अरण्य-प्रदेश में जाकर निवास किया, जिसका उल्लेख इस पुस्तक के पूर्व के एक अध्याय में किया जा चुका है।

ईसा-पूर्व ५वीं शती में कीकट-सम्राट् अंजातशत्रु के साथ रण में लिच्छवियों के पराभव के पश्चात् से लेकर द्वितीय शताब्दी ईसाब्द तक का लिच्छवियों का इतिहास अंधकार में पड़ा है। लगभग छः सौ वर्षों से भी अधिक अवधि के पश्चात् हम उस कुल को लोकतान्त्रिक नहीं राजतान्त्रिक शासक के रूप में शासन करते नेपाल में पाते हैं। बहुत सम्भव है कि जिस काल में मध्य एशिया से शक्तिशाली असभ्य एवं अत्याचारी जातियों का आक्रमण उत्तर भारत पर आरम्भ हुआ, उस समय उनके अनाचार से बचने के विचार से लिच्छवियों की कुछ शाखाओं ने बिहार की समतल भूमि का परित्याग कर हिमालय के बीहड़ वन की शरण ली हो। प्रथम शती के अन्तिम चरण अथवा द्वितीय शताब्दी के आरम्भ में लिच्छवि-वंशीय राजा भूमिवर्मन् निमिष वंश के अन्तिम नरेश भास्करवर्मन् के पश्चात् नेपाल के सिंहासन पर आसीन हुआ। ईसाब्द १११ में नेपाल-नरेश ने अपने राज्य में एक नये सम्वत् का आरम्भ किया था। डॉ० आर० सी० मजमूदार के ग्रन्थ 'एन्शिएण्ट इण्डिया' (पृ० ३७४, पंक्ति-१-३) के अनुसार यह सम्वत् सम्भवतः लिच्छवियों के नेपाल के सिंहासन पर आसीन होने के उपलक्ष्य में आरम्भ किया गया था। किन्तु के० पी० जायसवाल के मतानुसार किरात-कुल का अन्तिम भूप गस्ति ११० ई० में नेपाल में शासन करता था, जिसका पराभव सोमवंशीय क्षत्रिय नृपति निमिष ने किया था। यदि श्री जायसवाल के मत को स्वीकार कर लिया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि सम्बद्ध सम्वत किरातों पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में निमिष राजकुल-संस्थापक ने चलाया था,

जिसने अन्तिम किरात-भूप को संग्राम में परास्त कर नेपाल का सिंहासन प्राप्त किया था ।

इतिहास बताता है कि कीकट-सम्राट् अजातशत्रु द्वारा ईसा-पूर्व ५ वीं शती में लिच्छवियों के विनाश तथा वैशाली से निष्कासन के लगभग ८०० (आठ सौ) वर्षों के पश्चात् भी चौथे ईसाब्द में लिच्छवियों का शक्तिशाली राज्य वैशाली में था । वहाँ के लिच्छवि-नरेश का शौर्य-प्रताप व्यापक था, और उस कुल की प्रतिष्ठा सारे उत्तर भारत में थी । उनके प्रभावशाली शासनकाल के लगभग गुप्त राजवंश के संस्थापक श्री गुप्त एवं उसके पुत्र घटोत्कच गुप्त का अभ्युदय एक छोटे राज्य के राजा के रूप में मगध में हुआ था (आर० सी० मजूमदार: एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० २४१)। पुराणों के अनुसार गुप्तों के राज्य का उदय प्रयाग और साकेत (अयोध्या) के बीच, सम्भवतः प्रयाग के पास कौशाम्बी में लगभग तीसरी शताब्दी के अन्त में हुआ था । इस कौशाम्बी का वर्तमान स्थानापन्न ग्राम कोसम, इलाहाबाद से ३० मील पश्चिम, यमुना के किनारे है (आर० सी० मजूमदार: एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ५५०)। उस द्वितीय गुप्तवंशीय नरेश घटोत्कच गुप्त के पुत्र महाराज चन्द्रगुप्त प्रथम का राज्याभिषेक ३२० ई० में हुआ । गुप्त सम्वत् का आरम्भ उसी काल से माना जाता है । उस महाराज चन्द्रगुप्त का विवाह वैशाली के लिच्छवि-नृप की सुशीला कन्या राजकुमारी कुमारदेवी के साथ हुआ था। गुप्त राजकुल का तृतीय प्रतापी भूपति महाराज चन्द्रगुप्त प्रथम था, जिसने लिच्छवि-कुल की कन्या का पाणिग्रहण कर अपने को गौरवान्वित माना था। उसने अपने चलाये सिक्कों में लिच्छवि-दुहिता-कुमार देवी का चित्र भी अपने चित्र के साथ उत्कीर्ण करवाया था । महाराज चन्द्रगुप्त प्रथम का पुत्र इतिहास-प्रसिद्ध सम्राट् समुद्रगुप्त लिच्छवि-तनया कुमारदेवी के गर्भजात पुत्र होने के कारण लिच्छवि-दौहित्र था। वह भी अपने को 'लिच्छवि-दौहित्र' कहकर संसार के सम्मुख अपना परिचय देने में गौरव का अनुभव करता था। गुप्त-कुल के उत्कीर्ण प्रशस्ति-अभिलेखों में समुद्रगुप्त के नाम के साथ प्रायः लिच्छवि-दौहित्र भी अंकित पाया जाता है ।

समुद्रगुप्त लगभग ३४० ई० में अपने पिता के पश्चात् गुप्त-सिंहासन का उत्तराधिकारी हुआ । वह वीर योद्धा एवं महान् विजेता था । चौथी शताब्दी के मध्य के लगभग उसने अपना दिग्विजय-अभियान आरम्भ किया था । उत्तर एवं पूर्वीय भारत के अनेक राजाओं के साथ नेपाल के लिच्छवि-नरेश ने भी समुद्रगुप्त की प्रभुसत्ता स्वीकार कर उसे अपना सम्राट् माना था । समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार नेपाल उसके प्रत्यन्त करद राज्यों में से एक था । समुद्रगुप्त-तनय चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के पौत्र (कुमारगुप्त के पुत्र) स्कन्दगुप्त की मुत्यु सम्भवतः ४६७ ई० में हुई थी । उसके पश्चात् ५वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में गुप्त शक्ति का ह्रास आरम्भ हुआ । उसी काल के लगभग नेपाल में शासन करने वाले लिच्छवि-नरेश मानदेव प्रथम ने गुप्त-साम्राज्य से नेपाल को स्वतन्त्र कर अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार किया । राजा मानदेव मान्य योद्धा था। उसके शासनकाल में लिच्छवि नेपाल में अति शक्तिशाली हो गये थे । कुछ विद्वानों की राय में नेपाल में मानदेव का शासनकाल छठीं शताब्दी का प्रथम चरण मान्य है । सातवीं शती के आरम्भ में नेपाल के लिच्छवि-कुल के नृपति पर आपत्ति का आना

बताया जाता है । आभीर उस अंचल में पुनः शौर्यशील हुए, और उनकी शक्ति एवं प्रसार-लिप्सा फिर से पनप उठी । अपने लिए राज्य स्थापित कर लेने के हेतु वे सब सयत्न हुए । इसी बीच नेपाल की राजधानी में गृह-कलह ने प्रवेश कर वहाँ अपना अड्डा जमाया । नेपाल-नरेश के माथे संकट का पहाड़ टूट पड़ा ।

वैश्य ठक्कुरी कुल का अंशुवर्मन्

अंशुवर्मन् लिच्छवि-भूपाल का शक्तिशाली आमात्य था । उसने राजा को अधिकारच्युत कर राज्य पर अधिकार कर लिया, और सम्भवतः उसकी पुत्री से विवाह भी किया । लिच्छवि अब नाममात्र के सम्राट् रह गये । सारी शासन-शक्ति अंशुवर्मन् के हाथ में चली आयी । वास्तव में अंशुवर्मन् ही उस काल नेपाल का सार्वभौम स्वतन्त्र भूपति था । कुछ विद्वानों का कथन है कि अधिकारच्युत लिच्छवि-नरेश को अंशुवर्मन् को अपना दत्तक पुत्र स्वीकार करने के हेतु भी बाध्य होना पड़ा, जिसकी विवेचना प्रसंगवश इसी अध्याय में आगे की जायगी ।

मानदेव ने 'मानगृह' नामक राजभवन का निर्माण कराया था । मन्त्री अंशुवर्मन् ने प्रसिद्ध 'कैलाशकूट' राजप्रासाद बनवाया । अंशुवर्मन् द्वारा राज्याधिकार हस्तगत कर लेने के पश्चात् तानाशाह अंशुवर्मन् की राजधानी 'कैलाशकूट' में हुई, और नाममात्र के गुड़िया लिच्छवि-नेपाल-सम्राट् का आवास 'मान गृह' में रहा । अंशुवर्मन् की मृत्यु के पश्चात इतिहास में लिच्छवि-कुल के शासन का लोप पाया जाता है । 'मान गृह' के एक शासक जिष्णुगुप्त ने अंशुवर्मन् के कनिष्ठ पुत्र मानदेव द्वितीय (जो उदयदेव का अनुज था) को 'मान गृह' राजप्रासाद में राज्याभिषिक्त किया, और स्वयं 'कैलाशकूट' में जाकर शासन करना आरम्भ किया । इससे पता चलता है कि कुछ काल के लिए नेपाल से लिच्छावियों का शासन लुप्त हो चुका था । परन्तु यह अवस्था केवल एक अथवा दो वर्षो तक ही रही । उसके शीघ्र पश्चात् पुनः लिच्छवि-राज ध्रुवदेव को 'मानगृह' में शासन का साक्ष्य इतिहास देता है । उस काल भी नेपाल में जिष्णुगुप्त की तानाशाही थी, और असली शासक नेपाल का उस काल वही था (के० पी० जायसवाल : 'क्रौनोलौजी एण्ड हिस्ट्री ऑफ नेपाल,' ईसा-पूर्व ६०० वर्ष तथा ईसाब्द ८०० के बीच, पादटिप्पणी पृ० ४७-४८)।

महामात्य अंशुवर्मन् वैश्य ठक्कुरी कुलोद्भव था । यह 'वैश्य ठक्कुरी' क्षत्रिय (राजपूत) वर्ण का एक उपविभाग है (आर० सी० मजूमदार : एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३७४)। 'वैश्य' शब्द यहाँ वैश्य वर्ण विशेष का बोधक नहीं है । 'ठक्कुर' अथवा' 'ठाकुर' प्रायः भू-स्वामी क्षत्रिय-सरदारों की उपाधि होती थी । अतः अंशुवर्मन् क्षत्रिय वंशावतंस था, वैश्य-कुलजात नहीं । उसे वैश्य ठक्कुरी राजवंश का संस्थापक कहा जा सकता है । उसने अपने शौर्य एवं कूटनीति से नेपाल की राज्यश्री को वशवर्तिनी बनाकर अपने तथा अपने वंशजों के लिए एक नये राजवंश की स्थापना की थी । उसने ५९५ ई० में ठाकुरी (ठक्कुरी) संवत् का प्रवर्त्तन भी किया । वह हर्षवर्द्धन का करद अधीन राजा था, और उसी के समय में नेपाल में हर्षसम्वत् का प्रवेश हुआ (राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत, पृ० २९५)। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि हर्षवर्द्धन का आधिपत्य नेपाल पर नहीं हो सका था । (डॉ० आर० सी० त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ० ९१)।

उस काल के कुछ पूर्व चीन साम्राज्य के पश्चिम में रहने वाली मध्य एशिया की एक खानाबदोश घुमक्कड़ जाति के सरदार ने तिब्बत में आकर राज्य की स्थापना की। उस तिब्बत-भूप के पुत्र अथवा उत्तराधिकारी, जो उस नव-राजकुल का द्वितीय नरेश था, और जिसका नाम स्त्रौंग-वत्सं गम-पो था, ने अपना विजय-अभियान आरम्भ किया। उसने नेपाल तथा उससे संलग्न उत्तर-पूर्व भारत के (तिरहुत आदि) कतिपय प्रदेशों पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित कर ली। नेपाल-नरेश को उस आक्रामक भूप के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर देने के हेतु भी बाध्य होना पड़ा। (आर० सी० मजमूदार : एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३७४)। कतिपय इतिहास-वेत्ताओं का मत है कि तिब्बत के साथ अंशुवर्मन् का मैत्री सम्बन्ध था। (डॉ० राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत पृ० २९५)।

परन्तु डॉ० मजमूदार के तिब्बत-भूप द्वारा नेपाल पर आक्रमण और विजय की मान्यता श्री के० पी० जायसवाल स्वीकार नहीं करते हैं। उनका मत है कि अंशुवर्मन् के ज्येष्ठ पुत्र (युवराज) का नाम उदयदेव था, जिसे पिता की मृत्यु के पश्चात् उसके अनुज (कनिष्ठ भ्राता) मानदेव द्वितीय ने सिंहासनच्युत कर स्वयं नेपाल का राजा बन बैठा। उदयदेव के पुत्र ने तिब्बत-नरेश की सहायता से उसकी अधीनता स्वीकार कर अपना पैतृक राज्य प्राप्त किया। उदयदेव के उस पुत्र का नाम नरेन्द्रदेव था, जिसने ६४३ ई० से ६५७ ई० तक नेपाल का शासन किया। चीन देश से प्राप्त लेखों से इस तथ्य की प्रचुरता से संपुष्टि होती है। यह भी संभव हो सकता है कि उक्त तिब्बत नरेश अंशुवर्मन् तथा उसके पुत्र उदयदेव के सम्बन्धी होने के नाते उदयदेव के पुत्र को सहायता देकर उसकी पैतृक गद्दी अपहर्ता से प्राप्त करा दी हो। इसी नरेन्द्रदेव के पौत्र परम भट्टारक महाराजाधिराज जयदेव द्वितीय के उत्कीर्ण शिलालेख का उसे उदयदेव को लिच्छवि-वंशोद्भव बताया गया है। वंशावलियों में आदि लिच्छवि कुल का उसे अन्तिम राजा बताया गया है। इन दोनों ही उल्लेखों को चीनी लेखों से अधिक प्रामाणिक समझा जाना चाहिए।

डॉ० मजमूदार ने सम्भवतः उपर्युक्त दोनों प्रमाणों के आधार पर नरेन्द्र देव को लिच्छवि-कुलोद्भव बताया है। तिब्बतियों की अधीनता स्वीकार कर लेने के पश्चात् नरेन्द्र देव नेपाल का स्वतन्त्र नरेश रह नहीं गया। अतः वंशावली उदयदेव की लिच्छवि कुल के अन्तिम राजा होने का संकेत करती है। कतिपय वंशावली यह भी बताती है कि शिवदेव प्रथम ने अंशुवर्मन् को अपना दत्तक पुत्र बनाया था। सम्भवतः यही कारण है कि अंशुवर्मन् के वंशजों ने अपने को लिच्छवि-वंशीय होने का साधिकार दावा दिया था।

श्री के० पी० जायसवाल की 'क्रोनोलॉजी ऑफ नेपाल', पृ० ८१, के अनुसार महासामन्त अंशुवर्मन् अपनी मृत्यु के पूर्व तक नेपाल का महाराजाधिराज बना हुआ था। अतः उनके मतानुसार नेपाल पर तिब्बत का प्रभुत्व अंशुवर्मन् के शासनकाल में कभी नहीं हो सका था। कोई चीनी लेख भी इस बात को स्वीकार नहीं करता है कि अंशुवर्मन् ने कभी तिब्बत की प्रभुसत्ता स्वीकार की थी। 'मंजु श्री' इतिहास भी इस तथ्य का समर्थन करता है कि जिष्णुगुप्त के बाद नेपाल पर विदेशी सत्ता का अस्थायी प्रभाव पड़ा था। अंशुवर्मन् के युवराज पुत्र उदय देव को राज्यच्युत कर उसके अनुज मानदेव द्वितीय ने स्वयं राज्य-सिंहासन पर अधिकार कर लिया था। उदय देव के पुत्र नरेन्द्र देव ने तिब्बत-नरेश

की सहायता से अपना पैतृक सिंहासन प्राप्त किया था। राज्य तो उसने इस प्रकार प्राप्त कर लिया, पर विदेशी सहायता का मूल्य उसे तिब्बत की प्रभुसत्ता स्वीकार कर चुकाना पड़ा। अब से नरेन्द्र देव तिब्बत का अधीन राजा हुआ। अंशुवर्मन् का तिब्बत-नरेश के साथ मैत्री का सम्बन्ध था।

डॉ० आर० सी० मजूमदार के मतानुसार लिच्छवि-राज शिवदेव के राज्यापहर्त्ता वैश्य ठक्कुरी-वंशजात विश्वासघाती एवं राजद्रोही महासामन्त अंशुवर्मन् के मृत्यु के बाद राज्य में क्रान्ति मची और ६४३ ई० में शौर्यशील नरेन्द्र देव ने पुनः नेपाल के सिंहासन पर लिच्छवि-कुल को प्रतिष्ठित किया, तथा स्वयं वहाँ का राजा बना (आर० सी० मजूमदार : एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३७४)। पर वंशावली के उत्कीर्ण अभिलेख तथा चीनी लेखों से उनके इस मत का पृष्ठपोषण नहीं होता है।

नरेन्द्र देव के पुत्र शिवदेव द्वितीय का विवाह मगध-सम्राट् आदित्यसेन की नतिनी (मौखरी-नरेश की पुत्री) के साथ हुआ था। शिवदेव द्वितीय के पुत्र जयदेव का विवाह महाभारत-प्रसिद्ध वीर भगदत्त के वंशज कामरूप-नरेश हर्ष की कन्या के साथ हुआ था। उस हर्ष को गौड़, ओड्र, कलिंग,कोशल तथा अन्यान्य प्रदेशों का विजेता एवं राजा बताया गया है। उपर्युक्त वैवाहिक सम्बन्धों से पता चलता है कि नेपाल -नरेशों की प्रतिष्ठा एवं यश उस काल चतुर्दिक् फ़ैल रहा था, और पड़ोस के सभी भूसम्मान्य पतिगण उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने में गौरव का अनुभव करते थे।

इस प्रकार पड़ोस के प्रायः सभी पराक्रमी राजकुल के नृपतियों के साथ नेपाल के लिच्छवि-कुल-भूपों का वैवाहिक सम्वन्ध स्थापित हो जाने के कारण उन सबों के बीच सौहार्द्र की स्थापना हुई, जिससे नेपाल राष्ट्र की शक्ति बहुत बढ़ गयी। उसका आतंक चारों ओर फैल गया। शत्रु उससे भयभीत हुए, और मित्रों की संख्या में वृद्धि हुई। सभी नेपाल राज्य के हितचिन्तक एवं सहायक बन गये।

डॉ० आर० सी० मजूमदार (एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३७५) के अनुसार जयदेव की मृत्यु के लगभग १५० वर्षों पीछे तक तिब्बत की प्रभुसत्ता नेपाल पर बनी रही। ईसाब्द ८३८ ई० में कोई धर्म अथवा ग्लन डर्म नामक राजा तिब्बत के सिंहासन पर बैठा। वह क्रूर प्रकृति का निंरकुश एवं अत्याचारी भूप था। उसके अनाचार, अत्याचार एवं पाशविक व्यवहार के कारण प्रजा में क्षोभ उत्पन्न हुआ, और साम्राज्य में भीषण क्रान्ति शासन के विरुद्ध उत्पन्न हो गयी। नेपाल ने उस विषम परिस्थिति से लाभ उठाकर तिब्बत की परतंत्रता के जुए को अपने कन्धे से उतार फेंका। सम्राट् के आचरण के प्रति प्रजा के रोष, क्रोध, असन्तोष एवं घृणा ने सम्पूर्ण साम्राज्य मे विद्रोहाग्नि को प्रज्वलित कर दिया था, जिसकी लपटों में तत्कालीन शक्तिशाली तिब्बत साम्राज्य स्वाहा हो गया। यह घटना ८७१ ई० में हुई, जिस काल नेपाल के सिंहासन पर वैश्य ठक्कुरी कुल का राघदेव विराजमान था। डॉ० मजूमदार की मान्यता के अनुसार विदेशी आधिपत्य से नेपाल को मुक्त कर लेने के उपलक्ष्य में उस पावन कार्य के स्मारक के रूप में नृपति ने एक सम्वत् का प्रवर्त्तन किया, जिसका नाम 'नेपाल सम्वत्' पड़ा। उस काल से नेपाल के केवल राजनीतिक इतिहास में ही नहीं, उसके आर्थिक विकास के क्षेत्र में भी एक नये युग का आरम्भ हुआ।

राज्य में सभी ओर उन्नतिशील नगरों का निर्माण हुआ । देश समृद्धिशील बना । नेपाल की वर्त्तमान राजधानी काठमांडू की भी स्थापना या तो उस काल में हुई अथवा उसका समुचित विकास हुआ, तथा उसके महत्त्व की सम्यक् वृद्धि हुई ।

पर अनेक लब्धप्रतिष्ठ इतिहास-लेखकों की तिब्बत की परतन्त्रता के जूए से नेपाल की मुक्ति विषयक डॉ० मजूमदार की राय से सहमति नहीं है । श्री के० पी० जायसवाल के शोध के अनुसार धर्मदेव नामक लिच्छवि-भूप ने ७०५ ई० में तिब्बत के अधिराट् को रणभूमि में समरशायी कर नेपाल राष्ट्र को विदेशी चंगुल से मुक्त किया था । चंगु नारायण मन्दिर के उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार उस विजयोपलक्ष्य में उसने ४ विजय-स्तम्भों का निर्माण कराया था । जायसवाल जी के शोधानुसार राजा धर्मदेव लिच्छवि-कुल का १४ वाँ भूपति था । उनकी खोज ने वंशावलियों में उल्लिखित क्रम में परिवर्तन का अनुभव किया है, जिसके परिणामस्वरूप राजाओं के काल की मान्यता में भिन्न-भिन्न लेखकों के लेखों में अन्तर पाया जाता है ।

श्री जायसवाल जी के मत का समर्थन बहुत अंशों में चीनी अभिलेखों से भी होता है । वे यह बताते हैं कि तिरहुत पर तिब्बत का शासन आधी शताब्दी तक (६४८ से ७०३ ई० तक) रह सका (मि० ई० एच० : हिस्ट्री ऑफ तांग डाइनेस्टी ऑफ चीन)। नेपाल ने भी उस काल तक अपने को तिब्बत के आधिपत्य से स्वतन्त्र कर लिया था । उपर्युक्त अभिलेख में अंकित किया गया है कि ७०३ ई० में नेपाल और मिथिला दोनों ने ही तिब्बत की प्रभुसत्ता से अपने को स्वतन्त्र कर लिया । तत्कालीन तिब्बत-नरेश का उनके विरुद्ध अभियान में विनाश हुआ (जनरल ऑफ दि मैनचेस्टर ओरएण्टल सोसाइटी, १९११, पृ० १३३, व्ही० ए० स्मिथ का लेख, पृ० ५५५-५६, जनरल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, दिसम्बर, १९१७, वॉल्यूम-३, भाग-४; जनरल ऑफ दि रायल एशिएटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैंण्ड, १८८० पृ० ५२८,५४६; एन्टीक्वेरीज ऑफ तिब्बत, वॉल्यूम-२, पृ० ८२; इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, १९१६, पृ० ३९; इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, १५ (पूरक), ५९-६-६२)। श्री पी० सिलभ्यां लेवी के मतानुसार नेपाल ने ७०२ ई० में तिब्बत की प्रभुसत्ता से अपने को मुक्त कर लिया, और उसके उपलक्ष्य में वहाँ एक सम्वत् भी चलाया गया (ली-नेपाल, वॉल्यूम-२, १९०५, पृ० १८२)।

ऊर्ध्वाङ्कित उल्लेखों पर विचार करने से पता चलता है कि ८७२ ईसाब्द में नेपाल-नरेश ने एक नवीन अब्द का आरम्भ किया, जिसका नाम 'नेपाल सम्वत्' पड़ा । पर उसका सम्बन्ध नेपाल को तिब्बत की पराधीनता से मुक्ति पाने से नहीं है; क्योंकि वह (नेपाल) उस काल से लगभग पौने दो सौ वर्ष पूर्व तिब्बत-साम्राज्य से पृथक् हो चुका था तथा अपनी सार्वभौम स्वतन्त्रता उसने घोषित कर दी थी । परन्तु नेपाल सम्वत् का प्रवर्त्तन बताता है कि ८७२ ई० में नेपाल में किसी प्रकार की अतिप्रसिद्ध घटना घटी थी, जिसकी स्मृति में उस सम्वत् का आरम्भ किया गया । राघवदेव का शासनकाल ८८० ई० में आरम्भ हुआ, और उसने लगभग ४६ वर्षों तक नेपाल में राज किया । कुछ विद्वानों की राय है कि उक्त राघव देव, जो वैश्य ठक्कुरी वंश का महीप था, ने लिच्छवियों को अपदस्थ कर नेपाल के सिंहासन पर अपने वैश्य ठक्कुरी वंश की प्रतिष्ठा की थी और उसी घटना के स्मारक

के रूप में उक्त नेपाल संवत् उसने चलाया । डॉ० राजबली पाण्डेय ने भी अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत' के पृष्ठ २९५ में अंकित किया है कि –"थोड़े दिनों के बाद नेपाल में लिच्छवि-वंश का प्रत्यावर्त्तन हुआ और ८७९-८० ई० में एक नये सम्वत् का प्रवर्त्तन हुआ" । पर उनकी ऐसी मान्यता भी शंका से शून्य नहीं है, क्योंकि जयदेव द्वितीय ने अपना अभिलेख ७४८ ई० में उत्कीर्ण कराया था । उस काल का वसन्त देव द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् लिच्छवि-राजकुल का शासन समाप्त हो चुका था । उस अभिलेख में वसन्त देव को मृत लिच्छवि-भूप अंकित किया गया है । जयदेव द्वितीय के काल में सम्पूर्ण नेपाल पर ठक्कुरी-कुल का एकछत्र शासन था, जो अपने की लिच्छवियों का सच्चा उत्तराधिकारी बताता था । लिच्छवि एवं ठक्कुरी राजकुलों की वंशावलियाँ पुस्तक में आगे दी जायेंगी, जिससे विषय पूर्णतया स्पष्ट हो जायगा ।

लिच्छवि-कुल के लगभग २८ भूपतियों ने नेपाल पर शासन किया था । उनका शासनकाल वहाँ चार-पाँच सौ वर्षों तक बना रहा (डॉ० आर० सी० मजूमदार: एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३७३-७४) ।

सूर्यवंशी कर्णाट क्षत्रिय राजवंश

ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ के लगभग नेपाल के अधीन मांडलिक सामन्त नृपतियों की शक्ति बहुत बढ़ गयी थी । देश के भिन्न-भिन्न भागों में दो अथवा तीन भूपतियों का शासन पृथक्-पृथक् होना आरम्भ हो गया था । उनकी राजधानियाँ पाटन, काठमांडू एवं भाटगाओं में थीं । शक्तिशाली सामन्त सरदारगण प्रायः नये राजा को चुनते और उनको राजपद पर प्रतिष्ठित करते थे (आर० सी० मजूमदार : एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३७५)। इस प्रकार सिंहासन प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति से धन ऐंठ कर वे उनकी सहायता करते थे, और अपने प्रभाव से राज्य की जनता को प्रभावित करते थे । ग्यारहवीं शती के अवसान के लगभग १०९८ ई० में तिरहुत के कर्णाट वंशीय भूप नान्यदेव ने नेपाल की विजय की, जिसका वर्णन पुस्तक के पूर्व के एक अध्याय में कर्णाट-राजकुल के विषय में उल्लेख करते समय प्रसंगवश किया जा चुका है । उस विजेता ने सारे नेपाल पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया, तथा वहाँ की तीनों राजधानियों से सम्पूर्ण विजित देश पर अपने मृत्यु-अब्द ११४७ ई० तक निष्कण्टक राज करता रहा । डॉ० आर० सी० मजमूदार की मान्यता के अनुसार तिरहुत में कर्णाट-क्षत्रिय राजकुल के संस्थापक राजा नान्यदेव ने १०९८ ई० में नेपाल की विजय की और १११८ ई० तक वहाँ का सम्राट् वन कर शासन किया । डी० आर० रेग्मी महोदय के ग्रन्थ 'एन्शिएण्ट एण्ड मेडिएवल नेपाल' पृ० १४४-४६ के अनुसार नान्यदेव का नेपाल पर का शासनकाल सुखपूर्वक व्यतीत न हो सका था । उनके मतानुसार विजेता भूप नान्यदेव सम्पूर्ण नेपाल-तराई पर पूर्ण रूपेण आधिपत्य स्थापित कर लेने में सक्षम और सफलीभूत नहीं हुआ था । उसे ११४१ ई० में पुनः नेपाल की विजय करने की आवश्यकता आ पड़ी थी । इससे पता चलता है कि १०९८ ई० में नेपाल-विजय करने के पश्चात् तथा ११४१ ई० के पूर्व वह उसके अधिकार से निकल गया था । रेग्मी महाशय की मान्यता के अनुसार नान्यदेव के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों का आधिपत्य नेपाल के सिंहासन पर नहीं रह सका । नान्यदेव की मृत्यु

के उपरान्त ठक्कुरी कुल के राजकुमारों ने पुनः अपना राज्य वहाँ स्थापित कर लिया, और काठमांडू के सिंहासन पर बैठ कर सारे नेपाल का शासन आरम्भ कर दिया। यह सम्भव हो सकता है कि नान्यदेव की मृत्यु (११४७) के पश्चात् स्थानीय सरदारों ने अपनी अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी हो, पर यह भी सत्य है कि वे सब नान्यदेव के उत्तराधिकारियों की प्रभुसत्ता को किसी न किसी अंश तक नान्य की मृत्यु के पीछे भी स्वीकार अवश्य करते रहे थे। नान्यदेव द्वारा नेपाल-विजय के पूर्व नेपाल की राजनीतिक स्थिति डँवाडोल हो गयी थी। बंगाल के पतनोन्मुख पाल-कुल के शासकों के उस देश के कुछ अंश पर शासन का पता वहाँ नेपाल में चलता है। ताल पत्र पर लिखित 'कुविजामातम्' नामक ग्रन्थ की एक प्रति के अन्त में अंकित मिला है कि वह नेपाल के बौद्ध-सम्राट् रामपाल के शासनकाल में लिखा गया था (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २२-२; शास्त्री कैटलॉग ५४)। विक्रमादित्य षष्ठ दक्षिणी चालुक्य भूप के पुत्र सोमेश्वर तृतीय के एक उत्कीर्ण शिलालेख से स्पष्ट होता है कि उस कुल का प्रभुत्व नेपाल पर भी हो गया था (जनरल ऑफ दि बाम्बे ब्रांच ऑफ दि रायल एशिएटिक सोसाइटी, ११,२६८; इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली -७, ६८३)। पट्टाडकल-उत्कीर्ण अभिलेख बताता है कि उस काल में नेपाल चालुक्य-राज सोमेश्वर तृतीय के करद सामन्त राज्यों में से एक था। १२०० ई० के एक भित्ति-लेख से भी ज्ञात होता है कि दक्षिणात्य कलचुरि भूप विज्जल ने दक्षिणी विजेता चालुक्य-नृपति सोमेश्वर के वंशज तैलप तृतीय (सोमेश्वर तृतीय पुत्र) को पराजित कर उसके अधीन एवं संरक्षित राज्य नेपाल को छिन्न-भिन्न कर दिया था। सन् ११९१ और १२१० ई० के बीच के उत्कीर्ण मनगली अभिलेख से भी पता चलता है कि दक्षिण के यादव राजा जैतुगी ने नेपाली सेना को पराभूत किया था। उपर्युक्त प्रशस्तियों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि नेपाल पर पूर्व में दाक्षिणात्यों का भी कुछ काल के लिए आधिपत्य हो गया था। पशुपतिनाथ महादेव के पुजारी दक्षिणी ब्राह्मण के वंशधर ही अब भी हैं। इससे भी यह प्रमाणित होता है कि दक्षिणी विजेताओं का आधिपत्य नेपाल पर पूर्व में अवश्य था।

दाक्षिणात्य चालुक्य राजा सोमेश्वर आहवमल्ल (१०४३-१०६८ ई०), उसके प्रथम पुत्र सोमेश्वर द्वितीय तनय षष्ठ विक्रमादित्य (१०७६-११२६ ई०) के शासनकाल में उत्तर भारत पर चालुक्यों का आक्रमण हुआ था। नेपाल की विजय भी उस राजकुल द्वारा उन्हीं आक्रमणों के समय हुई थी, जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है।

नान्यदेव भी मूलतः दक्षिण भारत का निवासी था, और वह चालुक्यों की कर्णाट शाखा में उत्पन्न हुआ था। वह सूर्यवंशीय था। सम्भवतः उसके पूर्वज सोमेश्वर अथवा विक्रमादित्य षष्ठ के आक्रमण-काल में ही उत्तर में पधारे थे, और सुविधानुसार विजित प्रदेश में बस गये थे। नान्यदेव के आदि-विरुद 'महा सामन्ताधिपति' से स्पष्ट होता है कि वह आरम्भ में किसी सम्राट् का सामन्त था, और उसकी ओर से शासन करता था। सम्भव है, उसके पूर्वज भी चालुक्य-राज के सामन्त रहे हों।

ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त के नेपाल की राजनीतिक स्थिति ने नान्यदेव को नेपाल पर आधिपत्य स्थापित करने में सहायता दी थी। तिरहूत (तिरहुत) के सिंहासन पर उसका

अधिकार १०९७ ई० में ही हो चुका था। नेपाल राज्य की सीमा तिरहुत की सीमा से टकराती है। ठक्कुरी कुल की नयकोटा शाखा के शिवदेव ने नेपाल-सिंहासन का अपने को अधिकारी बताना आरम्भ किया था। उस शाखा को पाटन की शाखा ने १०८० और १०८८ ई० के बीच वहाँ से निकाल बाहर कर दिया था। गृह-कलह ने नेपाल-साम्राज्य की नसें ढीली कर दी थीं। वहाँ अराजकता फैली हुई थी। शिवदेव ने नान्यदेव से सहायता की याचना की। नान्यदेव ने उस परिस्थिति से लाभ उठाया। उसने शिवदेव का पक्ष ग्रहण किया। तराई में इससे उसका प्रभाव हो गया। नेपाली अनुश्रुतियों के अनुसार उसने अपनी राजधानी सिमराओं से ही काठमांडू एवं पाटन के स्थानीय नेपाली शासक पर अधिकार कर लिया था (जनरल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, २२, २५६, २०४; सिलभ्यां लेवी: ली नेपाल, २, ११९; ऐन्नस ऑफ भण्डाकर ओरिएण्टल रिसर्च इनस्टीच्यूट -१९४२, पृ० २९९; डॉ० उपेन्द्र : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २५१)।

नान्यदेव की मृत्यु ११४७ ई० में हुई। नेपाल के उन राजवंशों के राजे, जिन्हें नान्यदेव ने राज्यच्युत तो कर दिया था पर उनका विनाश नहीं किया था, उसके जीवनकाल में भी उसके करद मांडलिक राजा बन कर अपने-अपने शासन-क्षेत्र में शासन करने लग गये थे। उन मांडलिक सामन्तों से कर्णाट कुल के सम्राट् को वार्षिक राज-कर प्राप्त होता था। नान्यदेव की मृत्यु के पश्चात् उसके कुल के तिरहुत के भूपतियों की नाममात्र की प्रभुसत्ता नेपाल के मांडलिक नृपों पर लगभग दो सदियों तक बनी हुई थी।

लिच्छवियों के शासन के अन्तिम चरण में शासन-सूत्र के ढीला होने पर मांडलिकों एवं सरदारों ने स्थान-स्थान पर स्वतन्त्र होकर राष्ट्र की अखंडता को नष्ट कर दिया था। देश में मत्स्य-न्याय का बोलबाला हुआ। शक्तिशाली मल्ल-कुल के क्षत्रियों ने अब नेपाल के सिंहासन पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

मल्ल राजकुल

बुद्ध-युग में जब वैशाली के लिच्छवि-गणतन्त्र एवं वज्जि-संघ का प्रताप व्याप्त था, उस काल में मल्लों का भी शौर्यशील गणतन्त्र अपने शासन-क्षेत्र में शासन कर रहा था, और वह संघ का पराक्रमी सदस्य भी था। कीकट-भूप अजातशत्रु के साथ उसका भी पराभव हुआ था। सम्भवतः नेपाल की गद्दी को अधिकृत करने वाला मल्ल-वंश उन्हीं प्राचीन मल्लों के कुलज थे, जिन्होंने एक समय लिच्छवियों के साथ होकर उत्तर भारत में आदर्श गणतान्त्रिक शासन चलाया था, जिसका साक्ष्य इतिहास देता है। उस मल्ल राजवंश का संस्थापक वीर अरि मल्ल था। तेरहवीं शताब्दी में मल्लों का राज्य नेपाल में पाया जाता है। ईसाब्द १२८७ ई० में नेपाल के तत्कालीन मल्ल-भूप पर पूर्व दिशा से खसिया नामक पहाड़ी जाति के किसी सरदार ने आक्रमण कर उसे तहस-नहस कर डाला। उसकी विजय वहाँ चिरस्थायी नहीं रह सकी। पर उसने मल्लों की शक्ति को बहुत अंश में तोड़ दिया, जिससे देश की राजनीतिक अखंडता भंग हो गयी, और भविष्य में दूसरे शत्रुओं के लिए नेपाल-विजय सुलभ हो गयी।

कर्णाट क्षत्रिय राजकुल का तिरहुत-नरेश हिरसिंह देव, उसके वंशज और नेपाल

यह वह काल था जिस समय उत्तर भारत में हिन्दू राजाओं का प्रताप-सूर्य अस्ताचलगामी हो चुका था, और मुसलमान शक्ति का देश में अभ्युदय होना आरम्भ हो गया था। तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक उत्तर भारत की लगभग सारी धरणी के अधीश्वर मुसलमान हो चुके थे। पूर्वोत्तर भारत का केवल एक छोटा-सा राज्य तिरहुत, जो नेपाल के पड़ोस में पड़ता था, ही ऐसा जनपद शेष था, जिसपर चौदहवीं शती के प्रथम चरण तक हिन्दू राजवंश राज कर रहा था। यह दिल्ली के सुलतान गियासुद्दीन तुगलक को सह्य नहीं हुआ। उसने तिरहुत को उदरस्थ कर लेने की योजना बनायी। बंगाल के विद्रोह को शमन करने के हेतु वह गौड़ पहुँचा हुआ था। वहाँ के विद्रोही उसके धर्म-बन्धु ही थे। उनका सम्यक् रूप से शमन कर वहाँ की शासन-व्यवस्था उसने ठीक की । पश्चात दिल्ली लौटते समय उसने तिरहुत होकर ही प्रत्यागमन किया। उस लौटती यात्रा में उसका लक्ष्य मिथिला को स्वायत्त कर लेना था। वह १३२४ के जाड़े की ऋतु थी। तिरहुत की राजधानी सिमराओं में थी, जहाँ कर्णाट-कुल का प्रसिद्ध राजा हरिसिंह देव राज करता था। राजा ने सुलतान के उस ओर ससैन्य बढ़ने की चाल को सशंक दृष्टि से देखा। पर वह वीर था, और स्वतन्त्रता का अर्चक। इतिहास-लेखक फेरिश्ता के अनुसार राजा हरिसिंह देव ने सिमराओं गढ़ से सेना के साथ निकल कर बादशाह गियासुद्दीन तुगलक के आक्रमण का प्रबल प्रतिरोध किया, किन्तु भाग्य ने उसे उस काल साथ नहीं दिया। इस विषय की चर्चा पुस्तक के पूर्व के अध्याय में कर्णाट-राजकुल के वर्णन के प्रसंग में की जा चुकी थी। भयंकर युद्ध के पश्चात् हरिसिंह देव को विश्वास हो गया कि सुलतान की विशाल वाहिनी का सफलतापूर्वक सामना करना उस समय उसके लिए संभव नहीं था। अतः युद्ध त्याग कर अपने चुने हुए परीक्षित साथियों, सरदारों, मन्त्रियों एवं सेना के साथ उसने नेपाल के वन्य प्रदेश की शरण ली, जहाँ पूर्व में उसके पूर्वजों का साम्राज्य था। खसिया सरदारों के आक्रमण ने मल्ल-भूप की रीढ़ तोड़ दी थी। उनकी सामरिक शक्ति का ह्रास हो चुका था। अतः हरिसिंह देव के नेपाल पर आक्रमण करने पर वहाँ के मल्ल-भूप ने उसकी प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली और वह स्वयं उसका करद मांडलिक राजा बनकर शासन करने लगा। हरिसिंह देव ने भटगांओं में अपनी राजधानी बनायी तथा काठमांडू और पाटन को मल्ल भूपों के अधीन कर उनके उपभोग के हेतु रहने दिया। मल्लों ने उसे अपना सम्राट् स्वीकार कर लिया (मजूमदार, राय चौधरी तथा दत्त : ऐडवांस्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ३८९)।

समशुद्दीन हाजी इलियश शाह (१३४२-१३५७ ई०), बंगाल के शासक, हरिसिंह देव के शासनकाल के लगभग नेपाल पर चढ़ाई कर सम्भवतः १३४६ ई० में काठमांडू पहुँचा और वहाँ उसने स्वयम्भूनाथ स्तूप को नष्ट कर शाक्य मुनि की पवित्र पताका का स्तूप एवं स्तम्भ सहित जला दिया (हिस्ट्री ऑफ बंगाल, २,१०४; श्री डी० आर० रेग्मी : एन्शिएण्ट एण्ड मेडिएवल नेपाल, १५३-५४)।

हरिसिंह देव का वह नेपाल-आक्रमण वहाँ के मल्ल-वंशीय भूप जयरुद्र मल्ल के शासनकाल में हुआ था। उसने भटगाओं (नेपाल की एक राजधानी) के सिंहासन पर

आधिपत्य स्थापति कर १४ वीं शती के द्वितीय चरण के आरम्भ से उसके उत्तरार्द्ध तक २८ वर्ष राज किया । उसके बाद उस कुल के और तीन शासकों के शासन का पता नेपाल का इतिहास देता है ।

हरिसिंह देव के पश्चात् उसके पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र–मतिसंह, शक्तिसिंह तथा श्यामसिंह ने क्रमशः १५, २२ और १५ वर्षों तक राज किया । कुछ विद्वानों के मतानुसार हरिसिंह देव के पौत्र शक्तिसिंह ने २७ अथवा ३३ वर्षों तक शासन किया था । चीन-सम्राट ने हरिसिंह देव के पुत्र मतिसिंह के पास दो बार अपने राजदूत भंजे थे । चीन सरकार की ओर से नेपाल पर उसकी राजसत्ता को मान्यता प्रदान की गयी थी (परसीवल लैण्डन : नेपाल, वाल्यूम-१,पृ० ३७-३९)। हरिसिंह देव के पौत्र शक्तिसिंह देव को भी चीन सम्राट ने नेपाल भूप के रूप में अपने मोहर-अंकित पत्र भेजकर चीनाब्द ५३५ में मान्यता प्रदान की थी (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, १३, ४१४)। सिलभ्यां लेवी ने भी इस तथ्य पर प्रकाश डाला है । हरिसिंह देव के प्रपौत्र श्यामसिंह देव के शासनकाल में भी चीन ने दूत भेजकर उसके नेपाल पर प्रभुत्व को स्वीकार किया था । श्यामसिंह के पीछे भी उस कुल के दो और शासकों का नेपाल में शासन १४१३ ई० तक बताया जाता है, परन्तु उनके नाम का पता नहीं है । सम्भवतः श्यामसिंह देव के पश्चात् कर्णाट-राजवंश की शक्ति का ह्रास हुआ, जिस कारण से उनके नाम का उल्लेख किसी के द्वारा आगे नहीं किया गया । इस प्रकार कर्णाट-क्षत्रिय-राजकुल का शासन नेपाल पर हरिसिंह देव से आरम्भ होकर कुल के अन्तिम नृपति (छठी पीढ़ी) तक लगभग एक शती तक बना रहा ।

नेपाली उत्कीर्ण लेखों एवं वंशावलियों के उल्लेखों से पता चलता है कि हरिसिंह देव तथा जयरुद्र मल्ल के शासनकाल में १३२८ ई० की शरत-ऋृतु में आदित्य मल्ल के नेतृत्व में खासियों ने पुनः नेपाल पर आक्रमण किया, और ठीक उसी समय मल्ल-कुल-भूप जयरुद्र मल्ल की मुत्यु भी हो गई । परन्तु उस आदित्य मल्ल को विफल होकर लौटना पड़ा । हरिसिंह दव के पुत्र मतिसिंह के पास जिस चीनी सम्राट् ने दो बार अपना दूत-मंडल भेजा था, उसका नाम हांग-ऊ था । उसने राजा मतिसिंह को अपने पत्र में मा-त-न लिखकर सम्बोधित किया था । उसने अपने दूत-मंडल के नेता के हाथ एक मोहर भी मतिसिंह के पास प्रेषित की थी । उसी मोहर के द्वारा उसने नृपति की नेपाल पर प्रभुसत्ता की स्वीकृति दी थी । मतिसिंह ने भी बदले में चीन-सम्राट् के पास एक स्वर्ण-मंडप तथा अनेक पुस्तकें उसकी राजधानी पेकिंग में प्रेषित की थी । उसी प्रकार का आदान-प्रदान पुनः १३९० एवं १४१३ में हुआ था । शक्तिसिंह के पास चीन-सम्राट् ने चीनाब्द ५३५ में जो पत्र भेजा था, उसमें 'शक्तिसिंह राम' उत्कीर्ण मोहर का अंकन था ।

जयस्थिति मल्ल एवं पुत्रगण तथा वंशज

श्यामसिंह के पश्चात् कर्णाट-राजकुल का विक्रम शनैः-शनैः विलीन होता दीखता है । उत्थान के पश्चात् पतन तथा पतन के पश्चात् उत्थान प्रकृति का नियम है । कर्णाट-राजकुल के शौर्यावसान-काल में मल्ल-वंश का जयस्थिति मल्ल नामक एक राजकुमार अति महत्त्वाकांक्षी निकला । उसने कर्णाट-राजपरिवार के सदस्य जगतसिंह की पुत्री जालल्ल देवी से विवाह किया । वह कर्णाट-कुमारी जालल्ल देवी मल्ल-कुल-भूप

जयरुद्र मल्ल की कल्याणी कन्या नायका देवी से उत्पन्न हुई थी। नायका देवी जगतसिंह की अर्द्धांगिनी थी, और जगतसिंह जयरुद्र मल्ल का जामाता था। उस जयस्थिति मल्ल ने उपर्युक्त सम्बन्धों के कारण मल्ल एवं सूर्यवंशी कर्णाट-कुल के सिंहासनों पर अधिकार कर सम्पूर्ण नेपाल पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उसने मल्ल-राजकुल के जामाता के जामाता होने के नाते अपने को दोनों राजकुलों का वैधानिक प्रतिनिधि घोषित किया था।

मालूम पड़ता है कि १४१८ ई० के पश्चात् हरिसिंह देव के वंशजों का अधिकार नेपाल की तराई से भी उठ चुका था। इसी कारण से जब चीन-सम्राट् हुएन्-टी ने १४२७ ई० में कर्णाट-राजकुल के साथ पुरानी मैत्री को पुनर्नवीन करने के हेतु अपना दूत-मंडल नेपाल भेजा तो वहाँ से उसे कोई उत्तर प्राप्त न हो सका (एच० सी० राय : डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, वॉल्यूम-१, पृ० २२२-२४; जर्नी बाई वेण्डल्ल-८३-८७, तथा ११-१२)।

जयस्थिति मल्ल के तीन पुत्र हुए -(१) धर्म मल्ल, (२) ज्योति मल्ल, तथा (३) कीर्त्ति मल्ल। तीनों भाइयों में प्रेम था। तीनों ही आपस में हिल-मिल कर रहते थे, तथा सभी कार्य एक-दूसरे के सहयोग से करते थे। उन तीनों भाइयों के सम्मिलित प्रयत्न एवं उद्योग से नेपाल समृद्धिशील हुआ, और प्रजा ने सुख-शान्ति का अनुभव किया।

कर्णाट-कुल के भूपों का आधिपत्य यत्र-तत्र १४१८ के पूर्व तक नेपाल में था। पर उनकी उन्नति अवरुद्ध हो चुकी थी। दिनोंदिन उनकी अवनति ही होती गयी, और अन्त में वहाँ से इनका छिट-फुट शासन भी उठ गया।

जयस्थिति मल्ल के द्वितीय पुत्र ज्योति मल्ल ने अपनी विजयों द्वारा राज्य की सीमाओं में वृद्धि की। उसकी महत्त्वाकांक्षा सम्राट्-पद प्राप्त करने की थी। उसका पुत्र यक्ष मल्ल अपने पिता से भी अधिक दुरत्यय एवं दुर्द्धर्ष वीर था। उसने अपने पराक्रम से नेपाल के शत्रुओं एवं विघटनकारी शक्तियों का अपचय किया तथा अखण्ड नेपाल को उसने सम्राट् बन कर शासन किया। वह १४२५ ई० के लगभग नेपाल के सिंहासन पर आसीन हुआ था (आर० सी० मजमूदार : एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३७६)। वह बहुत बड़ा विजेता था। निस्सन्देह वह मल्ल-वंश का सबसे विक्रमी एवं प्रसिद्ध भूपति था। किन्तु उससे एक महान् राजनीतिक भूल हुई। उसने अखण्ड नेपाल-साम्राज्य को चार भागों में विभक्त किया। उसके तीन पुत्र एवं एक पुत्री थी। उसने अपनी चारों सन्ततियों को साम्राज्य का एक-एक भाग देकर उन्हें पृथक्-पृथक् राज करने का अवसर दिया। चारों ही अपने-अपने राज्य में सार्वभौम स्वतन्त्र नरेश हुए। चारों राज्यों की शक्तियों का समन्वय करने वाला कोई संघ-शासन रह नहीं गया था। यक्ष मल्ल ने स्वयं चक्रवर्ती भूप का पद प्राप्त किया था। पर उसकी सन्तान उस स्थिति में न रही। यक्ष मल्ल के तीनों पुत्रों एवं जामाता में सौहार्द नहीं था। सभी कलह-प्रिय थे, और एक-दूसरे के राज्यांश को हड़प लेने की चेष्टा में लगे हुए थे। उनके तथा उनके वंशजों के बीच चिरव्यापी झगड़े ने देश को बिगाड़ दिया। देश की उन्नति में अवरोध हुआ। सारे विकास-कार्य रुक गये। राज्य में राजनीतिक अस्थिरता एवं अव्यवस्था के कारण अराजकता फैल गयी। प्रजा विह्वल हो गयी। यह अवस्था वहाँ १७६८ ई० तक बनी रही। आपसी संघर्ष ने चारों राज्यों के

बल-विभव को क्षीण कर दिया। राष्ट्र छिन्न-भिन्न हो गया। देश गरीब हो गया। छोटे-छोटे सामन्त राज्य जहाँ-तहाँ स्वतन्त्र होकर पनप उठे। चारों ओर हौल-खौल मच गया। परिणाम यह हुआ कि विक्रमी यक्ष मल्ल के वंशजगण, जो विभाजित नेपाल की गद्दियों पर विराजमान थे, विक्रम-विहीन हो गये, और मल्ल-कुल-भूपों के हाथ से पृथ्वी निकलने लग गयी। शासन की नसें ढीली हो चुकी थीं। अतः शासन-सूत्र के संचालन करने में वे सभी अक्षम हो गये, और राज्य उनके हाथ से निकल गया।

गोरखा क्षत्रिय राजकुल

सप्त गण्डकी (गण्डक की सात धाराओं के बची की भूमि) के मध्य भू-भाग पर उस काल गोरखा राजपूतों (क्षत्रियों) का शासन था। उसका मांडलिक राजा पृथी नारायण (पृथ्वी नारायण) जन-प्रिय था। प्रजा उसे प्रेम एवं आदर की दृष्टि से देखती थी। उसमें संगठन-शक्ति प्रचुर थी। शत्रु उसकी वीरता क सामने सदा भयभीत रहते थे। राजा पृथी नारायण ने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति से लाभ उठाकर देश के अन्यान्य मांडलिक सामन्त राजाओं का संगठन किया। उसने उन सबों का सौहार्द प्राप्त किया। वह स्वयं पराक्रमी एवं अनुभवी था ही। उस गोरखा वीर ने १७६८ ई० में अग्रसर होकर मल्ल-भूपों को अपदस्थ किया, तथा नेपाल के राज्य-सिंहासन को अधिकृत कर उस पर अपने को आसीन किया। राजा पृथी नारायण के वंशज-भूपों ने नेपाल का सार्वभौम साम्राज्य प्राप्त कर 'वीर विक्रमाशाह देव' का अधिकार-सूचक विरुद धारण किया था। महाराज पृथी नारायण विजित शत्रुओं के प्रति उदार एवं क्षमाशील नहीं था। उसने नेपाल-विजय के पश्चात् पाटन से सभी क्रिश्चियन पादरियों एवं उनके अनुयायियों को निकाल बाहर किया। कीर्त्तिपुर के अधीश्वर ने विकट युद्ध के पश्चात् पराजित होने पर ही नगर को पृथी नारायण के अधीन किया था। इस अपराध में उसने वहाँ के सभी पुरुषों की नाक एवं ओष्ठ कटवा दिये (सर जॉन हौल्टन : विहार, दि हार्ट ऑफ इण्डिया, पृ० ९५)।

उन्नीसवीं शती के मध्य के लगभग राजा पृथी नारायण के वंश में महाराजा राजेन्द्र वीर विक्रमशाह देव हुए। उनके मन्त्रिमण्डल में चार मन्त्री थे, जिनमें एक का नाम गगनसिंह वा ललनसिंह था। प्रधानमन्त्री का नाम भीमसेन थापा था (शुकराज शास्त्री : 'शहीद की कलम से', पृ० ६७)। उस काल वहाँ के मन्त्रिमण्डल में भयंकर दरार पड़ गयी थी। आपस में फूट थी। कलह ने वहाँ अपना स्थान जमा लिया था। गगनसिंह राजमहल का प्रियपात्र था। अतः उसके प्रति अन्य मन्त्रियों का द्वेष होना अस्वाभावकि नहीं था। एक दिन अकस्मात् किसी ने गगनसिंह की हत्या कर दी। इस कारण से राज्य में खलबली मच गयी। उस हत्या के परिणामस्वरूप राजप्रासाद का वातावरण भी शान्त न रह सका। वहाँ भी भयंकर क्रांति मची थी।

महाराजा राजेन्द्र वीर विक्रमाशाह देव का प्रिय पात्र एक युवक जंगबहादुर था। वह बड़ा ही बहादुर, वीर, विक्रमी एवं प्रत्युत्पन्नमति था। वह राणा-कुल का था। वह महाराजा से अधिकार प्राप्त कर सेना का नेता बना। उसने भयंकर रक्तपात के द्वारा राज-भवन की क्रान्ति का शमन किया। उसकी तीखी तलवार के आतंक से उस काल नेपाल

की धरा थर्रा गयी । अधिकार-सम्पन्न नेपालियों के रक्त से राजधानी की भूमि आर्द्र हो गयी । वीरों के रक्त की अजस्त्रधारा नेपाल की राजनीति में परिवर्त्तन लायी । द्रोहानल को इस प्रकार रुधिर-धार से बुझा कर उस महत्त्वाकांक्षी और जंगबहादुर ने स्वयं महामात्य (प्रधानमन्त्री) पद ग्रहण किया, तथा देश का शासन-सूत्र अपने हाथ में ले लिया । विशाल नेपाल राष्ट्र का प्रधानमन्त्री बन कर उसने महाराज को अपदस्थ करने का विचार किया । जिस सोपान की सहायता से राजीनति के अति ऊँचे स्थान पर वह पहुँच कर आसीन हुआ था , उसे ही पदाघात कर दूर फेंकने का निश्चय उसने कर लिया । उसने महाराजा को सिंहासनच्युत कर उस कुल के एक अबोध शिशु को नेपाल की गद्दी पर बैठाया ।

कहा जाता है कि नेपाल में गोरखा क्षत्रिय राज्य के संस्थापक राजा पृथी नारायण देव के पौत्र राजा रण बहादुर शाह देव का मस्तिष्क संतुलित नहीं था । राज्य-कार्य, धार्मिक आचार-विचार एवं सामाजिक प्रचलित रीति-रिवाजों में वे यदा कदा स्वेच्छाचारिता की पराकाष्ठा पर पहुँच जाते थे। उनका शासनकाल विक्रम सम्वत् १८३४ से १८५३ (१७७८-१७९७ ई०) तक बताया जाता है । राजा रण बहादुर शाह देव के पौत्र महाराज राजेन्द्र विक्रमाशाह देव का शासनकाल वि० सं० १८७३ से १९०३ (१८१७ से १८४७ ई०) तक था । एक दिन उनकी भेंट अकस्मात् एक साधारण परिवार के साहसी, प्रतिक्रियावादी एवं अति महत्त्वाकांक्षी नवयुवक राणा-वंशीय जंगबहादुर से हुई, और वह शनैः-शनैः उसका प्रियपात्र बन गया । नवयुवक का प्रभाव धीरे-धीरे राजमहल एवं सैनिक-क्षेत्र में बढ़ गया । उसने राजभवन में क्रान्ति उत्पन्न कर दी । मन्त्री की हत्या उसी काल में हो गयी । वातावरण विषाक्त हो गया । नेपाल में दुर्गा-पूजा की सप्तमी तिथि को 'कोत' पर्व होता है । उसी दिन के उत्सव-काल में महाराजा के राजभक्तों को छल से राजमहल के अन्तराल में बुलाकर उनका बलिदान दिया गया । महाराजा राज्यच्युत हुए । सेना पर और शासन पर राणा जंगबहादुर का अधिकार हुआ । वह अपने लिए सर्वाधिकार सुरक्षित कर राज्य का प्रधानमन्त्री बन गया । उसने प्रधानमन्त्री के पद को वंश-परम्परागत बना लिया । उस लोमहर्षक काण्ड में उसका अपने भ्राताओं से सहायता मिली थी । इसलिए उत्तराधिकार की परम्परा में भाई को क्रमागत वरीयता दी गयी । प्रधानमन्त्री को श्री ३ सरकार की उपाधि मिली, और महाराज पृथी नारायण के वंशज को नाम मात्र को सम्राट् उसने बनाया । उन्हें श्री ५ सरकार महाराजाधिराज का विरुद प्राप्त हुआ ।

भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम की प्रथम मुठभेड़, जो १८५७ ई० में हुई थी, उसने (राणा जंगबहादुर ने) भारतीय जन-आन्दोलन के विरुद्ध अंग्रेजी सरकार का पक्ष ग्रहण कर उसके समक्ष अपने को प्रभावान्वित किया । जंगबहादुर ने प्रधानमन्त्री के पद से १८४६ से १८७९ ई० तक एक तानाशाह के रूप में शासन किया । महारानी विक्टोरिया ने भी उसे समादृत किया था ।

उस राज-भवन-क्रान्ति के पश्चात् नेपाल के श्री ५ सरकार नाम मात्र के देश के अधिराट् रह गये थे । वास्तव में शासन में उनका कोई अधिकार नहीं था । वे वैधानिक राज्य-प्रमुख मात्र थे । असली शासक नेपाल का उस काल श्री ३ सरकार (अथवा प्रधानमन्त्री) था । यह क्रम राणा जंगबहादुर के समय में आरम्भ हुआ और बीसवीं शताब्दी

के लगभग मध्य तक चलता रहा । इस लम्बी अवधि में नेपाल का प्रधानमन्त्री ही राज्य-शासन के विषय में सर्वेसर्वा था । सम्राट् (श्री ५ सरकार) बिना प्रधानमन्त्री (श्री ३ सरकार) की सहमति के न किसी बाहरी व्यक्ति से मिल सकते थे और न कोई शासन-सुधार आदि कार्य ही कर सकते थे । राज्य की सम्पत्ति राणाओं की सम्पत्ति समझी जाती थी । राष्ट्र की सम्पत्ति प्रधानमन्त्री एवं उनके परिवार की सम्पत्ति बन गयी । देश में गरीबी छा गयी । लक्ष्मी ने अपना निवास राणा परिवार के आवासों में बनाया ।

अन्त में इस प्रकार की विषम परिस्थिति से ऊब कर बीसवीं शती के मध्य के लगभग प्रजा ने क्रान्ति की । राणाओं के निरंकुश शासन से पीड़ित होकर जनता तिलमिला उठी । उसने देश में व्यापक जन-कष्ट के निवारणार्थ आन्दोलन किया । क्रान्ति की लहर राष्ट्रव्यापी हो गयी । वह क्रान्ति भारत में निकट अतीत में हुई राज्य-क्रान्ति की भाँति केवल अहिंसात्मक क्रान्ति न रह गयी । उसने हिंसात्मक रूप धारण किया । श्री ३ सरकार का दमन-चक्र उसको दबा देने में सक्षम न हो सका ।

प्रजा के कष्टों की कहानी राजमहल में बैठे पृथी नारायण-कुलोद्भव महाराज त्रिभुवन वीर विक्रमाशाह देव के कानों तक पहुँची । उन्होंने सुना कि प्रजा-वर्ग का शोषण शासन के द्वारा होता है, और उनसे कर लेकर भी उनका उचित पोषण नहीं होता है । अतः उनमें असन्तोष है । वे क्षुब्ध, और दुखी हैं । क्रांति के अतिरिक्त कष्टों से त्राण पाने का कोई उपाय उनके हाथ में नहीं है । अतः वे बेचैन हो गये हैं, और इसी कारण से क्रान्ति का मार्ग उन्होंने अपनाया है । महाराजा के मानस में उन दलितों के प्रति सहानुभूति का स्रोत उमड़ पड़ा ।

वास्तव में महाराजा भी स्वतन्त्र न थे । प्रधानमन्त्री राणा जंगबहादुर के द्वारा शासन-सूत्र अपने हाथ में लेने के पश्चात् से वे वंश परम्परागत एक प्रकार का काराजीवन व्यतीत कर रहे थे । ऊपर अंकित किया जा चुका है कि वे बिना प्रधानमन्त्री की अनुमति के किसी से भेंट अथवा वार्त्तालाप नहीं कर सकते हैं । राज्य से कहीं बाहर जाना तो उनके लिए दूर की बात थी । पर महाराज ने साहस कर इन प्रतिरोधों का अतिक्रमण किया । प्रजा की पुकार पर करुणार्द्र होकर महाराजा त्रिभुवन वीर विक्रमाशाह देव ने हठात् राजभवन का त्याग किया । वे बाहर निकल पड़े । पुरानी रूढ़ि को उन्होंने तोड़ दिया । प्रजा से स्वच्छ हृदय से उन्होंने बातें कीं । इस अप्रत्याशित एवं अनहोनी घटना को देखकर मन्त्रि-दल में खलबली मच गयी । वे सर्वप्रथम भारत आये । यहाँ की शासन-पद्धति एवं विकास कार्य को उन्होंने देखा । पश्चात् वे इसी कार्य के हेतु विदेश भी गये । वहाँ की शासन-पद्धति, देश का उद्योगीकरण, नाना विकास-कार्य, राजनीतिक स्थिति आदि का अवलोकन कर उनका सम्यक् अध्ययन भी उन्होंने किया । महाराजा ने अपने देश के शासन में सुधार किया, और उसकी घोषणा जन-साधारण के बीच मुक्त कंठ से की । मन्त्रि-परिषद् को उन्होंने भंग कर दिया । प्रधानमन्त्री का अधिकार महाराजा ने स्वयं ग्रहण किया । शासन भी अब से नृप-अधिकृत हुआ । भविष्य में प्रजा-हित-दृष्टि से सभी प्रकार के आवश्यक सुधार शासन में करने का आश्वासन भी विशाल-हृदय दयालु भू-पाल ने दिया ।

महाराजा के उक्त सुधार-कार्य ने उन्हें प्रजा-प्रिय बना दिया । पहले वे केवल नेपाल राष्ट्र के सम्राट् थे, परन्तु उनकी प्रजा-वत्सलता एवं हितैषिता ने उन्हें जनता-हृदय-सम्राट् बना दिया । इसी बीच महाराजा त्रिभुवन वीर विक्रम का देहावासन हुआ । उनकी मृत्यु के बाद उनके सुयोग्य पुत्र महेन्द्र वीर विक्रमशाह देव नेपाल के सिंहासन पर आसीन हुए ।

महाराजा त्रिभुवन के अचिर एवं अकस्मात् महाप्रयाण के कारण नेपाल की स्वातन्त्र्यप्रिय जनता को अपार दुःख हुआ । उनसे उसे बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं । महेन्द्र वीर विक्रमाशाह देव १९५६ई० में अपने पिता की गद्दी पर बैठे थे । उनके सुधार-कार्यों से प्रजा को सन्तोष हुआ । नव महीप ने अपने पूज्य पिता के चरण-चिह्नों पर चलना आरम्भ किया । उनके कार्यों से पता चला और जनता को विश्वास हो गया कि वे भी अपने पिता के तुल्य ही देश की उन्नति एवं उसकी सुख-समृद्धि की बढ़ती के इच्छुक हैं, और लक्ष्य की पूर्ति के हेतु सक्रिय हैं । महाराजा महेन्द्र वीर विक्रमाशाह देव भारत के मित्र एवं शुभेच्छुक हैं । उन्होंने विश्व का भ्रमण कर भिन्न-भिन्न देशों की राजनीति का पृथक्-पृथक् ज्ञान प्राप्त किया है । अपने राष्ट्र नेपाल को अनेकानेक सुधार एवं विकास-कार्य द्वारा उन्नति करने के पथ पर नृपति ने आगे बढ़ाया है । अपने देश की सर्वतोभावेन भौतिक उन्नति करने के हेतु वे तुले हुए हैं । उसके लिए भिन्न-भिन्न देशों से उन्होंने तकनीकी एवं आर्थिक सहायता भी प्राप्त की है । अनेक सड़कों का निर्माण वहाँ हो रहा है, तथा सिचाई हेतु भी अनेक योजनाओं की कार्यान्विति हो रही है । देश में यातायात की सुविधा होने से व्यापार में वृद्धि हुई है । नेपाल का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी दृढ़तर हुआ है और होता जा रहा है ।

महाराजा त्रिभुवन वीर विक्रमाशाह देव, जिन्होंने नेपाल की प्रजा को राणा-वंशीय प्रधानमन्त्रियों के निरंकुश शासन से उन्मुक्त किया था, के वंशज ही उस राजकुल के आदि संस्थापक राज़ा पृथी नारायण के सिंहासन पर विराजमान होकर अद्यपर्यन्त (बीसवीं शती के तृतीय चरण में) नेपाल का शासन करते आये हैं । महाराजा महेन्द्र वीर विक्रमाशाह देव के विचार प्रगतिशील हैं । मन्त्रिपरिषद् की सम्मति से उन्होंने राज्य में अनेक सुधार किये हैं । इनके शासनकाल में ग्राम, जिला एवं अंचल पंचायतों का निर्माण हुआ । उन पंचायतों के जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों को राज्य-शासन में भाग लेने का अधिकार प्राप्त हुआ । देश की सर्वोच्च राजनीतिक संस्था राष्ट्र-सभा में भी जनता द्वारा निर्वाचित पंच ही प्रजा का प्रतिनिधित्व करते हैं । वह राष्ट्र-सभा नेपाल के वर्त्तमान विधानानुसार नेपाल-राष्ट्र की सर्वशक्ति सम्पन्ना राष्ट्रीय राजनीतिक संस्था है, जिसके निर्णय के अनुकूल ही राज्य के शासन-सूत्र का संचालन होता है । अन्तर्राष्ट्रीय नीति का निर्धारण भी राष्ट्र-सभा ही करती है । नेपाल के शासन में राष्ट्रीय पंचायत का स्थान एवं अधिकार सर्वोपरि है ।

चौथी एवं पाँचवीं शताब्दियों में अपने सुशासन से भारत में स्वर्णयुग उपस्थित करने वाले गुप्त राजकुल के साम्राज्य में प्रचलित संविधान के आधार पर ही पंचायत-पद्धति का समावेश मम्भवतः नेपाल में वहाँ की वर्त्तमान सरकार ने किया है । उपर्युक्त राष्ट्रीय पंचायत में नेपाल-नरेश का स्थान विधानतः सर्वोच्च है । राजा ही उसका स्थायी एवं सर्वशक्ति-सम्पन्न अध्यक्ष है ।

नेपाल के गोरखा क्षत्रियों की वीरता विश्व-विख्यात है । वे सभी समर-शूर, सत्य-निष्ठ, राजभक्त होते हैं । संसार के सभी देशों के संग्राम में सफलतापूर्वक गोरखा वीर भाग लेते हैं । विशेषतया वे लौहजीवी हैं, और अपनी वीरता से क्षात्र-धर्म का पालन करते हैं । नेपाल पर लगभग दो सौ-वर्षों से गोरखा क्षत्रिय राजकुल का शासन चला आ रहा है ।

नेपाल और भारत की संस्कृति, धर्माचार, रीति-रिवाज, रहन-सहन, शास्त्र-पुराण, आगम-निगम, विधि-विधान, स्मृति आदि सभी एक हैं । अतः दोनों के बीच सद्भावना एवं मैत्री का होना स्वाभाविक है । भारतवर्ष की भाँति ही नेपाल का शासन भी धर्मनिरपेक्ष है । वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ था । परन्तु पीछे उस धर्म के आचारादि के प्रति बौद्ध भिक्षुओं की उपेक्षा तथा हिन्दू धर्म के प्रभाव के कारण नेपाल में बौद्ध धर्म का ह्रास हुआ । महायान सम्प्रदाय के बौद्ध-भिक्षुओं का तन्त्र-जाल भी उस धर्म के शीघ्र पतन में सहायक हुआ, और धीरे-धीरे उसका वहाँ से लोप ही हो गया । हिन्दू-धर्म के शैव सम्प्रदाय की वहाँ प्रधानता है । पशुपतिनाथ महादेव नेपालियों के परम पूज्य एवं उपास्य इष्ट देव हैं । उनके मन्दिर की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति है, वहाँ प्रतिवर्ष शिवरात्रि के पावन अवसर पर लाखों श्रद्धालु भारतीय शिव-भक्त भी भगवान् पशुपतिनाथ के दर्शन तथा पूजन-अर्चन के हेतु पहुँचते हैं ।

नेपाल की शासित प्रजा में किरातों का बाहुल्य है । पर भौगोलिक तथा अन्य विषयों में उसका भारत के साथ साम्य है । दोनों ही देशवासियों की मान्यता, सभ्यता, संस्कार, तीर्थ, ग्रन्थ, आचार, विचार, जीवन-पथ आदि सनातन हिन्दू धर्मानुकूल है । दोनों ही देशों के अधिकांश निवासी वैदिक आर्य धर्म पर विश्वास रखते हैं, तथा उसी के निर्देशानुसार उनके धार्मिक संस्कारादि होते हैं । दोनों को ही भारतीय आर्य-षट्दर्शन के शिक्षण-सार पर श्रद्धा एवं विश्वास है । अतः दोनों देशों के बीच मैत्री एवं सद्भावना में दोनों का ही स्वार्थ तथा परमार्थ निहित है ।

नेपाल के लिच्छवि-नरेशों की वंशावली

नेपाल के लिच्छवि-भूपतियों के निम्नांकित नामों के क्रमांक, जो वंशावलियां में अंकित हैं (इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, १३, ४१२; सिलभ्यां लेवी-२९१-९२, १२२; जायसवाल : क्रौनौलॉजी ऑफ नेपाल, पृ० ४०-४१, ४५) का विभाजन तीन भागों में अधोङ्कित रूप में किया जा सकता है:-

(१)

१. भूमिवर्मन् (राजधानी बाणेश्वर में)
२. चन्द्रवर्मन्
३. जयदेव प्रथम
४. वर्षवर्मन् अथवा वृषवर्मन्
५. सर्ववर्मन्
६. पृथीवर्मन्
७. ज्येष्ठवर्मन्

८. हरिवर्मन्

९. कुबेरवर्मन्

१०. सिद्धिवर्मन्

११. हरिदत्त (इस भूपति ने ४ नारायण मन्दिरों का निर्माण किया, जिनमें प्रसिद्ध चंगुनारायण एवं नीलकंठ जलशयन मन्दिर भी सन्निहित हैं)।

१२. वसुदत्त

१३. श्रीपति

१४. शिववृद्धि वर्मन्

१५. वसन्तदेव प्रथम

१६. शिवदेव प्रथम

(२)

१७. रुद्रदेव (यह नाम कुछ वंशावलियों में अंकित नहीं पाया जाता है)।

१८. वृषदेव द्वितीय (बौद्ध धर्मावलम्बी)

१९. शंकरदेव (शैव धर्मावलम्बी, उसने पशुपतिनाथ मन्दिर में एक भव्य त्रिशूल का निर्माण कराया था, जो वहाँ अद्यावधि विद्यमान है । धातु-निर्मित विशालकाय नन्दी का भी निर्माण उसी ने कराया था, किन्तु किसी-किसी वंशावली के अनुसार उसका निर्माता उसका पुत्र बताया जाता है) ।

२०. धर्मदेव (इस नरेन्द्र ने ७०५ ई० के लगभग तिब्बत के अधिराट् को रणभूमि में समरशायी कर नेपाल राष्ट्र को स्वतन्त्र कर लिया । चंगुनारायण उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार उसने विजयोपलक्ष्य में ४ विजय-स्तम्भ का निर्माण कराया ।

२१. मानदेव

२२. महिदेव

२३. वसन्तदेव द्वितीय

(३)

२४. उदयदेव

२५. मानदेव

२६. गुणाकम देव

२७. शिवदेव [१] (इसने राजधानी को देवपाटन में स्थानान्तरित किया)।

१. शिवदेव प्रथम ने अहीर-वंशीय गुप्त नरेशों को बहिष्कृत कर पुनः अपने सूर्य-वंशीय लिच्छवि-राजकुल की राजसत्ता को नेपाल में पुनर्जीवित तथा प्रतिष्ठित किया था । शिवदेव प्रथम का नाम उदयदेव के पिता अंशुवर्मन् के पूर्व अथवा साथ आना चाहिये; क्योंकि वह उसका समकालीन था; और उसी ने अहीर गुप्तों को निकाल बाहर किया था ।

२८. नरेन्द्रदेव (तिब्बतियों की सहायता लेकर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी, और इसी ने तिरहुत के अरुणाश्व अथवा अर्जुन के विरुद्ध चीनी राजदूत को सेना देकर उसकी सहायता की थी) ।

२९. भीमदेव वर्मन्

३०. विष्णुगुप्त अथवा विष्णुदेव वर्मन्[१]

३१. विश्वगुप्त अथवा विष्णुवर्मन् (इसने अपनी पुत्री का विवाह अंशुवर्मन्[२] के साथ किया था ।

३१.(क). किष्णुवर्मन्

३२. भूमिगुप्त

३३. शिवदेव

शिवदेव (प्रथम) के शासनकाल में तथा उसके पश्चात् भी अंशुवर्मन् ने ५२५ ई० से ६३९ ई० (?) तक नेपाल पर शासन किया था ।

उपर्युक्त वंशावली-सूची की देखने पर तथा ऐतिहासिकता की दृष्टि के विचार करने पर पाठकों के मस्तिष्क में किंचित् भ्रम उत्पन्न होना स्वाभाविक प्रतीत होता है । जयदेव द्वितीय के उत्कीर्ण अभिलेख में विभागांक-१ के प्रथम दो नामों का अंकन नहीं है, जिसका उल्लेख पूर्व में पाद-टिप्पणी के नीचे किया गया है । उसके अतिरिक्त वसन्तदेव द्वितीय (विभागांक २ के क्रमांक २३) तक केवल १७ नाम पाये जाते हैं । इस प्रकार वंशावली-सूचियों एवं उक्त उत्कीर्ण लेख में नामों की संख्या में स्पष्ट अन्तर मिलता है, जो गवेषकों की गवेषणा का विषय है ।

परम भट्टारक महाराजाधिराज जयदेव द्वितीय का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है । यह अंशुवर्मन् के युवराज पुत्र उदयदेव के तनय नरेन्द्रदेव का पौत्र था । अंशुवर्मन् निःसन्देह वैश्य ठक्कुरी क्षत्रिय कुल का संस्थापक था । परन्तु जयदेव द्वितीय ने अपने उत्कीर्ण अभिलेख में उदयदेव एवं नरेन्द्रदेव को लिच्छवि-कुलोद्भव नृपति बताया है, जिसका समर्थन चीनी इतिहास से नहीं होता है । अतः क्रमागत प्रामाणिक सूची प्रस्तुत करने के हेतु इतिहासज्ञों के लिए भविष्य में भी अनुशीलन एवं शोध की आवश्यकता है ।

---

१. किर्क पत्रिक वंशावली के अनुकूल ३०,३१, ३१(क) तथा ३२ अहीर कुल के गुप्त-वंशीय राजा थे । जिष्णुगुप्त, जिसका उत्कीर्ण अभिलेख प्राप्त है, का नाम उपर्युक्त गुप्त-नरेशों के नाम के साथ अंकित नहीं किया गया है ।

२. अंशुवर्मन् वैश्य ठक्कुरी क्षत्रिय राजकुल का संस्थापक था । किर्क पत्रिक वंशावली में उसका नाम क्रमांक ३० के पश्चात् दिया गया है । (जायसवाल : क्रोनोलॉजी ऑफ नेपाल, पृ० ४५)।
जयदेव द्वितीय के उत्कीर्ण अभिलेख में क्रमांक-१, २, तथा ४ से १६ तक के नाम अंकित नहीं किये गये हैं (इण्डियन ऐन्टीक्वेरी ९; १७८; जायसवाल : क्रौनोलॉजी ऑफ नेपाल, पृ० ४०)।

श्री के० पी० जायसवाल जी के मत में महाराज जयदेव द्वितीय के उत्कीर्ण अभिलेख को देखते हुए, तथा मानदेव प्रथम और गुणाकम देव (जिनका उल्लेख ऊपर अंकित वंशावली के विभागांक-३ के क्रमांक २५ एवं २६ में किया गया है) के पूर्व में होने की प्रमाण-प्राप्ति के आधार पर निम्नांकित क्रमानुसार वंश-वृक्ष का शुद्ध रूप होना चाहिए। उनके शोधानुसार जयदेव प्रथम से आरम्भ कर क्रमांक २ से ७ के बीच में क्रमांक ११ (राजा हरिदत्त) के नाम का आना आवश्यक है। जिष्णुगुप्त के ६४३ ई० के उत्कीर्ण अभिलेख में लिच्छवि-राट् ध्रुव देव का नाम आया है। अतः उसका नाम भी वंशावली के वंश-वृक्ष में समाविष्ट होना ही चाहिए। इस प्रकार लिच्छवि-राजवंश का संभावित रूप अधोऽङ्कित होता है।

१. जयदेव प्रथम
२. वर्षवर्मन् वा वृषवर्मन्
३. सर्ववर्मन्
४. पृथीवर्मन्
५. ज्येष्ठवर्मन्
६. हरिदत्त (हरिवर्मन्)
७. कुबेरवर्मन्
८. वसन्तदेव प्रथम
९. मानदेव प्रथम (५७६ ई०)
१०. गुणाकमदेव
११. शिवदेव प्रथम (खोपसी उत्कीर्ण लेख, गुप्ताब्द-३२० के आधार पर ६३५ से ६३९ ई०)
१२. ध्रुवदेव[1] (जिष्णुप्त के मीननारायण अंशुवर्मनाब्द ४८ (६४३ ई०), कार्तिक, शुक्ल द्वितीया वाले अभिलेख के अनुसार ध्रुवदेव का नाम लिच्छवि-राट् के रूप में हमें प्राप्त होता है। उसका नाम वंशावलियों एवं जयदेव द्वितीय के अभिलेख में सम्भवतः इस कारण से नहीं आया है कि वह लिच्छवि-राज्य का विधानतः उत्तराधिकारी नहीं था। अंशुवर्मन् के पश्चात् जिष्णगुप्त ने उसे अपना लिच्छवि-सम्राट् घोषित कर अपने पद को वैधानिक एवं सुदृढ़ बनाने में कुछ काल तक सफलता प्राप्त की थी।)
१२. (क). वृषदेव
१३. शंकरदेव
१४. धर्मदेव (७०५)

---

१. ध्रुवदेव और जिष्णगुप्त के नाम वंशावलियों एवं ठक्कुरी उत्कीर्ण अभिलेखों में नही हैं। इसका कारण यह माना जा सकता है कि उन दोनों को पर-राज्यापहारी समझ कर उनके नामों का समावेश राजकुल-सूची में नहीं किया गया। ध्रुवदेव लिच्छवि-राज-कुलोद्भव नहीं था। उसने सम्भवतः वृषदेव के अधिकार का अपहरण किया था।

१५. मानदेव तृतीय (७०५-७३२ ई०)

१६. महिदेव

१७. वसन्तदेव द्वितीय (७३४-३५ ई०, गुप्ताब्द ४१५, ४३५ नहीं, जैसा कुछ लोगों ने इण्डियन ऐण्टीक्वेरी के प्लेट-२ को प्लेट-३ के साथ पढ़ा है— जायसवाल : क्रौनोलॉजी, पृ० ४३)।

वंशावली के ४ से १४ क्रमांकों के बीच ५ अधिक नामों का समावेश मालूम पड़ता है, जिनमें क्रमांक ११ के हरिदत्त का नाम निश्चित रूप से ठीक प्रतीत होता है । उसने वैष्णव धर्म का प्रचार किया था, और उसके द्वारा निर्मित वैष्णव सम्प्रदाय के अनेक मन्दिरों के निर्माणावशेष आज भी विद्यमान हैं । मानदेव प्रथम के चंगुनारायण मन्दिर के ध्वज-स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख से यह प्रामाणित होता है। अंशुवर्मन् ने अपने ६२७ ई० के हरिगाँव-अभिलेख में हरिदत्त द्वारा नीलकण्ठ के प्रसिद्ध जलशयन विष्णु-मूर्त्ति के निर्माण का वर्णन किया है (सिलभ्यां लेवी, ३, ९५, पंक्ति १४-१५)। ये सब प्रमाण हरिदत्त के उस काल में विद्यमान रहने के पक्ष में है । किन्तु अन्य नामों को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने के लिए कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है, पर साथ ही यह भी सत्य है कि वंशावली में अंकित अत्यधिक नाम सही और प्रामाणिक हैं । वंशावली-सूची में कतिपय ऐसे नाम दिये गये हैं जो जयदेव द्वितीय के अभिलेख में नहीं हैं ।

जायसवाल जी की राय में उनके द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त-सूची के क्रमांक १ से ८ (जयदेव प्रथम और वसन्देव प्रथम) के बीच उत्तरार्द्ध काल में लिच्छवि-कुल के दो राजवंश नेपाल में सम्भवतः शासन करते थे । इस प्रकार का द्वैध-शासन पूर्व काल में लिच्छवियों के वैशाली गृह राज्य में प्रचलित था, और उसकी पुनरावृत्ति वहाँ नेपाल में भी की गयी थी, ऐसा प्रतीत होता है । वंशावली एवं जयदेव द्वितीय के उत्कीर्ण अभिलेख में अन्तर का कारण जायसवाल जी के मत में यही अनुमानित है (जायसवाल : क्रौनोलॉजी ऑफ नेपाल, पृ० ४०-४४) देखें ।

उपर्युक्त लिच्छवि-नरेशों के नामों का विभाजनांक ३ असल में प्राचीन वैश्य ठक्कुरी राजकुल एवं लिच्छवि-राजाओं के नामों का सम्मिश्रण है । उसी में एक नये राजवंश गुप्त अहीर (नेपाल के पश्चाद्वर्त्ती गुप्त-वंश) के नामों का समावेश हो गया है ।

इस विभाजनांक ३ के विरुद्ध उत्कीर्ण अभिलेख में नीचे लिखे उत्तराधिकारियों के नाम दिये गये हैं:—

१. उदयदेव (अंशुवर्मन् का पुत्र जो ६३५ ई० में अंशुवर्मन् का युवराज था, और उसका छोटा भाई मानदेव चीनी इतिहास के अनुसार उसे राज्यच्युत कर राजा बन गया था)।

२. नरेन्द्रदेव (उदयदेव का पुत्र, जिसने तिब्बत-नरेश की सहायता से, अपना पैतृक राज्य प्राप्त कर ६५७ ई० तक राज किया । सम्राट् हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् इसने ही चीनी राजदूत को नेपाल की सेना देकर अरुणाचल के विरुद्ध उसकी सहायता की थी)।

३. शिवदेव द्वितीय

४. जयदेव द्वितीय (७४८ ई०)

वंशावली में जयदेव द्वितीय का नाम नहीं है । ऊपर के सभी नाम वैश्य ठक्कुरी नामक क्षत्रिय राजवंश के हैं, जो अंशुवर्मन् के पीछे हुए थे । वंशावली में शिवदेव द्वितीय के पुत्र चन्द्रकेतु देव का नाम दिया गया है, जिसका प्राप्त काल ७४० ई० है । जयदेव द्वितीय चन्दकेतु का भ्राता था । सम्भवतः उसने अपने अग्रज का राज्य अपहरण किया था। इसी कारण से उसका नाम वंशावली में नहीं दिया गया है । उसके ७४८ ई० के उत्कीर्ण अभिलेख प्राप्त है ।

जयदेव द्वितीय के उत्कीर्ण अभिलेख में उदयदेव को लिच्छवि बताया गया है । अंशुवर्मन् के वंशधरों ने अपने को लिच्छवियों का प्रकृत एवं सच्चा उत्तराधिकारी सदा घोषित किया है । इससे विवेचनशीलों के मस्तिष्क में किंचित् भ्रम का उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं है । किन्तु बड़े काजी की वंशावली, जिसका उल्लेख श्री लैण्डन की पुस्तक 'नेपाल' २-३१५, में हुआ है , में अंकित किया गया है कि अंशुवर्मन् शिवदेव प्रथम का दत्तक पुत्र था । इस कथन में निहित सत्य के प्रामाणित होने पर अंशुवर्मन् के वंशजों को लिच्छवि मानने एवं कहने में आपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि दत्तक पुत्र का गोत्र तथा वंश, गोद लेने वाले पिता के ही गोत्र और वंश के अनुकूल माना जाता है ।

लिच्छवि-भूप शिवदेव प्रथम आदि ठक्कुरी-नरेश अंशुवर्मन् का समकालीन था । किर्क पत्रिक वंशावली के अनुसार शिवदेव प्रथम ने अहीर गुप्त-नरेशों को बहिष्कृत कर लिच्छवि-शक्ति को पुनः स्थापित किया था । ये अहीर नरेशगण सम्भवतः जिष्णुगुप्त के पूर्वज थे । जिष्णुगुप्त के कई उत्कीर्ण अभिलेख प्राप्त हैं । जिनमें उसका उल्लेख हुआ है (भगवान् लाल इन्द्रजी : अभिलेख संख्या-९,१०, तथा ११; इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, ९, १७१, १७३)। जिष्णुगुप्त का एक और थानकोट-अभिलेख प्राप्त हुआ है, जो सिलभ्यां लेवी के द्वारा प्रकाशित किया गया है (ली नेपाल-३, १०२, पी० एल० १७)। उस राजाज्ञा को जिष्णुगुप्त ने कैलाशकूट राजभवन से प्रकाशित किया था । उस काल ठक्कुरी-कुल के राजा मानदेव को अभिलेख में सिंहासनारूढ़ राजकुल की पताका बताया गया है । सम्भवतः जिष्णुगुप्त युवराज उदयदेव को राज्यच्युत करने में मानदेव का सहायक एवं मन्त्रणादाता था, तथा उस षड्यन्त्र का वह सूत्रधार भी था ।

जिष्णुगुप्त के पितामह का नाम मानगुप्त गोमिन् था । वह सम्भवतः थानकोट का एक सामन्त था । उसने अपनी प्रजा पर, मल्लों के प्रहार से उसकी रक्षा करने के हेतु, मल्ल कर नाम से नवीन कर लगाया था । उस प्रकार के कुछ और कर भी उसने अपने शासनकाल में लगाये थे । जिष्णुगुप्त ने उन्हीं करों की संपुष्टि राजाज्ञा प्रसारित कर की थी, जिसका उल्लेख थानकोट-अभिलेख में किया गया है ।

समुद्रगुप्त आदि प्राचीन सम्राटों के समय में 'गोमिन्' विरुद आदरणीय पुरुषों की प्रतिष्ठा का द्योतक था । मानगुप्त को भूपति के सम्मान्य विरुद से विभूषित नहीं किया गया है । जिष्णुगुप्त के ऊपर उसके दो पूर्वजों (विष्णुगुप्त, संख्या ३०, तथा विश्वगुप्त, क्रमांक ३१) के नाम मिलते हैं । विश्वगुप्त की पुत्री का विवाह अंशुवर्मन् के साथ हुआ था । इस गुप्त-कुल के अंतिम राजा क्रमशः विश्वगुप्त एवं भूमिगुप्त हुए, पराभूत कर शिवदेव प्रथम ने लिच्छवि-कुल की अपहृता राजलक्ष्मी का पुनः उद्धार किया था । लिच्छवि-भूप गुणाकार देव प्रथम से लेकर शिवदेव प्रथम तक सम्भवतः लिच्छवि-शक्ति-चन्द्र अहीर-गुप्त-राजकुल रूपी राहु से ग्रस्त था, जिसका उद्धार एवं मोक्ष शिवदेव द्वारा हुआ ।

अनुमानतः जिष्णुगुप्त विश्वगुप्त का पुत्र प्रतीत होता है । वह उस काल मानदेव का पक्ष ग्रहण कर उसकी ओट में तानाशाह शासक बन बैठा था । पीछे उसने लिच्छवि-विधान के अनुकूल अपनी शासन-सत्ता की सम्पुष्टि के हेतु अंशुवर्मन् के कनिष्ठ पुत्र द्वितीय, जिसने उसी की सहायता से अपने अग्रज उदयदेव को राज्याधिकार से वंचित कर स्वयं राजा बन बैठा था, को अपदस्थ कर मानगृह राजप्रासाद में किसी एक लिच्छवि-वंशीय राजकुमार ध्रुवदेव लिच्छवि को लिच्छवि-सम्राट्-पद पर प्रतिष्ठित किया था । किन्तु केवल किंचित् काल पश्चात् उदयदेव के पृत्र नरेन्द्रदेव ने तिब्बत-नरेश की सहायता एवं सद्भावना से ध्रुवदेव और जिष्णुगुप्त, दोनों ही के शासन को समाप्त कर दिया । ध्रुवदेव और जिष्णुगुप्त दोनों ही पर-राज्यापहारी थे । अतः दोनों ही के नाम वंशावली एवं ठक्कुरी-अभिलेखों में अंकित नहीं किये गये हैं । 'मंजुश्री इतिहास' के अतिरिक्त अन्यत्र किसी इतिहास अथवा साहित्य में उन लोनों के नामों का उल्लेख नहीं पाया जाता है ।

उपर्युक्त वर्णन को ध्यान में रखकर और अंशुवर्मन् के पुत्र उदयदेव (युवराज) को उसका ज्येष्ठ पुत्र मानकर अंशुवर्मन् के पीछे के राजाओं की सूची निम्नांकित रूप में प्रस्तुत की जा सकती है :-

लिच्छवि	गुप्त	ठक्कुरी
ध्रुवसेन[1]	जिष्णुगुप्त अपने युवराज विष्णु गुप्त के साथ (अंशुवर्मन सम्वत् ४४ तथा ४८ = ६३९ एवं ६४३ ई० के बीच) ।	उदयसेन
वृषदेव		मानदेव द्वितीय (अंशुवर्मन् सं० ४४ और ४८ =६३९ एवं ६४३ ई० के बीच) ।
शंकरदेव		नरेन्द्र देव (६४३-६५७ ई०)
धर्मदेव (७०५ ई० के लगभग इसने तिब्बत-राट् का रण- पराभव कर अपनी मातृभूमि नेपाल को स्वतन्त्र कर लिया । इस विजय के उपलक्ष्य में उसने ४ विजय-स्तम्भ स्थापित किये) ।		शिवदेव द्वितीय (प्राप्तकाल अंशुवर्मन सम्वत् ११९= ७१४ ई०) ।
मानदेव तृतीय (गुप्त सम्वत ३८६ = ७०५ से ७३२ ई०) ।		जयदेव द्वितीय (अंशुवर्मन् सम्वत १५३ = ७४८ ई०)
महिदेव (गुप्त सम्वत् ४१३ के पश्चात् = ७३२ ई० के बाद) ।		
वसन्तदेव द्वितीय (गुप्त सम्वत् सं० ४१५ =७३४-३५ ई०) ।		

१. मानदेव द्वितीय एवं ध्रुवदेव को क्रमशः मानगृह एवं कैलाशकूट राजभवनों में उत्कीर्ण अभिलेखों के अनुसार राज करते इतिहास बताता है । अतः ६३९ से ६४३ ई० तक वृष-

जयदेव द्वितीय ने अपना अभिलेख ७४८ ई० में उत्कीर्ण कराया था। उस काल एक तक वसन्तदेव द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् लिच्छवि-राजकुल का शासन समाप्त हो चुका था। जयदेव द्वितीय के काल में सम्पूर्ण नेपाल पर ठक्कुरी-कुल का एकछत्र शासन था जो अपने को लिच्छवियों का सच्चा उत्तराधिकारी बताता था। वह अब नेपाल का अधिराट् था।

'मंजु-श्री मूलकल्प' में नेपाल का ऐतिहासिक वर्णन

"भविष्यति तदा काले उत्तरां दिशमाश्रितः।
नेपालमण्डले ख्याते हिमाद्रेः कुक्षिमाश्रिते ।।५४९।।
राजासौ मानवेन्द्रस्तु लिच्छवीनां कुलोद्भवः।
सोऽपि मन्त्रार्थ-सिद्धस्तु महाभोगी भविष्यति ।।५५०।।
विद्याभोगवती नाम तस्य सिद्धा नराधिपे।
अशीति वर्षाणि कृत्वासौ राज्यं तस्करवर्जितम् ।।५५१।।
ततः प्राणात्यये नृपतौ स्वर्गलोके जजग्मसु ?
तत्र मन्त्राश्च सिद्धयन्ति शीतला-शान्तिकपौष्टिकाः ।।५५२।।
तारा च लोकविख्याता देवी पण्डरवासिनी।
महाश्वेता परहितोद्युक्ता अखिन्नमनसा सदा ।।५५३।।
इत्येवमादयो प्रोक्ता बहुधा नृपतयस्तदा।
अनेकधा बहुधाचैव नानारूप-विवर्णिताः ।।५५४।।
शास्तुः पूजकास्तेऽपि म्लेच्छ राजान है .... ।
वविषः सुवृषश्चैव भावसुः शुभसुस्तथा ।।५५५।।
(तिब्बती ४५३ वी)
भाक्रमः पदक्रमश्चैव कमलश्चैव कीर्त्यते।
भागुप्तः वत्सकश्चैव (भास्वांश्चैव) पश्चिमः" ।।५५६।।

नेपाल के पतन विषयक वर्णन :-

"उदयः जिह्नुनो ह्यन्ते म्लेच्छानां विविधास्तथा।
अम्भोधेः भ्रष्टमर्यादा बहिःप्राज्ञोपभोजिनः ।।५५७।।
शस्त्र-सम्पातविध्वस्तमो नेपालाधिपतिस्तदा।
विद्यालुप्तास्तु राजानो म्लेच्छतस्करसेविनः ।।५५८।।

देव लिच्छवि का स्थान वहाँ नेपाल में शेष नहीं रह गया था। नरेन्द्रदेव को समस्त नेपाल पर तिब्बत-नृप के अधीन ६४३ से ६५७ ई० तक राज करते पाया जाता है। इस कारण वृषदेव एवं उसके वंशजों का पुनरुत्थान नरेन्द्रदेव के पश्चात् हुआ, और शिवदेव की बाल्यावस्था तक उनका प्रभाव वहाँ बना रहा। शिवदेव का वर्णन उसके पिता के काल के ६३ वर्षों की अवधि के पश्चात् हमें प्राप्त होता है। इस बीच वृषदेव, शंकरदेव, धर्मदेव और मानदेव तृतीय क्रमानुसार लिच्छवि-सिंहासन पर आसीन हुए। धर्मदेव शक्तिशाली नृपति हुआ, जिसने विदेशी तिब्बती अधिराट् को युद्ध में मारकर नेपाल को विदेशी [illegible] के जूए से मुक्त किया।

नेपाल का पुनरुत्थानः-

अनेके भूपतयोः प्रोक्ता नाना चैव द्विजप्रियाः ।
भविष्यन्ति तदा काले चीनं प्राप्य समन्ततः ।।५५९।।

(जायसवाल-मंजुश्री इम्पीरियल हिस्ट्री, १२, पृ० ४०) ।

उपर्युक्त श्लोकों का सारांश यह है कि उत्तर में हिमालय की उपत्यका में बसा नेपाल मंडल में मानवेन्द्र (मानदेव) नामक राजा लिच्छवि-कुल में उत्पन्न होगा । यह अत्युन्नतशील होकर ८० वर्षों तक राज करेगा । उसके शासन में विद्या समुन्नत होगी, और देश में तस्करों का भय नहीं रहेगा । उसके बाद अनेक देवियों के नाम श्लोकांक ५५२ एवं ५५३ में दिये गये हैं ।

उसके पश्चात् अनेक वंश के अनेक भूप होंगे जो अनेक जाति के होंगे । वे सभी विदेशी होंगे, और बौद्ध धर्मालम्बी होंगे (म्लेच्छ राजानो वै = तिब्बती, हिमालय-निवासी; श्लोकांक ५५४ तथा ५५५ के पूर्वार्द्ध) ।

आगे चलकर श्लोकांक ५५५ एवं ५५६ में कई राजाओं के नाम दिये गये हैं, यथा-वृष, सुवृष ,भावसु, सुभस, भाक्रम, कमल, भागुप्त, वत्सक तथा पश्चिमी नृपति ।

श्लोकांक ५५७ में उदय एवं जिष्णु के नाम आये हैं । उनके बाद म्लेच्छों के (तिब्बतियों) के अधीन अनेक राजा राज करेंगे । वे सभी नियमों को भंग कर विदेशियों के दास (गुलाम) बने रहेंगे ।

श्लोक संख्या ५५८ एवं ५५९ में कहा गया है कि नेपाल के अधिराट् (विदेशी-तिब्बती) का युद्धभूमि में पतन होगा । वह रणशायी होगा । विद्याविहीन एवं म्लेच्छ लुटेरों के भृत्य राजगणों का लोप होगा । ईश्वर के तथा देवों के प्रेमी राजाओं का आविर्भाव होगा । उनके राज्य की सीमा चीन (तिब्बत) तक फैलेगी ।

ऊपर का वर्णन अति महत्त्वपूर्ण है । वंशावलियों के वर्णनों से भिन्नता रखते हुए भी उसका साम्य चीनी तथा उत्कीर्ण अभिलेखों के बहुत अंशों में है । तिब्बतियों के आधिपत्य समाप्त होने पर नेपाल में हिन्दू-राज्य एवं हिन्दू-धर्म के उत्थान का स्पष्ट आभास हमें ऊपर अंकित श्लोकों का प्राप्त होता है ।

नेपाल के गुप्त राजवंश

नेपाल के इतिहास में दो गुप्त-राजकुलों का उल्लेख है, और दोनों का ही अस्तित्व वहाँ से प्राप्त मुद्राओं एवं अन्य प्रमाणों से प्रमाणित होता है । उनके शासनकाल की मुद्राओं के लेख एवं चित्रण से उनका सम्बन्ध प्राचीन गुप्त-सम्राटों के कुल से सिद्ध होता है । सभी वंशावलियाँ बताती हैं कि नेपाल का इतिहास गुप्त-वंश से आरम्भ होता है, जो जाति के गोपाल[१] (ग्वाला) थे ।

---

१. 'ग्वाला' का संस्कृत पर्याय वाचक शब्द 'गोपाल' होता है (राइटसं : हिस्ट्री ऑफ नेपाल, १०७-०९; भगवान् लाल इन्द्रजी-१३; इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, ४११-४१२; सिलभ्यां लेवी : ली नेपाल २, ७२, ७४; सी० एफ० किर्क पत्रिक : हिस्टोरिकल स्केच ऑफ नेपाल इन हिज एकाउन्ट ऑफ दि किंगडम ऑफ नेपाल १८११, २५५-२५७ ।

गुप्त काल के ८ नृपतियों का शासन वहाँ नेपाल में होना इतिहास बताता है, जिनमें प्रथम का नाम प्राप्त नहीं है। उस प्रथम के स्थान में 'भुक्तमान गत' काल्पनिक नाम अंकित करके आगे के ७ नामों का उल्लेख किया गया, जो अधोऽङ्कित हैं :–

भुक्तमान गत
१. जयगुप्त प्रथम (५०० ई०)
२. परमगुप्त (५२५ ई०)
३. हर्षगुप्त (५५० ई०)
४. भीमगुप्त (५७५ ई०, मानदेव प्रथम लिच्छवि-भूप द्वारा अपदस्थ किया गया)।
५. मति (अथवा मणि) गुप्त
६. विष्णुगुप्त (६०० ई०)
७. यज्ञगुप्त (जयगुप्त द्वितीय–किर्क पत्रिक)।

उपर्युक्त गुप्त-राजवंश की अन्य शाखा (महिपाल गोपाल शाखा)

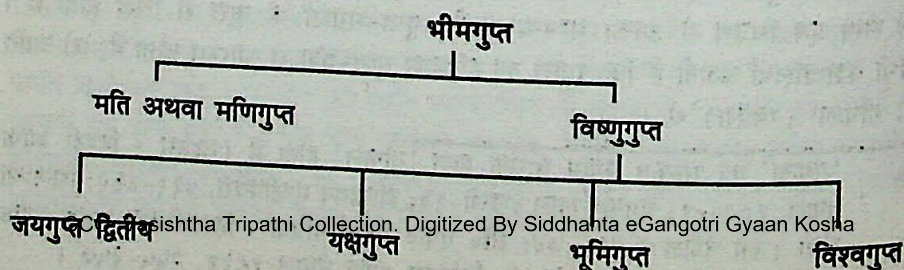
१. भरसिंह
२. जयमति सिंह (जय सिंह–किर्क पत्रिक वंशावली)
३. भोवानी अथवा भुवनसिंह

लिच्छवि-सूची में अंकित गुप्त-राजवंश के नृपतियों के नाम

१. भीम (देव)
२. विष्णुगुप्त (किर्क पत्रिक में); अन्य वंशावलियों में विष्णुदेव
३. विष्णुगुप्त (विश्वदेव, यह अंशुवर्मन् का श्वसुर था)
३. (क) किष्णुगुप्त (यह नाम केवल किर्क पत्रिक वंशावली में पाया जाता है)।
४. भूमिगुप्त

अनुमानतः उपर्युक्त राजकुल के भीमगुप्त से उस वंश की शाखाएँ निकलीं। भीमगुप्त को सम्भवतः मानदेव प्रथम (लिच्छवि) ने राज्यच्युत किया था।

भीमगुप्त के वंशजों के नाम



विष्णुगुप्त के पश्चात् उसके वंशजों को शिवदेव प्रथम लिच्छवि-नरेश ने नेपाल की राजनीति से बहिष्कृत कर दिया। यह घटना ६२५ ई० के लगभग घटी होगी, जब उसके अधीन सामन्त भूप एवं मन्त्री अंशुवर्मन् ने अपना विजय-अभियान चालू कर रखा था।

उपर्युक्त गुप्त राजवंश की अन्य शाखा, जिसे महीपाल गोपाल शाखा नाम दिया गया है, के भर वा भवसिंह, जयमतिसिंह, भोवानी अथवा भवानी वा भुवनसिंह आदि का शासन सम्भवतः तराई में था; क्योंकि ५०० और ६०० ई० के बीच नेपाल में उनके लिए स्थान नहीं था।

वर्तमान नेपाल की तराई में स्थित सिमराओंगढ़ (जहाँ तिरहुत के भूप कर्णाट-वंशीय राजाओं की राजधानी थी) और जनकपुर के बीच उस शाखा ने शक्ति-संचय कर नेपाल को अपने अधीन किया था, ऐसा बताया जाता है। उसका उत्थान जयगुप्त द्वितीय के पीछे ही हुआ होगा, जब शिवदेव प्रथम द्वारा वहाँ का शासक गुप्त-कुल-भूप बहिष्कृत कर दिया गया था। किर्क पत्रिक वंशावली के अनुसार महीपाल गोपाल क्षत्रिय था, और उसने भारत की समतल भूमि से नेपाल के पार्वत्य प्रदेश में पधार कर राज्य स्थापित किया था।

जयदेव द्वितीय के पश्चात् नेपाल का वैश्य ठक्कुरी राजवंश

डॉ० वेण्डल्ल ने ८८० ई० से लेकर नेपाल के वर्तमान राजवंश के इतिहास की खोज वहाँ से प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर की थी। उनके शोध के अनुसार ठक्कुरी-वंशीय राघवदेव का प्राप्त-काल ८८० ई० है। राघवदेव से लेकर ठक्कुरी-वंश के अन्त तक वे नृपतियों के नाम (श्री वेण्डल्ल द्वारा प्रस्तुत वंशावली में अंकित निम्नलिखित हैं:–

१. राघवदेव (शासनकाल ४६ वर्ष ६ महीने, किर्क पत्रिक के अनुसार ६३ वर्षों तक)।
२. जयदेव तृतीय (१० वर्ष)
३. विक्रमदेव (८ वर्ष ९ महीने)
४. नरेन्द्रदेव तृतीय (१ वर्ष ६ महीने)
५. गुणाकमदेव तृतीय (६५ वर्ष ५ महीने)
६. उदयदेव द्वितीय (५ वर्ष ५ महीने)
७. निर्भयदेव, १००८ ई० (७ वर्ष)
८. भोजदेव
९. रुद्रदेव (वंशावलियों में यह नाम नहीं है)।
१०. लक्ष्मीकान्त देव (१०१५ ई०, एक हस्तलिखित ग्रंथानुसार)।

(८–१०: तीनों का सम्मिलित शासन)

११. जयकाम देव, प्राप्तकाल १०३९ ई० (इसने आधे नेपाल-राज्य पर २० वर्षों तक शासन किया। वैण्डल्ल–५ के अनुसार उसके पूर्व उपर्युक्त क्रमांक ८ एवं ९ के साथ होकर वह राज करता था।)

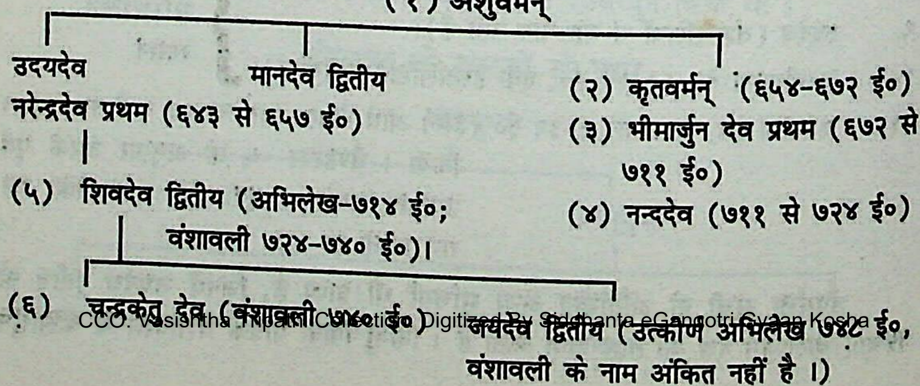
उपर्युक्त सूची के अतिरिक्त अन्य सूचियाँ भी प्राप्य हैं, जिनमें जयदेव तृतीय के पश्चात् बालार्जुन देव का नाम पाया जाता है। किन्तु किर्क पत्रिक वंशावली में बालार्जुन

देव का नाम राघवदेव के नाम के पूर्व अंकित किया गया है । यदि उसे प्रामाणिक मान लिया जाय तो राघवदेव के पूर्व के ठक्कुरी-वंशीय नृपतियों की क्रमागत सूची निम्नांकित होगी :-

१. अंशुवर्मन्
२. कृतवर्मन् (१८ वर्ष; ६५४ ई०)
३. भीमार्जुन देव (३९ वर्ष; ६७२ ई०)
४. नन्ददेव (१३ वर्ष; ७११ ई०; इसने नेपाल में शालिवाहनाब्द चालू किया था) ।
५. शिवदेव द्वितीय (१६ वर्ष ७२४ ई०)
६. चन्द्रकेतु देव (एक वर्ष से भी कम; ७४० ई०)
७. नरेन्द्रदेव द्वितीय (३७ वर्ष; कुछ लेखकों के अनुसार केवल ७ वर्ष; ७४० से ७७७ ई०) ।
८. वरदेव (शासनकाल के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं । कोई १७, कोई २३, और कोई केवल ८ वर्ष बताते हैं; ७७७ से ७८४ ई०)।
९. शंकरदेव (१२ वर्ष; ७८४ से ७९६ ई० तक)
१०. वर्द्धमानदेव (१३ अथवा १६ वर्ष; ८१२ ई०)
११. बलिदेव (१३ अथवा १६ वर्ष; ८२८ ई०)
१२. बालार्जुन देव (३६ वर्ष; ८६४ ई०)
१३. राघवदेव (वेण्डल्ल के अनुसार ४६ वर्ष ६ महीने; ८८० से ९२६ ई० तक)।

शिवदेव द्वितीय के दो पुत्र थे -(१) चन्द्रकेतु देव, तथा (२) जयदेव द्वितीय (इस भूपति का ७४८ ई० का उत्कीर्ण अभिलेख प्राप्त है, पर वंशावलियों में उसके नाम का उल्लेख नहीं है) चन्द्रकेतु देव का पुत्र वरदेव हुआ, जिसके क्रमागत वंशजों के नाम उपर्युक्त क्रमांक ९ से १३ तक अंकित किये गये हैं । सम्भवतः चन्द्रकेतु देव बड़ा भाई था, और जयदेव द्वितीय छोटा । जयदेव ने अपने अग्रज का उत्तराधिकार अपहरण किया था, ऐसा लगता है; क्योंकि उसके उत्कीर्ण अभिलेखों में कहीं उसके लिए एकछत्र सम्राट् का पूर्ण विरुद अंकित नहीं है । जयदेव द्वितीय के पश्चात् शासन-सूत्र चन्द्रकेतु देव के वंशजों के हाथों में चला गया ।

उपर्युक्त वैश्य ठक्कुरी कुल का क्रमागत वंश-वृक्ष निम्नांकित रूप का होगा :-



(७) नरेन्द्रदेव द्वितीय (७४० से ७७७ ई०)

(८) वरदेव (७७७ से ७८४ ई०)

(९) शंकरदेव (७८४ से ७९६ ई०)

(१०) वर्द्धमान देव (८१२ ई०)

(११) बलिदेव (८२८ ई०)

(१२) बालार्जुन देव (८४४ ई०)

(१३) राघवदेव (८७० से ९२६ ई०) राघवदेव के विषय में प्रसिद्ध है कि उसने नेपाल सम्वत का प्रवर्त्तन किया। कहा जाता है कि उसने नेपाल के राज-सिंहासन से लिच्छवियों का प्रत्यावर्त्तन किया था तथा उसी घटना की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के हेतु उसने ७७९-८० ई० में नेपाल सम्वत् आरम्भ किया। इस विषय की विवेचना प्रसंगवश पूर्व में जा चुकी है; क्योंकि राघवदेव के सिंहासनारोहण के पूर्व वसन्तदेव द्वितीय की मृत्यु के साथ नेपाल में लिच्छवि राजकुल की समाप्ति हो चुकी थी। वैश्य ठक्कुरी राजकुल का संस्थापक भी राघवदेव नहीं था। उस राजकुल की नींव बहुत पूर्व अंशुवर्मन् ने दी थी। पर इसमें सन्देह नहीं कि कोई प्रसिद्ध घटना ७७९-७८० में अवश्य घटी थी, जिसके उपलक्ष्य में नेपाल सम्वत् का प्रवर्त्तन इस नेपाल-नरेश ने किया।

चौदहवीं शताब्दी में नेपाल-विजेता कर्णाट-राजकुल की वंशावली

१. हरिसिंह देव[1]
|
२. मतिसिंह देव
|
३. शक्तिसिंह देव
|
४. श्यामसिंह देव
|
क्रमशः २ और भूपति, पर नाम अज्ञात

१. हरिसिंह देव के पूर्व नान्यदेव ने नेपाल की विजय १०९८ ई० में की थी, तथा उसकी तीनों राजधानियों को अधिकृत कर सारे नेपाल पर १११८ ई० तक शासन किया (आर० सी० मजमूदार : एंशियण्ट इण्डिया, पृ० ३७५)।

नेपाल के गोरखा क्षत्रिय राजकुल की वंशावली

१. पृथ्वी नारायण शाह (भाद्र शुक्ल, १४, वि० सं० १८२४ से १८३१; १७६७ से १७७४ ई०)

२. सिंहप्रताप शाह (वि० सं० १८३१ से १८३४; १७७४ से १७७७ ई०)

३. रणबहादुर शाह (वि० सं०१८३४ से १८५३;१७७७ से १७९६ ई०)

४. गीर्वाण युद्ध विक्रमशाह (वि० सं० १८५३ से १८७३; १७९६ से १८१६ ई०)

५. राजेन्द्र विक्रमशाह (वि० सं० १८७३ से १९०३; १८१६ से १८४६ ई०)

६. सुरेन्द्र विक्रमशाह (वि० सं०१९०३ से १९३७; १८४६ से १८८० ई०)

७. पृथ्वी वीर विक्रमशाह देव (वि० सं० १९३७ से १९६८;१८८० से १९११ ई०)

८. त्रिभुवन वीर विक्रमशाह देव (वि० सं० १९६८ से २०११; १९११ से १९५४ ई०)

९. महेंद्र वीर विक्रमशाह देव (वि० सं० २०११; १९५५-५६, राज्याभिषेक-काल)

(शहीद-शुकराज शास्त्री : शहीद की कलम से, पृ० ५२-५३)।

राणा वंशीय मन्त्रियों का शासनकाल

(शासनकाल १८४५ से १९५४ ई० तक । सभी के नामों के अन्त में 'जंगबहादुर राणा' विरुद के रूप में जोड़ा जाता था ।)

(१) श्री ३ महाराज जंबहादुर राणा - ३३ वर्ष

(२) श्री ३ महाराज रणोद्दीपसिंह राणा-७ वर्ष

(३) श्री ३ महाराज वीर शमशेर राणा-१६ वर्ष

(४) श्री ३ महाराज देव शमशेर राणा - ५ मास

(५) श्री ३ महाराज चन्द्र शमशेर राणा -२८ वर्ष

(६) श्री ३ महाराज भीम शमशेर विक्रम

(७) श्री ३ महाराज पद्म शमशेर राणा

(८) श्री ३ महाराज मोहन शमशेर राणा

(शहीद शुकराज शास्त्री : शहीद की कलम से, पृ० ६२)।

सिंहावलोकन

प्राचीन नेपाल के राजवंशों के काल-निर्णय सम्बन्धी कोई आधुनिक शोधपूर्ण विश्वसनीय एवं प्रामाणिक पुस्तक उपलब्ध नहीं है। नेपाल सम्वत् का आरम्भ ८७९-८०

ई० में हुआ । वर्तमान गोरखा राजवंश के हाथों में देश का शासन-सूत्र १८वीं शताब्दी के मध्य के किंचित् काल पश्चात् आया । नेपाल-सम्वत् के आरम्भ के पश्चात् से गोरखा-राज्य की स्थापना तक के राजवंशों की शासनकाल युत वंशावलियाँ तथा देश का इतिहास डॉ० वेण्डल्ल ने अथक परिश्रम कर प्रस्तुत किया था । नेपाल के हस्तलिखित ग्रन्थों के सम्बन्ध में लिखी गयी पुस्तक के उपोद्घात में उक्त डॉ० वेण्डल्ल की वह कीर्ति सन्निहित है, जिसका प्रकाशन रायल एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल द्वारा हुआ था ।

नेपाल की प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजनीतिक घटनाओं का संक्षिप्त विवरण आचार्य सिलभ्यां लेवी ने अपने ग्रन्थ 'ली नेपाल' के द्वितीय खण्ड में प्रस्तुत किया था । उसके अतिरिक्त नेपाल की वंशावलियाँ एवं कई उत्कीर्ण अभिलेख उपलब्ध हैं । सर्वश्री किर्क पत्रिक, राइट, वेण्डल्ल आदि पश्चात्य एवं भगवानलाल इन्द्रजी, राजगुरु पं० हेमराज शर्मा, आचार्य डी० आर० रेग्मी, के० पी० जायसवाल आदि पौर्वात्य विद्वानों के नेपाल के विषय में शोध श्लाघ्य, आदर्श, बहुमूल्य तथा उपादेय हैं, जिनसे उस देश के अन्धकारपूर्ण ऐतिहासिक युग की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थिति पर किंचित् प्रकाश पड़ता है ।

नेपाल के उत्कीर्ण अभिलेखों में जो काल-निर्धारण सम्बन्धी सम्वत् अंकित है, उन्हें आचार्य सिलभ्यां लेवी ने राजा शालिवाहन का चलाया सम्वत् माना है, जिसका आरम्भ ७८ ई० में हुआ था । डॉ० फ्लीट तथा वेण्डल्ल ने उन उत्कीर्ण सम्वतों को गुप्त सम्वत् होने की मान्यता प्रदान की है । गुप्त-सम्वत् का प्रवर्त्तन ३१९ ई० में हुआ था । इस प्रकार उपर्युक्त विद्वानों की गणना में शतियों का अन्तर पड़ जाता है, जो पाठकों को चक्कर में डालने वाला विचारणीय विषय बन जाता है ।

डॉ० सेसिल वेण्डल्ल ने नेपाल के हस्तलिखित प्राचीन ग्रन्थों का प्रचुर अध्ययन कर उनकी सूची प्रस्तुत की थी । अतः उनका नेपाल की घटनाओं के सम्बन्ध का ज्ञान प्रमाणपूर्ण माना जाता है । डॉ० फ्लीट ने भी उनकी मान्यता का ही प्रायः अनुमोदन किया है । सर्वप्रथम डॉ० वेण्डल्ल ही इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि नेपाल के अधिकांश उत्कीर्ण अभिलेखों में अंकित सम्वत् गुप्त सम्वत् है, शक सम्वत् नहीं । डॉ० के० पी० जायसवाल के पुरातत्त्व सम्बन्धी अनुसंधान एवं ज्ञातृत्व की मान्यता विद्वज्जनों में अद्यपर्यन्त रही है । उन्होंने भी डॉ० वेण्डल्ल की राय का ही पृष्ठ-पोषण किया है । उनकी पुस्तक 'क्रौनोलॉजी एण्ड हिस्ट्री ऑफ नेपाल' में इस विषय की विशेष विवेचना की गयी है ।

नेपाल में और भी कई समकालीन उत्कीर्ण सम्वतों की प्राप्ति हुई है । उनमें से किसी को किसी ने हर्ष-सम्वत् (जिसका आरम्भ ६०६ ई० में हुआ) माना है, और किसी ने तिब्बती सम्वत् । श्री सिलभ्यां लेवी की मान्यता के अनुसार उस तिब्बती सम्वत् का आरम्भ ५९३ और ५९५ ई० के बीच हुआ था । डॉ० के० पी० जायसवाल उस सम्वत् को ठक्कुरी सम्वत् मानते हैं, जिसका प्रवर्त्तन वैश्य ठक्कुरी राजवंश के संस्थापक महत्त्वाकांक्षी अंशुवर्मन् ने किया था । श्री लेण्डन की पुस्तक 'नेपाल', २, पृ० ३१५ में लिखा है कि बड़ा काजी की वंशावली के अनुसार शिवदेव प्रथम लिच्छवि-नरेश ने अंशुवर्मन् को अपने दत्तक पुत्र के रूप में स्वीकार किया था (डॉ० जायसवालः क्रौनोलॉजी ऑफ नेपाल, पृ० ९४)। सम्भवतः इसी कारण से अंशुवर्मन् के वंशजों ने अपने को लिच्छवियों का सच्चा उत्तराधिकारी होने का दावा किया है ।

वास्तव में नेपाल का इतिहास भारत तथा हिन्दू जाति के इतिहास का एक अंग मात्र रहा है । पार्वत्य-प्रदेश नेपाल की तराई को प्रसर नीति का आश्रय लेकर पुराकाल में हिन्दुओं ने यथार्थतः अपने राज्य का उपनिवेश बनाया था । नेपाल के प्राचीन इतिहास के सिंहालोकन करने पर पता चलता है कि उसके अधिकांश शासक हिन्दू-कुलोद्भव थे, जिन्होंने उत्तर भारत की समतल भूमि से चल कर वहाँ अपना शासन स्थापित किया था। ऐसे राजवंशों में मौर्य, लिच्छवि, पाल, कर्णाट के नाम उल्लेखनीय हैं । उपर्युक्त राजवंशों तथा पश्चाद्वर्त्तीय गोरखा-राजकुल की शासन-पद्धति पर ध्यानपूर्वक दृष्टिपात करने के उपरान्त पता चलता है कि वहाँ के शासन की सार्वभौमिकता प्राचीन काल में विभाजित रही है । परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रचलित राजनीतिक सिद्धान्त के विपरीत नेपाल का द्वैध शासन विदेशियों के आक्रमणों के विरुद्ध सदा सफल एवं सन्तोषजनक बन रहा था । लिच्छवि, ठक्कुरी एवं मल्ल शासनकाल में हम दो-दो राजाओं को एक ही नगर अथवा अति सन्निकट के राजनगरों में शान्तिपूर्वक शासन करते पाते हैं । आन्तरिक विषयों में इस प्रकार की शासन-पद्धति का प्रभाव जो कुछ भी रहा हो, पर विदेशी राजनीति में नेपाल ने बाहरी जगत् के समक्ष सदा एक होकर अपने राष्ट्र-शत्रुओं का सामना किया है, और लौह-कठिन-शौर्य से उनका पराभव रणांगण में सदा करता रहा है । देश-द्रोह एवं स्वार्थवश विश्वासघात का एक भी उदाहरण और प्रमाण इतिहास वहाँ उपस्थित नहीं कर रहा है । यह नेपाल की विशेषता सदा से रही है ।

दूसरों की दृष्टि में उपर्युक्त प्रकार के विभाजन से उद्भूत द्वैध शासन के कारण नेपाल राष्ट्र में आन्तरिक दुर्बलता अवश्य थी, पर भारतवर्ष की वैशाली के गणतान्त्रिक लिच्छवियों की शासन-पद्धति के अनुसार तथा समान, जहाँ आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र गणराज्यों का बाहुल्य था, वह राष्ट्र बाहरी शत्रुओं के समक्ष हिमालय जैसा अचल, युधिष्ठिर एवं सबल बना रहा । नेपाल देश का सम्पूर्ण इतिहास इसका साक्षी है कि उस छोटे राष्ट्र ने सदा से आक्रामकों के विरुद्ध अपनी रक्षा सफलतापूर्वक करता हुआ शत्रुओं के दाँत खट्टे किये हैं । उसने तिब्बत का उस काल में पराभव किया, जब उसकी गणना एशिया महाद्वीप की प्रथम शक्ति में थी, औरं उसका सौभाग्य-सूर्य उन्नति के सर्वोच्च गगन में मध्याह्नकालिक प्रखरता के साथ तप रहा था । उसने कश्मीर के आक्रमक महापराक्रमी एवं विद्वान् कर्कोटक वंशीय भूपति जयापीड़ विजयादित्य को काली गण्डक के किनारे एक नेपाली दुरूह एवं दुर्गम दुर्ग में, कश्मीरी इतिहास-लेखक कल्हण कवि के कथनानुसार (कल्हण : राजतरंगिणी, श्लोकांक-४०२-४५९ में जयापीड़ का इतिहास वर्णित है) मान-मर्दित कर बन्दी बनाया था, जिसे उसके स्वामिभक्त मन्त्री देवशर्मा ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर कारा-मुक्त किया, एवं उसे भगा ले गया । उस मन्त्री ने अपने प्रभु कश्मीर-नरेश के बन्दी हो जाने पर नेपाल-भूप से प्रार्थना की कि कश्मीर के राज-कोष से उसे भारी रकम भेंट में दी जायगी, और कश्मीर नेपाल का अधीन करद राज्य बनेगा यदि उसके नृपति जयापीड़ विजयादित्य को कारा-मुक्त कर दिया तो । उस विषय में अपने राजा की स्वीकृति प्राप्त करने के हेतु उसने जयापीड़ से कारागृह में साक्षात्कार करने की आज्ञा की याचना नेपाल-नृपति से की । उसे राजाज्ञा प्राप्त हुई, और बन्दीगृह में जाकर उसने अपने नृपाल

की मुक्ति की योजना बनायी । इस प्रकार मन्त्री की गुप्त मन्त्रणा से कारा से भागने और अपनी प्राणं-रक्षा करने में यह कश्मीर-नृप सक्षम एवं सफल हो सका था ।

चौदहवीं शताब्दी में महापराक्रमी मुसलमान आक्रामक वीर शमशुद्दीन का भी नेपाल के साथ समर में पराभव हुआ । नेपालियों में इस प्रकार की राजनीतिक दृढ़ता तथा बाहरी शत्रुओं से भिड़ने की क्षमता लिच्छवि-राजनीति की देन थी, जिसका पैर नेपाल में सदियों पूर्व जमा था ।

इतिहास बताता है कि हिन्दू-शासनकाल में नेपाल सदा भारत का एक न एक रूप में अविच्छिन्न अंग बन रहा था । दो महान् शक्तियों चीन और भारत के मध्य में रहने के कारण उसकी राजनीतिक स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपना विशिष्ट स्थान बना रखा है, सर्वोच्च पद पर प्राचीन गोरखा क्षत्रिय-वंशीय हिन्दू-नरेश के होते हुए भी भारत की भाँति नेपाल के शासन में धर्म-निरपेक्षता को सम्मान्य स्थान प्राप्त है ।

नेपाल में प्रचलित द्वैध-शासन

जिष्णुगुप्त के उत्कीर्ण अभिलेखों का उल्लेख श्री भगवानलाल इन्द्रजी के लेख के क्रमांक ९, १० तथा ११ में हुआ है (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी-११, १७१, १७३)। आचार्य सिलभ्यां लेवी ने उसके थानकोट-अभिलेखों का उल्लेखे अपनी पुस्तक 'ली नेपाल' में किया है । (ली नेपाल-३, १०२, पी० एल० १७)। उक्त थानकोट-अभिलेख का आज्ञापत्र जिस काल कैलाशकूट राजप्रासाद से जिष्णुगुप्त द्वारा प्रसारित हुआ था, उस समय भट्टारक (सम्राट्) मानदेव द्वितीय मान-गृह राजभवन के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ राजकुल के केतु (पताका) के रूप में लहरा रहा था ।

नव स्वयम्भूनाथ अभिलेख (जनरल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, २२, ८१) तथा ठक्कुरी-वंश के आरम्भ के इतिहास में द्वैध-राज का उल्लेख मिलता है । ठक्कुरी-कुल का संस्थापक अंशुवर्मन् ने प्रसिद्ध कैलाशकूट राजभवन का निर्माण किया था, जिसके लिए उसे गौरव एवं अभिमान था (सिलभ्यां लेवी : ३, ९८)। उसके पश्चात् उसके वंशजों ने उसी राजमहल से देश का शासन किया था । शिवदेव द्वितीय तक के उत्कीर्ण अभिलेखों में इसका उल्लेख किया गया है (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी-९, १७४) । उस काल मानगृह राजप्रासाद से लिच्छवि-नृपतिगण देश का शासन-सूत्र संचालित करते थे। उस मानगृह राजभवन का निर्माण कैलाश-कूट के निर्माण के बहुत पूर्व लिच्छवि-नरेश मानदेव प्रथम ने किया था । अंशुवर्मन् ने भी अपने नवनिर्मित कैलाश-कूट राजभवन के एक द्वार का नामकरण मानगृह किया था ।

एक अभिलेख में अंशुवर्मन् के छोटे पुत्र मानदेव द्वितीय, जो युवराज उदयदेव का कनिष्ठ भ्राता एवं राज्य अपहर्त्ता था, को जिष्णुगुप्त ने मानगृह में अभिषिक्त किया, और स्वयं उसने कैलाश-कूट को अपना आवास बनाया, का स्पष्ट आभास है । जिष्णुगुप्त ने अपने को देवराज बताया है । इससे प्रमाणित होता है कि कैलाश-कूट राजभवन राज्य के तानाशाह शासकों का निवास-स्थान था, और मानगृह के सिंहासन पर नाममात्र के सम्राट् (वैधानिक प्रमुख) विराजमान होते थे । अंशुवर्मन् के समय में भी शिवदेव प्रथम

(लिच्छवि-सम्राट्) मानगृह में निवास करते थे, जब शासन पर पूरा अधिकार कैलाश-कूट राजभवन प्रासाद में रहने वाले महासामन्त अंशुवर्मन् का हो चुका था। मानगृह और कैलाश-कूट का सम्बन्ध क्रमशः राणा शाही के दिनों के श्री ५ सरकार तथा श्री ३ सरकार के राजभवनों के जैसा था। श्री ३ सरकार (प्रधानमन्त्री) उन दिनों राज्य के सर्वेसर्वा थे, और श्री ५ सरकार (महाराजधिराज) राज्य के वैधानिक सर्वोच्च सत्ताधारी होने के नाते केवल सर्वोच्च पद पर आसीन थे।

मानदेव द्वितीय को मानगृह के सिंहासन पर जिष्णुगुप्त के उपर्युक्त अभिलेख के अनुसार आसीन देखने से पता चलता है कि अंशुवर्मन् की मृत्यु के पश्चात् किंचित् काल के लिए लिच्छवियों के शासन का नेपाल में अन्त हो गया था। पर वह परिस्थिति वहाँ बहुत दिनों तक न रह सकी। जिष्णुगुप्त के तानाशाही शासनकाल में ही अतिशीघ्र मानगृह राजभवन में हम ध्रुवदेव लिच्छिवि को सिंहासनारुढ़ पाते हैं। मानदेव द्वितीय ठक्कुरी-वंशीय, और ध्रुवदेव लिच्छवि, दोनों ही काल में जिष्णुगुप्त को एक रूप में शासन करते हम देखते हैं। वंशावलियों में जिष्णुगुप्त का उल्लेख नहीं है। परन्तु 'मंजुश्री इतिहास' में इसका वर्णन आया है (जायसवाल : क्रौनोलॉजी ऑफ नेपाल, पृ० ४७, ४८; पाद-टिप्पणी)।

अनुमानतः वह द्वि-राज-पद्धति नेपाल में लिच्छवियों द्वारा वैशाली-गणराज्य के राजा एवं उपराजा का अनुसरण मात्र थी। गणतान्त्रिक राज-पद्धति के इस वंश को उन सबों ने राजतान्त्रिक शासनकाल में भी भुलाया नहीं, जिसने पीछे चलकर अपना स्थान देश की राजनीति में बना लिया। वहाँ के द्वैधराज की भावना लिच्छिवियों के गणतान्त्रिक विधान-प्रसूता तथा उससे प्रभावित जँचती है।



द्वादश अध्याय

अनुश्रुतियों पर आधारित मिथिला के कतिपय प्राचीन ऐतिहासिक स्थान

उच्चैठ एवं कालिदास

बिहार राज्य के दरभंगा जिले के मधुबनी अनुमंडल में बेनीपट्टी थाने के अंतर्गत उच्चैठ ग्राम है, जहाँ देवी भगवती का एक प्राचीन मन्दिर है। वहाँ एक पुराना डीह भी है। वह स्थान पूर्वोत्तर रेलवे के कमतौल स्टेशन से लगभग १६ मील उत्तर-पूरब की ओर है। वहाँ एक सुन्दर प्राचीन पुष्करिणी है, जिसके नैर्ऋत्य कोण पर इष्टिका-निर्मित मनोरम मन्दिर है, जिसमें देवी की कृष्ण-प्रस्तर-प्रस्तुत कलापूर्ण मूर्त्ति आसीन है। उस मूर्त्ति की निर्माण-कला गुप्त-कालीन प्रतीत होती है। देवी के विग्रह की ऊँचाई लगभग ढाई फीट की है। प्रतिमा के दक्षिण भाग में ब्रह्मा की मूर्त्ति एवं वाम भाग में मत्स्य की आकृति सुशोभित हैं। मन्दिर में अन्य मूर्त्तियाँ भी हैं। भगवती की मूर्त्ति टूटी हुई है, परन्तु श्रद्धालु भक्तों के द्वारा उसकी मरम्मत की जा चुकी है। सरोवर का भी जीर्णोद्धार निकट अतीत में किया गया जान पड़ता है, जिसका दक्षिणी घाट सोपानों से सुसज्जित है।

उपर्युक्त मन्दिर से पूर्व की ओर कालिदास-डीह के नाम से प्रसिद्ध ढूह तथा कमला नदी की पुरानी धारा है। नदी के तट पर प्राचीन मन्दिर का ध्वंसावशेष अब भी दृष्टिगत होता है। वर्तमान मन्दिर नदी-तट से लगभग ४०-५० गज पश्चिम है। सदियों से परंपरागत प्रचलित अनुश्रुति के आधार पर सर्वे-खतियान में भी उक्त टीले का नामांकन कालिदास-डीह के नाम से हुआ पाया जाता है। यह डीह, जहाँ सुदूर अतीत में विद्यालय था, उपर्युक्त मन्दिर से लगभग डेढ़ फरलांग दक्षिण-पूर्व की ओर है। उसकी लम्बाई वर्तमान काल में लगभग ५५ गज और चौड़ाई ५० गज शेष बच गयी है। प्राकृतिक परिवर्त्तनों के कारण उसका और भाग समतल जमीन में मिल गया है।

विद्वानों की राय में भक्त कवि सूरदास की भाँति कालिदास कई हो गये हैं। कम से कम आठ कालिदास का पता साहित्य के अन्वेषकों को लग चुका है। परन्तु स्थानीय जनता उस ग्राम, टीले तथा मन्दिर का सम्बन्ध संस्कृत साहित्य-व्योम के उस पीयूष-वर्षक विमल विधुरूप कवि-कुल-चूड़ामणि कालिदास से बताती है, जिसको विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में से एक कहा जाता है, तथा जिसकी कृति एवं कीर्त्ति-कौमुदी के सुधा-सिंचन से विशेषतः भारतवर्ष तथा सामान्यतः सारा संसार कवि के अवतरण एवं अवसान के शतशः वर्षों के पश्चात् आज भी सुधा-स्निग्ध अंतर आनन्द-संचारी भाव के पयोधि में मुहुर्मुहुः परिप्लुत होता प्रतीत होता है। कहा जाता है कि कवि का आविर्भाव मिथिला के उसी अंचल में हुआ था, जहाँ उच्चैठ-भगवती का मन्दिर है। जन्मजात अबुध एवं अविकसित-मस्तिष्क नवयुवक कालिदास ने अपनी परम पंडिता अर्द्धांगिनी से प्रताड़ित होकर उच्चैठ-निवासिनी भगवती दुर्गा की शरण ली, और कालान्तर में कृपालु करुणामयी जगन्माता की कृपा से उसकी अज्ञता दूर हो गयी, और वह संसार का सर्वश्रेष्ठ

प्रतिभाशाली कुशाग्रबुद्धि कुशल कवि बन गया । वहाँ के उपर्युक्त ढूंह को लोग कालिदास का डीह बताते हैं । उस स्थान पर निवास कर देवी की अर्चना करने के कारण अनभिज्ञ युवक वरदा माता की कृपा प्राप्त कर विश्वविख्यात अति अभिज्ञ विद्वान् बन गया । अतः वहाँ के पंचकोसी द्विजाति-परिवार अपने बच्चों के यज्ञोपवीत संस्कार के समय परंपरागत अन्धविश्वास के कारण उस डीह से थोड़ी मिट्टी लाकर वेदारम्भ के काल में उसे वेदी के निकट इस विचार से रखते हैं कि उनका बालक भी उस मृत्तिका के प्रभाव से जगन्माता की अनुकम्पा प्राप्त कर कालिदास के समान ही प्रतिभावान् विद्वान् बन जायगा, और उसका भविष्य कवि के समान समुज्ज्वल होगा; क्योंकि उक्त देवी की कृपा से कालिदास अभूतपूर्व विद्वान् हुआ, जिसकी प्रशंसा में किसी कवि ने अति सुन्दर वर्णन किया है, यथाः–

"पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः ।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावात् अनामिका सार्थवती बभूव"।।

कालिदास के समकालीन विद्वानों के जो नाम एक प्रचलित श्लोक से ज्ञात होते हैं, वे निम्नांकित हैं:-

"धन्वन्तरि-क्षपणकामरसिंह-शंकु-वेतालभट्ट-घटखर्पर-कालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य" ।।

अर्थात्–(१) धन्वन्तरि, (२) क्षपणक, (३) अमर सिंह, (४) शंकु, (५) वेतालभट्ट, (६) घटखर्पर, (७) कालिदास, (८) वराह-मिहिर, तथा (९) वररुचि । किन्तु आधुनिक शोध के अनुसार विक्रमादित्य की राजसभा के उपर्युक्त नवरत्न विद्वान् समकालीन सिद्ध नहीं होते हैं ।

कविवर कालिदास के काल-निर्णय में विद्वानों का मतैक्य नहीं है । कुछ इतिहासकारों की राय में उस साहित्यकार का अवतरण प्रथम शताब्दी ई०-पूर्व हुआ था, और अनेक उसको गुप्त-युग के विक्रमादित्य की राजसभा के देदीप्यमान रत्न बताते हैं । डा० राजबली पांडेय ने अपने ग्रन्थ 'प्राचीन भारत' (पृ० २५०) में इस कवि का काल प्रथम शती ई० पूर्व माना है । प्रचलित जनश्रुति बताती है कि उस कवि ने उज्जयिनी के अधीश्वर महाराज विक्रमादित्य की राजसभा को अपनी प्रतिभा से आलोकित किया था, और वह उसके नवरत्नों में से एक था । यह भी बताया जाता है कि ५८ ई०-पूर्व उस भूपति ने विदेशी शकों को अपने देश से बहिष्कृत कर अपनी विजय का स्मारक 'विक्रम सम्वत्' नामक शब्द का प्रवर्त्तन किया था । पर इस अनुश्रुति को यथावत् स्वीकार कर लेने में अनेक कठिनाइयाँ हैं (आर०सी० मजूमदार : एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ४६८) । अब इतिहासज्ञ विद्वान् कालिदास को पाँचवीं शताब्दी के गुप्तयुग में स्थान देने के हेतु विशेष रूप से सहमत हो रहे हैं । सम्भवतः सम्राट् समुद्रगुप्त का आत्मज चन्द्रगुप्त द्वितीय अथवा कुमारगुप्त उस कवि का आश्रयदाता भूप था (आर० सी० मजूमदार : एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ४६८)।

गुप्त-काल के सम्राट समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, स्कन्दगुप्त आदि ने 'विक्रमादित्य'

विरुद्ध धारण किया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों पर विजय प्राप्त कर उन्हें भारतवर्ष की सीमा से निकाल बाहर किया था, तथा स्कन्दगुप्त ने हूणों को हरा कर ख्याति प्राप्त की थी। अतः उनका 'विक्रमादित्य' उपाधि धारण करना यथार्थ ही था। बहुत विद्वान् तो इसको स्वीकार ही नहीं करते हैं कि चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के पूर्व किसी और 'विक्रमादित्य' का अस्तित्व कभी था, जिसकी चर्चा अनुश्रुतियों के रूप में जनता में प्रचलित है (आर० सी० मजूमदार : एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ४६८)। परन्तु ई०-पूर्व ५८ वर्ष में एक अन्य विक्रमादित्य के अस्तित्व का पता इतिहास ने अनुसन्धानकर्त्ताओं को दिया है, जिसने 'कृति', 'मालव' अथवा 'विक्रम' सम्वत् की स्थापना की थी।

जैन ग्रन्थ 'कालकाचार्य-कथानक' के अवलोकन से पता चलता है कि भारत के ऊपर शकों का पहला आक्रमण किस प्रकार हुआ था (डा० राजबली पांडेय : प्राचीन भारत, पृ० २०१-२)। उज्जयिनी का राजा गर्दभिल्ल शैव था। शैवों और जैनियों में धार्मिक विद्वेष एवं संघर्ष था। कालाचार्य के प्रति राजा का व्यवहार सौहार्दपूर्ण नहीं था। अतः उसके विनाश के हेतु जैन सूरी कालकाचार्य ने पार्थिया-साम्राज्य में जाकर शक जाति (सगकुल) के सरदारों को सिन्धु देश (हिन्दुग देश) को जय कर वहाँ राज करने के लिए आमन्त्रित किया। तदनुसार शकों ने भारत में प्रवेश कर सिन्धु, सौराष्ट्र या सुराष्ट्र तथा लाट को पहले जीता, और उन प्रदेशों को आत्मसात् किया। पश्चात् उज्जयिनी पर आक्रमण कर उन सबों ने गर्द को पराजित एवं निर्वासित किया। उस घटना के १४ वर्ष पश्चात् उज्ज-यिनी पर आक्रमण कर उन सबों ने गर्द को पराजित एवं निर्वासित किया। उस घटना के १४ वर्ष पश्चात् (५७-५८ ई०-पूर्व) निर्वासित भूपति के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से सफल लोहा लेकर उन सबों को उज्जयिनी से खदेड़ा, तथा 'विक्रम सम्वत्' का प्रवर्त्तन किया। यह सम्वत् पहले 'कृति सम्वत्' कहा जाता था। पीछे उसका नाम 'मालव सम्वत्' पड़ा। पर अन्ततोगत्वा वह 'विक्रम सम्वत्' के नाम से पुकारा जाने लगा। सम्भवतः 'कृति' राजा गर्दभिल्ल के विक्रमी पुत्र का नाम था। शकों को पराजित करने के पश्चात उसने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी। अतः पूर्व में उसके नाम के अनुसार उसके द्वारा प्रवर्त्तित सम्वत् का नामकरण 'कीर्त्ति सम्वत्' हुआ, और पीछे उसके विरुद के अनुसार यह 'विक्रम सम्वत्' कहा जाने लगा। 'कीर्त्ति सम्वत्' का प्रचार सर्वप्रथम उसके राज्य के प्रदेश मालवा में हुआ। अतः उसका 'मालव सम्वत्' के नाम से प्रसिद्ध होना भी स्वाभाविक ही था।

कालिदास द्वारा प्रणीत काव्य, नाटक तथा वर्णनात्मक कविता-ग्रन्थों में प्रतिपादित विषयों का अर्थ-गौरव, पद-लालित्य, उपमा-उपमेय-युत वर्णन-शैली आदि अद्वितीय है, जिसका अवलोकन एवं अध्ययन बड़े चाव के साथ सारे संसार के विद्या-व्यसनियों द्वारा होता है। उसके ग्रन्थ 'रघुवंश', 'कुमारसंभव', 'शकुंतला', 'विक्रमोर्वशी', 'नलोदय', 'ऋतु संहार' तथा 'मेघदूत' आदि की वर्णन-शैली को देखकर कुछ विद्वान् कालिदास को मालवा की प्राचीन राजधानी उज्जयिनी की ओर का, कुछ कश्मीर का, और कुछ प्राचीन भारत के बंगाल अथवा मिथिला की ओर का अधिवासी होने का अनुमान करते हैं। किन्तु यह भी एक विचारणीय विषय है, जिसका विश्लेषण एवं समुचित समीक्षा कर इतिहास के विद्वानों को असली तथ्य का पता लगाना तथा अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचना परमावश्यक है।

विलायती कवि शेक्सपियर के निवास स्थान की प्राचीन झोपड़ियों का अवशेष वहाँ के साहित्य-सेवियों का आज तीर्थ-स्थान बना हुआ है। परन्तु कालिदास के निवास-स्थान का निश्चयात्मक रूप से पता लगा कर उसके विषय में अन्तिम निर्णय देने में भारत के विद्वान अब तक अक्षम रहे हैं।

"अनेक विद्वानों का अनुमान है कि कालिदास ने 'मेघदूत' का प्रणंयन मध्य भारत के नागपुर जिले के 'रामटेक' पर्वत पर अथवा उसके आस-पास बैठ कर किया होगा। कवि का प्रकृति-पर्यवेक्षण एवं वर्णन उस स्थान के प्राकृतिक सौन्दर्य से साम्य भी रखता है। 'रामगिरि' नाम का अंकन भी स्पष्ट है। यही कारण ऐसे मनीषियों के इस प्रकार के उदात्त मत को स्वीकार करने का है। रामटेक-अंचल से कालिदास का संपर्क कैसे सम्भव हुआ, इस पर विचार किया जायगा।

भावुक कवि अपने भाव एवं कल्पना की उड़ान में अलकापुरी पहुँचने के लिए संदेश-वाहक बसीठ[1] को रामटेक से उत्तर की ओर सीधे मार्ग से न भेज कर उत्तर-पश्चिम की ओर उज्जयिनी (अवंतिका) नगरी में भगवान् शिव के शृंगार देखने के हेतु भेजता है। तीव्रगामी दूत लघु दूरी पर स्थित पावन सिप्रा नदी के तट पर तथा महाकाल के मन्दिर में शृंगार-काल से बहुत पूर्व पहुँच जाता है, जहाँ उसे शृंगार-वेला की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, और उससे उसे वहाँ के मनोरम अलौकिक दृश्य को देखने तथा वर्णन करने का अवसर प्राप्त होता है। पश्चात् वह कुबेर की अलकापुरी के लिए प्रस्थान करता है। कवि-काव्य-वर्णन-प्रसंग में दूत को मार्ग में नाना प्रकार के अनेक दृश्य देखने को मिलने वाले थे, जिनका आभास कवि-काव्य में मिलता है।

कालिदास के काव्य-वर्णन में स्थान-स्थान पर कलम (जड़हन, कलमदान, धान), शालि (साठी एवं बासमती धान), जुगुनू एवं बाँस के रन्ध्र में वेगवती वायु के प्रवेश से निकलने वाली सुरीली ध्वनि का वर्णन आया है। कवि के ग्रन्थों से कतिपय श्लोक अथवा श्लोकांश नीचे उद्धृत किये जाते हैं, जिनसे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है:—

(१) "स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
शुश्राव कुंजेषु यशः समुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः।।"

(रघुवंश, सर्ग-२, श्लोक-१२)

(अर्थात् उस राजा (दिलीप) ने कुंजों में वनदेवताओं द्वारा ऊँचे स्वर में गाये जा रहे अपना यशोगान सुना। साथ ही बाँस के छिद्रों में वायु भर-जाने से मधुर स्वर निकल रहे थे, मानो वे बाँस बाँसुरी बजा रहे हों।)

(२) "आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम्।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः।।"

(रघुवंश, सर्ग-४, श्लोक-३७)

(अर्थात् जैसे एक खेत से उखाड़-उखाड़ कर दूसरे खेत में ले जाकर रोपे हुए धान के पौधे किसान के घर अन्न से भर देते हैं, वैसे ही राजा रघु ने उन राजाओं को फिर राज्य पर बैठा दिया, जो उसके पैरों पर आकर गिर पड़े थे।)

१. दूत

(३) "आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या।"

(ऋतुसंहार, ३-१)

(अर्थात् पके हुए धान के समान मनोहर शरीर वाली नयी ब्याही हुई रूपवती बहू के समान शरद् ऋतु आ पहुँची है।)

(४) "वप्ताश्च पक्व कलमावृतभूमिभागा प्रोत्कण्ठयन्ति न मनो भुवि कस्थ यूनः॥"

(अर्थात् पके हुए धान से लदे हुए सुन्दर खेत इस संसार में किस युवक का मन डँवाडोल नहीं कर देते हैं?)

(५) "सम्पन्न शालि निचयावृत भूतलानि.........।"

(अर्थात् भरपूर धान के लहलहाते पौधों से भरे खेत वाले.........आदि ।)

(६) "गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसम्पातहेतोः
क्रीड़ाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः ।
अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ।"

(उत्तर मेघदूत-२१)

(अर्थात् हे मेघ! यदि मेरे घर में तुम्हें शीघ्रता से प्रवेश करना हो तो तुम तुरन्त हाथी के बच्चे के जैसा छोटा बन कर सद्‌म में क्रीड़ा के हेतु बनी हुई सुहावनी पर्वत-चोटी पर शीघ्र जा बैठना, और तब अपने विद्युत्-नेत्रों को जुगनुओं (खद्योतों) के समान थोड़ा-थोड़ा चमका कर मेरे आवास के अन्दर झाँकना ।)

कवि-कल्पना के अनुसार उज्जयिनी के वर्णन के कारण कोई कालिदास को उज्जयिनी का बताता है, और कोई अलका का चमत्कारपूर्ण वर्णन देखकर उसे कश्मीरी विद्वान् मानता है । उसी प्रकार बांसों के झुरमुटों एवं खद्योतों की प्रचुरता और शालि-रोपण-दृश्य वर्णन से कवि को कोई प्रचुर वर्षा वाले प्राची भारत के प्रदेश बंगाल एवं मिथिला का अधिवासी घोषित करता है । परन्तु ये सभी अनुमान मात्र हैं । कवि के असली आवास का पता लगाने के हेतु इतिहास के अन्वेषकों को गंभीरतापूर्वक विचार करना परमावश्यक है ।

बौद्ध भिक्षु एवं अध्येता विद्वान्, धर्मस्वामिन् (चग-लो-त्स-वा) ने नेपाल, तिरहुत एवं मगध की यात्रा १३वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में की थी । उसके उपासक एवं भक्त शिष्य चोस-द्पल दर-द्प्यन (जु-ब-चोस-दर) ने अपने गुरु के मुख से उसका यात्रा-वृत्तान्त श्रवण कर उसकी उपर्युक्त यात्रा से सम्बन्धित घटनाओं का एक स्मृति-ग्रन्थ तिब्बती भाषा में प्रस्तुत किया था । इंस्टीट्यूट ऑफ ओरिएण्टल स्टडीज, मॉस्को के एकेडमी ऑफ साइन्स के दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर डा० जी० रोएरिख ने उसका अनुवाद अँग्रेजी में किया, जिसका प्रकाशन के०पी० जायसवाल अनुसन्धान संस्थान, पटना के द्वारा १९५९ ई० में हुआ है । उक्त पुस्तक के अध्याय-७, पृ० ८२ में कालिदास विषयक एक अति मनोरंजक कथा स्थानीय प्रचलित अनुश्रुतियों के आधार पर अंकित की गयी है । उसने बौद्ध भिक्षु होते हुए भी कालिदास से सम्बन्धित वर्तमान बिहार-राज्य के एक काली-मन्दिर में प्रवेश कर

भगवती काली का दर्शन किया था। कथा का वर्णन ठीक उसी प्रकार का है जैसी अनुश्रुति कालिदास एवं उनके विवाह के विषय में आज भी मिथिला में घर-घर प्रचलित है। किन्तु उक्त मन्दिर के स्थान के विषय में किंचित् अन्तर दीख पड़ता है। वह तिरहुत का नाम न देकर मगध का नाम देता है। पर सुनकर लिखी हुई जीवनी में ऐसी भूल की संभावना अस्वाभाविक नहीं है। डा० ए० एस० अल्तेकर, उपर्युक्त अनुसन्धान संस्थान के तत्कालीन निदेशक ने अपनी सम्पादकीय विषय-प्रवेश टिप्पणी में इस प्रकार की कई वर्णन-सम्बन्धी भूलों का दिग्दर्शन कराया है।

उपर्युक्त उल्लेख से पता चलता है कि कवि कालिदास के बिहार राज्य के किसी अंश में उत्पन्न होने की चर्चा १३वीं शताब्दी के पूर्व से ही अनुश्रुतियों के रूप में चली आ रही है। प्रसिद्ध बौद्ध सन्त एवं इतिहास लेखक लामा तारानाथ का काल १६वीं शताब्दी बताया जाता है। उसने भी अपने ग्रन्थ 'ग्य-गर-चोस-ब्युन', लासा संस्करण, में वाराणसी के भूप भीम शुक्ल तथा उसकी विदुषी राजकुमारी वासन्ती की कथा का वर्णन किया है। उसके कालिदास के साथ विवाह का वर्णन भी अनुश्रुतियों में प्रचलित किम्वदन्तियों से पूर्णतया साम्य रखता है। सम्भव है, स्व विद्या-गर्विता वासन्ती के हेतु महामूर्ख पति की खोज में घटक मिथिला पहुँचा हो और उसे एक वृक्ष की डाली पर बैठ कर उसी का उच्छेद करने वाला मूर्खाधिराज प्रत्याशित वर मिल गया हो। मिथिला, मगध और वाराणसी, तीनों ही जनपदों की सीमा एक दूसरे से संलग्न है, तथा इनके बीच प्राचीन काल से सांस्कृतिक सम्बन्ध का होना भी इतिहास बताता है। इस प्रकार की प्रचलित प्राचीन जनश्रुति का आधार कुछ न कुछ होगा ही, जिसके मूल का पता लगाना अपेक्षित प्रतीत होता है। महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' एवं 'कुमारसंभव' में बार-बार मगध का उल्लेख किया है। मिथिला में अनुश्रुति प्रचलित है कि कालिदास ने अध्ययन एवं विद्या-प्राप्ति मिथिला में की थी (आर०आर० दिवाकर सम्पादित 'बिहार थ्रू दि एजेज', पृ० २८७)।

किसी कवि का विषय-वर्णन उसके उर्वर मानस में उत्पन्न भाव पर निर्भर करता है। कवि कालिदास ने जहाँ शकुन्तला के रूप-सौन्दर्य का वर्णन किया है, वहाँ उसके साथ प्रकृति-चित्रण उपस्थित करने का भी सफल प्रयत्न किया है, जो अतिभाव-पूर्ण एवं मनमोहक है, यथा:-

"कार्या सैकत-लीन-हंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी,
पादास्तामभितो निषण्णचमरा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निमातुमिच्छाम्यधः
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥"

उपर्युक्त पदों में मालिनी नदी के तट पर हंस-दम्पती के बैठकर क्रीड़ा करने, चमरी गाय तथा हरिण-गण के हिमालय के पाद-प्रदेश में विचरण करने, वहाँ के वृक्षों की शाखाओं पर वनवासी ऋषि-मुनियों के वल्कल वसनों के सूखते रहने एवं उन वृक्षों के नीचे कृष्णसार मृग की सींग से स्नेह-स्निग्धा एक हरिणी के अपने बायें नेत्र खुजलाने का अति उत्कृष्ट शैली में वर्णन किया गया है। पर ऐसे वर्णन के आधार पर कोई कवि को

मालिनी नदी के किनारे का वनवासी बताने की धृष्टता कैसे कर सकता है, जब अनुश्रुतियाँ भी बताती हैं कि वह किसी विक्रमादित्य की राजसभा का सामान्य एवं प्रतिभावान् सदस्य था।

अब विचार करना यह है कि कवि कालिदास का मिथिला का निवासी होना तथा वहाँ की उच्चैठ-निवासिनी महामाया की अर्चना करना बुद्धिगम्य है अथवा नहीं। यदि वह मालवा का निवासी था, और गर्दभिल्ल-पुत्र राजा कृति विक्रमादित्य का सभासद् था, तो निश्चय ही उसका अपने जीवन के आरम्भ में सुदूर देश मिथिला में पदार्पण कर वहाँ की देवी की अभ्यर्थना तथा आराधना-पूजा करना उसके लिए सम्भव नहीं था।

यह ऊपर अंकित किया जा चुका है कि इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् कवि कालिदास को अब पाँचवीं शताब्दी में होने की बात को ही अपनी खोजों के आधार पर मान्यता प्रदान करने के पक्ष में हो गये हैं (आर०सी० मजूमदार : एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ४६८)। चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के पितामह महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) और वैशाली से था। श्री के० पी० जायसवाल ने 'कौमुदी महोत्सव' नामक नाटक के आधार पर चन्द्रगुप्त प्रथम के सम्बन्ध में एक अत्यन्त मनोरंजक रहस्य का उद्घाटन किया है, जिससे उसका सम्बन्ध आरम्भ में पाटलिपुत्र राज्य से सिद्ध होता है।

चन्द्रगुप्त प्रथम गुप्त-काल का तृतीय नरेश था। वह श्रीगुप्त का पौत्र तथा घटोत्कच गुप्त का पुत्र था। पाटलिपुत्र के कोट-कुल के राजा सुन्दरवर्मन् ने चन्द्रगुप्त (चण्डसेन-चन्द्र सेन) को गोद लिया था। इसके कुछ दिनों के पश्चात् उसको अपनी रानी से कल्याणवर्मन नामक पुत्र हुआ। सम्भवतः वह अब अपने निजी पुत्र को अपने पश्चात् राजा बनाना चाहता था, और चन्द्रगुप्त को उपेक्षा की दृष्टि से देखता था। चन्द्रगुप्त महत्त्वाकांक्षी एवं चतुर था। उसने कोट-कुल के शत्रु वैशाली एवं नेपाल के लिच्छवियों की राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह किया, और उनकी सहायता से सुन्दरवर्मन् को समर में धराशायी कर पाटलिपुत्र के सिंहासन पर वह आसीन हुआ। कल्याणवर्मन् भाग कर दक्षिण चला गया। पाटलिपुत्र की प्रजा एवं मंत्रीगण चन्द्रगुप्त के पितृघाती होने के कारण उससे संतुष्ट नहीं थे।

एक बार चन्द्रगुप्त जंगली जातियों के उपद्रव को शमन करने के हेतु विन्ध्य पर्वत की ओर गया। अवसर पाकर मन्त्रियों ने कल्याणवर्मन् को पटना (पाटलिपुत्र) में वापस बुला लिया, तथा चन्द्रगुप्त को पुनः राजधानी में प्रवेश करने नहीं दिया। विवश होकर चन्द्रगुप्त को अपने पैतृक राज्य में लौट जाना पड़ा (काशी प्रसाद जायसवाल : हिस्ट्री ऑफ इण्डिया; डा० राजबली पांडेय : प्राचीन भारत, पृ० २२३-२४)। इस कहानी की सत्यता की पुष्टि उत्कीर्ण लेखों एवं प्राप्त सिक्कों से भी होती है। चन्द्रगुप्त के राजा-रानी शैली के सिक्के में चन्द्रगुप्त के साथ कुमारदेवी के चित्र भी अंकित किये गये थे (अल्तेकर : गुप्त मुद्राएँ)। इसमें संदेह नहीं कि लिच्छवी-कुल से विवाह-सम्बन्ध चन्द्रगुप्त के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। यही कारण था कि उसका पुत्र महापराक्रमी समुद्रगुप्त अपने को 'लिच्छवि-दौहित्र' कह कर गौरवान्वित होता था।

चन्द्रगुप्त ने राजा-रानी शैली का जो सिक्का चलाया था, उसकी एक ओर चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी की मूर्तियाँ तथा दूसरी ओर सिंह के ऊपर आसीन दुर्गा अर्थात् शक्ति के

नीचे 'लिच्छवय:' अंकित है । लिच्छवियों ने सुन्दरवर्मन् के विरुद्ध चन्द्रगुप्त की सहायता की थी । इसके पश्चात् मालूम पड़ता है कि उन्होंने वैशाली से नेपाल की सीमा तक का प्रदेश चन्द्रगुप्त को दायज में दे दिया, और मगध-साम्राज्य के कुछ अंश को विजय करने में भी उसकी सहायता की । इस राज्य-विस्तार के साथ चन्द्रगुप्त अपने पैतृक राज्य के सिंहासन पर ३१९-२० ई० में बैठा, और गुप्त-राजवंश का प्रवर्त्तन कर गुप्त-साम्राज्य की उसने नींव दी । उस काल उसके आधिपत्य में प्रयाग (प्राचीन वत्स), कोशल (साकेत), एवं पश्चिमोत्तर तथा दक्षिण-पश्चिम बिहार का भू-भाग था । 'वायु पुराण' का एतद्विषयक उल्लेख निम्नांकित है:–

"अनुगंगं प्रयागं च साकेतं मगधस्तथा ।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्त-वंशजाः ।।"

चन्द्रगुप्त प्रथम के पश्चात् उसका वीर पुत्र समुद्रगुप्त राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। उसने अपनी विजयों के द्वारा अपने पैतृक साम्राज्य को विशालतर बना दिया । उसकी प्रयाग प्रशस्ति में उसकी विजयों का उल्लेख है । उसके प्रत्यन्त राज्यों के नामों में समतट (गंगा का मुहाना), दवाक (ढाका के आस-पास की भूमि), कामरूप (आसाम), नेपाल, तथा कर्तृपुर (पूर्वोत्तर पंजाब और पश्चिमोत्तर युक्त प्रदेश) के नाम आये हैं (डा० राजबली पांडेय : प्राचीन भारत, पृ० २२६)। वैशाली के आस-पास का प्रदेश चन्द्रगुप्त प्रथम को वैवाहिक यौतुक में पूर्व में ही प्राप्त हो चुका था । समुद्रगुप्त ने नेपाल को भी अपना प्रत्यन्त राज्य बना लिया । इससे यह साबित होता है कि समुद्रगुप्त के शासनकाल में तिरहुत के अंश वैशाली-राज्य तथा नेपाल की दक्षिणी सीमा के बीच पड़ने वाले मिथिला के शेष प्रदेश पर भी गुप्त-कुल का आधिपत्य उस काल तक स्थापित हो चुका था ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) को अपने पिता समुद्रगुप्त का विशाल राज्य उत्तराधिकार में मिला था । अतः उसका तथा उसके उत्तराधिकारियों का उस पर आधिपत्य होना स्वाभाविक था । मिथिला उस समय गुप्तों की वशवर्त्तिनी थी । इसलिए मिथिला के निवासियों का गुप्त-सम्राटों के सम्पर्क में रहना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है । कालिदास का निवास-स्थान यदि मिथिला का उच्चैठ-अंचल था तो उसके जैसे प्रतिभासम्पन्न प्रकांड विद्वान् एवं कुशल कवि का वहाँ के राजा की राजसभा में सम्मान प्राप्त करना नितान्त स्वाभाविक कहा जायगा ।

कालिदास की प्रतिभा बहुमुखी थी । सम्राट् विक्रमादित्य उसकी प्रतिष्ठा करता था । उसकी विद्वता को वह आदर्श मानता था । चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी प्यारी पुत्री प्रभावती गुप्ता (रानी कुबेरनागा की गर्भजात कन्या) का विवाह दक्षिण के वकाटक-कुल के ब्राह्मण राजा रुद्रसेन द्वितीय के साथ किया था (आर०सी० मजूमदार : एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० २४६-४७) । रुद्रसेन द्वितीय को प्रभावती गुप्ता से तीन पुत्र हुए थे । रुद्रसेन द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् प्रभावती गुप्ता अपने पुत्र की संरक्षिका के रूप में राज्य का शासन करती थी; क्योंकि उसके तीनों तनय अवयस्क थे । कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) ने अपने दौहित्रों की शिक्षा-दीक्षा की देख-रेख के हेतु कालिदास को वकाटक-कुल की मुख्य शाखा की राजधानी नन्दिवर्द्धन भेजा था, जिसका अस्तित्व रामटेक पर्वत के

निकट भोंसलों की राजधानी नागपुर से २२ मील दूर है (आर० सी० मजूमदार : एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० २८४)। नागपुर के आसन्न रेलवे-स्टेशन का नाम इतवारी है, जहाँ से रेल की एक शाखा-लाइन रामटेक पहाड़ी तक जाती है । कालिदास ने मेघदूत में इसी पर्वत को रामगिरि माना है, जो नागपुर से २६ मील की दूरी पर है । पहाड़ी पर एक पुराने किले का भग्नावशेष है, जिसके निकट एक मन्दिर तथा बावली है । इधर के पर्वत-शिखरों पर प्राय: प्राचीन किले का अवशेष मिलता है । राजकीय आवास अधिकतर किले के अन्दर ही हुआ करता था । अत: कालिदास का निवास नन्दिवर्द्धन-प्रवास-काल में रामटेक पर्वत-अधित्यका अथवा उपत्यका के किसी भाग में निर्मित किले में ही रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं है ।

रुद्रसेन द्वितीय के पुत्रों के नाम दिवाकरसेन, दामोदरसेन तथा प्रवरसेन द्वितीय थे, महारानी प्रभावती गुप्ता शतंजीवी थी । अत: उसके दरबार में उसके नैहर के प्रधान एवं प्रतिभावान् पण्डित का प्राधान्य तथा प्रतिष्ठा बहुत दिनों तक बना रहना स्वाभविक ही था । कालिदास के मध्यभारत के रामटेक के निकट के चिरप्रवास की छाप उसके काव्य-वर्णन पर पड़ना अवश्यम्भावी था । आखिर प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन कोई कवि वहाँ की वास्तविक स्थिति को देखकर तथा उसका अनुभव करके ही तो करता है । अत: किसी की वर्णन-शैली को देखकर परिस्थिति पर बिना पूर्ण रूप से विचार किये ही यह कह देना कि अमुक लेखक अथवा कवि अमुक देश के अमुक भाग का रहने वाला थ, यह सर्वत्र पूर्णतया प्रामाणिक नहीं हो सकता है ।

उज्जयिनी (अवन्तिका) नगरी का ऐतिहासिक महत्त्व अति प्राचीन है । यह आर्य भारत की मोक्ष देने वाली सात पुरियों में से एक है । कहा है– ''अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका । पुरी द्वारावती चैव सप्त एता: मोक्षदायिका:''।। वहाँ आर्यों के परमपूज्य देव महाकाल का मन्दिर है, जो भगवान् आशुतोष महादेव के द्वादश ज्योतिर्लिंगों में से एक है । मंगलमय शिव के दर्शन के हेतु शिव-संकल्प के साथ यदि आर्य-कवि की कल्पना वहाँ पहुचती है तो उस नगरी को केवल उसी आधार पर उसकी जननी-जन्मभूमि मान लेना न्याय्य नहीं कहा जा सकता है । उसी प्रकार कुबेर-नगर अलकापुरी के सुन्दर वर्णन करने के कारण उसे कश्मीरी मान लेना भी अति युक्ति-युक्त नहीं हो सकता है । स्वर्ग-लोक अथवा वैकुण्ठपुरी के रोचक वर्णन के कारण किसी लेखक अथवा कवि को स्वर्ग अथावा वैकुण्ठवासी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उपर्युक्त दोनों ही काल्पनिक लोकों में मनुष्यों के लिए संदेश पहुँचना अथवा वहाँ निवास करना सम्भव नहीं है ।

ऊपर वर्णित तथ्यों एवं प्रचलित अनुश्रुतियों पर सम्यक् विचार करने के उपरान्त इस निष्कर्ष पर हठात् पहुँचना पड़ता है कि कवि कालिदास का सम्बन्ध मिथिला के उच्चैठ से उनके जीवन के आरम्भ-काल में घनिष्ठ अवश्य था, और वहाँ की भगवती उनकी आराध्य देवी थीं । वहाँ से राज-संपर्क में आकर वह पूर्व वर्णनानुसार रामटेक की ओर गया । गोस्वामी तुलसीदास ने ठीक ही कहा है :– ''उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं''। धान की रोपनी, बाँसों के छिद्रों में वायु के प्रवेश से सुरीली ध्वनि का निकलना तथा खद्योतों का बाहुल्य मिथिला में आज भी सर्वत्र उज्जयिनी और कश्मीर की अपेक्षा अत्यधि

क पाया जाता है । मोटे रंध्र वाला चाभ जाति का बाँस भी विशेषतया मिथिला की ओर ही उत्पन्न होता है । कालिदास के काव्य-वर्णन में उपर्युक्त दृश्यों को स्थान-स्थान पर स्थान मिला है। वैसे तो नाना प्रकार की उपमाओं के साथ प्रकृति-चित्रण करने के लिए कालिदास जगद्विख्यात हैं ही । कहा है :– ''उपमा कालिदासस्य'' आदि ।

किन्तु केवल किम्वदन्तियों एवं अनुमान के आधार पर यह भी अन्तिम रूप से स्वीकार कर लेना न्याय-संगत नहीं होगा कि कालिदास की मातृभूमि तथा तपोभूमि मिथिला ही थी । तपोभूमि तो मातृभूमि से पृथक् भी हो सकती है । लेकिन् मिथिला की स्थानीय जनता का आज भी परम्परागत यह विश्वास अटल बना हुआ है कि कालिदास कवि-कोकिल विद्यापति के समान मिथिला की ही विभूति थे । पर इस कथन को ऐतिहासकि तथ्य के रूप में स्वीकार कर लेना भविष्य के इतिहास के अन्वेषकों के अन्वेषण के ऊपर निर्भर करता है । उच्चैठ के अंचल में आज भी अपनी मान्यता के अनुकूल वहाँ की जनता कवि-कुल-भूषण कालिदास के अमर नाम के स्मारक के रूप में उसके नाम पर महाविद्यालय आदि की स्थापना करती पायी जाती है, जिससे उसे किसी प्रकार की भावी लाभ की आशा नहीं है । उसका वैसा कार्य आसक्तिहीन वीर-पूजा के रूप में होता है । उच्चैठ के कालिदास-डीह से थोड़ी दूरी पर त्रिमुहान-विष्णुपुर ग्राम है। वहाँ के अधिवासियों के द्वारा उस सुदूर देहात में कालिदास की पावन स्मृति में निष्काम-भाव से स्थापित 'महाकवि कालिदास स्मारक महाविद्यालय' आज भी शिक्षा एवं संस्कृति के क्षेत्र में शान्तिपूर्वक समभाव से सद्ज्ञान का प्रचार तथा प्रसार करता हुआ समाज की सेवा कर रहा है । कविश्रेष्ठ कालिदास की कथाएँ अनुश्रुतियों के रूप में मिथिला के घर-घर प्रचलित हैं, जो उस मनीषि के मिथिला के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध का द्योतक एवं पोषक है । कहीं भी बिना अग्नि के धूएँ का निकलना सम्भव नहीं हो सकता है । अतः विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट होने की अपेक्षा आवश्यक है ।

विराटपुर वा वनाटपुर

उपर्युक्त विराटपुर वा वनाटपुर दरभंगा जिले में बेनीपट्टी थाने के अन्दर है । उसे जनता राजा विराट की राजधानी बताती है । उत्तरा नामक ग्राम उसके निकट ही है । उत्तरा मत्स्य देश के अधीश्वर राजा विराट की पुत्री तथा महाभारत-प्रसिद्ध वीर बालक अभिमन्यु की अर्द्धांगिनी थी । उक्त अंचल में प्रचलित कथानक के अनुसार उस राजकुमारी का सम्बन्ध उत्तरा ग्राम से था, और उसी के नाम पर उस ग्राम का नामकरण 'उत्तरा' हुआ था । उत्तरा गाँव मधवापुर थाने के ग्राम विष्णुपुर, पत्रालय विष्णुपुर से 3 मील उत्तर बसा है । वहाँ के एक प्रचीन डीह पर महादेव-मन्दिर है ।

मिथिला में प्राचीन काल से प्रचलित कम्वदन्तियाँ बताती हैं कि महाभारत-युग के आरम्भ-काल में राजा विराट वर्तमान तीरभुक्ति (तिरहुत) के एक अंश पर शासन करता था (आर० एल० दास : मिथिला दर्पण, भाग-१, पृ० ५६-५८) । कहा जाता है कि उसने अपने नाम पर वहाँ विराटपुर नामक नगर बसाया था । उस नगर का स्थापन्न ग्राम तिरहुत का विराटपुर वा वनाटपुर गाँव है, जो उस अंचल के भाला परगने में है (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ५६) । भाला परगना दरभंगा जिले का एक प्राचीन

राजस्व विभाग है । प्राचीन नगर के भग्नावशेष का कुछ अंश शोधकों को वहाँ अब भी दृष्टिगत होता है ।

राजा विराट के साले का नाम कीचक था । वह उसका सेनाध्यक्ष भी था । महाभारत-युद्ध के आरम्भ होने के पूर्व पाण्डवों ने अपनी वनवास-अवधि का अन्तिम एक वर्ष राजा विराट के राज्य में प्रच्छन्न रूप से निवास कर व्यतीत किया था । विराटपुर के निकट ही एक स्थान कीचक वाहा के नाम से प्रसिद्ध है, जहाँ महापराक्रमी भीम ने राजा विराट के साला तथा सेनापति कीचक का वध कर उसके शव को घसीटा था, जिससे वहाँ उस वाहे का निर्माण हो गया । कीचक-वध की कथा महाभारत एवं पुराणों में पायी जाती है ।

विद्वानों ने राजा विराट का राज्य तथा कीचक-वध का स्थान मत्स्य देश निश्चित किया है । जयपुर राज्य के अन्तर्गत वैराट नामक स्थान है, जिसे राजा विराट की राजधानी का स्थानापन्न नगर बताया जाता है । वर्तमान अलवर, भरतपुर एवं जयपुर के एक विशिष्ट भाग को 'मत्स्य देश' की संज्ञा प्राप्त है (एच० सी० रायचौधारी : पौलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शिएण्ट इण्डिया, षष्ठ संस्करण, ६६-६७, कनिंगहम : एन्शिएण्ट जिओग्राफी ऑफ इण्डिया, ३८७, इण्डियन ऐण्टीक्वेरी ५, १७९, डी० आर० भण्डारकर : एशिएण्ट इण्डियन नुमिसमेटीज, लेकचर्स-५३, जनरल ऑफ एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १८९५, पृ० २५२, बाम्बे गजेटियर-१, २, ५५८, इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, १८८२, पृ० ३२७)।

मनुस्मृति में ब्रह्मर्षि देश के अन्तर्गत मत्स्य देश का होना बताया गया है, यथा :

"कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पांचालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः ॥"

(मनुस्मृतिः, द्वितीयोऽध्यायः, श्लोक-१९)।

यहाँ यह विचारणीय विषय है कि राजा विराट की मिथिला में राजधानी के सम्बन्ध में प्रचलित जनश्रुति में तथ्य है अथवा नहीं । कहा जाता है कि पांडवों की वनवास-अवधि का अन्तिम एक वर्ष उनके अज्ञातवास में व्यतीत करना था । कौरव-राज दुर्योधन पाण्डवों का शत्रु था, जिसके कुचक्र के कारण पांडवों को वनवास का दुःख भोगना पड़ा था । उसकी राजधानी हस्तिनापुर में थी, जहाँ से जयपुर सुदूर स्थित नहीं था । जयपुर के निकट स्थित मत्स्य देश में अज्ञातवास करने पर उन सबों के पता लग जाने का विशेष भय था । अतः यह बहुत सम्भव प्रतीत होता है कि अज्ञातवास का काल उन सबों ने दूर जाकर ही व्यतीत करना उचित समझा होगा । कौरवों के गुप्तचर सदा उन सबों का पता लेने के हेतु सक्रिय एवं सयत्न थे । अतः यह सम्भव नहीं प्रतीत होता है कि कौरवों की राजधानी के निकटवर्त्ती मत्स्य देश के वैराट नामक स्थान में प्रच्छन्न रूप से निवास करने की योजना पाण्डवों ने बनायी होगी, क्योंकि गोपनीय रहस्य के उद्घाटन की आशंका वहाँ सतत उन सबों के मानस में बनी रही होगी । ऐसी शंकामय स्थिति में हस्तिनापुर से दूर जाकर छिपना ही पाण्डवों के लिए श्रेयस्कर एवं लाभदायक प्रतीत हुआ होगा । महाभारत के अवलोकन से पता चलता है कि पाण्डवों ने पश्चिम में गांधार से लेकर पूरब में कामरूप और मणिपुर तक की यात्रा की थी । कामरूप जाने में उन सबों ने मिथिला होकर

ही यात्रा की होगी । पूर्व में अंकित किया जा चुका है कि पाण्डवों के पिता राजा पाण्डु ने मिथिला पर आक्रमण किया था । भीम ने भी राजसूय यज्ञ के सम्बन्ध में दिग्विजय करने के अभियान में मिथिला-भूप के साथ तुमुल युद्ध किया । इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि मिथिला से पाण्डव अपरिचित नहीं थे । वह राज्य हस्तिनापुर से दूर भी था । अत: वहाँ नि:शंक भाव से प्रच्छन्न रह कर सुरक्षित अवस्था में कालक्षेपण करना उनके लिए अपेक्षाकृत अधिक सुगम था, इसमें सन्देह नहीं है ।

मत्स्य देश का अर्थ होता है मछलियों का देश, अर्थात् वह भू-भाग जहाँ मछलियों का बाहुल्य हो, पूर्वीय भारत में मछलियाँ अधिक पायी जाती हैं, भरतपुर, अलवर तथा जयपुर की ओर नहीं । यदि मत्स्य देश के शाब्दिक अर्थ से भू-भाग का कोई सम्बन्ध हो तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसका अस्तित्व उस काल कहीं पर प्राचीन भारत में ही रहा होगा । मिथिला पूर्वीय भारत में है, और वहाँ नदियों एवं तालाबों की प्रचुरता के कारण मछलियाँ अधिक पायी भी जाती हैं ।

दिनाजपुर जिले को कोरोतोया नदी के पश्चिम के भू-भाग को अद्यावधि 'मत्स्य देश' की संज्ञा प्राप्त है (बुकानन का दिनाजपुर-प्रतिवेदन, कलकत्ता-संस्करण, १८३३, १९, २०)। वहाँ भी राजा विराट के राज करने की कथा प्रचलित है। कहा जाता है कि प्राचीन काल में मत्स्य देश अथवा विराट-शासित प्रदेश वर्तमान दिनाजपुर जिले में ही था । यह भी कहा जाता है कि विराट-राज की माता एक मत्स्य के माध्यम से गर्भवती हुई थी । इसी कारण से दिनाजपुर का वह अंचल मत्स्य देश अथवा मछलियों की भूमि के नाम से प्रसिद्ध हुआ (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ५७, पाद टिप्पणी) ।

ओ० मल्ले ने चम्पारण जिले के अधिवासियों के विश्वास एवं उनके बीच प्रचलित एतद्विषयक कथानकों की चर्चा की है । उनका कहना है कि महाभारतकालीन राजा विराट की राजधानी रामनगर से छ: अथवा सात मील पश्चिम वर्तमान वैराटी ग्राम में वा उसके निकट कहीं पर थी । पांडवों ने अपने द्वादश-वर्षीय वनवास के कठिन अन्तिम एक वर्ष का अज्ञातवास वहीं निवास कर व्यतीत किया था (चम्पारण जिला गजेटियर, १४-१५) ।

नेपाल राज्य के मोरंग जिले का शासकीय कार्यालय जहाँ है, उसका नाम भी विराट नगर ही है । प्रचलित कथानक राजा विराट का उस अंचल पर भी शासन करना बताता है । नेपाल राज्य का विराट नगर मिथिला के विराटपुर से जयपुर के वैराट की अपेक्षा बहुत दूर नहीं है । प्राचीन काल में मिथिला की उत्तरी सीमा हिमालय के पाद-प्रदेश तक फैली हुई थी, जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है । दिनाजपुर जिले का विराट-देश भी मिथिला की प्राचीन सीमा से अपेक्षाकृत सुदूर नहीं है । चम्पारण तो मिथिला का एक भाग था ही । आज भी चम्पारण तिरहुत प्रमंडल के चार जिलों में से एक है ।

गाण्डीवेश्वर तथा बाणेश्वर

दरभंगा जिले के मधवापुर थाने के उपर्युक्त विष्णुपुर ग्राम से लगभग दो मील की दूरी पर गाण्डीवेश्वर महादेव का मन्दिर है, जिसमें शिवलिंग सम्प्रति धरातल से ४-५ फीट नीचे स्थापित दीख पड़ते हैं । उसी के आस-पास बाणेश्वर महादेव का भी स्थान है ।

कहा जाता है कि पांडव जब अपने गुप्तवास की अवधि में प्रच्छन्न रूप से राजा विराट के राजनगर में निवास कर रहे थे, तो उस काल अर्जुन ने अपने विख्यात गाण्डीव धनुष को वहीं छिपा कर रखा था । उसके साथ रखने से गुप्त रहस्य के उद्‌घाटन हो जाने का भय था । अतः गाण्डीव एवं बाणों से संयुक्त तूणीर को भी छिपाने की उसे आवश्यकता पड़ी थी । जनश्रुति बताती है कि जहाँ गाण्डीव को छिपा कर रखा गया था, उस स्थान पर गाण्डीवेश्वर की स्थापना पीछे चल कर हुई, और जहाँ तीरयुत तरकश रखा गया था, वहाँ बाणेश्वर महादेव नामक शिवलिंग की स्थापना की गयी । बाणेश्वर में बाण-गंगा नाम की एक पुष्करिणी भी है । किम्वदन्ती प्रचलित है कि अर्जुन ने उस स्थान पर बाण मार कर धरातल के नीचे से गंगाजल निकाला था, जिससे वहाँ एक तालाब का निर्माण हो गया, और उसका नाम बाण-गंगा पड़ा । वाणेश्वर-स्थान जोगियारा रेलवे स्टेशन से ५ मील पूरब बेनीपट्टी थाने के अन्तर्गत है ।

बलिराजपुर

बिहार राज्य के दरभंगा जिले के मधुबनी अनुमंडल के बाबू बरही ग्राम के निकट खजौली थाने में बलिराजपुर नामक स्थान है । राजा बलि के मिथिला में राज करने की चर्चा तिरहुत की स्थानीय जनता में अति प्राचीन काल से चली आ रही है (आर० एल० दास : मिथिला दर्पण, ५८, डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ५७) । परन्तु यह राजा बलि कौन था, यह बताना कठिन है ।

बलिराजपुर ग्राम बाबू बरही से लगभग दो मील पूरब-दक्षिण में है। वहाँ सम्प्रति एक देवालय एवं मठ हैं । उक्त मठ से लगभग दो फरलांग दक्षिण राजा बलि के प्राचीन गढ़ का भग्नावशेष खण्डहर है । गढ़-परकोटा (प्राचीर) दोनों ओर बाहर से ईंटों से बना हुआ है, जिसके बीच में मिट्टी भरी हुई है । दीवार की चौड़ाई लगभग १० फीट है । प्राकार की दीवार बीच-बीच में टूटी हुई है । पूरी ऊँचाई कहीं नहीं है । दीवार के ऊपर दूब जम गयी है । गढ़-प्राचीर के घर के अन्दर पुराने वृक्षों का झुरमुट है, जिसके बीच में एक संस्कृत पाठशाला चल रही है । जनश्रुति बताती है कि पांडवों ने अपने अज्ञातवास के कुछ दिन इस अंचल में भी छिप कर काटे थे ।

दिनाजपुर जिले में प्रचलित जनश्रुति के आधार पर विदेशी विद्वान् बुकानन ने जिस प्रकार राजा विराट एवं मत्स्य देश का वहाँ दिनाजपुर में होना उद्‌ध्वांकित अपने दिनाजपुर रिपोर्ट (प्रतिवेदन) में अंकित किया है, उसी प्रकार उसी प्रतिवेदन में राजा बोल्ल अथवा बलि के दिनाजपुर अंचल में शासन करने की बात भी बतायी है (बुकानन : दिनाजपुर रिपोर्ट, १८, डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ५७) । आधुनिक विद्वान इसका निर्माण-काल ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी कूतते हैं, तथा इसकी खुदाई पुरातत्त्व विभाग, भारत सरकार की ओर से करा कर इसके सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त करने की दिशा में स्थानीय जनता सचेष्ट है ।

पंडौल

मिथिला में ही पंडौल ग्राम है । वह दरभंगा जिले के मधुबनी-अनुमण्डल में है, तथा वहाँ पूर्वोत्तर रेलवे का स्टेशन है । पंडौल का सम्बन्ध भी महाभारतयुगीन पांडवों से बताया

जाता है। कहा जाता है कि 'पांडवालय' का विकृत रूप पंडौल हो गया है। किसी काल में पांडवों ने वहाँ जाकर निवास किया था, जिससे उस स्थान का नाम पांडवालय हुआ, और वही कालान्तर में पंडौल कहा जाने लगा। पंडौल के निकट कई बड़े-बड़े सरोवर हैं, जो अति प्राचीन प्रतीत होते हैं। परन्तु पांडव-युग के सरोवरों का इतनी अवधि के पश्चात् उनके वर्त्तमान रूप में पाया जाना सम्भव नहीं जान पड़ता है।

भवानीपुर

उपर्युक्त मधुबनी अनुमण्डल के पंडौल रेलवे स्टेशन के निकट भवानीपुर ग्राम है। वहाँ एक प्राचीन शिव-मन्दिर है। कहा जाता है कि उक्त मन्दिर के शिवलिंग की स्थापना पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रथम अथवा द्वितीय चरण में हुई थी, और उसका सम्बन्ध मैथिल भक्त कवि विद्यापति तथा उनके अनुचर उगना से है, जिसके वियोग में कवि-कोकिल ने अति विह्वल होकर– 'उगना रे मोर कतए गेला' आदि पद गाया था। मिथिला में आज भी यह विश्वास है कि साक्षात् भगवान शंकर उगना के रूप में अपने परम भक्त विद्यापति का सहचर बन गये थे, पर रहस्य के प्रकट हो जाने पर वे अन्तर्धान हो गये। भवानीपुर के शिवलिंग धरातल से लगभग ५-६ फीट नीचे गढ़े में हैं। पुरातत्त्व के विद्वानों का अनुमान है कि पृथ्वी एक सौ वर्ष की अवधि में लगभग एक से डेढ़ फीट तक बढ़ती है। इससे उपर्युक्त गहराई में शिवलिंग को स्थापित देखकर यह अनुमान ठीक निकलता है कि उसकी स्थापना विद्यापति युग में हुई होगी। विद्यापति का काल पन्द्रहवीं शती है। कवि के आश्रयदाता ओइनवार-कुल के सातवें भूपति राजा शिवसिंह देव की मृत्यु रणक्षेत्र में लगभग १४१६ ई० में हुई थी, जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है।

वाजितपुर वा विद्यापति नगर

पूर्वोत्तर रेलवे की बछवाड़ा-हाजीपुर-शाखा-लाइन में उपर्युक्त नाम का रेलवे स्टेशन है। उक्त रेलवे लाइन से सटा एक महादेव मन्दिर है। कहा जाता है कि मिथिला के परम प्रसिद्ध भक्त कवि विद्यापति के जीवन के अन्तिम चरण में गंगा के मार्ग में देहावसान के पश्चात् उनकी अन्त्येष्टि क्रिया उसी स्थान पर की गयी थी, जहाँ वाजितपुर में शिव-मन्दिर का निर्माण पीछे चलकर हुआ। कथा प्रसिद्ध है कि गंगा उसी दिन अपनी बेगवती धारा के साथ बढ़ कर कवि के स्वागत के हेतु वहाँ स्वयं पहुँच गयीं, तथा भक्त को दर्शन देकर उसके ऐहलौकिक अवशेष को अन्ततोगत्वा प्लावित करती हुई बहा ले गयी। जहाँ पर विद्यापति की अन्त्येष्टि-क्रिया की गयी थी, उस स्थान पर पश्चात् काल में महादेव मन्दिर बनवा कर शिवलिंग की स्थापना की गयी। वर्त्तमान मन्दिर नया है, और पुराने मन्दिर के भग्नावशेष पर उसका निर्माण स्थानीय श्रद्धालु भक्तों के द्वारा निकट अतीत में हुआ प्रतीत होता है।

ब्रह्मपुर अथवा ब्रह्मपुरी

'स्कन्द पुराण' के वर्णनानुसार मिथिला की यह ब्रह्मपुरी, जिसका अस्तिस्व दरभंगा जिले के सदर अनुमण्डल में कमतौल रेलवे स्टेशन से लगभग ५ मील की दूरी पर है, रामायण-पुराण प्रसिद्ध गौतम ऋषि के आश्रम की जगह थी। सर्व-लक्षण सम्पन्ना सुन्दरी अहल्या को गौतम की पत्नी के रूप में वर्णन किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि

अहल्या के पति गौतम ऋषि का आश्रम अहल्या-नगरी के निकटवर्त्ती ब्रह्मपुरी में था। ब्रह्मपुर ग्राम वर्तमान अहियारी नामक गाँव के सन्निकट है। ब्रह्मपुर को बढ़मपुर भी कहा जाता है। रतनपुर गाँव से संलग्न रहने के कारण उस ग्राम को लोग रतनपुर बढ़मपुर कह कर पुकारते हैं! बढ़मपुर में गौतम कुंड नामक एक पुष्करिणी है, जिसमें तीर्थार्थी अति श्रद्धा के साथ स्नान करते हैं। न्याय-सूत्र के प्रवर्त्तक ऋषि अक्षपाद गौतम का आश्रम इसी ब्रह्मपुर में बताया जाता है जो गौतम कुण्ड के तट पर था। रतनपुर ग्राम के प्रसिद्ध रजोखर पोखर के उत्तर-पूर्व कोण पर ब्रह्मपुर की बस्ती है।

अहियारी

दरभंगा जिले के सदर अवर प्रमंडल में अहियारी ग्राम है। कमतौल रेलवे स्टेशन से उतर कर वहाँ पहुँचा जाता है। गौतम-पत्नी अहल्या देवी की कथा रामायण एवं पुराण प्रसिद्ध है। वह न्याय-सूत्र के प्रणेता अक्षपाद गौतम की पत्नी थी। अक्षपाद गौतम ऋषि सम्राट् सीरध्वज जनक के समकालीन थे। पति-श्राप से शिलाभूता ऋषि पत्नी अहल्या का उद्धार दाशरथी राम ने विश्वामित्र मुनि के साथ मिथिला-यात्रा के काल में उसके आश्रम में प्रवेश कर किया था। अहियारी ग्राम अथवा अहिल्या-स्थान अहल्या-आश्रम का स्थानापन्न माना जाता है। इसकी पुष्टि वाल्मीकीय रामायण के वर्णन से भी होती है। तुलसी-कृत रामायण के अनुसार अहिल्या-उद्धार बक्सर एवं गंगा के बीच पड़ने वाले किसी स्थान पर गौतम-आश्रम में प्रवेश कर भगवान् राम ने किया था। उसके पश्चात उन्होंने मिथिला पहुँचने के हेतु गंगा को पार किया। परन्तु वाल्मीकीय रामायण के अनुसार विश्वामित्र ऋषि के साथ राम जलमार्ग से पहले वैशाली पहुँचे। वहाँ राजा सुमति का आतिथ्य स्वीकार कर स्थल मार्ग से ऋषि-मंडली के साथ उन्होंने मिथिला की यात्रा की। मार्ग में ही ऋषि-आज्ञा से राम ने अहिल्या का उद्धार किया।

इसमें सन्देह नहीं है कि अहिल्या-नगरी अथवा गौतम-आश्रम मिथिला में ही था। भोजपुर में राम ने ताड़का-वध किया था। वहाँ सानुज राम ने ऋषि विश्वमित्र के यज्ञ की रक्षा उत्पाती राक्षसों का अपनी शक्ति से दमन कर की थी। मिथिला-राज्य में प्रवेश कर पहले राम ने अहल्या का उद्धार किया, और तत्पश्चात् वहाँ से प्राग्-उत्तर दिशा (ईशान कोण) में चल कर वे ऋषि विश्वामित्र के साथ विदेह-नगर पहुँचे थे।

रतनपुर

रतनपुर ग्राम अहियारी एवं ब्रह्मपुर के निकट कमतौल रेलवे स्टेशन से पाँच मील पश्चिम दरभंगा जिले के सदर अवर प्रमंडल में है। रतनपुर को प्रचलित अनुश्रुति राजा रतन (रत्न) सेन की राजधानी बताती है। यह राजा रतनसेन कौन था, इस रहस्य का उद्घाटन अब तक नहीं हो पाया है[1]। जनश्रुति उसे क्षत्रिय-कुलोद्भव एवं ब्राह्मण-वंशीय दोनों ही बताती है। बंगाल के सेन-वंशीय क्षत्रिय नृपति का मिथिला पर आक्रमण राजा नान्यदेव के शासनकाल में हुआ था। इसकी विवेचना प्रस्तुत पुस्तक में पूर्व में की जा चुकी है। परन्तु साहित्य एवं इतिहास इसका साक्ष्य नहीं देता है कि सेन-कुल के किसी विजेता ने मिथिला में अपनी राजधानी बनाकर कभी शासन किया था।

१. ओइनवारवंश के राजा नरसिंह का उपनाम रत्नसिंह था, यह बात 'मिथिलातत्त्वविमर्श' में लिखी हुई है- (सं०)।

'शालिहोत्र-सार-संग्रह' नामक ग्रन्थ के प्रणेता किसी राजकुमार का नाम इन्द्रसेन था। उस पुस्तक के अन्त में अंकित है, यथा– "इति श्री रूपनारायण ..... महाराजाधिराज श्री इन्द्रसेन कृतौ सार-संग्रह शलिहोत्रः समाप्तः। शुभम् श्री शाके १७३४, श्री सम्वत् १८४१, आषाढ़ कृष्णपक्षस्य सप्तम्याम् भौमवासरे" (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९०३, पृ० १९)। राजकुमार इन्द्रसेन का विरुद 'रूपनारायण' था। उसके इस विरुद से अनुमान किया जाता है कि वह ओइनवार राजकुल का था, क्योंकि यह विरुद उस कुल के कई राजाओं के नाम के साथ पाया गया है। ओइनवार कुल के सातवें भूप स्वतन्त्रता के पुजारी राजा शिवसिंह देव का विरुद भी 'रूपनारायण' था। रत्नसेन के नाम के अन्त में सेन पदवी होने के कारण कुछ लोगों का मत है कि रत्नसेन वा रतनसेन ओइनवार कुल का कोई स्थानीय भूप था, जिसके गढ़ का ध्वंसावशेष रतनपुर ग्राम में विद्यमान है। उपर्युक्त गढ़ के अवशेष डीह पर देवी का एक मन्दिर भी है। डीह गाँव के सटे पूर्व दिशा में है, और उसकी ऊँचाई लगभग ४०-४२ फीट होगी। उस डीह से सटे पश्चिम दक्षिण की ओर पर्याप्त गहरी जमीन है, जिससे पुराकालिक गढ़-खई के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है।

रतनपुर ग्राम में एक विशाल पोखर है, जिसको रजोखर कहा जाता है। इसका क्षेत्रफल भिंडा सहित लगभग ३५० बीघे का है। इस ग्राम के निकट ही घोड़-दौड़ पोखर है, जिसकी लम्बाई लगभग एक मील की होगी। कहा जाता है कि इन पोखरों का निर्माता ओइनवार-कुल का प्रसिद्ध राजा शिवसिंह देव था। प्रजावत्सल, उदार राजा ने इन पोखरों को कृषि-कार्य के लिए जल-भण्डार के रूप में निर्माण कराया था।

डॉ० उपेन्द्र ठाकुर ने अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑफ मिथिला' के पृ० ३४० में उपर्युक्त राजकुमार इन्द्रसेन को ओइनवार-कुलोद्भव होने की सम्भावना व्यक्त की है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि सेन नामान्त पदवीधारी रतनसेन ओइनवार-कुल का ही कोई राजकुमार रहा होगा, और उसने अपनी जमींदारी के ग्राम में अपने नाम पर रतनपुर नगर बसा कर वहाँ अपनी राजधानी बनायी होगी, परन्तु साधिकार ये बातें कहनी संभव नहीं हैं।

दरभंगा से नेपाल की ओर जाने वाला एक राजपथ रतनपुर गाँव होकर जाता है। रतनपुर एवं लखनपुर ग्रामों के बीच रतनपुर में ही गंगेश्वर महादेव का एक प्राचीन मन्दिर है। ऐसा लगता है कि मूल मन्दिर सम्भवतः प्रस्तर-निर्मित था। पर काल के प्रभाव से उसके जीर्णोद्धार की आवश्यकता हुई। पश्चात् वह ईंटों से बनाया गया। लगभग ७-८ फीट नीचे शिवलिंग स्थापित हैं। इससे पता चलता है कि उपर्युक्त मन्दिर का निर्माण तथा शिवलिंग की स्थापना ७-८ सौ वर्ष पूर्व हुई होगी। कहा जाता है कि मूल मन्दिर का निर्माता कर्णाट क्षत्रिय-कुल का द्वितीय राजा गंगदेव था, जिसने वहाँ शिवलिंग की स्थापना कर उसका नामकरण अपने नाम पर 'गंगेश्वर महादेव' किया। गंगदेव का शासनकाल ११४७ से ११८७ ई० तक बताया जाता है। वह नान्यदेव का पुत्र था।

चौदहवीं एवं पन्द्रहवीं शताब्दियों के प्रत्युत्पन्नमति एवं हास्यरस के मूर्तिमान् अवतार महामहोपाध्याय पंडित गोनू झा की जन्मभूमि भी रतनपुर से केवल दो मील दक्षिण

भारवाड़ा ग्राम थीं । गोनू झा की कथाएँ किम्बदन्ती के रूप में आज भी मिथिला के घर-घर प्रचलित हैं ।

लखनपुर ग्राम रतनपुर से लगभग डेढ़ मील पश्चिम है । उस गाँव का सम्बन्ध स्थानीय जनता, राजा शिवसिंह देव की प्रसिद्ध विदुषी रानी लखिमा देवी से बताती है । कहा जाता है कि उसका निवास-स्थान वहाँ था, जिससे उसका नामकरण उसके नाम पर लखिमापुर हुआ, जो कालान्तर में बिगड़ते-बिगड़ते लखनपुर कहा जाने लगा ।

विसौल एवं फुलहर

विसौल ग्राम को ऋषि विश्वामित्र का शिविर बताया जाता है, तथा फुलहर को राजा सीरध्वज जनका का पुष्पोद्यान । दरभंगा जिले के हरलाखी थाने में विसौल ग्राम है, जो राजा सीरध्वज जनक की राजधानी मिथिला नगरी (वर्तमान जनकपुर जो सम्प्रति नेपाल राज्य के महोत्तरी जिले में है) से लगभग १० (दस) मील की दूरी पर है । इस ग्राम के विषय में कथानक प्रचलित है कि ऋषि विश्वामित्र ने भोजपुर (शाहाबाद, आरा) के बक्सर के निकटवर्त्ती तपोभूमि से ऋषि-मंडली एवं दशरथ-कुमार राम और लक्ष्मण के साथ राजा जनक के धनुष-यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए जब मिथिल की यात्रा की थी, तो उस काल उन सबों ने जनकपुर के निकट पहुँचने पर उसी ग्राम में आकर विश्राम तथा निवास किया था । ऋषि-आगमन का समाचार सुनकर सम्राट् सीरध्वज जनक उस स्थान पर स्वयं पधारे तथा पूज्य एवं सम्मान्य ऋषि विश्वामित्र और उनके सहचरों की अभ्यर्थना तथा सेवा-सत्कार नृपति ने किया । राजकीय अतिथि के रूप में उन सबों को वहाँ शिविरस्थ किया गया, और उनकी सुख-सुविधा का प्रबन्ध स्वयं सम्राट् ने किया । महाराज जनक को दाशरथी राम एवं लक्ष्मण का प्रथम दर्शन तथा परिचय भी उसी स्थान पर हुआ । ऋषि विश्वामित्र के अस्थायी रूप से वहाँ डेरा डालने के कारण वह स्थान विश्वामित्र-आश्रम के नाम से विख्यात हुआ, जो कालान्तर में 'विसौल' कहा जाने लगा ।

इसी विसौल से संलग्न फुलहर ग्राम भी है, जिसे अनुश्रुति सम्राट् जनक की फुलवारी का स्थानापन्न गाँव बताती है । वहाँ एक प्राचीन पुष्करिणी तथा उसके तट पर भगवती गिरिराज-कुमारी का पावन मन्दिर है, जिसे गिरिजा-स्थान कहा जाता है । कथा प्रचलित है कि कोशल-किशोर राम को विदेह-नन्दिनी जानकी (सीता) का प्रथम दर्शन उसी पुष्पोद्यान में हुआ था, जब अपनी माता के आदेश से मिथिलेश-कुमारी सीता गिरिजा-पूजन के हेतु उस वाटिका के मन्दिर में पहुँची थी । उसी समय राम एवं लक्ष्मण ने गुरु विश्वामित्र की देव-पूजा में उपयोग के हेतु फूल लाने के लिए उस उपवन में प्रवेश किया था । दोनों की देखा-देखी अकस्मात् वहाँ बगीचे में हो गयी थी । यह गिरिजा-स्थान बृहद् विष्णु पुराण के अष्टम अध्याय, मिथिला महात्म्य के वर्णनानुसार सम्राट् जनक की राजधानी के घेरा के दक्षिण द्वार पर स्थित था ।

विसौल एवं फुलहर दोनों ही ग्राम श्रद्धालु भक्तों के लिए तीर्थ-स्थान बन गये हैं । जनकपुर की यात्रा करने वाले तीर्थार्थी उपर्युक्त दोनों ग्रामों का सम्बन्ध भगवान् राम से होने के कारण वहाँ जाकर उस स्थान के रजकणों को अपने मस्तक पर चढ़ाते तथा अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शित करते हैं ।

कपिलेश्वर स्थान

कपिल मुनि 'सांख्य शास्त्र' के आदि-प्रवर्त्तक माने जाते हैं। दरभंगा जिले के मधुबनी अनुमण्डल के मधुबनी थाने में कपिलेश्वर महादेव का प्रसिद्ध मन्दिर है । यह स्थान दरभंगा से लगभग १६ मील उत्तर, मधुबनी से पश्चिम, सौराठ ग्राम से दक्षिण एवं रहिका से ३ मील दक्षिण है । मधुबनी से रहिका ५ मील दूर है । कहा जाता है कि कपिल मुनि का आश्रम वहीं पर अथवा उसके निकट कहीं था। कपिलेश्वर महादेव का नामकरण कपिल मुनि के नाम पर ही हुआ बताया जाता है । वह मन्दिर दरभंगा-जयनगर राजपथ के सन्निकट दरभंगा से चलने पर रहिका से आगे मार्ग में मिलता है । वहाँ श्रद्धालु भक्तों की भीड़ रहती है, और समय-समय पर मेला भी लगता है । स्थानीय जनता उस स्थान के प्रति अपार श्रद्धा प्रदर्शित करती है, और उसे कपिल मुनि के आश्रम का स्थानापन्न ग्राम मानती है ।

कपिलेश्वर नाथ शिव के प्राचीन मन्दिर एवं स्थान के आधार पर जाना जाता है कि सांख्य दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि कपिल का आश्रम भी मिथिला में ही था। अतः न्याय-दर्शन के साथ सांख्य-दर्शन को भी मिथिला की देन वहाँ की जनता मानती है । किन्तु विष्णु पुराण, नारद पुराण आदि के उल्लेखानुसार महर्षि कपिल का आश्रम पाताल लोक में था, जहाँ इन्द्र ने राजा सगर के अश्वमेधाश्व को चुरा कर बाँध दिया था, तथा जहाँ महर्षि कपिल के शाप से सगर के साठ हजार पुत्र अथवा सैनिक विनष्ट हो गये थे । इस घटना से महर्षि कपिल और सगर की समकालीनता प्रमाणित होती है । पार्जिटर साहब के शोध के अनुसार राजा सगर वैवस्वत मनु की चालीसवीं पीढ़ी में पड़ते हैं । उन्होंने विष्णु पुराण के आधार पर मनु के दाशरथी राम तक ६५ पीढ़ियाँ गिनी हैं ।

मिथिला के कपिलेश्वर स्थान तथा कपिलेश्वर नाथ संज्ञा वाले प्राचीन शिवलिंग जो वहाँ अवस्थित हैं, का विभिन्न पुराणों में वर्णित महर्षि कपिल के पाताल-स्थित आश्रम से क्या सम्बन्ध है, यह ऐतिहासिक अनुसन्धान का विषय है । जहाँ पर भागीरथी गंगा का बंगाल की खाड़ी के साथ संगम होता है उस स्थान के सन्निकट गंगासागर नामक तीर्थ है । कथा प्रसिद्ध है कि तपश्चर्या में लीन कपिल मुनि उसी स्थान पर ध्यानस्थ थे । राजा सगर के यज्ञाश्व-रक्षक सैनिकों ने अपने अश्व को वहाँ पर बँधा देखकर तप-रत ऋषि को उस घोड़े का चुराने वाला समझ लिया तथा उनका अपमान किया । इस पर वे क्रुद्ध हुए और उनके क्रोधानल में पड़कर सारा सगर-सैन्य विनष्ट हो गया । पुराणों में ऐसा ही वर्णन किया गया है । यह भी सम्भव हो सकता है कि तपश्चर्या के हेतु उस निर्जन स्थान को उपयुक्त समझ कर महर्षि कपिल वहाँ सागर-तट पहुँचे हों और उसी जगह पर तप करने लग गये हों ।

हुलास पट्टी, चतुर्भुज पिपराही तथा मधुबन की चतुर्भुज मूर्त्तियाँ

हुलास पट्टी ग्राम दरभंगा जिले के फुलपरास थाने के घोघरडीहा रेलवे स्टेशन से लगभग दो मील उत्तर-पश्चिम दिशा में है । वहाँ एक विशाल एवं भव्य चतुर्भुज मूर्त्ति है, जो कृष्ण प्रस्तर की बनी है । मूर्त्ति के मस्तक पर मुकुट का सुन्दर आकार उत्कीर्ण है ।

उस मूर्त्ति में खुदाई एवं चित्रकला अति मनमोहक तथा आकर्षक है, जिसे मूर्तिकला का उत्कृष्ट नमूना कहा जा सकता है ।

हुलास पट्टी से लगभग १५ मील उत्तर-पूर्व चतुर्भुज पिपराही ग्राम है । यह भी दरभंगा जिले में ही है तथा लौकहा थाने के अन्दर है । वहाँ के एक खेत में हुलास पट्टी की मूर्त्ति के समान ही सुन्दर कलापूर्ण मूर्त्ति है । स्थानीय कुतूहल-प्रिय अवयस्क बालकों तथा चरवाहों ने उस मनोरम पर अरक्षित मूर्त्ति की भुजाएँ तोड़ दी हैं । सम्भवतः उस मूर्त्ति के कारण ही उस गाँव का नाम चतुर्भुज पिराही पड़ा क्योंकि उस मूर्त्ति की भुजाएँ चार थीं ।

उपर्युक्त चतुर्भुज पिपराही से लगभग ८ मील उत्तर वर्त्तमान नेपाल राज्य की सीमा के अन्दर मधुबन गाम है । वहाँ भी हुलास पट्टी और चतुर्भुज पिपराही की चतुर्भुज मूर्त्तियों के समान ही एक भव्य चतुर्भुज मूर्ति पायी जाती है ।

तीनों ही मूर्त्तियाँ विष्णु भगवान् की हैं । तीनों ही की निर्माण-कला, ऊँचाई आदि में पूर्णतया समता पायी जाती है । थोड़ी-थोड़ी दूरी पर एक ही प्रकार की कई मूर्त्तियों की स्थापना के पीछे भी कोई इतिहास अवश्य होगा, ऐसा अनुमान किया जाता है । बहुत सम्भव है, बौद्ध धर्म के पराभव-काल में उसके स्थान में ब्राह्मण-धर्म के पुनःस्थापन का स्मारक उन मूर्त्तियों को थोड़ी-थोड़ी दूरी पर स्थापित कर किसी ने बनाया हो, जो काल के प्रभाव से वर्तमाान अवस्था में पड़ी है । हो सकता है, खोज करने पर इन तीन मूर्त्तियों के अतिरिक्त इस प्रकार की और भी मूर्त्तियाँ अन्यत्र प्राप्त हो सकें । प्राचीन मूर्त्तियों के तस्कर व्यापारियों द्वारा अनेक आरक्षित मूर्त्तियाँ चुरायी एवं बेची जा चुकी हैं, और यह क्रम अब भी समाप्त नहीं हो सका है । मूर्त्तियों की चोरी आज भी लुक-छिप कर देश में होती पायी जाती है, क्योंकि इस प्रकार के अनैतिक एवं अवैध व्यापार से मूर्ति-स्तेनों को, विशेषकर विदेशियों से, अत्यधिक मुद्रा प्राप्त होती है ।

सीतामढ़ी

सीतामढ़ी तिरहुत प्रमंडल के मुजफ्फरपुर जिले का एक अनुमंडल नगर है । उससे संलग्न लगभग एक मील की दूरी पर पुनौरा ग्राम है । सम्प्रति जनता दोनों ही को राजा सीरध्वज जनक की हल-कर्षण-यज्ञ-भूमि तथा उर्वीजा सीता के अवतीर्ण होने का स्थान बताती है ।

'बृहद् विष्णु पुराण' के वर्णनानुसार सम्राट् जनक की वह हल-कर्षण-यज्ञ-भूमि उसके राजनगर से पश्चिम ३ योजन अर्थात् २४ मील की दूरी पर स्थित थी । लक्ष्मणा (लखनदेई) नदी के तट पर उस यज्ञ का अनुष्ठान एवं सम्पादन बताया जाता है । वर्तमान सीतामढ़ी लक्ष्मणा की वर्तमान धारा के किनारे है । पर पुनौरा में भी नदी की पुरानी धारा कभी थी, ऐसा लगता है । सीमा का प्राकट्य हल-कर्षण-यज्ञ-स्थली में राजा के हल की नोंक के उर्वी (पृथ्वी) के वक्षस्थल में लगते ही एक दिव्यशक्ति के रूप में हुआ था । इसी कारण देवी सीता का एक नाम उर्वीजा है ।

पुनौरा की जनश्रुति बताती है कि माया-स्वरूपिणी उर्वीजा सीता के उत्पन्न करने के कारण वहाँ की उर्वी (भूमि) पुण्यमयी हो गयी, और इसी कारण उस भूमि का नामकरण पुण्य-उर्वी हुआ, जो आगे चलकर बिगड़ते-बिगड़ते 'पुण्य-उर्व्री' के विकृत रूप में

'पुनौरा' कहा जाने लगा । पुनौरा में एक प्राचीन पोखर तथा मन्दिर भी है । यह भी बताया जाता है कि वहाँ पर पुण्डरीक मुनि का कभी आश्रम था ।

किम्वदन्ती प्रचलित है कि हल-कर्षण-यज्ञ के परिणामस्वरूप भूमि-सुता सीता तो धराधाम पर अवतीर्ण हुई ही, साथ ही आकाश मेघाच्छन्न होकर मूसलधार वर्षा आरम्भ हो गयी, जिससे प्रजा का दुष्काल-कष्ट तो मिटा, पर नवजात शिशु सीता की उससे रक्षा की समस्या मार्ग में नृपति जनक के सामने उपस्थिति हो गयी । उसे वहाँ वर्षा और वात से बचाने के विचार से एक मढ़ी (कुटी, झोपड़ी) प्रस्तुत करवाने की आवश्यकता आ पड़ी । राजाज्ञा से शीघ्रता में उस स्थान पर एक मड़ई तैयार की गयी, और उसके अन्दर सीता सयत्न रखी गयी । कहा जाता है कि जहाँ पर सीता की वर्षा से रक्षा के हेतु मढ़ी बनायी गयी उस स्थान का नाम 'सीतामढ़ी' पड़ा । परन्तु ये सभी स्थानीय अनुश्रुतियाँ हैं। इसमें ऐतिहासिकता कहाँ तक है, यह कहना कठिन है । पर बातें युक्तियुक्त जँचती है।

सीतामढ़ी अनुमंडल का प्रधान नगर है । इस कारण उसका विकास सम्यक् हुआ है । पुनौरा आज भी अपनी पुरानी अवस्था में है । दर्शनार्थी इस तथ्य को निश्चय करने में असमर्थ होकर कि उर्वीजा सीता का असल प्राकट्य-स्थान दोनों में से कौन है, दोनों ही स्थानों में जाकर अपना श्रद्धाभाव प्रदर्शित करते तथा वहाँ के पावन रजःकणों का पुण्यस्पर्श कर अपने को धन्य मानते हैं ।

सीतामढ़ी नगर के पश्चिमी छोर पर जानकी-स्थान एवं उर्वीजा-कुंड है । ऐसा कहा जाता है कि उक्त कुंड के जीर्णोद्धार के समय, आज से लगभग २०० वर्ष पूर्व उसके अन्दर उर्वीजा सीता की एक प्रतिमा प्राप्त हुई थी, जिसकी स्थापना जानकी-स्थान के मन्दिर में की गयी । कुछ लोगों का कहना है कि वर्तमान जानकी-स्थान के मन्दिर में स्थापित जानकी जी की मूर्ति वही है, जो कुंड की खुदाई के समय उसके अन्दर से निकली थी। पर वहाँ के सभी अधिवासी इसको स्वीकार नहीं करते हैं ।

पूर्व में सीतामढ़ी तथा पुनौरा जहाँ है, वह समस्त स्थान घोर जंगल था । जानकी स्थान के महंथ के प्रथम पूर्वज विरक्त महात्मा एवं सिद्ध पुरुष थे । उन्होंने 'बृहद विष्णुपुराण' के वर्णनानुसार जनकपुर से माप कर वर्तमान जानकी-स्थान वाली जगह को ही राजा जनक की हल-कर्षण-यज्ञ-भूमि बतायी । पीछे उन्होंने उसी पावन स्थान पर एक वृक्ष के नीचे लक्ष्मणा नदी के तट पर तपश्चर्या के हेतु अपना आसन लगाया । पश्चात् काल में भक्तों ने वहाँ एक मठ का निर्माण किया, जो गुरु-परम्परा के अनुसार उसके कुल के क्रमागत शिष्यों के अधीन अद्यपर्यन्त चला आ रहा है । सीतामढ़ी में उर्वीजा जानकी के नाम पर प्रतिवर्ष विशाल मेला लगता है, जिससे वहाँ के जानकी-स्थान की ख्याति और भी अधिक हो गयी है । पुनौरा का विकास न अबतक हुआ है और न हो रहा है। वह विस्मृति के गर्त में पड़ा है ।

हलेश्वर स्थान

सीतामढ़ी से सटे पुनौरा के जानकी-जन्म-कुण्ड से लगभग दो मील उत्तर वैरिया गिरमिशानी ग्राम में ईंटों का बना हलेश्वरनाथ महादेव का एक प्राचीन शिव-मन्दिर है । धरातल से लगभग २-३ फीट नीचे शिव-लिंग सम्प्रति स्थापित दीख पड़ते हैं । कहा जाता

है कि हल-कर्षण यज्ञ आरम्भ करने के पूर्व सम्राट् सीरध्वज जनक ने प्रजा की मंगल-कामना से भगवान् आशुतोष शिव की विधिवत् पूजा कर वहाँ शिवलिंग की स्थापना की थी, तथा वहीं से लांगल के लट्ठे की मूठ पकड़ कर हल-कर्षण-यज्ञ करना आरम्भ किया था। यह भी कहा जाता है कि जब सम्राट् जनक यज्ञ करते-करते पुण्डरीक-आश्रम पहुँचे और वहाँ से उन्होंने पूर्व की ओर लांगल को घुमाया तो वहाँ भूमि-सुता उर्वीजा का प्राकट्य हुआ, और आकाश मेघाच्छन्न हो गया। फिर मूसलधार वर्षा होने लगी। प्रजा का जलकष्ट दूर हुआ, तथा दीर्घव्यापी दुष्काल का भी अचिर अवसान हो गया। वहीं पर उपर्युक्त हल-कर्षण-यज्ञ का विसर्जन किया गया और राजा जनक ने नवजात शिशु सीता को लेकर राजाधनी के लिए प्रस्थान किया। पुराणों में हलेश्वर शिव की महिमा का वर्णन किया गया है। वहाँ वसन्त पंचमी आदि पावन अवसरों पर मेला लगता है (रामस्वार्थ सिंह 'पूनम' : 'जानकी उत्पत्ति माहात्म्य', पृ० २४)।

पंथपाकड़

मुजफ्फरपुर जिले के सीतामढ़ी थाने में सीतामढ़ी-सुरसंड-जनकपुर राजपथ से सटे उत्तर एक मील की दूरी पर पंथपाकड़ नाम का ग्राम है। वह सीतामढ़ी रेलवे स्टेशन से लगभग पाँच छः मील उत्तर-पूर्व है। उक्त ग्राम के पूरबी छोर पर ग्राम प्रतोली (गो-डगरी) के किनारे पाकड़-वृक्षों का एक विशाल झुरमुट है। प्राचीन पाकड़ वृक्ष के चतुर्दिक् उसी जाति के अनेक वृक्ष उग कर एक सुन्दर झुरमुट बन गया है, जो अति मनोहर एवं आकर्षक है। कहा जाता है कि प्राचीन काल में मिथिला-कोशल राजपथ उसी ग्राम से होकर गया था। पावन परिणय के पश्चात् जब महारानी सीता ने दशरथ-कुमार राम की अनुगामिनी होकर जनकपुर (मिथिला नगरी) से डोली पर कोशल की राजधानी अयोध्या के लिए प्रस्थान किया था तो पहली बार कहारों ने शिविका को मार्ग में खड़े उसी विशाल पाकड़-तरु के तले रखकर विश्राम किया था। वह पाकड़-पादप पंथ (पंथ-मार्ग) में पड़ता था। इसलिए उसका नाम पंथ-पाकड़ पड़ा। जिस गाँव में वह पाकर पादप था, उसका नाम भी उसी के नाम पर पंथपाकड़ पड़ गया। वहाँ का वह विशाल पाकर-पादप-पुंज आज भी सघन एवं सुन्दर पत्र-किसलय से परिपूर्ण होने के कारण अति सुघड़ और नयनाभिराम है, तथा पथिकों के लिए ग्रीष्मकालिक आतप से रक्षा करने के हेतु सुखद शामियाने का काम करता है। वहाँ सदा ऋतुराज वसन्त का शासन दृष्टिगत होता है, शिशिर के पतझड़ का नहीं।

परम्परागत विश्वास के कारण उस मार्ग से यात्रा करने वाली वधुओं की पालकियां को आज भी कुछ काल तक उपर्युक्त पाकड़-झुरमुट के नीचे रखकर उसकी सवारी तथा कहाँरों को विश्राम करते देखा जाता है। वंधुओं की डोलियों के साथ वरों की पालकियों को भी वहाँ उन पेड़ों के नीचे रखकर विश्राम करने की परिपाटी चल पड़ी है। लोगों की धारणा है कि जगन्माता सीता की डोली उस स्थान पर रखी गयी थी। अतः उस जगह पर उनकी विशेष कृपा है। इसी चिर अन्धविश्वास के कारण नव-विवाहित दम्पति वहाँ मंगल की कामना से परम श्रद्धा के साथ उस स्थान एवं उन वृक्षों के शरणापन्न होते दृष्टिगत होते हैं।

नानपुर

तिरहुत प्रमण्डल के मुजफ्फरपुर जिले के सीतामढ़ी अवर प्रमण्डल में नानपुर ग्राम तथा नानपुर परगना है। कहा जता है कि वहाँ पर अति प्राचीन कल में अलर्क नामक राजा राज करता था (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ५७)। कर्णाट क्षत्रिय-कुल के मिथिला में राज्य-संस्थापक राजा नान्यदेव ने सर्वप्रथम नानपुर अथवा नान्यपुर में ही अपने कुल के राज्य की नींव दी थी। अलर्क के विषय में कथा प्रचलित है कि वह महान् ऐश्वर्यशाली एवं दानी था। उसने एक अन्धे ब्राह्मण की प्रार्थना पर अपने दोनों नेत्र निकाल कर दे दिये थे। नान्यदेव की राज्यप्राप्ति के वर्णन के संदर्भ में अलर्क के नाम की चर्चा प्रस्तुत पुस्तक में पहले की जा चुकी है।

पुनौरा

सीतामढ़ी के वर्णन के सम्बन्ध में पुनौरा ग्राम एवं वहाँ के मन्दिर आदि की चर्चा की जा चुकी है। सीतामढ़ी रेलवे स्टेशन से सीतामढ़ी का जानकी मन्दिर दक्षिण-पश्चिम दिशा में लगभग एक मील दूर है। पुनौरा का जानकी जन्म-कुण्ड सीतामढ़ी महाविद्यालय से करीब दो मील का अन्तर पर है। सीतामढ़ी के उपर्युक्त दोनों पावन स्थानों के बीच लगभग एक मील का अन्तर है। सीतामढ़ी का हाथी बाजार, घोड़ा बाजार, मुरलियाचक तथा गोशाला आदि स्थान पुनौरा ग्राम के ही अंश हैं।

पुनौरा ग्राम को पुराण-प्रसिद्ध पुण्डरीक-क्षेत्र तथा आश्रम का स्थानापन्न बताया जाता है। कहा जाता है कि भूमि-सुता उर्वीजा सीता का प्रादुर्भाव उसी ग्राम के उस भाग में हुआ था जहाँ जानकी-जन्म-कुण्ड का अस्तित्व बताया जाता है। 'बृहद्विष्णुपुराण' के मिथिला महात्म्य के अष्टम अध्याय में सम्राट् जनक के राजनगर के रक्षक प्राकार की चारों दिशाओं के मुख्य चार द्वारों का वर्णन किया गया है। उसके अनुसार दुर्ग के पूरब में हरिहरनाथ, पश्चिम में जलेश्वरनाथ, तथा उत्तर और दक्षिण में क्रमशः धनुषा एवं गिरिजा-स्थान हैं। राजधानी के केन्द्र से भी द्वारों की दूरी लगभग ५ कोस की थी। दुर्ग-प्राकार के पश्चिमी द्वार जलेश्वरनाथ से तीन योजन अर्थात् २४ मील पर हल-कर्षण-यज्ञ का आयोजन किया गया था, जो जनश्रुति के अनुसार लक्ष्मणा नदी के किनारे पुनीत पुण्डरीक क्षेत्र में था। पुनौरा में लक्ष्मणा नदी की प्राचीन धारा का अवशेष अब भी दृष्टिगत होता है, जिसको स्थानीय जनता 'बुढ़िया' कह कर परिचय देती है।

आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व, १८वीं शती के लेखक श्री रामटहल दास जी, पं० श्री बाबूलाल झा जी, तथा श्री जिज्ञासा रामजी आदि ने क्रमशः अपने ग्रंथ 'मानस' (रामायण), 'ससौला-सभा-पंचकोसी वर्णन' एवं 'शब्द संहिता' में पुण्डरीक-क्षेत्र तथा जानकी जन्म-स्थान का पुनौरा ग्राम में ही होना बताया है (रामस्वार्थ सिंह : जानकी-उत्पत्ति-महात्म्य, पृ० १६-१७)। पुण्डरीक तीर्थ का वर्णन-'पद्मपुराण' में एवं अन्यत्र भी पाया जाता है।

श्री जानकी-जन्म-कुण्ड से लगभग एक फरलांग दक्षिण पुण्डरीक-क्षेत्र नामक सरोवर का अवशेष है। अनेक देशी एवं विदेशी विद्वान् पर्यटकों ने भी जानकी-जन्म-कुण्ड एवं पुण्डरीक आश्रम के दर्शन करने के हेतु पुनौरा की यात्रा की है। उनमें से डॉ० के०

एल० राव, श्री रासबिहारी लाल, श्री विश्वनाथ, श्री भागवत प्रसाद, श्री जी०जी० बॉएल (लासा, तिब्बत), श्री नेन आशीन तिलिक्कन्यन (केम्मेन्डिन, रंगून, बर्मा) तथा अन्यान्य मनीषि-पर्यटकों ने भी स्थानीय निरीक्षण के पश्चात् पुनौरा को जानकी जी की जन्म-स्थली एवं पुण्डरीक ऋषि के आश्रम का स्थानापन्न होने की मान्यता दी है (जानकी उत्पत्ति महात्म्य, पृ० २६-२८) । इतिहास के प्रेमी विद्वानों तथा पुरातत्त्व-वेत्ताओं का ध्यान इस विषय में सूक्ष्म शोध कर अन्तिम निर्णय देने के हेतु आकृष्ट होना अपेक्षित है ।

देकुली

देकुली नामक स्थान मिथिला में कई हैं । एक दरभंगा जिले के लहेरियासराय रेलवे-स्टेशन से लगभग दो मील उत्तर है, जहाँ ओइनवार राजकुल के षष्ठ नरेश देवसिंह ने अपनी राजधानी का स्थानान्तरण उसी जिला के ताजपुर थाने के ओइनी (वर्तमान वैनी अथवा पूसारोड) से किया था । दरभंगा जिले में ही दूसरी देकुली है, जिसको देकुली धाम कहा जाता है ।' 'धाम' देवस्थान एवं पुण्यस्थान को कहा जाता है ।

मुजफ्फरपुर जिले के सीतामढ़ी अवर प्रमण्डल में पुनौरा धाम से लगभग १३ मील दूर, शिवहर से दो मील पूरब सीतामढ़ी-शिवहर राजपथ से सटे देकुली के प्राचीन गढ़ का भग्नावशेष है । गढ़ खाई से चतुर्दिक् घिरा हुआ है, जिसकी गहराई सम्प्रति काल के प्रभाव से बहुत कम बच गयी है । उसी प्राचीन गढ़ के ऊपर भगवान् श्री भुवनेश्वर शिव एवं भैरव के मन्दिर हैं । देवालय में प्रवेश के लिए सीढ़ियों से नीचे उतरना पड़ता है । शिवलिंग की स्थापना गढ़ के ऊपरी भाग से पर्याप्त नीचे है । भीतर ही भीतर जल-निष्कासन के हेतु चौड़ी नाली बनी हुई है, जिससे होकर दर्शनार्थी भक्तों द्वारा शिवलिंग पर चढ़ाया गया जल बाहर निकल जाता है । गढ़ से नीचे उतरने के लिए सोपानों का निर्माण किया गया है, जो गढ़ से पश्चिम एक विशाल पुष्करिणी में प्रवेश कर समाप्त होता है । सीढ़ियाँ पुरानी हैं । प्रत्येक रविवार को वहाँ शिव-भक्तों का जमाव होता है । वे पुष्करिणी में स्नान कर वहाँ से जल लेकर शिवलिंग पर चढ़ाते हैं । उस गढ़ के आस-पास लोग बावन पोखरे का अस्तित्व बताते हैं ।

उस अंचल में ऐसा जन विश्वास है कि महाभारत-प्रसिद्ध राजा द्रुपद का गढ़ उसी स्थान पर था । द्रौपदी-स्वयंवर के अवसर पर उपस्थित राजाओं के आवास उन्हीं भिन्न-भिन्न पोखरों के तट पर थे ।

शिव-मन्दिर वाले गढ़ से सटे एक दूसरा गढ़ है । उसे ही जनता राजा द्रुपद के गढ़ का ध्वंसावशेष बताती है । परन्तु लोगों की यह कल्पना केवल प्रचलित जनश्रुति पर आधारित है । राजा द्रुपद उत्तर पांचाल के एक प्रसिद्ध नृपति थे, जो महाभारत के युद्ध में मारे गये थे । धृष्टद्युम्न एवं शिखण्डी उनके वीर पुत्र थे तथा कृष्णा (द्रौपदी) उनकी कन्या थी । पांचाल देश के भूपति की कन्या होने के कारण द्रौपदी को 'पांचाली' भी कहा जाता है ।

पांचाल देश का अस्तित्व हिमालय एवं चम्बल के बीच गंगा के दोनों ओर था । दक्षिण बिहार के बड़गाँव-स्थित विशाल ढूह-समूह को कुण्डिनपुर बड़गाँव की संज्ञा देकर जनश्रुति उन टीलों को भगवान् कृष्ण की पटरानी रुक्मिणी के पिता भीष्मक का गढ़ बताती

थी, पर अन्वेषण के बाद वे सब प्राचीन नालन्दा विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों के भग्नावशेष खण्डहर सिद्ध हुए । राजा भीष्मक की राजधानी विदर्भ देश में थी, मगध (कीटक) में नहीं । उसी तरह देकुली के टीले को राजा द्रुपद का गढ़ स्वीकार कर लेना बुद्धि एवं तर्क-गम्य नहीं है । असली तथ्य का पता लगाने के हेतु शोध-कुशल इतिहासज्ञ विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित होना अपेक्षित है । पुरातत्त्व विभाग द्वारा गढ़ की खुदाई यदि करायी जाय तो उससे उसके इतिहास पर प्रकाश पड़ना बहुत अंशों तक सम्भव हो सकता है ।

देकुली के सम्बन्ध में एक और किंवदन्ती बतायी जाती है । कहा जाता है कि द्वापर में अभिमन्यु के विवाह के लिए बारात लेकर जब पाण्डवों ने राजा विराट की राजधानी की यात्रा की, तो मार्ग में अन्तिम पड़ाव उनका वहीं देकुली में पड़ा था । मिथिला के भाला परगने का विराटपुर अथवा वनाटपुर राजा विराट की राजधानी बतायी जाती है, जिसकी चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है ।

कटरा

कटरा मुजफ्फरपुर जिले का एक थाना है । वहाँ उस थाने का आरक्षी-आवास है । मुजफ्फरपुर से कटरा तक राज-परिवहन बसें दो मार्ग से जाती हैं, एक रुनीसैदपुर होकर तथा दूसरा पिरौछा पुल पार कर । कटरा में देकुली की भाँति एक विशाल गढ़ का ध्वंसावशेष है, जो चतुर्दिक् खाई से घिरा है । खाई की गहराई काल के प्रभाव से लगभग समाप्त हो चुकी है, पर उसका अवशिष्ट अवशेष अब भी दृष्टिगत होता है । आरक्षी-आवास का निर्माण गढ़ वाले ढूह पर ही ब्रिटिश-शासनकाल में हुआ था । गढ़ खाई के अतिरिक्त वह स्थान लक्ष्मणा नदी की धारा से भी परिवेष्टित होकर अतीत में सुरक्षित बना हुआ था । सम्भवतः इसी कारण से वहाँ पर किसी नरेश ने कभी गढ़ का निर्माण किया था । पर वह गढ़ किसका था और कब बना, इसका पता इतिहास को नहीं है । गढ़ खण्डहर का क्षेत्रफल अभी लगभग ८४(चौरासी) बीघा है ।

कटरा गढ़ परगना गढ़चाउण्ड के अन्दर है । गढ़ से संलग्न उसी ग्राम में लक्ष्मणा नदी की एक पुरानी धारा की दूसरी ओर चामुण्डा-स्थान है, जिसके अवलोकन से ही उसकी प्राचीनता स्पष्ट झलकती है । वहाँ पर चामुण्डा देवी का मन्दिर है । चण्ड-मुण्ड नामक दैत्यों के वध करने के कारण देवी का नाम चामुण्डा पड़ा, ऐसी कथा प्रसिद्ध है । सम्भवतः परगने का नाम गढ़चाउण्ड, वहाँ पर चामुण्डा देवी के मन्दिर के अस्तित्व के कारण ही पड़ा था, ऐसा विश्वास किया जाता है । आरम्भ में उस गढ़ का नाम भी चाउण्ड अथवा चामुण्डा गढ़ रहा हो, ऐसा भी हो सकता है । मन्दिर का निर्माण गढ़ के उत्तर-पश्चिम कोणों में पर्याप्त ऊँचाई पर हुआ था ।

कटरा छोटे चौकोर (वर्गाकार) बाजार को प्रायः कहा जाता है । उपर्युक्त गढ़ के निकट तथा उससे सम्बद्ध सुदूर अतीत में सम्भवतः एक समुन्नत बाजार का अस्तित्व था, जिस कारण से उस स्थान का नाम कटरा पड़ा, ऐसा प्रतीत होता है । गढ से दक्षिण भाग में मुसलमानों की बस्ती है । उसको आज भी 'बाजार' कहा जाता है, यद्यपि वहाँ बाजार सम्प्रति नहीं है ।

वर्षा के कारण गढ़ की मिट्टी के जल-प्रवाह के साथ घुल-मिल कर बहने से कभी-कभी वहाँ कतिपय प्राचीन वस्तुएँ स्थानीय जनता को प्राप्त हुई हैं, पर उनका समुचित संग्रह किसी ने कभी नहीं किया। उनका पता भी नहीं है। उनकी उपलब्धि से अन्वेषकों के अन्वेषण एवं शोध-कार्य में कुछ सहायता मिल सकती थी। गढ़ के दक्षिणी छोर के अवलोकन से खाई के बाद ईंटों के बने गढ़-प्राकार का पता चलता है। प्राचीर की दीवार चौड़ी एवं सुदृढ़ थी। ईंटों का आकार भी वर्तमान-कालिक ईंटों से बड़ा है, पर मोटाई अधिक नहीं है।

उस परगने का नामकरण गढ़चाउण्ड होना इस तथ्य का द्योतक है कि तिरहुत-राज्य के परगनों में विभाजित होने के पूर्व चामुण्डा मन्दिर एवं चामुण्डा अथवा चाउण्डगढ़ का अस्तित्व वहाँ पर था। इतिहास इस बात का साक्ष्य देता है कि कर्णाट-क्षत्रिय राजकुल के द्वितीय नरेश गंगदेव (नान्यदेव के पुत्र एवं उत्तराधिकारी) के शासनकाल में राज-कर की वसूली में सुगमता के हेतु तिरहुत के भू-भाग को परगनों में विभाजित किया गया था (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २६३)। गंगदेव का शासनकाल ११४७ ई० से ११८७ ई० तक माना जाता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि कटरा ग्राम के चामुण्डा स्थान एवं गढ़ का अस्तित्व बारहवीं शताब्दी के मध्य पूर्व अवश्य था।

कटरा को अकबरपुर कटरा कहा जाता है। अकबर मुसलमानी नाम प्रतीत होता है। मुसलिम-विजय-काल में उस नाम के किसी व्यक्ति का आधिपत्य वहाँ हुआ होगा। चामुण्डा देवी का वहाँ प्राधान्य इस तथ्य का द्योतक है कि वह गढ़ किसी हिन्दू-नरेश का था।

चामुण्डा देवी की प्राचीन मूर्ति किसी ने चुरा ली। पश्चात् एक साधु ने स्थानीय जनता की सहायता एवं सहयोग से वहाँ एक नयी मूर्ति की स्थापना की, जो मन्दिर में सम्प्रति विद्यमान है।

उक्त मन्दिर से संलग्न मिट्टी काटते समय किसी किसान को वहाँ एक भग्न शिला-खण्ड तथा ताम्रपत्र मिला, जिसमें अभिलेख-पंक्तियाँ उत्कीर्ण थीं। उसकी जानकारी होने पर बिहार के प्रसिद्ध साहित्यकार स्वर्गीय रामवृक्ष बेनीपुरी ने उसकी जाँच तथा रहास्योद्घाटन के हेतु बिहार सरकार के शोध-कुशल विद्वान् पदाधिकारी श्री श्रीधर वासुदेव सोहोनी के पास प्रेषित किया। वह अभिलेख जीवितगुप्त के काल का सिद्ध हुआ। जीवितगुप्त प्रथम का शासनकाल छठी शताब्दी के बीच था, तथा जीवितगुप्त द्वितीय का आठवीं शती का पूर्वार्द्ध। इस अभिलेख की प्राप्ति से कटरागढ़ का अस्तित्व अति प्राचीन प्रमाणित होता है।

दुर्ग का मुख्य द्वार उत्तर दिशा में था, जिसके दो पायों के अवशेष वहाँ प्राप्त हुए हैं। गढ़ के चतुर्दिक् लगभग एक मील की दूरी पर छोटे-छोटे चार टीले हैं, जिनमें दीवारों के अवशेष अब भी देखे जाते हैं। सम्भवतः वे ढूहे चामुण्डागढ़ के रक्षक सैनिकों के आवास थे, जिनके ध्वंसावशेष वे चारों टीले हैं ?

कटरागढ़ के खण्डहर से एक मील दक्षिण एक और टीला है, जिसका वर्तमान क्षेत्रफल १० बीघा है। उसमें बड़े आकार की ईंटों की उपलब्धि हुई है, जिनकी मोटाई

ढाई-तीन इंचों से अधिक नहीं है । सम्भवतः वे ईंटें उस स्थान के प्राचीन निर्माण के वृत्ताकार पायों की हैं । टीले के दक्षिण भाग में चन्द्रेश्वरनाथ महादेव का प्रचीन मन्दिर है, जिसका निर्माण उस ढूह के अन्दर नीचे के भाग में पर्याप्त गहराई में हुआ दृष्टिगोचर होता है । उस मन्दिर में शिवलिंग स्थापित है । टीले की गहराई में शिवलिंग की स्थापना उसकी प्राचीनता का परिचायक है ।

उपर्युक्त मन्दिर के सामने एक प्राचीन पुष्करिणी है, जिसके पानी वाले भाग का वर्त्तमान क्षेत्रफल लगभग सात बीघे का है । उस तालाब को चन्द्र-गंगा अथवा देवहा नाम से पुकारा जाता है । उस पोखरे में मिट्टी काटते समय दो पुराकालिक मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं । वे मूर्तियाँ सम्प्रति उस ग्राम के निवासी श्री जगन्नाथप्रसाद सिंह के पास संगृहीत एवं सुरक्षित हैं । मूर्ति-कलाविदों के मतानुसार वे दोनों ही मूर्तियाँ ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व की बनी हुई हैं ।

एक बार कटरागढ़ के मुख्य टीले से भी कुछ प्राचीन वस्तुओं एवं एक मूर्ति की प्राप्ति हुई थी । स्थानीय जनश्रुति के अनुसार वे उपलब्धियाँ बिहार सरकार के आरक्षी विभाग के कर्मचारियों द्वारा सरकार के पास प्रेषित की गयीं ।

ओइनी

ओइनी ग्राम समस्तीपुर जिले के अन्दर ताजपुर थाने में है । इसे सम्प्रति लोग वैनी कहते हैं । वहाँ पूर्वोत्तर रेलवे का स्टेशन है, जिसका नाम पूसारोड है । पूसा उस स्थान से छः मील उत्तर है । परन्तु बीसवीं सदी के आरम्भ में वहाँ पर एक अमेरिकी धन-कुबेर की सहायता से कृषि-अनुसंधान-महाविद्यालय की स्थापना हुई थी । महाविद्यालय-भवन का शिलान्यास भारत के तत्कालीन ब्रिटिश-सम्राट् के प्रतिनिधि शासक लार्ड कर्जन ने किया था । पूसा का महत्त्व इस प्रकार बढ़ जाने के कारण उसके निकटवर्त्ती रेलवे-स्टेशन का नाम वैनी से बदल कर पूसारोड रखा गया । उपर्युक्त कृषि-अनुसंधान-महाविद्यालय का स्थानान्तरण १९३४ ई० के बिहार के भयानक भूकम्प के पश्चात् दिल्ली में किया गया । पर उसके बाद भी रेलवे-स्टेशन का नाम वही बना रहा ।

वैनी में बिहार खादी ग्रामोद्योग संघ के कार्यालय, जिसका वर्तमान नाम लक्ष्मी-नारायण पुरी है, के पूर्व और उत्तर दिशा में थोड़ी दूरी पर प्राचीन दो डीहें हैं । उन्हें जनता ओइन ठाकुर का डीह बताती है । ओइन ठाकुर ओइनी के ओइनवारों के पूर्वज थे । ओइन ठाकुर का दूसरा नाम नाथ ठाकुर था । वे महाविद्वान् एवं तपस्वी साधु थे । किसी कर्णाट क्षत्रिय मिथिला-भूपति ने जमुआरी नदी के किनारे का एक गाँव नाथ ठाकुर वा ओइन ठाकुर को उपहार में दिया था । जमुआरी बूढ़ी गंडक की शाखा है तथा वर्तमान काल में यह नदी-धार मृतप्राय है । उस ग्राम का नाम सम्प्रति ओइनी अथवा वैनी है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । उस ग्राम के नाम के कारण नाथ ठाकुर का नाम ओइन ठाकुर पड़ा अथवा उनके नाम के कारण ही उस ग्राम का नव-नामकरण ओइनी हुआ, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता है । 'ठाकुर' का अर्थ स्वामी तथा जमींदार भी होता है । ओइनी ग्राम के अधिपति होने के नाते उनका ओइन ठाकुर नाम पड़ा हो ऐसा भी सम्भव हो सकता है ।

ओइन ठाकुर ने बूढ़ी गण्डक के किनारे के गाँव जगतपुर से आकर ओइनी में निवास किया था। तब से उनके वंशजों का मूल ओइनवार हो गया। जगतपुर में जबतक उन्होंने तथा उनके पूर्वजों ने निवास किया तब तक उस वंश का मूल खौआल था। ओइनवार मैथिल ब्राह्मणों का एक प्रसिद्ध वंश है, इनका मूल ओइनी है, जगतपुर ग्राम है जिसका अर्थ यह हुआ कि पंजी-प्रबन्धोत्तर काल में ये लोग जगतपुर में बसे हुए थे। परन्तु ओइनी मूल नया है। इन लोगों का आदि मूल खौआल था और खौआल की ही एक शाखा ओइनी के नाम से प्रसिद्ध है (डॉ० आदित्यनाथ झा, आई० सी० एस०, उप-राज्यपाल दिल्ली)। अतः उस वंश को खौआल-जगतपुर कहते हैं। खौआल मिथिला में ब्राह्मणों का एक प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित वंश है। इसी कुल की एक शाखा सोदरपुर में जा बसी। वहाँ निवास करने के कारण उस शाखा का मूल सोदर-पुरिया हुआ ओइन ठाकुर के पिता का नाम हिंगु ठाकुर था। हिंगु ठाकुर जयपति ठाकुर के पुत्र थे। ओइन ठाकुर की पाँचवीं पीढ़ी में कामेश्वर ठाकुर हुए। उनको मिथिला का राज्य फिरोज तुगलक की कृपा एवं सौहार्द से प्राप्त हुआ। अतः वे ओइनवार राजवंश के संस्थापक हुए। कामेश्वर ठाकुर की राजधानी ओइनी में थी। ओइनवार राजकुल के छः मिथिला-भूपों ने ओइनी राजधानी से मिथिला का शासन किया था। राजा देवसिंह ने अपने शासन के अन्तिम चरण में राजधानी का स्थानान्तरण वैनी से देकुली में किया, जिसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है।

विसफी और सौराठ

विसफी ग्राम का उल्लेख प्रसंगवश पुस्तक में पूर्व में किया जा चुका है। यह स्थान पूर्वोत्तर रेलवे के कमतौल स्टेशन से ४ मील पूर्व एवं कपिलेश्वर-स्थान महादेव मन्दिर से ३ मील पश्चिम है। कमतौल से आरम्भ होकर जो सड़क दरभंगा-जयनगर राजपथ से मिलती है, वह विसफी ग्राम होकर ही जाती है। वह ग्राम दरभंगा जिले के बेनीपट्टी थाने के अन्तर्गत है।

मिथिला के परम प्रख्यात कवि विद्यापति, जिनके ललित-पद आज भी तिरहुत के घर-घर में बड़े प्रेम, श्रद्धा एवं भक्ति के साथ गाये जाते हैं, के पूर्वज विसफी ग्राम में निवास करते थे। कवि-कोकिल विद्यापति के जन्म का श्रेय भी उसी पावन ग्राम को प्राप्त हुआ था। ओइनवार-कुल के सातवें राजा, स्वतन्त्रता देवी के श्रद्धालु अर्चक, वीर शिवसिंह देव ने उपर्युक्त विसफी ग्राम का स्वामित्व एक ताम्रपत्र पर अंकित कर कवि विद्यापति को दान में दिया था। इस दान-पत्र के विषय में भी विवेचना पूर्व में की जा चुकी है। विदेशी ब्रिटिश-शासन के आरम्भ-काल तक विसफी ग्राम पर कवि के वंशजों का आधिपत्य था। सम्प्रति उनका निवास मिथिला के प्रसिद्ध ग्राम सौराठ, जो मधुबनी के निकट है, में पाया जाता है। कर्णाट-वंशीय राजा हरिसिंह देव के पंजी-प्रबन्धोत्तर-काल से ही प्रति वर्ष वहाँ पर विशाल सभा का आयोजन होता है, और उसमें लक्षाधिक व्यक्ति सम्मिलित होते हैं। विज्ञ पंजीकारों की सम्मति एवं निर्णय के अनुसार मैथिल वर-वधुओं का विवाह-सम्बन्ध वहाँ तय किया जाता है। सौराठ की सभा-गाछी सम्पूर्ण मिथिला में प्रसिद्ध है। प्राचीन विधि-विधान के अनुसार विवाह-सम्बन्धी सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश डालने तथा निर्णय देने के विषय में सौराठ की मैथिल-ब्राह्मण-सभा अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखती

है । उसके निर्णय को मैथिल समाज आदर की दृष्टि से देखता है तथा मान्य समझता है । राजा हरिसिंह देव का शासनकाल १४ वीं शताब्दी का प्रथम चरण था । कवि विद्यापति को विसफी ग्राम १५ वीं शती के प्रथम चरण में दान में प्राप्त हुआ था । बिहार की राज्य सरकार ने सौराठ ग्राम में एक सुन्दर धर्मशाला बनवा कर तथा वहाँ की पुष्करिणियों का जीर्णोद्धार कर एवं उनमें सुधार लाकर उस स्थान का विकास किया है ।

नौलागढ़

बिहार राज्य में बेगूसराय जिला नगर से १६ मील उत्तर नौलागढ़ के प्राचीन विशाल दुर्ग का ध्वंसावशेष खण्डहर दृष्टिगत होता है । उसकी लम्बाई, चौड़ाई एवं दुर्ग-क्षेत्र के अन्तर्गत ढूहों की प्रचुरता उसके अतीत गौरव तथा ऐश्वर्य का द्योतक है । किले का सम्पूर्ण क्षेत्र लगभग १५ फीट चौड़े सुदृढ़ एवं ऊँचे प्राकार से परिवेष्टित था, जिसके सभी ओर २०० फीट चौड़ी और गहरी खाई थी । उक्त खाई का सम्बन्ध निकट बहने वाली तीन नदियों -बूढ़ी गण्डक, बलान एवं वैती से कराया गया था । अतः वह सदा जल से परिपूर्ण रह कर शत्रुओं के आक्रमणों से दुर्ग की रक्षा अहर्निश करती रहती थी । नौलागढ़ किले का क्षेत्रफल लगभग ३५० एकड़ बताया जाता है ।

गढ़-प्राचीर में पूर्व की ओर विशाल तोरण-द्वार था, जिसका स्पष्ट पता पर्यटकों को उस स्थान के पर्यवेक्षण के पश्चात् शीघ्र लगता है । काल-चक्र के प्रभाव से गढ़ की रक्षा करने वाली प्रहरी खाई मिट्टी से भर गयी है, पर तो भी उसकी गहराई वर्तमान काल में भी पर्याप्त है । दुर्ग-प्राकार भी काल के विकराल विनष्टकारी प्रभाव से अछूता नहीं बच सका है ।

किले के अन्दर उत्तर-पश्चिम दिशा में एक उच्च एवं विशाल ढूह है । सम्भवतः प्राचीन काल में वहाँ राजप्रासाद था, जिसका वह ध्वंसावशेष प्रतीत होता है । उसके निकट मिट्टी से भरे एक कुएँ तथा किले के दक्षिण भाग में एक पुष्करिणी के अस्तित्व का पता चलता है । पश्चिम की ओर का स्थान दुर्ग-प्रांगण जैसा लगता है । उपर्युक्त के अतिरिक्त और भी अनेक छोटे-छोटे ढूहों के समूह हैं, जो राजमहल से सम्बन्धित भवनों के अवशेष जान पड़ते हैं । सचिवालय का खण्डहर भी उन ढूहों में से ही कोई होगा, इसमें सन्देह नहीं है ।

दुर्ग-प्राचीर के बाहर भी ऊँचे-ऊँचे डीहों और टीलों से परिपूर्ण क्षेत्र दीख पड़ता है । सम्भवतः वहाँ राज-कर्मचारियों के निवास तथा दुर्ग-रक्षक सैनिकों के स्थायी शिविर रहे होंगे ।

शोध-कुशल मनीषी आचार्य श्री राधाकृष्ण चौधरी जी, प्रधान, इतिहास विभाग एवं उप-प्राचार्य गणेशदत्त महाविद्यालय, बेगूसराय ने नौलागढ़ के विषय में अति संलग्नता के साथ शोध-कार्य किया है, जिसकी चर्चा प्रसंगवश प्रस्तुत पुस्तक में पूर्व में की गयी है । महाविद्यालय की ओर से चार बुलेटिन भी इस सम्बन्ध में निकल चुके हैं । वहाँ की उपलब्धियाँ महाविद्यालय के इतिहास-विभाग के कार्यालय में अमूल्य संचित पुराकालिक सम्पत्ति के रूप में प्रदर्शनार्थ संरक्षित हैं ।

पुरातत्त्व विभाग की ओर से खण्डहरों की खुदाई होने पर नौलागढ़ के प्राचीन तमसाच्छन्न इतिहास पर प्रकाश पड़ सकता है। भीतरी भाग में तथा बाहरी दीवार में व्यवहृत अनेक ईंट लगभग वर्गाकार पायी गयी हैं। मौर्य-कालीन ईंटें, जो राज-गृह की प्राचीन दीवारों में यत्र-तत्र पायी जाती हैं, उनकी लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई वर्तमान-कालिक ईंटों से अपेक्षाकृत अधिक हैं। पाल-काल की ईंट नालन्दा के खण्डहरों की दीवारों में अत्यधिक मात्रा में पायी जाती हैं; क्योंकि वे सभी प्रायः उसी युग के निर्माण-कार्य के अवशेष हैं। मौर्य-युगीन एवं पाल-कालीन ईंटों में बहुत अन्तर दीखता है। पाल-युग की ईंटें मौर्य-काल की और ईंटों से लम्बाई,चौड़ाई और मोटाई में न्यून पायी जाती हैं। ईंटों को देख और जाँच कर पुरातत्त्ववेत्ता गवेषक बता सकते हैं कि नौलागढ़ का निर्माण कितना प्राचीन है। दीवारों में जो ईंटें लगी हैं, उनमें टुकड़ों का बाहुल्य है। इससे यह पता चलता है कि वहाँ के निर्माण कई बार विनष्ट हुए और वहाँ के उपकरणों और उपस्करों से उस स्थान पर बार-बार अट्टालिकाएँ एवं महल खड़े किये गये। भवनों के बार-बार टूटने पर उनकी ईंटें एवं अन्य सामग्रियाँ भग्न होती ही हैं।

नौलागढ़ की उपलब्धियों में पाल-काल के उत्कीर्ण दो अभिलेख एवं ताम्र तथा स्वर्ण सिक्के प्राप्त हुए हैं। इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् डॉ० अल्तेकर जी की राय में नौलागढ़ क्षेत्र से प्राप्त मुद्रा पाल-भूप विग्रहपाल तृतीय के काल की है। नौलागढ़ के पड़ोस के जिला मुजफ्फरपुर के इमादपुर ग्राम से प्राप्त दो मूर्ति-लेख महीपाल प्रथम के काल के हैं, जो सम्भवतः १०२८ ई० में उत्कीर्ण किये गये थे। महीपाल प्रथम का शासनकाल ९८० से १०३० ई० तक बताया जाता है। महाराजा महीपाल प्रथम के तीन प्रपौत्रों में एक महीपाल द्वितीय था, जो विग्रहपाल तृतीय का पुत्र था। स्वर्ण का एक सिक्का गुप्त-काल का भी वहाँ से उपलब्ध हुआ बताया जाता है। वह दुर्ग की प्राचीनता का परिचायक है। इससे पता चलता है कि पालों के सम्राट् रूप में प्रादुर्भाव के पूर्व भी नौलागढ़ का अस्तित्व था। सम्भवतः वहाँ किसी स्थानीय सामन्त भूप की राजधानी थी।

महाराज धर्मपाल एवं देवपाल के शासनकाल में पाल-कुल का प्रतापादित्य अति उच्चाकाश में प्रखरता के साथ तप रहा था। किन्तु महीपाल के समय वह क्षितिजगामी हो चला था। उदण्डपुर (बिहारशरीफ), मुद्‌गिरि (मुंगेर) आदि के शासन से निकल जाने पर अथवा उन स्थानों पर शत्रुओं के लगातार आक्रमणों से भयभीत होकर महीपाल ने नौलागढ़ के सुरक्षित किले में अपनी राजधानी को अस्थायी रूप में स्थानान्तरित किया हो, ऐसा सम्भव हो सकता है।

पाल-वंशीय नृपतिगण विशेषतया बौद्ध धर्मावलम्बी थे। नौलागढ़ के ध्वंसावशेष से उपलब्ध कृष्ण-प्रस्तर-निर्मित मूर्त्तियाँ चक्रधर विष्णु, गदाधर महावीर आदि की हैं। अतः वे या तो पाल-काल के पूर्व की अथवा पश्चाद्वर्त्ती हैं। खण्डित मूर्त्तियों के टुकड़ों की प्रचुरता उस गढ़ पर विदेशी विधर्मियों के बार-बार आक्रमण की कथा मूक पर स्पष्ट स्वरों में दर्शकों को सुनाती है।

मृत्तिका-निर्मित विशाल काय भाण्ड, करंडिका क्षुद्र कलश, प्याला तथा अन्य सामान भी वहाँ से प्राप्त हुए हैं, जिनकी बनावट कलापूर्ण है। खण्डहर से कतिपय पत्थर के

आभूषण के टुकड़े तथा चमकीले एम० बी०(मौर्य बिहार पौटरी) के खण्ड प्राप्त हुए हैं। हाथी के दाँतों के सामानों के टुकड़े भी वहाँ कई मिले हैं ।

जय मंगलागढ़

यह स्थान बेगूसराय जिले के बरियारपुर थाने में है, जहाँ एक विशाल गढ़ का भग्नावशेष बड़े टीले के रूप में खड़ा पर्यटकों को अपना इतिहास मौन भाषा में बताता है। इस गढ़ का क्षेत्रफल ३५२ बीघा बताया जाता है तथा इसका सम्बन्ध नौलागढ़ से जल-मार्ग के द्वारा था, ऐसा लगता है । वहाँ उस खण्डहर के ऊपर एक देवी का मन्दिर है, जो पश्चाद्वर्त्ती निर्माण होने पर भी प्राचीन है; क्योंकि मन्दिर का लगभग आधा भाग दूह के भीतर है और आधा उसके ऊपर । पुरातत्त्व के विद्वान् बताते हैं कि काल-क्रम से पृथ्वी बढ़ती है और इस प्रकार प्राचीनतम निर्माणों को शनैः-शनैः उदरस्थ करती जाती है, जिसके प्रमाण-स्वरूप मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, नालन्दा, राजगृह आदि के खण्डहर हैं, जो भू-गर्भ से खोदकर निकाले गये हैं । मन्दिर में स्थापित भगवती की सुन्दर एवं कलापूर्ण लगभग ढ़ाई फीट ऊँची मूर्ति एक स्तन-विहीना मालूम पड़ती हैं । मूर्त्ति के एक स्तन-विहीन होने के दो कारण हो सकते हैं । एक, निर्माण-काल में कलाकार द्वारा जान-बूझ कर उस प्रकार की मूर्ति का निर्माण किया जाना, तथा दूसरा यह भी सम्भव हो सकता है कि विधर्मियों ने गढ़ पर आक्रमण कर मूर्ति को तोड़ने के स्थान में उसे केवल स्तन-विहीन बनाकर अपमानित रूप में विजित जनता के सामने उसे नीचा दिखाने के हुतु छोड़ दिया हो । भगवती जयमंगला की मूर्ति कृष्ण-प्रस्तर-निर्मित है । स्थानीय जनता द्वारा कृषि-कार्य के हेतु गढ़ की खुदाई होने पर वहाँ अन्य मूर्त्तियाँ भी निकली थीं, जो वहीं रखी हुई हैं ।

जय मंगलागढ़ से उत्तर लगभग एक मील की दूरी पर छोटे-छोटे अनेक दूहों के समूह बिखरे हैं । इन टीलों का सम्बन्ध भी राजकीय आवास से हो सकता है । जय मंगलागढ़ से भी पाल-कालीन सिक्का प्राप्त हुआ बताया जाता है । कुछ विद्वान् इस गढ़ को नौलागढ़ के शासक द्वारा स्थापित देव-स्थान बताते हैं, पर यह कथन शंका से शून्य नहीं जान पड़ता है; क्योंकि मन्दिर का निर्माण दूह की ऊँचाई पर है, जिससे वह स्पष्टतः पश्चाद्वर्त्ती निर्माण सिद्ध होता है । पूर्ववर्त्ती दुर्ग के ध्वंसावशेष पर ही तो मन्दिर की नींव पड़ी होगी । अतः उसके नीचे की ऊँची जमीन अवश्य ही किसी पूर्व के निर्माण का अवशेष साबित होती है ।

धरातल से गढ़ के दूह की ऊँचाई लगभग २५ फीट होगी । उसके चतुर्दिक् ईंटों का बना दुर्ग-प्राचीर था । प्राकार के परे सभी ओर विस्तृत जलपूर्ण गहरी खाई मूक पर सतर्कता से सतत सेवा-संलग्न कर्त्तव्यनिष्ठ प्रहरी का कार्य सम्पादन करती थी । वहाँ से प्राप्त ईंटों की लम्बाई, चौड़ाई एवं मोटाई लगभग १५'' X १५'' X ४'' होगी ।

गढ़ की जमीन पर सम्प्रति वहाँ के पंडों का अधिकार है । सर्वे खतियान में भी उन्हीं लोगों को अधिकारी बताया गया है । यह भी बताया जाता है कि उन पंडों के पास एक प्राचीन ताम्रपत्र है जिसके द्वारा उनके पूर्वजों को वह जमीन दान दी गयी थी । कहा जाता है कि उसी के आधार पर भगवती के भोगराग के हेतु ४०(चालीस) रुपये सालाना शासकीय कोष से पंडा परिवार को मिल रहा है ।

जनश्रुति बताती है कि उस गढ़ का निर्माण कावर झील के मध्य में हुआ था, जिसकी लम्बाई और चौड़ाई लगभग सात-सात कोस की थी। झील गहरी थी तथा सदैव जल-परिपूर्ण रहती थी। उसकी गहराई बूढ़ी गण्डक की सतह से भी अधिक नीची थी। नहर के निर्माण होने से अब पानी वहाँ प्रचुर मात्रा में नहीं पाया जाता है। प्रायः वर्षा ऋतु के पश्चात् झील सूख ही जाती है।

बेगूसराय से जय मंगलागढ़ जाने के हेतु मझौल तक बढ़िया राजपथ बना हुआ है। वहाँ से लगभग तीन मील सड़क कच्ची है। गढ़ तक पहुँचने के हेतु एक समाजसेवी साधु ने गढ़-खाई के अवशेष के ऊपर एकं पुल बनवा दिया है, जिससे यात्रियों तथा उनकी सवारियों को वहाँ तक पहुँचने में कठिनाई नहीं होती है। मन्दिर के निकट एक धर्मशाला भी है। प्रत्येक मंगल तथा शनिवार को एवं दुर्गा-पूजा के अवसर पर वहाँ मेला लगता है।

स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार जय मंगलागढ़ का संस्थापक जयसिंह नामक नरेश था। उसका काल-निर्णय गढ़ से प्राप्त ईंटों एवं मूर्त्तियों से किया जाना संभव हो सकता है। पुरातत्त्व के विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट होना अपेक्षित है।

अलौली गढ़

बेगूसराय जिले में खगड़िया अनुमंडल के अलौली ग्राम में उपर्युक्त गढ़ का खण्डहर है। यह स्थान खगड़िया नगर से लगभग १२ मील उत्तर है। यातायात के लिए सवारियाँ सदा उपलब्ध होती हैं। सड़क पक्की है। गढ़ का क्षेत्रफल लगभग १०० बीघे का बताया जाता है, जिसमें सम्प्रति कृषि होती है। दुर्ग-प्राकार की ऊँचाई लगभग १५-२० फीट रही होगी, ऐसा लगता है। दीवारों में लगी ईंटों का आकार जय मंगलागढ़ से प्राप्य ईंटों से अपेक्षाकृत किञ्चित् बड़ा है। दुर्ग-क्षेत्र में दो पुष्करिणी हैं। इसका इतिहास भी अतीत के गर्भ में छिपा पड़ा है।

लोहना और शकरी

दरभंगा जिले का लोहना मिथिला में संस्कृत-शिक्षा का केन्द्र था। नालन्दा एवं विक्रमशिला विश्वविद्यालयों के पतन के बाद लोहना में संस्कृत विद्या को प्रश्रय मिला, और उसने विश्वविद्यालय का रूप धारण कर लिया, जहाँ देश के दूर-दूर से शिक्षार्थी आकर विद्योपार्जन करते थे। मुसलमानों के द्वारा उत्तर भारत की विजय के पीछे भी अति दीर्घ काल तक मिथिला का शासन भारतीय हिन्दुओं के हाथ में रहा। कर्णाट क्षत्रियों के शासन के अन्त के कुछ काल पश्चात् मिथिला का शासनाधिकार ओइनवार ब्राह्मणकुल को प्राप्त हुआ, और उसके बाद खण्डवाल-वंशीय ब्राह्मणों को मिला। इस अवधि में संस्कृत शिक्षा के क्षेत्र में लोहना का बहुमुखी विकास हुआ। अंगरेजों के बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त कर लेने के पश्चात् लोहना विश्वविद्यालय के बुरे दिन आये। उसका विकास एवं अस्तित्व पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार-प्रसार का बाधक समझा जाने लगा। नवागन्तुक अंगरेजों के लिए वह हितकर नहीं था। अतः वे उसके विरोधी बने।

उनके ध्वंसात्मक क्रूर कृत्यों के द्वारा अन्ततोगत्वा उसका अन्त हो गया। सम्प्रति उस स्थान का स्मारक एक छोटा-सा रेलवे स्टेशन लोहना रोड है। लोहना विश्वविद्यालय उस स्टेशन से कुछ दूर ग्राम में था जो विस्मृति के गर्त में दबा पड़ा है। सम्प्रति वहाँ एक संस्कृत महाविद्यालय चल रहा है जिसका संपोषण दरभंगा राज के द्वारा होता था। जमींदारी-उन्मूलन के पश्चात् उसके चलाने का भार राज्य सरकार के ऊपर है।

यातायात के लिए गंगा-तट से प्रारम्भ होकर नरहन और शकरी होते हुए लोहना तक राजपथ बना हुआ था। वहाँ से वह सड़क नेपाल तक चली गयी थी। इस कारण से लोहना और शकरी में उस काल प्रसिद्ध व्यापारिक मंडियाँ थीं। शकरी में ईख से शर्क्करा (शक्कर) प्रस्तुत की जाती थी। फारसी में शक्कर को 'शकर' कहा जाता है। इस कारण उसका नाम शक्करी अथवा शकरी पड़ा। तेरहवीं शताब्दी के तिब्बती पर्यटक धर्मस्वामिन ने भी तिरहुत में ईख की खेती होने की चर्चा अपने यात्रा-वृत्तान्त में की है। शकरी में पूर्वोत्तर रेलवे का स्टेशन है।

पूसा, बथुआ एवं पहाड़पुर

दरभंगा जिले के समस्तीपुर अनुमंडल के ताजपुर थाने में भारत-प्रसिद्ध पूसा का ईख-अनुसन्धान-संस्थान बथुआ ग्राम स्थित है। पहाड़पुर बथुआ से संलग्न गाँव है, पर वह मुजफ्फरपुर जिले में है। पूसारोड रेलवे स्टेशन से एक पक्का राजपथ मुजफ्फरपुर गया है। उसी सड़क पर रेलवे-स्टेशन से छः मील उत्तर पूसा है। बथुआ गाम पूसा रोड से तीन मील उत्तर है। पक्की सड़क पर की जमुआरी नदी के पुल से कच्ची सड़क बथुआ ग्राम तक जाती है।

अंगरेजी शासन के प्रारम्भ में बूढ़ी गण्डक के किनारे पूसा में घोड़े और घोड़ियों के पालन तथा प्रजनन का केन्द्र स्थापित किया गया था। परन्तु पीछे वह बन्द कर दिया गया। बीसवीं शती के प्रथम दशक में लॉर्ड कर्जन ने अखिल भारतवर्षीय स्तर के कृषि-शोध-महाविद्यालय की नींव वहाँ दी थी, जिसका स्थानान्तरण बिहार के १९३४ ई० के चिरस्मरणीय भूकम्प के पश्चात् दिल्ली में किया गया। दिल्ली जाने पर भी वह वहाँ अपने उसी पुराने नाम 'पूसा' से प्रख्यात है। सम्प्रति पूसा में ईख-अनुसंधान-संस्थान के साथ-साथ बिहार सरकार एवं भारत सरकार के कई प्रकार के कृषि सम्बन्धी शोधकार्य चल रहे हैं। राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय की स्थापना पूसा में तथा कृषि महाविद्यालय की स्थापना पूसा के निकट मुजफ्फरपुर जिले के ढोली नामक स्थान में पीछे चल कर हुई।

उत्तर बिहार फल-उत्पादन के लिए प्रसिद्ध है। मुजफ्फरपुर जिला लीची, दरभंगा आम तथा हाजीपुर अनुमंडल केला के लिए विख्यात है (सर जौन हौलेट: बिहार, दि हार्ट ऑफ इण्डिया, पृ० १०६)। दरभंगा जिले के बथुआ ग्राम से एक ऐसे आम का प्रचार एवं प्रसार हुआ जो आश्विन (अक्तूबर) महीने तक बिहार राज्य तथा उसके बाहर भी पाया जाता है। इस जाति के आम का बीज एक साधु ने वीरसिंहपुर ग्राम के अपने एक भक्त सेवक को दिया था। बथुआ ग्राम के निवासी दूसरे समाज-सेवी विद्वान् एवं कथावाचक साधु जीवन गोसाईं ने १९ वीं शताब्दी के प्रथम चरण में उस आम को प्राप्त कर उसका

प्रचार जनहित की दृष्टि से किया जो सम्प्रति स्थानीय जनता की आय का एक विशेष साधन है । उस आम का प्रचार बथुआ ग्राम से हुआ । अतः उसका नामकरण बथुआ स्वतः हो गया ।

पहाड़पुर का सेन्दुरिया भी देर तक ठहरने वाले सुस्वादु आम की जाति है, जिसका प्रचार बथुआ आम से पीछे हुआ है, और वह मिलता भी कम है ।

करियन एवं उदयनाचार्य

दरभंगा जिले के समस्तीपुर अनुमंडल के रोसड़ा थाने में करियन नामक ग्राम है । इसको करियन ब्रलहा कहा जाता है । करियन ग्राम का प्राचीन नाम कालिवन बताया जाता है, और उसका सम्बन्ध १० वीं एवं ११वीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् उदयनाचार्य से था, ऐसी कथा स्थानीय जनता में चिर काल से प्रचलित हैं । अनुश्रुतियाँ बताती हैं कि आचार्य उदयन की जन्म एवं कर्म-भूमि मिथिला का कालिवन ग्राम था, जिसका साम्प्रतिक स्थानापन्न करियन गाँव है । बिहार राज्य के के० पी० जायसवाल-शोध-संस्थान की ओर से ऐतिहासिक तथ्य का पता लगाने के हेतु उक्त गाँव में खुदाई भी की गयी थी । गुप्त-युग से आरम्भ कर १२वीं शती तक की मिथिला की सांस्कृतिक स्थिति पर उस खुदाई से थोड़ा प्रकाश पड़ सका था, जिसका पता बिहार सरकार के पुरातत्त्व विभाग एवं संग्रहालय के निदेशालय के उत्खनन विभाग के पदाधिकारी डॉ० एस० आर० के पुस्तक रूप में प्रकाशित प्रतिवेदन से चलता है ।

उदयनाचार्य ने न्यायवैशेषिक पर 'तात्पर्यपरिशुद्धि', 'आत्मतत्त्व-विवेक' आदि ग्रन्थ एवं बौद्ध-दर्शन की समालोचना में 'बौद्ध धिक्कार' आदि पुस्तकों का प्रणयन किया था । बौद्ध आचार्य रत्नकीर्ति कृत 'रत्नकीर्ति निबन्धावली' के निबन्धों में आचार्य उदयन के उत्थान का बीज परिलक्षित होता है । आचार्य रत्नकीर्ति का समय ११ वीं शती का पूर्वार्द्ध माना जाता है । रत्नकीर्ति और ज्ञानश्री मित्र दोनों ही समकालीन थे । रत्नकीर्ति की जीवनी पर तिब्बती भाषा में लिखे ग्रन्थ मिलते हैं, जिससे पता चलता है कि ये विक्रमशिला महाविहार के द्वितीय द्वार महास्तम्भ थे, तथा दोनों ही स्वर्णभूमि के आचार्य धर्मपाल के शिष्य थे । ज्ञानश्री एवं रत्नकीर्ति दोनों ने बौद्ध दृष्टि से मिथिला के प्रसिद्ध वेदान्त दर्शन के आचार्य वाचस्पति मिश्र की कृतियों में दोष-दर्शन किया है, किन्तु उदयनाचार्य के द्वारा ज्ञानश्री मित्र के मत का खण्डन भी 'रत्नकीर्ति निबन्धावली' के निबन्धों में उपलब्ध है । ब्राह्मणों एवं बौद्धों के बीच परस्पर समालोचनाओं के द्वारा उस युग में न्याय शास्त्र एवं ज्ञानराशि का विकास हुआ । इसका साक्ष्य उस काल का साहित्य देता है । उस युग के सम्प्रदाय द्वय के उपलब्ध ग्रन्थों के सिद्धान्तों में प्रायः सर्वत्र ऐतिहासिक बीज छिपा दृष्टिगत होता है ।

आचार्य उदयन का नाम आज भी मिथिला में बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है । ये स्मार्त थे तथा आर्यों के षड्दर्शन के पारंगत महामान्य आचार्य भी । जिस स्थान पर आसनस्थ होकर ये धार्मिक उपदेश करते तथा विद्या-दान देते थे, वहाँ पर एक साध एक चबूतरा-सा बना आज भी देखा जाता है । उसे जनता 'उदयनाचार्य का चबूतरा' बताती है । वह चबूतरा एक वृक्ष के नीचे है । वहाँ एक संस्कृत पाठशाला भी चल रही है ।

ठाढ़ी एवं वाचस्पति मिश्र

स्वामी शंकराचार्य के बाद उस युग के सबसे प्रसिद्ध दार्शनिक लेखक वाचस्पति मिश्र हुए हैं, जिनको 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' तथा 'सर्व-दर्शन-वल्लभ' की उपाधियाँ मिली थीं (डॉ० राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत, पृ० ३७५) । ये मिथिला की ही विभूति थे, और इनका निवास-स्थान दरभंगा जिले के मधुबनी अनुमण्डल के अन्तर्गत ठाढ़ी ग्राम था, ऐसा अनुश्रुतियाँ बताती हैं । विद्वद्वर वाचस्पति मिश्र का ज्ञात काल वि० सं० ८९८ अथवा८४१ ई० है । इन्होंने स्वामी शंकर के ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य पर 'भामती टीका' लिखी थी, जो सर्व-प्रसिद्ध है । कहा जाता है कि भामती उनकी भार्या थी । दम्पति को कोई सन्तान न थी । अतः भामती चिन्तित रहा करती थी । वह दुःखित हृदय से अपने पतिदेव से कहा करती थी कि पुत्र के अभाव में अपत्यहीन दम्पति का नाम संसार में आगे कैसे कायम रह सकेगा ? इस पर पंडित-प्रवर वाचस्पति मिश्र ने अपनी प्रिय एवं श्रद्धालु पत्नी के नाम पर उपर्युक्त शंकर के शारीरकभाष्य पर 'भामती' नामक अति पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ का प्रणयन किया, जिससे पत्नी के साथ-साथ पति का नाम भी अद्यावधि संसार में जीवित है ।

पंडित वाचस्पति मिश्र ने उपर्युक्त 'भामती टीका' के अतिरिक्त अनेक अन्य ग्रंथों का भी सृजन किया, जिनमें 'न्यायासूचीनिबन्ध', 'तत्त्वशारदी', (योग-दर्शन पर), 'न्यायकणिका' आदि परम प्रसिद्ध हैं ।

मिथिला में वाचस्पति मिश्र नामक एक और प्रसिद्ध विद्वान् हो गये हैं, जिनका पता उनके द्वारा रचित ग्रन्थों से चलता है । 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' 'कृत्यमहार्णव', 'महादान-निर्णय', 'द्वैत निर्णय', विवादचिन्तामणि', 'व्यवहार चिन्तामणि', 'पितृ-भक्ति तरंगिणी' आदि ग्रन्थों के रचयिता वाचस्पति मिश्र का काल १५ वीं शताब्दी का उत्तर भाग था ।

स्वामी शंकराचार्य सुदूर दक्षिण के निवासी थे । उत्तर भारत में केवल दिग्विजय-काल में अपने द्वारा मान्य एवं प्रतिपादित दर्शन के प्रचारार्थ थोड़े समय के लिए वे पधारे थे । इस कारण उनका नाम केवल वहाँ के विद्वानों के वृत्त में ही सीमित था । यह बात साधारणतया कही और सुनी जाती है कि यदि वाचस्पति मिश्रजी की 'भामती टीका' का सृजन नहीं हुआ होता तो उत्तरापथ में, विशेषकर उसके पूर्वीय अंश में स्वामी शंकराचार्य का नाम बहुत कम ही लोग जानते ।

जगवन अथवा योगवन वा याज्ञवल्क्य-आश्रम

दरभंगा जिले में कमतौल रेलवे स्टेशन से लगभग दो मील उत्तर बेनीपट्टी थाने में जगवन नामक ग्राम है जिसे हीरोपट्टी जगवन कहा जाता है । वहाँ कमला नदी की एक पुरानी धारा है । अनश्रुति बताती है कि ऋषि याज्ञवल्क्य का आश्रम पुराकाल में उसी ग्राम में था । वहाँ पर एक अति विशाल वटवृक्ष अब भी विद्यमान है, जिसका फैलाव लगभग दो बीघे जमीन से कम नहीं है । कहा जाता है कि याज्ञवल्क्य का आश्रम जिस स्थान पर था, वह वृक्ष उसी जगह पर है । इससे यह भी अनुमान किया जाता है कि ऋषि याज्ञवल्क्य की कुटिया जिस वट वृक्ष के नीचे थी, उसी के वंश का वहाँ का वह वर्तमान वृक्ष होगा ।

महर्षि याज्ञवल्क्य को दो धर्मपत्नियाँ थीं– (१)मैत्रेयी तथा (२)कात्यायनी । हिन्दी के किसी-किसी शब्दकोषकार ने मिथिला की प्रसिद्ध विदुषी ब्रह्मवादिनी कुमारी गार्गी, जो वचक्नु की तनया थी, और राजा जनक की विद्वनमंडली में अग्रगण्या थी, को याज्ञवल्क्य की भार्या बताया है, पर इसमें यथार्थता का अभाव है । मैत्रेयी भी ब्रह्मवादिनी महिला-रत्नों में से एक थी । मैत्रेयी और गार्गी दो भिन्न महिला-मणियों के नाम हैं । इन दोनों ही के साथ याज्ञवल्क्य के अलग-अलग संवाद हुए हैं । याज्ञवल्क्य-मैत्रैयी-संवाद का वर्णन बृहदारण्यक के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में तथा याज्ञवल्क्य-गार्गी-सम्वाद उसी ग्रन्थ के तृतीय अध्याय के षष्ठ ब्राह्मण में किया गया है । महर्षि याज्ञवल्क्य की उपर्युक्त दोनों स्त्रियों में कात्यायानी सामान्य गृह-कार्य-कुशला रमणी थी । उस ऋषि की वंश-परम्परा उसी कात्यायनी से चली ।

याज्ञवल्क्य-काल में वह स्थान घोर अरण्यमय था । महर्षि योगीराज थे । कहा जाता है कि इसी कारण से उस योगीश्वर के आश्रम तथा उसके निकट के वन को लोग योगवन कहने लग गये । काल-क्रम से योगवन नाम जगवन में परिवर्तित हो गया, जो संज्ञा तब से अब तक उस स्थान को चली आती है ।

उपर्युक्त वट वृक्ष की पूजा ऋषि याज्ञवल्क्य के आश्रम के रूप में स्थानीय जनता द्वारा अद्यावधि की जा रही है ।

एक प्रचलित अनुश्रुति नचिकेता के नाम को उक्त आश्रम से जोड़ती है, तथा उसे उसका योगाश्रम बताती है । नचिकेता को ऐसी अनुश्रुति याज्ञवल्क्य-पुत्र कहती है जो सर्वथा भ्रामक है । कठोपनिषद् तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण– दोनों ही प्रमाणित करते हैं कि नचिकेता वाजश्रावस ऋषि का पुत्र था, और उसने साक्षात् मृत्यु से ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था । वह योगीश्वर के नाम से भी प्रसिद्ध था । उसका आश्रम प्राचीन मिथिला में अन्यत्र था जो स्थान सम्प्रति नेपाल राज्य के धनुषा तीर्थ के निकटवर्त्ती कुसुमा नामक ग्राम है (डॉसन, ३३७-३८, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, १९३७, २६०-७८, डी० एस० त्रिवेद : मौर्यन हिस्ट्री ऑफ बिहार)।

कछरा एवं कीचक

दरभंगा जिले के बेनीपट्टी थाने में सोइरी घाट से लगभग दो मील उत्तर-पूर्व दिशा में कछरा ग्राम है, जहाँ प्राचीन कोट का ध्वंसावशेष एक टीले के रूप में विद्यमान है । विराटपुर तथा वराटपुर का वर्णन इसी पुस्तक में है, जहाँ कीचक के नाम का भी उल्लेख किया गया है । कीचक मत्स्य देश के नृपति विराट का साला तथा सेनापति था, जिसका वध भीमसेन ने सौरंध्री के रूप में द्रौपदी के अपमान करने की चेष्टा के अभियोग एवं अपराध में किया था । कहा जाता है कि कीचक के निवास-स्थान का वर्त्तमान स्थानापन्न ग्राम कछरा है । पर इस अनुश्रुति में ऐतिहासिकता कहाँ तक है, इसका निर्णय कुशल शोषकों के शोध-कार्य पर निर्भर करता है ।

सुगौना

मधुबनी अनुमंडल के अन्तर्गत बेनीपट्टी थाने में कपिलेश्वर स्थान से एक मील पश्चिम सुगौना नामक ग्राम है । इसे ओइनवार वंश की एक शाखा की राजधानी बताया

जाता है । कामेश्वर ठाकुर के वंश के किस राजा की राजधानी वहाँ थी, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता है । परन्तु सुगौना से ओइनवारों का सम्बन्ध था, इसमें सन्देह नहीं है। सुगौना से मिलता-जुलता नाम वाला स्थान सुगाओं, चम्पारण जिले में बेतिया के निकट है, जहाँ किसी समय बेतिया के राजाओं की राजधानी थी । खण्डवाल-कुल के दो महराजाओं ने क्रमशः सुगाओं पर आक्रमण किया था, जिसका उल्लेख मूल पुस्तक में बेतिया राजवंश एवं खण्डवाल राजवंश के वर्णन के साथ किया जा चुका है ।

श्री आर०आर० दिवाकर, बिहार के तत्कालीन राज्यपाल द्वारा सम्पादित पुस्तक 'बिहार थ्रु दि एजेज' के पृ० ३९२ में मुल्ला तकिया के लेखक के आधार पर कामेश्वर ठाकुर को सुगाओं के ओइनवार राजवंश का संस्थापक बताया गया है । सुगौना के ओइनवारों को १८१२ ई० में बुकन ने भूमिहार ब्राह्मणों के साथ जमींदारों की सूची में लिखा था । उपर्युक्त उद्धरणों से अनुमान किया जाता है कि प्राचीन काल में सुगाओं और सुगौना में किसी प्रकार का सम्बन्ध था, जिसकी ओर शोधकों का ध्यान आकृष्ट होना आवश्यक है ।

पाहीटोल सरसो

यह ग्राम दरभंगा जिले में मनीगाछी के निकट है । इस ग्राम के प्रधान निवासी विशेषतया श्रोत्रिय ब्राह्मण हैं । श्रोत्रिय शब्द का अर्थ होता है वेद-वेदांग में पारंगत । प्राचीन एवं अर्वाचीन काल में अनेक अप्रतिम विद्वानों ने इस ग्राम में जन्म ग्रहण कर इसे अपनी बहुमुखी प्रतिभा से अलंकृत एवं उद्भासित किया है । वर्तमान युग के महान् विद्वान डॉ० गंगानाथ झा इसी ग्राम की विभूति थे । पं० पक्षधर मिश्र एवं अयाची मिश्र इसी ग्राम में उत्पन्न हुए थे, ऐसी जनश्रुति प्रचलित है । पक्षधर नाम न होकर विरुद था, ऐसा भी बहुतों का विश्वास है । वास्तव में पं० पक्षधर नाम जयदेव था । उनका जन्म एक अति आदणीय मैथिल ब्राह्मण कुल में हुआ था । उनके पक्षधर नाम पड़ने का कारण यह बताया जाता है कि शास्त्रों के जिस पक्ष को वे ग्रहण करते थे उसको अपनी विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता एवं तर्कशक्ति से पूरे पक्ष (दो सप्ताह) तक तर्क कर सिद्ध करके ही छोड़ते थे । पं० पक्षधार मिश्र भारतीय अन्य दर्शनों के अभिज्ञ पंडित होने के साथ न्यायदर्शन के पारंगत विद्वान् थे । उसी तरह अयाची मिश्र की विद्वत्ता, शुद्ध चरित्रता आदि की अनेक कथाएँ जनता में प्रचलित हैं । पं० अयाची मिश्र सच्चे अर्थ में अयाची एवं सन्तोषी मनीषी थे, जिनका आदर राजा से रंक तक के द्वारा होता था । पक्षधर मिश्र का ज्ञात-काल १५वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध बताया जाता है । पं० शंकर मिश्र अयाची मिश्र के पुत्र थे । उनके सम्बन्ध में कथा प्रचलित है कि एकबार मिथिला नरेश, पं० अयाची मिश्र से मिलने के हेतु उनके आवास पर गये । वहाँ उनकी चार वर्ष के शिशु शंकर मिश्र से भेंट हुई । राजा ने सस्नेह बालक शंकर से प्रश्न किया कि क्या तुम कुछ पढ़ते हो ? इस पर उस जन्मजात सुसंस्कृत शिशु ने बाल-सुलभ चापल्य एवं स्वाभिमान के साथ सादर राजा को निम्नांकित स्वरचित श्लोक में उत्तर दिया :-

बालोऽहं जगदानन्द न मे बाला सरस्वती ।
अपूर्णे पंचमे वर्षे वर्णयामि जगत्त्रयं ।।

और उस मेधावी बालक ने भूपति से सविस्मय अनुमति पाकर श्लोकों में ही वर्णन

कर सुनाया भी । किम्वदन्तियाँ मण्डन मिश्र के निवास-स्थान का भी श्रेय पाहीटोल सरसो को ही देती है । पर इसमें ऐतिहासिकता कहाँ तक है, यह निश्चय रूप से कहा नहीं जा सकता है । वे मिथिला के निवासी थे, ऐसी सबल जनश्रुति जनता में प्रचलित है । कोई इन्हें सहरसा जिले का बनगाँव महिषी का बताता है, कोई दरभंगा जिले का और कोई मध्य भारत का नर्मदा नदी के किनारे का । असली तथ्य का पता लगाना प्राचीन इतिहास के गवेषकों के अधीन है ।

पं० पक्षधर मिश्र मिथिला के राजा भैरवसिंह की राजसभा को सुशोभित करते थे । उनके द्वारा प्रणीत पुस्तकों में प्रसिद्ध 'तत्त्व-चिन्तामणिआलोक' 'द्रव्य पदार्थ' तथा 'लीलावती विवेक' है । पं० शंकर मिश्र ने 'तत्त्व-चिन्तामणि मयूख', 'वैशैषिक उपस्कर', 'भेदरत्न प्रकाश' (अभेदधिक्कार) का प्रणयन किया था । महाविद्वान् वसुदेव मिश्र का विरुद 'न्याय सिद्धान्त-साराभिज्ञ' था । वे भी पाहीटोल सरसो ग्राम के निवासी थे तथा पं० पक्षधर मिश्र के भतीजा थे । इन्होंने गङ्गेश उपाध्याय के 'तत्त्व-चिन्तामणि' पर 'तत्त्वचिन्तामणि-टीका' लिखी थी ।

सम्भवतः रुचिदत्त मिश्र भी इसी ग्राम के रहने वाले थे । वे पं० पक्षधर मिश्र के शिष्य थे तथा इन्होंने 'तत्त्वचिन्तामणि प्रकाश' तथा 'न्याय कुसुमांजलि-प्रकाश मकरन्द' नामक ग्रंथ लिखे थे ।

सुग्गा ग्राम

यह गाँव सम्प्रति नेपाल राज्य के महोत्तरी जिले में जलेश्वर महादेव-स्थान से लगभग एक-डेढ़ मील पूर्व है । कहा जाता है कि राजा सीरध्वज जनक की राजसभा में जब व्यास पुत्र शुकदेव मुनि ज्ञानोपार्जन के हेतु पधारे थे तो उनके निवास के हेतु वहीं पर आश्रम का निर्माण किया गया था । शुकदेव-सर नाम की एक पुष्करिणी भी वहाँ है, जो शुकदेव मुनि के नाम का स्मरण जनता को अद्यावधि कराती है । जलेश्वर महादेव की स्थापना विदेह-नगर मिथिला को परिवेष्ठित करने वाले प्राकार के एक द्वार पर हुई थी । उस द्वार के निकट उपर्युक्त ग्राम में ऋषि का आश्रम था, ऐसा कहा जाता है ।

धनुषा

नेपाल राज्य के वर्त्तमान जनकपुर से लगभग १० मील उत्तर धनुषा नामक स्थान है । कुछ दिन पूर्व वहाँ गहन वन था । कहा जाता है कि मिथिला नगर के परकोटा के बाहर उसी स्थान पर सीरध्वज जनक की तनया सीता के स्वयंवर के काल में धनुष-खण्डन यज्ञ का अनुष्ठान किया गया था । इसी कारण से उस स्थान को 'रंगभूमि' की संज्ञा भी प्राप्त हुई । वहाँ विशाल शिव-धनु का एक खण्ड पृथ्वी पर पड़ा बताया जाता है । जनता उसकी पूजा करती है । जनकपुर के तीर्थार्थी प्रायः धनुषा जाकर धनुष-खण्ड का दर्शन-पूजन करते हैं । वयोवृद्ध लोगों का कहना है कि उनके जीवन-काल में गत ६०-७० वर्षों की अवधि में धनुष खण्ड की लम्बाई-चौड़ाई में वृद्धि हुई है, और उसका क्रमशः बढ़ना चालू है । कुछ विद्वान् उक्त धनुष के आकार-प्रकार को देखकर कहते हैं कि वहां कच्चे लोहे का प्राकृतिक खान है, जिसकी लम्बाई एवं आकृति को देखकर हिन्दू जनता ने शिव भगवान् के धनुष का खण्ड समझ लिया है, तथा वे उसकी पूजा-अर्चा करती हैं ।

रीगा, अथरी, यजुआर, माँऊबेहट तथा भट्टसिम्मरि वा भट्टपुरा

मुजफ्फरपुर जिले के सीतामढ़ी अनुमण्डल के रीगा, अथरी एवं यजुआर में क्रमशः ऋक्, अथर्व, एवं यजुर्वेद के अध्ययन-अध्यापन के हेतु पृथक्-पृथक् विशेष केन्द्र स्थापित थे। माँऊबेह यजुर्वेद की मध्यन्दिनी शाखा का विवेचना-केन्द्र था, तथा भट्टसिम्मरि तथा भट्टपुरा भट्ट-पद्धति के मीमांसा-दर्शन का मुख्य प्रचार-प्रसार स्थान था। उपर्युक्त स्थानों में उपर्युक्त विषयों के विशेषज्ञ विद्वान् परम्परागत एकत्रित होते एवं निवास करते थे और इन्हीं करणों से उन स्थानों का नामकरण अपने-अपने विषयानुकूल हुआ, ऐसा प्रतीत होता है (जरनल ऑफ दी बिहार रिसर्च सोसाइटी, ३३,४७)।

दरभंगा

अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध से बीसवीं शताब्दी के मध्य तक दरभंगा नगर खण्ड-वाल ब्राह्मण राजकुल की राजधानी रहा है। इस कारण दरभंगा नाम से उस नगर की ख्याति एवं मर्यादा बढ़ गयी। दरभंगा सम्प्रति मिथिला (तीरभुक्ति अथवा तिरहुत) का पर्यायवाची शब्द बन गया है। 'दरभंगिया' कहने से दरभंगा नगर का निवासी ही नहीं, अपितु मिथिला का रहने वाला व्यक्ति समझा जाता है। दरभंगा बिहार राज्य के तिरहुत प्रमण्डल का एक जिला भी है।

मुसलिम-विजय के पश्चात् मिथिला की राजधानी गियास-उद्दीन तुगलक के पुत्र मुहम्मद तुगलक द्वारा वर्तमान दरभंगा नगर में स्थापित की गयी, किन्तु उस काल उसका नामकरण 'तुगलकपुर' उर्फ 'तिरहुत' हुआ, जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। उस समय उस स्थान का नाम दरभंगा नहीं था। कविवर विद्यापति के भी किसी ग्रन्थ में दरभंगा नगर का नाम नहीं आया है। गजरथपुर, राजबनौली, ब्रह्मपुर, अहिल्या-स्थान, सकुरी आदि के नाम उनकी पुस्तकों में प्रसंगवश स्थान-स्थान पर पाये जाते हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि दरभंगा नाम ओइनवार-कुल के सप्तम नरेश शिवसिह देव के पश्चात् का है[१]।

कुछ लोगों का कहना है कि उक्त नगर को दरभंगी खां ने बसाया था। इसी से उसका नाम दरभंगा पड़ा। परन्तु शोध की कसौटी पर यह तथ्यहीन प्रमाणित होता है। दरभंगी खाँ को हुए लगभग ढाई सौ वर्ष ही बीते हैं। पर उससे लगभग दो शती पूर्व का प्रणीत गंगानन्द का 'भृंग-दूत' नामक ग्रन्थ है, जिसमें राजधानी के रूप में दरभंगा का बड़ा ही रोचक वर्णन किया गया है ('आर्यावर्त्त', पटना, रविवार, २५ अगस्त, १९६८ ई० पृ० ९ एवं ११)। कतिपय विद्वान् यह भी कहते सुने जाते हैं कि वह नगर बंग का द्वार है, इस कारण उसका नामकरण 'द्वारबंग' हुआ। दरभंगा उसी 'द्वारबंग' का बिगड़ा हुआ रूप है। किन्तु विचार करने पर यह तर्क भी तथ्यहीन ही प्रतीत होता है। 'बंगस्य द्वारम्' के अर्थ में षष्ठीतत्पुरुष समास करने पर 'बंगद्वारम्' हो जायेगा, 'द्वारबंगम्' नहीं। यदि कुछ काल के लिए 'द्वारबंगम्' को स्वीकार कर उसका विकृत रूप दरभंगा मान भी लिया जाय तो प्रश्न यह उठ खड़ा होगा कि इस द्वार का निर्माण कब और किसके द्वारा हुआ। पर इसका उत्तर इतिहास नहीं दे रहा है।

---

१. वस्तुतः आठवीं नौवीं शती के सिद्ध दारिपा के नाम पर दरिभंगा गाँव का नाम पड़ा एवं सिद्ध हरिपा के नाम पर हरिभंगा गाँव है- सं०।

मिथिला के ओइनवार ब्राह्मण राजकुल के वर्णन तथा मुसलिम विजय-काल के उल्लेख के क्रम में जौनपुर के शर्की राजवंश की स्थापना पर प्रकाश डाला गया है । दिल्ली के तुगलक-सम्राज्य की नींव उसकाल ढीली पड़ चुकी थी । बंगाल और जौनपुर में स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो चुके थे । मिथिला राज्य का अस्तित्व उन दोनों के मध्य में था । परिस्थिति से लाभ उठाकर तिरहुत के तत्कालीन स्वातन्त्र्य-प्रेमी राजा शिवसिंह देव अपने युवराजत्व के काल से ही अपनी मातृभूमि मिथिला को मुसलमानों की अधीनता से मुक्त कर पूर्वीय भारत में हिन्दुओं के सार्वभौम स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करने की धुन में लग गये । इसका वर्णन भी पूर्व में किया जा चुका है ।

मिथिला से पूर्व दिशा में बंगाल के दिनाजपुर में एक ब्राह्मण-राज्य की स्थापना महत्त्वाकांक्षी राजा गणेश के द्वारा हुई । बंगाल के सुल्तान ने जब उसके प्रतिशोध में उसके विरुद्ध सैनिक अभियान किया तो राजा शिवसिंह देव कुमुक के साथ उसकी सहायता की तथा युद्ध कर बंगाल के सुल्तान को पराजित किया । इस विजय से भूपति शिवसिंह देव की धाक एवं आतंक बढ़ गया । उसको गौड़ (बंगाल) का विजेता कहा जाने लगा । विद्यापति ने भी अपने कई पदों में 'पंच गौड़ाधिपति शिवसिंह नरपति' कहकर उसका स्मरण किया है ।

इसके पूर्व शिवसिंह देव के पिता देवसिंह की मृत्यु के समय जौनपुर एवं बंगाल के सुल्तानों की सम्मिलित सेना ने शिवसिंह के विरुद्ध चढ़ाई की थी, पर मिथिलेश ने उन दोनों का पराभव कर मुसलमानी सेना को मिथिला से मार भगाया था । महाकवि विद्यापति ने इन युद्धों का वर्णन बड़े गर्व के साथ किया है । 'पुरुष-परीक्षा' के अन्त में इस प्रकार के समर का उल्लेख है । शिवसिंह देव के इन विजयों से चतुर्दिक् यशोविस्तार हो गया ।

बंगाल में शिवसिंह देव एवं राजा गणेश की विजय से वहाँ के मुसलमान अपने को असुरक्षित समझने लगे । पीर नूर उल्कुतुब उल् आलम ने जौनपुर जाकर सुलतान इब्राहिम शाह से बंगाल में इस्लाम पर खतरे की बात कही । इस पर सुलतान ने राजा गणेश को मटियामेट कर देने के हेतु मिरजा गियास बेग के नेतृत्व में एक बड़ी सेना भेजी । राजा गणेश की मृत्यु हो चुकी थी । उसके पुत्र-यदुसेन ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर अपना नाम जलाल-उद्दीन रख लिया । जौनपुर की सेना तिरहुत के राजा शिवसिंह देव के ऊपर टूट पड़ी । उस काल मिथिलेश शिवसिंह की राजधानी गजरथपुर में थी । रजा शिवसिंह ने बड़ी वीरता के साथ सुलतान की सेना का सामना किया । भंयकर युद्ध हुआ, पर उसमें राजा शिवसिंह का रण-पराभव हुआ, जिसका वर्णन पुस्तक में अन्यत्र किया गया है । मिथिलापति शिवसिह देव का उस हार से मुसलमानों के विरोध में जो दल बना था, उसका भंजन हुआ । कहा जाता है कि मुसलमानों का आक्रमण मिथिला की तात्कालिक राजधानी गजरथपुर के ऊपर हुआ था । अतः वह युद्ध किला के निकट ही हुआ था । राजा शिवसिंह देव के पिता राजा देवसिंह की राजधानी वर्तमान लेहरियासराय से दो मील दक्षिण देकुली ग्राम में थी । राजा शिवसिंह ने वहाँ से राजधानी का स्थानान्तरण गजरथपुर में किया था । इस गजरथपुर का अस्तित्व देकुली से लगभग दो मील उत्तर बागमती के तट पर बताया जाता है । यह स्थान दरभंगा और लहेरियासराय के बीच में पडता है । बागमती

के जिस घाट पर गजरथपुर का किला था, उसे आज भी किलाघाट ही कहा जाता है। जौनपुर के सुलतान की सेना की चढ़ाई का समाचार पाकर उसका प्रतिरोध करने के हेतु जहाँ पर राजा शिवसिंह देव ने ससैन्य पड़ाव डाला था, उस स्थान को अब भी लोग 'शिवधारा' कहते हैं। गरजरथपुर के अवस्थान का यह विवरण पं० शशिनाथ झा के 'आर्यावर्त्त' में दिनांक २५ अगस्त, १९६८ ई० के अंक में प्रकाशित लेख के आधार पर अंकित किया गया है। जन-साधारण की एतद्विषयक मान्यता राजा शिवसिंह देव के वर्णन के प्रसंग में प्रस्तुत पुस्तक में अन्यत्र अंकित की गयी है। मुहम्मद तुगलक ने तुगलकपुर उर्फ तिरहुत (दरभंगा का स्थानापन्न) में एक किला बनवाया था, जिसका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। सम्राट् प्रतिनिधि मुसलमान-पदाधिकारी का मिथिला में प्रधान निवास स्थान उस काल भी तुगलकपुर (दरभंगा) में था। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि उस काल हिन्दुओं के दल का भंग तुगलकपुर की मुँसलिम-शक्ति के द्वारा किया गया था।

उस प्रलयंकर समर में गजरथपुर उजड़ गया। शिवसिंह के स्वतन्त्रता-प्रेमी दल का शत्रुओं ने संहार किया। मिथिला के हिन्दुओं के दल को वहाँ भंग किया गया था। इस कारण उस स्थान को दरभंगा कहा जाने लगा। जौनपुर के सेनानायक तथा सुबेदार ने अपना शिविर उसी स्थान पर स्थापित किया था। वहीं से वह मिथिला का शासन करने लगा। जहाँ वह शिविर गड़ा था, उस स्थान पर उसके निकट चतुर्दिक् शनैः-शनैः नगर बस गया, जिसे लोग 'दलभंगा' कहने लगे। कारण यह वही स्थान था, जहाँ राजा शिवसिंह के दल का अर्थात् सैन्य का भंग अथवा विनाश हुआ था। उसके पश्चात् भी जौनपुर के जितने सुबेदार आये, सबने वहीं से मिथिला पर शासन किया। जौनपुर के पतन के पश्चात् केन्द्र-राज्य दिल्ली की ओर से भी शासन-सूत्र संभालने के लिए एक सुबेदार वहाँ रखा जाता था। इसी कारण से पश्चाद्वर्ती ओइनवार एवं खण्डवाला-कुल के जितने राजे-महाराजे मिथिला में हुए, उन सबका सम्बन्ध दरभंगा से बना रहा। उन सबों ने प्रायः अपना निवास-स्थान दरभंगा के निकट बनाया। ओइनवार-कुल के राजा रामभद्रसिंह देव 'रूपनारायण' ने अपनी राजधानी अथवा टिकने का आवास रामभद्रपुर में बनाया। राजा लक्ष्मीनाथ सिंह देव 'कंसनारायण' जहाँ टिकते थे, उसे 'कंसनरैनी', खण्डवाला-कुल के महेश ठाकुर जहाँ ठहरते थे, उसे 'महेशपट्टी', शुभंकर ठाकुर जहाँ टिकते थे, उसे 'शुभंकरपुर', सुन्दर ठाकुर जहाँ आकर निवास करते थे, उस स्थान को 'सुन्दरपुर' कहते हैं।

मैथिली में 'ल' का उच्चारण जहाँ-तहाँ 'ड़' के समान होता है। इसीलिए 'दलभंगा' को 'दड़भंगा' अथवा 'दड़िभंगा' कहा जाने लगा। उसी 'दड़भंगा' का घिसापिटा रूप 'दरभंगा' है, जिसकी स्थापना राजा शिवसिंह देव की रणशायी होने के पश्चात् हुई थी। सम्प्रति इस नगर का इतना विस्तार हुआ कि गजरथपुर भी इसी में विलीन हो गया ('आर्यावर्त्त', पटना, रविवार, दिनांक २५-८-६८, पृ० ११ के आधार पर)।

खण्डवाला-कुल के महाराज माधवसिंह ने १८वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में अपनी राजधानी का झंझारपुर से दरभंगा में स्थानान्तरण किया। इसके पूर्व महाराजा प्रताप सिंह के शासनकाल में भौआरा अथवा भौड़ा से राजधानी हटाकर झंझारपुर मे लायी गयी थी। माधवसिंह प्रतापसिंह का विमातृ-पुत्र एवं उत्तराधिकारी था, जिसका शासनकाल १७८५ से

१८०७ ई० तक रहा। उसी समय से खण्डवाल राजकुल की राजधानी के रूप में दरभंगा की प्रतिष्ठा एवं ख्याति पश्चाद्वर्त्ती काल में भी बनी रही।

जनकपुर

जनकपुर सम्प्रति नेपाल-राज्य के महोत्तरी जिले में है, जिसे जनता बहुधा विदेह जनकों की राजधानी का स्थानापन्न नगर बताती है। विदेह-राज्य के संस्थापक मिथि के वंश में महाराज सीरध्वज जनक २२वें जनक थे, तथा वे अयोध्यापति राजा दशरथ के समकालीन थे। दाशरथि राम की अर्द्धांगिनी सीता मिथिलेश जनक सीरध्वज की पुत्री थी। रामायण-महाभारत आदि प्राचीन महाकाव्यों में राजा जनक की राजधानी का नाम 'मिथिला' बताया गया है, जनकपुर नहीं। बताया जाता है कि महाकवि विद्यापति के ग्रन्थ 'भू-परिक्रमा' में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि जनकपुर से सात कोस दक्षिण महाराज जनक का राजमहल था, यथा :–

जनकपुराद्दक्षिणांशे सप्तक्रोश-व्यतिक्रमे।
.... महाग्रामे गेहाश्च जनकस्य वै॥

(भू-परिक्रमण, पृ० ४४)।

वर्तमान जनकपुर से सात कोस दक्षिण पोखरौनी, बैंगरा अदि ग्राम पड़ते हैं, जिनको विदेहों की मिथिलापुरी होने का श्रेय जनता नहीं देती है। आजकल वाल्मीकीय रामायण के वर्णनानुसार अहिल्या-आश्रम से प्राक्-उत्तर दिशा में स्थित मिथिला नगरी का स्थानापन्न ग्राम लोग जनकपुर को ही मानते हैं।

मिथिला नगरी के स्थान में जनकपुर की ख्याति कैसे और उसे राजा जनक की राजधानी लोग कैसे समझने लगे, इसके सम्बन्ध में एक अनुश्रुति प्रचलित है। कहा जाता है कि पवित्र जनक-वंश का कराल जनक के समय में नैतिक अधःपतन हो गया। कौटिल्य ने प्रसंगवश अपने 'अर्थशास्त्र' (अध्याय-६, प्रकरण-३) में लिखा है कि कराल जनक ने कामान्ध होकर ब्राह्मण-कन्या का अभिगमन किया। इसी कारण वह बन्धु-बान्धवों के साथ मारा गया। अश्वघोष ने भी अपने ग्रन्थ 'बुद्ध-चरित' में इसकी सम्पुष्टि की है। कराल जनक के वध के पश्चात् जनक-वंश में जो लोग बच गये, वे निकटवर्ती तराई के जंगलों में जा छिपे। जहाँ वे लोग छिपे थे, वह स्थान जनक के वंशजों के रहने के कारण 'जनकपुर' कहलाने लगा ('आर्यावर्त्त', पटना, रविवार, दिनांक २५-८-६८, पृ० ९ के आधार पर)। पर इस अनुश्रुति में तथ्य कहाँ तक निहित है, इसका निर्णय भविष्य के शोधकों के शोध पर निर्भर करता है।

रजवाड़ा

'मिथिला तत्त्वविमर्श' (पूर्वार्द्ध, पृ० १३५) में पूर्वोत्तर रेलवे के सकुरी स्टेशन के निकट के ग्राम रजवाड़ा को 'विश्व-चक्र' का स्थानापन्न बताया गया है। कर्णाट राजवंश की राजधानी का नाम वहाँ 'विश्व-चक्र' अंकित किया गया है। पर इतिहास इसका साक्ष्य नहीं देता है। घोड़ासाहन एवं छोड़ादानों रेलवे-स्टेशनों के निकटवर्त्ती चम्पारण जिले की सीमा के निकट का सिमराओंगढ़ नामक स्थान कर्णाट राजवंश की राजधानी के रूप में

प्राप्त अभिलेख के आधार पर प्रमाणित हो चुका है। इस विषय का विस्तार के साथ उल्लेख पुस्तक में प्रसंगवश अन्यत्र किया गया है, 'रजवाड़ा' में उपर्युक्त राजकुल के कतिपय राजकीय उच्च पदाधिकारियों का कार्यालय अथवा आवास रहा हो।

मँगरौनी

दरभंगा जिले के मधुबनी अनुमण्डलीय नगर के निकट मँगरौनी ग्राम है। मिथिला पद्धति के 'नव्य-न्याय' के प्रवर्त्तक १३वीं एवं १४वीं शताब्दी के महामनीषी नैयायिक पण्डित गंगेश उपाध्याय के जन्म-ग्राम होने का सौभाग्य मँगरौनी ग्राम को ही प्राप्त है। पं० गंगेश उपाध्याय के पुत्र पं० वर्द्धमान उपाध्याय भी पिता के तुल्य ही न्यायविद् एवं प्रसिद्ध विद्वान् हुए।

पं० गंगेश उपाध्याय ने न्याय-दर्शन की धारा में अपने विलक्षण तर्कों के द्वारा नयी गति उत्पन्न कर दी। पदार्थ-विवेचन की अपेक्षा प्रमाण-विवेचन को उन्होंने महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। पूर्णता के साथ किसी विषय को तर्क की कसौटी पर कस कर अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचने के हेतु चार प्रमाणों अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द को गंगेश उपाध्याय ने आवश्यक माना। तर्क-शास्त्र की व्याप्ति के सिद्धान्त की उस विद्वान ने सूक्ष्मतम परीक्षा करने की आवश्यकता बतायी तथा उसके हेतु नवीन पद्धति का जन्म दिया। उनके ग्रन्थ 'तत्त्व-चिन्तामणि' ने भारतीय तर्क-शास्त्र के क्षेत्र में एक नये युग का प्रवर्त्तन किया। उनकी विचारधारा का प्रभाव पश्चाद्वर्त्ती तार्किकों पर सदियों पश्चात् तक बना रहा, तथा अनेक भाष्य, उपभाष्य एव टीकाएँ उनके मूल ग्रन्थ पर लिखी गयीं।

गंगेश-पुत्र वर्द्धमान ने भी अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थ न्याय एवं वेदान्त-दर्शन पर लिखे। उनकी विद्वत्ता एवं उनकी कृतियों की महत्ता इसी से ज्ञात होती है कि सुदूर विजयनगर के विद्यारण्य महामनीषी माधवाचार्य ने उनकी चर्चा अपने विख्यात ग्रन्थ 'सर्व-दर्शन-संग्रह' में की है तथा उद्धरण उपस्थित किया है।

गंगेश उपाध्याय ने नगर से १२ मील दक्षिण-पूर्व दिशा स्थित करियन ग्राम में अपना विद्यालय स्थापित किया था (आर० आर० दिवाकर : बिहार थ्रू दि एजेज, पृ० ४१२-१३)।

भौर

भौर ग्राम दरभंगा नगर से १७ मील उत्तर-पूर्व दिशा में है। दरभंगा राज्य के संस्थापक महामहोपाध्याय महेश ठाकुर का जन्म इसी ग्राम में हुआ था। खण्डवाल ब्राह्मण-वंश में उनका उद्भव हुआ था, और वे दरभंगा के महाराजाओं के पूर्वज थे। उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में सबसे प्रसिद्ध 'आलोक-दर्पण' है, जो पक्षधर मिश्र के 'तत्त्व-चिन्तामणि आलोक' पर भाष्य रूप में लिखा गया था। इसका स्थान प्रामाणिक ग्रन्थों में है, जिसका उद्धरण आज भी प्रमाण-रूप में उपस्थित किया जाता है। भगीरथ ठाकुर उपनाम 'मेघ' भी इसी ग्राम के निवासी थे। उनके द्वारा सृजित ग्रन्थों में मुख्य 'कुसुमांजलि-प्रकाश-प्रकाशिका' 'किरणावलि-प्रकाश-प्रकाशिका' तथा न्याय पर 'लीलावती-प्रकाश' हैं। भौर ग्राम में १७वीं शताब्दी में अति उच्च कोटि की संस्कृत-विद्यापीठ थी, जहाँ दूर-दूर से विद्यार्थी

संस्कृत-वाङ्मय के भिन्न-भिन्न विषयों के अध्ययन हेतु पधारते थे। उसकी तुलना उस काल काशी एवं नवद्वीप के संस्कृत-विद्यापीठों से की जाती थी।

महिष्मती अथवा महिसी

सहरसा जिले के वर्तमान महिसी ग्राम, जिसको वनगाँव महिसी कहा जाता है, का प्राचीन नाम महिष्मती था। कहा जाता है कि मीमांसा-शास्त्र के महान् पण्डित मण्डन मिश्र का निवास-स्थान वही ग्राम था। आदि-शंकराचार्य सुदूर दक्षिण के केरल प्रदेश के निवासी थे। उन्होंने मीमांसा-शास्त्र के अभिज्ञ एवं पारंगत पण्डित के रूप में मण्डन मिश्र की ख्याति से आकृष्ट होकर उनसे मिलकर शास्त्रार्थ करने के विचार से मिथिला की यात्रा की। महिष्मती ग्राम में मण्डन मिश्र के आवास पर दोनों महान् मनीषियों के बीच मीमांसा एवं वेदान्त पर शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। मण्डन मिश्र जी की विदुषी स्त्री भारती अथवा सरस्वती को दानों ही ने निर्णायिका-पंच स्वीकार किया। शास्त्रार्थ महीनों तक चलता रहा। सरस्वती ने विजय का निर्णय शंकराचार्य के पक्ष में दिया। किन्तु इतने पर ही शंकराचार्य को छुट्टी नहीं मिली। अपने पति के शास्त्रार्थ से हटने पर वह स्वयं उसके लिए शंकर के समक्ष उपस्थित हुई। शंकराचार्य बाल-ब्रह्मचारी थे। उसने उनसे कामशास्त्र के सम्बन्ध में शास्त्रार्थ आरम्भ किया। शंकराचार्य ने अपनी अनभिज्ञता सूचित कर उसका अध्ययन करने के हेतु समय माँगा। उनको उस समय उसके समक्ष नत होना पड़ा। 'शंकर दिग्विजय' से शंकर-मण्डन-शास्त्रार्थ के विषय में ज्ञातृत्व पूर्णरूपेण प्राप्त होता है। उस ग्रन्थ में मिथिला के बौद्धिक विकास के सम्बन्ध में अति प्रशंसा की गयी है।

मण्डन मिश्र शंकराचार्य से आयु में बड़े थे। शंकराचार्य का काल ७८८ से ८२० ई० तक बताया जाता है। अतः मण्डन मिश्र का जन्म ८ वीं शती के मध्य में होना कूता जाता है। उनका ९वीं शती के मध्य तक जीवित रहना भी सम्भव जँचता है।

मण्डन मिश्र की रचनाओं में 'विधि-विवेक', 'भावना-विवेक', 'विभ्रम-विवेक' तथा 'मीमांसा-सूत्रानुक्रमणिका' प्रसिद्ध हैं। स्वामी शंकराचार्य से मिलने के पश्चात् मण्डन मिश्र ने अति विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ 'ब्रह्म-सिद्धि' एवं 'स्फोट-सिद्धि' का प्रणयन किया था।

अनेक विद्वानों का मत है कि मण्डन मिश्र की महिष्मती नर्मदा नदी के किनारे पर थी, जिसका स्थानापन्न आधुनिक मण्डला नगर है।

भट्टपुर

कुछ विद्वानों की धारणा है कि दरभंगा जिले के भट्टपुर नामक ग्राम में प्रसिद्ध मीमांसक एवं कर्मकाण्डी कुमारिल भट्ट का जन्म हुआ था। वे मिथिला के निवासी थे, इस तथ्य को स्वीकार कर लेने के पक्ष में प्रमाण है। 'शंकर-दिग्विजय' के लेखक आनन्दगिरि ने उक्त ग्रन्थ में मण्डन मिश्र को कुमारिल भट्ट का भगिनी-पति अंकित किया है। अतः भारती वा सरस्वती कुमारिल भट्ट की बहन थी तथा मण्डन मिश्र बहनोई थे। इससे प्रमाणित होता है कि मण्डन मिश्र की भाँति कुमारिल भट्ट भी मिथिलावासी थे। कुमारिल भट्ट ने अपने अत्युच्चकोटि के ग्रन्थ 'श्लोक-वार्त्तिक', 'तन्त्र-वार्त्तिक' एवं 'टुप्-टीका' में 'जैमिनीय-सूत्र के 'साबर भाष्य' के मीमांसा विषयक दृष्टिकोण का पूर्णरूपेण समर्थन किया है।

मीनापुर

मुजफ्फरपुर जिले के हाजीपुर अनुमण्डलीय नगर के निकट का मीनापुर ग्राम १६वीं से १८वीं शताब्दी तक मिट्टी के सुन्दर वर्त्तन प्रस्तुत करने के हेतु मिथिला के गृह-उद्योग क्षेत्र का एक विशिष्ट केन्द्र था। वेनिशीय पर्यटक मुनुक्की ने यहाँ की मृत्तिका-पात्र-निर्माण-कला की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उसके कथनानुसार यहाँ के निर्मित नाना प्रकार के मृत्तिका-पात्र काँच के बने सुन्दर पात्रों से भी रमणीय एवं मनोरम, कागज से भी पतले, तौल में लघु, कलापूर्ण तथा सुरभि-सम्पन्न होते थे। उनका व्यवहार केवल समाज के समृद्ध एवं श्रीमानों के यहाँ ही नहीं होता था, वरन् ऐसी वस्तुएँ अनुपम तथा अतुल होने के कारण राज-दरबारों में प्रेषित की जाती थीं, जहाँ से वे विश्व के अनेक देशों में आश्चर्यजनक उपकरणों के रूप में पहुँचती थीं (आर० आर० दिवाकर : बिहार थ्रू दि एजेज, पृ० ५६७)।

शृंगीश्वर वा सिंहेश्वर-स्थान

भागलपुर जिले के मधेपुरा अनुमंडल में सिंहेश्वर-स्थान है, जहाँ सिंहेश्वर नाथ महादेव का प्रसिद्ध मन्दिर है। यह स्थान मधेपुरा नगर से लगभग छः मील उत्तर है। मधेपुरा से वहाँ तक पक्का राज-पथ गया है। कहा जाता है कि प्राचीन काल में शृंगी ऋषि का आश्रम वहीं पर था। सिंहेश्वर-स्थान में प्रति वर्ष एक बड़ा मेला लगता है।

दुर्वासा-आश्रम

भागलपुर जिले में कहलगाँव से एक मील की दूरी पर गंगा नदी की धारा में कहलगाँव पहाड़ है। महाक्रोधी ऋषि दुर्वासा का आश्रम उसी पहाड़ पर था, इस प्रकार की अनुश्रुति स्थानीय जनता में प्रचलित है।

जह्नु-आश्रम एवं सुलतानगंज

भागलपुर जिले के सुलतानगंज नगर में गंगा की धारा के बीच एक पहाड़ है। बताया जाता है कि राजर्षि जह्नु का आश्रम उसी पहाड़ पर था। उस स्थान को सम्प्रति जहंगिरा कहा जाता है। जह्नुगिरि का अपभ्रष्ट रूप जहंगिरा मालूम पड़ता है। पर्वत पर जहंगिरा-नाथ महादेव का मन्दिर है। वैद्यनाथ ज्योतिर्लिंग के दर्शनार्थी यात्री प्रायः वहीं जाकर गंगा-जल लेते हैं, और उसे भक्ति-भाव से भगवान् शंकर के मस्तक पर चढ़ाते हैं। पौराणिक कथा प्रसिद्ध है कि जब महाराज भगीरथ गंगा को लेकर आ रहे थे, तब जह्नुने गंगा को पी लिया था, और फिर कान से निकाल दिया था। तभी से गंगा का नाम 'जाह्नवी' पड़ा। कुछ विद्वानों का मत है कि पाल-युग का विक्रमशिला विश्वविद्यालय जह्नु-आश्रम के निकट ही सुलतानगंज में था।

●

त्रयोदश अध्याय

अंगरेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी बंगाल, बिहार और उड़ीसा के दीवान के रूप में तथा मिथिला

मुगल सम्राटों के शासनकाल में प्रादेशिक सरकारों के संचालन का भार दो अधिकार सम्पन्न उच्च पदाधिकारी–नवाब अथवा नाजिम एवं दीवान के ऊपर रहता था। नवाब राज्य का मुख्य कार्यपालक होता था, तथा दीवान के ऊपर प्रशासन एवं न्याय का दायित्व रहता था। शाह आलम द्वितीय के द्वारा अँगरेजों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा की दीवानी प्राप्त होने के पश्चात् मुगल सम्राट् तथा बंगाल के नवाब का उन प्रदेशों के शासन पर अधिकार नाम मात्र का रह गया।

उपर्युक्त प्रबन्ध से सेना एवं राजस्व पर अँगरेजों का प्रभुत्व और अधिकार हो गया। केवल शान्ति और सुव्यवस्था का भार नवाब के पदाधिकारियों के ऊपर रहा। शाही फरमान के अनुसार न्याय की व्यवस्था तथा राजस्व प्राप्त करने का दायित्व दीवान होने के नाते ईस्ट इण्डिया कम्पनी के ऊपर था। परन्तु कम्पनी ने इन कामों को भी नवाब के नौकरों के अधीन कर दिया। अँगरेजों का असली ध्येय उपर्युक्त तीनों बड़े प्रदेशों की दीवानी प्राप्त कर लेने पर उससे अधिक से अधिक लाभ उठाने का था। वह भी इतना शीघ्र, जितना सम्भव हो सकता था। कम्पनी के सेवक समुदाय राजस्व वसूल करने की कला में कुशल नहीं थे। इस काम को करने का पूर्व से उन सबों को अनुभव भी नहीं था। तीनों ही प्रदेशों में राजस्व का मूल स्रोत क्या था, इसका भी पता उन सबों को न था। इसलिए अधिक से अधिक रुपये प्रजा से कैसे प्राप्त किये जायँ, इसके हेतु स्थानीय अधिकारियों का सहयोग उनको आवश्यक था। इस ध्येय से कम्पनी के अधिकारियों ने मुहम्मद रेजा खाँ की नियुक्ति राज्य के फौजदार एवं अदालती सभी विभागों की देख-रेख करने के लिए की। कम्पनी के प्रतिनिधि के रूप में उसके ऊपर अदालत सम्बन्धी कार्यों का भार सौंपा गया, तथा नवाब की प्रतिमूर्ति के रूप में फौजदारी विभाग का। यह रेजा खाँ अँगरेजों का मित्र एवं सहायक था। उसको मुर्शिदाबाद के ब्रिटिश रेजिडेण्ट से विचार-विमर्श कर उसकी अनुमति से तथा उसके निर्देशानुसार कार्य करना पड़ता था। अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में उसे स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी।

बिहार प्रदेश के अन्दर के जनपदों के लिए भी ऊपर अंकित रूप में ही प्रबन्ध किया गया। वहाँ मुहम्मद रेजा खाँ की कोटि का अधिकारी महाराज सीताब राय था। वह नायब दीवान तथा नायब नाजिम के पदों का कार्य दो रूपों में सम्पादन करता था। पटना के प्रधान अंगरेज अधिकारी को राज्य का राजस्व एकत्र कर देना उसका कर्त्तव्य था। वह महाराज सीताब राय दिल्ली के शहन्शाह शाह आलम द्वितीय का प्रादेशिक दीवान भी था। इस प्रकार अपनी चतुरता एवं बुद्धिमत्ता से वह सभी का विश्वासभाजन और प्रिय-

पात्र बन गया था। बादशाह से अँगरेजी कम्पनी को बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा की दीवानी-प्राप्ति के काल में दोनों के बीच मध्यस्थता करने का भार उसी को सौंपा गया था। उसी के उद्योग से १७६५ ई० में दोनों के बीच उस कार्य के लिए नियम निर्धारित किये गये थे, तथा कम्पनी को राजाज्ञापत्र प्राप्त हुआ था। दूसरे वर्ष १७६६ ई० में उसी के सहयोग से उत्तर बिहार के तिरहुत प्रमंडल के छपरा में क्लाइव ने एक राजनीतिक सम्मेलन किया था, जिसमें बादशाह के कूटनीतिक प्रतिनिधि, लखनऊ (अवध) के नवाब शुजा-उद्-दौला, भरतपुर के जाट-नरेश तथा रोहेलखण्ड के शासक भूपति ने भाग लिया था, और भारत की उदीयमान मराठा-शक्ति के विरुद्ध उन सबों के बीच सहायक-सन्धि पर भी हस्ताक्षर वहाँ पर हुआ था।

दीवानी-प्राप्ति के पश्चात् कम्पनी ने अपने अधीन के हिन्दुस्तानी सेवकों, अभिकर्त्ताओं एवं अभिकरणों के द्वारा उपर्युक्त तीनों प्रदेशों का शासन कार्य सम्पादित करवाना आरम्भ किया। असली शासक अब वे सब बनाये गये। नवाब नाम मात्र के लिए शासन का प्रधान रह गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इस प्रकार का प्रबन्ध कर अपने माथे से कुव्यवस्था एवं कदाचार-अनाचार का दोष-बोझ उन सबों के कन्धे पर लाद दिया, तथा वह स्वयं उनके माध्यम से अधिक से अधिक धन-प्राप्ति के हेतु सचेष्ट एवं सयत्न रह कर अपना काम करने लग गयी। इस प्रकार के प्रबन्ध से जैसी आशा की जा सकती है, वैसा ही परिणाम हुआ। नवाब के पदाधिकारियों को उपर्युक्त प्रकार का शासन-भार सौंपा गया था। उनके पास चरित्रबल का अभाव तो था ही, साथ ही उनका जो निर्णय होता था उसकी कार्यान्विति के हेतु उनके पास कोई साधन नहीं था। शक्ति अँगरेजों के हाथ में थी। किन्तु जब तक कम्पनी के कोष में राजस्व के रुपये का प्रवाह अबाध गति से चालू था, तब तक उन्हें तनिक भी चिन्ता न थी। इसका परिणाम शासितों के लिए बहुत बुरा हुआ। उनका शोषण चरम सीमा तक पहुँच गया। नाजिमों ने राजाओं, जमीदारों तथा बड़े-बड़े कृषकों से जितने रुपये ऐंठे जा सकते थे, उतने उनसे दबाव डाल कर रोब के साथ वसूल करना आरम्भ कर दिया। उसके बदले में उन सबों को भी अपने से नीचे स्तर का जनता का रक्त चूस कर समृद्ध होने एवं रुपये एकत्रित और संचित करने की छूट मिल गयी थी। इस प्रकार जब धनराशि नाजिमों, जमींदारों एवं प्रधान-प्रधान कृषकों के पास संचित हो जाती थी तो कम्पनी के अधिकारियों एवं सेवकों के लिए उसका शोषण करना बड़ी सरलता एवं सुगमता से संभव हो जाता था। इस प्रकार के परस्पर के शोषण, एवं धनापहरण से अन्ततोगत्वा कम्पनी के अधिकारियों एवं नौकरों की जेब भरती थी। उन सबों का अधिकार अपार था। उनके पास सम्पत्ति भी उपर्युक्त प्रकार की लूट से अप्रमेय हो गयी थी। अधिकार-शक्ति एवं अनन्त धन-राशि की प्राप्ति ने उन्हें मद-मत्त बना दिया, जिससे न्याय-अन्याय का विवेचन उनके पास शेष नहीं रह गया, और अधिक धन-प्राप्ति के लालच में कम्पनी के सेवकों ने अपना व्यक्तिगत वाणिज्य-व्यापार हिन्दुस्तानी गुमाश्ताओं के माधयम से करना आरम्भ कर दिया। इन गुमाश्ताओं का भी आतंक अपने प्रभुओं के प्रभुत्व के कारण जनता पर अत्यधिक था। वे गरीब देशवासियों से उनके सामान साधिकार क्रय करते थे, और उसका मूल्य वे उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार देते थे, जिसको बिना चूँ किये उन्हें स्वीकार करना पड़ता था। कम्पनी अथवा उसके सेवकों के

माल के मूल्य-निर्धारण करने का अधिकार गुमाश्ताओं का था। अतः क्रय-विक्रय, दोनों ही कम्पनी के सेवकों के स्वेच्छानुसार होता था, उसमें जनता को बोलने का साहस करना अपने ऊपर आपत्ति को आमन्त्रित करना समझा जाता था। क्लाइव की द्वैध शासन-पद्धति से बंगाल के साथ-साथ बिहार के प्रत्येक अंश की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक दशा बिगड़ गयी। मिथिला में कलमी शोरा, सूती कपड़ा आदि का उत्पादन प्रचुर मात्रा में होता था। यहाँ सूत बहुत महीन काता जाता था जिससे सुन्दर कपड़े तैयार होते थे। कलमी शोरा के व्यापार का एकाधिकार अंगरेज व्यापारियों को मिल ही चुका था। इसलिए उस व्यापार के क्षेत्र में उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी विधानतः वहाँ अब नहीं था। उसके मूल्य का निर्धारण गुमाश्ता करते थे। उनके सामने अंगरेज व्यापारियों के हित का प्रश्न सबसे आगे रहता था। उत्पादकों के परिश्रम, उनकी लागत आदि पर कुछ ध्यान नहीं दिया जाता था। यही दशा अन्य वस्तुओं के उत्पादन और उनके व्यापार की थी। गरीब उत्पादकों को उत्पादन के हेतु तकावी कर्ज (अगाऊ ऋण) अँगरेज व्यापारी गुमाश्ताओं के माध्यम से देते थे और उनसे सामान मनमाने मूल्य पर उनकी इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक लेते थे। समय पर माल तैयार कर नहीं दे सकने पर उन पर कड़ाई की जाती थी, और उन्हें नाना प्रकार का कष्ट दिया जाता था। राजस्व की चुकती में विलम्ब होने पर भी उन पर अमानुषिक अत्याचार किया जाता था। एक बार कम्पनी के एक अनुभवी सेवक रिचार्ड बेकर ने २७ मई, १७६९ ई० को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स की सीकरेट कमिटी को लिखा था कि – 'कम्पनी के दीवानी पद पर आसीन होने के दिन से देशवासियों की दशा अति शोचनीय तथा बदतर हो गयी है। उसकी तह में जाकर जड़ का पता लगाने पर किसी भी अंगरेज को अवश्य हार्दिक पीड़ा होगी। यह सुन्दर देश जो राजतान्त्रिक एवं स्वेच्छाचारी शासन में भी शान्ति-सुख का अनुभव कर रहा था, वह आज विनाशोन्मुख हो रहा है' आदि।

मिथिला तथा उसके आस-पास के प्रदेशों में १७६९-७० ई० में विकराल अकाल पड़ा। सहस्रों की संख्या में अन्नाभाव के कारण आबाल-वृद्ध नर-नारी काल-कवलित हुए। बंगाल से कम्पनी के किसी पदाधिकारी ने ९ मई, १७७० ई० को एक पत्र कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स को लिखा था उसमें मिथिला तथा उसके संलग्न अंचलों की दुर्भिक्ष-स्थिति एवं उसकी विभीषिका का वर्णन किया गया था। उसने बताया था कि पूर्णिया जैसे सम्पन्न अंचल में दुर्भिक्ष के कारण उसके एक तिहाई अधिवासी कराल काल के विकराल गाल में प्रवेश कर गये। यही दशा और स्थानों की भी है (आर० आर० दिवाकर सम्पादित-बिहार, थ्रू दि एजेज, पृ० ५८८-८९)। देशवासियों की दशा उत्तरोत्तर कम्पनी के शासन में बिगड़ती गयी पर उसके कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स को अधिक चिन्ता नहीं हुई। उन लोगों ने अपने २८ अगस्त, १७७१ ई० के पत्र द्वारा दीवानी पद पर पूर्ववत् आसीन रहने का अपना निर्णय लिख भेजा। हाँ, कम्पनी की शासन-व्यवस्था में किंचित् परिवर्त्तन इसके पूर्व अवश्य किया गया था। वारेन हेस्टिंग्स को १७७२ ई० में बंगाल का गवर्नर (शासक) नियुक्त किया गया। उसकी कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स की ओर से प्रकाश्य रूप से खुल्लम-खुल्ला बिना किसी विदेशी हस्तक्षेप के दीवानी-व्यवस्था-भार ग्रहण करने का आदेश मिला था। द्वैध शासन की बुराइयों को दूर करने के हेतु उसे पूरा अधिकार प्रदान किया

गया । उसने प्रशासन के भिन्न-भिन्न विभागों में सुधार लाने के हेतु प्रयत्न भी किया । पर उसका प्रत्यक्ष परिणाम जनता की तातत्कालिक भयावह स्थिति के सुधार में अत्यल्प दृष्टिगत हुआ । ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शक्ति को बिहार के भिन्न-भिन्न अंचलों में सुदृढ़ करने और उसके विरोधी तत्त्व को शमन करने का उसका प्रयास विशेष रूप से चालू रहा, और उसमें उसको उस काल बहुत अंशों में सफलता भी मिली । किन्तु इससे जनता के हृदय में असन्तोष बढ़ता गया और वह अपने को विदेशियों के अत्याचार से मुक्ति पाने के लिए छटपटाने लगी । स्थान स्थान पर विद्रोह की लहरें उठीं, जिसको पाशविक बल से समय-समय पर दबाने की चेष्टा शासन द्वारा की गयी ।

आदिवासी संथालों की सीधी-सादी एवं परिश्रमशील जाति थी । उनके साथ घोर अन्याय किया गया तथा अनेक प्रकार से उन्हें सताया एवं अपमानित किया जाने लगा । ईस्ट इण्डिया कम्पनी की दीवानी-प्राप्ति के लगभग ९ दशक पश्चात् १८५६ ई० में 'कलकत्ता रिव्यू' में एक लेखक ने लिखा था कि जमींदार अथवा यह कहना उचित होगा कि जमींदारी के संरक्षक-सहायक गुमाश्ता, पिउन, तथा दूसरे महाजन और उनके मुन्तजिम अथवा अभिकर्त्ता, पुलिस (आरक्षक) एवं राजस्व विभाग और कचहरी (न्यायालय) के अमलाओं ने मिल कर सीधी-सादी, विनम्र एवं डरपोक संथालियों का अन्यायपूर्वक धन-सम्पत्ति का अपहरण तथा बलपूर्वक उनकी भूमि एवं सामानों पर अधिकार किया है और कर रहे हैं । उन्हें डरा-धमका कर और नाना भाँति से सता कर वे संब उनसे पैसे ऐंठते रहे हैं । उन सबों को बात-बात में गालियाँ देना और पीटना भी साधारण परिपाटी-सी बन गयी है । उनसे ५० रु० से लेकर ५०० रु० प्रतिशत तक सूद वसूल किया जाता है । हाट-बाट और बाजार में अनधिकारपूर्ण और झूठा 'कर' उनसे बैठकों के रूप में लिया जाता है । उनके हरे-भरे शस्य पूर्ण खेतों में अपने पशुओं, घोड़ों एवं हाथियों को उद्दाम छोड़कर वे उनकी फसलों को विनष्ट करते हैं । इस प्रकार की उन सबों के अनेक उत्पीड़न की चर्चा उस पत्र में की गयी थी ।

संथालों की बहू-बेटियों की प्रतिष्ठा भी उस काल सुरक्षित नहीं थीं । संथाल उसकी रक्षा के लिए सदैव मर-मिटने के लिए प्रस्तुत रहते थे । इस कारण उनके हृदय में असन्तोष का जाग उठना अस्वाभाविक नहीं था । 'कलकत्ता रिव्यू' ने १८५६ ई० के एक अंक में लिखा था कि – "दो संथाल अबलाओं का अपहरण, उनकी, बिना मूल्य दिये मुर्गे-मुर्गियों तथा खस्सी-पाठियों को बलात् ले लेना आदि कुकृत्य रेल की सड़क पर नियुक्त यूरोपियनों के द्वारा किया गया है" आदि ।

प्रशासनिक भ्रष्टाचार एवं साम्पत्तिक अन्याय से ऊब कर संथालों ने अपनी जानों की बाजी लगा दी । उन सबों ने १८५५ ई० में विद्रोह किया । वह विद्रोह दो वर्षों तक चालू रहा । बड़ी क्रूरता से अंगरेजों ने उन सबों का दमन किया । इसके लिए वहाँ उन सबों को 'मार्शल लॉ' (फौजी कानून) को लागू करना पड़ा था ।

मानभूमि एवं वीरभूमि के चुआर सरदारों में असन्तोष की लहर १७७१ ई० में उठी थी । पर अगरेजों ने उसे शान्त किया । पश्चात् १७९८-९९ ई० में पुनः मानभूमि एवं वीरभूमि से संलग्न रायपुर, अम्बिका नगर और सुपुर परगनाओं के चुआरों ने अंगरेजों के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ किया । उधर के पहाड़ी राजे तथा सरदारगण भी असन्तुष्ट एवं

क्षुब्ध हो गये थे । भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम, जो १८५७ ई० में आरम्भ हुआ था, के पूर्व आदिवासियों ने ऊब कर कई बार विद्रोह का झण्डा अंगरेजों के विरुद्ध उठाया था । मुण्डा एवं होस सरदारों ने अपने अपने अंचलों में १८२० ई० में अंगरेजों का पूरा विरोध किया था, पर उन्हें विशाल सैनिक शक्ति के सहारे दबाया गया । अनेक होसों का वध किया गया तथा उनके ग्रामों को जलाया गया । इसके बाद १८२७ ई० में हार कर वे सब शत्रु के सम्मुख नत हुए एवं उन्होंने अपने अस्त्र-शस्त्र डाल दिये । उन सबों को विजेताओं की इच्छा के अनुकूल उनके निर्देशानुसार शर्तों पर हस्ताक्षर कर सन्धि करने के हेतु बाध्य होना पड़ा ।

मुण्डों ने १८३१-३२ ई० में अंगरेजों के विरुद्ध मस्तक ऊँचा किया । उस आन्दोलन को 'कोल-विद्रोह' की संज्ञा प्राप्त हुई थी । देश के वातावरण में पूर्व से विस्फोट वर्तमान था ही । एक सिख के दुर्व्यवहार ने चिनगारी का काम किया । कहा जाता है कि उसने सोनपुर परगना के किसी सिंघरई नामक आदिवासी के १२ ग्रामों पर उसे दबा-सता कर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था । धन एवं अधिकार से प्रमत्त होकर उसने उसके परिवार की महिलाओं का अपमान भी किया था । सिंहभूमि जिले के बन्दगाओं के एक सुर्ग नामक मुण्ड के साथ भी एक किसी मुसलमान ने दुर्व्यवहार किया था । इन बातों की सूचना पाते ही उस अंचल के होस एवं मुण्डा जातियों के सदस्य बौखला उठे और उन सबों ने अधिकार-सम्पन्न व्यक्तियों के विरुद्ध प्रतिशोध की भावना से हिंसात्मक कार्यवाही आरम्भ कर दी । इस विद्रोह की आग की लपट अति शीघ्र सम्पूर्ण राँची एवं हजारीबाग जिलों, पलामू के टोरी परगना तथा मानभूमि के पश्चिमी भाग में फैल गयी । अंगरेजों ने कई स्थानों से सैनिकों को मँगा कर उन सबों का दमन भयंकर नरसंहार कर किया । कहा जाता है कि बुद्धू भगत नामक एक व्यक्ति ने अंगरेजों की ध्वंस-लीला से अपने जन्म ग्राम की रक्षा करने के प्रयास में अपने परिवार के सभी सदस्यों एवं डेढ़ सौ अनुयायियों के साथ डट कर प्राण दिये । कोलों के बहुसंख्यक ग्रामों को भस्मसात् किया गया । सुर्ग एवं सिंघरई के भ्राता का भी शमन किया गया । किन्तु सिंहभूमि के हौस उतने पर भी विद्रोही बने ही रहे । उनके विरुद्ध १८३६ ई० के नवम्बर में बलवती वाहिनी भेजी गयी । कर्नल रिचार्डस ने १८३७ ई० के फरवरी महीने के अन्त तक उन सबों को सर्वतोभावेन शमन करने में सफलता प्राप्त की ।

कोल-विद्रोह के समाप्त होते न होते मानभूमि में भूमिज-विद्रोह आरम्भ हो गया । उसका नेता था वीरभूमि स्टेट का दावागीर गंगा नारायण । इसीलिए उस उपद्रव का नाम-करण किया गया था 'गंगाराम हंगामा' । उस अंचल के पीड़ित कृषकों ने गंगाराम का साथ दिया । मिस्टर डेण्ट ने उन सबों के विरोध में उस काल सैनिक अभियान किया था । उस सेनानायक के प्रतिवेदन के आधार पर 'मानभूमि जिला गजेटियर' में अंकित किया गया था कि प्रशासन के ऋण देने और लेने वालों के सम्बन्ध में जो सभी विधान लागू है उसके प्रति असन्तोष वीरभूमि में पूर्णतया परिपक्व हो चुका है और पराकाष्ठा तक पहुँच गया है । उसमें ऋण देने वाले महाजनों के अत्याचारों से आदिवासियों के साथ-साथ जमींदारों, घटवालों, सरदारों, भू-स्वामियों आदि की दयनीय दशा तथा उससे उत्पन्न अराजकता का सम्यक् परिदर्शन कराया गया था । गंगाराम के अभियान के समर्थन के पीछे उपर्युक्त कारण तथा उसी प्रकार की अन्य अनेक बातें बतायी गयी थीं ।

जन-साधारण के समर्थन एवं सहायता के बल पर वह आन्दोलन अदमनीय-सा प्रतीत होने लगा। सरकारी कचहरियों, थानाओं तथा सैन्य-शिविरों के विरुद्ध १८३२ ई० के मई और जून महीनों में आक्रमण आरम्भ हो गये। नवम्बर महीने में उस विद्रोह को दमन करने के हेतु बृहत् आयोजन किया गया। मि० ब्रेड्डन, लेफ्टिनेन्ट ट्रिम्मर, तथा मि० डेण्ट ने सबल भारतीय सवारों के सहयोग से गंगा नारायण तथा उसके अनुयायियों को कई युद्धों में परास्त किया। गंगा नारायण ने सिंहभूमि पलायन किया। वहाँ पहुँच कर उसने होसों का संगठन करना आरम्भ किया। उसने वहाँ जाकर खरसावाँ के शासक के एक सुदृढ़ गढ़ पर आक्रमण किया। उस युद्ध में उसने वीरगति प्राप्त की। इस प्रकार नेता की मृत्यु के बाद उस विद्रोह का अन्त हुआ।

देशव्यापी बार-बार के विद्रोहों से अंगरेजों की आँखें खुलीं। शासन में प्रचलित बुराइयों के प्रति उनका ध्यान आकर्षित हुआ। उन सबों ने १८३३ ई० के रेगुलेशन १३ के द्वारा जंगल महाल के जिला विभाग का अन्त कर शासन में सुधार लाने के विचार से नये ढंग से अपने द्वारा शासित प्रदेशों का पुनः संगठन किया। इस प्रबन्ध का भी १८५४ ई० के रेगुलेशनांक २० के द्वारा अन्त कर छोटानागपुर प्रमण्डल का निर्माण किया गया और उसे एक आयुक्त के अधीन कर दिया गया।

जो राजनीतिक स्थिति ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त करने के पश्चात् से लेकर १९ वीं शताब्दी के मध्य तक अर्थात् १८५७-५९ ई० के प्रथम भारतीय-स्वातन्त्र्य-संग्राम के आरम्भ एवं उसके दब जाने तक की अवधि में उपर्युक्त वर्णन के अनुसार छोटानागपुर प्रमण्डल के जिलाओं की थी, वही अवस्था कुछ अधिक वा कम बिहार प्रदेश के अन्य अंचलों में भी अन्तर्मुखी होकर और कहीं प्रच्छन्न और कहीं प्रकट रूप में विद्यमान रहकर देश की राजनीति के रंगमंच पर लुका-छिपी का खेल खेलती थी। जनता के हृदय में विद्वेष एवं विद्रोह की आग विदेशी शासन के विरोध में सुलग रही थी, जिसकी लपट पीछे के अब्दों में समय-समय पर भिन्न-भिन्न आन्दोलनों के रूप में जहाँ-तहाँ निकलती देखी जाती थी। मिथिला उसका अपवाद नहीं थी। बंगाल, बिहार और उड़ीसा १९१२ ई० तक एक प्रदेश था। अतः तीनों का भाग्य एक स्थान पर एक खूँटे में बँधा था। इस कारण एक की स्थिति के वर्णन से दूसरे की स्थिति का स्पष्ट रूप से पता चल जाता है।

आरम्भ में कम्पनी का शासन समिति के द्वारा होता था। इस पद्धति का जन्म ईस्ट इण्डिया कम्पनी की व्यापारिक सुविधाओं तथा अदालती आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ था। इसके द्वारा उसकी अपने सेवकों के शासन में सुविधा होती थी। कम्पनी के केन्द्रीय शासन की स्थापना १७७३ ई० में हुई। इसके पूर्व कलकत्ता, मद्रास एवं बम्बई के शासन के हेतु पृथक्-पृथक् तीन समितियाँ थीं। प्रत्येक समिति का शासन अपने परिषद के सदस्यों के सहयोग से उसका अध्यक्ष करता था। सबों का पद एवं अधिकार बराबर था, और बहुमत के निर्णयानुसार कार्यों का सम्पादन एवं कार्यान्वयन होता था। प्रदेशों की विजय एवं उनकी प्राप्ति के पश्चात् उनके शासन के हेतु अध्यक्ष का पद गवर्नर (शासक) के पद में परिवर्तित कर दिया गया। आवश्यकता पड़ने पर परिषद् के निर्णय के प्रतिकूल

कार्य करने का अधिकार भी शासन को प्राप्त हुआ। किन्तु बहुमत से निर्णय करने के विषय में जो पुराने नियम थे, उनकी अवहेलना पूर्ण रूप से न की गयी कार्यपालक सरकार का मुख्य पद शासक (गवर्नर) को प्राप्त था। किन्तु यदि उसकी परिषद् के बहुमत के विरुद्ध आचरण करने की आवश्यकता जान पड़ती थी तो उसके लिए वहीं परिषद् के अन्दर उसको लिखित कारण उपस्थित कर अपना मत व्यक्त करने का वैधानिक अधिकार दिया गया था, और उसका वह निर्णय सर्वमान्य समझा जाता था।

परिषद् के अध्यक्ष को शासक (गवर्नर) का पद सर्वप्रथम बंगाल में कलकत्ता के फोर्ट विलियम प्रसिडेन्सी के अध्यक्ष को प्राप्त हुआ। बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा की दीवानी वहाँ पर कम्पनी को १७६५ ई० में मिली थी। सन् १७५७ ई० के पलासी-युद्ध के परिणामस्वरूप उसका बंगाल के कई जिलों पर भी अधिकार हो गया था। दीवानी प्राप्ति के पश्चात् ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बंगाल, बिहार और उड़ीसा के राजस्व एवं असैनिक प्रशासन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेने के कारण उन प्रदेशों पर असल में उसी की सार्वभौम सत्ता स्थापित हो चुकी थी। इन कारणों से फोर्ट विलियम भारत में कम्पनी के केन्द्रीय सरकार का प्रधान प्रशासन-केन्द्र बन गया। कम्पनी के प्रशासक का रूप सर्व-प्रथम वहीं पर ग्रहण किया। देश के अन्यान्य प्रदेशों को भी प्रशासनिक संगठन के हेतु मार्गदर्शन एवं निर्देश आरम्भ में वहीं से प्राप्त होता था। समाहर्त्ता को शासन के उच्च पद पर प्रतिष्ठित किया गया। वह पद्धति अद्यपर्यन्त मिथिला एवं बिहार के अन्य अंचलों में चालू है। उस काल बिहार बंगाल का एक उपप्रदेश था। अतः उसका असैनिक प्रशासन का सम्बन्ध बंगाल के साथ था। बिहार पहली अप्रैल, १९१२ ई० के दिन एक अलग स्वतन्त्र प्रान्त घोषित किया गया। किन्तु तब भी इसकी प्रशासनिक पद्धति बंगाल के अनुरूप ही रही। वह बदली नहीं।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों, सेवकों, अभिकर्त्ताओं, गुमाश्ताओं, नाजिम के अधिकारियों, ऋण लगाने वाले महाजनों आदि के अत्याचारों का दिग्दर्शन संक्षेप में ऊपर कराया गया है। उस काल की अंगरेजी नीति का भी उल्लेख किया जा चुका है। जब उन सबों के अनाचार और कदाचार चरम सीमा पर पहुँच गये, और अंगरेजों की अनीति की चर्चा घर-घर होने लगी, तब लोक-लाज से बचने के लिए बुराइयों के निराकरण के नाम पर यूरोपियन सुपरवाइजरों की नियुक्ति की गयी। यह काम सर्वप्रथम बंगाल में १७६९ ई० में आरम्भ किया गया। पीछे बिहार में भी १७७० ई० में कई जिलों के लिए उस पद की सृष्टि की गयी। तिरहुत, चम्पारण, सारन, मुंगेर, शाहाबाद एवं रोहतास में एक-एक सुपरवाइजर की नियुक्ति हुई। कुछ काल पश्चात् बिहार प्रान्त के लिए पटना में एक राजस्व-नियन्त्रण परिषद् की स्थापना हुई, और मुर्शिदाबाद में बंगाल के लिए। मुर्शिदाबाद की परिषद् का नियन्त्रण-अधिकार पटना की परिषद् के ऊपर भी था। पटना की परिषद् के सदस्यों की संख्या ३ थीं, जिनमें एक का पद प्रधान का होता था। उपर्युक्त परिषद् का कार्य भिन्न-भिन्न विभागों में होने वाले व्यय तथा जिला के सुपरवाइजरों के कार्य एवं कार्य-शैली पर नियन्त्रण रखना था।

सुपरवाइजरों का अधिकार सीमित था। उनका काम केवल अपने कार्य-क्षेत्र के

जिलों की वस्तुस्थिति का पता लगाकर ऊपर के अधिकारी को उसकी सूचना देना था। वे भूमि की स्थिति, उसकी योग्यता, राजस्व की माँग तथा उसके साथ प्रजा से पैसे ऐंठने की पद्धति, व्यापार की अवस्था और न्याय की व्यवस्था आदि का पता लगाते थे। उनका कार्य अनियमितताओं तथा अत्याचारों का पता लगाकर केवल उन विषय में अपना प्रतिवेदन प्रेषित कर देना मात्र था, अत्याचारियों को उनके अत्याचार के कारण किसी प्रकार का दण्ड देने का उनको अधिकार नहीं था। उनमें से अनेकों में उचित योग्यता एवं ईमानदारी की भी कमी थी। पर जो उनमें योग्य एवं ईमानदार थे, वे भी अनाचारियों के विरुद्ध कुछ कर नहीं सकते थे। वारेन हेंस्टिंग्स ने एक बार ठीक ही लिखा था कि इन लोगों का व्यक्तिगत चरित्र भला अथवा बुरा जो भी हो पर पूरा दोष उनके माथे नहीं मढ़ा जा सकता है, क्योंकि इस विषय में शासन का कोई निश्चित एवं उपयुक्त सिद्धान्त नहीं है, जिसके अनुसार विचार की कार्यान्विति के हेतु उनको शक्ति एवं क्षमता प्राप्त हो सके।

वारेन हेस्टिंग्स ने उपर्युक्त दयनीय स्थिति में सुधार लाने के हेतु अपना चरण आगे बढ़ाया। कम्पनी की नीति अब तक विशेषतया व्यापारिक थी। उसे उसने शासनिक बनाने का प्रयत्न किया। उसने कम्पनी के शासन की प्रतिष्ठा को देश के अन्य शासकों की दृष्टि में ऊँचा उठाने के विचार से अपना नया राजनितिक सिद्धान्त उपस्थित किया। उसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के स्थान में अपनी मातृभूमि के साम्राज्य ग्रेट ब्रिटेन के नाम पर शासन-सूत्र का संचालन करना अधिक उचित समझा।

उसने पटना एवं मुर्शिदाबाद की राजस्व-नियन्त्रण परिषदों को भंग कर दिया तथा मुहम्मद रेजा खाँ एवं राजा सीताब राय को भी कार्य-मुक्त किया। राजस्व का पूरा उत्तरदायित्व दीवान के अधिकार से कम्पनी ने अपने ऊपर सीधे ले लिया, और अपने अधीनस्थ अधिकारियों के माध्यम से उसकी व्यवस्था करवाना आरम्भ किया। यह सुधार-कार्य १७७२ ई० में आरम्भ किया गया। मुख्य राजस्व-अधिकारी (खालसा) का कार्यालय कलकत्ता में स्थानान्तरित हुआ। वहाँ उस विभाग के कार्य का सरकार के द्वारा अधीक्षण अधिक सुगम था। इसी हेतु वह स्थानान्तरण किया गया था। प्रत्येक जिला के सुपरवाइजर को वहाँ के समाहर्त्ता का पद दिया गया, तथा उन्हें कार्यपालिका-शक्ति भी प्रदान की गयी, जिससे वे अपने निर्णय की कार्यान्विति करा सकें। राजस्व-विभाग में जब परिषद् के सदस्य एवं अध्यक्ष साथ बैठ कर कार्य करते थे, तो वहाँ उनका स्थान राजस्व-परिषद् के सदस्य का माना जाता था। समाहर्त्ता का सम्बन्ध सीधे राजस्व-परिषद् से था। राजस्व-परिषद् के सदस्य क्रम-क्रम से प्रत्येक जिला में जाकर वहाँ के समाहर्त्ता तथा उसके सहायक देशी दीवान की सहायता से बन्दोबस्ती का काम करते थे। तिरहुत (मिथिला), सारण, चम्पारण, मुंगेर आदि जिलों में समाहर्त्ता पूर्व में ही नियुक्त किये जा चुके थे, जिसकी चर्चा की जा चुकी है।

प्रत्येक समाहर्त्ता के कार्य-क्षेत्र के लिए परिषद् एवं अध्यक्ष ने दो न्यायालयों की स्थापना की, जिनके नाम क्रमशः दीवानी अदालत एवं फौजदारी अदालत रखे गये। दीवानी अदालत की अध्यक्षता समाहर्त्ता करते थे तथा फौजदारी अदालतों के लिए मुसलमान न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाती थी। समाहर्त्ता को फौजदारी अदालत की

कार्यवाहियों को भी अवलोकन करने का अधिकार प्राप्त था। उनको वहाँ यही देखना पड़ता था कि नियम का पालन साक्षियों एवं सबूतों के सम्बन्ध में उचित रीति से किया जाता है अथवा नहीं तथा न्यायिक कार्यवाहियों का अंकण ठीक-ठीक होता है वा नहीं। निम्न अदालतों के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनने के हेतु कलकत्ता में दो उच्च न्यायालयों की स्थापना हुई। उनमें से एक को 'सदर दीवानी अदालत' तथा दूसरे को 'सदर निजामत अदालत' कहा जाता था। सदर दीवानी अदालत में अपील की सुनवायी परिषद् के दो सदस्य तथा अध्यक्ष मिलकर करते थे। 'सदर निजामत अदालत' की देख-रेख १७७५ ई० तक अध्यक्ष के अधीन थी। उसके बाद इस विभाग को मुर्शिदाबाद में नवाब के पदाधिकारियों के अन्दर स्थानान्तरित कर दिया गया। मुसलमान न्यायाधीशों को वेतन शासन की ओर से दिये जाने का प्रबन्ध किया गया। इसके पूर्व अर्थदण्ड से जो राशि प्राप्त होती थी, उसके एक निश्चित अनुपात में कमीशन के रूप में उन सबों को पारिश्रमिक प्राप्त होता था। इस पद्धति को समाप्त कर दिया गया। शासन द्वारा नियुक्त अधिकारियों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को न्याय करने का अधिकार १७७२ ई० के रेगुलेशन ने समाप्त कर दिया। इस सुधार ने प्रत्येक जिला में समाहर्त्ताओं को राजस्व एवं न्याय सम्बन्धी तथा कार्यपालक को शक्ति-सम्पन्न अधिकार प्रदान किया। उनके ऊपर केवल कलकत्ता के फोर्ट विलियम की सरकार का निरीक्षण, अधीक्षण तथा तथा निर्देशन-अधिकार था, दूसरे का नहीं। इस प्रबन्ध से जमींदारों तथा अन्य-अधिकारियों की स्वतन्त्रता एवं उनके प्रभाव में आघात पहुँचा था। अतः वे सब इससे असन्तुष्ट हो गये।

उपर्युक्त सुधारों के कार्यान्वयन के हेतु ब्रिटिश-अभिकरणों की नियुक्ति के कारण शासन पर व्यय अधिक बढ़ गया। कम्पनी का लक्ष्य अब भी विशेषकर राजस्व से अधिक से अधिक अर्थ-संचय करने का था। अतः यह प्रबन्ध अधिक दिनों तक नहीं चल सका। कम्पनी के संचालकों के निर्णयानुसार २३ नवम्बर, १७७३ ई० को नया नियम निर्धारित हुआ, जिसके अनुसार छः प्रोविन्शियल कौंसिलों (प्रान्तीय परिषदों) की स्थापना हुई। प्रत्येक प्रान्तीय परिषद् में सुविधा के अनुसार कई जिलों को सम्मिलित किया गया। प्रत्येक परिषद् में एक प्रधान, चार अथवा पाँच सदस्य तथा एक सचिव रखे गये। समाहर्त्ताओं को सभी जिलों से हटाकर उन सबों को नये प्रबन्ध के अनुसार उपर्युक्त छः परिषदों में स्थान दिया गया। उन परिषदों में फारसी के अनुवादकर्त्ता तथा कतिपय सहायकों की भी नियुक्ति हुई। समाहर्त्ता का स्थान जिला में अब न रहा। वहाँ भारतीयों में से नायबों (डिप्टी) की नियुक्ति हुई, जिनका काम राजस्व वसूल करना तथा न्याय करना भी था। प्रान्तीय परिषदों के एक सदस्य को न्याय-कार्य का अधीक्षण करना पड़ता था। एक सदस्य को वह कार्य एक महीना के लिए सौंपा जाता था। एक के बाद दूसरे सदस्य को वह काम बारी-बारी से करना पड़ता था। परिषद् के प्रधान अधिकारों का उल्लेख १७७४ ई० के रेगुलेशन में स्पष्ट रूप से कर दिया गया।

कम्पनी के संचालकों की सम्मति से १७७३ ई० में रेगुलेटिंग ऐक्ट पारित किया गया। उसके अनुसार बंगाल सरकार ने केन्द्र-सरकार का रूप धारण किया। वारेन हेस्टिंग्स उस केन्द्र-सरकार का गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ। गवर्नर-जनरल के साथ कार्य करने

के हेतु एक परिषद् (कौन्सिल) की स्थापना हुई, जिसके चार सदस्य थे। बंगाल के फोर्ट विलियम प्रेसिडेन्सी के सभी प्रकार के सैनिक एवं असैनिक प्रशासन का सम्मिलित उत्तरदायित्व गर्वनर-जनरल तथा उसकी कौसिंल के सदस्यों के ऊपर दिया गया। इस विधान ने अध्यक्ष (प्रेसिडेण्ट) एवं उसकी परिषद् (कौंसिल) के सभी कार्यों को मान्य घोषित किया। गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल को इस विधान के अनुसार बंगाल के अतिरिक्त मद्रास एवं बाम्बे प्रसिडेन्सियों के भी युद्ध एवं शान्ति सम्बन्धी सभी प्रकार की वार्त्ताओं के ऊपर नियन्त्रण करने का अधिकर प्राप्त हुआ। कौंसिल की बैठक में किसी विषय पर बराबर-बराबर मत प्राप्त होने पर गवर्नर-जनरल को विशेष मताधिकार के प्रयोग का संभी अधिकार प्रदान किया गया था। इस विधान के अनुसार कलकत्ता के फोर्ट विलियम में एक सुप्रीम-कोर्ट (सर्वोच्च-न्यायालय) की भी स्थापना हुई। उक्त न्यायालय का न्यायाधिकार प्रेसिडेन्सी में निवास करने वाले सभी युरोपियनों तथा कम्पनी के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सभी कोटि के सेवकों पर था।

उपर्युक्त रेगुलेटिंग ऐक्ट के अनुसार कार्य चालू होने पर आगे चल कर उसमें अनेक वैधानिक त्रुटियों का पता चला, जिसके कारण काम में बाधा उपस्थित होने लगी। शासन एवं सुप्रीम-कोर्ट (सर्वोच्च-न्यायालय) के अधिकार-क्षेत्र के विषय में झंझट उत्पन्न हुई। इस झगड़े से दोनों ही में अनियमितताओं तथा त्रुटियों का पता चला। उसको दूर करने की दृष्टि से १७८१ ई० में उक्त कानून में संशोधन किया गया। उसमें सर्वोच्च-न्यायालय के अधिकार एवं अधिकार-क्षेत्र का विश्लेषण किया गया था। इण्डिया ऐक्ट १७८४ ई० में पारित किया गया। उसके द्वारा गवर्नर-जनरल के अधिकार एवं शक्ति का सवंर्द्धन किया गया। परिषद् विधि ने परिषद् के निर्णय को अपने 'विटो' के अधिकार का प्रयोग कर अस्वीकृत करने की क्षमता प्रदान की। किन्तु वह इस 'विटो' के अधिकार का उपयोग अत्यन्त आवश्यक होने पर ही कर सकता था।

प्रान्तीय परिषदों से न्याय-विभाग १७८० ई० में पृथक् कर लिया गया। प्रत्येक प्रान्तीय परिषद् के अधिकार-क्षेत्र में एक दीवानी अदालत की स्थापना एक अधीक्षक के अन्दर की गयी। ऐसी प्रान्तीय परिषदों की संख्या छः थी। किन्तु १७८१ ई० के अप्रैल महीने में इस प्रकार के न्यायालयों की संख्या बढ़ा कर १८ कर दी गयी। इन १८ में बिहार प्रदेश में ७ दीवानी अदालतें खोली गयीं। उनमें से दो की स्थापना मिथिला में हुई। दरभंगा में एक की स्थापना हुई तथा दूसरे न्यायालय की चम्पारण जिले के लौरिया में। इस प्रकार का एक न्यायालय भागलपुर में भी खुला। भागलपुर को छोड़ कर उपर्युक्त दोनों न्यायालयों में अधीक्षक के स्थान में न्यायाधीश की नियुक्ति हुई। भागलपुर के न्यायालय का कार्य-संचालन वहाँ के समाहर्त्ता को करना पड़ता था। इन न्यायालयों में ५ जुलाई, १७८१ ई० के निर्धारित नियमों के अनुसार कार्य-सम्पादन किया जाता था। न्यायाधीशों को विधि-नियमों के अधीन रह कर उनके निर्देशानुसार कार्य-संचालन करना पड़ता था। स्वेच्छाचार के व्यवहार का क्षेत्र अति संकुचित बना दिया गया था। यह कार्य इसलिए किया गया था कि जिससे न्याय के संचालन-क्षेत्र में सर्वत्र समता का समावेश हो सके।

अन्त में प्रान्तीय परिषदों का अस्तित्व सभी स्थानों में समाप्त कर दिया गया।

गवर्नर-जनरल एवं कौंसिल ने उनकी जगह में राज्स्व-प्रशासन को केन्द्रीभूत करने के विचार से कलकत्ता में चार सदस्यों की एक राजस्व-समिति का निर्माण किया, जिसके सदस्य थे डेविड एण्डर्सन, जॉन शोर, सेमुएल चार्टर्स तथा चार्ल्स क्रौफ्ट्स । किन्तु जिलों में इस कार्य की पूर्त्ति के हेतु शक्ति-सम्पन्न उत्तरादायी अभिकरणों के अभाव में लक्ष्य की पूर्त्ति पूर्ण रूप से न हो सकी । राजस्व-समिति को सफल बनाने के ध्येय से इस बात पर विचार करने की आवश्यकता आ पड़ी कि जिले का शासन कौन करेगा, हिन्दुस्तानी नायब (डिप्टी) अथवा अंग्रेज समाहर्त्ता ? जॉन शोर के प्रस्तावानुसार प्रत्येक जिला में एक अंग्रेज समाहर्त्ता की नियुक्ति १७८६ ई० में हुई । इन समाहर्त्ताओं का कार्य जिले के न्याय और राजस्व सम्बन्धी अपने कर्त्तव्य के पालन के साथ कम्पनी की प्रभुसत्ता का समर्थन तथा सरकार की कार्यपालिका-शक्ति को सुदृढ़ एवं सफल बनाना था । जिलों में अंग्रेज समाहर्त्ताओं को नियुक्त करने वाले अधिकारियों का विश्वास था कि इस प्रकार के प्रबन्ध से स्थानीय उत्पादनों की रक्षा होगी, वाणिज्य-व्यवसाय को संरक्षण प्राप्त होगा, जिला के प्रत्येक विभाग का उचित अधीक्षण एवं संचालन होगा, प्रधान-प्रधान हिन्दुस्तानियों की गतिविधि पर ध्यान रखा जायगा तथा विदेशियों के षड्यन्त्रों एवं कुमन्त्रणाओं के विरुद्ध सतर्कता बरती जायगी । शासन पर होने वाले व्यय में कमी करने के विचार से समाहर्त्ता के कार्यालय से राजस्व, न्याय एवं दण्ड-विभाग का सम्बन्ध किया गया ।

अपराधकर्मियों पर नियन्त्रण रखने तथा तत्सम्बन्धी अभियोगों के निर्णय के हेतु २३ फौजदारी अदालतों की स्थापना १७७६ ई० में हुई, जिनमें बिहार में ऐसे न्यायालयों की संख्या केवल पाँच थी । प्रत्येक फौजदारी न्यायालय में एक दारोगा, एक नायब दारोगा, एक काजी, एक मुफ्ती तथा एक निम्न-कोटि का अधिकारी रखा जाता था । हेस्टिंग्स ने १७७४ ई० में १४ थाने स्थापित करने का अभिप्रस्ताव किया था । प्रत्येक थाने में एक फौजदार का पद था, और वही थाने का प्रधान होता था । थाना फौजदारी अदालत का आरक्षी-विभाग था । एक फौजदारी थाने में कई चौकियाँ भी रहती थीं । आरक्षियों का निवास थाना एवं चौकियों में होता था । थाना के लघु रूप को 'चौकी' कहा जाता था । सारन, चम्पारण, तिरहुत, हाजीपुर, मुंगेर, बिहार, रोहतास तथा शाहाबाद में केवल चौकियाँ थीं, थाने नहीं । साधारणतया एक चौकी में सब मिलाकर २५ व्यक्ति रहते थे, और उन पर २१४ रुपये मासिक व्यय शासन को करना पड़ता था । फौजदारी कचहरियों की स्थापना १७७६ ई० के अधिनियम के अनुसार हुई थी । अभियोगों की सुनवाई तथा उनके निर्णय में पदाधिकारियों को अपने विचारानुसार कार्य करने का पूरा अधिकार प्राप्त था । लॉर्ड कॉर्नवालिस ने १७९० ई० में बताया था कि इसके कारण न्याय-क्षेत्र में अनेक बुराइयाँ प्रवेश कर गयी थीं ।

फौजदारों का कार्य न्यायलयों द्वारा दिये गये न्याय-निर्णय का कार्यान्वयन करना था । किन्तु शक्ति-सम्पन्न व्यक्तियों की उद्दण्डता एवं कम्पनी के अधिकारियों तथा सेवकों के प्रभाव के सामने उनका प्रभुत्व फीका पड़ जाता था । उनसे अपनी रक्षा करनी भी उनके लिए कठिन हो जाती थी । एक बार १७७७ ई० के सितम्बर महीने में तिरहुत फौजदार शकिरुल्लाह एवं काजी को कलमी शोरा के व्यापार के एक अभिकर्त्ता इमाम बख्श के

बीच झंझट खड़ा हुआ। फौजदार ने निजामत विभाग के किसी पदाधिकारी को लकड़ी का एक कुन्दा दिया था। इमाम बख्श के एक आदमी ने उसके पिउन की सहायता से उस काष्ठ-खण्ड को जलावन के हेतु चीरना आरम्भ किया। यह समाचार पाकर फौजदार ने उस लकड़ी काटने वाले आदमी तथा पिउन को बुला भेजा। इस पर काठ चीरने वाला व्यक्ति तो फौजदार के पास गया, पर पिउन इसकी सूचना अपने स्वामी को देने चला गया। इमाम बख्श ने सूचना पाकर चार-पाँच सौ सशस्त्र मनुष्यों के साथ फौजदार की कचहरी पर आक्रमण कर दिया। उसने उसके कार्यालय को विनष्ट किया, खजाने को लूटा, फौजदार को घसीट कर बाहर लाया तथा उसे पीटते-पीटते संज्ञा-शून्य कर दिया, और उसी अवस्था में उसको अपने आवास पर ले गया। इस स्थिति से लाभ उठा कर कारागृह से सभी बन्दी निकल कर भाग गये। पश्चात् स्थानीय व्यक्तियों ने इमाम बख्श के यहाँ जाकर और उससे प्रार्थना कर उस फौजदार को मुक्त करवाया तथा उसे उसके घर पहुँचा दिया।

उपर्युक्त प्रकार की घटनाएँ प्रायः हुआ करती थीं। इनको दूर करने के लिए फौजदारों के कार्यालयों को १७८१ ई० में बन्द कर दिया गया। दीवानी अदालतों के न्यायाधीशों को दण्डाधिकार सौंपा गया। उनके अधीन शान्ति-व्यवस्था की स्थापना, अपराधकर्मियों को पकड़ कर उन्हें जिला की फौजदारी अदालत में विचारार्थ भेजना आदि भी आरक्षी-विभाग के काम कर दिये गयें। दारोगा अथवा मुसलमान न्यायाधीशों का पद १७१० ई० तक कायम रहा। उसके पश्चात् उस पद पर अंग्रेज न्यायाधीशों की नियुक्ति हुई। लॉर्ड कार्नवालिस जब गवर्नर-जरनल के पद पर भारत आया तो उसने शासन-यंत्र में अनेक परिवर्तन किये। उसको भारतीयों पर विश्वास नहीं था। इसलिए उसने शनैः-शनैः प्रायः सभी प्रशासनिक पदों पर युरप-निवासी अंगरेजों को प्रतिष्ठित किया। उसने जिला समाहर्त्ता के अधिकार का विस्तार किया। पूर्व में समाहर्त्ताओं का सम्बन्ध मुख्यतः राजस्व से था, किन्तु १७८७ ई० में उन सबों के ऊपर न्यायाधीश एवं दण्डाधिकारी का दायित्व भी सौंप दिया गया। किन्तु १७९३ ई० में उनसे अदालत सम्बन्धी अनेक अधिकार लेकर दीवानी न्यायालयों को दिये गये। ऐसे न्यायालयों के प्रधान पदाधिकारी न्यायाधीश होते थे। न्यायाधीशों का कार्य दण्डाधिकारी का भी होता था, और उन्हें समाहर्त्ताओं के कार्य-कलाप पर भी दृष्टि रखनी पड़ती थी। माल अदालत बन्द कर दिया गया। समाहर्त्ताओं का काम राजस्व वसूलने तथा बन्दोबस्ती तक सीमित कर दिया गया।

कॉर्नवालिस के सुधारों की जड़ में दो भावनाएँ काम कर रही थीं। पहली भावना उसकी राजनीतिक थी। काशी के महाराज चेत सिंह के १७८१ ई० के विद्रोह तथा उसके अंगरेजों द्वारा दमन के समय से ही काशी-राज्य की सीमा से संलग्न प्रदेश-दक्षिण एवं उत्तर बिहार (मिथिला) के जमींदारों के हृदय में अंग्रेजों की साम्राज्य-विस्तार-नीति के प्रति विद्वेषाग्नि प्रज्वलित हो रही थी, और वे सब कम्पनी को सशंक दृष्टि से देखने लग गये थे। अतः कॉर्नवालिस उन सबों के प्रति अपनी नीति को सहानुभूतिपूर्ण एवं पक्षपात-पूर्ण बना कर उन्हें अपने पक्ष में लाना चाहता था, जिससे वे सब भविष्य में कम्पनी के विरोधियों की बातें सुनने तथा वर्तमान राजनीतिक स्थिति में परिवर्त्तन लाने के लिए सन्नद्ध

और सचेष्ट न होवें। वह चाहता था कि जमींदार समुदाय अपनी जमींदारियों का मनमाना उपभोग एवं उपयोग कर संतुष्ट रहें, और अंगरेजों के विरुद्ध कोई बात न सोचें। उसकी दूसरी भावना का मूल कारण था प्रशासन में भारतवासियों के प्रति विश्वास का अभाव।

उसने जमींदारों की सद्भावना एवं मित्रता प्राप्त करने के हेतु जमीन की स्थायी बन्दोबस्ती उनके साथ करके उनको सार्वभौम सत्ता एवं रिआया (प्रजा) के मध्यवर्त्ती भू-स्वामी बना दिया तथा तत्सम्बन्धी अनेक वैधानिक सुविधाएँ भी उन्हें दीं। अदालती अभियोगों के निर्णयार्थ उसने मुख्य-मुख्य जमींदारों एवं व्यवसायियों में से चयन कर विचारक नियुक्त किये, पर उन सबों की गणना शासकीय पदाधिकारियों की श्रेणी में न की जाती थी। ऐसे विचारकों में से किसी का काम पंच का होता था, किसी का मुंसिफ का और अनेक का उसी प्रकार के अन्य कार्यों के सम्पादन का। उनको शासन से वेतन नहीं मिलता था। जितने अभियोगों को वे देखते थे, उनके अनुपात में उनको पारिश्रमिक प्राप्त होता था।

जमीन की स्थायी बन्दोबस्ती ने रैयतों को जमींदारों की दया पर निर्भर कर दिया। राजस्व सम्बन्धी अभियोगों को अदालत के न्यायाधीशों को देखने के अधिकार-प्रदान ने समाहर्त्ताओं के अधिकार को संकुचित कर उनकी शक्ति को पंगु बना दिया। पीड़कों को दण्ड देने में वे अक्षम हो गये। न्यायाधीशों का काम बहुत बढ़ गया, जिससे शीघ्र न्याय प्राप्त करना सबों के लिए कठिन हो गया।

पश्चाद्वर्त्तीकाल में अनुभव के बल पर गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल को उपर्युक्त कठिनाइयों के हल के हेतु समय-समय पर पूर्ववर्त्ती नियमों एवं प्रबन्धों में अनेक सुधार करने पड़े। राजस्व सम्बन्धी अभियोगों की जाँच कर प्रतिवेदन उपस्थित करने का भार समाहर्त्ताओं को दिया गया। अभियोगों के शीघ्र निपटारे का प्रबन्ध किया गया। संयुक्त अथवा सहायक दण्डाधिकारियों की नियुक्ति १८१० ई० के रेगुलेशन के अन्तर्गत होने लगी। अभियोग उपस्थित करने के हेतु अभियोक्ता को शुल्क देने की व्यवस्था की गयी। निम्न न्यायालयों के अधिकार का विस्तार किया गया।

तिरहुत तथा पूर्णिया के जिलों में न्यायाधीश के कार्यालय से दण्डाधिकारी-विभाग को पृथक् कर दिया गया। लार्ड मोइरा ने ऐसा प्रस्ताव सभी स्थानों के लिए सर्वप्रथम १८१५ ई० में उपस्थित किया था। पीछे १८२१ ई० में उस मत का समर्थन थोमस मुनरो ने भी किया। तब उसकी कार्यान्विति हुई। कम्पनी के निदेशकों ने दण्डाधिकारी का दायित्व समाहर्त्ताओं को सौंपने के प्रस्ताव का समर्थन किया। इस प्रबन्ध से व्यय में कमी होती थी।

लॉर्ड कॉर्नवालिस ने दारोगों की नियुक्ति देहातों में सरकार की शक्ति-प्रदर्शनार्थ की थी। लॉर्ड मोइरा ने भी २ अक्टूबर, १८१८ ई० की एक बैठक में इसको स्वीकार किया था कि दारोगाओं की नियुक्ति दण्डाधिकारियों के हाथों को सबल बनाने के विचार से की गयी थी। दारोगाओं को वेतन कम मिलता था, किन्तु अधिकार का क्षेत्र उनका बहुत विशाल था। समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों से सहयोग प्राप्त करने के नाम पर उन लोगों ने अपने अधिकार का दुरुपयोग करना आरम्भ कर दिया। उनका आचार भ्रष्ट हो गया। इसको मिटाने के लिए गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल ने १८१७ ई० के रेगुलेशन २० के

अन्तर्गत नियम निर्धारित कर दारोगा के कर्त्तव्य एवं अधिकार की विस्तृत व्याख्या की। आरक्षियों के कर्त्तव्य पालन में मार्गदर्शन के हेतु प्रस्तुत सबसे पहली आचार-संहिता इसको माना जाता है। परन्तु इसके पश्चात् भी दारोगा जैसे निम्नवर्गीय आरक्षी-अधिकारियों की आचार-भ्रष्टता में कमी नहीं आयी। जनता उन्हें आतंक का अवतार ही समझती रही। दारोगाओं के ऊपर आवश्यकतानुसार किसी-किसी जिले अथवा प्रदेश के अंश के लिए १८३७ ई० के विधानानुसार आरक्षी अधीक्षक की नियुक्ति करने का अधिकार सरकार को प्राप्त हुआ। पश्चात् प्रत्येक जिले में एक आरक्षी अधीक्षक (सुपरिंटेण्डेण्ट) के अतिरिक्त प्रदेश के लिए इन्सपेक्टर जनरल एवं डिप्टी इन्सपेक्टर जनरल के पदों की सृष्टि १८६१ ई० के 'पुलिस रिफॉर्म' कानून के अन्तर्गत की गयी।

लार्ड विलियम बेन्टिक ने १८३५ ई० में गवर्नर-जनरल का पद ग्रहण किया। उसने कॉर्नवालिस द्वारा चालित शासन-पद्धति में अनेक सुधार किये। उसने भारतीयों को कतिपय न्याय एवं राजस्व सम्बन्धी उच्च पदों पर आसीन किया, तथा उनके अधिकार एवं वेतन में वृद्धि की। कार्यपालक विभाग में भी उसने १८४३ ई० के विधानानुसार हिन्दुस्तानियों के लिए डिप्टी मजिस्ट्रेट (उप दण्डाधिकारी) के पदों का सृजन किया। उसका ध्येय था प्रशासन-कार्य में शनैः-शनैः भारतीयों का प्रवेश कराना तथा उनकी सहायता एवं सद्भावना प्राप्त करना। लॉर्ड कॉर्नवालिस के सिद्धान्त से उसका सिद्धान्त पूर्णतया भिन्न एवं प्रतिकूल था, यद्यपि दोनों ही का ध्येय एक था, और वह था अंग्रेजी राज्य की नींव को भारत में दृढ़तम बनाना।

लॉर्ड कॉर्नवालिस के द्वारा भूमि की स्थायी बन्दोबस्ती के परिणामस्वरूप मुकदमेबाजी बहुत बढ़ गयी। अधिकार के प्रमाण-पत्रों के अभाव में जमीन पर स्वामित्व प्रमाणित करने के लिए विवादों में वृद्धि हुई। स्थायी बन्दोबस्ती ने भू-स्वामियों के अधिकार का विस्तार कर दिया। वे सब लगान में वृद्धि कर सकते थे। किन्तु कृषि-कार्य की उन्नति के हेतु बाँध, आहर, पोखर, जलभण्डार, कुएँ, नाले आदि बनवाने तथा उनकी मरम्मत एवं जीर्णोद्धार करने का दायित्व और भार कम्पनी के ऊपर था। शासन के हित में राजस्व में उत्तरोत्तर वृद्धि आवश्यक एवं हितकर थी। उसके लिए देश की कृषि को उन्नत करना परमावशक था। यह कार्य कृषि-कर्मियों के स्वार्थ की सम्यक् रक्षा किये बिना हो नहीं सकता था। इसके हेतु जमींदारों एवं रैयतों के भूमि-अधिकार सम्बन्धी प्रमाण-पत्रों का प्रस्तुत करना जरूरी जँचने लगा। जमीन किस कोटि की है, उसपर अधिकार किसका है, भूमि-कर उसपर अब तक कितना लगता आया है आदि को प्रमाण-पत्रों में ही सही-सही अंकित करने के हेतु भूमि की माप (सर्वे) कराने की आवश्यकता दृष्टिगोचर हुई। इसके लिए बिहार प्रदेश का धाकबस्त सर्वे १८४३-४९ ई० में किया गया। उसके द्वारा मिथिला की भूमि की माप की गयी तथा तदनुसार उस पर स्वत्वाधिकारियों के अधिकार का प्रमाण-पत्र प्रस्तुत किया गया। बंगाल और बिहार में स्थायी बन्दोबस्ती से उत्पन्न कठिनाइयों का ध्यान कर और स्थानों में उस पद्धति की कार्यान्विति स्थगित कर दी गयी। उससे शासन को भी आर्थिक हानि होने लग गयी थी।

बिहार प्रदेश को १८२९ ई० के प्रबन्धानुसार तीन प्रमंडलों में विभक्त किया गया।

उनमें सर्वप्रथम सारन-सरकार का प्रमंडल बना था जिसके अन्दर सारन, चम्पारन, शाहाबाद तथा तिरहुत के जिले थे । उस काल मुंगेर एवं पूर्णियाँ भागलपुर प्रमंडल में सम्मिलित थे । उसके पश्चात् सारन प्रमण्डल का अस्तित्व समाप्त कर सारन एवं शाहाबाद जिलों को पटना प्रमण्डल में मिला दिया गया, और तिरहुत को भागलपुर में सम्मिलित किया गया । किन्तु १८५५ ई० के प्रबन्धानुसार तिरहुत को भागलपुर से पृथक् कर उसको पटना के आयुक्त के अधीन कर दिया गया । यह प्रबन्ध १९०८ ई० तक रहा । उसी साल तिरहुत प्रमण्डल की सृष्टि की गयी और दरभंगा, मुजफ्फरपुर, सारन तथा चम्पारण जिलों को उसके समाविष्ट किया गया । प्रमण्डल के आयुक्त का कार्यालय मुजफ्फरपुर में रखना तय पाया ।

कम्पनी के शासन के अन्तिम चरण में नयी-नयी परिस्थितियाँ उपस्थित होने लगीं । उन सबों के व्यापार का एकाधिकार १८३३ ई० में समाप्त हो गया । अब उसका अस्तित्व भारत में व्यापारी-संस्थान के रूप में न रहकर ब्रिटिश सरकार की ओर से प्रशासन-निगम का हो गया । पर उसी साल के चार्टर ऐक्ट के अनुसार उन सबों को अपनी पूँजी भी ऊपर करनी थी । अत: उनकी सारी शक्ति उस काल मुख्यतया भारतीय राजस्व-राशि से अपनी सारी रकम निकालने में लग गयी थी । उस कारण से प्रशासन में सुधार का काम रुक गया । भारत में स्वतन्त्र व्यापारियों एवं क्रिश्चियन मिशनरियों का आगमन विशाल स्तर पर होना आरम्भ हुआ । अब उन्हें अपने-अपने कार्यों के लिए स्वतन्त्रता भी अधिक थी। अब तक कम्पनी के अधिकारी एवं सेवक भारतीयों के धार्मिक व्यवहार में निरपेक्ष रहे थे । परन्तु इसके बाद वे सब क्रिश्चियन धर्म का प्रचार खुल्लम-खुल्ला करने लगे । इतना ही नहीं, ऐसे कार्यों के करने में उनको स्वाभिमान का भी अनुभव होने लगा । नये आये हुए व्यापारियों की नीति के कारण देश के व्यापार में व्याघात पहुँचा तथा क्रिश्चियन मिशन के पादरियों की चाल-ढाल एवं कार्यवाहियों से जन-समुदाय के हृदय में आशंका का आविर्भाव होना आरम्भ हो गया । नवागन्तुक अंग्रजों की बढ़ती हुई साम्पत्तिक लूट तथा उनके भारतीय समाज पर धार्मिक और सांस्कृतिक आक्रमण ने देश की राजनीतिक स्थिति में हलचल, घबराहट एवं खलबली उत्पन्न कर दी । देशव्यापी राजनीतिक संघटन का उस काल में अभाव था । परिस्थिति ने जनता एवं सेना के हृदय में घोर असन्तोष को जन्म दिया । भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम, जिसको १८५७ ई० के 'सिपाही-विद्रोह' की संज्ञा अंग्रेज इतिहासकारों ने दी थी, की जड़ में उपर्युक्त कारण बहुत अंशों में काम कर रहे थे । अंगरेजों ने भारत के व्यापार तथा साम्राज्य को स्वायत्त करने के हेतु जिस नीति का अवलम्बन कर यहाँ अपने प्रभाव का विस्तार किया था, उससे स्वाभिमानी देश-प्रेमी भारतीयों के हृदय में क्षोभ तथा प्रतिशोध की भावना थी ही । भारत के अधिकांश नरेशों की स्वतन्त्रता का अपहरण हो चुका था। विदेशियों के अहर्निश शोषण के कारण देश दरिद्र हो गया था । साम्पत्तिक विषमता ने समाज के राजनीतिक वातावरण में विस्फोटक स्थिति उत्पन्न कर दी थी । अंगरेजी शासन के प्रति जनता के हृदय में प्रतिकूल भावना उत्पन्न हो गयी थी । वे उससे छुटकारा चाहते थे । कम्पनी की जमीन सम्बन्धी नीति से उस काल बड़े-बड़े सामन्तों एवं भू-स्वामियों के अधिकार और स्वार्थ में धक्का लगा था । उन सबों की भी सद्भावना अंगरेजों एवं अंगरेजी शासन के प्रति न थी । सबों के मानस में अन्तर्मुखी विद्रोहानल धधक रही थी, जिसकी ज्वाला देशव्यापी बनने के लिए समय की प्रतीक्षा मूक

भाव से उत्सुकता पूर्वक कर रही थी । इसका उल्लेख संक्षेप में आगे के परिच्छेद में किया जायगा ।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अस्तित्व भारतवर्ष में १८५८ ई० में समाप्त हो गया, तथा बंगाल, बिहार और उड़ीसा की उसकी दीवानी का भी अन्त उसके साथ ही हो गया और देश का शासन ब्रिटिश सरकार के अन्दर चला गया । कम्पनी के 'बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल' के स्थान में 'सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इण्डिया इन कौंसिल' के पद का सृजन हुआ । इस परिवर्त्तन के द्वारा शासनशक्ति एक के हाथ से दूसरे के हाथ में चली गयी, किन्तु भारत परतंत्र का परतंत्र ही बना रहा । उसपर से विदेशी अंगरेजों का शासन दूर नहीं हुआ । पर १८५७ ई० के स्वातन्त्र्य-संग्राम के अनुभव तथा अंगरेजों के स्वतन्त्र व्यापार के हानिप्रद परिणाम ने शासकों की शासन-व्यवस्था में किंचित् परिवर्तन लाया । उनके दृष्टिकोण में थोड़ा अन्तर आया । किन्तु ब्रिटिश शासन को भारत में सबल एवं सुदृढ़ बनाना तत्कालीन शासक और शासन का अन्तिम लक्ष्य था । इस कारण से युरोपियनों को इस देश में सुख-सुविधा के साथ रखने तथा उनकी संख्या में वृद्धि करने में ही ब्रिटिश सरकार का हित निहित था । अतः विदेशी पूँजी से देश में स्वतन्त्र व्यापार-व्यवसाय की व्यवस्था की गयी । विद्रोहोत्तर काल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अस्तित्व की समाप्ति के पश्चात अंगरेज प्लैनटरों की अनेक कोठियाँ बिहार में चलती रहीं । मिथिला में उस प्रकार की कोठियों का बाहुल्य था, जहाँ अंगरेज सुदूर देहातों में जाकर रहते थे और वहाँ अपना व्यवसाय चलाते थे । इन अंगरेजों को शासन का प्रश्रय प्राप्त था । शासक-जाति के होने के कारण शासित एवं शोषित भारतीयों पर उनका आंतक और रोब अत्यधिक था । वे सब अपने को भारत में ब्रिटिश शासन का मेरुदण्ड समझते थे । उनके अत्याचारों से गरीब प्रजा ऊब गयी थी । उसके मिथिला के चम्पारण-निवासी एक प्रतिनिधि ने १९१६ ई० में लखनऊ कांग्रेस के अधिवेशन के काल में वहाँ जाकर महात्मा मोहनदास करमचन्द गांधी से भेंट की तथा चम्पारण एवं उसके आस-पास के जिलों में निलहे कोठी वालों के अत्याचार-अनाचार एवं उत्पीड़न की कथा सुनायी । वे १९१७ ई० में पटना होते हुए मुजफ्फरपुर आये, और वहाँ से चम्पारण गये । उन्होंने भारत में सर्वप्रथम वहीं पर उत्पीड़कों से भिड़ने के नवीन अस्त्र सत्याग्रह का सफल प्रयोग कर पीड़ितों की उत्पीड़न से रक्षा की थी । इस अमोघ शस्त्र का सफल प्रयोग पीछे भारतीय स्वातन्त्र्य-समर में उनके नेतृत्व में किया गया, जिसके परिणामस्वरूप १९४७ ई० में भारतवर्ष विदेशियों के परतन्त्रता से मुक्त हुआ ।

अंगरेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का सूत्रपात एवं मिथिला

सत्रहवीं शताब्दी में पूर्वोत्तर भारत के बिहार प्रदेश में सूती एवं रेशमी वस्त्र का उत्पादन प्रचुर मात्रा में होता था । ईख एवं पोस्ते की खेती होती थी, जिनसे क्रमशः चीनी एवं अफीम तैयार किये जाते थे । लोनी मिट्टी से खारी नमक तथा कलमी शोरा बनते थे । कलमी शोरा का व्यवहार बारूद तैयार करने में किया जाता था । उपर्युक्त वस्तुओं का उत्पादन स्थानीय उपभोग तथा निर्यात के हेतु होता था । बाहर से व्यापारी इन उपकरणों को खरीदने के लिए वहाँ आते थे, और क्रीत सामग्रियों को अपने साथ बाहर ले जाते थे । इस प्रकार के व्यापार करने वालों में विदेशी वणिक भी थे । आरम्भ में विदेशी युरोपी

जातियों से बिहार के उत्तरी भाग मिथिला का सम्पर्क ऊपर अंकित वस्तुओं के व्यापार के कारण हुआ। उस काल का सम्बन्ध राजनीतिक नहीं था।

ऊर्द्धर्वाकिंत व्यापारिक सामग्रियों के उत्पादन का केन्द्र उत्तर एवं दक्षिण बिहार दोनों ही था। यातायात के हेतु वहाँ ऐसी बड़ी-बड़ी नदियाँ थीं, जिनका सम्बन्ध बंगाल की खाड़ी से था। इस कारण पश्चिमीय गोलार्द्ध के युरोप महाद्वीप के भिन्न-भिन्न देशों के पुरुषार्थी बनियों का ध्यान भारतवर्ष के उपर्युक्त भू-भाग की ओर आकृष्ट हुआ, और उन लोगों ने अपनी-अपनी व्यापारिक कोठियाँ सुविधाजनक स्थानों में यहाँ स्थापित की। इस प्रकार मिथिला की सीमा से संलग्न गंगा के दूसरे तट पर पटना में इंगलैंड की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने १६५७-५८ ई० में अपनी कोठी बनायी। हॉलैण्ड के डचों, डेनमार्क के डेनिशों तथा फ्रांस के फ्रेंचों (फ्रांसीसियों) ने भी अपनी व्यापारिक कोठियाँ उस नगर के भिन्न-भिन्न भागों में स्थापित कीं।

आरम्भ में वे सभी विशुद्ध व्यापार की भावना लेकर भारत के विभिन्न प्रदेशों में आये थे। उनका वह अभियान राजनीतिक नहीं था। किन्तु यहाँ पधारने पर उनको अनुभव हुआ कि भारतवर्ष का तात्कालिक वातावरण उन सबों के लिए यहाँ राजनीतिक सत्ता स्थापित कर लेने के हेतु पूर्णतया अनुकूल है। इसके हेतु वहाँ के सभी विदेशी अपनी अपनी सफलता के लिए सयत्न हुए। किन्तु उस होड़ में अंगरेज सफल हुए। फ्रेन्च, डेनिश तथा डच पीछे पड़ गये, जिसके कारण भिन्न-भिन्न थे।

इंगलैण्ड जैसे छोटे देश के एक व्यापारी-मंडल ने अपनी भूमि से हजारों मील की दूरी पर स्थित एक महान् देश पर आधिपत्य स्थापित कर लिया, जिसके निवासियों की वेष-भूषा, रहन-सहन, जाति-धर्म, भाषा एवं विचारधारा उन सबों से पूर्णतया भिन्न थी। अंगरेजों ने एक शताब्दी से अधिक तक यहाँ शासन भी किया। इसके मूल कारण की खोज करने पर वे अनेक प्रतीत होते हैं। भारत को विदेशियों की दासता की शृंखला में जकड़वाने का उत्तरदायित्व देश एवं देशवासियों की बहुकालव्यापी अनेक दुर्बलताओं के ऊपर है। शत्रुओं की शक्ति से इस देश का पराभव नहीं हुआ, इस तथ्य को स्वीकार करना पड़ेगा। यहाँ के राजनीतिज्ञों के चिन्तन में समग्र देश को 'एक राष्ट्र' मानने की भावना नहीं थी। राजाओं एवं महाराजाओं की राजनीतिक दृष्टि संकुचित थी। उसका सम्बन्ध अपने राज-वंश, राज्य एवं अपनी प्रजा से था। सारे भारत को एक राष्ट्र और अपने को उसका एक अंग वे नहीं समझते थे। सम्पूर्ण भारत की उन्नति में उनकी उन्नति, उसकी स्वतन्त्रता में उनकी स्वतन्त्रता एवं उसकी पराधीनता एवं अपकर्ष में उनकी पराधीनता और अपकर्ष निहित है, इसका भान उनको नहीं था। देश के किसी एक राज्य के आपत्ति-ग्रस्त होने पर अन्य राज्यों के अधीश्वरों को उसके लिए व्यग्रता तथा व्यापक दृष्टिकोण से सम्पूर्ण राष्ट्र पर उसके बुरे प्रभाव पड़ने की भावना नहीं होती थी। देश की जनता भी राजनीतिक आपत्ति-काल में जाति, धर्म एवं समाज का ध्यान कर कार्य करती थी। यहाँ के निवासी सम्पूर्ण देश को मातृभूमि न मानकर उसके एक सीमित भाग को, जिससे उनका समीप का सम्बन्ध होता था, आदर एवं प्रेम की दृष्टि से देखते थे और उसके लिए त्याग तथा बलिदान के लिए वे उद्यत होते थे। राजनीतिक दूरदर्शिता की कमी

सम्राटों एवं नरेशों में इतनी अधिक थी कि वे सब अपनी क्षुद्र स्वार्थ-सिद्धि के सामने विदेशियों से मैत्री करने के भावी राजनीतिक दुष्परिणाम के प्रति पूर्णतया अन्धे हो गये थे।

भारतीय बहादुर थे, इसमें सन्देह नहीं। पर अंगरेजों तथा भारत में अड्डा जमाने वाले अन्य प्रतीच्य विदेशियों के शस्त्रास्त्र आधुनिक थे। उनका सैनिक अनुशासन भी सम्मान्य तथा अनुकरणीय था। उनके पास जल-सेना थी। भारतवर्ष में अपनी जल-शक्ति के बल से ही वे साहस कर अर्थोपार्जन करने आये थे। भारत के भाग्य-विधाता तत्कालीन सम्राट् एवं नरेशों ने शक्तिशाली जल-सेना तैयार करने की ओर ध्यान नहीं दिया, जिससे आवश्यकता पड़ने पर युरोपवालों से सफल लोहा सामुद्रिक युद्ध में लिया जा सकता। भारतीय वैज्ञानिक एवं औद्यौगिक उन्नति में भी विदेशियों से पीछे रहे। आग्नेय अस्त्रों एवं अनुशासित सामूहिक आक्रमण के सामने बहादुर से बहादुर वीरों का डट कर सफलतापूर्वक शत्रु का सामना करना संभव नहीं हो सकता है। भारतीयों की उपर्युक्त दुर्बलताओं से अंगरेजों ने पूरा लाभ उठाया। उस राजनीतिक हौच-पौच में एक अखण्ड भारत-राष्ट्र का दृष्टिकोण उपस्थित कर निर्देश करने वाली कोई केन्द्रीय शक्ति भी यहाँ न थी। दिल्ली के मुगल-साम्राज्य की शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती जा रही थी। इससे भारत की राजनीतिक परिस्थिति बिगड़ कर धुँधली हो चुकी थी। देश का भावी स्वरूप अस्पष्ट था।

भारतवर्ष की तात्कालिक डँवाडोल राजनीतिक परिस्थिति से लाभ उठा कर युरोप की व्यापारी कम्पनियाँ अपने अपने स्वार्थ-साधन के हेतु भारतीय राजनीति में कूद पड़ीं। फ्रान्स एवं इंगलैण्ड के बीच युद्ध छिड़ चुका था। वह सात वर्षों तक चलता रहा। उस समर के परिणामस्वरूप अंगरेजों ने फ्रांसीसियों के भारतीय उपनिवेश चन्दन नगर पर, जो बंगाल में था, १७५७ ई० के मार्च के तीसरे सप्ताह में अधिकार कर लिया। बंगाल के नवयुवक नवाब शिराज-उद्-दौला के विरुद्ध भी भारतवर्ष की अंग्रेजी कंपनी के अधिकारियों ने षड्यन्त्र करना आरम्भ कर दिया। उन लोगों ने परिस्थिति ऐसी उत्पन्न कर दी जिससे बाध्य होकर नवाब को उन सबों की बात माननी पड़ी, और उसने कासिम बाजार के फ्रांसिसीयों की कोठी के मुख्य अधिकारी मिस्टर लौ को अपने दल-बल के साथ बंगाल छोड़ कर अन्यत्र चले जाने के लिए कहा। नवाब की आज्ञा मानकर मि० लौ ने १७५७ ई० के १६ अप्रैल को मुर्शिदाबाद से पटना के लिए प्रस्थान किया और भागलपुर होते हुए धीरे-धीरे वह पटना ३ जून को पहुँचा। बंगाल के नवाब का फ्रांसीसियों को बंगाल से निष्कासित करना तथा अंगरेजों का पक्ष लेना राजनीतिक दृष्टि से भयंकर भूल थी। उस काल राजा रामनारायण पटना का नायब सूबेदार था। वह बड़ा ही योग्य एवं राजनीतिज्ञ था। साथ ही अपने नवाब का वह राजभक्त एवं विश्वासी तथा हितचिन्तक था। उसने वहाँ पटना में मि० लौ का मैत्रीपूर्ण भाव से स्वागत किया तथा कोठी बनाने के लिए गंगा के किनारे सुन्दर स्थान दिया।

मीर जाफर नवाब शिराज-उद्-दौला का फूफा एवं सेनापति था, पर भीतर से वह उसका शत्रु था। उसने नवाब की गद्दी अपनाने के लिए अंगरेजों से मिलकर षड्यन्त्र किया। षड्यन्त्रकारियों की मन्त्रणा से नवाब और अंगरेजों के बीच युद्ध की परिस्थिति उत्पन्न की गयी। पलासी के मैदान में २३ जून, १७५७ ई० को दोनों पक्षों की सेनाएं समर

के लिए सन्नद्ध हुई । मीर जाफर अंगरेजों से मिला हुआ था ही । राजभक्त सेना के जवानों ने अंगरेजों को रण में छक्का छुड़ाना आरम्भ कर दिया । अंगरेज सेनापति को ऐसीं आशा न थी । उसने मीर जाफर को खबर दी, और परिस्थिति बिगड़ने का कारण पूछा । उसने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के हेतु ऐसे कुचक्र की शरण ली, जिससे समरांगण में नवाब की सेना का पराभव हुआ । बिना परिश्रम अंगरेज विजयी हुए । नवाब भी पलायन कर राजधानी पहुँचा । वहाँ सुरक्षा का कोई उपाय न पाकर वह घबड़ा गया । वहाँ से नदी के किनारे भगवान गोला पहुँचा । उस स्थान पर वह नौकारूढ़ हुआ, तथा जल-मार्ग से पटना के लिए रवाना हुआ । पटना का नायब सूबेदार राजा रामनारायण उसके कुल का परम विश्वासी एवं हितचिन्तक था । फ्रांसीसी व्यापारियों का प्रधान मि० जीन लौ उस काल पटना में ही था। उससे भी सहायता प्राप्त करने की उसे आशा थी । किन्तु राजमहल के निकट विद्रोहियों ने उसे पहचान लिया । वह पकड़ लिया गया । उस स्थान के शासक ने उसको मुर्शिदाबाद भेज दिया । मीर जाफर के पुत्र मीरन की आज्ञा से वहाँ उसका निर्दयता के साथ वध किया गया । मीर जाफर बंगाल की नवाबी मसनद पर अंगरेजों की सहायता से आसीन हुआ । पलासी के युद्ध के पश्चात् भारतीय में अंगरेजों का प्रभुत्व बढ़ गया ।

बंगाल में नवाब की मसनद मीर जाफर को मिल गयी सही, पर उस परिवर्त्तन से बिहार सन्तुष्ट न हो सका । वहाँ के राजनीतिज्ञों ने उस भयंकर भूल का स्वागत एवं समर्थन शीघ्र नहीं किया । पटना के सूबेदार राजा रामनारायण, राजा सुन्दरसिंह (टकारी के भूमिहार ब्राह्मण जमींदार), राजा पहलवान सिंह (भोजपुर, शाहाबाद के क्षत्रिय जमींदार), राजा विशुनसिंह (गया के सिरिस कुटुम्ब के जमींदार), कमगार खाँ (नरहत समई, पटना एवं गया जिले के जमींदार) आदि ने अपनी असन्तुष्टि प्रकट की । किन्तु राजा रामनारायण षड्यंत्रकारियों के विरुद्ध किसी प्रकार की साहसपूर्ण कार्यवाही करने में अक्षम रहे । राजा रामनारायण के विरुद्ध अलीवर्दी खाँ के विमाता-पुत्र मोहम्मद अमीन खाँ, जो मीर जाफर की प्रथम स्त्री का भ्राता भी था, मीर जाफर के ज्येष्ठ भ्राता मीर मुहम्मद काजिम तथा राजा रामनारायण के एक पदाधिकारी ने भी मिलकर षड्यन्त्र करना आरम्भ किया । उसमें नये नवाब का भी हाथ था । पर क्लाइव ने राजा रामनारायण की सुरक्षा का आश्वासन दिया । अतः मीर जाफर उस समय उसके विरुद्ध कार्यवाही करने से विमुख हुआ ।

इसके पश्चात् क्लाइव एवं मीर जाफर सेना के साथ पटना पहुँचे । वहाँ पर १७५८ ई० की २३ फरवरी को एक दरबार किया गया । उस दरबार में क्लाइव तथा अधिकांश स्थानीय अंगरेज अधिकारी सम्मिलित हुए । वहीं पर नये नवाब मीर जाफर ने अपने पुत्र मीरन को बिहार प्रान्त का शासक (सूबेदार) घोषित किया, तथा राजा रामनारायण को वहाँ का उप-शासक (नायब सूबेदार) नियुक्त किया । इस प्रबन्ध से राजा रामनारायण के अधिकार में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आयी । मीरन को नाम का शासक बनाया गया। केवल उसको पटना के राजकीय-कोष से एक निश्चित राशि निवृत्ति-वेतन के रूप में मिलने लगी । शासन एवं राजस्व का सारा उत्तरदायित्व राजा रामनारायण के ऊपर ही रहा । क्लाइव ने उस दरबार से अपने देशवासी अंगरेजों का भी हित-साधन किया । उत्तर एवं दक्षिण बिहार के कलमी शोरा के व्यापार पर अंग्रेजों का एकाधिकार उसने नवाब को

सहमत कर प्राप्त कर लिया। डचों ने इसका विरोध किया। पर उसकी कुछ सुनवाई नहीं हुई। क्लाइव ने वहीं पर भोजपुर के जवानों की एक सेना प्रस्तुत करने की घोषणा की। केवल कई सप्ताहों के अन्दर उसने उस अंचल के चुने हुए एक सहस्र स्वस्थ पहलवानों को सेना में भरती भी कर लिया।

मीर जाफर ने अंग्रेजों के साथ मिलकर षड्यन्त्र के द्वारा बंगाल के नवाब की गद्दी तो प्राप्त कर ली, पर उसके लिए वहाँ सुदृढ़ शासन स्थापित कर लेना असम्भव हो गया। सभी ओर अराजकता फैल गयी। शाहजादा अली गौहर ने १७५९ ई० में शाह आलम द्वितीय का विरुद धारण कर अपने को दिल्ली का बादशाह घोषित किया। उसने क्रमशः १७५९, १७६० तथा १७६१ ई० में तीन बार मीर जाफर के शासन के विरुद्ध बिहार पर चढ़ाई की। फ्रांसीसी प्रधान पदाधिकारी मि० जीन लौ तथा पहलवान सिंह, कामगार खाँ, सुन्दरसिंह आदि बिहार के जमींदारों से उसे सहायता प्राप्त हुई। पर तीनों बार युद्ध में उसका पराभव हुआ।

क्लाइव १७६० ई० के फरवरी महीने में भारत छोड़कर विलायत चला गया। उसकी जगह पर नया अंग्रेजी शासक वेंसिट्टार्ट नियुक्त हुआ। वह १७६० ई० के जुलाई महीने में भारत पहुँचा। बीच में ५ महीने की अवधि में हॉल वेल्ल ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रभारी शासक के रूप में वहाँ उस पद पर काम किया। उसके उद्योग से मीर जाफर को बंगाल के नवाब की गद्दी छोड़नी पड़ी। उसको अपने कुकृत्यों का बदला शीघ्र मिल गया। उसके पुत्र मीरन को भी प्रकृति ने क्षमा नहीं की वह बेतिया के निकट १७६० ई० के २२ जुलाई की रात्रि शिविरस्थ था। उसके ऊपर बिजली गिरी और उसकी ऐहलौकिक लीला वहीं पर समाप्त हो गयी।

मीर जाफर के बाद उसका जामाता मीर कासिम १७६० ई० के अक्टूबर महीने में बंगाल का नवाब बनाया गया। बादशाह शाह आलम द्वितीय इसके पूर्व दो बार बिहार पर असफल आक्रमण कर चुका था। उसने पुनः तीसरी बार १७६१ ई० में बिहार पर चढ़ाई की। किन्तु इस समय भी बिहार नगर से छः मील पश्चिम सुआँ नामक ग्राम के युद्ध में १५ जनवरी, १७६१ ई० के दिन कर्नल कर्नक के अधीन सेना के सामने उसे नत होना पड़ा, तथा वह बन्दी बना लिया गया। कर्नल कर्नक ने उसे गया से पटना लाकर वहाँ उसको किले में बन्द कर दिया, तथा उसके कृत्यों के विरुद्ध निर्णय लेने के हेतु उसने न्यायाधीश का आसन ग्रहण किया। वह नीतिज्ञ था। बादशाह को बन्दी बना कर भी उस समय उसने न तो उसका वध किया और न उसके साम्राज्य पर अधिकार करने की चेष्टा की। ऐसा करने से उस काल देश की जनता बिगड़ खड़ी होती। बादशाह को आतंकित कर उससे काम निकाल लेना उसकी नीति का सार था।

शाह आलम जिस समय पटना के कारागृह में बन्दी था, उसी समय मीर कासिम ने उसके समक्ष उपस्थित होकर अंगरेजों के षड्यन्त्र एवं कृपा से प्राप्त अपने नवाब-पद की शाही-स्वीकृति उससे प्राप्त कर ली। अंगरेजों ने बड़ी चतुरता से बंगाल और बिहार में की गयी अपनी अन्यायपूर्ण कार्यवाही को बादशाह की स्वीकृति इस प्रकार प्राप्त कर वैध प्रमाणित कर लिया। कर्नल कर्नक को द्वारा १२ मार्च, १७६१ ई० को कलकत्ता की सेलेक्ट

कमिटी के पास लिखे गये पत्र में बड़े अभिमान के साथ अंकित किया गया था कि अभागे बादशाह को इतना नत कर दिया गया है कि वह अब दया का पात्र है । उससे भय का कोई कारण नहीं है ।

नवाबी मसनद प्राप्त करने के शीघ्र पश्चात् मीर कासिम को पता चल गया कि अंगरेज शासन-कार्य में उसको अ[illegible]ने हाथ का खिलौना बनाना चाहते हैं । वह विचारशील व्यक्ति था । उसने शासन को सु[illegible] एवं सबल बनाने के हेतु तीन काम करना आवश्यक समझा-(१) सरकार की साम्पत्तिक अवस्था को उन्नत करना, (२) नये ढंग से सेना का संगठन कर उसकी शक्ति को बढ़ाना, तथा (३) उद्धत एवं अनुशासन-हीन सामन्तों का दमन करना ।

राजकीय-कोष को पूरा करने के विचार से उसने राज्य के कर्मचारियों को बकाया की चुकती शीघ्र करने का आदेश दिया । सैनिक-संगठन को सबल एवं शक्तिशाली बनाने के लिए अरमेनिया-निवासी गुरगिन खाँ को उसने प्रधान सेनापति नियुक्त कर पाश्चात्य-पद्धति के आदर्श पर सैन्य-संगठन करने की आज्ञा दी । उसने अंगरेज सिपाहियों तथा उनके पदाधिकारियों को सेना में भर्त्ती किया । शस्त्रास्त्रों को भी बढ़ाया । मुंगेर के कारखाने में बन्दूक तैयार करने का प्रबन्ध किया गया । मीर कासिम ने मुर्शिदाबाद से अपनी राजधानी का स्थानान्तरण मुंगेर में किया एवं नगर को सुदृढ़ प्राचीर से वेष्टित कर उसे सुरक्षित बनाया तथा अन्य प्रकार से भी उसको समुन्नत किया ।

सामन्तों को वश में करने के लिए भी उसने चरण उठाये । भोजपुर (शाहाबाद) के जमींदार उसके विश्वासपात्र नहीं थे । शासन के विरोध में उन सबों ने बार-बार अपना मस्तक ऊँचा किया था । उसने एक दिन अपने राज्य के बड़े-बड़े जमींदारों को राजधानी में उपस्थित होने का आदेश दिया । बुनियादसिंह एवं फतहसिंह ने उसकी आज्ञा का पालन किया । पर जब वे पटना पहुँचे तो उन दोनों को उसने कारागार में बन्द करवा दिया । कामगार खाँ, विशुनसिंह आदि अपनी जमींदारी से बाहर चले गये । भोजपुर के जमींदारों को वशवर्त्ती बनाने के विचार से उसने रौशन अली खाँ एवं सोमरू (जर्मन सैनिक पदाधिकारी) के नायकत्व में उन सबों के विरुद्ध सैनिक-अभियान किया । उसने स्वयं एक बड़ी सेना के साथ १७६१ ई० के नवम्बर महीने में भोजपुर के लिए प्रयाण किया । उसके वहाँ पहुँचने पर पहलवानसिंह एवं अन्यान्य जमींदारों ने गंगा पार कर गाजीपुर में काशी नरेश महाराज बलवन्तसिंह के राज्य में शरण ली । मीर कासिम ने शाहाबाद जिले पर अपना पूर्ण अधिकार स्थापित कर लिया तथा उसके शासन के हेतु पदाधिकारियों को नियुक्त किया । उसने बिहार की सीमा पर के राज्य बेतिया के विरुद्ध भी चढ़ाई कर वहाँ के राजा को नत किया तथा १७६२ ई० के मार्च के आरम्भ में राजा के दुर्ग पर अधिकार कर लिया ।

मीर कासिम ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सेवकों के व्यक्तिगत वाणिज्य-व्यवसाय में उनके द्वारा बरती जाने वाली अनीतिपूर्ण नीति का विरोध किया । उससे देशी व्यवसायियों को आर्थिक हानि उठानी पड़ती थी तथा शासन की आय में भारी कमी होने लगी थी । कम्पनी के व्यापार की वस्तुओं पर आयात एवं निर्यात-कर नहीं लगाने का आश्वासन शासन की ओर से कम्पनी को १७१६-१७ ई० में मिला था । कम्पनी के सेवकों के व्यापार

से उस आश्वासन का कोई सम्बन्ध नहीं था। किन्तु कम्पनी के सेवक एवं पदाधिकारीगण उक्त राजाज्ञा का दुरुपयोग करने लग गय थे। मीर कासिम का विरोध न्यायपूर्ण था। किन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी के स्वार्थभृत्य लोलुप पदाधिकारियों के स्वार्थ में उससे धक्का लगता था। इससे नवाब का वह विरोध उन्हें अप्रिय लगा और उसकी वे अवहेलना करने लगे। कलकत्ता के कौंसिल के अधिकांश सदस्य उसकी न्यायोचित माँग से असन्तुष्ट हो गये, और उसका घोर विरोध उन सबों ने किया। हेस्टिंग्स तथा वेन्स्टिटार्ट ने मध्यस्थता करने की चेष्टा की, पर उन्हें सफलता नहीं मिली।

पटना की अंगरेजी कोठी के प्रधान पदाधिकारी मिस्टर एल्लिस ने सबसे आगे बढ़ कर नवाब के अधिकारी का अतिक्रमण करने तथा जनता की दृष्टि में उसे नीचा दिखाने का प्रत्यक्ष कार्य करना आरम्भ किया। हेस्टिंग्स ने नवाब से भेंट की। उसने स्पष्ट रूप से उसे बताया कि अंगरेजों से उसे कोई द्वेष अथवा अमैत्री भाव नहीं है। मि० एल्लिस ने देश के वातावरण को दूषित कर दिया है। उसने उसके सामने उत्तेजनात्मक व्यवहार जनता के प्रति करके उसके अधिकार का अनादर तथा उसका व्यक्तिगत अपमान किया है। देश में एवं समाज में उसके कृत्यों के कारण अशान्ति उत्पन्न हो रही है। सम्पूर्ण हिन्दुस्तान में नवाब के शासन-स्वत्व एवं सत्ता की अप्रतिष्ठा हुई है। बिहार में विशेषकर उसने शासन-सूत्र के संचालन में प्रतिरोध उत्पन्न किया है। उसकी दशा वहाँ उसने शोचनीय कर दी है।

वेन्सिट्टार्ट विचारशील व्यक्ति था। उसने हेस्टिंग्स को साथ लेकर पुनः मध्यस्थता करने के विचार से मुंगेर की यात्रा नवाब से मिल कर बातें करने के हेतु की। नवाब के साथ इस विषय पर दोनों की बातें ३० अक्टूबर, १७६२ ई० को हुई। कम्पनी के नौकरों के व्यक्तिगत व्यापार के सम्बन्ध में कुछ शर्त्तों पर नवाब एवं वे दोनों सहमत हुए। परन्तु कौंसिल के और सदस्यों को वह मान्य नहीं हुआ। वे सब अपनी अनुचित माँगों पर अटल रहे, जिससे मेल-मिलाप की बात असम्भव हो गयी। परिस्थिति उत्तेजनापूर्ण हो गयी। स्थान-स्थान पर संघर्ष होना आरम्भ हो गया। अंगरेजों और मीर कासिम के बीच मैत्री न रही। दोनों के बीच स्पष्ट दरार पड़ गयी। अब अंगरेजों ने पुनः अपने पुराने षड्यन्त्रकारी मित्र मीरजाफर को बंगाल के नवाब के पद पर प्रतिष्ठित किया। वह उन सबों के हाथों की कठपुतली था। उसमें स्वाभिमान अथवा देश-प्रेम नहीं था। अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि के लिए वह सब कुछ करने के हेतु प्रस्तुत रहता था।

इधर अंगरेजों के साथ मीर कासिम का संघर्ष चलता रहा। उस स्वाभिमानी ने स्वार्थ-साधन के हेतु अपना मस्तक अंगरेजों की अन्यायपूर्ण माँगों के सामने नहीं झुकाया। पर देश का दुर्भाग्य था। उसके सभी साथियों ने हृदय से उसका साथ नहीं दिया, जिससे सफलता उसे नहीं मिली। राजमहल के निकट उदयीनाला के मैदान में मीर कासिम की सेना एवं अंगरेजी वाहिनी के बींच युद्ध हुआ। अंग्रेज उसमें विजयी हुए। वह संग्राम ५ सितम्बर, १७६३ ई० को हुआ था। अपनी सेना के रण-पराभव का समाचार उसे भागलपुर के निकट चम्पानगर में मिला। वहाँ से वह मुंगेर आया। वहाँ के किला के अंगरेज बन्दियों को उसने पटना भेज दिया। पीछे उसने स्वयं भी पटना के लिए प्रस्थान किया।

उदयी नाला की संग्राम-सफलता से विजयोन्मत्त होकर मेजर आडम्स के नायकत्व में अंगरेजी सेना ने मुंगेर पर धावा किया। मीर जाफर उन सबों के साथ था। उन लोगों ने १ अक्टूबर, १७६३ ई० को नवाब की राजधानी के दुर्ग पर आक्रमण किया, और उसपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। वहाँ के किलेदार ने अत्यल्प प्रतिरोध के पश्चात किले को शत्रुओं के हाथ समर्पित कर दिया। मुंगेर पर अधिकार हो जाने से अंगरेजों की राजनीतिक महत्ता एवं प्रभाव बढ़ गया। मीर कासिम को यह समाचार पटना में मिला। अंगरेजों के निर्दय, निष्ठुर एवं नृशंसतापूर्ण अत्याचारों का समाचार प्राप्त करने पर वह क्षुब्ध और उत्तेजित होकर हताश, हतज्ञान, किंकर्तव्यविमूढ़ एवं क्रोधोन्मत्त हो गया। उसी दशा में उसने पटना दुर्ग के सभी अंगरेज बन्दियों के वध करने की आज्ञा दी। उसकी आज्ञा का पालन किया गया। वहाँ कितने अंगरेजों की हत्या की गयी, इसका ठीक-ठाक पता नहीं बताया जा सकता है। कुछ लेखकों ने संख्या का अंकन वहुत बढ़ा-चढ़ा कर किया है जो विश्वसनीय नहीं है। नवाब का आदेश स्त्रियों और बच्चों की रक्षा करने का था। अतः उनका बालबाँका नहीं हुआ। किसी प्रकार का भी कष्ट उन्हें नहीं पहुँचा।

मेजर आडम्स एवं मेजर नौक्स के अधीन मुंगेर से अंगरेजी सेना २८ अक्टूबर, १७६३ ई० को पटना पहुँची। उन सबों ने ६ नवम्बर को किले पर आक्रमण कर उसे विनष्ट किया। मीर कासिम के भाग्य ने पलटा खाया। उसके अपने आदमियों ने उसके साथ विश्वासघात किया, और आपत्तिकाल में उसका साथ छोड़ दिया। उसके अनेक पदाधिकारी साधारण प्रलोभन पर शत्रुओं से मिल गये। मीर कासिम को ऐसी विकट परिस्थिति में रिपुओं का प्रतिरोध करना असम्भव जान पड़ा। उसने बिहार का परित्याग किया और अवध के लिए प्रस्थान किया। उसने अवध के नवाब शुजा-उद्-दौला से भेंट कर उससे अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता माँगी। दिल्ली के बादशाह आलम द्वितीय को भी मदद देने के लिए उसने सहमत किया। उसने शुजा-उद्-दौला को १७ लाख रुपये तथा शाह आलम को १० लाख रुपये युद्ध-व्यय के हेतु दिये। अब दिल्ली और अवध की सम्मिलित सैन्य-शक्ति के साथ उसने बिहार की ओर प्रस्थान किया। फ्रांसीसियों ने भी उसका साथ दिया। अवध और बिहार की सीमा पर इस संघ-सेना एवं अंगरेजों के बीच कई बार साधारण संघर्ष हुआ। पर उसका अन्तिम परिणाम कुछ न निकला। उस काल अंगरेजी सेना का नायक मेजर हेक्टर मुनरी था। उसने बड़ी सतर्कता एवं संलग्नता के साथ अपनी सेना को अनुशासित एवं सबल बनाया। इसके पश्चात् दोनों ही सेनाओं की मुठभेड़ बक्सर के निकटवर्त्ती एक गाँव के मैदान में २३ अक्टूबर, १७६४ ई० को हुई। इस समर में शुजा-उद्-दौला की करारी हार हुई। उसकी सेना का अन्तिम पतन ३ मई, १७६५ ई० को कोरा में हुआ। बक्सर के युद्ध के पूर्व शुजा-उद्-दौला ने शाह आलम द्वितीय को अपमानित किया था। अतः उससे क्षुब्ध होकर वह अंगरेजों से मिल गया था। मीर कासिम के पास जो कुछ बची बचायी सम्पत्ति थी वह सब समाप्त हो चुकी थी। मित्रों की अभ्यर्थना में तथा उनकी कृपा क्रय करने में वह अर्थहीन हो चुका था। उसपर भी साथियों ने उसका साथ छोड़ दिया। अपने गत विभव एवं राज्य की प्राप्ति के हेतु पुनः प्रयत्न करने के लिए उसके पास कोई साधन शेष नहीं रह गया। इससे सभी ओर से हताश होकर एवं अपने को निराश्रय पाकर वह दरिद्रावस्था में परिव्राजक की भाँति भ्रमण करता

हुआ घूम-घूम कर अपना जीवन व्यतीत करने लगा। कहा जाता है कि उसी अवस्था में उसकी मृत्यु १७७७ ई० में दिल्ली में हो गयी, और बंगाल, बिहार एवं उसके भाग मिथिला के उस काल का अन्तिम स्वतन्त्रचेता स्वाभिमानी शासक संसार से सदा के लिए कूच कर गया।

बक्सर के निकट हुए उस सत्यानाशी समर पर सारे भारतवर्ष का भाग्य निर्भर कर रहा था। वह संग्राम हुआ भी भयंकर एवं लोमहर्षक। अंगरेजों के लिए बक्सर की विजय का महत्त्व पलासी की विजय से अत्यधिक था, और भारतवासियों के हित में उतना ही घातक। पलासी में केवल एक बंगाल के नवाब की हार हुई थी, किन्तु बक्सर में उसके साथ-साथ अवध के शक्तिशाली शासक शुजा-उद्-दौला की शक्ति का अपचय हुआ, और सबसे बढ़कर भारत के तत्कालीन तथाकथित भाग्य-विधाता दिल्ली के सम्राट् शाह आलम द्वितीय का अपनी सम्राट्समुचित मर्यादा का अतिक्रमण कर एक तुच्छ विदेशी व्यापारियों के संघ की शक्ति का शरणापन्न होना दुःखद, लज्जास्पद एवं भारत राष्ट्र के लिए घातक हुआ। मि० रैमसेमूर का यह कथन सर्वतोभावेन सही है कि बक्सर की विजय ने बंगाल पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के लौह शृंखला को अन्तिम रूप से अति सुदृढ़ बना दिया। इसको सम्पूर्ण भारतवर्ष पर अंगरेजों की राजनीतिक विजय का सूत्रपात कहा जा सकता है। मिथिला तो उस काल बंगाल-राज्य का एक अंश मात्र था। अतः उसपर अंग्रेजों का नियन्त्रण एवं अधिकार हुआ ही।

बक्सर-संगम में विजयी होने के पश्चात् विजयोन्मत्त अंगरेजों ने चुनार के सुदृढ़ किले पर आक्रमण किया। वहाँ किले की रक्षा में नियुक्त सैनिकों ने अपने प्राणों की बाजी लगा कर अंगरेजों के बढ़ाव को रोका। प्रतिरोध कठिन था। विजय को सस्ता न पाकर वहाँ अंगरेजों ने फिर घृणित नीति का अवलम्बन किया। शाह मल्ल उस दुर्ग का किलेदार था। उसे प्रलोभन देकर उन सबों ने अपनी ओर किया। उसने दुर्ग शत्रुओं को समर्पित कर दिया। शक्ति-प्रयोग से जिस कार्य में सफलता न मिल सकी, उसका सोना ने सुगमता एवं सरलता से सम्पादन कर दिया। यह थी अंगरेजों की कूटनीति तथा उस काल के कतिपय स्वार्थपरायण लोलुप अर्थ-भृत्य देशवासियों की अदूरदर्शिता एवं अकर्त्तव्यशीलता का नमूना, जिसके कारण इस महान् देश को विदेशियों की परतन्त्रता की बेड़ी में चिरकाल तक जकड़ा रहना पड़ा।

मीर जाफर पटना तक अंगरेजी सेना के साथ आया था। उसने कर्मनाशा नदी की ओर प्रस्थान करने के पूर्व अपने भ्राता मीर मुहम्मद काजिम को बिहार का नायब सूबेदार नियुक्त किया। राजा रामनारायण के भाई राजा धीरजनारायण को उसने नये नायब सूबेदार का दीवान नियुक्त किया। वह १७६३ ई० के नवम्बर महीने से १७६५ ई० के सितम्बर महीने तक लगभग दो वर्ष दीवान के पद पर प्रतिष्ठित रहा। मीर जाफर की मृत्यु १७६५ ई० के फरवरी महीने में हुई। नज्म-उद्-दौला उसका उत्तराधिकारी हुआ।

क्लाइव ने मीर मुहम्मद काजिम खाँ को नायब सूबेदार के पद से १७६५ ई० में हटा कर उसे निवृत्ति-वेतन देने की व्यवस्था कर दी। उसके स्थान पर उसने राजा धीरज नारायण को बिहार का नायब सूबेदार नियुक्त किया। राजा सीताब राय को राजा धीरज

नारायण का दीवान बनाया गया। पश्चात् १७६६ ई० के आरम्भ में बिहार के शासन के हेतु एक परिषद् का संगठन किया गया, जिसके सदस्य था राजा धीरज नारायण, राजा सीताब राय तथा पटना के अंगरेजी कोठी के व्यवस्थापक सैमुएल मिडल्टन। परिषद् का अस्तित्व नाममात्र का था। सैमुएल मिडल्टन उसका सर्वेसर्वा था। उसका अधिकार अप्रमेय था। वह प्रशासन सम्बन्धी सभी व्यवस्थाओं का अधीक्षण करता था तथा अपनी इच्छा के अनुसार चालित करने का आदेश देता था। राजदरबार में फर्श पर रखी हुई बड़ी मसनद के सामने राजकीय आसन (कुर्सी) पर वह स्वयं आसीन होकर सगर्व बैठता था। बिछावन पर दो और गद्दियाँ रहती थीं। उनमें से एक पर राज़ा धीरजनारायण को बैठाया जाता था तथा दूसरे पर राजा सीताब राय को। इस प्रकार परिषद् के नाम पर सैमुएल मिडल्टन शासन कार्य की देखरेख तथा उसका संचालन करता था।

राजा सीताब राय क्लाइव का प्रियपात्र एवं विश्वासी था। अपनी चतुराई से उसने उसकी कृपा प्राप्त कर ली थी। राजा धीरजनारायण अपने अग्रज राजा रामनारायण के समान स्वामिभक्त एवं देश-प्रेमी अवश्य था, पर उसमें प्रशासनिक योग्यता उसके समान न थी। सेना के जवानों को पूरा-पूरा वेतन नहीं चुकाया जा सका था। अत: वे सब उसके हेतु हल्ला मचाते थे। बाधाओं के कारण प्रशासन-कार्य भी सुचारू रूप से नहीं चल रहा था। इसके हेतु उसको अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। अँगरेजी आदेश प्रशासन-प्रबन्ध के सम्बन्ध में प्राय: उसके पास भेजे जाते थे। पर वे सब बहुधा परस्पर-विरोधी होते थे। राजा सीताब राय का भी सच्चा सहयोग उसको प्राप्त नहीं था। परिस्थिति को सुलझाने की अपेक्षा उसे बिगाड़ने की चेष्टा उसकी अधिक होती थी जिससे उसका उत्तरदायित्व धीरजनारायण के माथे जाय। कलकत्ता से मुरलीधर को पटना धीरजनारायण की सहायता के हेतु भेजा गया। प्रशासन के कुछ विभागों का कार्य सम्पादन-भार भी उसको सौंपा गया था। साथ ही उसको गुप्तचर का काम भी करना था। उस मुरलीधर ने अपने को विश्वासघाती प्रमाणित किया। उसने राजा सीताब राय से मिलकर प्रशासन के गोपनीय तथ्यों को उसे बताना आरम्भ किया। सीताब राय ने मुरलीधर के सहयोग से धीरजनारायण के विरुद्ध अपना एक दल वहाँ कायम किया। वह उसका प्रतिद्वन्द्वी बन गया। जब १७६६ ई० में क्लाइव पटना आया तो सीताब राय ने उससे बंगाल के नायब नाजिम मुहम्मद रेजा खाँ को पटना भेज कर बिहार के राजस्व सम्बन्धी आय-व्यय की जाँच करवाने की मंत्रणा की। मुहम्मद रेजा खाँ ने आकर पूर्व मन्त्रणानुसार जाँच की और उसके अभिस्तावानुसार राजा धीरजनारायण को १७६६ ई० के सितम्बर महीने में कार्य-मुक्त कर उसके स्थान में राजा सीताब राय को बिहार के नायब नाजिम के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। बादशाह के अभिकर्त्ता का उसका पद मुनिर-उद्-दौला को मिला। यह मुनिर-उद्-दौला भिखना पहाड़ी नबाव कुल का संस्थापक था। उपर्युक्त प्रबन्ध से सम्पूर्ण बिहार के सैनिक एवं असैनिक प्रशासन पर अंगरेजों का पूर्ण अधिकार हो गया। उन सबों की आज्ञा एवं आदेश के विरुद्ध चूँ अथवा प्रतिवाद करने वाला शासन तन्त्र में कोई शेष नहीं रह गया। राजा रामनारायण जैसे विश्वासी राजभक्त, जिसने मिथिला में दरभंगा के महाराजा के विरुद्ध अली वर्दी खाँ के जमाने में उसके आदेशानुसार सैन्य संचालन किया था, का दु:खद अन्त षड्यन्त्रकारियों के षड्यन्त्र से पूर्व में ही हो चुका था। अनुश्रुतियाँ

बताती हैं कि जलक्रीड़ा-काल में जब काष्ठ-नौका के साथ राजा रामनारायण की जीवन-नौका शनैः-शनैः गंगा के गर्भस्थ होती जा रही थी, तो उस समय षड्यन्त्रकारियों में से किसी एक उसके पुराने साथी ने व्यंग्य में उससे कहा कि 'राजा साहब, आप तो शायर (कवि) भी हैं ?' इस पर राजा रामनारायण ने अनासक्त भाव से उत्तर दिया कि 'हाँ'। प्रश्नकर्त्ता ने उसके उस अन्तिम क्षण में अपने वज्रोपम हृदय का परिचय देते हुए तीन समस्याओं की पूर्ति करने का उससे अनुरोध किया, और वे समस्याएँ थीं– (१) सीती रहे, (२) पीती रहे, और (३) जीती रहे। कथा प्रचलित है कि राजा साहब ने उस कठिन घड़ी में भी उन समस्याओं की पूर्त्ति कर दी, जिससे उसके चरित्र एवं उस काल की परिस्थिति पर प्रकाश पड़ता है। उसने कण्ठगत प्राण होते-होते भी कहा–'चादरे तकदीर की हरगिज रफू होती नहीं। तो कयामत सोजनी तदबीर गर सीती रहे।' आदि।

बक्सर के युद्ध के पश्चात् शाह आलम द्वितीय ने अंगरेजों के साथ सन्धि करने के हेतु पत्राचार एवं वार्त्तालाप आरम्भ कर दिया। अंगरेजों ने भी उसको अपना खिलौना बनाकर उसके पद से लाभ उठाने का निश्चय किया। उसके बदले में उसके जीवन-निर्वाह के हेतु एक अच्छी रकम का प्रबन्ध करना आवश्यक था। इसके लिए अवध के नवाब शुजा-उद्-दौला के राज्य से भू-भाग निकाल कर उसको देने की बात उन लोगों ने तय की। लॉर्ड क्लाइव ३ मई, १७६५ ई० को अंगरेजी कम्पनी के शासक तथा परिषद् के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित होकर कलकत्ता गया। उसने इलाहाबाद (प्रयाग) जाकर ९ अगस्त को बादशाह से बातें कीं। दोनों के बीच वहाँ सन्धि हुई। उसके अनुसार इलाहाबाद एवं कोरा के दो जिले बादशाह को दिये गये। बंगाल के खजाने से प्रति वर्ष २६,००,००० (छबीस लाख) रुपये कर के रूप में उसको देने का निर्णय लिया गया। किन्तु इस निश्चित राशि में से २,००,००० (दो लाख) रूपयें मिरजा नजफ खाँ के लिए सुरक्षित रखने की बात तय पायी। बादशाह ने १२ एवं १९ अगस्त, १७६५ ई० के शाही फरमान के द्वारा अंगरेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी दी। इस प्रबन्ध के द्वारा उपर्युक्त तीनों प्रदेशों के सभी प्रकार के राजस्व पर अंगरेजों का वैधानिक अधिकार हो गया। राज्य के प्रशासन-व्यय के अतिरिक्त २६ लाख रुपये प्रति वर्ष दिल्ली के बादशाह को तथा ५३ लाख रुपये बंगाल के नवाब के निर्वाह के लिए देना निर्णीत हुआ। बादशाह एवं नवाब को मिलनेवाली वार्षिक राशि को उनका निवृत्ति-वेतन (पेन्शन) कहा जा सकता है; क्योंकि राज्य-शासन से उन दोनों का सीधा सम्पर्क समाप्त हो गया। उद्धर्वांकित तीनों सूबाओं का विशुद्ध रूप से स्वामी अब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी हो गये। षड्यन्त्र, खड्ग, जुआ-चोरी एवं उत्कोच के बल प्राप्त अंगरेजों के अवैधानिक अधिकार के ऊपर विवश बादशाह के उपर्युक्त फरमान ने वैधानिकता की मुहर लगा दी। बंगाल के नवाब और अँगरेजी कम्पनी के बीच २० फरवरी, १७६५ ई० को एक सन्धि हुई। उसके अनुसार नवाब ने अपनी सारी सेना तथा प्रशासन के सभी पदाधिकारियों पर से अपना शासनाधिकार हटाकर उन सबों को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधीन कर दिया। नवाब की स्वतन्त्रता उक्त प्रबन्ध के पश्चात् केवल दिखावट के लिए नाम मात्र की रह गयी। बंगाल, बिहार और उड़ीसा का असली स्वामित्व अब ईस्ट इण्डिया कम्पनी को प्राप्त हो गया। किन्तु इतने पर भी नीतिज्ञ क्लाइव ने कई कारणों से प्रशासन का सीधा उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लिया। वह भार नवाब के माथे पर ही रहने दिया।

मीर जाफर के दूसरी बार बंगाल की नवाबी मसनद पर आसीन होने के बाद से देश की राजनीति में अनेक परिवर्त्तन आरम्भ हो गये। नये पदाधिकारीगण प्रशासन व्यवस्था को सुदृढ़ करने में अक्षम रहे। पटना की अंगरेजी कोठी के प्रधान व्यवस्थापक मि० एल्लिस के स्थान में मि० विलियम विल्लियर्स का स्थानान्तरण हुआ। उस काल के राजनीतिक परिवर्त्तन के कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी के उक्त पदाधिकारी के पद का महत्त्व एवं प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया। पर मि० विलियम विल्लियर्स ने अपने ऊपर आये हुए दायित्व का उचित ढंग से निर्वाह नहीं किया। कर्मचारियों की अयोग्यता, दुर्बलता, स्वार्थपरता एवं लोभ के कारण प्रशासन में जघन्य एवं गर्हित बुराइयों का समावेश हो गया। बंगाल सूबे की दारुण, द्रावक एवं दुखदायी दुर्व्यवस्था और दुरवस्था से दुखित होकर क्लाइव जैसे व्यक्ति ने भी एक बार कहा था कि-'मैं तो यही कहूँगा कि इस प्रकार की अराजकता, हौच-पोच, उत्कोच, भ्रष्टाचार एवं लूट की बात बंगाल के अरिरिक्त अन्यत्र किसी देश में देखी अथवा सुनी नहीं गयी है। किसी ने कहीं भी इस प्रकार अन्याय एवं हिंसापूर्ण ढंग से इतनी अप्रमेय सम्पत्ति कभी उपार्जन नहीं की। बंगाल, बिहार और उड़ीसा की आय राजस्व से ३०,००,००० (तीस लाख) स्टरलिंग पाउण्ड की है। मीर जाफर के पुन: सूबेदार पद पर प्रतिष्ठित होने के काल से तीनों प्रदेशों की शासन व्यवस्था पूर्णतया कम्पनी के सेवकों के अधीन हो गयी है। उसका प्रभुत्व सैनिक एवं असैनिक दोनों ही विभागों के शासन-यंत्र पर है। परन्तु उन लोगों ने जिसके पास भी कुछ देने की शक्ति शेष है उस पर ऊपर से अलग कर बाँध कर प्रत्येक से बलपूर्वक रुपये वसूल किये हैं। नवाब से लेकर छोटे जमींदारों तक के साथ ऐसी कार्यवाही की गयी है। कोई इस प्रकार के अनाचार से मुक्त नहीं है'।

उपर्युक्त उल्लेख है एक ऐसे अंगरेज की उक्ति का सारांश जिसने स्वयं मीर जाफर से मिल कर षड्यन्त्र किया था तथा पलासी के युद्ध का श्रीगणेश करवा कर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बंगाल में शासन करने का मार्ग प्रशस्त बनाया था। किन्तु कम्पनी के नौकरों की अमर्यादित लूट तथा निरीहों पर अत्याचार उसे भी सह्य नहीं हुआ, और ऊब कर उसने ऊर्द्धवांकित बातें कही थीं। बंगाल, बिहार और उड़ीसा की प्रजा की दशा अंगरेजों के शासन के सूत्रपात के काल में क्या और कैसी थी, उसका पता उस कथन से स्पष्टतया चलता है। मिथिला बिहार का एक विशेष भाग था और आज भी है ही। इसलिए अंगरेजों के शोषण का शिकार उसको भी बनना पड़ा था। अंगरेजों की कोठियाँ दरभंगा, मुजफ्फरपुर, चम्पारण, मुंगेर आदि जिलों के अधिकांश स्थानों में बन गयी थी। उन कोठियों के द्वारा उनका व्यापार चलता था। पीछे उन सबों ने नील के उत्पादन का कार्य उन कोठियों के माध्यम से करना आरम्भ किया। नीलहे कोठीवालों का अत्याचार २०वीं शताब्दी के प्रथम चरण तक मिथिला की जनता को कम्पायमान करता था। देश में शासन विदेशी था। वह भी उन सबों के देशवासियों का। अत: उन्हें शासन का प्रश्रय प्राप्त था। महात्मा गाँधी को उन्हीं नील-कोठी वालों के अत्याचारों के उन्मूलन के हेतु सर्वप्रथम बिहार के चम्पारण जिले में पधार कर आन्दोलन करना पड़ा था, जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

चतुर्दश अध्याय

संस्कृत वाङ्मय एवं मिथिला

प्रमुखतया भारतवर्ष के आर्यों के आचार-विचार बोल-चाल, रहन-सहन एवं भाषा का ज्ञान हमें उनके प्रागैतिहासिक प्राचीनतम ग्रंथ वेदों से प्राप्त होता है। वेद चार हैं- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद। इनमें ऋग्वेद सबसे प्राचीन है तथा अथर्ववेद सबसे पश्चात् का। वेदों का अधिकांश भाग छन्दोबद्ध है, यद्यपि उनमें गद्यभाग भी प्राप्य हैं। वैदिक पद्य को ऋचा, गद्य को यजुष्, एवं गेय पद्य को साम कहा जाता है। इन्हीं तीन प्रकार के रूप के कारण प्रथम तीन वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद के नाम से विख्यात हुए और वेद को त्रयी संज्ञा प्राप्त हुई।

वेदों की ऋचाओं की रचना और उनके संकलन के बीच पर्याप्त समय लगा होगा, इसमें संदेह नहीं है। समय-समय पर आर्य ऋषि अपने हृदय के उच्छ्वासों को ऋचाओं के रूप में प्रकट करते रहे। ये ऋचाएँ आदि में असंकलित थीं। गुरु-मुख से श्रवण कर लोग उन्हें कण्ठस्थ करते थे। अतः उनका नामकरण श्रुति हुआ। पीछे चलकर अपनी धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं को सुरक्षित, सुव्यवस्थित तथा विशुद्ध बनाये रखने के विचार से आर्यों ने अपनी वैदिक ऋचाओं को संग्रहीत कर संकलित किया। इसी कारण वेद का नाम संहिता पड़ा, ऐसा प्रतीत होता है। वैदिक साहित्य में संहिता प्राचीन है। ब्राह्मण एवं आरण्यक पाश्चाद्वर्त्ती कृत्य हैं।

संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों की भाषा संस्कृत है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय आर्यों की भाषा आदि से ही संस्कृत रही है। उनकी बोल-चाल की भाषा संस्कृत थी तथा उनके संकलित धार्मिक ग्रंथ संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद आदि भी उसी भाषा में प्रणीत हुए थे।

सूक्तों अथवा मंत्रों के रचयिता ऋषि गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज तथा वशिष्ठ ऋषि बताये जाते हैं। मंत्र-रचयिता ऋषियों में कुछ स्त्रियों के नाम भी हैं। इस प्रकार की स्त्रियों में लोपामुद्रा, घोषा, शची, पौलोमी तथा काक्षावृत्ति आदि प्रमुख हैं। पर उपर्युक्त ऋषियों में से किसी का निवासस्थान मिथिला में था, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त नहीं है, ऐसा विचार अनेक मनीषियों का है।

उनका कहना है कि उत्तर वैदिक काल की साहित्यिक कृतियों, ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदों में पूर्वी भारत के मिथिला राज्य का बार-बार उल्लेख हुआ है। यहाँ के सम्राट् जनक अपनी विद्या एवं अध्यात्म ज्ञान के लिए दूर-दूर तक प्रख्यात थे। 'ऐतरेय आरण्यक' के एक अंश के आधार पर कतिपय विद्वानों ने अपना मत व्यक्त किया है कि आर्य उस काल तक उत्तर भारत के बंग (बंगाल) से परिचित हो चुके थे (ऐतरेय आरण्यक, २, १, १-इमाः प्रजा बंगा .....वगाधाः चेरपादा.......)।

ऋग्वेद में मिथिला के पड़ोस के जनपद कीकट (मगध) की चर्चा हुई है (ऋग्वेद-३/५३/१४)। उसके शासक का नाम प्रमगण्ड था। पश्चाद्वर्ती ग्रन्थ यास्क के

निरुक्त (६,३२) में कीकट की अनार्यों का जनपद बताया गया है। मिथिला का नाम ऋग्वेद संहिता में प्राप्त नहीं होता है । पूर्वी भारत की प्रसिद्ध नदी गंगा का नाम ऋग्वेद में कहीं-कहीं आया है । यमुना एवं सरयू के नामों की चर्चा वहाँ अत्यल्प हुई पायी जाती है । इसके विपरीत पंजाब प्रदेश की नदियों का उल्लेख एवं वर्णन प्रायः प्रचुरता से हुआ उस संहिता में पाया जाता है । उत्तर-कालिक वैदिक साहित्य में कोशल एवं विदेह जनपदों की चर्चा बार-बार हुई, पर ऋग्वेद में इसका अभाव दीखता है । इससे यह अनुमान होता है कि ऋग्वेद के संकलन काल तक आर्यों का विकास पंजाब प्रदेश तक ही सीमित था। उस परिधि से बहुत कम बाहर वे जा सके थे । विदेघ माथव के पुरोहित गौतम रहूगण एवं अग्नि वैश्वानर के साथ पूर्व की ओर अभियान करने के 'शतपथ ब्राह्मण' (१-४, १-१०) के आख्यान से भी उपर्युक्त अनुमान की सम्पुष्टि होती है । उसमें उल्लेख है कि राजा ने पूर्वी पंजाब की सरस्वती नदी के तट से अपने पुरोहित तथा यज्ञाग्नि के साथ पूर्व की ओर यात्रा की थी । अनेक नदियों को पार करते हुए वे बहुत दूर तक आगे बढ़ आये। किन्तु जब वे सब सदानीरा (नारायणी गण्डक अथवा शालिग्रामी) के किनारे पहुँचे तो अग्निदेव ने उसको पार करने में अपनी असहमति प्रकट की । पश्चात् (अर्थात् शतपथ ब्राह्मण के निर्माण काल में) उस नदी के पूर्वी तट पर आर्यों के बस्ती बसी, जिसका नामकरण विदेघ माथव के नाम पर विदेह पड़ा (आर० आर० दिवाकर; बिहार थ्रू दि एजेज पृ० ६४)।

उपर्युक्त आख्यान से यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्यों का वह अभियान ब्राह्मण-युग के पूर्व सदानीरा के तट पर प्रबल प्रतिरोध के कारण रुक गया था । उसके कुछ समय के पश्चात् वे उस नदी के पार उत्तर बिहार के विदेह जनपद (मिथिला) में प्रवेश कर वहाँ अपना पैर जमा सके थे । वह नदी उस काल कोशल एवं विदेह की मध्यवर्त्ती सीमा थी, जिसका उल्लेख पूर्व में प्रसंगवश किया जा चुका है ।

वैदिक युग के आरम्भ में केवल जनपद (मिथिला) में ही नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण बिहार में आर्यों का प्रवेश एवं निवास नहीं हो पाया था । वहाँ के रहने वालों को आर्य नीची दृष्टि से देखते थे और उनके प्रति उनके मानस में सम्मान एवं आदर नहीं था । बंग एवं मगध के निवासियों को बंदी ,चारण, भाँट, मागध, आदि बताकर उनको अपमान-सूचक शब्दों में सम्बोधित किया गया है । 'एतरेय ब्राह्मण' में उनके प्रति जो भाव व्यक्त किया गया है वह सम्मान-सूचक नहीं है । वगध से मगध (दक्षिण बिहार) का समीकरण होता है । 'अर्थर्ववेद संहिता' के एक मंत्र (श्लोक २२, १४) के द्वारा प्रार्थना की गयी है कि आर्यों को सताने वाले ज्वर-रोग को ईश्वर मगध एवं अंग देशवासियों के साथ-साथ अन्य लोगों के पास भेजें । यजुर्वेद में मगध के निवासियों को 'पुरुष-मेध' के शिकार की सूची में समाविष्ट किया गया । उन्हें 'व्रात्य' भी बताया गया है । इन निर्देशों तथा अन्यान्य से भी यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि ऋग्वेद संहिता के युग में केवल मिथिला ही नहीं, प्रत्युत सारा बिहार आर्य-संस्कृति की परिधि से परे था । उत्तर वैदिक ब्राह्मण एवं आरण्यक युग में शनैः-शनैः आर्यों का प्रवेश एवं निवास इधर के जनपदों में हुआ था । उनकी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार के अनुपात में संस्कृत साहित्य का भी प्रचार-प्रसार मिथिला एवं उसके आस-पास के प्रदेशों में आर्यों के पदार्पण के साथ-साथ आरम्भ हो गया,

जिसका विकास आगे चलकर सर्वतोभावेन अप्रत्याशित रूप में मिथिला में विशेषकर हुआ ।

किन्तु इस बात को कि ऋग्वैदिक काल में विदेह एवं कौशल जनपद का अस्तित्व नहीं था, अनेक विद्वान् नहीं मानते हैं । उनके मतानुसार ऋग्वेद के एक ऋषि का नाम नमी साप्य है । वे इस ऋषि को पौराणिक महाराज नमी अथवा नेमि वा निमि मानते हैं जो विदेहों के आदि-पुरुष बताये जाते हैं । ऋग्वेद के उपख्यानानुसार ऋषि नमी साप्य ने दस्युओं के सरदार नमुचि का वध किया था । इस विषय की विवेचना पुस्तक में पूर्व में 'प्राचीन साहित्य एवं मिथिला राज्य' शीर्षक के अन्तर्गत की जा चुकी है ।

वैदिक संस्कृति की लहर यद्यपि मिथिला में ऋग्वैदिक युग के उत्तर-काल में पहुँची, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आध्यात्मिक ज्ञान के क्षेत्र में इसका स्थान शीघ्र अति ऊँचा हो उठा । उपनिषदकाल में विदेह-राज जनक की राजसभा वैदिक ज्ञान के प्रचार-प्रसार का केन्द्र बन गई थी । मिथिला के राजा जनक एवं ऋषि याज्ञवल्क्य के ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश सम्पूर्ण उत्तर-भारत में फैल चुका था । ब्रह्म-विषयक ज्ञान की प्राप्ति के हेतु आर्य-सभ्यता के केन्द्र कुरु-पांचाल से भी अनेकानेक ऋषि जनक की राजसभा में समय-समय पर आकर उपस्थित होते थे । 'बृहदारण्यक उपनिषद्' तथा कुछ अंशों में 'शतपथब्राह्मण' भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि सारा उत्तर भारत किसी समय उपनिषद् ज्ञान तथा आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में मिथिला के विदेहों के नेतृत्व को स्वीकार करता था । महाभारत भी जनक की अध्यात्म-ज्ञान, उनके पंचशिख, सुलभा तथा अन्यान्यों के साथ हुए ज्ञान विज्ञान सम्बन्धी वार्त्तालाप तथा शुकदेव के प्रति ज्ञानोपदेश की चर्चा करता है । जनकों के बहुकाल-व्यापी यज्ञों का भी उल्लेख स्थान-स्थान पर प्राप्त होता है । इन सबों से यह सारांश निकलता है कि उपनिषद्-युग में वैदिक संस्कृति के विकास, प्रचार एवं प्रसार में मिथिला का हाथ अत्यधिक था । विदेह-राजसभा के दार्शनिक वाद-विवाद में विचार-स्वातन्त्र्य था। इन कारणों से पश्चाद्वर्ती-काल में बौद्ध एवं जैन दर्शन जैसे अनात्मवादी विचार का जन्म विदेह-भूमि के आस-पास में हुआ । इस प्रकार आध्यात्मिक जीवन एवं बौद्धिक विकास के क्षेत्र में इसने सम्पूर्ण भारत का नेतृत्व किसी काल में किया था ।

मिथिला में जनक (विदेह) कुल के शासनकाल में वैदिक साहित्य के साथ-साथ आर्यों के षट्दर्शन का विकास चरम सीमा तक पहुँच चुका था । विदेह-राजवंश के पतन के पश्चात् भी मिथिला शास्त्र-चर्चा में सदा अग्रगण्य ही रही । उसका पूर्व का संस्कार पूर्णरूप से अमिट बना रहा । आर्य हिन्दू-धर्म के दार्शनिक एवं बौद्धिक क्षेत्र में पश्चाद्वर्ती काल में मिथिला के मनीषियों ने गम्भीरता से विचार कर अपने सदुद्योग एवं लेखनी द्वारा ऐसे आश्चर्यजनक अमूल्य कार्य किये, जो हिन्दू-धर्म के इतिहास में सदा के लिए अमिट अक्षरों में बिना परिश्रम के स्वतः अद्यावधि अंकित है तथा भवष्यि में भी वे उसी रूप में बने रहेंगे ।

उपर्युक्त छः दर्शनों में विशेषकर 'न्याय एवं मीमांसा' के विकास के हेतु मिथिला की भूमि विशेष रूप से उर्वरा सिद्ध हुई । ये दोनों दर्शन यहाँ विशेष रूप से बद्धमूल हुए । 'प्राचीन-न्याय' के प्रवर्त्तक गौतम तथा 'नव्य-न्याय' के जनक पं० गणेश उपाध्याय, दोनों

ही मिथिला के ही सपूत थे । सम्भवतः भारतवर्ष के किसी भी प्रान्त को उतने नैयायिकों को उत्पन्न करने तथा उतने न्याय शास्त्र पर ग्रन्थ सृजन करने का कभी सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, जितना छोटा-सा जनपद मिथिला को हुआ है । उसी प्रकार मीमांसा-दर्शन की तीनों पद्धतियों का आविर्भाव एवं विकास मिथिला में ही हुआ । उत्तर एवं पूर्व मीमांसा के आदि प्रवर्त्तक क्रमशः व्यास एवं व्यास-शिष्य जैमिनि बताये जाते हैं । इनमें व्यास तो निश्चित रूप से मिथिला के निवासी नहीं थे ।

'मीमांसा शास्त्र' की तीनों प्रचलित पद्धतियों के जन्मदाता क्रमशः कुमारिल भट्ट, प्रभाकर 'गुरु' एवं मुरारि मिश्र थे । ये तीनों ही मिथिला की विभूति थे । मिथिला ब्राह्मण-धर्म का अभेद्य किला माना जाता था । ऐतिहासिक युग के आरम्भ से अनीश्वरवादी बौद्ध एवं जैन-धर्म का प्रभाव मिथिला के पड़ोसी प्रदेशों पद शीघ्रता से पड़ चुका था । उनका कभी आरोह होता था और कभी अवरोह । उन धर्मों के प्रभाव से मिथिला को बचाने के बौद्धिक अभियान में मीमांसा की तीनों पद्धतियों का उद्भव उपर्युक्त तीनों मनीषियों के उर्वर मस्तिष्क में हुआ, जो साकार होकर उनकी कृतियों के रूप में संसार के समक्ष पृथक्-पृथक् उपस्थित हुआ ।

ऊर्ध्वांकित महान् मीमांसकों एवं नैयायिकों का काल सातवीं एवं ग्यारहवीं शताब्दी के बीच था ऐसा इतिहास बताता है ।

यदि प्राचीन मिथिला को जनक, याज्ञवल्क्य एवं गौतम की जननी होने तथा अपने मेधावी पुत्रों के ज्ञान विज्ञान का गौरव है, तो ८वीं एवं १०वीं शतियों के मध्य की मिथिला को भी मण्डन मिश्र (८वीं), वाचस्पति मिश्र (९वीं शती) तथा उदयनाचार्य (१०वीं शती) जैसे सपूतों का कम गौरव नहीं है । इन विद्वानों के नाम भारतीय-दर्शन एवं तत्सम्बन्धी विचारधारा के इतिहास में अमर हो चुके हैं ।

न्याय

मिथिला में न्याय-दर्शन का उद्भव एवं संवर्द्धन अति प्राचीन काल में हुआ था । गौतम रहूगण का मिथिला में आगमन ब्राह्मण-युग में हुआ था, जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है । गौतम के पश्चात् के नैयायिकों में वात्स्यायन एवं उद्योतकर के नाम आते हैं । वात्सयायन ने 'न्याय-सूत्र' पर भाष्य प्रस्तुत किया था । ये भाष्य एवं उपभाष्य प्राचीन न्याय-शास्त्र के विषय में प्रामाण्य ग्रन्थ माने जाते हैं । उपर्युक्त दोनों नैयायिकों के बाद पं० वाचस्पति मिश्र का नाम आता है । इस महामनीषि ने वार्त्तिक में न्याय-शास्त्र में निहित विचारधारा का विस्तार किया और अनीश्वरवादियों एवं बौद्धों की समालोचनाओं के विरुद्ध अपने तर्कों के द्वारा उनका संरक्षण किया ।

पं० वाचस्पति मिश्र मिथिला के दरभंगा जिले के ठाढ़ी ग्राम के निवासी थे । उनके ग्रन्थ 'न्याय सूची निबन्ध' में ८९८ शकाब्द अंकित है । यदि इसे वि० स० मान लिया जाय तो उनका ज्ञातकाल ८४१ ई० समझा जायगा । इसके अनुसार उनका नवमी शताब्दी में होना सिद्ध होता है ।

मिथिला के ये सपूत वाचस्पति मिश्र षट्दर्शन के पारंगत विद्वान् थे । इस कारण उनको 'षड्दर्शन-वल्लभ' एवं 'सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र' की उपाधियाँ प्राप्त थीं । 'न्यायवार्तिक' पर उन्होंने अति विद्वत्तापूर्ण 'न्याय-वर्तिक-तात्पर्य-टीका' लिखी थी । इसके उपलक्ष्य में उन्हें 'तात्पर्याचार्य' का विरुद प्राप्त हुआ था । इस ग्रन्थ में उन्होंने दिग्नागाचार्य की विकट समालोचनाओं के विरुद्ध उद्योतकर के मत का प्रतिपादन किया था । 'शांकर-भाष्य' के ऊपर उनका उपभाष्य वेदान्त के वृत्त में अति उच्च स्थान रखता है । इस ग्रन्थ का नाम 'भामती-टीका' है । यह नाम उनकी अपत्यविहीना पत्नी भामती के स्मारक के रूप में पड़ा था । इस विद्वान् ने ईश्वरकृष्ण के सांख्य-दर्शन पर प्रसिद्ध ग्रंथ 'सांख्य-कारिका' पर 'सांख्य-तत्व-कौमुदी' नामक भाष्य लिखा था । सांख्य-साहित्य के क्षेत्र में यह प्रामाणिक ग्रन्थ का स्थान रखता है । मंडन मिश्र के 'विधि-विवेक' एवं 'ब्रह्म सिद्ध' पर भी उन्होंने भाष्य प्रस्तुत किये थे । उपर्युक्त 'विधिविवेक', की 'न्याय कणिका' तथा 'ब्रह्मसिद्धि', की व्याख्या 'ब्रह्म-तत्व-समीक्षा' नाम से प्रसिद्ध हैं ।

वाचस्पति मिश्र के काल के लगभग एक शताब्दी पश्चात् मिथिला के करियन ग्राम में न्याय-दर्शन के पारंगत एवं मर्मज्ञ विद्वान् उदयनाचार्य का आविर्भाव हुआ । करियन ग्राम दरभंगा नगर से १२ मील दक्षिण-पूर्व दिशा में है । ये महान् तार्किक थे । इन्होंने प्राचीन न्याय-दर्शन के सिद्धान्त को अपनी कुशाग्र बुद्धि से तर्कों के द्वारा अग्रसारित किया, तथा बौद्ध तार्किकों के विरोधी एवं आक्रामक तर्कों का बड़ी पटुता के साथ-साथ खण्डन किया था । उदयनाचार्य के ग्रन्थ 'लक्षणावली' में शकाब्द ९०६ अंकित हैं जो गणना करने पर ९८४ ई० होता है । यही उस विद्वान् का ज्ञात काल है ।

उदयनाचार्य द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में निम्नांकित मुख्य एवं विख्यात हैं :- (१) न्याय कुसुमांजलि, (२) तात्पर्यपरिशुद्धि, (३) आत्म-तत्व-विवेक, (४) किरणावली, (५) लक्षणावली एवं (६) न्यायपरिशिष्ट ।

'आत्म-तत्व-विवेक' में उदयनाचार्य ने बौद्ध-दार्शनिकों के अनात्मवाद का तर्कों द्वारा खण्डन कर आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन किया है । उसी प्रकार 'न्याय कुसुमांजलि' में ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया है ।

उदयनाचार्य कट्टर ईश्वरवादी थे । उनके सम्बन्ध में एक मनोहर कथानक जनश्रुति के रूप में प्रचलित है । उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के प्रयत्न में किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी, पर इतने पर भी प्रभु की दया-दृष्टि उन पर नहीं हुई । एक दिन आपत्तियों के चक्रव्यूह से ऊबकर दुःख संतप्त हृदय से उन्होंने ईश्वर को अधोऽकित शब्दों में सम्बोधित कर कहा–

" ऐश्वर्य-मद-मत्तोसि ममावज्ञाय वर्तसे ।
उपस्थितेषु बौद्धेषु ममाधीना तवस्थितिः"।।

अर्थात् 'हे ईश्वर ! तुम अपने ऐश्वर्य के मद से मत्त हो गये हो । इसी से तुम मेरी उपेक्षा करते हो । किन्तु स्मरण रखो कि यदि मेरा अस्तित्व तुम्हारे ऊपर निर्भर करता है तो बौद्धों के आघात-प्रहार के समय तुम्हारा अस्तित्व भी मेरे ऊपर ही निर्भर करता है ।'

नैयायिकों एवं बौद्ध तार्किकों के बीच बौद्धिक वाद-विवाद एवं संघर्ष की लम्बी कहानी है। नागार्जुन जैसे तर्कशास्त्र के बौद्ध विद्वान् ने गौतम के न्यायसूत्र की कटु समालोचना की थी। वात्स्यायन ने अपने 'न्याय भाष्य' के माध्यम से नागार्जुन की समालोचना का प्रतिकार किया था। बौद्ध दिङ्नागाचार्य ने वात्स्यायन द्वारा प्रतिपादित तर्क का खण्डन किया, किन्तु उद्योतकर ने अपने 'न्याय-वार्त्तिक' में उसके मत की विवेकपूर्ण समीक्षा कर उसका विरोध किया। फिर बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्त्ति ने उद्योतकर का विरोध किया, जिसका सम्यक् उत्तर 'न्याय-वार्त्तिक-तात्पर्य-टीका' में वाचस्पति मिश्र ने दिया। अनेक बौद्ध पंडितों ने वाचस्पति मिश्र की विचारधारा के विरोध में अपना-अपना मत प्रकट किया, परन्तु उदयनाचार्य ने उन सबों का खण्डन समुचित रूप से किया। इस प्रकार की समालोचनाओं एवं प्रति-समालोचनाओं के परिणामस्वरूप संस्कृत साहित्य में तर्कशास्त्र पर नैयायिकों एवं बौद्ध तार्किकों द्वारा अमूल्य ग्रंथ-रत्नों का सृजन हुआ। यह क्रम १० वीं शताब्दी के पश्चात् तक चालू रहा (आर० आर० दिवाकर : बिहार थ्रू दि एजेज, पृ० ३३६-३८)।

मीमांसा दर्शन

मिथिला में ८वीं शताब्दी में मीमांसा-दर्शन उन्नति के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ हो चुका था। यज्ञ एवं कर्म सम्बन्धी विधि-नियमों का संकलन एवं उनकी तार्किक विवेचना मीमांसा-दर्शन का प्रतिपाद्य विषय है। मिथिला में इसके उदय एवं विकास के पीछे भी एक मनोरंजक कथा है। बौद्ध धर्म का प्रचार एवं प्रसार वर्त्तमान दक्षिण एवं उत्तर बिहार तथा उससे संलग्न पड़ोसी प्रदेशों में शताब्दियों-पूर्व हो चुका था। प्राचीन सनातन ब्राह्मण-धर्म का कट्टर समर्थक एवं पक्षपाती मिथिला भी उसके प्रभाव से अछूता नहीं बच सका था। यद्यपि बौद्ध-धर्म ह्रासोन्मुख हो चला था, पर उसका अस्तित्व मिटा नहीं था और उसका प्रभाव जनगण के मन से पूर्णतया दूर नहीं हुआ था। बौद्ध सम्प्रदाय के सच्चे अनुयायी भिक्षु अब भी तथागत के बौद्ध-दर्शन के प्रचार में तल्लीन थे। वे उसके उत्थान के हेतु सिरतोड़ परिश्रम कर रहे थे। कर्मकाण्ड-प्रधान ब्राह्मण-धर्म उस काल सामान्यतः सर्वत्र वर्द्धनशील था। मिथिला में तो उसका किला ही था, जिसका विरोध बौद्ध विद्वानों के द्वारा अति सतर्कता के साथ यत्नपूर्वक किया जाता था। ठीक इसी समय प्रसिद्ध मीमांसक पंडित कुमारिल भट्ट बद्धपरिकर होकर मिथिला के धार्मिक एवं सामाजिक रंगमंच पर बौद्धों के विरोध तथा आघात से कर्मकाण्ड के सिद्धान्त की रक्षा के हेतु प्रकट हुए। उन्होंने अपने तीनों ग्रंथ 'श्लोक-वार्त्तिक', 'तन्त्र-वार्त्तिक' एवं 'टुप्टीका' में 'जैमिनीय सूत्र' के 'शाबरभाष्य' में प्रतिपादित मीमांसा-दृष्टिकोण का सबल समर्थन किया है।

कुमारिल भट्ट मिथिला की विभूति थे। इस तथ्य को प्रमाणित करने के हेतु प्रमाण की कमी नहीं है। 'शंकर-दिग्विजय' एक अति विश्वसनीय ग्रन्थ है। उसके प्रणेता हैं आनन्द गिरिजी। उन्होंने उस ग्रन्थ में मण्डन मिश्र को कुमारिल भट्ट का भागिनी-पति (बहनोई) लिखा है। मंडन मिश्र मिथिला के सहरसा जिले के महिषी (प्राचीन महिष्मती) ग्राम के निवासी थे। अतः कुमारिल भट्ट को उसके निकट के किसी गाँव का निवासी मानना ही पड़ेगा। बहुतों का विश्वास है कि कुमारिल भट्ट दरभंगा जिले के भट्टपुर ग्राम के रहने वाले थे। कुमारिल भट्ट मण्डन मिश्र के गुरु भी थे।

कुमारिल भट्ट के बाद प्रसिद्ध मीमांसकों में प्रथम नाम मण्डन मिश्र का आता है। वे अपने गुरु की भाँति ही वैदिक कर्मकांड के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने मीमांसा पर अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमें निम्नांकित चार अमर हैं। उनमें 'विधि विवेक' में वैदिक विधि-निषेध, 'भावनाविवेक' में वेदों के अर्थ पर और 'विभ्रमविवेक' में भूलों एवं त्रुटियों पर उन्होंने अपना निश्चित मत प्रकट किया है। 'मीमांसासूत्रानुक्रमाणी' में छन्दोबद्ध मीमांसा-सूत्रों का सारांश दिया गया है।

दक्षिण भारत के प्रसिद्ध अद्वैतवादी विद्वान् संन्यासी स्वामी शंकराचार्य ने मण्डन मिश्र की प्रसिद्धि से आकृष्ट होकर उनसे मिलकर शास्त्रार्थ करने के विचार से सुदूर स्थित बिहार राज्य के सहरसा जिले की प्राचीन महिष्मती (वर्त्तमान महिसी) ग्राम की यात्रा की थी। मंडन मिश्र का जन्म-स्थान वही महिष्मती वा महिष ग्राम था। उन दोनों विद्या-वारिधियों के बीच हुए शास्त्रार्थ का ज्ञातृत्व हमें आनन्द गिरि प्रणीत 'शंकर-दिग्विजय' से होता है। उस ग्रन्थ में मिथिलावासियों के उच्च बौद्धिक विकास की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है।

स्वामी शंकराचार्य अद्वैतवादी वेदान्ती थे तथा मंडन मिश्र मीमांसक। दोनों ही मनीषी दो विचारधाराओं के समर्थक एवं पक्षपाती थे। दोनों का विश्वास पृथक्-पृथक् दो दर्शनों पर था। दोनों के बीच उपर्युक्त महिसी ग्राम में मंडन मिश्र के आवास पर इतिहास-प्रसिद्ध वह शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। स्वामी शंकर वहाँ मंडन मिश्र के अतिथि थे।

मंडन मिश्र की विदुषी अर्द्धांगिनी का नाम सरस्वती था (आर० आर० दिवाकर : बिहार थ्रू दि एजेज, पृ० ३३९) कहीं-कहीं उनका नाम भारती भी अंकित मिलता है। कहा जाता है कि सरस्वती अथवा भारती प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट की भगिनी (बहन) थी। उस शास्त्रार्थ में विजय-पराजय की निर्णायिका मंडन मिश्र की स्त्री सरस्वती को बनाया गया। वह शास्त्रार्थ अबाध गति से महीनों तक चला। अंत में उस न्यायप्रिय विदुषी ने निर्णय स्वामी शंकर के पक्ष में दिया। मंडन मिश्र पराजित हुए।

किन्तु अबतक शंकर केवल मंडन मिश्र पर ही विजय प्राप्त कर सके थे। उनका आधा अंग अर्थात् उनकी अर्द्धांगिनी से शंकर का शास्त्रार्थ नहीं हुआ था। अतः उनसे शास्त्रार्थ करने हेतु वह अग्रसर हुईं। शंकराचार्य से कामशास्त्र विषयक कतिपय प्रश्न पूछे गये। वे बाल ब्रह्मचारी थे। उस विषय का ज्ञान उन्हें नहीं था। उन्होंने अपनी अनभिज्ञता प्रकट की तथा उसके शास्त्रीय अध्ययन के हेतु समय की याचना की। इससे यह सिद्ध होता है कि मिथिला के मीमांसक पर शंकर के वेदान्त की विजय महँगी पड़ी थी।

शंकराचार्य के साथ शास्त्रार्थ के पश्चात् मंडन मिश्र ने अति विद्वत्तापूर्ण एवं प्रसिद्ध ग्रंथ 'ब्रह्म-सिद्धि' तथा 'स्फोट-सिद्धि' का सृजन किया।

स्वामी शंकाराचार्य का काल ७८८ से ८२० ई० तक माना जाता है। मंडन मिश्र स्वामी शंकर के समकालीन थे, पर अवस्था में वे उनसे बड़े थे। इससे अनुमान किया जाता है कि पं० मंडन मिश्र का जन्म ८वीं शताब्दी में हुआ था और वे ९वीं शती में विद्यमान थे।

मीमांसा-दर्शन के क्षेत्र में 'गुरु पद्धति' के जनक पं० प्रभाकर थे । वे विद्वद्वर कुमारिल भट्ट के शिष्य एवं मंडन मिश्र के सहपाठी थे। कहा जाता है कि अपने विद्यार्थी-जीवन में ही एक दिन गुरुकुल में पाठाध्ययन करते समय उन्होंने पठित विषय का नये ढंग से विश्लेषण कर उसका पूर्णतया नव्य अर्थ एवं भाव व्यक्त किया । प्रवीणता के साथ श्लेषार्थ उपस्थित करने के कारण गुरु महोदय ने अपने उस तीक्ष्ण-बुद्धि शिष्य को सस्नेह 'गुरु' कहा, जिससे उनका उपनाम 'गुरु' हो गया । आगे चलकर कुमारिल भट्ट द्वारा प्रतिपादित मीमांसा-पद्धति को त्याग कर प्रभाकर ने नवीन मार्ग का अवलम्बन किया, जो कालान्तर में 'गुरु पद्धति' के नाम से प्रसिद्ध हुआ । प्रभाकर-पद्धति के पक्के अनुयायी एवं सच्चे समर्थक शालिकनाथ मिश्र हुए । उन्होंने प्रभाकर-विचारधारा का संपोषण कर यत्नपूर्वक अध्यवसाय एवं संलग्नता के साथ आगे बढ़ाया । शावर-भाष्य पर प्रभाकर ने दो विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखीं– (१) बृहती टीका तथा (२) लघ्वी टीका । इन टीकाओं के माध्यम से गुरु-पद्धति के सिद्धान्तों का उन्होंने मीमांसा-ज्ञान के पिपासुओं के बीच प्रसार एवं प्रचार किया ।

मुरारि मिश्र भी अति प्रसिद्ध मीमांसक हो गये हैं । उनके विषय में कहावत प्रसिद्ध है, यथा–'मुरोस्तृतीयः पंथाः' । इसका भाव है कि मुरारि का सबों से भिन्न अपना खास तीसरा मार्ग है, जिसका अवलम्बन उन्होंने किया है । किन्तु इससे अधिक उनके तथा उनकी कृतियों के विषय में इतिहास नहीं बताता है ।

कहा जाता है कि मिथिला के बहुसंख्यक मनीषियों ने मीमांसा-दर्शन को वहाँ सदियों तक जीवित रखा। उनके उद्योग से उस साहित्य की उन्नति पराकाष्ठा तक पहुँच गयी थी । कथा प्रसिद्ध है कि ओइनवार-राजकुल की रानी विश्वास देवी ने जब एक यज्ञ का अनुष्ठान किया था तो उसमें सम्मिलित होने के हेतु १४०० मीमांसक आमंत्रित किये गये थे ।

मिथिला के मीमांसकों ने अपने भाष्यों, उपभाष्यों तथा स्वतंत्र ग्रंथों की रचना संस्कृत वाङ्मय में की, जिससे संस्कृत साहित्य का भंडार समृद्ध हुआ ।

नव्य-न्याय

संस्कृत वाङ्यम के माध्यम से भिन्न-भिन्न आर्य-दर्शन एवं ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में प्राचीन मिथिला की देन की चर्चा पूर्व के पृष्ठों में संक्षेप में की जा चुकी है । मध्ययुगीन मिथिला के बौद्धिक विकास-कार्य, जो विशेषतया दार्शनिक विचार-क्षेत्र में हुए हैं, का उल्लेख यहाँ समास में किया जाता है । न्याय-दर्शन के प्रवर्त्तक ऋषि गौतम तथा पश्चाद्वर्ती नैयायिक वाचस्पति मिश्र एवं उदयनाचार्य का उल्लेख किया जा चुका है । वे सभी प्राचीन पद्धति के तर्कशास्त्र के पारंगत विद्वान थे । उनकी विचारधारा से किंचित् भिन्न मार्ग का अवलम्बन पश्चाद्वर्ती विद्वानों ने किया और उन्होंने 'नव्य-न्याय' का जन्म न्याय-दर्शन के क्षेत्र में किया । यह 'नव्य-न्याय' भी विशुद्ध भारतीय चिन्तन का परिणाम था, इसमें संदेह नहीं है ।

इतिहास इसका साक्ष्य देता है कि १३वीं एवं १६वीं शताब्दियों के बीच की मिथिला

की प्रसिद्धि बौद्धिक विकास के क्षेत्र में अत्यधिक हो चुकी थी। उसकी ख्याति संस्कृत-शिक्षा के केन्द्र के रूप में भी चतुर्दिक बनी हुई थी। भारत के भिन्न-भिन्न भागों से विद्यार्थी विद्याप्राप्ति के हेतु मिथिला पहुँचते थे। विशेषतया न्याय-दर्शन की उच्च शिक्षा प्राप्त करना उनका ध्येय होता था। बहुत अंशों में नालन्दा एवं विक्रमशिला विश्वविद्यालयों का स्थान उस काल मिथिला ने प्राप्त कर लिया था। उसका सम्मान एवं प्रतिष्ठा उन्हीं विश्वविद्यालयों के समान थी।

पूरी तेरहवीं तथा चौदेहवीं शती के प्रथम चरण के लगभग अन्त तक मिथिला पर कर्णाट क्षत्रिय-राजवंश का सार्वभौम स्वतन्त्र शासन था। पीछे ओइनवार ब्राह्मण राजकुल का अधिकार वहाँ दिल्ली के मुसलमान बादशाह की छत्र-छाया में हुआ। किन्तु मुसलिम-विजय के पश्चात् दर्शन के क्षेत्र में मिथिला के बौद्धिक विकास का ह्रास १६वीं शताब्दी तक नहीं हुआ। वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। साहित्य के लिए वह मिथिला का स्वर्णयुग था।

दरभंगा जिले के मधुवनी अनुमण्डल नगर के अति सन्निकट मँगरौनी ग्राम है। वहीं पर १३वीं शताब्दी में पं० गंगेश उपाध्याय का आविर्भाव हुआ था। वे उच्चकोटि के नैयायिक थे और उन्होंने ने ही मिथिला की 'नव्य-न्याय-पद्धति' का जन्म दिया। उनके ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' ने भारतीय न्याय-दर्शन के चिन्तन के क्षेत्र में एक नया मोड़ उपस्थित किया। उस ग्रन्थ का लघु नाम 'मणि' पड़ा, जिसका शाब्दिक अर्थ 'रत्न' होता है। कहा जाता है कि गंगेश उपाध्याय ने अपना विद्यालय दरभंगा से १२ मील दक्षिण-पूर्व दिशा में स्थित करियन ग्राम में स्थापित किया था।

गंगेश उपाध्याय ने न्याय-दर्शन की प्राचीन प्रचलित धारा को मोड़कर उसे नया मार्गदर्शन कराया। पदार्थ-विवेचन के स्थान में प्रमाण-विवेचन पर विशेष बल दिया गया। किसी वस्तु की पूर्णतया जाँच कर अन्तिम निष्कर्ष के हेतु चार प्रमाणों को कसौटी एवं आधार बनाना आवश्यक समझा गया और वे चार प्रमाण थे– (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान एवं (४) शब्द। अनुमान के सूक्ष्मतम कलापूर्ण तर्क-वितर्क पर ध्यान अवलम्बित किया गया तथा उसके आधार व्याप्ति की कड़ी समीक्षा और परीक्षा की पद्धति को अपनाया गया। तर्क-शास्त्र में अनुगमन का सिद्धान्त आज भी अति कठिन प्रतीत होता है। गंगेश उपाध्याय ने इसकी सूक्ष्म परीक्षा की। इस दिशा में उनका ध्यान पश्चिमीय तर्कशास्त्र के विद्वानों की अपेक्षा बहुत पूर्व आकुष्ट हुआ था, इनमें सन्देह नहीं है।

'तत्त्व-चिन्तामणि' में तर्क सम्बन्धी निहित नयी विचारधारा ने तार्किकों के मानस में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। पश्चाद्वर्त्ती तत्त्व-चिन्तकों के मस्तिष्क पर इसका प्रभाव पीछे आने वाली कई शताब्दियों तक बना रहा। विद्वानों की परम्परा इस निगूढ़ उलझन को समझने और समझाने की चेष्टा में सदियों तक लगी रही। उपर्युक्त ग्रन्थ पर अनेक भाष्य, उपभाष्य एवं समालोचनात्मक बृहद् टीकाएँ लिखी गयीं। इससे इन ३०० वर्षों की अवधि में मूल ग्रन्थ से सम्बन्धित नानाग्रन्थरत्नों से परिपूर्ण विशाल साहित्य-भण्डार प्रस्तुत हो गया। बुद्धिजीवियों के वृत्त में 'तत्त्व-चिन्तामणि' से बढ़कर कोई दूसरा ग्रन्थ सर्वप्रिय नहीं हो सका।

गंगेश उपाध्याय के पश्चात् मिथिला के प्रसिद्ध नैयायिकों में वर्द्धमान उपाध्याय, पक्षधर मिश्र, वासुदेव मिश्र, शंकर मिश्र, वाचस्पति मिश्र (द्वितीय), भगीरथ ठाकुर, महेश ठाकुर आदि के नाम आते हैं । इनके अतिरिक्त भी मिथिला में नैयायिकों की संख्या अनन्त रही है, जिनके नाम एवं कार्य का उल्लेख कठित ही नहीं वरन् असम्भव भी है ।

वर्द्धमान उपाध्याय गंगेश उपाध्याय के पुत्र थे । अतः वे भी मँगरौनी ग्राम के निवासी थे । उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ निम्नांकित हैं:– (१) तत्त्व-चिन्तामणि-प्रकाश, (२) न्याय-निबन्ध-प्रकाश, (३) न्याय-परिशिष्ट-प्रकाश, (४) किरणावली-प्रकाश, (५) न्याय-कुसुमांजलि-प्रकाश, (६) न्याय-लीलावती-प्रकाश, (७) खण्डन-खाद्य-प्रकाश । 'खण्डन-खाद्य-प्रकाश' वेदान्त विषयक ग्रन्थ है । यह श्रीहर्ष के 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' पर भाष्य-ग्रन्थ प्रस्तुत किया गया था । विजयनगर के माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'सर्व-दर्शन-संग्रह' में पं० वर्द्धमान उपाध्याय की चर्चा की है । इससे उनकी महत्ता पर प्रकाश पड़ता है ।

पक्षधर मिश्र दरभंगा जिले के मनीगाछी के निकटवर्त्ती पाहीटोल-सरसो ग्राम के निवासी थे । उनका जन्म एक प्रतिष्ठित विशिष्ट श्रोत्रिय ब्राह्मण-परिवार में हुआ था । मिथिला के ओइनवार-वंश के राजा भैरवसिंह देव की राजसभा के पंडितों में से वे एक थे । वे मिथिला के प्रसिद्ध महाकवि विद्यापति ठाकुर के समकालीन थे । उनका समय १५वीं शताब्दी है । पक्षधर मिश्र उनका नाम नहीं था । उनका प्रकृत नाम जयदेव था । किसी भी विषय पर लगातार एक पक्ष तक तर्कपूर्ण वाद-विवाद करने की शक्ति उनमें थी, और जिस पक्ष को वे ग्रहण करते थे, उसको अपनी बुद्धिमत्ता एवं तर्क-शक्ति से प्रमाणित करके ही दम लेते थे । इसी कारण उनकी उपाधि पक्षधर हुई, जो उनके नाम का पीछे चलकर पर्याय बन गया । उन्होंने 'विष्णु-पुराण' की प्रतिलिपि तालपत्रों पर उतारी थी । उस पांडुलिपि में जो शब्द अंकित हैं, उससे उनका ज्ञात काल १४५२ ई० प्रमाणित होता है । पक्षधर मिश्र द्वारा रचित मुख्य ग्रन्थों के नाम हैं–(१) 'तत्त्व-चिन्तामणि-आलोक', (२) 'द्रव्य-पदार्थ' तथा (३) 'लीलावती-विवेक'। 'तत्त्व-चिन्तामणि-आलोक' का संक्षिप्त नाम 'आलोक' है ।

वासुदेव मिश्र भी पक्षधर मिश्र के शिष्यों में से एक थे। उनकी मुख्य कृतियों में 'तत्त्व-चिन्तामणि-प्रकाश' एवं 'न्याय-कुसुमांजलि-प्रकाश-मकरन्द' के नाम उल्लेखनीय हैं ।

शंकर मिश्र भी दरभंगा जिले के पाहीटोल सरसो ग्राम के निवासी थे । उनके पिता का नाम आयाची मिश्र था । वे बचपन से ही कुशाग्र-बुद्धि थे । उनकी प्रतिभा अद्वितीय थी । उन्होंने न्याय शास्त्र एवं वेदान्त पर ग्रन्थों की रचना की । उनके द्वारा प्रणीत मुख्य ज्ञात ग्रन्थों की संख्या ८ हैं, जिनमें– (१) 'तत्त्व-चिन्तामणि-मयूख' (२) 'वैशेषिक उपर', (३) 'भेदरत्न-प्रकाश' तथा (४) 'अभेदधिक्कार' प्रधान एवं सर्व-प्रसिद्ध हैं ।

कहा जाता है कि वाचपति मिश्र (द्वितीय) ने दर्शन-शास्त्र पर १० ग्रन्थ लिखे थे, जिनमें निम्नांकित सम्प्रति प्राप्य हैं :– (१) 'अनुमान-खण्ड-टीका', (२) 'न्याय-सूत्रोद्धार', तथा (३) 'खण्डन-खण्डोद्धार' । इनको अभिनव वाचस्पति मिश्र भी कहा जाता था । इन्होंने स्मृति पर भी ग्रन्थों की रचना की थी । इस कारण से भी इनकी प्रसिद्धि अधिक हुई थी ।

भगीरथ ठाकुर का दूसरा नाम मेघ था। वे खण्डवला राजवंश के संस्थापक महेश ठाकुर के भ्राता थे। इनका जन्म दरभंगा जिले के भउर ग्राम में हुआ था। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों में मुख्य ग्रंथों के नाम हैं:– (१) 'कुसुमांजलि-प्रकाश-प्रकाशिका', (२) 'किरणावलि-प्रकाश-प्रकाशिका', (३) 'लीलावती-प्रकाश-व्याख्या'। उनका अंतिम ग्रन्थ 'लीलावती-प्रकाश-व्याख्या' न्याय-दर्शन पर लिखा गया था।

महेश ठाकुर का जन्म दरभंगा जिला नगर से १७ मील उत्तर-पूर्व दिशास्थित भउर ग्राम के खण्डवला ब्राह्मण-वंश में हुआ था। ये मिथिला में खण्डवला-राजकुल के संस्थापक तथा दरभंगा के महाराजाओं के पूर्वज थे। पक्षधर मिश्र प्रणीत 'तत्त्व-चिन्तामणि-आलोक' पर इन्होंने 'तत्त्व-दर्पण' नामक भाष्य प्रस्तुत किया था। इसका स्थान प्रामाणिक ग्रन्थों में है। इस ग्रंथ का प्रमाण सर्वमान्य समझा जाता है।

मिथिला की देन नव-न्याय पद्धति के कतिपय विद्वानों के ऊपर अंकित किये गये हैं तथा संक्षेप में उनका तथा उनकी कृतियों का परिचय देकर बताया गया है कि सत्यतः वे सब अपने समय के न्याय-दर्शन-गगन के पीयूषवर्षी विमल विधु थे, जिसकी ज्ञान-किरणों की ज्योत्स्ना प्राप्त कर संसार मुग्ध और आनन्द-विभोर हो रहा था। वे सब अपनी सूक्ष्मतम तार्किक बुद्धि के बल किसी तथ्य के मूल तत्त्व को जानने तथा ग्रहण करने के हेतु बाल की खाल निकाल कर यथार्थता की ओर अग्रसर होने में सक्षम एवं सफल हुए थे। तर्क द्वारा तत्त्व के यथार्थ मूल का पता लगाने के हेतु नव्य-न्याय पद्धति के अनुयायी उसकी अवच्छेदकता, प्रकारता, अनुयोगिता, प्रतियोगिता आदि पर विचार कर अन्तिम निर्णय पर पहुँचते थे। आगे चलकर अचिर यह परिपाटी भारतव्यापी हो गयी और बौद्धिक वाद-विवाद चक्र की धुरी बन गयी।

मिथिला की नव्य-न्याय पद्धति लगभग तीन शताब्दियों तक उन्नितिशील रही। पं० शंकर मिश्र एवं अभिनव वाचस्पति मिश्र इस पद्धति के अंतिम समर्थकों में से थे। उनकी प्रतिभा का उनके पश्चात् नव्य-न्याय पद्धति का सबल समर्थक कोई दूसरा आगे नहीं आया। मिथिला में न्याय दर्शन का सूर्य अस्ताचलगामी हुआ। शीघ्र पीछे उसका उदय बंगाल के नवद्वीप में मिथिला के प्रख्यात पं० पक्षधर मिश्र के मेधावी बंगाली शिष्य वसुदेव सार्वभौम एवं रघुनाथ तर्कशिरोमणि के सक्रिय उद्योग से हुआ।

इस परिवर्त्तन के पश्चात् भी मिथिला के कुछ ऐसे नैयायिकों का पता इतिहास बताता है जिन्होंने मिथिला में न्याय के दीप को अखण्ड रूप से प्रज्वलित रखने के हेतु भरपूर चेष्टा एवं प्रयत्न किया। ऐसे विद्वानों में गोवर्धन मिश्र, देवनाथ ठाकुर, तथा मधूसूदन ठाकुर के नाम आते हैं, जिन्होंने क्रमशः 'न्याय-बोधिनी', 'तत्त्व-चिन्तामणि-आलोक परिशिष्ट', तथा 'तत्त्व-चिन्तामणि-आलोक-कंटकोद्धार' नामक ग्रन्थों का सृजन किया।

यह संतोष का विषय है कि १५वीं एवं १६वीं शतियों में मिथिला की महिलाओं ने भी दर्शन-ज्ञान के क्षेत्र में अनोखा कार्य किया। अपने हाथों में लेखनी लेकर उन्होंने निगूढ़ दर्शन पर सुन्दर ग्रन्थों की रचना की। राजा चन्द्रसिंह की रानी लखिमा देवी ने न्याय-वैशेषिक पर 'पदार्थचन्द्र' नामक भाष्य का प्रणयन किया। इस कार्य के सम्पादन के हेतु उसे अपने गुरु मिसरू मिश्र से प्रेरणा मिली थी। उस युग की अन्य विदुषी नारियों

में राजा शिवसिंहदेव की स्त्री रानी लखिमा देवी, राजा पद्म सिंह की भार्या रानी विश्वास देवी, तथा महाकवि विद्यापति ठाकुर की पुत्र-वधू चन्द्रकला देवी थी ।

१६वीं शताब्दी के पश्चात् मिथिला में नव्य-न्याय पद्धति का ह्रास होना आरम्भ हुआ। परन्तु दर्शनों का पठन-पाठन तब भी वहाँ चालू ही था। १७वीं एवं १९वीं शतियों में भी न्याय एवं मीमांसा शास्त्रों के ऐसे उद्भट विद्वानों का पता चलता है जिनको मिथिला का गौरव यथार्थ रूप में कहा जा सकता है। ऐसे मनीषियों में पंडित-प्रवर गोकुल नाथ उपाध्याय, पं० सचल उपाध्याय तथा अनेक अन्यों के नाम सामने आते हैं ।

कर्णाट एवं ओइनवार राजकुल के शासक, स्त्री अथवा पुरुष, जो भी जब तक मिथिला पर शासन करते रहे, उन सबों का संस्कृत साहित्य के सम्वर्द्धन में सदा सहयोग बना रहा। मुसलमानों से उनका समय-समय पर संघर्ष दीर्घकाल-व्यापी था। पर इतने पर भी उन सबों ने साहित्य के निर्माण एवं ज्ञान-विज्ञान के प्रचार-प्रसार में पूरे मनोयोग से सहायता की ।

नालन्दा एवं विक्रमशिला विश्वविद्यालयों के पतन के पश्चात् विद्या का केन्द्र स्वतः मिथिला में स्थानान्तरित हो गया; क्योंकि वहाँ तब भी हिन्दू राजाओं का शासन बना हुआ था। इसमें संदेह नहीं कि ओइनवार-कुल का राज्य-शासन मुसलमान अधीश्वरों के अधीन था, पर उससे साहित्य के सम्वर्द्धन एवं ज्ञान-भंडार के भरने की क्रिया में बाधा नहीं पहुँचती थी। हिन्दू संस्कृति के साहित्य का सृजन उस काल भी संस्कृत वाङ्मय में ही होता था। सारे भारतवर्ष के विद्वानों की राष्ट्रभाषा संस्कृत थी ।

क्षेत्रीय भाषाओं का पनपना उस काल तक आरम्भ हो गया था, पर उन पर संस्कृत की छाप अडिग बनी हुई थी। उनके शब्द-भंडार की उन्नति संस्कृत शब्दों के समावेश से हुई थी तथा हो रही थी। इसमें शंका का स्थान नहीं है कि क्षेत्रीय भाषाओं के शब्द-कोष में प्रविष्ट होते-होते उनका तोड़-मरोड़ हुआ, जिससे उनके रूप में किंचित् परिवर्त्तन दृष्टिगत होता था। पर विद्वत्-समाज में क्षेत्रीय भाषाओं के उत्थान-काल में भी प्रतिष्ठा संस्कृत की ही थी ।

संस्कृत के विद्वान् उत्तर भारत के भिन्न-भिन्न भाग में अपनी जीविका की खोज में प्रायः मिथिला के राज-दरबार में आते थे; क्योंकि विदेशी एवं विधर्मी मुसलमानों का शासन उन प्रदेशों पर स्थापित हो चुका था। मिथिला के पड़ोस के दक्षिण विहार पर भी मुसलमान शासक शासन कर रहे थे। अतः वहाँ से भी संस्कृतज्ञ विद्वान् मिथिला-भूप की राजसभा में प्रश्रय एवं प्रतिष्ठा के हेतु प्रायः पधारते रहते थे। ऐसे मनीषियों में गया के पं० भट्ट शर्मा का नाम सम्मुख आता है। वे १५वीं शताब्दी में मिथिलापति की राजसभा में उपस्थित हुए थे ।

मिथिला के संस्कृतज्ञ पंडितों का ध्यान शनैः-शनैः ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद आदि की ओर से हटने लग गया था। साहित्य एवं दर्शन के अध्ययन में उनकी रुचि उस काल कम हो चली। परन्तु धर्मशास्त्र एवं न्याय की ओर उनका आकर्षण विशेष रूप से था। इन दोनों विषयों के ग्रंथ-भंडार को अपनी अमर कृतियों से उन सबों ने भर दिया। ऐसे सभी विद्वानों के नामों एवं उनकी रचनाओं की सूची प्रस्तुत करना यहाँ संभव नहीं है ।

उस युग की कतिपय परम प्रसिद्ध पुस्तकों तथा उनके प्रणेताओं के सम्बन्ध में किंचित उल्लेख नीचे किया जाता है ।

महाकवि विद्यापति का काल १४वीं एवं १५वीं शताब्दी था । उनकी प्रसिद्धि संस्कृत-साहित्य के सम्वर्द्धक होने की अपेक्षा विशेषतया मैथिली भाषा के प्रवीन कवि के रूप में हुई । किन्तु संस्कृत वाङ्मय के भंडार में भी उनकी देन की महत्ता कम नहीं है । 'भू-परिक्रमा', 'पुरुष-परीक्षा' तथा 'लिखनावली' उनके अमर ग्रंथों की रचना संस्कृत में हुई थी । संस्कृत साहित्य में इनके जोड़ की रचना बहुत कम है । ज्योतिरीश्वर ने 'पंचसायक' एवं 'रंगशेखर' नामक शृंगार-रस-प्रधान ग्रंथों का संस्कृत में निर्माण किया था । उनके 'धूर्त समागम' में मानवजीवन के उस पहलू पर विचार किया गया है, जिसपर संस्कृत के पूर्ववर्त्ती लेखकों ने अपनी लेखनी नहीं उठायी थी । पंद्रहवीं शताब्दी में शंकर मिश्र ने 'गौरी-दिगम्बर प्रहसन' का प्रणयन किया था । यह विवाह सम्बन्धी एक छोटा प्रहसन-ग्रंथ है । विद्यापति की 'दुर्गा-भक्ति-तरंगिणी' एवं 'शैव-सर्वस्व' ग्रन्थ भी संस्कृत में प्रणीत हुए थे । उनके अवलोकन से पता चलता है कि कवि-कोकिल विद्यापति शिव के उपासक थे । मिथिला के विद्वानों ने संस्कृत के अनेक प्रसिद्ध प्राचीन ग्रंथों पर भाष्यों, उपभाष्यों एवं टीकाओं की रचना की थी । इस प्रकार के ग्रंथों में १४वीं शताब्दी के विद्वान् अच्युत के 'काव्य-प्रकाश', पृथ्वीधर के 'मृच्छ-कटिक' तथा श्रीधर आचार्य के 'अमरकोष' के नाम आते हैं ।

दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र में उस युग की मिथिला की देन अत्याकर्षक प्रतीत नहीं होती है । ग्रन्थ तो अनेक लिखे गये, पर वे सभी गौण कोटि के थे । शंकर मिश्र द्वैतवादी थे । 'भेद-प्रकाश' एवं 'अद्वैत-धिक्कार' नामक पुस्तकों का प्रणयन कर उनके द्वारा उन्होंने अद्वैत वेदान्तवाद की निन्दा की थी । श्रीहर्ष के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' पर दो टीकाएँ लिखी गयीं । एक के रचयिता थे शंकर मिश्र तथा दूसरे के वाचस्पति मिश्र द्वितीय । कणाद ऋषि के सूत्रों पर शंकर मिश्र ने लोकप्रिय भाष्य 'वैशेषिक सूत्रोपस्कार' प्रस्तुत किया । विद्वान् विभाकर ने 'द्वैत-विवेक' का प्रणयन भी इसी मध्य-युग में किया ।

धर्मशास्त्र विषयक अनेक संस्कृत ग्रन्थ इस काल मिथिला में प्रणीत हुए । चण्डेश्वर एवं वाचस्पति मिश्र (द्वितीय) के नाम धर्मशास्त्र सम्बन्धी प्रामाणिक ग्रन्थों के रचयिताओं में सबसे आगे आते हैं । इनमें चंडेश्वर केवल विद्वान् ही नहीं, वरन् एक योग्य प्रशासक भी थे । ये कर्णाट-कुल के अन्तिम राजा हरिसिंहदेव के विदेश-मंत्री एवं मुख्य न्याया-धीश थे । कहा जाता है कि लक्ष्मी एवं सरस्वती के बीच प्रेम नहीं है । ये साथ-साथ एक स्थान पर नहीं रह सकती हैं । किन्तु चण्डेश्वर के साथ यह बात न थी । उन पर लक्ष्मी और सरस्वती की कृपा बराबर थी । उनके आवास में दोनों प्रेमपूर्वक निवास करती थीं । वे जैसे विद्वान् थे, उसी प्रकार के धनवान् भी । एक बार स्वर्ण से अपने शरीर को तौलकर तुलादान उन्होंने किया था । उनके द्वारा रचित धर्मशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ का नाम 'स्मृति-रत्नाकर' है । उसमें सात अध्याय हैं, जिनके नाम हैं– (१) कृत्य, (२) दान, (३) व्यवहार, (४) शुद्धि, (५) पूजा, (६) विवाद तथा (७) गार्हस्थ्य । इन सबों में षष्ठ 'विवाद-रत्नाकर' अति प्रसिद्ध है । यह अकेले एक बृहद् ग्रंथ है जिसमें ६७० पृष्ठ हैं तथा उसमें अदालत-

दीवानी सम्बन्धी विधि-नियम का उल्लेख किया गया है । इस पुस्तक का अनुवाद अंगरेजी में भी हो चुका है; क्योंकि अंगरेजी न्यायालयों द्वारा मिथिला के लिए उस ग्रन्थ के निर्देश एवं विधि-नियम प्रामाणिक माने गये थे । चण्डेश्वर के 'राजनीति रत्नाकर' में राजनीति सम्बन्धी उल्लेख है, जिसका प्रकाशन पटना के प्रसिद्ध शोध-कुशल मनीषी डॉ० के० पी० जायसवाल ने किया था ।

वाचस्पति मिश्र (द्वितीय) का काल १५वीं शती का उत्तरार्द्ध था । उन्होंने अनेक विषयों पर दर्जनों ग्रंथों का निर्माण किया । ग्यारह अध्यायों का उनका बृहद् ग्रन्थ 'चिन्तामणि' है जिसमें आह्निक, शुद्धि, कृत्य, तीर्थ, नीति, विवाद, श्राद्ध आदि पर भिन्न-भिन्न अध्यायों में पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया है । उनके 'विवाद चिन्तामणि' का अंगरेजी भाषा में अनुवाद प्रसन्न कुमार टैगोर ने किया । इस विधि-ग्रंथ को मिथिला के लिए विलायत के 'प्रिवी कौन्सिल' ने भी सबसे अधिक प्रामाणिक माना था । इस ग्रंथ में संस्कृत के अनेक पारिभाषिक शब्दों के उपयुक्त व्यावहारिक शब्द अंकित किये गये हैं । वाचस्पति मिश्र ने उपर्युक्त 'चिन्तामणियों' के अतिरिक्त 'द्वैत-निर्णय', 'तिथि-निर्णय', 'महादान-निर्णय', एवं अन्यान्य धर्मशास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों का सृजन किया था ।

वर्द्धमान उपाध्याय ओइनवार-कुल-भूप भैरवसिंह के शासनकाल में 'धर्माधिकरणिक' अथवा न्यायाधीश के पद पर प्रतिष्ठित थे । उन्होंने धर्मशास्त्र पर 'स्मृति-तत्त्व-विवेक' 'दान-विवेक' आदि ग्रंथों की रचना की थी । भैरवसिंह का ज्ञात काल १४८८ ई० है ।

मध्य युग में न्याय दर्शन के क्षेत्र में मिथिला भारत के सभी प्रदेशों में अग्रगण्य थी । इस विषय पर वहाँ साहित्य-सृजन अनवरत रूप से सतत होता रहा । प्रसिद्ध नैयायिक पं० गंगेश उपाध्याय ने १२वीं शती के उत्तरार्द्ध में 'नव्य-न्याय' के रूप में न्याय-दर्शन की मिथिला-पद्धति की स्थापना की । उनके एतद्विषयक ग्रंथ 'तत्त्व-चिन्तामणि' ने मध्ययुगीन तर्कशास्त्र के चिन्तन-प्रवाह में एक नये युग का प्रवर्त्तन किया । जिस पंडित ने इस ग्रंथ का अध्ययन नहीं किया, उसकी प्रतिष्ठा एवं समादर मिथिला के संस्कृत विद्वानों के बीच नहीं होता है । निःसन्देह इस अमूल्य ग्रंथ का अध्ययन अध्येता को योग्य तार्किक बनाता है और उसे किसी तथ्य के सूक्ष्मतम स्तर तक पहुँचने में सहायक बनाता है । मिथिला की इस नव्य-न्याय पद्धति का प्रचार अतिशीघ्र बंगाल और सुदूर के प्रदेश महाराष्ट्र, दक्षिण भारत एवं कश्मीर तक हो गया और उन स्थानों में वह सर्वप्रिय भी बन गयी । गंगेश उपाध्याय का नव्य-न्याय-ग्रंथ 'तत्त्व-चिन्तामणि' ३०० पृष्ठों से अधिक का नहीं है, पर उसपर जो भाष्य लिखे गये, उनके पन्नों को यदि जोड़ा जाय तो अनुमानतः उनकी गिनती १,००,००० पृष्ठों से कम नहीं होगी । केवल मिथिला में उक्त ग्रंथ के भाष्यकार हुए हैं—(१) लेखक के पुत्र वर्द्धमान उपाध्याय (१२५० ई०), (२) पक्षधर मिश्र (१४५० ई०), (३) वासुदेव मिश्र (१४५० ई०), (४) शंकर मिश्र (१४५० ई०) (५) मिसरू मिश्र (१४५० ई०), भागीरथ ठाकुर (१५२५ ई०) तथा महेश ठाकुर (१५५० ई०) । उपर्युक्त विद्वानों में महेश ठाकुर दरभंगा-राज्यवंश के संस्थापक थे । उनको दरभंगा राज की विशाल जमींदारी अपने शिष्य रघुनन्दन राय से गुरु-दक्षिणा में प्राप्त हुई । रघुनन्दन राय को वह जमींदारी पुरस्कार में बादशाह अकबर के द्वारा प्राप्त हुई थी (आर० आर०

दिवाकर : बिहार थ्रू दि एजेज, पृ० ४४१) । इस सम्बन्ध की अन्य उक्तियों का उल्लेख 'खण्डवला ब्राह्मण-राजकुल' के वर्णन के साथ पुस्तक में अन्यत्र किया गया है ।

जिस काल के संस्कृत साहित्य-सम्वर्द्धन की समीक्षा यहाँ की जा रही है, उस काल में न्याय दर्शन पर और भी अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ जो सभी विशेषकर भाष्य ग्रन्थ ही थे, मूल नहीं । वर्द्धमान उपाध्याय ने उदयनाचार्य के 'न्याय परिशिष्ट' पर 'न्याय परिशिष्ट-प्रकाश', 'न्याय कुसुमांजलि' पर 'न्याय कुसुमांजलि-प्रकाश' नामक भाष्य प्रस्तुत किया । पक्षधर मिश्र ने 'द्रव्य-पदार्थ' नामक ग्रंथ का निर्माण किया । इसी प्रकार और अनेक विद्वानों ने अन्यान्य ग्रंथों की रचना की ।

पक्षधर मिश्र बहुश्रुत विद्वान् थे । उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी । उनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने २२ ग्रंथों का प्रणयन किया था । उनकी सभी पुस्तकें न्याय-सम्बन्धी थीं । उनमें कुछ समालोचनात्मक ग्रन्थ भी थे । 'तत्त्व-चिन्तामणि' पर जो भाष्य उन्होंने प्रस्तुत किया था, वह बुध-समाज में अति समादृत हुआ । उनके आधार पर विद्वानों द्वारा आगे चलकर नव्य-न्यायसम्बन्धी विशाल साहित्य का सृजन हुआ । 'प्रसन्न राघव' नामक नाटक भी उन्होंने लिखा था । 'चन्द्रालोक' उनका समालोचनात्मक ग्रंथ था ।

सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से मिथिला की देन नव्य-न्याय पद्धति का ह्रास होना आरम्भ हुआ । उसके सम्बन्ध में नये ग्रन्थों का सृजन भी रुक-सा गया, जिसका दिग्दर्शन किया जा चुका है ।

संस्कृत-साहित्य के मध्य युग में मिथिला की देन के सिंहावलोकन से पता चलता है कि उस काल के प्रणीत ग्रन्थ विशेषतया भाष्य एवं संकलित विधि-ग्रन्थ थे । उनमें मौलिकता की ऊनता के कारण उनका स्थान संस्कृत-साहित्य के वृत्त में गौण कहा जा सकता है । परन्तु उस काल यही दशा साहित्य के सम्वर्द्धन के सम्बन्ध में भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों में भी थी । पर इसमें सन्देह नहीं कि न्याय एवं धर्मशास्त्र के क्षेत्र में मिथिला की देन श्लाघ्य थी । उसके द्वारा मिथिला की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई और वह इस सम्बन्ध में काशी (वाराणसी) का समकक्ष मानी जाने लगी । बंगाल के नदिया की 'नव्य-न्याय-पद्धति' का उद्गम-स्रोत भी मिथिला ही था । इसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है । तिब्बती-पर्यटक धर्मस्वामिन् के यात्रा-वृत्तान्त से स्पष्ट होता है कि भारत एवं नेपाल और तिब्बत के बीच मिथिला का स्थान संयोजक का था, जहाँ नालन्दा एवं विक्रमशिला विश्वविद्यालय के विनष्ट होने के पश्चात् बौद्ध-विद्वानों ने जाकर निवास किया था । धर्मस्वामिन् की मिथिला-यात्रा १२३४ एवं १२३६ ई० में हुई थी (आर० आर० दिवाकर : बिहार थ्रू दि एजेज, पृ० ४४१) ।

१५वीं शती के अन्त से १८वीं शती के मध्य तक संस्कृत का विकास

ओइनवार-भूपतियों के शासन का अन्त होते-होते, अर्थात् राजा रामभद्रसिंह देव तथा राजा लक्ष्मीनाथसिंह देव के शासनकाल में अनेक विषयों पर संस्कृत-वाङ्मय में ग्रन्थ लिखे गये । न्याय एवं नव्य-न्याय-दर्शन के हेतु मिथिला की प्रसिद्धि तो पूर्व से थी ही । पर उस काल के ग्रन्थों में कुछ विषयों पर स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रस्तुत हुए थे तथा कुछ पूर्ववर्ती प्रसिद्ध ग्रन्थों पर भाष्य एवं टीकाएँ तथा कुछ प्रशस्तिवाचक ग्रन्थ जो राजाओं अथवा श्री-

सम्पन्न आश्रयदाताओं की विरुदावली बखान करने के हेतु लिखे गये थे। इन पुस्तकों में अनेक मिथिला-निवासियों द्वारा मिथिला से बाहर रहकर लिखी गयी थीं। मिथिला के विद्वान् मिथिला की सीमाओं से बाहर जाकर भी अपनी प्रतिभा कभी-कभी अन्य स्थानीय राजा-महाराजाओं के दरबारों में दिखाते थे और उन स्थानों के नृपतियों अथवा राजकुमारों के निर्देश एवं आज्ञा से पुस्तकों का प्रणयन करते थे। पुस्तकें गद्य में प्रायः बहुत कम लिखी जाती थीं। छन्दोबद्ध होने के कारण 'काव्य' नाम से उनकी प्रसिद्धि जन-समाज में होती थी।

मिथिला में अनेक विद्वानों ने अपनी मेधा-शक्ति का उपयोग आश्रयदाता राजाओं की प्रशस्तियाँ लिखने एवं उनके यशोगान में अभिलेख उत्कीर्ण कराने के हेतु सुन्दर और सरस तथा कर्ण-सुखद कविताओं की रचना करने में किया। इस कोटि की पुस्तकों एवं कविताओं में व्यक्ति विशेष की प्रशंसा का भाव विशेषतया सन्निहित और सन्निविष्ट होता था। उदाहरणार्थ पं० पद्मनाथ मिश्र एवं पं० रघुदेव मिश्र के नाम यहाँ उपस्थित किये जाते हैं। पं० पद्मनाथ मिथिला के निवासी थे। वे रीवाँ के बघेल-वंशीय क्षत्रिय-नरेश वीरभद्र की राजसभा में रहते थे। न्याय-दर्शन के वे पारंगत विद्वान् थे। पर उन्होंने अपने आश्रयदाता भूपति की प्रशंसा में 'वीरभद्र चम्पू' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। चम्पू उस काव्य-ग्रन्थ को कहते हैं, जिसमें गद्य-वर्णन के बीच-बीच में पद्य का समावेश होता है। पं० रघुदेव मिश्र ने कागज के बड़े-बड़े १४ पृष्ठों में मिथिला के खण्डवाला-कुल के भूपतियों की विरुदावलियों का अंकन किया था।

उपर्युक्त प्रकार के काव्य के अतिरिक्त अन्य प्रकार के उच्चकोटि के काव्य-ग्रन्थों का सृजन भी साथ-साथ होता रहा, इसमें शंका करने का स्थान नहीं है। उनमें से अधिकांश के तो अब नाम ही शेष रह गये हैं। कुछ का नामांकन नीचे किया जाता है।

गंगानन्द कवीन्द्र मिथिला-वासी थे। बीकानेर के भूप कर्ण की राजसभा को वे अपनी पाण्डित्य-प्रभा से प्रकाशित करते थे। राजा कर्ण का शासनकाल १५०६ से १५२७ ई० के बीच था। गंगानन्द ने वहाँ निवास कर 'भृंगदूत' नामक काव्य तथा 'मन्दार-मंजरी' नाटक की रचना की थी।

जगन्नाथ मिश्र का ज्ञात-काल १५९८ ई० है। उन्होंने एक नवीन विषय पर पुस्तक लिखी, जिसका नाम था 'संभातरंगिणी'। इसमें विनम्र एवं शिष्ट भाषा में वार्त्तालाप अथवा वाद-विवाद करने की रीति तथा पद्धति का निर्देश और वर्णन किया गया है। पूरे ६९ पत्रों पर यह ग्रन्थ अंकित है। तत्कालीन संसदीय व्यवहार की भाषा का ज्ञान इसके अवलोकन से पाठकों को प्राप्त होता है।

दरभंगा की 'काव्यमाला परिषद्' ने इस काल के अनेक नाटक, काव्य तथा दूसरे प्रकार के साहित्य का प्रकाशन किया है। एक मिथिलानिवासी लेखक १६५५ ई० में नेपाल की राजधानी के नगर काठमांडू में रह कर नाटकों और काव्यों का सृजन करते थे। उसी प्रकार के दूसरे लेखक श्रीनगर में रहकर साहित्यसेवा करते थे।

अनेक कवियों ने संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थों पर व्याख्याओं का निर्माण कर अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया। कालिदास के 'कुमारसंभव', 'मेघदूत' तथा 'शिशुपाल-

वध' जैसे ग्रन्थों पर अनेक भाष्य प्रस्तुत किये गये । विभाकर ने 'द्वैत-विवेक' वाचस्पति मिश्र ने 'पितृभक्ति-तरंगिणी' तथा वर्द्धमान ने 'गंगा-कृत्य-विवेक' की रचना रामभद्रसिंह (१४९० से १५१० ई०) के शासनकाल में की थी ।

व्याकरण, कोश, छन्द, एवं अलंकार पर भी अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ । पर उनमें अलंकार विषयक ग्रन्थों की संख्या अधिक थी । उदाहरणार्थ गंगानन्द ने 'काव्यडाकिनी' नामक ग्रन्थ लिखा । इसमें काव्य-रचना में आलंकारिक दोषों का दिग्दर्शन कराया गया है। कवि रामानन्द ने 'रसतरंगिणी' की रचना की । कवि भानुदत्त (१५४० ई०) ने 'अलंकारतिलक' की रचना की । इस पुस्तक में सभी प्रकार के अलंकारों का उल्लेख किया गया है । स्वरचित कविताओं का उदाहरण भी प्रत्येक अलंकार के वर्णन के प्रसंग में लेखक ने दिया है। प्रसिद्ध अलंकार ग्रन्थ 'काव्य-प्रकाश' पर पंडितराज रघुनन्दन ने एक भाष्य का निर्माण किया था । इस पुस्तक की प्रतिलिपि १६४१ में उतारी गयी थी । उपर्युक्त कोटि के लेखकों में वेणीदत्त, गोकुलनाथ उपाध्याय, तथा मँगरौनी के चित्रधर पण्डित के नाम उल्लेखनीय हैं । रामपति एवं गोकुलनाथ ने क्रमशः 'वृत्तासार' तथा 'एकावली' का सृजन किया ।

व्याकरण पर जो पुस्तकें लिखी गयीं वे सभी भाष्य के रूप में थीं । परन्तु विद्वद्वर गिरिधर उपाध्याय प्रणीत 'विभक्त्यर्थ निर्णय' भाष्य ग्रंथ होते हुए भी एक प्रकार का स्वतन्त्र ग्रंथ कहा जा सकता है । उसमें तर्क एवं व्याकरण का समन्वय किया गया है । इसी काल में चिन्तामणि ने 'अमरकोश' पर भाष्य लिखा । परमानन्द ने 'अभिधानार्णव कोश' नामक स्वतन्त्र कोश-ग्रन्थ का निर्माण किया ।

संगीत के क्षेत्र में लोचन शर्मा ने 'रागतरंगिणी' लिखकर भिन्न-भिन्न रागों का वर्णन किया । अभिलाष प्रणीत 'संगीतचन्द्र' पर बंशमणि के समालोचनात्मक भाष्य का स्थान भी संगीत के वृत्त में उल्लेखनीय माना जाता है ।

मिथिला के विद्वान लेखकों ने फलित एवं गणित ज्योतिष तथा विशुद्ध गणित पर अनेक ग्रंथों का निर्माण किया । इस दिशा में उनका श्रम सदियों तक चालू रहा । इसका परिणाम यह हुआ कि ज्योतिष-शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन में मिथिला ने आशातीत उन्नति की ।

नक्षत्रों एवं ग्रहों की चाल के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ढंग से गणित के नियमों के अनुसार गणना कर अनेक ग्रन्थों की रचना की गयी । ऐसे कतिपय ग्रंथों में इस बात पर प्रकाश डाला गया कि किस ग्रह अथवा नक्षत्र के किसी स्थान पर रहने पर कौन काम करना योग्य है और कौन नहीं । इस प्रकार का विधि-निषेध नक्षत्रों के स्थित्यनुसार धार्मिक एवं नित्य-प्रति के साधारण व्यावहारिक कार्य के सम्बन्ध में उन पुस्तकों में गणना के आधार पर विद्वान् गणक लेखकों द्वारा अंकित किया गया था ।

महेश ठाकुर का समय १५५६ से १५६९ ई० तक माना जाता है । उन्होंने 'अतिचार-निर्णय' नामक ज्योतिष ग्रंथ की रचना की थी । उसमें नक्षत्रों की चाल एवं स्थिति के अनुसार धार्मिक कृत्यों पर पड़नेवाले भले और बुरे प्रभावों का वर्णन है । महेश ठाकुर के पुत्र परमानन्द ठाकुर ने गणित ज्योतिष पर 'सिद्धान्त-सुधा' का निर्माण किया । हेमांगद

ठाकुर ने 'ग्रहणमाला' का सृजन किया । इस पुस्तक में गणना के आधार पर उन्होंने आनेवाले बहुत वर्षों तक होनेवाले चन्द्र एवं सूर्य ग्रहणों की सूची, समय, तिथि, महीना, एवं साल के साथ तैयार कर दी थी । भरत उपाध्याय का समय १७वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध कूता जाता है । उन्होंने 'रसाल' नाम की पुस्तक लिखी । उसका सम्बन्ध भी फलित एवं गणित ज्योतिष से है । भवेश ने भास्कराचार्य के प्रसिद्ध ज्योतिष ग्रंथ 'लीलावती' पर अपने विचारानुसार भाष्य प्रस्तुत किया । उसी प्रकार माधव शर्मा ने शुभ एवं अशुभ शकुनों के फलाफल का विवेचन कर 'अद्भुत दर्पण' नामक शकुन-शास्त्र की रचना की ।

उस युग में वैदिक साहित्य से सम्बन्धित पुस्तकों के प्रणयन की ओर मिथिला के विद्वानों की अभिरुचि अति अधिक दृष्टिगत नहीं होती है । शत्रुघ्न शर्मा ने एक ग्रंथ 'मंत्रार्थ-दीपिका' की रचना की थी । उस पुस्तक में संध्या, श्राद्ध आदि कर्मों के विषय में प्रयुक्त वैदिक मंत्रों का विवेचन कर उनका स्पष्टीकरण किया गया है ।

तंत्र पर लिखे गये ग्रंथों का मिथिला में बाहुल्य है । उन सबों का विवरण देने की यहाँ आवश्यकता नहीं है । केवल कतिपय लेखकों एवं उनकी कृतियों का उल्लेख बहुत संक्षेप में नीचे किया जाता है ।

राजा धीरसिंह के पुत्र राजकुमार गदाधर ने 'तंत्र-प्रदीप' का प्रणयन किया था । देव-नाथ ठाकुर ने 'मंत्र-कौमुदी' की रचना की । जगदानन्द ने 'कुल-दीपक' का सृजन किया । उस ग्रंथ में तंत्र के मूल सिद्धान्त पर सुन्दर विवेचन के साथ प्रकाश डाला गया है ।

नरसिंह ठाकुर ने कई ग्रंथ लिखे । उनमें शंकराचार्य की 'आनन्द लहरी' के ऊपर उनका विद्वतापूर्ण भाष्य सराहनीय एवं पठनीय ग्रंथ है ।

धर्मशास्त्र पर बहुत ग्रंथों की रचना की गयी । इन ग्रंथों में मानव जीवन के सभी पहलुओं पर विचार किया गया है । उनके धार्मिक, सामाजिक, वैयक्तिक तथा नित्य नैमित्तिक आचार-विचार के सम्बन्ध में नियम बनाकर तदनुसार बरतने का निर्देश दिया गया है । श्रुतिस्मृति तथा पुराण-वाक्यों का भी वहाँ विश्लेषण एवं विवेचन हुआ है । शपथ-ग्रहण, मांस-भक्षण, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, उपनयन, विवाह, श्राद्ध, मृतक-दाह-संस्कार आदि-आदि विषयों पर विचार कर उन ग्रंथों में निर्णय दिया गया है ।

न्याय, मीमांसा, योग, सांख्य, वेदान्त, वैशेषिक आदि सभी दर्शनों पर अनेक ग्रंथ प्रणीत हुए जो अब भी प्राप्य हैं । पर पूर्वकाल के परवर्त्तीकाल तक न्याय की चर्चा मिथिला में सर्वाधिक रही है । रुचिदत्त एवं रामभद्र ने न्याय एवं वैशेषिक पर अनेक ग्रंथों का निर्माण किया । उसी प्रकार गोकुल नाथ ने न्याय-दर्शन पर १८ विवेचनात्मक भाष्यों की रचना की थी ।

परन्तु गंगेश उपाध्याय एवं उनके समकालीन तथा पूर्व के लेखकों के पश्चात मिथिला मनीषियों में से बहुत कम ने स्वतंत्र ग्रंथ लिखने का प्रयास किया । उद्धर्वाङ्कित पुस्तकों तथा उस काल के अन्य सभी ग्रंथ विशेषतया प्राचीन प्रसिद्ध पुस्तकों पर टीका, विशद विवेचन के साथ समालोचनात्मक भाष्य और उनमें निहित विचारों एवं भावों का वृहद् रूप से स्पष्टीकरण-ग्रन्थ मात्र थे ।

मीमांसा-दर्शन के विद्वान लेखकों में मुरारि मिश्र, गोविन्द तथा देवनाथ के नामों का उल्लेख करना परम आवश्यक जँचता है । इन सबों ने कुमारिल भट्ट, मण्डन मिश्र, प्रभाकर आदि के काल की मिथिला के समान मीमांसा के क्षेत्र में अपनी कृतियों के द्वारा उनके यश को सुस्थिर रखा ।

पातंजलि के 'योग-सूत्र' पर भवदेव मिश्र ने अति उच्च कोटि का उत्तम भाष्य प्रस्तुत किया था । शांडिल्य के 'भक्ति-सूत्र' पर भी इनके लिखे भाष्य ग्रंथ की चर्चा मिथिला में है ।

महेश ठाकुर ने बादशाह अकबर एवं उसके उत्तराधिकारियों का इतिहास संस्कृत गद्य में लिखना आरम्भ किया था । पर वह पूरा न हो सका । उस ग्रंथ का नाम था– 'सर्वदेश-वृत्तान्त-संग्रह' । संस्कृत साहित्य में पुराणों, रामायण एवं महाभारत के लेखकों के अतिरिक्त बहुत कम विद्वानों ने प्राचीन अथवा मध्य-युगीन भारत के इतिहास लिखने का श्रम किया था । कश्मीरी कवि कल्हण एवं विल्हण के नाम इस क्षेत्र में आते हैं, जिन्होंने क्रमशः 'राजतरंगिणी' और 'विक्रमांकचरित्र' का निर्माण किया था । मिथिला के महेश ठाकुर ने एक इतिहास लिखना आरम्भ किया, पर वे सफल मनोरथ न हो सके ।

१८वीं शती के मध्य से २०वीं शताब्दी के मध्य तक संस्कृत साहित्य की प्रगति

ओइनवार राजकुल के लगभग सभी शासक संस्कृत साहित्य के पोषक तथा उसके विद्वानों के तोषक थे । उनमें से कई मर्मज्ञ साहित्य-सेवी एवं लेखक भी थे । अतः उनके शासनकाल में संस्कृत साहित्य का आशातीत संवर्द्धन हुआ । राजा लक्ष्मीनाथ सिंह देव ओइनवार कुल का अन्तिम नरेश था । उसकी मृत्यु नसरत शाह के द्वारा १५२६ ई० में हुई । मिथिला पर अब सीधा मुसलमानों का शासन आरम्भ हुआ । यह अवस्था १५५६ ई० तक रही । पश्चात् बादशाह अकबर ने मिथिला की शासन-व्यवस्था खण्डवाला ब्राह्मण कुल के एक बहुश्रुत संस्कृत विद्वान् महेश ठाकुर के अधीन की । अब मिथिला पर फिर से संस्कृत के प्रेमी ब्राह्मणों का राज्य हुआ । उससे साहित्य संवर्द्धन के प्रवाह में पुनः प्रगति आयी । इसके पूर्व १५२६ और १५५६ के बीच भी वह धारा पूर्णतया अवरुद्ध नहीं हो गयी थी । केवल उसकी गति किंचित् मंद पड़ गयी थी । महेश ठाकुर स्वयं अप्रतिम विद्वान् एवं लेखक थे । इसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है । महेश-कुल का मिथिला पर शासन भारतवर्ष पर मुसलमानी शासन के अंत के पश्चात् भी अंगरेजी शासन की समाप्ति तक बना रहा था ।

मिथिला पर अंगरेजों का राज्य १७६५ ई० में दिल्ली के बादशाह शाह आलम से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्राप्त कर लेने के पश्चात् आरम्भ हुआ । वैसे तो १७५७ ई० में ही देशद्रोही मीर जाफर के कुचक्र एवं विश्वासघात के कारण बंगाल के नवाब सिराज-उद्दौला के पलासी के युद्ध-क्षेत्र में पराभव एवं पीछे मीर जाफर के पुत्र मीरन के द्वारा उसकी हत्या के पश्चात् अंगरेजों का प्रभाव पूरे बिहार प्रान्त पर पड़ चुका था । मिथिला बिहार का अंश था ही । अतः उससे उसका वंचित रहना संभव न था । पर उस विकट परिस्थिति में भी मिथिला पर ब्राह्मण-कुल के हिन्दू राजा के शासन होने के कारण संस्कृत साहित्य के विकास में बाधा नहीं पड़ी । पूर्व के पृष्ठों

में १८वीं शती के मध्य तक अर्थात् अंगरेजों के मिथिला पर शासन के आरम्भ काल तक हुई संस्कृत साहित्य की प्रगति का दिग्दर्शन कराया जा चुका है । उसके पश्चात् की प्रगति का अंकन आगे किया जायेगा । विदेशी अंगरेजी शासन की पराधीनता से भारतवर्ष १९४७ ई० में स्वतंत्र हुआ । भारत की स्वतंत्रता-प्राप्ति से उसका अंग मिथिला स्वतः स्वतंत्र हो गया । अंगरेजों की पराधीनता-काल से लेकर आजतक संस्कृत साहित्य के विकास में मिथिला का क्या हाथ रहा, इस पर विचार आगे के पृष्ठ में किया जायेगा ।

मिथिला में खण्डवाला राजकुल में शासनारंभ के लगभग दो शताब्दी पश्चात् भारत में अंगरेजों का राज्य आरम्भ हुआ । इस अवधि में यहाँ संस्कृत की जो प्रगति हुई, उसका संक्षिप्त विवरण पूर्व में दिया गया है । उसके पीछे भी मिथिला में साहित्य का सृजन होता रहा । इस काल में संस्कृत साहित्य की जितनी संवृद्धि मिथिला जैसे छोटे जनपद में हुई, उतनी भारतवर्ष के किसी एक छोटे प्रदेश में नहीं हो सकी । अनेक भिन्न-भिन्न विषयों पर पुस्तकें लिखी गयीं । वे सभी प्रायः उच्च कोटि के ग्रंथ थे । मिथिला में संस्कृत का पठन-पाठन परम्परागत चालू था जो किसी अंश में अब भी बना हुआ है । यही कारण था कि संस्कृत के पारंगत विद्वानों की यहाँ कमी नहीं रही । विद्याव्यसनियों के सदुद्योग से साहित्य का सतत् बहुमुखी विकास होता रहा । मिथिला के निवासी विद्वान् घर पर रहते हों या बाहर, उनका संस्कृत के प्रति अनुराग कभी कम नहीं देखा गया । जहाँ भी रहे, अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन उन्होंने पुस्तकों का प्रणयन कर किया । विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा प्रदान करना मिथिला में पुरानी प्रचलित परिपाटी थी और आज भी है । इससे संस्कृत अध्ययन की गति में कभी अवरोध नहीं हुआ और उसका विकास होता रहा ।

पहले की भाँति अंगरेजी शासन के आरम्भ होने के पश्चात् की अवधि में भी नाना विषयों पर अनेक संस्कृत ग्रन्थों का सृजन हुआ, जिन सभी का व्यौरा यहाँ उपस्थित करना सम्भव नहीं है । इस युग में काव्य और साहित्य के अतिरिक्त धर्मशास्त्र, ज्योतिष एवं तंत्र पर अत्यधिक ग्रंथ लिखे गये । परन्तु व्याकरण योग, मानव-चरित्र-संगठन आदि विषयों पर कोई पुस्तक लिखी नहीं गयी । जितनी भी पुस्तकों का सृजन इस समय हुआ, उनमें प्रायः स्वतंत्र ग्रंथों की संख्या अत्यल्प थी । विशेषतया वे भाष्य अथवा टीकाएँ थीं ।

अंगरेजी शासन प्रारंभ होने के पश्चात् देश में अंगरेजी शिक्षा का प्रचार होना आरम्भ हुआ । लोगों के मस्तिष्क पर उसका विशेष प्रभाव पड़ा; क्योंकि उससे रोटी की समस्या का हल आरम्भ में सुलभता से होता था । किन्तु मैथिलों ने संस्कृत शिक्षा की परम्परा का त्याग नहीं किया । जैसा ऊपर कहा गया है, उन सबों ने भिन्न-भिन्न विषयों पर नये-नये ग्रंथ निर्माण करने का क्रम चालू रखा । इसका परिणाम यह हुआ कि जनक एवं याज्ञवल्क्य की भूमि मिथिला संस्कृत-साहित्य-सृजन-क्षेत्र में नाना प्रकार की बाधाओं के होते हुए भी देश के अन्य भागों से अपेक्षाकृत आगे रही ।

जितनी छोटी अथवा बड़ी पुस्तकें लिखी गयीं, उनका प्रणयन बहुधा स्वान्तःसुखाय हुआ । प्रसिद्ध की आसक्ति की कमी के कारण उन सबों का संरक्षण प्रणेताओं द्वारा नहीं हो सका । अतः उनमें से अधिकांश अप्राप्य हैं । उनकी कोई सूची भी प्राप्त नहीं है । किन्तु विद्वानों के शोध से पता चलता है कि अनेक पुस्तकें लिखी गयीं, जिनमें भाष्य,

टीकाएँ तथा स्वतंत्र ग्रंथ भी थे । इस युग की साहित्यिक कृतियाँ भिन्न-भिन्न विषयों की थीं, जिनका उल्लेख नीचे किया जाता है :-

(१) छन्द-शास्त्र- इस विषय के ग्रन्थों को भिन्न-भिन्न छन्दों के चरणों में लय ठीक रखने के हेतु उचित स्थान पर किंचित् विश्राम का निर्देश किया गया है । इस प्रकार के विश्राम को 'यति' कहा जाता है । किस छन्द में कितने अक्षरों अथवा कितनी मात्राओं के बाद यति का प्रयोग होगा, इस विषय का वर्णन छन्द शास्त्रों में किया गया है । संस्कृत के अलावा प्राकृत-छन्दों के सम्बन्ध में भी यति-भंग आदि दोषों का वर्णन ऐसी एक पुस्तक में किया गया है ।

(२) काव्य एवं साहित्य- इस कोटि के ग्रन्थों में सभी प्रकार की कविताएँ, साहित्यिक भाष्य, नाटक, टीका तथा स्वतन्त्र ग्रन्थों का समावेश होता है ।

(३) व्याकरण- इस पर अनेक स्वतन्त्र एवं भाष्य ग्रन्थों का निर्माण हुआ ।

(४) कोश -सभी प्रचलित शब्दों के पर्याय अथवा अर्थ ऐसे ग्रन्थों में विस्तार से व्याख्या के साथ दिये जाते हैं । ऐसी पुस्तकें संस्कृत में प्रायः छन्दोबद्ध लिखी गयी थीं । इस प्रकार के कोष-ग्रन्थों में एक 'वाक्‌चातुर्य-तरंगिणी' ग्रन्थ है, जिसमें फारसी शब्दों का संस्कृत पर्याय दिया गया है ।

(५) नीतिशास्त्र- नीति के अन्तर्गत राजनीति, मानव-कर्त्तव्य, चरित्र-संगठन आदि विषय आते हैं । इन विषयों पर कई ग्रन्थों का निर्माण उस काल में हुआ । ऐसे ग्रन्थों के लेखन में तिरहुत (मिथिला) के लेखकों ने कौटिल्य के पक्ष का अनुसरण किया था ।

(६) ज्योतिष - गणित एवं फलित ज्योतिष पर अनेक नये-नये ग्रन्थों का निर्माण हुआ । इस प्रकार के ग्रंथों में एक का नाम 'वनमाला' था । भिन्न-भिन्न ऋतुओं में नक्षत्र एवं ग्रहों की चाल और स्थिति के अनुसार कब और कैसी वर्षा होगी, इस विषय का विशद विवेचन इस ग्रंथ में किया गया है ।

(७) कामसूत्र - पूर्व में वात्स्यायन ने पाटलिपुत्र में कामसूत्र का प्रणयन किया था। उसी की पद्धति का अनुसरण कर कवियों और लेखकों ने प्रणय, प्रेम एवं शृंगार से संबंधित ग्रंथों की रचना की ।

(८) तन्त्रशास्त्र- शक्ति की उपासना, दैवी शक्ति की प्राप्ति के हेतु तांत्रिक प्रयोग, योग, पूजन-पद्धति, ध्यान, समाधि, शरीर में दैवी शक्ति-सम्पन्न विन्दुओं की स्थिति एवं उसकी पहचान आदि विषयों का समावेश तन्त्रशास्त्र के अन्तर्गत होता है । उपर्युक्त विषयों पर बहुत-सी पुस्तकें लिखी गयीं ।

(९) वेद- वेदों एवं वेदांगों पर अनेक नये-नये भाष्यों की रचना की गयी । पं० परमेश्वर झा ने गुणविष्णु द्वारा प्रस्तुत वेद-भाष्य पर विद्वत्तापूर्ण नया उपभाष्य प्रस्तुत किया। इस ग्रंथ का सम्यक् समादार साहित्य-सेवी समाज में है ।

(१०) दर्शन-आर्यों के षट्दर्शनों का बोध 'दर्शन' कहने से होता है । न्याय, मीमांसा, योग, वेदान्त, सांख्य, वैशेषिक आदि दर्शनों पर पृथक्-पृथक् अनेक ग्रन्थों का

निर्माण हुआ । न्याय-दर्शन का पठन-पाठन मिथिला-निवासियों को सदा से अति प्रिय रहा है । इस कारण सभी दर्शनों से अधिक न्याय-दर्शन पर किताबें लिखी गयीं ।

(११) धर्मशास्त्र– धार्मिक कर्त्तव्य, आचार, विचार, संस्कार, नित्य नैमित्तिक कर्म, शास्त्रीय आज्ञा-पालन, अनुशासन आदि विषयों का सम्बन्ध धर्मशास्त्र से है । अनेक ग्रन्थ इस सम्बन्ध में लिखे गये, जिनमें जीवनोपयोगी साधारण एवं सूक्ष्म बातों पर प्रणेताओं ने शास्त्रीय ढंग से अपना विचार व्यक्त किया । उदाहरणार्थ पं० योगदत्त झा के 'वपन विवेक' नामक ग्रन्थ का नाम उपस्थित किया जा सकता है । उसमें उचित ढंग से क्षौर करने के हेतु नियमों का निर्धारण किया गया है ।

(१२) भक्ति– इस विषय पर अधिकाधिक साहित्य का सृजन हुआ । भागवत ध र्म के निर्धारित नियमानुसार पूजा-अर्चा, भोग-राग, भक्ति-स्तुति, व्रत-विन्यास, उत्सव-समारोह तथा आराध्य के प्रति दास्य, सख्य अथवा वात्सल्य भाव के अनुसार अनुराग, श्रद्धा एवं प्रेम आदि का विवेचन इस कोटि के ग्रंथों में किया गया है ।

(१३) पुराण– प्राचीण पुराणों की पद्धति पर भी इतिहास ग्रंथों का निर्माण हुआ । विजय गोविन्द ने 'राजाबलि' नामक ग्रंथ की रचना की, जिसमें कलियुग के आरम्भ काल से अंगरेजी शासक वारेन हेस्टिंग्स तक के भारतवर्ष में राज करनेवाले राजाओं का इतिहास दिया गया हैं । इसके अतिरिक्त बृहत् पुराण ग्रन्थों से सार-संग्रह कर इस प्रकार के अन्य लघु ग्रन्थ तैयार किये गये ।

(१४) इतिहास–इस विषय पर ग्रन्थों का सृजन यद्यपि अधिक नहीं हुआ, पर वह
अछूता भी नहीं रहा । 'राजाबलि' का नाम ऊपर अंकित किया जा चुका है । किन्तु पुराणों
की पद्धति पर उसका प्रणयन हुआ था । बीसवीं शताब्दी के मध्य के बाद १९५८ ई० में
दरभंगा जिले के समस्तीपुर अनुमंडल के समर्था ग्राम-निवासी वयोवृद्ध आचार्य रामनिरीक्षण
सिंह ने 'स्वाधीन-भारतम्' नामक पुस्तक संस्कृत के अनुष्टुप् (चार चरणों के वर्ण छन्द
जिसके प्रत्येक चरण में आठ-आठ अक्षर होते हैं) छन्दों में लिखी थी । कश्मीरी कवि
कल्हण ने कश्मीर का इतिहास छन्दों में 'राजतरंगिणी' नाम से सदियों पूर्व लिखा था।
उसके पश्चात् इतिहास के क्षेत्र में संस्कृत वाङ्मय में पुस्तक प्रस्तुत करने का प्रयास
उपर्युक्त आचार्य महोदय का ही था । 'स्वाधीन-भारतम्' में १४ परिच्छेद हैं । इस पुस्तक
में भारतवर्ष का इतिहास अंकित किया गया है, जिसमें महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारतीय
कांग्रेस द्वारा किये गये स्वातन्त्र्य संग्राम का विशेष वर्णन है । वे अंगरेजी के भी विद्वान् थे ।
पं० रामावतार शर्मा ने भी इतिहास पर एक छोटी पुस्तक १९१२ ई० में संस्कृत में
लिखी थी ।

(१५) शारीरिक विज्ञान एवं आधुनिक भाषा-विज्ञान– इन विषयों पर भी
पुस्तकों का प्रणयन हुआ । आचार्य रामावतार शर्म्मा ने 'कला-कौमुदी' नामक ग्रन्थ १९०४
ई० में लिखकर प्रकाशित किया । आधुनिक शारीरिक विज्ञान का विषय-प्रवेश उसे कहा
जा सकता है । उसी प्रकार उनका दूसरा ग्रन्थ 'भाषा-तत्त्व' वर्तमान भाषा-विज्ञान के
उपोद्घात के रूप में लिखा गया था । पं० रामावतार शर्म्मा तिरहुत प्रमंडल के सारन
(छपरा) जिले के निवासी थे । प्राचीन काल में सारन जिला मिथिला की पौराणिक

सीमाओं के अन्तर्गत नहीं था। किन्तु अब वर्तमान तिरहुत (मिथिला) प्रमण्डल के अन्दर है।

इस युग में तिरहुत में ऐसे अनेक विद्वानों का उद्भव हुआ, जिन्होंने संस्कृत का भण्डार दर्शन जैसे अति गहन एवं गम्भीर विषय के ग्रन्थों से भर दिया। ऐसे विद्वानों की प्रतिभा बहुमुखी थी। उसमें से कतिपय विद्वानों ने अंगरेजी के माध्यम से संस्कृत की सेवा की और कुछ ने संस्कृत एवं हिन्दी के माध्यम से। इस कोटि के सभी मनीषियों के नामों का यहाँ अंकन सम्भव नहीं है। इन विद्वानों में अनेक ऐसे थे, जो अति कठिन विषयों पर संस्कृत वाङ्मय में बड़ी दक्षता के साथ संभाषण, शास्त्रार्थ एवं वाद-विवाद कर सकते थे। सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र पं० बच्चा झा, पं० शशिनाथ झा, पं० हरिहर कृपालु शास्त्री, तथा पं० बालकृष्ण मिश्र आदि के नाम संस्कृत के महान् विद्वान् के रूप में विख्यात थे। संस्कृत में दार्शनिक संभाषण तथा दक्षता के साथ साहित्य एवं दर्शन की शिक्षा देने के हेतु उनकी प्रसिद्धि बहुव्यापी थी।

२०वीं शताब्दी के दो विद्वानों के नाम संस्कृत एवं दर्शन-शास्त्र की अनुपम सेवा के हेतु विश्व-विख्यात हैं। उसमें एक डॉ० गंगानाथ झा दरभंगा जिले के पाहीटोल-सरसो ग्राम के निवासी थे, तथा दूसरे पं० रामावतार शर्म्मा सारन (छपरा) जिले के रहने वाले थे। डॉ० गंगानाथ झा का समय १८७१ ई० से १९४१ ई० तक था तथा पं० रामावतार शर्म्मा का १८७७ से १९२९ ई० तक। डॉ० गंगानाथ झा ने विशेषतया अंगरेजी के माध्यम से प्राचीन आर्य-दर्शनों पर ग्रंथ लिखकर उनका प्रचार एवं प्रसार किया। पं० रामावतार शर्म्मा ने संस्कृत वाङ्मय में संसार के आर्यों के प्राचीन षट्दर्शनों के अलावा एक नया दर्शन-शास्त्र 'परमार्थ दर्शन' का प्रणयन कर दिया।

डॉ० गंगानाथ झा ने दर्शन विषयक कई कठिन ग्रंथों का अनुवाद सर्वसाधारण के समझने योग्य सरल अंगरेजी में करके संस्कृत नहीं जानने वाले देशी एवं विदेशी दर्शन-ज्ञान-प्राप्ति के इच्छुक समाज के लिए भारतीय दर्शन-शास्त्र का अध्ययन सुलभ तथा सहज कर दिया। कई ऐसे अनूदित ग्रंथों को उन्होंने अपनी विवेचनशील टिप्पणियों के साथ प्रकाशित किया और कुछ केवल भाषान्तरित किये गये। इस प्रकार के ग्रंथों में से कतिपय के नाम नीचे दिये जाते हैं :–

(१) कात्यायन के भाष्य एवं उद्योतकर के वार्त्तिक के साथ 'न्याय सूत्र', (२) श्रीधराचार्य की 'न्याय-कन्दली' के साथ प्रशस्तपादाचार्य का 'पदार्थधर्मसंग्रह', (३) शबर स्वामी के भाष्य के साथ जैमिनि के 'मीमांसा सूत्र', (४) कुमारिल भट्ट का 'श्लोक-वार्त्तिक', (५) कुमारिल भट्ट का 'तंत्र-वार्त्तिक', (६) व्यास-भाष्य के साथ पातंजलि का योग-सूत्र, (७) वाचस्पति मिश्र की 'सांख्य-तत्त्व-कौमुदी', (८) श्री हर्ष के 'खण्डन-खण्ड-खाद्य', (९) विश्वनाथ न्याय-पंचानन कृत 'सिद्धान्त-मुक्तावली', (१०) कमलशील के भाष्य के साथ शान्ति-रक्षित कृत 'तत्त्व-संग्रह'।

डॉ० गंगानाथ झा द्वारा प्रणीत अन्य दर्शन ग्रंथ निम्नांकित हैं :– (१) दि प्रभाकर स्कूल ऑफ पूर्व मीमांसा, (२) शंकराचार्य एण्ड हिज वर्क, (३) दि फिलॉसाफिकल डिसिप्लिन, तथा मंडन मिश्र के 'मीमांसानुक्रमणी' पर संस्कृत में भाष्य। डॉ० झा ने दर्शन

संबंधी त्रैमासिक पत्रिका 'इण्डियन थॉट' का सम्पादन १९०७ से १९१८ ई० तक किया था।

डॉ० झा अप्रतिम विद्वान् थे तथा उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने दर्शन, साहित्य एवं विधि सम्बन्धी ग्रंथों की रचना की। मनुस्मृति पर मेघातिथि के भाष्य का उन्होंने अनुवाद किया। वह बृहद् ग्रंथ है, और आठ भागों में समाप्त हुआ है। हिन्दू जुरिसप्रूडेन्स पर वह मान्य एवं प्रामाणिक ग्रंथ का स्थान रखता है। उनकी उपर्युक्त कृतियाँ प्राच्य सनातन ज्ञानार्जन पद्धति एवं नवीन प्रतीच्य समालोचनात्मक पद्धति का समन्वय है। विश्व के बड़े-बड़े दार्शनिकों एवं विद्या-व्यसनियों ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

पं० रामावतार शर्मा की विद्वत्ता एवं प्रतिभा भी अद्वितीय थी। उनका संस्कृत-ज्ञान अगाध था तथा विवेचन-शक्ति विलक्षण थी। वे स्वतन्त्र विचार के समालोचक थे। उन्होंने एक नया दर्शन संसार को दिया। बहुतों के विचार में उनका यह दर्शन-शास्त्र भारतीय प्राचीन षट्दर्शनों के टक्कर का माना गया है। उन्होंने व्याकरण, दर्शन, साहित्य एवं इतिहास सम्बन्धी अनेक ग्रंथों की रचना की थी। संस्कृत का विश्वकोष प्रस्तुत करना उन्होंने आरम्भ किया था, पर उनके जीवन-काल में वह कार्य पूरा नहीं हो सका। प्रतीच्य दर्शन पर हिन्दी में ग्रंथ लिखनेवाले वे प्रथम भारतीय थे। उनका 'परमार्थ दर्शन' ग्रंथ १९१३ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस नवीन ग्रन्थ ने दर्शन-ज्ञान के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। उनकी अधिक प्रसिद्धि इसी ग्रंथ के प्रणेता के रूप में हुई।

'परमार्थ दर्शन' में छः अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय दो भागों में बाँटा गया है। उसमें ४४५ संस्कृत सूत्र दिये गये हैं। उस ग्रंथ का लेखन मिथिला के महान् दार्शनिक ऋषि गौतम एवं कणाद की शैली पर किया गया है। प्रत्येक जिज्ञासा का समाधान पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष के दो श्लोकों में अति संक्षेप में किया गया है। ग्रंथ में इस प्रकार के श्लोकों के १२० जोड़े हैं, जिन्हें 'अधिकरण-रत्न-माला' की संज्ञा प्राप्त है। सूत्रों के साथ-साथ ग्रंथ-रचयिता ने पाद-टिप्पणियों में अपना स्वतंत्र विचार स्वरचित श्लोकों में अंकित किया है। इस प्रकार के श्लोकों को वार्तिक कहा गया। किन्तु शर्म्माजी को इतने पर ही संतुष्टि न हुई। उन्होंने अपने उपर्युक्त सूत्रों पर गद्य में भाष्य लिखना आरम्भ किया। उसका प्रथम अध्याय उनकी मृत्यु के पश्चात् 'संस्कृत-संजीवन' नाम पत्रिका में १९४३ ई० में प्रकाशित हुआ था। दरभंगा के मिथिला-शोध-संस्थान के द्वारा उनकी पूरी कृतियों का प्रकाशन हो रहा था।

शर्माजी की विचारधारा वैज्ञानिक थी। सच्चे ज्ञान की प्राप्ति के हेतु मान्य तथ्य को वे विवेचन की कसौटी पर कसकर उसकी सूक्ष्मतम तह तक पहुँचने का प्रयत्न करते थे। अनुभव एवं तर्क पर उनका विश्वास था, दिव्य दृष्टि अथवा शास्त्रोक्त प्रमाणों पर नहीं। विवेचनीय ज्ञान के मूल का पता लगाने के हेतु उनके दो मार्ग थे– एक अनुभूति का तथा दूसरा अनुमान का।

जीर्ण वस्त्र को परित्याग कर नवीन शरीर धारण करनेवाली गीता की उक्ति के वे विरोधी थे।

प्राचीन प्राच्य दर्शन के पुनर्जन्म-सिद्धान्त को शर्म्माजी नहीं मानते थे। जीर्ण वस्त्र का परित्याग कर नवीन वसन धारण करने के समान आत्मा के पुराने शरीर को छोड़कर नये वपु ग्रहण करनेवाली गीता की उक्ति के वे समर्थक नहीं थे। आस्तिक दर्शन का आवागमन-सिद्धान्त उनको अमान्य था। किन्तु वे भौतिकवादी चार्वाक की भाँति अनीश्वरवादी भी नहीं थे। उन्होंने लोकायत के अनीश्वरवादी भौतिकवाद का सशक्त विरोध किया था। वे ईश्वर को सर्वात्म एवं सर्वव्यापी मानते थे। क्षणभंगुर चर और अचर को समुद्र से उद्भूत बुलबुला के समकक्ष वे समझते थे। जिस प्रकार समुद्र-जल फेन और बुलबुले का रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार सर्वात्म भिन्न-भिन्न साकार रूप धारण करता है किन्तु वास्तव में समुद्र-जल एवं फेन-बुलबुला एक है, दो नहीं। फेन और बुलबुले का जल वारिधि-वारि में विलीन होकर अन्ततोगत्वा वारिधि ही बन जाता है। वह कहीं अन्यत्र आता-जाता नहीं है। वे प्रकृति एवं दृश्य जगत् के परे परमात्मा के अस्तित्व को नहीं मानते थे। वे उसको परमात्मा का अंश समझते थे, तथा उसे परमेश्वर का रूप स्वीकार करते थे।

निगुर्ण निराकार ब्रह्म की भावना उन्हें अस्वीकृत थी और वेदान्तवादी स्वामी शंकराचार्य का मायावाद भी उन्हें ग्राह्य नहीं था। शर्म्माजी का ईश्वरवाद उस अलौकिक एवं अमोघ शक्ति का द्योतक था जो सतत, सर्वात्मा, सर्वभूत एवं सर्वव्यापी के रूप में स्वतः एवं स्वभावतः सहज ही कर्मशील है। शर्म्माजी साक्षी एवं विषय के पृथक्त्व में विश्वास नहीं करते थे। उनके मतानुसार कर्त्ता बिना कर्म के और कर्म बिना कर्त्ता के कदापि रह नहीं सकता है। ईश्वरत्व भाव में दोनों का समावेश आवश्यक है। कपिल के सांख्यवाद, चार्वाक के अनीश्वरवाद एवं शंकर के मायावाद, तीनों के विरुद्ध उनका दोष दर्शन था। उनका विचार था कि कपिल के चेतन (साक्षी) एवं जड़ (विषय) के बीच कृत्रिम भेद को घुसाया है। चार्वाक ने साक्षी को विषय का रूप दिया है, तथा शंकर ने विषय को साक्षी मान लिया है। जैन-दर्शन, बौद्ध-दर्शन एवं वैशेषिक न्याय के प्रवर्त्तकों ने भी भूल की है। एक को अनेक मान लेना सत्य के विपरीत है। जैन-दर्शन में जीव का अनेकत्व दर्शाया गया है। बौद्ध-दर्शन में संसार से विरक्ति के साथ कर्मवाद, अनात्मवाद और पुनरागमनवाद का समावेश है। वैशेषिक दर्शन में परमाणुओं और उसके मूलभूत में बहुत्व का भाव सन्निहित है।

अतः वे सभी अमान्य और त्याज्य हैं। अपरिमेय को परिमिति के अन्दर सीमित समझ लेना भी युक्तियुक्त एवं बुद्धिगम्य नहीं है। किसी व्यक्ति-विशेष अथवा स्थान-विशेष में अपरिमेय-बुद्धि का होना यथार्थ नहीं है। इससे अवतारवाद, देवतावाद, तीर्थवाद आदि अयथार्थ मान्यता की सृष्टि होती है। सत्य के अन्वेषकों को शर्म्माजी ने इन सबों से सावधान रहने की शिक्षा दी है।

●

पंचदश अध्याय

मिथिला और मैथिली

यद्यपि बिहार-राज्य की राजकीय एवं साहित्यिक भाषा हिन्दी है, पर इसमें सन्देह नहीं कि उसके अंश मिथिला के जनसमुदाय की बोल-चाल की भाषा मुख्यतः मैथिली है, जिसे वे घर पर अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ व्यवहार में लाते हैं । विशुद्ध मैथिली दरभंगा जिले के उत्तरार्द्ध भाग में व्यवहृत होती है । परन्तु किंचित् विकृत रूप में इसको मुजफ्फरपुर, सहरसा, मुंगेर, भागलपुर तथा पूर्णियाँ के विशेष भाग एवं दरभंगा जिले के दक्षिणार्द्ध अंश में लोग बोलते हैं । बंगाल के मालदह जिला तथा उससे संलग्न दूसरे जिलों के कुछ अंश में भी थोड़ा विकृत रूप में मैथिली भाषा का व्यवहार पाया जाता है । नेपाल की तराई के निवासी की बोल-चाल की भाषा मैथिली ही है । प्राचीन काल में तराई तिरहुत का ही अंश था । इसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है । मुजफ्फरपुर जिले के उत्तर-पश्चिम हिस्से में व्यवहृत जन-भाषा पर भोजपुरी की छाप है । वहाँ की भाषा मैथिली एवं भोजपुरी के सम्मिश्रण से उद्‌भूत मालूम पड़ती है । तिरहुत प्रमण्डल के सारन और चम्पारन जिले की जनता की भाषा पर भोजपुरी का बहुत बड़ा प्रभाव दृष्टिगत होता है । कुछ लोगों ने अब इन स्थानों की इस प्रकार की प्रचलित भाषा को 'वज्जिका' की संज्ञा दी है । 'वज्जिका' शब्द वैशाली के वज्जिसंघ से उद्‌भूत ज्ञात होता है । उसी प्रकार प्राचीन अंग देश के नाम पर 'अंगिका' का नामकरण हुआ प्रतीत होता है । मुंगेर एवं भागलपुर के कुछ भाग में बोली जाने वाली उपर्युक्त प्रकार की भाषा पर मागधी का प्रभाव है ।

स्थान-स्थान पर थोड़ा अन्तर के साथ बोली जाने वाली क्षेत्रीय भाषा मैथिली का व्यवहार करने वाली जनता की संख्या एक करोड़ से कम नहीं होगी । इस क्षेत्रीय भाषा का अपना प्राचीन साहित्यिक इतिहास है । इसकी प्राचीनता इससे ज्ञात होती है कि १२२४ ई० में मिथिला के विद्वान् ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने मैथिली भाषा के गद्य में ग्रन्थ-निर्माण किया था, जिसका उल्लेख प्रसंगवश पूर्व में किया जा चुका है । महाकवि विद्यापति १५वीं शताब्दी के मिथिला की विभूति थे । उनकी कविताएँ मिथिला के घर-घर में प्रचलित हैं। उनकी जन-भाषा में की गयी कविताओं को कुछ लोग हिन्दी की, कुछ मैथिली की, और कुछ बंगला भाषा की कृति मानकर उनके प्रति सभी अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार प्रेम प्रदर्शित करते थे, तथा उद्‌गार प्रकट करते थे । परन्तु इसमें शंका का स्थान नहीं है कि वे मध्य मिथिला के विसफी ग्राम के अधिवासी थे, जहाँ उन्हें ओइनवार-कुल के सप्तम भूपति राजा शिवसिंह देव से जागीर भी प्राप्त हुई थी । विद्यापति के समकालीन उमापति ने भी मैथिली भाषा के गद्य एवं पद्य में अपनी रचनाएँ की थीं ।

मैथिली भाषा में फुटकर काव्य, नाटक, कथानक, विनोद आदि पर छोटी-बड़ी

रचनाओं की कमी नहीं है । चन्दा झा का रामायण, गोनू झा का विनोद आदि मिथिला में सर्वप्रिय है । आधुनिक काल में भी डॉ० गंगानाथ झा, डॉ० अमरनाथ झा, डॉ० उमेश मिश्र, डॉ० सुभद्र झा, पं० ईशानाथ झा, पं० हरिमोहन झा, आदि मिथिला के अप्रतिम विद्वानों ने अपनी-अपनी नाना प्रकार की बहुमूल्य कृतियों से मैथिली भाषा को अति समृद्ध किया है ।

प्राचीन मैथिली भाषा की लिपि बंगला से मिलती-जुलती थी । परन्तु सम्प्रति वह नागरी लिपि में लिपिबद्ध की जाती है । मिथिला के प्राप्य प्राचीन साहित्य के अवलोकन से पता चलता है कि १२०६ ई० से १५२६ ई० तक की अवधि मैथिली भाषा के पल्लवित एवं पुष्पित होने के हेतु अति उत्तम काल थी । इस ऐतिहासिक युग में ज्योतिरीश्वर, विद्यापति आदि जैसे विद्वान् लेखकों एवं कवियों ने जनता की भाषा में पुस्तकें लिखकर और कविताओं की रचना कर नव उद्‌भूत वाणी की श्रीवृद्धि की, जिसके परिणामस्वरूप कालान्तर में वह एक क्षेत्र-विशेष की क्षेत्रीय भाषा के रूप में सिंहासनारूढ़ होने की प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकी । संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के साथ लगातार युद्ध कर अन्त में मैथिली उस युग में अपना अस्तित्व जन-समाज में स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर सकी थी । मैथिली के विकास का कोई क्रमबद्ध इतिहास सामने नहीं है । पर ऐसा लगता है कि ऊद्ध्वर्वाङ्क्त वाणी-संघर्ष में सर्वप्रथम मैथिलीअपभ्रंश का जन्म हुआ, जो सिद्धाचार्य के पदों के परिदर्शन से परिलक्षित होता है । संस्कृत-साहित्य के वाक्य-विन्यास, उपमा-उपमेय, अलंकार आदि से आकृष्ट एवं प्रभावित होकर उन सबों को जन-वाणी में उतारने की चेष्टा तत्कालीन लेखकों एवं कवियों ने की, जिसका परिणाम यह हुआ कि साधारण जन-समुदाय की बोली ने समय पाकर समृद्ध क्षेत्रीय भाषा का मोहिनी रूप धारण किया, और वह लगभग करोड़ से अधिक जनता की मातृभाषा बन गयी ।

कर्णाट क्षत्रिय एवं ओइनवार ब्राह्मण राजकुलों के शासनकाल में अनेकानेक संस्कृत के पारंगत विद्वानों का प्रादुर्भाव हुआ। ऐसे मनीषियों में गंगेश, पद्मनाभ, वीरेश्वर, चण्डेश्वर, विद्यापति, वाचस्पति, पक्षधर, शंकर आदि के नामों का स्मरण हो आता है, जिनकी कृतियाँ आज भी अद्वितीय मानी जाती हैं । इसी युग में उपर्युक्त विद्वानों की प्रतिभा प्राप्त कर मैथिली भी प्रतिभावानों से युक्त हुई और उसमें उच्चकोटि के साहित्य का सृजन होना आरम्भ हुआ । इस युग की देन हमारे सामने कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर-प्रणीत मैथिली भाषा का ग्रन्थ 'वर्णरत्नाकार' है, जिसका प्रकाशन १९४० ई० में कलकत्ता की एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल ने किया था । अभाग्यवश प्राचीन पांडुलिपि की पूरी प्रति प्राप्त न हो सकी थी । पूरे ७७ पन्नों में से १७ विनष्ट हो चुके थे । पर जितने प्राप्त हुए और उनका प्रकाशन हुआ, उन्हीं से मैथिली के विकास के उस आदिकाल में उसके उन्नत रूप का पता चलता है । उसके अवलोकन से परिलक्षित होता है कि उस समय तक मैथिली एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में साहित्य के रंग-मंच पर आ चुकी थी । उसकी सरसता, सरलता, सुन्दरता एवं सौष्ठव लेखक की बुद्धि की प्रखरता, पर्यवेक्षण-कुशलता तथा भाव-प्रकाशन-क्षमता का संयोग प्राप्त कर सभी साथ-साथ निखर उठे । उसकी प्रतिष्ठा विद्वत् समाज में होने लगी और वह साहित्यिक आनन्द के सजीव स्रोत के रूप में साकार हो गयी ।

मध्य-युगीन मिथिला की सामाजिक स्थिति पर उस ग्रन्थ से प्रकाश पड़ता है । उसमें हिन्दू-राजाओं की रहन-सहन, जीवन-यापन, ऐश्वर्य-विभव के साथ-साथ समाज में प्रचलित बुराइयों एवं वीभत्सता का सरल एवं सरस जन-भाषा में ललित प्रचलित प्रयोगों के साथ वर्णन किया गया है । ज्योतिरीश्वर का कोई दूसरा मैथिली भाषा का ग्रन्थ प्राप्य नहीं है । 'धूर्त समागम' एवं 'पंचसायक' उसके द्वारा प्रणीत संस्कृत-ग्रन्थ हैं । ज्योतिरीश्वर का समय १३वीं शताब्दी था । उस काल कर्णाट क्षत्रिय-कुल के राजा नरसिंह देव का मिथिला पर राज्य-शासन था ।

मैथिली भाषा के विकास के आदिकाल में ज्योतिरीश्वर के ग्रन्थ 'वर्ण-रत्नाकर' में प्रयुक्त प्रयोगों के कतिपय नमूने नीचे अंकित किये जाते हैं, जिनमें उपमा-उपमेय के साथ आलंकारिक शब्दों में वर्ण्य-विषय, व्यक्ति अथवा वस्तु की तुलना की गयी है, यथा :-

'निशाक नाइकाक, शंखलय ऐसन, आकाश दीक्षितक कमण्डल ऐसन, चन्द्रकान्तक प्रभा ऐसन, तारकाक सार्थवाह ऐसन, शृंगार-समुद्रक कल्लोल ऐसन, कुमुदवनक प्राण ऐसन, पश्चिमाचलक तिलक ऐसन, अन्धकारक मुक्ति-क्षेत्र ऐसन, कन्दर्पनरेन्द्रक यश ऐसन, लोक लोचनक रसायन ऐसन, मेघक पांडुरता, चाँदक निर्मलता, हंसक पंक्ति, नीरक प्रसन्नता, सफरिक तरंग, काशक कुसुम, कुमुदक प्रकाश, पंकक शोप, शालिक नम्रता रौद्रक तीक्ष्णता, पथिकक संचार, नरपतिक उत्साह, प्रयाणक उद्योग, पद्मनालक उद्गम, मत्सक विकास, चक्रवाकक मेलि, जलक छाया, आकाशक निर्मलता' आदि ।

ज्योतिरीश्वर के पश्चात् लगभग पौने दो सौ वर्षों तक का इतिहास मिथिला में मैथिली भाषा के विकास पर प्रकाश-प्रक्षेपण करने में असमर्थ रहा है । इस क्षेत्र में १३वीं शती के बहुत दिन बाद १५वीं शताब्दी में महाकवि विद्यापति को कार्य करते पाया जाता है, जिनका नाम मैथिली साहित्य में अमर बना हुआ है । कर्णाट-शासन के उत्तरार्द्ध में देश में विदेशी एवं विधर्मी मुसलमानों का उपद्रव और आतंक बढ़ गया था । वातावरण अशान्त था । सन् १३२४-२५ ई० में राजा हरिसिंह देव का रण-पराभव कर मुसलमानों ने मिथिला पर अपना आधिपत्य स्थापित कर दिया । सम्भवतः इन्हीं कारणों से उन दिनों मैथिली और उसके साथ ही संस्कृत साहित्य के विकास के कार्य में ढिलाई आ गयी । ओइनवार ब्राह्मण-कुल के कामेश्वर ठाकुर को मिथिला का राज्य १४वीं शती के मध्य के निकट प्राप्त हुआ । जनपद में शान्ति-सुव्यवस्था स्थापित होने में कुछ समय लगा । पीछे राजा गणेश्वर की हत्या हुई । मिथिला में पुनः युद्ध आरम्भ हुआ । उसके पश्चात् कीर्तिसिंह सिंहासनारूढ़ हुए । उनके शासनकाल में मिथिला का विक्षुब्ध वातावरण शान्त हुआ । जनपद समृद्धशील हुआ । जनता का समय सुख और चैन से बीतने लगा । ऐसी अनुकूल परिस्थिति में देश का बहुमुखी विकास आरम्भ हुआ । साथ ही संस्कृत एवं मैथिली साहित्य में नाना विषयों पर पुस्तकें लिखी जाने लगीं, जिसकी चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है ।

विद्यापति दरभंगा जिले के विसफी ग्राम के विसइवार ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे । इस वंश के कई व्यक्ति मिथिला राज्य के मन्त्री पद पर प्रतिष्ठित हुए थे, तथा कई ने अपनी विद्वत्ता एवं प्रतिभा का प्रदर्शन साहित्य के क्षेत्र में किया था ।

विद्यापति ने राजा कीत्तिसिंह के प्रश्रय में 'कीर्त्तिलता' एवं 'कीर्त्ति-पताका' की रचना अपभ्रंश भाषा में की थी। संस्कृत में भी कई ग्रन्थ– 'पुरुष-परीक्षा', 'विभाग-सार' आदि का सृजन उन्होंने किया था। उन सबों के अतिरिक्त अपनी मातृभाषा मैथिली में महाकवि ने बहुसंख्यक पदों की रचना की। कीर्त्तिसिंह से लेकर भैरवसिंह तक ८ अथवा ९ ओइनवार राजाओं की राज्यसभा के वे देदीप्यमान रत्न रहे थे। राजा शिवसिंह देव के वे बाल-सखा थे, और उनके साथ रहकर उन्होंने विशेषतया मैथिली में पदों का निर्माण किया था। उनकी साधारण शृंगार विषयक रचनाओं से लेकर भगवद्भक्ति के पदों तक में भावोल्लास भरा पड़ा है, जो मानव हृदय को आनन्द-विभोर बना देता है।

कविवर विद्यापति के कतिपय भावूपर्ण पदों का अवतरण नीचे उपस्थित किया जाता है–

'हमर मन्दिर जब आओबं कान,
दीठि भरि हेरब से चाँद बयान।
नहिं नहिं बोलब जब हम नारि,
अधिक पिरिति तब करब मुरारि'॥

अर्थात् जब मेरे मन्दिर में कृष्ण आवेंगे तो मैं उनके चन्द्र-मुख को भर आँख देखूँगी। जब मैं उनकी प्रियतमा के रूप में 'नहीं', 'नहीं' कहूँगी, तब मुरारि (कृष्ण) मुझे और अधिक प्यार करेंगे।

'आज रजनि हम भागे गमाओल,
पेखाल पिया मुखा चन्दा।
जिवन यौवन सफल करि मानल,
दश दिशि भेल निरदन्दा'॥

अर्थात्, मैने अपने प्रियतम का चन्द्रानन निरख कर आज सारी रात्रि सानन्द व्यतीत की। मैंने अपने जीवन और यौवन दोनों को आज सफल माना, क्योंकि दशों दिशाएँ अब मेरे लिए निर्द्वन्द्व और स्वच्छन्द थीं। चिर आयोग के पश्चात् प्रियमिलन का यह अत्युत्कृष्ट वर्णन है।

'कत मधु यामिनि रभस गमाओल,
न बुझल कइसन केली।
लाख लाख युग हीय हिए राखल,
तो हिया जुडल न गेली'॥

अर्थात्, वसन्त ऋतु की कितनी सुहावनी यामिनी मैंने द्वन्द्व में बितायी, किन्तु प्रेम-क्रीड़ा क्या है, यह समझ न पायी। अपने हृदय में लाखों वर्ष तक उन्हें सस्नेह जुगाकर रखा, पर हृदय की कमी उससे संतुष्ट नहीं हुई। यहाँ इस पद में कवि वर्णन करता है कि प्रणयिनी का प्रणय अचिर शिखरारूढ़ हो जाता है, किन्तु उससे उसकी तुष्टि कभी नहीं हो पाती है। प्रेम का आनन्द प्रेम में ही निहित है।

"कत चतुरानन मरि मरि आओत,
न तुअ आदि अवसाना ।
तोहि जनम पुनि तोहि समाओत,
सागर लहरि समाना' ।।

अर्थात्, अगणित ब्रह्मा अवतरित होंगे और मृत्यु को प्राप्त होंगे किन्तु तुम्हारा न ओर है और न अन्त । वे तुममें ही जन्म ग्रहण करेंगे और तुममें ही विलीन हो जायँगे, उसी प्रकार जैसे सागर में बीचिमाला उठती हैं और पुनः उसी में लय हो जाती हैं । यहाँ प्रेयसी की तुलना कवि उदधि में उठने वाली बीचिमाला से करता है और प्रेम की बीचिमाली से अन्त में बीचिमाला को बीचिमाली में लय कर देता है । विशुद्ध प्रेम की पराकाष्ठा यहाँ दिखायी गयी है । कवि का भावोल्लास अतुलनीय है ।

विद्यापति के समकालीन भी कई ऐसे कवि हुए हैं, जिन्होंने मैथिली में अपनी रचनाएँ की हैं । ओइनवार राजकुल की सत्ता का अन्त १५२६ ई० में हुआ । उस काल तक कई ऐसे कवियों और लेखकों के नाम आते हैं, जिन्होंने मैथिली साहित्य का सृजन किया था । विद्यापति की पुत्रवधू चन्द्रकला देवी ने भी मैथिली पदों की रचना की थी । उनके अलावा मैथिली साहित्य सम्वर्द्धन करने वाले उस युग के कवियों और लेखकों में अमृतकर, भानुकवि, जीवनाथ, रुद्रधर एवं गजसिंह के नाम आते हैं, जिन्होंने अपनी लेखनी के द्वारा साहित्य का सृजन कर मैथिली के भण्डार को भरने का सफल प्रयत्न किया था । उपर्युक्त मैथिली-कवियों की कविताओं पर विद्यापति की रचना-शैली एवं उनके विचारों और चिन्तनों की छाप विशेषतया दृष्टिगत होती है ।

ज्योतिरीश्वर के 'वर्ण-रत्नाकर' एवं विद्यापति के ग्रंथ 'कीर्त्तिलता' और कीर्त्तिपताका' में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, वह अवहट्ट वा अवहत्थ (अपभ्रष्ट) नाम से प्रसिद्ध है । यह अवहट्ट पश्चाद्वर्त्ती अपभ्रंश से उद्भूत हुआ है, जिसमें प्राचीन मैथिली एवं पश्चिमी शौरसेनी का सम्मिश्रण विशेष रूप में पाया जाता है । यह वही अवहट्ट है जिसका व्यवहार 'प्राकृतपैंगलम्' में हुआ है । इस ग्रन्थ में ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शती तक रची गयी कविताओं में से उदाहरण के रूप में अनेक उद्धरण उपस्थित किये गये हैं । विद्यापति के अवहट्ट भाषा में प्रणीत अनेक पदों में मैथिली एवं हिन्दी का सम्मिश्रण दृष्टिगत होता है । ज्योतिरीश्वर के गद्य ग्रंथ 'वर्ण-रत्नाकर' में भी ऐसे अनेक प्रयोग पाये जाते हैं, जो मुख्य रूप से हिन्दी के हैं । सच्ची बात यह है कि प्राचीन लेखकों के मस्तिष्क में स्थानवाद की संकीर्णता नहीं थी । अपनी रचनाओं में उन सबों ने उन सभी शब्दों एवं प्रयोगों को अपनाया था जिनका व्यवहार जनसाधारण द्वारा किया जाता था । लेखक के निवास-स्थान की प्रचलित बोलचाल की भाषा में शब्दों का प्रयोग भी उन सबों की कृतियों में प्रचुरता से होना स्वाभाविक था । क्षेत्रीय भाषाओं का उद्भव एवं विकास इसी प्रकार होता पाया गया है । ब्रजभाषा भी इसी प्रकार से सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई थी, जिसका घनिष्ठ सम्बन्ध शौरसेनी से माना जाता है । विद्यापति के ग्रंथ 'कीर्त्तिलता' में अवहट्ट एवं ब्रजभाषा का अविच्छिन्न सम्बन्ध प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है। 'कीर्त्तिलता' के प्रणयन के पूर्व १४वीं शताब्दी में उमापति ने 'पारिजातमंगल' नामक छन्दोबद्ध नाटक की

रचना की थी। उस ग्रन्थ का सृजन निश्चित रूप से ब्रजभाषा में हुआ था जिसमें हिन्दी और मैथिली का व्यवहार समान रूप से साथ-साथ किया गया है। उपर्युक्त उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति-युग में तथा उसके पूर्व भी क्षेत्रीय जन-बोली के रूप में कई भाषाएँ मिथिला में प्रचलित थीं, जिनका व्यवहार कवियों एवं लेखकों द्वारा बिना किसी प्रकार के भेदभाव के साथ होता था। वर्तमान मैथिली के रूप में स्थानानुसार किंचित् भिन्नता का यही कारण हो सकता है। दरभंगा जिला का उत्तरार्द्ध विद्याव्यसनी मैथिल ब्राह्मण मनीषियों एवं बुद्धिजीवी मेधावी मैथिल कायस्थों का अभेद्य गढ़ था और अब भी है। इस कारण विशुद्ध मैथिली का सम्यक् विकास उस क्षेत्र में मिथिला के अन्य अंशों से अपेक्षाकृत अधिक हुआ।

विद्यापति-काल (१५वीं शताब्दी) से लेकर गोविन्द दास (१७वीं शती) के युग के बीच मैथिली साहित्य की श्रीवृद्धि करने वाले कवियों एवं लेखकों का पता बहुत कम मिलता है। इन दो सौ वर्षों की अवधि के साहित्य पर भी विद्यापति-शैली का गहरा प्रभाव दृष्टिगत होता है। इस समय के किसी ऐसे प्रतिभावान् कवि के उद्भव का पता इतिहास नहीं देता है, जिसकी प्रतिभा विद्यापति के समान रही हो। मिथिला की राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति भी मुसलमानों के आतंक तथा बार-बार के आक्रमणों से अशान्त और डँवाडोल थी। इस कारणों से भी मैथिली साहित्य का विकास उस अवधि में पूरी तरह न हो सका। विद्वत्समाज का आदर एवं स्नेह अब भी मैथिली की अपेक्षा संस्कृत से अधिक था।

ओइनवार-राजवंश के राज्य-शासन का अन्त १५२६ ई० में नसरत शाह के द्वारा हुआ। मिथिला पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। इस परिस्थिति में हिन्दू जनता के सभी प्रकार के विकास-कार्य ठप पड़ गये। साहित्य-सृजन की प्रगति में नयी बाधा उपस्थित हुई। इसके पश्चात् १५५६ ई० में दिल्ली के मुगल सम्राट् ने मिथिला का राज्य खण्डवला ब्राह्मण कुल के महेश ठाकुर को दिया। इससे परिस्थिति में परिवर्त्तन आया, और साहित्य-रचना की ओर भी जन-प्रवृत्ति प्रगतिशील हुई। महेश ठाकुर, महीनाथ ठाकुर आदि ने १६वीं शती में ईश-भक्ति सम्बन्धी साहित्य का निर्माण किया।

गोविन्द दास का प्रादुर्भाव १६वीं शती के अन्तिम चरण अथवा १७वीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ। राजा हरिसिंह देव द्वारा चालित पंजीप्रबन्ध के क्रम से इसका पता चलता है। उनकी रचनाओं का मुख्य विषय भगवद्भक्ति विषयक राधा-कृष्ण का नैसर्गिक प्रेम-वर्णन था। इस प्रकार का साहित्य जन-प्रिय होता था, और उसके द्वारा कवि के कवित्व का स्फुटन और उसका प्रचार-प्रसार समाज में शीघ्रता के साथ सहज रूप में होता था। विष्णुपुरी का 'भगवद्भक्ति-रत्नाार' भी इसी कोटि का ग्रन्थ था। इसमें भगवद्भक्ति के साथ ही भक्तकवि की अद्भुत कवित्व शक्ति एवं अलौकिक प्रतिभा प्रस्फुटित हो उठी है।

राधा-कृष्ण की भक्ति तथा प्रेम सम्बन्धी साहित्य का सृजन १२वीं शताब्दी में ही आरम्भ हो गया था। इस विषय की जयदेव रचित पुस्तक 'गीतगोविन्द' सर्वप्रिय एवं प्रसिद्ध है। विद्यापति ने भी इस पद्धति का अनुकरण अपने भक्ति विषयक पदों में किया

था। इसी परिच्छेद में 'हमर मन्दिर जब आओव कान' का उद्धरण विद्यापति के पदों में निहित भावोल्लास को दिखलाने के हेतु अन्यत्र अंकित किया गया है। विद्यापति के इस प्रकार के अनेक पद राधा-कृष्ण-प्रेम-वर्णन के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। गोविन्द दास के काल में मिथिला में राधा-कृष्ण के प्रति भक्ति-प्रेम-प्रदर्शन की इस पद्धति का जनता में अत्यधिक प्रचार हो चुका था। समसामयिक साहित्यिक कलाकारों की इस विषय पर बहुसंख्यक रचनाएँ समाज के सम्मुख आयीं। इस काल में तथा इसके पीछे भी इस विषय पर अनेक नाटक ग्रंथ प्रस्तुत हुए और गेय पदों का निर्माण हुआ। ऐसे कलाकारों में गोविन्ददास का स्थान सबों से आगे और ऊँचा था। बंगाल के महान् भक्त चैतन्य महाप्रभु के वैष्णव सम्प्रदाय की राधा-कृष्ण विषयक भक्ति-भावना का प्रभाव गोविन्द दास की रचनाओं पर कहाँ तक पड़ा था, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता है। परन्तु इसमें शंका करने का स्थान नहीं है कि चैतन्य की राधा-कृष्ण सम्बन्धी प्रेम-भावना पर मिथिला के विष्णुपुरी एवं विद्यापति की रचनाओं का पूरा-पूरा प्रभाव था। उन दिनों बंगाल और मिथिला के बीच सांस्कृतिक एवं सामाजिक सम्बन्ध ढीला नहीं पड़ा था। यह व्यापक और सुदृढ़ था। रूप गोस्वामी की 'पदावली' (जिसका प्रकाशन एस० के० डे ने ढाका से १९३४ ई० में किया था) में तीरभुक्ति के कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं का समावेश किया गया था। इससे स्पष्ट होता है कि राधा-कृष्ण की भक्ति के प्रति बंगाल एवं मिथिला की भावना एक-सी थी।

गोविन्द दास के अनुज रामदास ने 'आनन्द विजयाभिधान' का प्रणयन किया था। उसका प्रकाशन राज प्रेस, दरभंगा से महेश झा के द्वारा सन् १९३३ में हुआ था। यह पुस्तक चार अंकों की नाटक के रूप में लिखी गयी थी, जिसमें कृष्ण के राधा के साथ विवाह का वर्णन है। पुस्तक सुन्दर आलंकारिक मैथिली में लिखी गयी है, और उसके गेय पद भी अति ललित हैं।

उमापति ने 'पारिजात-हरण' नामक नाटक लिखा। इस पुस्तक के गीत सरल पर सरस मैथिली में लिखे गये हैं जो चित्तग्राही, मनमोहक एवं हृदय-स्पर्शी हैं। इस नाटक के लेखक उमापति का समय १७वीं शताब्दी का अन्त और १८वीं शताब्दी का आरम्भ काल था। ये दरभंगा के महाराज नरपति ठाकुर और राघव सिंह के समय में हुए थे। महाराज नरपति ठाकुर का शासनकाल १६९० से १७०० ई० तक था, तथा महाराज राघव सिंह का १७०० ई० से १७३९ ई० तक।

लोचन कवि ने 'रागतरंगिणी' नामक संगीत-ग्रन्थ का प्रणयन किया था। इसका प्रकाशन राज प्रेस, दरभंगा से वि० सं० १९९१ में हुआ था। ये दरभंगा के महाराज महीनाथ ठाकुर के समय में हुए थे। महीनाथ ठाकुर नरपति ठाकुर के अग्रज थे। लोचन कवि संगीताचार्य होने के साथ-साथ कुशल कवि भी थे। लोचन कवि की कृति की एक पाण्डुलिपि भी प्राप्य है, जिसमें १६८५ ई० अंकित है। लोचन कवि ने अपनी रचना में महीनाथ ठाकुर की चर्चा भी की है।

'रागतरंगिणी' में कवि ने रागों के वर्णन के प्रसंग में विद्यापति को लेकर ४० कवियों के गेय पदों का अंकन किया है। इस पुस्तक से १५वीं शताब्दी से लेकर १७वीं शती तक

की मिथिला के साहित्य एवं कला सम्बन्धी विकास पर प्रकाश पड़ता है । आगे की ओर दृष्टिपात करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि १८वीं सदी के मध्य तक मिथिला में जितने साहित्य का सृजन हुआ, उन सबों का सम्बन्ध नाटक और संगीत से था । गेय कथानकों में कृष्ण-प्रेम का वर्णन विशेषकर रहता था । पीछे गौरी-दिगम्बर अर्थात् शिव-पार्वती की विवाह सम्बन्धी रचनाएँ भी प्रस्तुत की जाने लगीं । इस प्रकार के साहित्य एवं गेय पदों का प्रचार नेपाल में मिथिला में प्रचलित पद्धति का अनुसरण होना आरम्भ हुआ। इस युग में नेपाल में अनेक लेखक एवं कलाकार उत्पन्न हुए, जिन्होंने मिथिला के लेखकों एवं कवियों के पदचिह्नों का अनुसरण कर कीर्त्तनियाँ पद्धति के नाटकों का सृजन किया।

मिथिला के अनेक लेखकों ने उमापति के 'पारिजात-हरण' का आदर्श सम्मुख रख कर कीर्त्तनियाँ नाटकों की रचना की । रमापति उपाध्याय ने 'रुक्मिणी-हरण' तथा लाल कवि ने 'गौरी-स्वयम्वर' का प्रणयन किया । दरभंगा के महाराज नरेन्द्र सिंह के समय में मनबोध कवि ने 'कृष्ण-जन्म' नामक ग्रन्थ लिखा । यह रामायण की भाँति काव्य ग्रन्थ है। महाराजा नरेन्द्र सिंह का शासनकाल १७४३ से १७७० ई० तक था । मंगरौनी-निवासी लाल कवि ने इन्हीं के समय में हुए कन्दर्पीघाट के युद्ध का रोचक वर्णन किया था, जो पुस्तक में अन्यत्र अंकित किया गया है । मनबोध कवि ने अपने 'कृष्ण जन्म' काव्य में तत्सम शब्दों का व्यवहार न करने की यथासाध्य चेष्टा की है । पर इससे उनके भाव-प्रदर्शन में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं आने पायी है। कवि की विद्वत्ता का यह परिचायक है ।

उपर्युक्त उल्लेख १८वीं शती के द्वितीय एवं तृतीय चरण में हुए मैथिली साहित्य के विकास के सम्बन्ध में किया गया है । इस काल की रचनाओं के अवलोकन से पता चलता है कि तब के पूर्व से व्यवहृत भाषा एवं साहित्य-सृजन की पद्धति में किसी प्रकार का उन्नति अथवा हेर-फेर नहीं हुआ था । पर इसमें सन्देह नहीं कि भाव व्यक्त करने की बोल-चाल की भाषा में उत्तरोत्तर उन्नति हो रही थी । उसका विकास उस काल प्रगतिशील था । उमापति एवं रामदास ने १७वीं शताब्दी में नाटक लिखने में जिस कला का आश्रय लिया था, पश्चाद्वर्त्ती लेखकगण उन्हीं के आदर्श का अनुसरण १८वीं शती के मध्य तथा उसके कुछ पश्चात् तक करते रहे । कृष्ण-गाथा से सम्बन्धित कीर्त्तिनियाँ पद्धति के नाटकों का प्रणयन उस काल भी चल रहा था । उनकी रचनाओं में संस्कृत एवं प्राकृत के शब्दों का बाहुल्य रहता था । यह शैली १८वीं शती के अवसान तथा १९वीं शताब्दी के उदय-काल में भी चल रही थी ।

उमापति कवि के 'पारिजात-हरण' का वर्णन १७वीं शताब्दी की मैथिली-साहित्य में प्रयुक्त भाषा तथा शैली का उत्कृष्ट नमूना है । उसके गेय-पदों में लेखक की अपनी विशेषता सन्निहित है । वे सरल, सरस एवं मधुर हैं । उनमें प्राकृत के प्रयोग की कमी है। किन्तु १८वीं शती के मध्य के मैथिली-कवि मनबोध की पुस्तक 'कृष्ण-जन्म' में एक बड़ी विशेषता यह देखी जाती है कि उसकी भाषा को लेखक ने जन-साधारण के समझने के योग्य बनाया है । उस कवि ने अपने महाकाव्य का वर्ण्य-विषय पुराणों के आख्यान से लिया है, पर उसमें अपने भाषा सम्बन्धी सिद्धान्त को निबाहने का सफल प्रयत्न आदि से अन्त तक किया है ।

पूर्व में १८वीं शती के प्राचीन कीर्त्तनियाँ पद्धति के कवि रमापति तथा लाल कवि एवं उनकी कृतियों का उल्लेख किया गया है । उनके अतिरिक्त उस काल में ऐसे और भी अनेक लेखक एवं कवि हुए, जिन्होंने उपर्युक्त प्राचीन पद्धति का अनुसरण कर मैथिली साहित्य की श्रीवृद्धि की । ऐसे कवियों में नन्दीपति, गोकुलानन्द, जयानन्द कर्ण आदि के नाम आते हैं । नन्दीपति कवि ने 'कृष्ण-केलि-माला', गोकुलानन्द ने 'मन चरित नाटक' तथा जयानन्द कर्ण ने 'रुक्मांगद नाटक' का प्रणयन किया था ।

ऊद्धर्वाङ्किकत कवियों के पश्चात् भी पूर्वोक्त पद्धति का अनुसरण करना १९वीं शताब्दी के लेखकों और कवियों ने कुछ काल तक चालू रखा था । कन्हा रामदास ने 'गौरी-स्वयंवर', रत्नपाणि ने 'उषा-हरण', भानुनाथ ने 'प्रभावती-हरण' तथा हर्षनाथ ने 'उषा-हरण' नामक नाटक की रचना की थी ।

कीर्त्तिनियाँ-पद्धति का साहित्य अब कृष्ण-लीला वर्णन तक ही सीमित नहीं रहा । शिव-पार्वती के विवाह-सम्बन्धी साहित्य का सृजन भी पीछे मैथिली भाषा में आरम्भ हो गया । उस विषय पर नाटक एवं गेय-पद लिखे जाने लगे । जैसे-जैसे समय बीतता गया, जनता की रुचि एवं माँग के अनुसार इस प्रकार की रचनाओं में मिथिला में प्रचलित सामाजिक प्रथा के अनुकूल बटगमनी, नयना-योगिन आदि गानों का समावेश होने लगा । अठारहवीं शती के मध्य काल के पश्चात् के कवि रमापति उपाध्याय के 'रुक्मिणी-हरण' तथा लाल कवि के 'गौरी-स्वयंवर' में इस कोटि के गीतों का समावेश पाया जाता है ।

ऊपर लिखा जा चुका है कि मनबोध जैसे प्रवीण कवि ने अपनी रचनाओं में जन-साधारण के समझने योग्य अति सरल एवं सुबोध मैथिली का प्रयोग किया था । नन्दीपति की 'कृष्ण-केलि-माला' की भाषा भी उसी कोटि की है । किन्तु पश्चाद्वर्त्ती लेखक रत्नपाणि, हर्षनाथ आदि ने उस पथ का परित्याग कर दिया । उनकी रचनाओं में संस्कृत साहित्य का अनुकरण किया गया है। उन सबों ने श्लेषार्थ-प्रधान आलंकारिक भाषा का प्रयोग विशेषतया किया है, जिससे उनकी कृतियों का आदर जन-साधारण के वृत्त की अपेक्षा साहित्य-प्रेमी सुधी समाज में ही अधिक सीमित रह गया है ।

लक्ष्मीनाथ, मँगनी राम, साहेब रामदास आदि ने भक्ति विषयक कविताओं की रचना की थी । ऐसे कवियों की एक भिन्न कोटि थी । इन सबों ने अपनी अनुभूतियों के आधार पर अपना-अपना स्वतन्त्र विचार अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है, जिनकी भाषा सरल और सभी वर्ग के पाठकों के लिए बोधगम्य थी ।

दरभंगा के महाराज महेश्वरसिंह की मृत्यु १८६० ई० में हुई । उनकी मृत्यु के पश्चात् दरभंगा-राज्य की व्यवस्था का भार प्रतिपालक अधिकरण (कोर्ट ऑफ वार्ड्स) के ऊपर आया । महेश्वरसिंह के दोनों राजकुमार लक्ष्मीश्वरसिंह एवं रमेश्वरसिंह अल्पवयस्क थे । दरभंगा के ब्राह्मण राजा के प्रश्रय में मैथिली भाषा दिनानुदिन प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रही थी । राज्य प्रतिपालक अधिकरण का अधिकार होने से उसकी प्रगति को भारी चोट लगी । वहाँ उर्दू के प्रवेश के साथ-साथ पाश्चात्य शिक्षा, बोलचाल एवं भाषा की प्रतिष्ठा बढ़ गयी । मिथिला में १८८१ ई० में घोर अकाल पड़ा । उसका वर्णन [illegible] ने किया

है । उसके अवलोकन ने उस काल की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है । अंगरेजी शिक्षा का प्रचार आरम्भ हुआ । दरभंगा राज स्कूल की स्थापना १८८८ ई० में हुई । ग्रीयर्सन साहब ने मैथिली भाषा का स्वयं अध्ययन किया । उन्होंने वहाँ के मैथिल विद्वानों को मैथिली की व्याकरण सम्बन्धी परीक्षा करने के हेतु उत्साहित किया । उस अंगरेज विद्वान् ने १८८२ ई० में 'मैथिली क्रेस्टोमैथी' तथा १८८४ ई० में 'ट्वेन्टी वन वैष्णव हीम्स' का प्रकाशन कराया ।

मैथिली के पश्चाद्वर्त्ती प्रवीण कवियों एवं लेखकों में पं० चन्दा झा एवं पं० जीवन झा के नाम उल्लेखनीय हैं । पं० चन्दा झा गद्य और पद्य दोनों के धुरन्धर लेखक थे । उनकी कृतियों में रामायण अति प्रसिद्ध एवं जनप्रिय है । उसकी भाषा ललित एवं पाण्डित्य-पूर्ण है । विद्यापति के संस्कृत ग्रन्थ 'पुरुष-परीक्षा' का अनुवाद उन्होंने मैथिली गद्य में किया था । चन्दा झा के समय के मैथिली-गद्य का नमूना नीचे उद्धृत किया जाता है :–

'छलि गंगातीर में कम्पिला नामक नगरी । ततय हेमांगद नामक राजा छलाह । से स्वर्ग प्राप्त सन्ताँ मन्त्रिलोकनि राजाक पुत्र रत्नांगद नाम कुमार कं राजा कयल । से पुन राज्य पावि पितृधन सौं गरवित ओ यौवन मद सों अन्याय प्रवृत्त होइत भेलाह ।'

उपर्युक्त अवतरण पं० चन्दा झा पर पं० बलदेव मिश्र द्वारा प्रणीत पुस्तक के उपोद्घात का है, जिसकं लेखक डॉ० अमरनाथ झा हैं ।

पं० जीवन झा के तीन नाटक प्रसिद्ध हैं। वे हैं–(१) 'सुन्दर संयोग', (२) 'समवती पुनर्जन्म' तथा (३) 'नर्मदा-सागरसट्टक' । इनके सभी नाटक सामाजिक हैं तथा विशुद्ध मैथिली में लिखे गये हैं । मुंशी रघुनन्दन दास ने अपने नाटकों में समाज में प्रचलित गुण-दोषों की समीक्षा सरल एवं ललित मैथिली में की है ।

कुमार गंगानन्द सिंह का 'जीवन-संघर्ष' तथा श्री योगानन्द झा का 'मुनिक-मतिभ्रम' उच्च कोटि के नाटक ग्रंथ हैं । रंगमंच पर खेलने के लिए मैथिली भाषा के नाटकों में इनका स्थान श्रेष्ठ है ।

पं० जीवन झा आदर्श नाटककार होने के साथ-साथ कुशल कवि भी थे । उनकी कविता का नमूना अधोऽङ्कित है :–

''विरचल चीकन चौरस चाकर चानन पोर ।
कदमक डारि बन्हाओल दृढ़ कय रेशम डोर ।।
जलद पटल नभ घुमड़ल उमड़ल मानस मोर ।
दामिनि सम तनु पहिरल पिय अनुराग पटोर ।।''

पं० जीवन झा के काल से ही मैथिली के कवियों की कवित्व-शक्ति का प्रवाह द्वयदिशिगामी दृष्टिगत होने लगा । अनेक प्राचीन पथ के अनुयायी कलाकारों की कविता वर्णनात्मक बनी रही और कितनों ने भावपूर्ण कल्पनात्मक काव्यों की सृष्टि के लिए सजग और सचेष्ट होकर लेखनी हाथ में ली । वर्णनात्मक कविता के रचयिता कवि उस काल में कई हुए, जिनमें कविवर सीताराम झा एवं कविशेखर बदरीनाथ झा के नाम विशेष

उल्लेखनीय है । पं० सीताराम झा की रचना-शैली अति सरल और सुबोध थी । उस विद्वान् ने मैथिली साहित्य की सेवा चिरकाल तक की । पं० मुरलीधर झा भी मैथिली साहित्य-क्षेत्र के एक विशिष्ट कलाकार थे । पं० बदरीनाथ झा मैथिली के विद्वान तो थे ही, पर साथ ही वे संस्कृत के भी पारंगत पण्डित थे । मैथिली साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण करने के पूर्व वे संस्कृत-साहित्य रचना-क्षेत्र में विचरण कर रहे थे । सर्वप्रथम उन्होंने 'राधा-प्रणय' नामक अति उच्च कोटि का ग्रन्थ संस्कृत में लिखा था । उसके पश्चात् मैथिली में उन्होंने 'एकावली परिणय' का प्रणयन किया । यह महाकाव्य १५ परिच्छेदों में समाप्त हुआ है । इस ग्रंथ का मुख्य नायक एकवीर है । उसके वीरतापूर्ण कृत्यों का सुन्दर चित्रण ग्रन्थ में किया गया है । अन्त में उस वीर का विवाह एकावली के साथ सम्पन्न करा कर ग्रन्थ की समाप्ति की गयी है । इस कुशल कवि की भावपूर्ण एवं सरस कविता का नमूना नीचे प्रस्तुत किया जाता है, यथा–

'घर-घर चतुर विलासिनि, लेसल मंगल दीप ।
आरति कय अरियाति जनि, आनल मदन-महीप ।।
प्राची-मुख-चन्दन-तिलक, रजनी-रति-रस-कंद ।
तृषित चकोरी-दृग अमृत, गेल गगन मे चंद ।।

मैथिली के कवियों की कविताओं की उपर्युक्त शैली नवीन थी । भुवनेश्वर सिंह 'भुवन' ने 'असाढ़' की रचना की थी । उन्होंने उसमें पूर्वोक्त शैली को अपनाया था । उसी काल से उनके समकालीन अन्य कवियों ने भी उस पथ का अनुसरण करना आरम्भ किया । इस नवीन पद्धति पर कविता करने वाले कलाकारों में सुरेन्द्र झा 'सुमन', चन्द्रनाथ मिश्र 'अमर', कांचीनाथ झा 'किरण', अच्युतानन्द दत्त, ईशानाथ झा, काशीकान्त मिश्र 'मधुप', भोला लाल दास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं ।

पं० वैद्यनाथ झा ने मैथिली कविता के क्षेत्र में अतुकान्त पदों को लिखकर नया प्रयोग आरम्भ किया । उन्होंने अपने छन्दों के चरणों को यति-बन्धन से उन्मुक्त किया। उनकी रचना-शैली की बानगी नीचे दी जाती है, यथा–

'सत्य थिक संसार,
सत्य थिक मानव समाजक क्रमिक उन्नति,
क्रमिक वृद्धि विकास,
सत्य थिक संघर्षरत जनताक ई इतिहास,
सत्य धरती, सत्य थिक आकाश,
परम सत्य मनुक्ख अपनहि थिक ।।'

मैथिली के विद्वान् लेखकों ने सामाजिक प्रश्नों के आधार पर गल्प, आख्यायिका, उपन्यास तथा इसी प्रकार के और भी विनोदात्मक साहित्य का सृजन गद्य में करना आरम्भ किया । पं० परमेश्वर झा ने 'सीमन्तिनी-आख्यायिका' की रचना की । कुमार गंगानन्द सिंह ने 'अगिलही' तथा योगानन्द झा ने 'भलमानुस' का प्रणयन किया । आचार्य हरिमोहन झा

का नाम मैथिली साहित्य के व्यंग्यात्मक उपन्यास-लेखक के रूप में अति विख्यात है। उनकी लेखन-शैली मनोरंजक एवं हृदयग्राही है। उनका समालोचनात्मक विनोद सीधे पाठकों के मर्मस्थान का स्पर्श करता है। अतः उनकी कृतियाँ लोकप्रिय हैं। पं० जीवछ मिश्र, पं० शशिनाथ चौधरी, पं० उपेन्द्रनाथ झा 'व्यास', आचार्य उमानाथ झा, डॉ० ब्रजकिशोर वर्मा, पं० मनमोहन झा आदि मनीषियों की सेवा भी मैथिली गद्य साहित्य के सम्बर्द्धन-क्षेत्र में प्रशंसनीय एवं उल्लेखनीय हैं। मैथिली में साहित्यिक समालोचना तथा एतद्विषयक लेख लिखने वाले महान् विद्वानों में कुमार गंगानन्द सिंह, डॉ० उमेश मिश्र, डॉ० जयकान्त मिश्र, आचार्य रमानाथ झा, आचार्य श्रीकान्त मिश्र, श्री नरेन्द्रनाथ दास एवं श्री भोलालाल दास के नाम सामने आते हैं।

भारतवर्ष के अनेक विश्वविद्यालयों में मैथिली भाषा का सम्मान्य स्थान प्राप्त हो चुका है। शिक्षण-संस्थाओं में व्यवहार के हेतु पाठ्य-ग्रन्थों का सृजन हो रहा है। व्याकरण पर पुस्तकें लिखी गयी हैं। कोष, इतिहास, भूगोल आदि के क्षेत्र में भी साहित्य-सृजन प्रगतिशील है।

षोडश अध्याय

मिथिला और जातिव्यवस्था

ऋग्वैदिक काल में समाज चार वर्णों में विभक्त था । उनमें प्रथम तीन को 'द्विज' की संज्ञा प्राप्त थी, क्योंकि उनका यज्ञोपवीत अथवा उपनयन संस्कार होता था । वेदनिर्दिष्ट आध्यात्मिक अनुशासन के साथ जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा के साथ उस संस्कार से संस्कृत व्यक्ति यज्ञ-पूत सूत्र धारण करता था, जो उसके भावी पवित्र जीवन-क्रम का परिचायक होता था । आर्यों के उपर्युक्त चार वर्णों में से चतुर्थ को 'शूद्र' कहा जाता था । उनका कार्य अपने से ऊपर के तीनों वर्णों की सेवा करना माना गया था । शूद्र वर्ण यज्ञोपवीत संस्कार का अधिकारी नहीं था । द्विजातियों के तीनों वर्णों के नाम श्रेष्ठता एवं प्रधानता के अनुसार क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य थे । उद्ध्वाङ्कित चारों वर्णों के वृत्त से बाहर की जातियों एवं उपजातियों को 'अन्त्यज' कहा जाता था । अति प्राचीन काल में शुभ कर्मों के सम्पादन के द्वारा मनुष्य का वर्ण-परिवर्त्तन संभव था । निम्न वर्ण के व्यक्ति का ऊपर के वर्णों में उत्क्रमण चारित्र्यबल एवं आदर्श कर्त्तव्य-कार्य द्वारा सर्वथा शक्य था । ऐसे वर्ण-परिवर्त्तन के वेदों एवं पुराणों में अनेक प्रमाण प्राप्त हैं । किन्तु आधुनिक युग में प्रत्येक वर्ण अपनी परिधि के भीतर की सभी जातियों और उपजातियों की समष्टि का द्योतक बन गया है । वर्ण और जाति समाज के विभागों तथा उप-विभागों के भिन्न दो रूप हैं । दोनों को एक मान लेना भ्रम है ।

साधारणतया ज़िन मनुष्यों का उद्गम, सामाजिक संस्कार, कर्त्तव्य-कार्य, जीविकोपार्जन-साधन, आचार-विचार आदि एक-सा हो, तथा जिनका अपनी परिविष्टि के अन्दर शादी-विवाह का सम्बन्ध और खान-पान बिना सामाजिक रोक-टोक के होता हो, ऐसे लोगों के समष्टि-समुदाय को 'जाति' कहा जाता है । पर जाति की उपर्युक्त व्याख्या सर्वत्र एक-सी लागू नहीं है । सभी राजपूतों का उद्भव एक नहीं है । अनेक ऊँची जातियों के सदस्य एक दूसरे के साथ बैठकर भोजन नहीं करते हैं । इस प्रकार की अनेक भिन्नता एक जाति के वृत्त के अन्दर भी दृष्टिगोचर होती है ।

प्रत्येक जाति के अन्दर अनेक उपजातियों का अस्तित्व पाया जाता है । इस प्रकार की उपजातियों के निर्माण के कारण अनेक हैं, जिन सबों का उल्लेख करना यहाँ सम्भव नहीं है । मोटा-मोटी तौर पर स्थान का परिवर्त्तन, निम्न अथवा उच्च स्तर का जीविकोपार्जन-साधन-कार्य को अपनाना, सामाजिक व्यवस्था में आर्थिक तारतम्य, अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह आदि ने एक जाति के बीच दरार उत्पन्न कर उसको क़ई टुकड़ों में विभक्त कर दिया है तथा उसके अन्दर हुई उपजातियों की सृष्टि कर दी है ।

मिथिला के निवासी कट्टर जातिपंथी समझे जाते रहे हैं । साधारणतया यहाँ के हिन्दू मुसलमान, क्रिस्तान, यहूदी आदि विधर्मी तथा विलायत के वासियों के साथ बैठ कर और उनका छूआ भोजन करने में अपने को धर्मच्युत होना मानते रहे हैं । परन्तु अपने बच्चों

को उन सबों के द्वारा चालित विद्यालयों में भेज कर उनकी देख-रेख में विद्योपार्जन करवाना वे अनुचित एवं अधर्म नहीं समझते । उच्च वर्ण के लोग निम्नवर्ण के सदस्य द्वारा प्रस्तुत कच्ची रसोई नहीं खाते हैं । किन्तु कानू, बनिया, धानुक, कुर्मी आदि के घर का भुना हुआ चना-चावल खाने में उनको धार्मिक विरोध नहीं है । शूद्रों के द्वारा घी में पकायी वस्तु को ग्रहण करना भी वे अधर्म नहीं समझते हैं । घी अथवा तेल लगायी हुई रोटियाँ आदि शूद्रों के हाथ से परोसी जाती है तो वह भोजन उच्चवर्ण के सदस्य, विशेषतया ब्रह्मण वर्ग को ग्राह्य नहीं होता है । रेशम, ऊन तथा जूट की छाल के रेशे से प्रस्तुत कपड़े के अतिरिक्त कपास के सूत से बने वस्त्र यदि निम्नजाति के लोग से छू जाते हैं तो ब्राह्मण वर्ग उन्हें अपवित्र मानते हैं । जानवरों की खाल को वे अपवित्र मानते हैं, किन्तु व्याघ्र एवं मृग के चमड़े का व्यवहार वे पूजा-पाठ तथा धार्मिक संस्कारों के अवसर पर भी करते हैं । चोरी, जाल-फरेब जैसे घृणित कार्य करने पर हिन्दुओं की जाति नहीं जाती है, किन्तु किसी समय व्यापार अथवा विद्योपार्जन के हेतु भी समुद्र-यात्रा करने पर वे जातिच्युत हो जाते थे । किसी जाति-विशेष के व्यक्ति का छूआ जल एक स्थान में उच्च जाति के लोग ग्रहण करते हैं और उसी का दूसरी जगह के मनुष्य व्यवहार में नहीं लाते हैं । मिथिला के ब्राह्मण मछली खाना बुरा नहीं मानते हैं । देव-बलि के मांस का भी भक्षण वे करते हैं, परन्तु केवल बकरे का मांस । गो-मांस का भक्षण मिथिला के हिन्दू पाप समझते हैं । पर निम्नजाति के लोग भैंस और सुअर का मांस भी खाते हैं । जमीन के नीचे उपजने वाली वस्तुओं में प्याज एवं लहसुन का खाना ब्राह्मणों के लिए निषेध माना जाता है । वे अण्डा भी नहीं खाते हैं । पर ये सब बन्धन शनैः-शनैः ढीले पड़ते जा रहे हैं । भोजन बनाने के हेतु पाचक अपने अथवा अपने से ऊँचे वर्ण के लोगों में से नियुक्त करने की परिपाटी है । ब्राह्मणों के लिए धूम्र-पान भी निषेध है । और जातियों में हुक्का-पानी के व्यवहार में विचार है कि किस उप-जाति का हुक्का-पानी पीना चाहिए और किसका नहीं । विवाह-सम्बन्ध अपनी उपजाति में करने का नियम है । सीमोल्लंघन अपराध माना जाता है । शूद्रों का निवास ब्राह्मणों के आवास में वर्जित है । जाति के बन्धन के विरुद्ध आचरण करने पर अपराधी को जाति-च्युत कर उसकी परिधि से उसको बहिष्कृत करने का दण्ड समाज देता है । उसके साथ हुक्का-पानी, शादी-विवाह, खान-पान तथा बोल-चाल का व्यवहार बन्द कर दिया जाता है । प्रत्येक ऐसी जाति में मानजन (मान्यजन) का अवैतनिक पद होता है, जिस पर प्रतिष्ठित व्यक्ति प्रतिष्ठित किया जाता है जो समाज के गण्य-मान्य लोगों की सहमति से अभियुक्त को दोषी घोषित कर दण्ड की आज्ञा सुनाता है, तथा उसकी कार्यान्विति भी समाज के सहयोग से करवाता है । कहीं-कहीं मानजन के साथ सरदार और छड़ीदार का पद भी होता है । सरदार के पद को यदि अध्यक्ष का पद माना जाय तो मानजन को उपाध्यक्ष मानना पड़ेगा, और छड़ीदार को सन्देशवाहक एवं कार्यपालक । प्रायश्चित एवं पश्चात्ताप के पश्चात् चाल में सुधार आने पर अपराधी दण्ड-मुक्त किया जाता है तथा उसका पुनः प्रवेश जाति में होता है । परन्तु जाति बहिष्कृत कर दण्ड देने की उपर्युक्त प्रथा निम्न वर्ग के लोगों में ही प्रचलित है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, कायस्थ आदि उच्च-वर्गीय समाज में ऐसी बात नहीं है । उनमें सरदार, मानजन, अथवा छड़ीदार के पदों वाला कोई संगठन नहीं है जो उपर्युक्त प्रकार के

जाति-बन्धन की सीमा के अतिक्रमण करने वालों के अपराध का पता लगाकर अपराधी को सामाजिक अथवा शास्त्र-विहित दण्ड दे। अपराध-कर्मी के अपराध की शंका होने पर पड़ोसी उसके विरुद्ध उचित कार्यवाही करने के हेतु सजग एवं सचेष्ट हो जाते हैं। यदि अपराध गुरुतर होता है और वह स्पष्टतया समाज के सम्मुख प्रकट रहता है तो लोग उसके साथ असहयोग कर उसका सामाजिक बहिष्कार करते हैं। यदि उसका अपराध स्पष्ट रूप से सिद्ध नहीं होता है और उसमें शंका का स्थान बना रहता है तो वैसी अवस्था में अपराध की जाँच करने तथा प्रमाणित हो जाने पर उसके प्रतिकार में क्या करना चाहिए इसका निर्णय देने के लिए जाति के प्रतिष्ठित व्यक्तियों की गोष्ठी बुलायी जाती है। अपने को निर्दोष प्रमाणित करने का दायित्व अभियुक्त के ऊपर होता है। गोष्ठी के निर्णयानुसार यदि अभियुक्त दोषी घोषित किया जाता है, तो धर्मशास्त्र के ज्ञाता पण्डितों से राय लेकर उसकी शुद्धि के हेतु दण्ड की व्यवस्था शास्त्र-विधानानुसार की जाती है। इस प्रकार के दण्ड-विधान को प्रायश्चित्त कहा जाता है। पंडितों द्वारा निर्णीत प्रायश्चित्त को पूरा करने के पश्चात् दोषी दोष-मुक्त माना जाता है, और तब उसपर से सामजिक प्रतिबन्ध भी हटा लिया जाता है। दोष के गुरुत्व एवं लघुत्व के अनुपात में ही दण्ड का विधान शास्त्रज्ञ पण्डितों द्वारा किया जाता है। एक निर्धारित काल तक उपवास, भिक्षाटन द्वारा जीवन-निर्वाह, मौनावलम्बन, दिन में केवल एक बार भोजन, तीर्थाटन, गंगा-स्नान एवं वहाँ की पावन बालुका के साथ गंगोदकपान, तथा पंचगव्य-गिलन आदि प्रायश्चित्ती की शुद्धि के हेतु प्रायश्चित कर्म बताये जाते हैं। गोदान, बछियादान, ब्राह्मण भोजन, जाति भोज तथा सत्यनारायण भगवान् की पूजा एवं कथा के अनुष्ठान करने का आदेश भी शुद्धि के हेतु प्रायश्चित्ती को दिया जाता है।

निम्नवर्गीय जाति के लोगों की 'चटाई' होती है। चटाई का अर्थ होता है कुश, तृण आदि से प्रस्तुत शय्या अथवा बिछावन। किसी जाति विशेष की एक चटाई से उसके भौगोलिक विभाजन का पता चलता है। जितने ग्रामों की वह चटाई होती है, उतने ग्रामों के उस जाति के लोगों का विशेष अवसर पर एकत्रित होना तथा खान-पान एक साथ होता है। प्रत्येक चटाई के लिए एक पंचायत-समिति होती है, जिसमें पूर्व प्रचलित परिपाटी के अनुसार एक, दो, अथवा तीन कार्यपालक मुखिया होते हैं। ऐसी चटाई के मुखिया जातीय नियमों के सीमोल्लंघन के अतिरिक्त व्यभिचार, बलात्कार, स्त्री अथवा कन्या-अपहरण, एवं उढ़ारण आदि गुरुतर अपराधों का भी निर्णय अपनी पंचायत द्वारा करते हैं। इस प्रकार के अपराधों के लिए दण्ड का विधान होता है जुर्माना, अस्थायी अथवा स्थायी जाति-बहिष्कार, जाति वालों को भोज देना, तथा शारीरिक दण्ड भी। उच्च जातियों के लिए शास्त्रानुसार प्रायश्चित की व्यवस्था की जाती है। नीची जाति की स्त्री से विवाह करना और उसका परित्याग नहीं करना, तथा निम्नजाति के सदस्यों द्वारा प्रस्तुत भोजन ग्रहण करना गुरुतर अपराध समझा जाता है। इसी तरह व्यभिचार और निषिद्ध तथा दूषित कार्य का करना भी बहुत बुरा माना जाता है। ऐसे अपराधों के लिए स्थायी रूप से जातीय बहिष्कार का दण्ड दिया जाता है। लघु अपराधों के लिए आर्थिक और शारीरिक दण्ड तथा जातिवालों को भोज खिलाने की व्यवस्था की जाती है।

मिथिला में निवास करने वाली कतिपय प्रसिद्ध जातियाँ

ब्राह्मणों का स्थान सभी जातियों में उच्च माना जाता है । श्रेष्ठता का मूल कारण उस वर्ग की आध्यात्मिकता, विद्वत्ता तथा समाज के अन्य वर्ग का गुरु बनकर उन सबों के धार्मिक कृत्यों का पुरोहित के रूप में सम्पादन करना था । यह कार्य आज भी बहुत अंशों में ब्राह्मण समाज द्वारा ही किया जाता है, यद्यपि अनेक जातियों के पुरोहित उनके अपने जाति-वृत्त में से अलग हैं । मिथिला के निवासी सभी ब्राह्मण पुरोहिती कार्य नहीं करते हैं । उनमें बहुत बड़े-बड़े जमींदार हैं । उस समाज के समृद्ध समुदाय पुरोहिती वृत्ति को मन्द मानते आये हैं । अतः उसे उन सबों ने त्याज्य समझ रखा है, यद्यपि ब्राह्मणों के षट्कर्मों में विद्या पढ़ना, विद्या पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना तथा दान लेना भी समाविष्ट है । पुरोहिती प्रायः वैसे ब्राह्मणों की वृत्ति होती है जिनकी आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक नहीं है । ऐसे ब्राह्मण अपने यजमानों से यज्ञ, धार्मिक संस्कार, पूजा, पाठ, पर्व, त्योहार आदि के समय में प्राप्त दान से अपना जीवन निर्वाह करते हैं । देवालयों को समर्पित भूमि, पुष्करिणी, वाटिका, अट्टालिका आदि की आय से भी ऐसे ब्राह्मणों का निर्वाह होता है । उसके पलटे में वे देवालय के देवों की पूजा-अर्चा दाता के प्रतिनिधि के रूप में करते हैं । इस कोटि के ब्राह्मणों में से अनेक अपनी सामुद्रिक विद्या के बल से हथेली की रेखाओं तथा शरीर पर के तिलों आदि को देख कर मनुष्य के जीवन की घटनाएँ तथा शुभाशुभ फल बतलाते हैं, और उसके द्वारा धन प्राप्त कर अपनी जीविका चलाते हैं । कुछ लोग अपने घर पर शुल्क देकर और कुछ निःशुल्क संस्कृत की शिक्षा विद्यार्थियों को देते हैं । किन्तु संस्कृत की शिक्षा विशेषतया निःशुल्क दी जाती है । यह मिथिला की प्राचीन प्रचलित प्रथा एवं पद्धति है ।

ऊपर अंकित किया गया है कि ब्राह्मणों के दो वर्ग हैं – (१) दान लेने वालों का तथा (२) दान-त्यागियों का । प्राचीन काल में भी हम दो प्रकार के ब्राह्मणों को पाते हैं, एक प्रवृत्ति मार्ग के अवलम्बन करने वाले ब्राह्मण दल का तथा दूसरे निवृत्ति मार्गी को । इक्ष्वाकु के दान स्वीकार करने की प्रार्थना करने पर दान-त्यागी वर्ग के एक तपस्वी विद्वान ब्राह्मण ने उनके उस अनुनय को अस्वीकार करते हुए निम्नांकित उत्तर दिया था:–

''द्विविधाः ब्राह्मणा राजन् धर्मश्च द्विविधः स्मृतः ।
प्रवृत्ताश्च निवृत्ताश्च निवृत्तोऽहं प्रतिग्रहात् ।।''

उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत-काल में भी प्रतिग्रह लेने वाले तथा उसको अस्वीकार करने वाले दो दल ब्राह्मणों के थे । प्रतिग्रहत्यागी अपने को प्रतिग्रहग्राही से श्रेष्ठ मानते थे ।

सम्प्रति मिथिला के सहस्रों मैथिल ब्राह्मण वाणिज्य व्यवसाय, कृषि एवं शासकीय सेवा वृत्ति के द्वारा अपना जीविकोपार्जन करते हैं । अनेक विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में शिक्षण कार्य करते हैं, बहुत सैनिक-सेवा में उच्च एवं निम्न पदों पर प्रतिष्ठित हैं, कितने लब्धप्रतिष्ठ चिकित्सक हैं, तथा कुछ विदेशों में भी शासन की ओर से उच्च पदस्थ राज-कर्मचारी के पदों को सुशोभित कर चुके हैं । इसमें भी सन्देह नहीं कि यहाँ के बहुसंख्यक ब्राह्मण साधारण लिपिक, पाचक, प्यादा, चपरासी एवं हरकारे का काम भी

करते हैं । मैथिल ब्राह्मणों की नामान्त उपाधि झा, ओझा, ठाकुर, मिश्र, पाण्डेय, राय, चौधरी, ईशर, सिंह, कुमर आदि हैं । अनेक नामों के अन्त में सिंह के साथ देव उपाधि का प्रयोग भी पाया जाता है । त्रिपाठी, तेवारी, दूबे, द्विवेदी, चौबे, चतुर्वेदी, शुक्ल आदि भी ब्राह्मणों की पदवियाँ हैं जो मिथिला में रहने वाले ब्राह्मणों के नामों के साथ भी प्रयुक्त होती हैं ।

स्थान-भेद से विन्ध्य पर्वत के उत्तर में निवास करने वाले ब्राह्मणों का वर्णन स्कन्द पुराण के सप्तदश अध्याय में आया है, यथा–

"सारस्वताः कान्यकुब्जाः गौडाश्च मैथिलोत्कलाः ।
गौडाः पश्च समाख्याता विन्ध्यस्योत्तरवासिनः ।।"

पीछे चलकर उपर्युक्त ५ विभागों में से एक-एक के भी कई उप-विभाग हो गये हैं । एक कान्यकुब्ज के पाँच उप-विभाग बताये गये हैं, यथा –

"सर्यूपारी सनाढ्यश्च भूमिहारो जिझौतियाः ।
प्रकृतश्च कान्यकुब्जानां भेदाः पञ्च प्रकीर्तिताः ।।"

(दशविध ब्राह्मण संहिता, पृ० ३९)

उसी प्रकार मैथिल ब्राह्मणों के भी ५ भेद बताये जाते हैं, यथा श्रोत्रिय, योग्य, पंजीबद्ध, जयवार तथा दोगमियाँ ।

उपर्युक्त पञ्चगौड़ों में से लगभग सभी विभागों के ब्राह्मण मिथिला में पाये जाते हैं । किन्तु उनकी संख्या में कमी-बेशी है ।

मिथिला में अनेक मूलों के ब्राह्मण निवास करते हैं, जो समय-समय पर पश्चिम की ओर से आकर यहाँ निवास करते गये हैं । 'शतपथ ब्राह्मण' से पता चलता है कि सबसे पहले पुरोहित गौतम रहूगण राजा विदेघ माथव के साथ पंजाब के सरस्वती-तट से चलकर मिथिला आये और अपने क्षत्रिय भूप के साथ वे वहीं बस भी गये । अतः मिथिला में आकर निवास करने वाले ब्राह्मण-वंशों में सबसे प्राचीन गौतम कुल के ब्राह्मण हैं । पीछे विदेह जनकों के काल में अनेक ब्राह्मण कुरु-पांचाल से मिथिला आये और वे मिथिला राज्य के नागरिक बन गये । प्राचीन काल में मिथिला में आकर निवास करने तथा यहाँ की नागरिकता स्वीकार कर लेने के कारण वे सब मैथिल ब्राह्मण के नाम से प्रसिद्ध हुए । मैथिल ब्राह्मणों की संख्या भी मिथिला में पर्याप्त है ।

दिल्ली के उत्तर-पश्चिम का भाग जो सरस्वती नदी के किनारे है, और जिसमें पंजाब का कुछ भाग भी सम्मिलित है, सारस्वत मंडल कहा जाता है । वहाँ से जो ब्राह्मण पश्चात काल में मिथिला पधारे, उनका नाम सारस्वत ही बना रहा । उसी प्रकार कान्यकुब्ज, शाकद्वीपीय, सरयूपारीण, पछिमा आदि की कहानी है । कहा है– 'सर्वेद्विजाः कान्यकुब्जाः'। अतः सभी ब्राह्मणों ने पश्चिम की ओर से ही आकर मिथिला में निवास किया । ब्राह्मण-काल के सूर्यवंशीय राजा विदघ माथव के पूर्व आर्यों का निवासस्थान पंजाब तक ही सीमित था; जिसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है ।

मिथिला के निवासी अनेक ब्राह्मण शूद्रों एवं अन्त्यजों का प्रतिग्रह स्वीकार करने के

कारण निम्नकोटि में परिगणित हुए । जिन ब्राह्मणों ने मृतकों के श्राद्ध कर्म के दान को अपनी जीविका का सहारा बनाया, उनका स्थान भी ब्राह्मण-समाज में निम्न हो गया । उसी तरह गंगा के किनारे कुछ लेकर दान प्राप्त करने वाले ब्राह्मणों की भी समाज में निम्न गति हुई । श्राद्ध कर्म के प्रतिग्रह प्राप्त करने वाले वर्ग को महाब्राह्मण अथवा कंटाह कहा जाने लगा, और गंगातट पर दान लेने वालों को गंगतटिया नाम पड़ा ।

ब्राह्मणों के प्रति हिन्दू-समाज के मानस में अब भी श्रद्धा, आदर, प्रतिष्ठा एवं भक्ति-भाव पाया जाता है । जनता उन्हें दान देती है तथा सादर भोजन के हेतु आमन्त्रित करती है। इसका कारण उनकी विद्वत्ता तथा उनके प्रति प्रेम नहीं है । समाज में उनका पूर्व से प्राप्त स्थान, चरित्रबल, धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करना तथा करवाना आदि उसके मूल कारण हैं । उनका व्यवसाय ही पूजा-पाठ एवं देवार्चन का रहा है, इसलिए वे समाज के आदर के पात्र बने हुए हैं यद्यपि बहुतों में संस्कृत विद्या का ह्रास हो चुका है ।

सारस्वत ब्राह्मणों की संख्या मिथिला में अपेक्षाकृत कम है । उनमें से अनेक व्यापार करते हैं । कुछ भू-स्वामी हैं तथा कुछ पुरोहिती कार्य भी करते हैं । कान्यकुब्ज ब्राह्मण भिन्न-भिन्न कार्य करते पाये जाते हैं । उनमें से अनेक कृषक हैं । कुछ व्यापार करते हैं । पुरोहिती करने वालों की संख्या भी कम नहीं है । नौकरी करने वाले शिक्षक, लिपिक, सैनिक, संवाद-वाहक, पाचक, लेखापाल आदि के पद पर सेवा-कार्य करते पाये जाते हैं । सरयूपारी ब्राह्मणों की वृत्ति भी कान्यकुब्जों की जैसी है ।

मिथिला में पश्चिमा अथवा भूमिहार ब्राह्मणों की संख्या भी पर्याप्त है । गिनती के हिसाब से ब्राह्मण वर्ग में मैथिलों के वाद इस जाति का स्थान द्वितीय है । तिरहुत में 'पश्चिमा', मगध में 'वाभन', काशी (वाराणसी के निकटवर्त्ती स्थानों में 'भूमिहार ब्राह्मण', उत्तर प्रदेश में 'त्यागी', पंजाब में 'महिपाल', कश्मीर में 'पंडित', महाराष्ट्र में 'चितपावन' (क्षितिपावन), गुजरात में 'सिपाही नागर' तथा 'अनावीर', उड़ीसा में 'सलुआ', 'हरुआ' और 'मस्तान' एवं राजपूताना में 'गोला पुरब' कहा जाता है । श्री आर० आर० दिवाकर द्वारा सम्पादित 'बिहार थ्रू दि एजेज' में इस जाति का नाम 'वाभन' अंकित किया गया है, जिस नाम से ये लोग मगध (दक्षिण बिहार) में विख्यात हैं । उन्होंने यह भी अंकित किया है कि इन लोगों के गोत्र, विरुद, कुल-संज्ञा, चाल-ढाल, मेल-जोल तथा प्रथा सभी ब्राह्मणों के जैसा है । वे सब ब्राह्मणों की उपाधियाँ–मिश्र, पांडेय तथा तिवारी और क्षत्रियों की पदवियाँ– राय, सिंह एवं ठाकुर अपने नामों के अन्त में धारण करते हैं । ब्राह्मणों के जो कर्त्तव्य बताये गये हैं : उनमें से आधा वे सब करते हैं । जौन हाउल्टन ने अपनी पुस्तक 'बिहार, द हार्ट ऑफ इण्डिया' के पृष्ठ ४२ में इस जाति को 'वाभन' अथवा 'भुईहार ब्राह्मण' तथा पृ० १०४ में 'वाभन' संज्ञा देकर वर्णन किया है । ब्राह्मणों की अलग चर्चा पुस्तक के उन्हीं पृष्ठों में अन्यत्र की गयी है । परन्तु ऐसा लिखना विदेशी लेखक की जानकारी की कमी का द्योतक है । ऊपर बताया गया है कि ब्राह्मणों के दो वर्ग-एक प्रवृत्ति-मार्गियों का तथा दूसरा निवृत्ति-मार्गियों का अति प्राचीनकाल से चला आ रहा है । कौटिल्य अर्थशास्त्र के लेखक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ विद्वान् चाणक्य के शिष्य कामन्दक ने अपने ग्रन्थ 'नीति-सार' में अपने गुरु के विषय में लिखा है, यथा :–

'वंशे विशालवंश्यानामृषीणामिव भूयसाम् ।
अप्रतिग्राहकाणां यो बभूव भुवि विश्रुतः ।।'

उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट होता है कि चाणक्य ब्राह्मणों की उस शाखा में उत्पन्न हुए थे जिसके लिए प्रतिगृह लेना स्वीकार्य नहीं था। कौटिल्य के निवासस्थान का अन्वेषण करते समय कतिपय इतिहास के प्रेमी शोधकों को पता चला है कि पटना और गया के बीच जहानाबाद से दो स्टेशन के अन्तर पर नदौल स्टेशन से पूरब चनकिया ग्राम है, जिसमें ब्राह्मण विशेषतया बसते हैं । उसके आस-पास चनकिया मूल तथा काटल वा कोटल गोत्र के बाभन आज भी निवास करते हैं । चाणक्य का गोत्र काटल था, जिस कारण वह विद्वान कौटिल्य नाम से प्रख्यात हुआ । इससे प्रमाणित होता है कि चनकिया मूल के वहाँ के निवासी बाभन कौटिल्य चाणक्य की वंश-परम्परा के हैं । चाणक्य ने अपना कार्य-क्षेत्र भी मगध को ही बनाया था । यह भी साबित करता है कि वह मगध का रहने वाला था। चाणक्य के ब्राह्मण होने में शंका का कोई स्थान नहीं है । 'बाभन' ब्राह्मण शब्द का अपभ्रष्ट रूप है ।

हर्षचरित के टीकाकार शंकरार्य (१०वीं शताब्दी ई०) टीका में लिखते हैं कि बाण दाता ब्राह्मण थे, याने दान देनेवाले, यथा 'निजेत्यादिना आत्मनः दातृत्वम् उक्तम्' (ह० च०, २ उच्छ्वास) ।

श्री आर० आर० दिवाकर का यह मत कि बाभन ब्राह्मणों के लिए विहित कर्त्तव्यों में से आधे का पालन करते हैं और आधे का नहीं, मान्य नहीं है । अप्रतिगाही वर्ग के ब्राह्मण दान देते हैं, लेते नहीं, विद्या पढ़ते हैं, शुल्क लेकर पढ़ाते नहीं हैं, वैसे ही यज्ञ करते हैं, और दक्षिणा लेकर कराते नहीं हैं । इसी हेतु उन्होंने मुख्यतया छः में से तीन कर्मों को अपनाया है । उन सबों ने छः में से तीन को इसलिए अपनाया है कि जिससे उन्हें दान देना ही पड़े और लेने का अवसर कभी उपस्थित नहीं हो; किन्तु कहीं-कहीं पर उनके सात्त्विक दान ग्रहण करने के भी प्रमाण मिलते हैं । मनरिया ब्राह्मण मुख्यतया इसी वर्ग के हैं जो मिथिला, एवं बिहार के अन्य भाग में भी निवास करते हैं। पांडेय सूर्यनारायण शर्म्मा, एम० एल० ए० को मनेरिया ब्राह्मणों का इतिहास लिखते समय शोध के क्रम में चार दान-पत्र प्राप्त हुए थे । वे दान-पत्र गहड़वाल कुल के पराक्रमी राजा गोविन्द चन्द्र के थे, जिनमें मनेरिया ब्राह्मण कुछ के व्यक्तियों को समय-समय पर दिये गये दान का उल्लेख था । उन दान-पत्रों को देख कर डॉ० राजेन्द्र लाल मित्र के जैसे महामनीषी के हृदय में जिज्ञासा जागृत हुई कि एक ही वंश को बार-बार दान देने का कारण क्या था, इसका समाधान उनको मिल गया । उनको उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ के पोड़ा चोर ग्राम से डॉ० कीलहार्न द्वारा प्राप्त एवं पठित ताम्र-पत्र का लेख पढ़ने को मिला । उसमें उत्कीर्ण था, यथा :– 'वा चतुर्थे-सवेदा विद्या, विजया, तमन्जया, वा ब्राह्मणाः।' इससे प्रमाणित हुआ कि वह वंश अप्रतिम विद्वानों का था । उस वंश में कोई ऐसा न था जो चारों वेदों में पारंगत न हो । इसी कारण गोविन्द चन्द्र ने बार-बार उस वंश को दान दिया था । गोविन्द चन्द्र महाराजा जयचन्द्र के पितामह थे तथा उनका शासनकाल लगभग १२वीं शती के मध्य तक था । इसी तरह द्रोणवार एवं सकरवार ब्राह्मणों के विषय में भी दानपत्र प्राप्त

हैं । मगध के बिहारशरीफ तथा नालन्दा के बड़गाँव के बाभन पुरोहिती कर्म करते हैं । यह उनका वंश-परम्परागत व्यवसाय है । इसी तरह प्रयाग के त्रिवेणी के पण्डित विशेषतया इसी वर्ग के हैं । गंगोत्री के पण्डित भी प्रायः त्यागी वंश के ही हैं । इन सबों ने ब्राह्मणों के पूरे छः कर्मों में से ३ का परित्याग नहीं किया है । वे प्रतिग्रह स्वीकार करते हैं, और इस भाँति ब्राह्मणों के लिए विहित सभी छः कर्म पूर्व से करते आये हैं । उपर्युक्त उल्लेख से यह साबित होता है कि बाभन कही जाने वाली जाति के सदस्य कभी-कभी ऐसे प्रतिग्रहों को ग्रहण करते थे, जिनका स्वीकार करना उनको अनुचित नहीं जँचता था । नामान्त उपाधियाँ राय, सिंह तथा ठाकुर को क्षत्रियों का विरुद बताया गया है । पर यह भी ठीक नहीं है । मिथिला के रहने वाले अन्य ब्राह्मणों के नामों के अन्त में ये उपाधियाँ पायी जाती हैं । दरभंगा राज्य के संस्थापक महेश पण्डित की उपाधि 'ठाकुर' थी । 'आर्यावर्त्त' के सम्पादक श्रीकान्त ठाकुर दरभंगा जिले के कोइलख ग्राम के निवासी प्रतिष्ठित मैथिल ब्राह्मण परिवारोद्भव हैं । उनकी उपाधि भी ठाकुर है । महाराज दरभंगा के परिवार वालों का नामान्त विरुद सिंह का है । ओइनवार राजाओं की उपाधि भी सिंह देव थी । महेश ठाकुर के ब्राह्मण-शिष्य का नाम 'बिहार थ्रू दि एजेज' के पृ० ४४१ में रघुनन्दन राय अंकित किया गया है, जिसने अकबर से मिथिला का राज्य उपहार में प्राप्त कर पं० महेश ठाकुर को गुरु-दक्षिणा में समर्पित किया था । दरभंगा जिले के पुतई ग्राम के तथा मुजफ्फरपुर जिले के वाजितपुर ग्राम के निवासी ओइनवार ब्राह्मणों का नामान्त विरुद कुमर है जो प्रायः क्षत्रियों की उपाधि होती है । पर वे सब उच्च श्रोत्रिय कुल के ब्राह्मण माने जाते हैं । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नामान्त उपाधियाँ जाति-विशेष अथवा वर्ग-विशेष का परिचायक नहीं हैं । ऊपर ब्राह्मणों की कतिपय उपाधियों का अंकन किया गया है । भूमिहार ब्राह्मण अथवा बाभन नाम से प्रसिद्ध जाति के लोगों के नामों के अन्त में वे सभी उपाधियाँ पायी जाती हैं । उनमें ठाकुर, मिश्र, पांडेय, झा, ओझा, दुबे, द्विवेदी, तिवारी, त्रिवेदी, चौबे, चतुर्वेदी, राय, चौधरी, सिंह, देव, ईशर, उपाध्याय, शुक्ल आदि सभी उपाधि वाले परिवार सम्मिलित हैं । गोत्र, प्रवर, वेद, ऋषि आदि सभी भूमिहार ब्राह्मणों के अन्य ब्राह्मणों की भाँति ही हैं । भूमि से ब्राह्मणों का सम्बन्ध भी नया नहीं है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण ऋग्वैदिक संहिता युग से लेकर पश्चाद्वर्त्ती ब्राह्मण, आरण्यक, पौराणिक एवं महाकाव्य-काल तक के साहित्य के अवलोकन से प्राप्त होता है । प्राचीन संस्कृत-साहित्य में भूमि-सुर, मही-सुर, महीदेव, भूदेव, धरणी देव, क्षितिदेव का प्रयोग भरा पड़ा है । मध्यकालीन भाष्यकारों ने भी इसका प्रयोग किया है । इसी परम्परा की देन 'भूमिहार' और 'महियार' अथवा 'महियाल' तथा क्षितिपावन वा चितपावन शब्द है, जो एक दूसरे का पर्यायवाची शब्द है । इस वर्ग के ब्राह्मणों के मूल उनके पूर्ववर्त्ती वासस्थान अथवा वैदिक ऋषियों के नाम पर आधारित पाये जाते हैं ।

मिथिला में ही नहीं, वरन् बिहार प्रदेश के अन्य भागों में भी भूमिहार ब्राह्मण प्रायः समृद्ध पाये जाते हैं । उस वर्ग में कृषक, भू-स्वामी तथा भारत के स्वतन्त्र होने के पूर्व राजे और महाराजे थे । 'बिहार थ्रू दि एजेज' के विद्वान् लेखक ने पुस्तक के पृ० ६९४ में लिखा है कि बाभनों में बहुत जमींदार हैं और राजपूतों के जैसे उन्होंने राजा और महाराजा की उपाधियाँ धारण कर ली हैं । परन्तु इतिहास के मर्मज्ञ लेखक महोदय ने इस

पर ध्यान नहीं दिया कि राजा-महाराजा की उपाधि केवल राजपूत जमींदार ही नहीं ग्रहण करते थे, प्रत्युत अन्य वर्ग के लोग भी, जब उनके पास प्रचुर भूमि एवं ऐश्वर्य हो जाता था। मिथिला में भी इस प्रकार के प्रमाणों की कमी नहीं है। ओइनवार-वंश के सभी नरेशों की उपाधि राजा की थी। खण्डवाला-वंश के भूपति महाराजा कहे जाते थे। ये सभी मैथिल ब्राह्मण थे। अयोध्या के ददुआ महाराज शाकद्वीपीय ब्राह्मण के वंशज थे। अतः 'बिहार थ्रू दि एजेज' का उपर्युक्त उल्लेख सर्वथा भ्रामक प्रतीत होता है। प्राचीन काल के शुंग, कण्व एवं आन्ध्र-शातवाहन ब्राह्मण-कुल के प्रायः सभी नरपाल महाराजा कहे जाते थे। ब्राह्मणों के लिए राजा-महाराजा का विरुद धारण करना नयी प्रथा नहीं है, जिसको राजपूतों का अनुकरण बताया गया है। मिथिला-निवासी डॉ० उपेन्द्र ठाकुर ने अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑफ मिथिला' में चम्पारण के राजा पृथ्वीनारायणसिंह देव, शक्तिसिंह देव तथा मदनसिंह देव को विप्र-वंशीय अंकित किया है। उपर्युक्त राजाओं के काल के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। इन सबों का विरुद 'महाराजाधिराज' था। संस्कृत शब्द ब्राह्मण को प्राकृत में 'बम्हण' लिखा जाता था। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' नाटक (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९०६ ई०) के पृ० ८, ९ एवं ७६ में सूत्रधारों एवं विदूषकों ने 'बम्हण' शब्द का प्रयोग 'ब्राह्मण' के स्थान में किया है। 'बम्हण' का विकृत रूप 'बाभन' है। ई० पूर्व तीसरी शताब्दी के अशोक के शिलालेखों में 'बाभन' शब्द कई बार आया है, जो वहाँ 'ब्राह्मण' के लिए व्यवहृत हुआ है, यथा –"हेमेव बाभनंपु आजीविकेषु[1] (इसमें एवं ब्राह्मणेषु आजीविकेषु), समन बाभनानं[2] दाने" (श्रवण ब्राह्मणानां दानम्) आदि। भास कवि कृत 'स्वप्न वासवदत्ता' में भी 'बम्भणेन' शब्द आया है। आन्ध्र सातवाहनों के नासिक शिलालेख में भी बह्मण शब्द आया है, यथा–"खत्तिय माण मद्दणो एको बम्हणो" (क्षत्रिय मानमर्दन एको बम्हण)। उपर्युक्त उद्धरणों के अतिरिक्त चन्द ने 'पृथ्वीराज रासो' में तथा विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी, भूषण एवं नन्ददास ने भी बाभन शब्द का प्रयोग 'ब्राह्मण' के स्थान में अपने-अपने ग्रन्थों में किया है, यथा :–

कायथ होय परधान, अहोनिसि रहै पिबन्तौ।
बाभन होय परधान सदा रक्खवै निहचिन्तौ ॥ (पृथ्वीराज रासो)
जो घर आयत नारद बभना, दढ़िया पकरि घिसियायब गे माई। (विद्यापति)
तू बाभन मैं काशी का जोलहा, बूझहु मोर गियाना। (कबीर)
सिद्धर बाभन करम कसाई, कहौ कंस से वचन सुनाई। (सूरदास)
ज्यों मारेसि गुरु बाभन गाई। (तुलसीदास)
और बाभनन देखि करत सुदामा सुधि,
मोंहि देखि काहे सुधि भृगु की करत हो। (भूषण)

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृत एवं अपभ्रंश में ब्राह्मणों की जगह 'बम्हण' तथा 'बाभन' प्राचीन काल में भी लिखा जाता था। अतः 'ब्राह्मण' और 'बाभन' को दो मानना भयंकर भूल है।

१. अशोक प्रशस्ति – सप्तम स्तम्भ लेख, पृ० ३८।
२. अशोक प्रशस्ति – एकादश स्तम्भ लेख, पृ० १४।

आज भी देहात में रहनेवाले पढ़े-लिखे लोगों को छोड़ कर अन्य जन-समुदाय के वार्त्तालाप की बोली में 'ब्राह्मण' शब्द के लिए 'बाभन' ही व्यवहृत होता है, यथा :-

"सोतियो बाभने थिका और कण्टाहो बाभने,
किन्तु बाभन बाभन में भी त भेद होइअछ ।"
"कारिय बाभन गोर सुद्दर, तेकरा देखि कँ काँपे रुद्दर ।"
"हमरा ठाम आइ बभन जेवनार थीक ।"

उपर्युक्त कविताओं एवं वाक्यों में बाभन शब्द का प्रयोग ब्राह्मण मात्र के लिए हुआ है, न कि उसके एक दल विशेष के लिए ।

भूमिहार ब्राह्मणों का विवाह-सम्बन्ध सभी वर्गों के ब्राह्मणों के साथ होता है, क्षत्रिय अथवा दूसरे वर्णों के साथ नहीं । प्रयाग के आस-पास के कान्यकुब्ज एवं सरयू-पारीण कहलानेवाले ब्राह्मण समुदाय भूमिहार ब्राह्मणों के साथ वैवाहिक-सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं । मिथिला में भूमिहार तथा मैथिल ब्राह्मणों में वैवाहिक-सम्बन्ध है । उसी तरह उत्तर-प्रदेश के त्यागी ब्राह्मणों के साथ भी यह सम्बन्ध है । इस तरह देखा जाता है कि ब्राह्मणों के भेद जो अलग-अलग बिखरे पड़े हैं, उन्हें एक सूत्र में ग्रन्थित करने वाला सूत्र भूमिहार ब्राह्मणों की जाति है ।

राष्ट्रीय स्वराज्य के महामन्त्र-'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'-के द्रष्टा ऋषि लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, जो चितपावन ब्राह्मण कुलोद्‌भव थे, ने १९१६ ई० में काशी की एक सार्वजनिक सभा में उद्‌घोषित किया था कि मैं उसी वंश का हूँ जिस वंश के महाराजधिराज काशी-नरेश हैं, ('प्रताप'-कानपुर, १९१६, का पुराना अंक) । डॉ० मुञ्जे ने भी बेतिया की एक सभा में चितावन और भूमिहार को एक वर्ग का ब्राह्मण घोषित किया था ।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कार्यों के सम्बन्ध में विलायत में १८१२ ई० में सेलेक्ट कमेटी का पाचवां प्रतिवेदन प्रकाशित हुआ था । उसकी प्रथम जिल्द के पृ० ५१ से ५१३ तक में बंगाल प्रेसीडेन्सी की तत्कालीन सरकार के विषय में उल्लेख किया गया है । सूबे बिहार की प्रथम सरकार के वर्णन में गया जिले के टिकारी राज्य के जमींदार मित्रजीत सिंह तथा उसकी जाति के वहाँ के एवं अन्यत्र के जमींदारों के लिए भी अन्य वर्ग के ब्राह्मण जमींदारों के साथ ब्राह्मण शब्द का ही प्रयोग किया गया है । इससे पता चलता है कि १९वीं शती के प्रथम चरण तक ब्राह्मण और बाभन शब्दों में विभेद नहीं माना जाता था ।

डॉ० राजेन्द्र लाल मित्र की १८५५ ई० में मुद्रित पुस्तक 'विविधार्थ संग्रह' में भूमिहारों की गणना कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के अन्तर्गत की गयी है । मिथिला के प्रसिद्ध मीमांसक महामनीषी महामहोपाध्याय पं० चित्रधर मिश्र ने 'ब्राह्मण-समाचार' पत्रिका के १९११ ई० की ८ फरवरी के अंक में भूमिहार ब्राह्मणों को अन्यान्य ब्राह्मणों की भाँति प्राकृत ब्राह्मणों की सूची में अंकित किया था (दशविध ब्राह्मण संहिता, पृ० १०८-११ के वर्णन के आधार पर) ।

इतिहास-लेखक सर इल्लियट ने अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन रेसेज' में ब्राह्मणों के ६८ उपविभागों का वर्णन किया है । उनके इस प्रकार के विभागीकरण का आधार १८६५ ई० में पश्चिमोत्तर प्रदेश की जन-गणना है । उसमें उन्होंने अन्य ब्राह्मणों के साथ ही भूमिहार ब्राह्मणों का भी उल्लेख किया है तथा लिखा है कि उनमें तथा अन्य ब्राह्मणों में कोई अन्तर नहीं है । भूमिहार ब्राह्मण विशेषतया शस्त्रधारी हैं । उनका जीवन सैनिकों के जैसा है, आदि (इल्लियट : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन रेसेज, वॉल्यूम-१) ।

शेरिंग ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दू कास्ट्स एण्ड ट्राइब्स' के पृ० २३, ३९ में लिखा है कि भूमिहार विशेषतया सरवरिया दल के हैं । यद्यपि ये प्रधानतया कान्यकुब्ज ब्राह्मण के सरवरिया उपविभाग के हैं, तोभी खास कन्नौजियों से भी इनका सम्बन्ध है, इसमें सन्देह नहीं है । पहले इनके पूर्वज केवल 'ब्राह्मण' कहे जाते थे (पाण्डेय सूर्यनारायण प्रणीत 'सैनिक ब्राह्मण', पृ० ४३) ।

भूमिहार ब्राह्मणों में बालक-बालिकाओं का विवाह सम्बन्ध करना इन दिनों अति मँहगा हो गया है । समृद्ध परिवार के लड़कों के लिए लड़की वाले का बहुत रुपये तिलक के रूप में चुकाने पड़ते हैं । यदि बालक प्रतिभावान् हुआ और उसका प्रवेश किसी मेडिकल कालेज अथवा इन्जीनियरिंग कालेज में हो गया तो उसके लिए उसके अभिभावकों की माँग पचीस सहस्र से कम नहीं होती है । यदि प्रतिभा के साथ घर भी समृद्ध रहा तब तो माँग पचास हजार से अधिक की होने लगती है । शिक्षिता बालिका के लिए वर खोजने पर शिक्षित बालक के अभिभावकों की माँग और बढ़ जाती है । वे समझते हैं कि शिक्षिता लड़की के हेतु बालिका पक्ष के लोग शिक्षित वर की ही खोज करेंगे । वैसी दशा में वे अपना घर-द्वार भी बन्धक रखकर उनके शिक्षित लड़के के साथ विवाह सम्बन्ध करेंगे ही । इस कुप्रथा के कारण मिथिला के तथा उसके आसपास के भूमिहार ब्राह्मण के कितने परिवार मिट गये । बालिकाओं की उच्च शिक्षा की प्रगति में भी इस से भारी धक्का पहुँचा है । साधारण स्थिति के लोग अपनी बालिकाओं को उच्च शिक्षा देने में सशंक हो रहे हैं । बालिकाओं को पढ़ा लिखा कर उन्हें सुशिक्षिता बनाने में उनके अभिभावकों को जो परिश्रम एवं व्यय करना पड़ता है, उसका मूल्य समाज के सामने कुछ नहीं होता है । पढ़े-लिखे जो सामाजिक कुप्रथाओं को मिटाने के लिए सार्वजनिक मंच पर बड़ी विद्वत्ता के साथ गले साफ करते हैं, वे भी अपने पुत्र के विवाह के समय कन्नी काटते देखे जाते हैं, और कहते हैं कि वे अवश हैं; क्योंकि परिवार वाले घर में उनकी बात चलने नहीं देते हैं ।

विवाह के समय तिलक माँगने वाले छूत का रोग अब मैथिल तथा अन्य ब्राह्मणों के समाज में भी प्रवेश कर गया है । पर उसने वहाँ अभी अति उग्ररूप धारण नहीं किया है । मैथिल ब्राह्मणों के समाज में यह बीमारी पहले दूसरे रूप में थी । सन् १९०७ ई० के दरभंगा जिला गजेटियर के अवलोकन से पता चलता है कि उच्च कुल के धन-हीन व्यक्ति निम्न कुल की बालिकाओं से विवाह करते थे । विवाहेच्छुक वर की इस उदारता के लिए कन्या के पिता अथवा भ्राता को भारी मूल्य चुकाना पड़ता था । गजेटियर के वर्णनानुसार यह प्रथा ह्रासोन्मुख हो रही थी । परन्तु इस प्रकार विवाह कर धन उपार्जन करने वालों की समाज में एक श्रेणी ही बन गयी थी जिसको 'बिकउआ' कहा जाता था;

क्योंकि ऐसे लोग स्वयं अपने को अथवा पुत्र को रुपये के लोभ में पड़कर निम्नकोटि के परिवार की बालिकाओं के हाथ बेचा करते थे । इस प्रकार का बिकौआ वर कभी-कभी ४०-५० विवाह कर लेता था । विवाहिता पत्नी अपने पिता अथवा भ्राता के साथ रह कर जीवन बिताती थी । पतिदेव वहीं जाकर कभी-कभी दर्शन दे आते थे (सर जॉन हाउल्टन : बिहार, दि हार्ट ऑफ इण्डिया, पृ० ९४) ।

शाकद्वीपीय ब्राह्मणों की संख्या मिथिला में बहुत अधिक नहीं है । इन सबों की पूर्व में जीविकोपार्जन वृत्ति विशेषतया आयुर्वेदीय चिकित्सा थी । शासन की ओर से इन सबों को जागीरें मिली थीं । उसके पलटे में वे प्रजा की निःशुल्क चिकित्सा किया करते थे । चिकित्सकों की उपाधि वैद्य की थी । इसलिए जिस ग्राम में इनका निवास होता था, उसको वैद्यालय कहा जाता था जो नाम कालान्तर में विगड़ते-विगड़ते 'वेदौलिया' कहा जाने लगा । मिथिला में अब भी कई विदौलिया ग्राम हैं जहाँ शाकद्वीपीय ब्राह्मणों का निवास है । वैद्य-वृत्ति के अतिरिक्त अब अनेक कार्य वे लोग करने लग गये हैं । इनमें अनेक वकील, शासकीय पदाधिकारी, शिक्षक, व्यापारी, लिपिक, डॉक्टर आदि के रूप में कार्य कर रहे हैं । कुछ लोग पुरोहिती भी करते हैं । लड़के-लड़कियों के विवाह में लेन-देन की प्रथा शाकद्वीपीय-समाज में न थी । पर अब वह बात नहीं रही । लड़की वाले को लड़के वाले खूब तंग करते हैं तथा पैसे ऐंठने का उपाय करते हैं । पर सभी लड़के वाले एक-से नहीं होते हैं । कुछ के हृदय में विचार एवं दया भी होती है ।

मिथिला में राजपूतों का भी निवास है । पर उनकी संख्या ब्राह्मणों, ग्वालों एवं दुसाधों से अपेक्षाकृत कम है । राजपूत क्षत्रियों के वंशधर माने जाते हैं । पर इस बात को किसी-किसी स्थान में स्वीकार नहीं किया जाता है । पूर्णिया एवं भागलपुर जिले के कुछ भाग के राजपूतों को वहाँ की जनता कायस्थों, वैद्यों तथा वाणिज्य-व्यवसाय करने वाली जातियों की अपेक्षा कम प्रतिष्ठा का पात्र समझती है (आर० आर० दिवाकर सम्पादित 'बिहार थ्रू दि एजेज', पृ० ६९४) । मिथिला एवं शाहाबाद तथा पटना जिले में राजपूतों की प्रतिष्ठा विशुद्ध क्षत्रियों के वंशधर के रूप में है । राजपूत साधारणतया स्वाभिमानी होते हैं । वंश-परम्परा के आधार पर राजपूतों के चार विभाग हैं, यथा– (१) सूर्यवंशी, (२) चन्द्रवंशी, (३) अग्निवंशी, तथा (४) गोवंशी । पुराणों में क्षत्रियों के दो वंश-सूर्यवंश एवं चन्द्रवंश का उल्लेख विशेषतया पाया जाता है । शतपथब्राह्मण के विदेघ माथव सूर्यवंशीय क्षत्रिय थे । वायु पुराण बताता है कि चन्द्रवंशी पुरूरवा (मनु की पुत्री इला और चन्द्रमा के पुत्र बुध से उत्पन्न) का प्रपौत्र ययाति भारतीय इतिहास का प्रथम प्रतापी विजेता सम्राट था, जिसके एक पुत्र द्रह्यु-वंश के राजा प्रचेतस के एक सौ वंशजों ने पश्चिमोत्तर भारत (गान्धार) से आगे उत्तर की ओर अग्रसर होकर मध्य एशिया के म्लेच्छ राष्ट्रों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था ।

स्थान-भेद से राजपूतों के अनेक विभेद हैं । मिथिला में सभी वंश के राजपूत नहीं पाये जाते हैं । चौहान, पम्पार, कलचुरि, काकण, राठौर, उज्जैन, वैश्य आदि राजपूत जहाँ-तहाँ मिथिला में निवास करते हैं । राजपूतों में अनेक बड़े-बड़े जमींदार हैं । वे कृषि कार्य एवं ठीकेदारी भी करते हैं । अनेक सैनिक सेवा एवं आरक्षी सेवा में नियुक्त हैं ।

कितने प्रतिहार (द्वारपाल) का कार्य करते हैं। अन्य शासकीय सेवा में भी अनेक व्यक्ति कार्य करते हैं। राजपूतों की गणना वीर जातियों में है, परन्तु पूर्णियाँ के राजपूतों में सामरिक उत्साह समाप्त-प्राय प्रतीत होता है।

राजपूतों के अतिरिक्त अन्य जातियाँ भी क्षत्रिय होने का दावा करती हैं। खतरी तथा भागलपुर जिले के खेतौरी अपने को क्षत्रिय बताते हैं। भाट भी अपने को क्षत्रिय कहते हैं। खतरी जाति के लोग विशेषतया व्यापार करते हैं। सरकारी सेवा में भी अनेक उच्च पदस्थ हैं। उनमें कुछ जमींदार हैं। पर स्वयं कृषि-कार्य करने वाले उनमें कम हैं। भाटों का काम मागध का है। इस जाति के लोग विशेषतया विरुदावलि बखान करते पाये जाते हैं।

वैश्य का स्थान ब्राह्मणों, एवं क्षत्रियों के बाद आता है। अनेक उपजातियाँ वैश्यों की हैं। उनमें अग्रवालों का स्थान सर्वाग्र समझा जाता है। यह वर्ग अति समृद्ध है तथा सोना, चाँदी, नाना रत्न, अन्न, वस्त्र आदि का वाणिज्य और महाजनी लेन-देन करता है। इस जाति में अनेक प्रतिष्ठित भू-स्वामी हैं। कुछ इनमें से अन्य व्यवसाय भी करते हैं। अग्रवालों के अतिरिक्त महेश्वरी, वर्णवाल, पुरवर, रौणियार, रस्तोगी, माहुरी आदि जातियाँ भी हैं, जो नाना प्रकार का वाणिज्य-व्यापार करती हैं।

मिथिला में कायस्थों का स्थान उच्च जातियों में है। ये सब विशेषकर बुद्धिजीवी हैं। मिथिला में कायस्थों की एक विशेष श्रेणी निवास करती है, जिसको 'मैथिल कायस्थ' कहा जाता है। बिहार में कायस्थों की १२ उपजातियाँ पायी जाती हैं। मिथिला में मैथिल कायस्थों के अतिरिक्त उस जाति के अन्य उप-विभाग के कायस्थ भी बसते हैं, जिनमें अम्बष्ठों और श्रीवास्तवों की संख्या अधिक है।

कायस्थों में विद्या का प्रचार और जातियों की अपेक्षा अधिक है। उनकी अधिकतर स्त्रियाँ भी सुशिक्षता हैं। इस जाति का रहन-सहन उच्च है। पूर्व काल से इस जाति के लोग देश के भिन्न-भिन्न प्रशासन विभाग में कार्य करते आये हैं। मिथिला में पटवारी के पद पर विशेष कर कायस्थ ही प्रतिष्ठित किये जाते हैं। प्रत्येक गाँव में एक पटवारी रहता था, जिसका काम ग्राम के लेखापाल का भी था। सुशिक्षित होने के कारण मिथिला में ही नहीं, सारे राज्य में कायस्थों को शासन के उच्च से लेकर निम्न पदों तक काम करते देखा जाता है। लिखने-पढ़ने का काम इस जाति का खास व्यवसाय चिरकाल से रहा है। सेना विभाग, शिक्षा विभाग, पुलिस-विभाग, व्यवसाय विभाग, प्रशासन विभाग, अभियन्त्रण-विभाग, आदि में जहाँ देखा जाय वहाँ लिखने-पढ़ने वाले पद पर काम करने वालों में कायस्थों की संख्या अधिक पायी जाती है। ये लोग अधिकतर विद्याव्यसनी होते हैं। कतिपय कायस्थों का व्यवसाय खेती भी है, किन्तु स्वयं कृषि-कार्य करने वालों का इस जाति में अभाव है। गरीब से गरीब कायस्थ भी स्वयं हल नहीं जोतता है। कायस्थों का एक उप-विभाग 'कायथ बनिया' के नाम से ख्यात है, जिसका व्यवसाय सिन्दूर तैयार करना है। किन्तु इन सबों की संख्या नगण्य है। पूर्णियाँ जिले में कतिपय श्रीवास्तव कायस्थ व्यापार करते हैं। कुछ दर्जीगिरी करते हैं तथा अनेक कुशल कलाकार के रूप में वस्त्रों की भिन्न-भिन्न मनमोहक रंगों में छापते एवं रँगते हैं।

मिथिला में ग्वाला अथवा अहीर जाति वालों की संख्या ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों से अधिक है । पूर्व में इस जाति की गणना शूद्रों में की जाती थी । पर उस समाज में इन सबों का स्थान ऊँचा था । कुर्म्मियों की भाँति इन सबों का छूआ जल ब्राह्मण ग्रहण करते थे । सम्प्रति इन लोगों को 'यादव' कहा जाता है । यदु क्षत्रिय थे, जिनके वंश में कृष्ण उत्पन्न हुए थे । यादव यदुवंशी का पर्यायवाची शब्द है । इस जाति वालों के पास कृषि के लिए भूमि भी है, पर मुख्यत: ये लोग पशु-पालन कर दूध उत्पन्न करते थे, जिसके द्वारा इनका भरण-पोषण होता था । वर्तमान युग में यह जाति उन्नति के पथ पर आशातीत रूप में अग्रसर हो रही है । जनसंख्या इन सबों की अधिक थी ही । विद्वानों की संख्या भी अब शनै:-शनै: इस जाति में बढ़ रही है । साथ ही श्री एवं सभ्यता भी सस्नेह इन सबों को गले लगा रही है ।

मिथिला के ग्वालों में एक प्रथा चिरकाल से प्रचलित है। कार्त्तिक मास की अमावस्या की रात्रि में दीपमालिका का उत्सव होता है । उसको लक्ष्मी-पूजा भी कहा जाता है । उस रात्रि में पशुओं को भी अच्छी घास एवं अन्न खाने के लिए दिया जाता है । प्रात: काल से मध्याह्न तक उन सबों को उपवास कराया जाता है । पीछे द्वार पर गाय एवं बैल के गोबर से गोधन तैयार किया जाता है, जिसकी पूजा परिवार के लोग मिलकर करते हैं। गोधन के निकट वे बाँस के खूँटे गाड़ कर उसमें बैलों एवं जवान बछड़ों को बाँधते हैं । उन सबों को वहाँ पर ताजी जड़ी बूटियों से प्रस्तुत 'सोन्हाओन' पिलाया जाता है । पुरानी रस्सियों को हटा कर नवीन रंगीन रस्सियाँ, गरदनी आदि उन्हें पहनायी जाती है । पश्चात लाल रंग से उनके सींग रंगे जाते हैं तथा उनकी पीठ पर एवं बगल में ठप्पे दिये जाते हैं। अपराह्न में भैंस एवं गायों को गाँव के बाहर मैदान में वे ले जाते हैं, जहाँ पहले से एक शूकर का बच्चा लाकर रखा जाता है । उस अभागे शूकर की टँगड़ियाँ बाँध दी जाती हैं और उसके विरुद्ध उपस्थित पशुओं को ललकारा जाता है । कभी-कभी उस बँधे अवश शूकर को लाठी से उठा कर वहाँ उपस्थित पशुओं के सींगों पर रख दिया जाता है। वे सब अपने सींगों से उस पर प्रहार करते हैं । यह क्रिया तब तक चलती रहती हैं, ज़बतक उस शूकर का प्राणान्त नहीं हो जाता है । ग्वाले जिस दूध के व्यापारी के हाथ दूध बेचते हैं, शूकर का मूल्य उसी को चुकाना पड़ता है । बदले में उस संध्या का तथा दूसरे दिन के प्रात:काल का उन पशुओं का दूध बिना मूल्य लिये शूकर उपलब्ध कराने वाले व्यक्ति को दिया जाता है। इस प्रकार के उत्सव को 'डहरा' कहा जाता है। सर जॉन हाउल्टन ने इस उत्सव का वर्णन अपने ग्रन्थ, 'बिहार, दि हार्ट ऑफ इण्डिया' के पृ० ४३ में किया है।

शूद्रों में अनेक जातियाँ हैं और उनके व्यवसाय भी अनेक हैं । उनमें कुछ ऐसे हैं जिनका छूआ जल द्विजाति वर्ग के हिन्दू ग्रहण करते हैं, और कुछ का नहीं । ऐसे शूद्र जिनका पानी चलता है, के दो विभाग हैं –प्रथम कारीगरों का तथा दूसरा कृषकों तथा अन्य कार्य करने वालों का । प्रथम विभाग हलवाइ, बरई, भड़भूँजा, काँदू, माली आदि का है । हलवाई मिठाइयाँ बनाते हैं । बरई पान उपजाते तथा उसे बनाकर बेचते भी हैं । भड़भूँजा अन्न को भून कर उससे भूँजा प्रस्तुत करते हैं । माली फूलों की माला बनाते हैं । इस प्रकार की अन्य जातियाँ वंश-परम्परागत अपना-अपना व्यवसाय करती हैं । दूसरे

विभाग में कोइरी, कुर्मी, धानुक, अमात, केवट आदि के नाम आते हैं। कोइरी एवं कुर्मी अब अपने को शूद्र नहीं मानते हैं। वे सब अपने को क्षात्र घोषित करते हैं। कोइरी विशेषतया कृषक हैं। इस जाति के लोग कृषि-कार्य बड़ी तत्परता से करते हैं। अपनी श्रमशीलता के कारण इनमें अधिकांश समृद्ध हैं। भूमिहीन भी इनमें अनेक हैं, जो दूसरों से भूमि लेकर उसमें कृषि करते हैं। धानुक जाति के लोग विशेषकर नौकरी करते हैं। करनल वड्डेल्ल के मतानुसार उन सबों को 'धानुक' नाम धनुषधारी होने के कारण पड़ा। प्राचीन काल में उनके पूर्वज धनुष-बाणों के साथ सदा सर्तक रह कर अपनी तथा अपने प्रभुओं की रक्षा शत्रुओं से किया करते थे। इसके प्रमाण में वे बताते हैं कि मौर्यों की प्राचीन राजधानी जो, गंगा और सोन के संगम के बीच वर्तमान कुम्हरार में थी, के समीपस्थ पटना नगर के विशेष भाग में आज भी बहुसंख्यक धानुकों की बस्ती है (सर जॉन हाउल्टन : बिहार, दि हार्ट ऑफ इण्डिया, पृ० ४४)। वहाँ के निवासी उन धानुकों के पूर्वज सम्भवतः मौर्य-युग में मौर्यराट् द्वारा नियुक्त दुर्ग-रक्षक थे, जिनकी सन्तान मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् भी उस स्थान पर ही बनी रही। अपने प्राचीन आवास से हटी नहीं, जहाँ उनके पूर्वज पूर्व में शिविरस्थ थे। धानुकों में से नौकरी करने वाले अब भी विशेषतया पारिवारिक सेवा के लिए नियुक्त किये जाते हैं, और घर का अधिकांश भार गृहस्वामी उनको सौंप कर निश्चिन्त हो जाते हैं।

कहार जाति के लोग शिविका ढोने का काम करते हैं। इस कारण उनकी गणना अधिक पिछड़ी जातियों में है। कुम्हार मिट्टी के बर्त्तन बनाने का व्यवसाय करते हैं। इस जाति के कुशल कारीगर मृत्तिका की सुन्दर-सुन्दर देव-मूर्त्तियाँ तथा खिलौने भी तैयार करते हैं। लोहार लोहा से कृषि-कार्य के लिए उपकरण प्रस्तुत करते हैं। घरेलू काम की वस्तुएँ चाकू, छूरी, तरकारी काटने के हेतु हँसुआ या फँसुल आदि तैयार कर वे गाँव की आवश्यकता को पूरा करते हैं। उसके बदले में ग्रामवासी अपनी फसल में से निर्धारित भाग प्रति वर्ष उनको देते हैं। हजामों का काम गाँव के लोगों की दाढ़ी बनाना, केश काटना तथा यज्ञ एवं धार्मिक संस्कारों के अवसर पर यज्ञ करने वालों के सगे-सम्बन्धियों एवं मित्रों के पास निमन्त्रण पहुँचाना होता है। पलटे में उनको भी गाँववाले अपनी फसल का एक हिस्सा सालाना देते हैं, जिनको 'पाल' कहा जाता है। बरही काष्ठ का काम करते हैं। मल्लाह मछलियों को पकड़ने तथा नदी में नाव चलाने का व्यवसाय करते हैं। धीवर और तीवर मल्लाहों की कोटि की जातियाँ हैं, और उनका व्यवसाय भी वही है। नोनियाँ पहले मिट्टी से नमक निकालने का काम करते थे। अब विशेषकर वे लोग मिट्टी काटने, सड़कों का निर्माण करने तथा कृषि-मजदूर का कार्य करते हैं। इनका पानी कहीं चलता है और कहीं पर नहीं। तेली तेलहन को कोल्हू में पेर कर उससे तेल निकालते हैं। उनका पेरा तेल का व्यवहार खाने और लगाने में सभी करते हैं, पर उनका छूआ जल सवर्ण हिन्दू नहीं पीते हैं। यात्रा के काल में उन पर दृष्टि पड़ जाने से अपशकुन माना जाता है। जो ब्राह्मण उन सबों की पुरोहिती करते हैं, वे भ्रष्ट माने जाते हैं। बेलदार नोनियाँ का काम करते हैं। ईंटों को चूर्ण कर उससे वे सुरखी तैयार करते हैं, जो भवन-निर्माण-कार्य में चूने के साथ मिलाकर मसाले के रूप में व्यवहृत होती है। ताँती को ततमा भी कहते हैं। वे लोग हथ-करघा पर कपड़े बुनते हैं। इस जाति के अनेक राज-मिस्त्री का काम

करते हैं। कलवार को मदिरा तैयार करने वाली जाति बताया जाता है। ये लोग उसकी दूकान भी करते हैं। इस जाति के लोगों ने अन्य व्यापार तथा व्यवसाय को भी अपनाया है। पढ़े-लिखे व्यक्ति बुद्धिजीवी होते जा रहे हैं। पासी ताड़ एवं खजूर के वृक्षों से नीरा निकालते हैं। नीरा को ताड़ी बनाकर बहुधा मद्यपान करने वाले व्यक्ति मादक द्रव्य के रूप में व्यवहार करते हैं। नीरा से गुड़ भी तैयार किया जाता है। धोबी कपड़े धोते हैं। मुसहरों की दशा बहुत गिरी हुई है। ये लोग भूमिहीन कृषि-मजदूर हैं तथा शिविका, खटोली, पालकी आदि भी अपने कंधे पर ढोते हैं। ये लोग ईंटें बनाते तथा उसके पैजावे को फूकते (जलाते) भी हैं। वे सब डोम, दुसाध, चमार, मेहतर तथा धोबी का छूआ भोजन नहीं करते हैं। दुसाधों की संख्या मिथिला में ग्वालों के बाद है। इस जाति के लोगों के पास भूमि नहीं है। यह बहादुर एवं परिश्रमी जाति है, पर आर्थिक स्थिति इन सबों की बुरी है। गाँवों में चौकीदारों का काम विशेषकर दुसाध जाति के लोगों को ही सौंपा जाता है। ये चौकीदार गाँव में घटी घटनाओं की सूचना थाने के आरक्षी-अधिकारी को आवश्यकतानुसार समय-समय पर देते रहते हैं और रात में पहरा भी देते हैं। समाचार-वाहक अथवा हरकारे का काम भी ये लोग करते हैं। घोड़ों के साईस एवं हाथियों के महावत का काम करने वाले विशेषतया दुसाध जाति वाले ही होते हैं। लकड़ी काटकर उसे फाड़ने, मिट्टी काटने, सड़क बनाने, तथा खेतों में मजदूरी करने का काम भी वे सब करते हैं। इन सबों का पानी नहीं चलता है, पर वे अछूत नहीं माने जाते हैं।

अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं कि दुसाधों के पास पूर्व में भूमि थी। उनके किले थे। उनका राज्य भी था। किन्तु आर्य विजेताओं ने उनकी भूमि, राज्य एवं किले छीनकर उन्हें निष्कासित कर दिया। उनलोगों ने अरण्य की शरण ली और वहाँ से छापे मारकर विजेताओं की उपज एवं सम्पत्ति लूटने और उससे अपना जीवन निर्वाह करने लगे। मिथिला में दुसाधों की कई बस्तियाँ हैं, जिनके निवासियों को कुख्यात कहा जाता है। उन ग्रामों में चोरों, बटमारों एवं डाकुओं की संख्या अधिक बतायी जाती है। उन सबों पर आरक्षियों की कड़ी दृष्टि रहती है। कहा जाता है कि दरभंगा जिले के रोसड़ा थाने में कुशेश्वर-स्थान के निकट मधवापुर थाने के वासुकी बिहारी में तथा अन्यत्र भी दुसाधों के गढ़ थे। उन सबों के अधिराट् का नाम सलेश वा सरेश था, जिसकी राजधानी मोरंग में थी। वहाँ के एक जंगल को अब भी सलेश की फुलवारी बताया जाता है, जिसके चतुर्दिक दलदल भूमि है, और उसमें हिंस्र पशुओं का भी निवास है। दुसाध सलेश की पूजा करते हैं। आज भी सलेश को 'राजाजी' के नाम से समादृत किया जाता है। राजाजी का गह्वर (मन्दिर) दुसाधों के ग्रामों में सर्वत्र पाया जाता है। दुसाध राहु की भी पूजा करते हैं। उन सबों की एक प्रकार की पूजा के अवसर पर तलवार की तीक्ष्णधार के ऊपर दुसाध भक्त खड़ा होता है तथा प्रज्वलित अग्नि के ऊपर होकर खुले पाँव विचरण करता है। पूजा-काल में दूध में खीर पकायी जाती है। उबलती हुई खीर को पूजा करने वाला भक्त हाथ से चलाता है तथा अपनी छाती पर ऊखल रखकर उसमें धान कुटवाता है। अग्नि-कुण्ड की अग्नि के बुझने पर उसके भस्म का अंश प्रसाद रूप में वन्ध्या स्त्री अपने पास रख लेती है। उन सबों का विश्वास है कि उस भस्म में वन्ध्या को सन्तान देने की शक्ति है (सर जॉन हाउल्टन : बिहार, द हार्ट ऑफ इण्डिया, पृ० ४४)। दुसाधों में भी अनेक उपजातियाँ हैं।

चमारों की गणना अछूतों में है । ये गाय भैंस आदि के मुर्दों को गाँव से बाहर फेंकते हैं और उनसे चमड़े निकालते हैं । ये लोग चमड़े का काम करते हैं । उसको पकाते हैं तथा उससे जूता, थैला आदि वे सब तैयार करते हैं । उनमें से कुछ खेती करते हैं । अधिकतर मजदूर हैं । विवाह आदि उत्सव के समय मजदूरी लेकर उनमें से अनेक बाजा बजाते हैं । उनकी स्त्रियाँ गाँव की माताओं के प्रसव-काल में दाई का काम करती हैं ।

मेहतर– इस जाति का मुख्य काम गन्दी वस्तुओं, मल-मूत्र आदि का टालना तथा शौचालयों को साफ करना है । नगरों में इनकी स्त्रियाँ झाड़ू से सड़कों को झाड़ती बुहारती और साफ करती हैं ।

डोम को चाण्डाल भी कहा जाता है । मिथिला में सभी जातियों से अधिक अछूत डोमों को माना जाता है । इनसे छूए जाने पर सवर्ण हिन्दू प्रायः स्नान करने के बाद अपने को शुद्ध मानते हैं । इस जाति के लोग भी मेहतरों का काम करते हैं । बाँस से टोकरियाँ, बेना, डगरा, सूप, चलनी आदि भी इस जाति के लोग प्रस्तुत करते है । बेतों के छिलके से कुरसी, आराम कुरसी, पलंग आदि को बुन कर भी अपनी जीविका ये लोग उपार्जन करते हैं ।

कुत्ते विल्ली आदि पशुओं के मुर्दों को डोम ही उठाकर गाँव के बाहर फेंकते अथवा गाड़ते हैं । फाँसी की सजा वाले अपराधियों को फाँसी के तख्ते पर लटकाने का काम इसी जाति के लोगों का है । प्राचीन काल में भी प्राण-दण्ड-प्राप्त अभियुक्तों का वध इन लोगों के द्वारा ही कराया जाता था । कृषि-कार्य करने वालों की संख्या इस जाति में अत्यल्प है । कुछ लोग बाजे बजाते एवं गाते भी हैं । इन सबों का निवास गांव से बाहर होता है । ये लोग शूकर एवं मुर्गियाँ भी पालते हैं ।

डोमों की एक उपजाति को मगहिया डोम कहा जाता है । इस उपजाति के लोग चोरी, बटमारी, डकैती आदि कुवृत्ति के लिए कुख्यात हैं । उनको सुधारने का प्रयत्न शासन की ओर से किया गया था, और इस ध्येय से चम्पारण जिले के चौतेरवा नामक स्थान में उनको बसाने के हेतु शिविर खोला गया । वहाँ उन सबों को ईमानदारी के साथ जीविका उपार्जन करने की शिक्षा देने का प्रबन्ध किया गया । इन सबों के चरित्र के सम्बन्ध में एक पुस्तिका रखी जाने लगी । जिनके चरित्र में समुचित सुधार पाया जाता था, उनको उनकी इच्छा के अनुसार जहाँ वे जाना चाहते थे वहाँ जाने की स्वीकृति दी जाती थी । ऐसे व्यक्तियों के नाम उक्त पुस्तिका से हटा दिये जाते थे । औरों को शिक्षण-शिविर के निकट उससे बाहर रहने की आज्ञा होती थी । वहाँ की 'सैलवेशन आर्मी' के द्वारा १९४७ ई० तक उस संस्था का संचालन होता रहा । उसके पश्चात् उसका भार बिहार के हरिजन सेवक संघ ने अपने ऊपर लिया (सर जॉन हाउल्टन : बिहार, द हार्ट ऑफ इण्डिया, पृ० ९६)।

कहीं-कहीं पर मरघट में मृतकों की चिता जलाने के हेतु लकड़ियाँ और अग्नि, तथा उल्का के लिए काश, घास-फूस आदि शुल्क लेकर डोम ही देते हैं । डोमों की स्त्रियाँ माथे पर आम्र-पल्लव से सुसज्जित जल-पूर्ण कलश रख कर नवागन्तुकों का स्वागत करती हैं (आर० आर० दिवाकर सम्पादित, बिहार थ्रू दि एजेज, पृ० ६९६) ।

प्रत्येक जाति का सामाजिक चलन-व्यवहार स्थान, काल तथा परिस्थिति के अनुसार भिन्न भिन्न होता है, और वह बदलता भी रहता है। जाति का प्राचीन बन्धन भी सम्प्रति बहुत अंशों में ढीला पड़ गया है तथा अनुदिन ढीला होता ही जाता है। विचार स्वातन्त्र्य का युग आ गया है। रूढ़िवादिता धीरे धीरे अपनी जगह छोड़ती जा रही है। भविष्य में मिथिला की उपर्युक्त जातियों का क्या रूप एवं रुख होगा, इसके विषय में भविष्यवाणी करना सम्भव नहीं है।

मुसलमानों में भी जातियाँ एवं उपजातियाँ हैं। शेख, शैयद, मुगल और पठान के अतिरिक्त धुनियाँ, जोलहा, कुँजरा, नट आदि उनकी उप-जातियाँ हैं। सम्प्रदाय भी उनके दो हैं, शीया और सुन्नी। दोनों ही सम्प्रदाय तथा सभी जातियों एवं उपजातियों के मुसलमान तिरहुत में पाये जाते हैं। किन्तु उनकी संख्या अपेक्षाकृत हिन्दुओं से बहुत कम है।



सप्तदश अध्याय

भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम में मिथिला का योगदान

देश के नरेशों में आपसी फूट, राजनीतिक अदूरदर्शिता, राष्ट्रीयता के भाव की कमी, जातिगत विद्वेष एवं तज्जनित संकीर्णता, तथा व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रधानता के कारण भारत वर्ष को विदेशियों की परतन्त्रता की कठिन बेड़ी के बन्धन में चिरकाल तक जकड़ा रहना पड़ा था, पर इतिहास इसका साक्ष्य देता है कि उस अवधि में भी वह उस हीनावस्था से मुक्ति पाने के हेतु सदैव छटपटाता रहा और समय-समय पर उसके लिए परिस्थिति के अनुकूल सयत्न भी हुआ। अंगरेजों के भारत में शासन के आरम्भ में एक शती पश्चात देश में स्वतन्त्रता की भावना अति प्रबल हो उठी और उसकी लहर दशो दिशाओं में फैल गयी।

बंगाल के पलासी के मैदान में २३ जून, १७५७ ई० के दिन मीरजाफर के व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण भारत के भाग्य ने पलटा खाया, और ईस्ट इण्डिया कम्पनी नामक युरोप के विदेशी व्यापारी-संघ की विजय भारतीय राजनीति पर हो गयी। किन्तु अत्यल्प काल के अभ्यन्तर ही मीरजाफर के जामाता मीरकासिम ने सर्वप्रथम १७६२-६३ ई० में उदीयमान ब्रिटिश प्रभसत्ता का विरोध किया। उसके पश्चात् मीरकासिम, अवध के नवाब शुजा-उद्दौला, तथा दिल्ली के बादशाह शाह आलम द्वितीय की संघ सेना ने २३ अक्टूबर, १७६४ ई० को बक्सर के निकट के संयुग में अंगरेजी वाहिनी का सामना किया। किन्तु देश के दुर्भाग्य से अंगरेजों को कुछ ऐसी अनुकूल परिस्थिति मिल गयी, जिसके कारण विजयश्री ने हिन्दुस्तानियों से रुष्ट होकर विदेशी अंगरेजों को गले लगाया। पलासी के समर ने अंगरेजों को बंगाल तथा बिहार पर शासन करने की सुविधा प्रकारान्तर से दी थी, किन्तु बक्सर के संग्राम के पश्चात् वे वहाँ के असली शासक बन गये और नवाब मीरजाफर उनके हाथ का खिलौना बना रहा।

उपर्युक्त घटना के पश्चात् की पूरी शताब्दी के अन्दर अंगरेजों की राज्य-विस्तार नीति तथा शासन-पद्धति से देश में अनेक प्रकार की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक उथल-पुथल हुई। अनेक कारणों से उद्ध्वांङ्कित परिस्थितियों में देशवासियों के हृदय में अंगरेजी शासन के प्रति असन्तोष एवं अविश्वास उत्पन्न होता गया, जिसका परिणाम समय-समय पर जहाँ-तहाँ के उनके विरुद्ध खुल्लम-खुल्ला विद्रोहाग्नि का भड़कना था, जिसका संकेत पूर्व के परिच्छेदों में प्रसंगवश किया जा चुका है। इस प्रकार का छिटफुट विद्रोह भारत के भिन्न-भिन्न भागों में यदा-कदा होता रहा, और बिहार प्रदेश भी उससे मुक्त न रह सकता। मिथिला बिहार का एक अंश था ही। उसके हृदय में भी स्वतन्त्रता की आग लहर रही थी। अतः देश को स्वाधीन करने के हेतु जितने आन्दोलन किये गये, उन सभी में उसका सहयोग भरपूर रहा।

काशी नगरी बिहार प्रदेश की सीमा के अतिसन्निकट है। वहाँ के महाराजा चेत सिंह का अंगरेजों ने बलपूर्वक दमन किया था। उसे राज्य छोड़ कर प्राण-रक्षा के हेतु गंगा मार्ग

से अन्त में अन्यत्र पलायन करना पड़ा था। इस घटना का प्रभाव बिहार प्रदेश पर पड़े बिना न रहा। वहाँ के कुछ जमींदार उत्तेजित होकर चेत सिंह के विरुद्ध की गयी कार्यवाही के विरोध में खेड़े हो गये, और उसका समर्थन करने लग गये। उसी प्रकार २१ जनवरी, १७९८ ई० की सन्धि के पश्चात् ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सआदत अली को अवध का नवाब स्वीकार किया। वहाँ की नवाबी मसनद के दूसरे प्रतिद्वन्द्वी प्रत्याशी वजीर अली को निवृत्ति-वेतन देकर लखनऊ से बाहर बनारस (काशी) भेज दिया गया। अपने प्रति किये गये व्यवहार से असन्तुष्ट होकर अली ने अंगरेजी शासन के विरुद्ध भारतव्यापी षड्यन्त्र करने का आयोजन किया। दक्षिण और उत्तर बिहार (मिथिला) के अनेक सामन्त, राजे एवं जमींदार भी उसकी उस योजना में सहायक थे। गया जिले के भूमिहार ब्राह्मण कुलोद्भव टिकारी के राजा मित्रसिंह का भी हाथ उसमें था (आर० आर० दिवाकर सम्पादित बिहार थ्रू दि एजेज, पृ० ६४०)। उत्तर एवं दक्षिण बिहार में टिकारी भूप के सम्बन्धी अनेक राजे और जमींदार थे, जिनकी सहानुभूति स्वभावतः उनके साथ थी। अतः ब्रिटिश-विरोधी भावना भीतर-भीतर गया, दरभंगा, मुजफ्फरपुर, सारन आदि जिलों के जमींदारों के बीच प्रच्छन्न रूप से फैल चुकी थी तथा फैल रही थी।

असल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की कार्यवाहियों के विरोध में सम्पूर्ण बिहार में १८५७ ई० के पूर्व से ही असन्तोष फैला हुआ था। पर वह प्रच्छन्द रूप में था, प्रकट नहीं। सिख-युद्ध के समय १८४५-४६ ई० में जब अंगरेजों की सारी शक्ति भारत की पश्चिमोत्तर सीमा में लगी हुई थी, उस समय बिहार से अंगरेजी प्रभुसत्ता को उखाड़ फेंकने की सबल योजना पटना तथा आस-पास के जिलों के मुसलमान रईसों ने बनायी थी। उन लोगों के कतिपय देशी पदाधिकारियों तथा दानापुर के फौजी सिपाहियों को भी अपने साथ कर लेने में सफलता प्राप्त कर ली थी। इसकी चर्चा करते हुए पटना प्रमंडल के आयुक्त विल्लियम टेलर ने अंकित किया था कि १८४६ ई० के पटना का वह भयंकर षड्न्यत्र देशव्यापी बृहद् अंगरेज-विरोधी आयोजन की शाखा मात्र था, और उसका लक्ष्य था अंगरेजों की हत्या, अंगरेजी शासन की जड़ को उखाड़ फेंकना तथा उसके स्थान में मुसलमान राजकुल की स्थापना करना।

हाल में प्रमाणों के आधार पर इस बात का भी पता चला है कि शाहाबाद जिले के इतिहास-विख्यात जमींदार महाविक्रमी वीर बाबू कुँअर सिंह के हाथ भी उस १८४५-४६ ई० के ब्रिटिश-विरोधी षड्यन्त्र में होने की शंका तत्कालीन अंगरेज-पदाधिकारियों के हृदय में उठी थी। शाहाबाद के दण्डाधिकारी एलफिन्सटन जैक्सन ने २३ जनवरी, १८४६ ई० को एक पत्र बंगाल-सरकार के सचिव के पास लिखा था। उसने उसमें स्पष्टतया अंकित किया था कि 'शाहाबाद जिले के सबसे अधिक प्रभावशाली एवं जनप्रिय जमींदार बाबू कुँअर सिंह का सम्बन्ध पटना के षड्यन्त्र से था। उनके नाम की मोहर के साथ लिखे गये पत्रों का पता लग गया है जो षडयन्त्रकारियों को लिखे गये थे।' पटना के दण्डाधि कारी ने भी सचिव, बंगाल सरकार के पास जो पत्र २७ दिसम्बर, १८५७ ई० को प्रेषित किया था, उसमें उसने लिखा था कि बाबू कुँअर सिंह का सम्बन्ध उक्त अंग्रेज-विरोधी षड्यन्त्र से था, और विगत उत्तेजना के काल में वे पटना आये थे तथा उनका पत्राचार राहत अली के साथ होता था।

उद्धर्वाङ्कित उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अंगरेजों ने जिस ब्रिटिश साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन को पटना और उसके आस-पास के मुसलमान रईसों के षड्यन्त्र की संज्ञा दी थी, वह केवल मुसलमानों का विद्रोह नहीं था, वरन् वह उत्तर एवं दक्षिण बिहार के हिन्दू और मुसलमानों का सम्मिलित उद्योग अंगरेजी राज्य का उखाड़ कर उसके स्थान में हिन्दुस्तानी राज्य की स्थापना करने के हेतु हुआ था। पर बाबू कुँअर सिंह को इतने पर भी बंगाल सरकार ने बन्दी नहीं बनाया। ऐसा करने से जनता में भयंकर उत्तेजना होने का उसे भारी भय था।

छोटानागपुर में कोलों का विद्रोह १८३१-३२ ई० में हुआ था। बर्दमान से लेकर भागलपुर तक के क्षेत्र में १८५५-५७ ई० में संथालों का संगठित उपद्रव चालू रहा। उसके नेता सिद्धू, कन्हू, चन्दू एवं भैरव चारों भाई थे। वे सब संथाल परगना जिले के राजमहल अनुमण्डल के भग्नडीही ग्राम के निवासी थे। अंगरेजों ने उपर्युक्त स्वतन्त्रता-प्रेमी वीरों का दमन बड़ी कठिनाई के साथ क्रूरतापूर्वक किया।

पटना के आयुक्त विल्लियम टेलर के पश्चात् उसकी जगह पर ई० ए० समुएल्स आयुक्त नियुक्त हुआ। उसने दिनांक २५ सितम्बर, १८५८ ई० के अपने पत्र में बंगाल सरकार को लिखा था कि मुझे जो खबरें मिली हैं, उनसे मेरा विश्वास सुदृढ़ हो गया है कि चिरकाल पूर्व से किये गये कार्यों का परिणाम यह विद्रोह है।

भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम जो १८५७ से १८५९ ई० तक चालू रहा था, उसका बिहार एक प्रसिद्ध केन्द्र था। वह युद्ध किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं था, वरन् ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बढ़ते हुए प्रभाव का राष्ट्रीय प्रतिरोध था। संथाल परगना, पटमा तथा तिरहुत के विद्रोह का शमन करने के हेतु पटना प्रमण्डल के आयुक्त विल्लियम टेलर तथा कतिपय अन्य ब्रिटिश पदाधिकारियों ने अपनी सारी शक्ति १८५७ ई० के जून और जुलाई महीने में लगा दी (आर० आर० दिवाकर सम्पादित, बिहार थ्रू दि एजेज, पृ० ६४२)। जुलाई महीने के आरम्भ में मि० टेलर ने प्रधान षड्यन्त्रकारी होने के सन्देह में पटना के कई व्यक्तियों के साथ पीर अली को फाँसी दे दी। उनपर जो अभियोग लगाये गये थे, उन पर विचार करने के लिए न्यायालय बैठाया गया था। पर वह काम केवल नाम के लिए किया गया था। उसे न्याय-दान का स्वाँग कहा जा सकता है। अंग्रेजों का दमन-चक्र उस काल जनता को आतंकित करने के हेतु चल रहा था, जिससे ब्रिटिश-शासन की जड़ यहाँ से उखाड़ फेंकने का कोई भारतीय देशभक्त साहस नहीं कर सके। उपर्युक्त पीर अली को षड्यन्त्रकारियों का मुख्य नेता बताया गया था। यह ध्यान देने की बात है कि बिहार की उस जन-क्रान्ति के नायकगण लखनऊ तथा देश के अन्य भागों के सहकर्मियों के साथ सम्पर्क स्थापित कर एक राय से कार्य कर रहे थे।

दानापुर की सेना के तीन रेजीमेण्टों ने २५ जुलाई, १८५७ ई० को कम्पनी के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाया। उन सबों ने २६ जुलाई को शाहाबाद जिले में प्रवेश किया, और जगदीशपुर के प्रभावशाली प्रसिद्ध वीर राजपूत जमींदार बाबू कुँवर सिंह के योग्य नेतृत्व में वीरतापूर्वक अंगरेजों से युद्ध कर अपनी मातृभूमि को विदेशियों की परतन्त्रता की बेड़ी से मुक्त करने के हेतु वे सब उनसे जा मिले। अस्सी वर्ष के वृद्ध बाबू कुँवरसिंह ने उन सबों

का वहाँ स्वागत किया और उनके पवित्र ध्येय की पूर्त्ति के लिए स्वयम् सन्नद्ध एवं कटिबद्ध हुए । देखते-देखते शतशः देश-प्रेम-मदमत्त विक्रमी योद्धा अपनी मातृभूमि के उद्धार करने हेतु दृढ़-प्रतिज्ञ एवं बद्धपरिकर होकर बाबू कुँअर सिंह के चारों ओर आ उपस्थित हुए, और उन्होंने उनकी आज्ञा एवं निर्देश पर मर मिटने का संकल्प लेकर उनको उस पावन आन्दोलन का नेता स्वीकार किया । बाबू कुँअर सिंह ने अपने जगदीशपुर के दुर्ग में शस्त्रास्त्र एवं बारूद आदि प्रस्तुत करने के हुतु एक कारखाने की स्थापना की तथा २०,००० (बीस सहस्र) सैनिकों को छः महीने तक भोजन देने के लिए सामग्रियाँ एकत्रित कर ली । उत्तर एवं दक्षिण बिहार की जनता की सद्भावना, सहानूभूति एवं प्रेम उनको प्राप्त हुआ । इस सशस्त्र क्रान्ति का स्वागत बिहार के अधिकांश अधिवासियों ने हृदय से किया और आजादी के दीवाने उस क्रान्ति के सिपाहियों को समर-काल में खिलाने-पिलाने तथा उनके स्वागत करने की तैयारियाँ जगदीशपुर से दूर गंगा के दूसरे पार दरभंगा, मुजफ्फरपुर आदि जिलों में ग्रामीण जनता प्रच्छन्न रूप से करने लग गयी, जिसका आँखों देखा वर्णन करने वाले अनेक वृद्ध २० वीं शताब्दी के प्रथम चरण के अन्त तक तथा उसके बाद भी विद्यमान थे ।

बाबू कुँअर सिंह के प्रधान सहचरों में उनके भाई अमरसिंह एवं रीतनारायणसिंह, उनके भानजे निशानसिंह तथा जयकृष्णसिंह, शाहाबाद के चार जमींदार नरहनसिंह, जूहनसिंह, ठाकुर दयालसिंह, तथा विश्वेश्वरसिंह, एक मुसलमान वकील एवं एक और नवयुवक मुसलमान थे । बाबू कुँअर सिंह ने सोमवार, २७ जुलाई, १८५७ ई० को दानापुर के सैनिकों की टोली एवं अपने दल के साथ अग्रसर होकर आरा के अंगरेजों को घेर लिया । रेलवे कम्पनी के जिला अभियन्ता मि० व्वायल ने किलेबन्दी के साथ एक दो-मंजिला मकान बनवाया था । आरा के दण्डाधिकारी मि० एच० सी० बेक के साथ वहाँ के तथा वहाँ के आस-पास के सभी यूरोपियन अधिवासियों ने २६ जुलाई की सन्ध्या में उस भवन में जाकर शरण ली थी । उन अंगरेजों के उद्धार करने के हेतु दानापुर से लगभग ५०० अंगरेज एवं सिख सैनिकों की टोली कैप्टेन डनवार के नायकत्व में भेजी गयी । परन्तु अंगरेजी सेना की आरा के उस युद्ध में करारी हार हुई । सेना के लगभग सभी सिपाही सेना-नायक के साथ समरांगण में धराशायी हुए । उनमें से बहुत कम जीवित बचे, जिन्होंने दानापुर जाकर उस युद्ध का दुखद परिणाम अपने सेनानायक को सुनाया । जेनरल ल्वायड ने उसी दिन तार द्वारा प्रधान सेनाध्यक्ष को दुःख के साथ सूचित किया कि आरा पर आक्रमण का परिणाम स्वर्गीय सेनानायक कैप्टन डनवार की कुव्यवस्था के कारण बहुत ही दुःखद हुआ । कैप्टेन डनवार के साथी कैप्टेन आर० पी० हैरिसन ने ३१ जुलाई, १८५७ ई० को ऐडजुटैण्ट जेनरल के पास अपना प्रतिवेदन भेजा था । उसमें उसने अंकित किया था कि उक्त युद्ध में विद्रोहियों की हानि अत्यल्प हुई, क्योंकि रात अँधेरी थी, और सिपाही इतने थक गये थे कि उनके लिए बन्दूक चलाना कठिन था । भारतीय हमलोगों के विरोधी बन गये हैं । मेजर जेनरल ल्वायड ने पुनः २ अगस्त, १८५७ ई० को कमाण्डर-इन-चीफ (प्रधान सेनापति) को सूचित किया कि– 'बाबू कुँअर सिंह एवं आरा के विद्रोहियों के साथ सफलतापूर्वक समर करने के हेतु सेना वहाँ अपर्याप्त है । कुँअर सिंह ने पर्याप्त

सेना एकत्र कर ली है। कहा जाता है कि पटना पर आक्रमण करने की बात वह सोच रहा है। किन्तु उसका असली मन्तव्य क्या है, यह कहा नहीं जा सकता है। सोन नदी में जितनी नावें हैं, वे सभी उसके अधिकार में हैं।

मेजर आयर अपने सैनिकों के साथ इलाहाबाद जा रहा था। आरा के अंगरेजों की दुर्दशा का समाचार सुनकर वह उस ओर मुड़ा। कुँअरसिंह की सेना के साथ ३ अगस्त की उसकी मुठभेड़ बीबी गंज में हुई। उसमें आयर विजयी हुआ। इतने में उसके पास और कुमुक पहुँच गयी। उसने उसकी सहायता से जगदीशपुर पर आक्रमण कर उसपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। वहाँ के युद्ध-सामग्रियों के भण्डारों एवं भवनों को उसके निर्दयता पूर्वक विनष्ट किया, तथा देव-मन्दिरों को भी अक्षत नहीं रहने दिया। किन्तु अंगरेजों की उस विजय तथा बर्बरतापूर्ण कार्यवाही से कुँअरसिंह की रणोन्मत्तता में कमी नहीं आयी। उन्होंने अपने कार्य-क्षेत्र का विस्तार बिहार से बाहर तक भी किया, और अन्य स्थानों में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के विरुद्ध युद्ध में रत देशभक्त नेताओं से सम्पर्क स्थापित कर लिया। शाहाबाद जिले के अतिरिक्त बिहार प्रदेश के छोटानागपुर, पटना, भागलपुर एवं तिरहुत में भी राष्ट्रीय जागृति हो चुकी थी और उन स्थानों में विद्रोहानल सुलग रहा था। इन सभी स्थानों के नेताओं के साथ कुँअरसिंह का पत्राचार होता था, और सभी जगहों की सशस्त्र क्रान्ति का सूत्र-संचालन एक राय एवं एक विचार से हो रहा था।

बाबू कुँअरसिंह ने बिहार से बाहर रींवा, ग्वालियर, लखनऊ, आजमगढ़ आदि स्थानों के मुख्य-मुख्य नेताओं एवं विद्रोही सेनाओं से मिलकर उन स्थानों में अंगरेजों के विरुद्ध स्थान-स्थान पर रण करना आरम्भ किया। सभी स्थानों में स्थानीय जनता की सहानुभूति, प्रेम एवं सहायता उनको प्राप्त होती थी। स्वतन्त्रता के सेनानियों के इस प्रकार के सहयोग एवं समन्वय देखकर एक समकालीन अंगरेज पदाधिकारी ने १८५७ ई० में लिखा था कि –'आपत्ति आखिर आयी। आरम्भ में वह सैनिक-विद्रोह मात्र था। पर अति शीघ्रता के साथ उसके रूप में परिवर्त्तन हुआ और राष्ट्रीय क्रान्ति का आकार उसने धारण कर लिया। बिहार प्रदेश, बनारस, आजमगढ़, गोरखपुर, मेरठ, आगरा, गंगा एवं यमुना के बीच की भूमि (दो-आब) आदि के सभी राजपूत गाँवों के अधिवासियों ने हमलोगों के शासन से अपने को मुक्त कर हमारे विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया है'।

बाबू कुँअरसिंह रींवा, बांदा, कालपी, कानपुर आदि स्थानों में अपनी सेना के साथ गये और वहाँ के स्वातन्त्र्य-संग्रामों में उन्होंने सक्रिय भाग लिया। उसके पश्चात् वे लखनऊ पहुँचे। वहाँ के शाह ने अपने शाही दरबार में बाबू कुँअरसिंह का ससम्मान स्वागत किया तथा एक बहुमूल्य खिलअत भी प्रदान की। साथ ही उपहार में उनको वहाँ आजमगढ़ जिले के जमींदारी अधिकार का फरमान तथा १२,००० (द्वादश सहस्र) रुपये नकद भी प्राप्त हुए। आजमगढ़ से २५ मील की दूरी पर अतरोलिया में अन्य साथियों से दिनांक १७ मार्च, १८५८ ई० को बाबू कुँअरसिंह अपने दल से जा मिले। यह समाचार प्राप्त कर केवल कई दिनों के अन्दर ही कर्नल मिलमैन अपनी विशाल वाहिनी के साथ उनके विरुद्ध टूट पड़ा, पर समर में उसे हार खानी पड़ी। बाबू कुँअरसिंह अपने दल-बल के साथ आजमगढ़ में शिविरस्थ होकर डटे रहे। वहाँ से उनको मार भगाने के हेतु कर्नल

डेम्स ने अपनी सारी शक्ति लगा कर आजमगढ़ पर चढ़ाई की, पर उसकी भी वही गति हुई, जो कर्नल मिलमैन की हुई थी। आजमगढ़ पर बाबू कुँअरसिंह का अधिकार बना ही रहा। यह समाचार पाकर गवर्नर-जनरल लॉर्ड कैनिंग घबड़ा गया। उसने लॉर्ड मर्क कर्र तथा सर एडवर्ड लुगर्ड को आजमगढ़ का उद्धार-भार सौंपा। उसकी समझ में कुँअरसिंह के सामरिक-कौशल को समझने वाला उन दोनों के अतिरिक्त अंगरेजी सेनानायकों में कोई अन्य न था। बाबू कुँअरसिंह युद्ध कलाविदों में धुरन्धर थे। यह समाचार ज्ञात कर उन्होंने अपनी सारी सेना को आजमगढ़ में प्रच्छन्न रूप से शिविरस्थ रहने दिया। उनमें से केवल एक छोटी टुकड़ी को साथ लेकर वे गाजीपुर की ओर चल पड़े। अंगरेज सेनापतियों को मालूम हुआ कि कुँअरसिंह आजमगढ़ त्याग कर चले गये। अतः वहाँ का उनका आक्रमण उस काल स्थगित हो गया। बाबू कुँअरसिंह का ध्येय गंगा पार कर अपनी राजधानी जगदीशपुर पर पुनः अधिकार कर लेने का था। गाजीपुर जिले के जमींदारों एवं जन-समुदाय ने उनकी सस्नेह अभ्यर्थना कर सभी प्रकार से सहायता की तथा सेना के लिए रसद आदि का भी प्रबन्ध किया।

ब्रिगेडियर डॉग्लस के अधीन अंगरेजी सेना बाबू कुँअरसिंह के प्रतिरोध में अग्रसर हुई। दिनांक २१ अप्रैल, १८५७ ई० को उसने स्वतन्त्रता-संग्राम के वृद्ध पर वीर सेनानी का सामना किया। बाबू कुँअरसिंह ने बड़ी वीरता एवं कुशलता से युद्ध कर अंगरेजों के छक्के छुड़ा दिये। अंगरेजों ने गंगा नदी की नावों को इसलिए जलमग्न करवा दिया था कि जिससे बाबू कुँअरसिंह की सेना गंगा पार कर जगदीशपुर की ओर बढ़ने में अक्षम रहे। पर ब्रिगेडियर डॉग्लस को इसमें सफलता न मिल सकी। आखिर बाबू कुँअरसिंह अंगरेजों के प्रतिरोध का सफलतापूर्वक अतिक्रमण कर गंगा के किनारे अपने दल-बल के साथ पहुँचे, और उसके दक्षिण तट के ग्रामों के अधिवासियों की सहायता से नदी पार कर गये। कहा जाता है कि इस समर में उनको कई घाव लग चुके थे। आहत अवस्था में भी वे अपनी सेना के सभी जवानों को नौकारूढ़ करा कर पीछे स्वयं पार कर जाने के हेतु नाव पर चढ़े। अंगरेजों को पता चल गया कि कुँअरसिंह रातों-रात ससैन्य शिवपुर घाट पर पहुँच चुके हैं, और वहाँ उनके पार उतरने का भी प्रबन्ध स्थानीय ग्रामीणों ने कर दिया है। इस पर अंगरेजी सेना ने उनका पीछा किया। पर तब तक बाबू कुँअरसिंह की नाव गंगा में आगे बढ़ चुकी थी। अंगरेजी सेना की ओर से गोलियाँ चलने लगीं। बाबू कुँअरसिंह की बाँह में एक गोली लगी, जिससे हड्डी टूट गयी। कहा जाता है कि बाबू साहब ने जब अपनी उस बाहु को बेकार हुआ देखा तो अपनी तलवार से वीरतापूर्वक उसे काट कर गंगा को समर्पित कर दिया। दृढ़-प्रतिज्ञ वीरव्रती के मार्ग को उसके आहत होने की अवस्था में भी कोई रोक नहीं सका, और वे २३ अप्रैल को जगदीशपुर पहुँच गये। अंगरेजों से युद्ध कर उन्हें परास्त करना तथा मृत्यु के पूर्व अपने जन्म-ग्राम को विदेशी दस्युओं से स्वतन्त्र कर लेना उस काल उनका अन्तिम लक्ष्य था। अंगरेजों ने उनसे लड़ने के हेतु कैप्टन ली ग्रेण्ड की अधीनता में अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित, सबल एवं परीक्षित सैनिकों को भेजा। आजादी के दीवानों से उसकी मुठभेड़ उसी दिन २३ अप्रैल के दिन हुई। भयंकर समर के पश्चात् विजयश्री ने स्वतन्त्रता देवी के उपासक वीरों के गले में जयमाला पहनायी। अंगरेजों का उस युद्ध में पराभव हुआ। गुप्तचरों ने जो गोपनीय

प्रविवेदन अंगरेज सरकार के पास भेजा, उसके अनुसार २५० से ३०० तक सिपाही बाबू कुँअरसिंह के विरुद्ध लड़ने के लिए भेजे गये थे, जिनमें से केवल २५ से ३५ तक यूरोपियन तथा ३० से ३५ तक सिक्ख सैनिक और ७ उनके पदाधिकारी आरा में लौट कर आते देखे गये। शेष समरांगण में धराशायी हुए। विजेताओं को उस युद्ध में अनेक बन्दूकें भी हाथ लगीं। जगदीशपुर के भग्न-महल पर बाबू कुँअरसिंह की विजय-पताका पुनः लहरा उठी। अंगरेजों से मिले देश-द्रोहियों का दमन किया गया तथा वहाँ फिर से हिन्दुस्तानी राज-सत्ता स्थापित कर ली गयी। किन्तु अस्सी वर्षीय युद्ध वीर बाबू कुँअरसिंह के शरीर से रक्त अधिक निकल चुका था। शनैः-शनैः उनका शरीर शिथिल होंने लगा और ली ग्रैण्ड पर विजय के तीन दिनों के पश्चात् उस स्वतन्त्रता के पुजारी का शरीरान्त हो गया।

बाबू कुँअरसिंह ने जगदीशपुर को अंगरेजों से छीन कर पुनः उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। यह समाचार विद्युत् के समान चारों ओर फैल गया। लोगों में उत्साह बढ़ा। अंगरेजी-शासन को निर्मूल करने के प्रयत्न में सभी स्थानों में स्वदेश-प्रेमी युवक पिल पड़े। ऊपर लिखा जा चुका है कि बाबू कुँअरसिंह का पत्राचार देश के उन सभी नेताओं के साथ होता था, जो अपने-अपने प्रदेश एवं अंचल में स्वातन्त्र्य-समर का संचालन कर रहे थे, और शाहाबाद, पटना, भागलपुर, तिरहुत तथा छोटा नागपुर में जो आन्दोलन चल रहा था अथवा सशस्त्र क्रान्ति मच रही थी, उसका सम्बन्ध आंपस में एक दूसरे से था (आर० आर० दिवाकर सम्पादित, बिहार थ्रू दि एजेज, पृ० ६४३)।

बाबू कुँअरसिंह की मृत्यु के पश्चात् उस युद्ध का नेतृत्व उनके अनुज, बाबू अमरसिंह ने ग्रहण किया। उनके सहायक हरकिशनसिंह, जुघनसिंह, अली करीम आदि ने अपने कार्य क्षेत्र का विस्तार किया, और वे सम्पूर्ण बिहार में अपना काम करने लग गये। जनता उनके कार्य को पवित्र समझती थी। अतः उन्हें जन-सहयोग सर्वत्र एवं सब समय प्राप्त होता रहता था। अंगरेजों के लिए परिस्थति का सँभालना कठिन हो गया। वे भयभीत हो गये। देहातों से सभी अंगरेज अपनी-अपनी कोठियों को छोड़ कर ऐसी कोठियों में एकत्रित होने लगे, जो नदी के किनारे थीं तथा जहाँ से यातायात में सुविधा थी। इस प्रकार की अंगरेजों की कोठियाँ मिथिला में ढोली, बिरौली, जितवारपुर, दौलतपुर आदि में थीं, जहाँ से आपत्ति-काल में आवश्यकता पड़ने पर वे सब जल-मार्ग से कलकत्ता की ओर पलायन कर सकते थे।

मिथिला (तिरहुत) के गाँव-गाँव में लोग स्वतन्त्रता के पुजारी सैनिकों की बाट जोहने लगे। उनके स्वागत की तैयारियाँ सभी गाँवों में प्रच्छन्न रूप से पूरी हो चुकी थीं। स्थान-स्थान पर उनके लिए रसद का इन्तजाम ग्रामीण जनता ने कर रखा था। मुजफ्फरपुर जिले के सकरा थानान्तर्गत दुबहा ग्राम के एक ८० वर्षीय वृद्ध राजपूत रामदौन सिंह ने परिस्थिति का आँखों देखा वर्णन १९२३ ई० में इन पंक्तियों के लेखक के सामने किया था। उस वृद्ध की अवस्था १८५८-५९ ई० में १३-१४ वर्ष की थी। उसके गाँव में बाबू कुँअरसिंह के फौजी सिपाहियों के खिलाने-पिलाने के हेतु चावल, आटा, खसी, घी, चबेना, तम्बाकू आदि एकत्रित कर एक स्थान में रख लिया था, जिससे उनके इस ओर

आने पर इन वस्तुओं के एकत्रित करने में व्यर्थ समय नष्ट न करना पड़े। ऐसा प्रबन्ध अपने-अपने ग्रामों में लगभग सभी ग्राम वालों ने कर रखा था। बाबू कुँअरसिंह की मृत्यु का समाचार भी उन लोगों को प्राप्त हुआ, पर उससे वे सब हताश नहीं हुए। रामदौनसिंह का कहना था कि वह कृषक का पुत्र था और उस काल अपने साथियों के साथ भैंस चराने मैदान में जाया करता था। प्रायः चरवाहे सब मिलकर आपस में वहाँ उस युद्ध के सम्बन्ध में बातें करते तथा खेल भी करते थे। उनमें से कभी कोई अपने को अंगरेज बताकर साथ के भैंस चराने वाले साथियों से बाल-सुलभ चापल्य के साथ कहता कि :-

'अमरसिंह के कमर टूटलैन कुँअरसिंह की बाँही।
पुछिऔन ग दल भंजनसिंह से अब लड़तन कि नाही'॥

इस पर दूसरा लड़का दलभंजन सिंह (कुँअरसिंह के पुत्र) के रूप में हिन्दुस्तानियों का स्वाभिमान बताता हुआ उसको उत्तर देता कि-

'हाथी बेचव, घोड़ा बेचव सिपाही के खियायव।
लड़व न त करव की हँसही की करायव ?'॥

बाबू कुँअरसिंह की फौज के एक सिपाही से १९२५ ई० में लेखक को मुजफ्फरपुर जिले के पारू थाने के जैतपुर नवादा ग्राम में भेंट हुई थी। उसकी अवस्था उस समय लगभग ९० वर्षों की रही होगी। वह शाहाबाद जिले का रहने वाला, जाति का कायस्थ था। उसने युद्धस्थगन के पश्चात् अंगरेजों के दमन-चक्र से अपनी रक्षा के हेतु साधु का रूप धारण किया था। जीवन के अन्त तक साधु रहकर उसने धार्मिक जीवन व्यतीत किया भी। रामदौन सिंह ने जैसी बातें बतायी थीं, उसने भी सर्वत्र उसी प्रकार की स्थिति होने का समर्थन किया। पारू थाने के एक मुसलमान दारोगा को भी अंगरेजों ने विद्रोहियों के सहायक होने के सम्बन्ध में थाने में ही गिरफ्तार किया था। कहा जाता है कि ज़ब उसको पकड़ने के हेतु अंगरेज वहाँ पहुँचे, तब उसने चिल्ला-चिल्ला कर कहना आरंभ किया कि यदि कोई दिल्ली ज़ाय तो वह बादशाह से कह दे कि पारू थाने का दारोगा अन्त काल तक अपने बादशाह का नमक-ह़लाल और विश्वासी बना रहा।

जगदीशपुर में अंगरेजी शासन के समानान्तर शासन बाबू अमरसिंह का चल रहा था। युद्ध को चालू रखने के हेतु वे अदम्य उत्साह एवं अध्यवसाय का प्रदर्शन कर सदैव एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते और अथक परिश्रम करते रहे। जब नाना साहब भारत छोड़कर नेपाल चले गये जो उनकी सेना के नेतृत्व करने के विचार से वे तराई में गये। किन्तु वहाँ पर १८५९ ई० के दिसम्बर महीने में अंगरेजों के समर्थकों एवं सहायकों ने उन्हें पकड़वा दिया। वहाँ से लाकर अंगरेजों ने उन्हें गोरखपुर जेल में रखा। उनको वहाँ से उनके अपने जिला शाहाबाद में लाकर उनपर मुकदमा चलाने तथा न्याय का स्वांग रचकर जनता को आतंकित करने का विचार अंगरेजों का था। परन्तु ईश्वर को उनका वह अपमान स्वीकार न था। उन्हें गोरखपुर जेल में पेचिश की बीमारी हुई, जिससे उनका देहान्त ५ फरवरी, १८६० ई० को हो गया। उनकी मृत्यु के पश्चात् दक्षिण बिहार के साथ ही उत्तर बिहार (मिथिला) में भी उस सशस्त्र आन्दोलन की गति धीमी पड़ गयी। अंगरेजी सेना घूम-घूम कर निरीह भारतीय जनता को अपनी मातृभूमि की विदेशियों के चंगुल से मुक्त

करने की चेष्टा करने के अपराध का अपराधी घोषित कर उन्हें दण्ड देने तथा उसके द्वारा लोगों को आतंकित करने लगी, जिससे भविष्य में कोई ऐसा कार्य करने का दु:साहस नहीं कर सकें। बड़े-बड़े जमींदारों के नाम जिलाधीशों ने आज्ञापत्र भेजकर अंगरेजी सैनिकों के भोजनादि की व्यवस्था करने का आदेश देना आरम्भ किया। उनको भी विवश होकर उनकी उस प्रकार की आज्ञा का पालन करना पड़ता था। कुछ जमींदारों के आवास पर जाकर उन्हें इस सन्देह में बन्दी बनाया गया कि उन्होंने गुप्त रूप से बाबू कुँअरसिंह के स्वतन्त्रता-संग्राम में योगदान दिया था। इस प्रकार मिथिला में तथा अन्यत्र उस स्वतन्त्रता-युद्ध को सिपाहियों का अवैध विद्रोह बताकर विदेशियों ने उस काल दबा देने में सफलता प्राप्त की, पर क्रान्ति की वह आग बुझी नहीं। अन्दर ही अन्दर वह सुलगती रही, जिसका विस्फोट भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न रूप में तब तक होता रहा, जब तक १९४७ ई० में भारतवर्ष ने पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होकर सर्वाभौम सत्ता प्राप्त नहीं कर ली। सन् १८५७ ई० से १८५९ ई० तक देश को स्वतन्त्र करने के हेतु जो संग्राम चला था उसके दब जाने के पश्चात् जो भी आन्दोलन उस पावन लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु खड़ा किया गया, उसमें मिथिला का सहयोग देश के अथवा प्रान्त के किसी भी भाग से किसी अंश में कम नहीं रहा, जिसका साक्ष्य इतिहास देता है।

बिहार प्रदेश के वाहवियों ने भी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के हेतु आन्दोलन किया था। इसलाम धर्म की एक शाखा वाहवी सम्प्रदाय है। अरब के अब्दुल बाहिक के अनुयायियों को वाहवी कहा जाता है। वाहवी आन्दोलन के प्रवर्त्तक सैयद अहमद थे। उनका सिद्धान्त भारत वर्ष को विदेशियों की दासता से मुक्त करना था; क्योंकि इस सम्प्रदाय के अनुयायी भारतवर्ष पर अंगरेजों के आधिपत्य को इसलाम धर्म के विरुद्ध मानते थे। सन् १८२८ ई० से १८६८ ई० तक बिहार में वाहवी आन्दोलन का केन्द्र पटना में था। पीछे मुंगेर के सूरज गढ़ के मकसूद अली ने उक्त आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथ में लिया। अंगरेजों ने उस धार्मिक आन्दोलन का भी बड़ी क्रूरता के साथ दमन किया। उस सम्प्रदाय के अनुयायी मिथिला में उस आन्दोलन को चला रहे थे। मौ० अहमदुल्लाह को ५ नवम्बर, १८६४ ई० को पकड़ लिया गया। उनकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी तथा निम्न न्यायालय ने उन्हें फाँसी की सजा दी। किन्तु उच्च न्यायालय ने काला पानी की सजा देकर उन्हें अंडमन भेज दिया, जहाँ उनकी तथा उनके भाई मौ० यहिया अली की मृत्यु २० वर्षों के बाद हो गयी। परन्तु इस प्रकार के दमन के बाद भी उस आन्दोलन को अंगरेज सरकार समाप्त नहीं कर सकी। उनके शिष्यगण आन्दोलन को चलाते ही रहे, जिसमें अनेक मिथिला के निवासी थे।

छोटानागपुर में कोलों आदि के आन्दोलन को अंगरेजों ने दबा दिया था, जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। किन्तु १९वीं शती के उत्तरार्द्ध में पुन: आदिवासियों में अंगरेजी-शासन के विरुद्ध उत्तेजना फैल गयी जिसको अंगरेजों ने १८८१ एवं १८९५ ई० के बीच उन सबों का घोर दमन कर दबा दिया। तमार थाने के चलकूद ग्राम के बिरसा भगवान् नामक एक मुंडा साधु के नेतृत्व में आदिवासियों के बीच धार्मिक एवं सामाजिक सुधार, शोषण से उद्धार तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के हेतु आन्दोलन आरम्भ हुआ। अंगरेजों ने १८८५ ई० में जब बिरसा रात्रि में सोया हुआ था तो उसी अवस्था में उसे बड़ी चालाकी

से पकड़ कर जेल भेज दिया। महारानी विक्टोरिया की डायमंड जुबली के समय १८९८ ई० की जनवरी के आरम्भ में वह कारामुक्त होकर बाहर आया, और अति शीघ्र पुनः उसने आदिवासियों का संगठन कर उनके बीच पूर्ववत् धार्मिक-सुधार एवं चरित्र-गठन के हेतु आन्दोलन चालू कर दिया। स्वाधीनता की शिक्षा भी उसके साथ-साथ चलती थी। उसको पकड़ कर कड़ा दण्ड देने के हेतु छोटानागपुर के अंगरेज आयुक्त ने कोई उपाय उठा नहीं रखा। एक दिन जब आधी रात के बाद बिरसा अपनी धर्मपत्नी तथा एक अन्य स्वयं-सेविका के साथ जंगल में छिपकर एक वृक्ष के नीचे शयन कर रहा था, तो उसकी उस अचेतमावस्था में अंगरेजों के गुप्तचर कई चौकीदारों ने पुरस्कार-प्राप्ति के लोभ में उसे पकड़ कर अंगरेजों के हवाले किया। राँची-जेल में उसको नाना प्रकार से पीड़ित किया गया। वहाँ ३० मई, १९०० ई० को उसकी मृत्यु हैजे से हो गयी, और तब शत्रु के उत्पीड़न एवं बाह्य कष्ट से उसको छुटकारा मिला। उसके अनुयायियों में से ८७ व्यक्तियों पर मुकदमा चलाया गया। न्याय का स्वांग रच कर अंगरेज विचारकों ने उनमें से दो को फाँसी की सजा दी, तथा शेष में से कुछ को आजन्म कारावास और कुछ को कई वर्षों के लिए जेल-यातना भोगने का दण्ड दिया। बिरसा भगवान् के उस पवित्र आन्दोलन को इस प्रकार अंगरेजों ने कुचलने का भयंकर प्रयास किया। कुछ काल के लिए वह आन्दोलन दब गया सही, पर अंगरेज उसे निर्मूल न कर सके। आदिवासियों के हृदय से स्वाधीनता की आग बुझी नहीं। वह भारतवर्ष के १९४७ ई० में स्वतन्त्रता प्राप्त करने के दिन तक कभी प्रकट और कभी प्रच्छन्न रूप में अखण्ड रूप से जलती रही। भारतीय कांग्रेस के स्वातन्त्र्य आन्दोलन में आदिवासियों का सहयोग सतत समभाव से बना रहा। ताना भगतों का त्याग एवं तपस्या और देश के लिए बलिदान आदर्श रहा। बिरसा भगवान् के स्वाधीनता-आन्दोलन से मिथिला का कोई सम्बन्ध न था, परन्तु उससे यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि बिहार के सभी भागों में स्वतन्त्रता की प्राप्ति एवं शोषण से मुक्ति के लिए मातृभूमि के उपासक भक्त किसी न किसी रूप में सतत प्रयत्नशील थे।

उत्तर बिहार के चम्पारण में महात्मा गान्धी

वर्तमान तिरहुत प्रमंडल के चार जिलों में से चम्पारण एक जिला है। प्राचीन काल से ही यह भू-भाग मिथिला की सीमाओं के अन्तर्गत रहा है। भारत की स्वतन्त्रता के इतिहास में चम्पारण का स्थान अद्वितीय है। महात्मा गान्धी ने विदेश में सत्याग्रह का प्रयोग किया था। वहाँ से प्रत्यागमन के पश्चात् उन्होंने उस नवीन अस्त्र का साहसपूर्ण एवं सफल प्रयोग भारत-भूमि में सर्वप्रथम चम्पारण जिले में ही किया। सभी प्रकार के मानव-कष्टों के निवारणार्थ उनके सिद्धान्तानुसार सत्याग्रह सर्वोत्तम औषधि थी। किन्तु उसके उचित प्रयोग के लिए आत्मबल की आवश्यकता वे बताते थे, जिसकी प्राप्ति सत्य, अहिंसा, सेवा, त्याग एवं आत्म-शुद्धि के ऊपर आधारित है। महात्मा गांधी ने सत्याग्रह के सिद्धान्तों के आधार पर कार्य कर चम्पारण जिले की जनता का कष्ट दूर किया था। उसी का सफल प्रयोग उन्होंने अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस के माध्यम से विशाल रूप में अंगरेजी शासन से भारत को मुक्त करने के हेतु किया। चम्पारण में निलहे कोठीवाले अंगरेजों के अत्याचारों से वहाँ की प्रजा की मुक्ति सत्याग्रह द्वारा मिली, और भारतवर्ष भी विदेशियों की दासता से उसी के द्वारा मुक्त हुआ।

चम्पारण में ही नहीं, सारे उत्तर बिहार में निलहे कोठीवालों का जाल-सा बिछा हुआ था। स्थान-स्थान पर उनकी कोठियाँ थीं, जिसके आस-पास के विस्तृत क्षेत्र में वे नील उपजाते एवं उसका व्यापार करते थे। उनकी अपनी भूमि बहुत कम थी। इसलिए अपनी आवश्यकता की पूर्त्ति के हेतु वे अनेक उपायों का अवलम्बन करते थे। इन कोठीवालों ने आपस में मिलकर अपने-अपने कार्य क्षेत्रों की हद्‌बन्दी कर ली थी। एक कोठी के कार्य-क्षेत्र के अन्दर कई ग्राम पड़ते थे। उन ग्रामों के अधिवासी चाहे वे जमींदार हों अथवा रैयत, उस क्षेत्र के कोठीवाले अंगरेज के 'टीनैन्ट' (प्रजा) कहे जाते थे, और उनके ऊपर उस नील-कोठी के स्वामी का प्रभुत्व माना जाता था, यद्यपि उनसे उनका किसी प्रकार का भूमि सम्बन्धी अथवा रुपये-पैसे के लेन-देन का सम्बन्ध नहीं रहता था। कोठीवाले साहब बहुधा जमींदारों से बकाश्त अथवा रैयती जमीनों का ठीका लिखा लेते थे। इसके हेतु वे उन्हें थोड़ा अग्रिम भी प्रायः दिया करते थे। इस प्रकार की ठीकेदारी के बल पर वे रैयतों के मालिक बन बैठते थे। इसके अतिरिक्त जमींदारों एवं रैयतों को अपने अधिकार की जमीन में से प्रति बीघा तीन कट्ठा निकाल कर उसमें नील की खेती करनी पड़ती थी। इस पद्धति को 'तीन कठिया' की संज्ञा प्राप्त थी। उन सबों को बढ़िया से बढ़िया एवं उर्वरा खेतों में से ही नील की खेती के हेतु प्रति बीघा तीन कट्ठा के हिसाब से जमीन सुरक्षित रखनी पड़ती थी। उसके बदले में कोठीवाल साहब अपनी इच्छा के अनुसार एक छोटी सी रकम प्रति बीघा के हिसाब से उन्हें देते थे। खेत की जोताई-कोड़ाई बढ़ियाँ नहीं होने पर निलहे अंगरेज कृषकों की भर्त्सना एवं डाँट-फटकार करते अथवा जुर्माना कर उनसे रुपये वसूल करते थे। कभी-कभी दूसरे प्रकार का दण्ड भी दे देते थे। उनके सामने हिन्दुस्तानी जनता को जूते पहन कर जाना, छाते ओढ़ कर चलना आदि उनका अनादर और अपमान समझा जाता था। वे अपने सामने कुर्सी अथवा बेंच पर बैठने की आज्ञा बहुत कम हिन्दुस्तानियों को देते थे। उन्हें वहाँ खड़े होकर बातें करनी पड़ती थी। साहब स्वयं बहुमूल्य आसन पर आसीन होते थे।

ऊपर अंकित किया गया है कि निलहे कोठीवाले अंगरेज जमींदारों से उनकी रैयती जमीनों की भी ठीकेदारी करते थे। ठीकेदार के अधिकार से रैयतों से मालगुजारी वसूल करना उनका न्याय-सिद्ध अधिकार था। पर मालगुजारी के रुपये ठीक समय पर नहीं देने पर वे न्यायालय की शरण नहीं लेते थे। वे रैयतों के बैल, घोड़े तथा अन्य पशुओं और सामानों को जप्त कर अपने यहाँ मँगवा लेते थे। रुपये की चुकती कर देने पर उनके पशु एवं सामानों को वे लौटा देते थे। कभी-कभी उन्हें शाक-भाजी के मूल्य में बेचकर उससे अपने पैसे की चुकती कर लेते थे।

इन निलहे कोठीवाले साहबों के नील की खेती करने की दो पद्धतियाँ थीं-(१) जिराएत, तथा (२) असामीवार। जिराएत पद्धति से की जानेवाली खेती की व्यवस्था एवं देखरेख वे स्वयं अपने वेतनभोगी सेवकों के माध्यम से कराते थे। खेतों में काम करने के हेतु रैयत मजदूरों को बाध्य होना पडता था। अपने इच्छा के विरुद्ध भी उन्हें नील के खेतों में जाकर काम करना ही पड़ता था। जिसके लिए पारिश्रमिक उन्हें नाम मात्र का मिलता था। इसके लिए वे सदा भीतर से असन्तुष्ट रहते थे। किन्तु अपने असन्तोष को

प्रकट करने की क्षमता उनमें न थी । असामीवार पद्धति में कोठी के मालिक असामियों से नील की खेती करवाते थे । तीन कठिया की चर्चा ऊपर की जा चुकी है । असामियों को अपनी कृषि की जमीन में से अच्छी एवं उर्वरा भूमि निकाल कर उसमें कोठीवालों के लिए नील उपजाना पड़ता था, जिससे उनके अन्न की उपज कम हो जाती थी, और उन्हें अपने बाल-बच्चों के साथ भूखे रहकर समय काटना पडता था । उपर्युक्त के अतिरिक्त नील की खेती के हेतु जमीन प्राप्त करने और उसमें नील उपजाने के और दो तरीके थे– (१) खुश्की, और (२) कुरताउली । खुश्की पद्धति के अनुसार नील की खेती करने के लिए 'कबूलियत' ऐसे असामियों से लिखा ली जाती थी जो कोठी के अधीन रैयत नहीं रहते थे । कुरतावली बड़ी बुरी पद्धति थी । उसके अनुसार रैयतों को ये कोठीवाले कर्ज देकर उनकी आवास सहित सारी जमीन दीर्घकाल के लिए मकबूल करवा लेते थे । कभी-कभी उसकी अवधि इतनी लम्बी होती थी कि मकबूल करने वाले के जीवन-काल में ऋण की चुकती और उनकी जमीन का लौटना असम्भव होता था । ऐसे मनुष्यों को कोठीवालों के दास बन कर जीवन व्यतीत करना पड़ता था । वे एक प्रकार से उनके क्रीत दास समझे जाते थे । निलहे साहब कभी-कभी मजदूरों को नाम मात्र की मजदूरी भी नहीं देते थे । उन्हें पेट बाँध कर काम करना पड़ता था । उन गरीब असहायों की सुनवाई कहीं होने वाली नहीं थी । दण्ड-विभाग के अधिकारी विशेषतया अंगरेज ही होते थे । उनके वरद हाथ निलहे कोठीवालों के माथे पर सदा बने रहते थे, जिससे उनकी रक्षा होती रहती थी, और वे निर्भीक होकर अपनी मनमानी करते जाते थे । गरीब हिन्दुस्तानी प्रजा के प्रति उनकी सहानुभूति कम थी । ईश्वर ही उनका एकमात्र सहारा था निर्बल के बल राम गोसाई पद का स्मरण आपतिकाल में क्लेश से मुक्ति का एक मात्र साधन उसके पास बच रहा था । अन्त में उन सबों का त्राण आश्चर्यजनक रूप में महात्मा गान्धी एवं उनके कतिपय स्थानीय सहकर्मियों के सदुपयोग से हुआ ।

लखनऊ में अखिल भातवर्षीय कांग्रेस का अधिवेशन १९१६ ई० में अम्बिका चरण मजूमदार की अध्यक्षता में हुआ । चम्पारण के किसान-नेता राजकुमार शुक्ल ने वहाँ जाकर महात्मा गान्धी से भेंट की तथा उत्तर बिहार में निलहे कोठी के अंगरेजों के द्वारा वहाँ के निरीह किसानों एवं खेतिहर मजदूरों के प्रति किये जाने वाले पशुवत् व्यवहार और अत्याचार की कथा सुनायी । उस कांग्रेस में दरभंगा के देशभक्त वकील बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए थे । उन्होंने वहाँ पर एक प्रस्ताव उपस्थित कर सरकार से अनुरोध किया कि 'वह शीघ्र शासकीय एवं अशासकीय सदस्यों की एक समिति का गठन उसके द्वारा कृषकों के कष्ट और निलहे कोठीवालों एवं उनकी रैयतों के बीच कटु सम्बन्ध के कारणों का पता लगाने और उनके निकरण के हेतु उपाय बताने के लिए शीघ्रातिशीघ्र करें' । वह प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित हुआ ।

कांग्रेस के बिहार के प्रतिनिधियों ने राजकुमार शुक्ल के साथ गान्धी जी के आवास पर जाकर भेंट की तथा उनसे चम्पारण पधार कर वहाँ की प्रजा के कष्टों को अपनी आँखों देखने के लिए प्रार्थना की । गान्धी जी ने अगामी मार्च अथवा अप्रैल महीने में वहाँ जाना स्वीकार किया । तदनुसार राजकुमार शुक्ल ने कलकत्ता जाकर गान्धी जी से भेंट की ।

शुक्ल जी के साथ गान्धी जी ने ९ अप्रैल, १९१७ ई० को कलकत्ता से प्रस्थान किया, और वे दोनों पटना होते हुए मुजफ्फरपुर ११ अप्रैल के प्रातःकाल पहुंच गये।

सरकार नहीं चाहती थी कि गान्धी जी पीड़ित किसानों की कठिनाइयों की जाँच करें। अतः चम्पारण के जिला दण्डाधिकारी ने उनके ग्रामों में प्रवेश को रोकने के हेतु निषेधाज्ञा की घोषणा की। किन्तु गान्धी जी ने दण्ड-विधान की धारा १४४ के लागू रहते भी वस्तु-स्थिति को स्वयं जाकर देखने के अपने अधिकार पर जोर दिया। उन्होंने १८ अप्रैल, १९१७ ई० को चम्पारण के दण्डाधिकारी मि० हेकॉक के समक्ष बयान दिया कि 'उन्होंने निषेधाज्ञा की अवहेलना अपनी अन्तरात्मा की पुकार की कार्यान्विति में की है। इसका मन्तव्य वैधानिक अधिकारियों के प्रति किसी प्रकार का अनादर करना नहीं है।' महात्मा गान्धी के आवास पर पीड़ित किसानों एवं मजदूरों का तांता लग गया। गान्धी जी ने उन सबों का बयान लेना आरम्भ किया। पटना के सदाकत आश्रम में बिहार-विद्यापीठ के पुस्तकालय में उन कष्ट-पीड़ितों किसानों एवं मजदूरों के द्वारा वर्णित वृत्तान्तों की सहस्रों टंकित प्रतियाँ आज भी प्राप्य हैं। बिहार के उप-राज्यपाल ने विचार-विमर्श के पश्चात् गान्धी जी के विरुद्ध चालू अभियोग को उठा लेने की आज्ञा दी। चम्पारण के दण्डाधिकारी ने इसकी सूचना गान्धी जी को २१ अप्रैल, १९१७ ई० के दिन दी। चम्पारण में गान्धी जी की यह प्रथम नैतिक विजय थी। उनका वह पवित्र काम अब बिना प्रतिरोध के चलने लगा। उप-राज्यपाल सर एडवर्ड गेट ने गान्धी जी को मिलने के हेतु आमंत्रित किया। उन्होंने राँची जाकर जून महीने में छोटे लाट से भेंट की। उस भेंट मे परिणामस्वरूप चम्पारण के किसानों की अवस्था के विषय में जानकारी प्राप्त करने के हेतु एक जाँच-समिति का संगठन किया गया। उस समिति का काम था जाँच कर वस्तुस्थिति का ठीक-ठीक पता लगाना, एवं उसके सम्बन्ध में सरकार के पास प्रतिवेदन प्रेषित करना। गान्धी जी भी उस समिति के एक सदस्य निर्वाचित किये गये। उन्होंने उसकी सदस्यता इस शर्त पर स्वीकार की कि जाँच के समय भी वे अपने सहकर्मियों के साथ परामर्श कर सकेंगे, तथा जाँच-समिति के सदस्य होने के नाते रैयतों की ओर से बोलने का उनका अधिकार समाप्त नहीं हो जायेगा, और यदि उस जाँच का फल संतोषजनक नहीं होगा तो उन्हें रैयतों को आगे क्या करना चाहिए, इस विषय में उनको राय देने एवं उनका नेतृत्व करने की स्वतन्त्रता रहेगी। उपर्युक्त जाँच समिति के अभिस्तावानुसार 'चम्पारण ऐग्रेरियन बिल' पारित हुआ। उसके द्वारा चम्पारण के पीड़ितों किसानों के चिर कष्टों का अवसान हुआ। महात्मा गाँधी का चम्पारण का सत्याग्रह पूर्णतया सफलीभूत हुआ। किसानों की विजय हुई। इससे बिहार प्रदेश के साथ-साथ सम्पूर्ण भारतवर्ष में सत्याग्रह की अमोघ शक्ति पर सबों का अडिग विश्वास जम गया। चम्पारण जिले के किसानों की विजय का प्रभाव उत्तर बिहार के दरभंगा, मुफ्फरपुर आदि के निलहे कोठीवालों के ऊपर भी पड़ा, और उन सबों के अत्याचार-उत्पीड़न में न्यूनता आयी। ढोली, बिरौली, ज़ितवारपुर, बहुआरा, दौलतपुर आदि के कोठीवालों ने अपने निजी जमीनों को बेचना आरम्भ किया। स्वराज की प्राप्ति भारतवर्ष को १९४७ ई० में हुई। उस काल तक लगभग सभी कोठीवाले अंगरेज अपनी कोठियों को बेच कर स्वदेश वापस चले गये।

चम्पारण के सत्याग्रह में महात्मा गान्धी के साथ उत्तर एवं दक्षिण बिहार के सभी जिलों से लब्धप्रतिष्ठ राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं एवं देशभक्त मेधावी वकीलों ने जाकर उनके नेतृत्व में काम किया था। ऐसे लोगों में दरभंगा के प्रसिद्ध वकील ब्रजकिशोर प्रसाद एवं बाबू धरणीधर, पटना के वकील डॉ० राजेन्द्र प्रसाद (भूतपूर्व राष्ट्रपति, भारत), गया जिला निवासी बाबू अनुग्रह नारायण सिंह (भूतपूर्व वित्त मन्त्री, बिहार), मुंगेर जिला के श्रीकृष्ण सिंह (भू० पू० मुख्य मन्त्री, बिहार), बाबू गोरख प्रसाद (वकील, मोतीहारी) तथा अन्य अनेकों के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने गान्धी जी की शान्ति-सेना के विश्वासी सैनिकों के रूप में कार्य किया था। महात्मा गान्धी ने बाबू जनकधारी प्रसाद जी के नाम १९२५ ई० में एक पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने अपने चम्पारण के सहकर्मियों के सम्बन्ध में अंकित किया था कि उन सबों के समान विश्वासी कार्यकर्त्ता न उन्हें कभी भूतकाल में प्राप्त हुए और न आगे होने की सम्भावना ही है। यदि सारे भारतवर्ष में उन सबों की कोटि के कार्यकर्त्ता उन्हें प्राप्त हो जायँ तो देश को स्वराज्य की प्राप्ति में अधिक विलम्ब नहीं लगेगा।

महात्मा गांधी ने चम्पारण जिले के समाज के नीचे स्तर के पद-दलित, उत्पीड़ित एवं उपेक्षित जन-समुदाय की दयनीय दशा से द्रवीभूत होकर उनके उत्थान के हेतु कल्याण कार्य का आरम्भ करना आवश्यक समझा। उनके अज्ञान एवं परिस्थिति से उद्भूत अस्वास्थ्यकर जीवन को उच्च बनाये बिना समाज का स्थायी हित सम्भव नहीं था। इसके लिए सच्ची शिक्षा की आवश्यकता का उन्होंने अनुभव किया। यह कार्य बिना योग्य शिक्षक के होना असम्भव था। साक्षरता एवं साहित्यिक शिक्षण की अपेक्षा नैतिक शिक्षण का महत्त्व उनकी दृष्टि में अधिक था। इसलिए उन्होंने देश के स्थितप्रज्ञ एवं अनुभवी शिक्षकों का आह्वान किया। महाराष्ट्र, कर्णाटक तथा बम्बई से अनेक समाजसेवी एवं अनुभव-प्राप्त शिक्षक उक्त कार्य के सम्पादन के हेतु चम्पारण पधारे। बरहरवा, बिथरवा, मधुबनी आदि ग्रामों में कल्याण केन्द्र की ओर से विद्यालय खोल गये। दरभंगा के वकील बाबू धरणीधर ने अपने स्त्री एवं बच्चों के साथ मधुबनी में छः महीने तक रहकर महात्मा गान्धी के आदेशानुसार शिक्षण-कार्य किया। बाहर से आये हुए स्वयंसेवकों का भी सहयोग उन्हें वहाँ प्राप्त हुआ। लगभग १०० विद्यार्थियों को वहाँ शिक्षा दी जा रही थी। एक बालिका पाठशाला की भी स्थापना वहाँ हुई। उसमें ४० बालिकाएँ शिक्षा प्राप्त कर रही थी। बरहरवा विद्यालय में कताई एवं बुनाई की शिक्षा का भी समावेश किया गया। सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी के डॉ० डे की देख-रेख में एक चिकित्सा-केन्द्र भी खोला गया। वहाँ के स्वयं सेवकगण औषधि-वितरण एवं रोगियों की सेवा-सुश्रूषा के अतिरिक्त ग्रामीण जनता के बीच स्वास्थ्य सम्बन्धी शिक्षा भी देते थे। सहयोग एवं आत्म-निर्भरता के सिद्धांतों के प्रचार भी इन केन्द्रों के द्वारा समाजसेवी कार्यकर्ताओं ने वहाँ करना आरम्भ किया था। चम्पारण-सत्याग्रह के पश्चात् लोग चम्पारण को गांधी जी का जिला तथा बिहार को गांधीजी का प्रदेश कहने लग गये।

मिथिला में क्रांतिकारी युवक खुदीराम बोस एवं प्रफुल्ल चाकी

भारतीय कांग्रेस की स्थापना १८८५ ई० में हुई थी। उसके अधिवेशनों में सारे बिहार से बहुसंख्यक प्रतिनिधि सक्रिय भाग लिया करते थे। नवाब सरफराज हुसेन खाँ

बहादुर की अध्यक्षता में प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी की स्थापना वहाँ पटना में १९०८ ई० में हुई। बिहार प्रदेश के सभी जिलों में जिला कांग्रेस कमिटियों का निर्माण भी उसी वर्ष हुआ। अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस का २७वाँ वार्षिक अधिवेशन पटना में १९१२ ई० में ऑनरेबुल आर० एन० मुधोलकर की अध्यक्षता में हुआ, जिसकी स्वागत-कारिणी-समिति के अध्यक्ष थे, मौलाना मजहरुल हक साहब तथा प्रधानमंत्री बाबू सच्चिदानन्द सिंह। उसी वर्ष बंगाल से बिहार को पृथक कर उसे एक अलग प्रदेश का रूप दिया गया। उसके होमरूल आन्दोलन का भी श्रीगणेश बिहार प्रदेश में १६ दिसम्बर, १९१६ ई० को किया गया। उसके भी अध्यक्ष मौलाना मजहरुल हक बनाये गये। एनी बेसेण्ट १९१८ ई० में पटना आयीं और कांग्रेस के कार्य के साथ होमरूल लीग का कार्य बिहार के सभी जिलों में सुचारू रूप से चलना आरम्भ हो गया।

कांग्रेस वैधानिक पद्धति को अपनाकर स्वराज्य की प्राप्ति के हेतु आन्दोलन कर रही थी। किन्तु देश के राजनीतिज्ञों के एक दल को इससे सन्तोष नहीं था। उन लोगों ने १९०० ई० के लगभग स्वतन्त्रता-प्राप्ति के हेतु क्रांतिकारी पद्धति को अपनाकर उसका प्रचार देशवासियों के बीच करना आरम्भ किया। भारतवर्ष के गवर्नर-जनरल लॉर्ड कर्जन ने १९०५ ई० में बंगाल को दो भागों में विभक्त कर दिया। इससे बंगाल के युवकों में उत्तेजना फैल गयी। विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार एवं स्वदेशी के ग्रहण के हेतु सबल आन्दोलन आरम्भ हो गया। इसे जनता के बीच धार्मिक रूप दिया गया। बंकिम चन्द्र का 'वन्देमातरम्' गीत उस काल राष्ट्रीय उत्थान का धार्मिक मंत्र बन गया, जिससे अंगरेज शासकों के मानस में भय और आशंका का उदय हुआ। स्वदेशी आन्दोलन के प्रभाव ने मिथिला के युवकों के हृदय को भी आकृष्ट किया, और उनमें से अनेक उसमें सक्रिय भाग लेने के हेतु उस दिशा में अग्रसर हुए।

परिस्थिति से लाभ उठा कर बंगाल के गरमदल के देशभक्तों ने योगिराज अरविन्द घोष के भ्राता वारीन्द्रकुमार घोष एवं भूपेन्द्रनाथ दत्त के नेतृत्व में गोपनीय ढंग से कार्य करने के हेतु एक नवीन राजनीतिक दल का संगठन किया। बंगाल के 'युगान्तर' एवं 'संध्या' उस दल के दो प्रमुख पत्र थे।

मि० किंग्सफोर्ड कलकत्ता का प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेट था। उसने बंगाल के अनेक राजनीतिक कार्यकर्ताओं को कठोर दण्ड दिया था। अतः वह वहाँ जन-समुदाय के बीच अति अप्रिय बन गया। उसका स्थानान्तरण मुजफ्फरपुर जिले के न्यायाधीश के पद पर हुआ। उसने मुजफ्फरपुर में आकर न्यायाधीश-पद का कार्य-भार ग्रहण किया। उधर बंगाल के क्रांतिकारिबों ने उस निर्मम अंगरेज के वध करने की गुप्त योजना बनायी। यह कठोर काम दल के दो साहसी युवकों को सौंपा गया, जिनमें एक का नाम था, खुदीराम बोस तथा दूसरे का प्रफुल्ल चाकी। दोनों ही को पिस्तौल एवं बम दिये गये, और दोनों युवक मुजफ्फपुर पहुंचे। खुदीराम की अवस्था केवल १७ वर्षों की थी। प्रफुल्ल की उम्र भी उसी के लगभग थी, धोखे से बम जिस गाड़ी पर फेंका गया, वह किंग्सफोर्ड की न थी। उसी की गाड़ी के रंग एवं काट की गाड़ी मुजफ्फरपुर के प्रसिद्ध अंगरेज वकील मि० पिंगल कन्नेडी की थी, जिसमें उसकी पत्नी तथा पुत्री सवार थी। अभाग्यवश उन दोनों ही

निरीह अबलाओं की मृत्यु हो गयी, और किंग्सफोर्ड बाल-बाल बच गया । मिथिला के मुजफ्फरपुर का वह बम-काण्ड ३० अप्रैल, १९०८ ई० को हुआ । खुदीराम और प्रफुल्ल चाकी मुजफ्फरपुर से सकुशल निकल भागे, पर मार्ग में दरभंगा जिले के ताजपुर थाने के ओइनी (बैनी) ग्राम स्थित पूसा रोड रेलवे-स्टेशन के निकट एक दूकान पर भूँजा फाँकते समय आरक्षी-सिपाहियों के द्वारा खुदीराम पकड़ लिया गया । प्रफुल्ल चाकी पुलिस की आँख बचाकर समस्तीपुर गया और वहाँ रेलगाड़ी में सवार होकर उसने कलकत्ता की यात्रा की, किन्तु मार्ग में सिंहभूमि जिले के एक पुलिस सब-इन्सपेक्टर नन्दलाल बनर्जी ने उसे देख लिया । वह अपने श्वशुरालय मुजफ्फरपुर से अपने काम पर जा रहा था । वह चाकी से बातें करने का बहाना ढूँढने लगा । चाकी उसका मन्तव्य समझ गया, और वह गाड़ी के दूसरे डिब्बे में चला गया । मुकामा पहुँचने पर नन्दलाल ने चाकी को बन्दी बनाने की चेष्टा की । चाकी ने जेब से पिस्तौल निकाल कर देशद्रोही नन्दलाल पर चलायी, पर निशाना खाली गया । कोई दूसरा उपाय न देख प्रफुल्ल कुमार ने प्रफुल्ल चित्त से रिवालवर के द्वारा आत्मघात कर विप्लववादियों के उच्चतम चरित्र का वहाँ दिग्दर्शन करा दिया। दरोगा जी हाथ मलते रह गये ।

उधर खुदीराम बोस के कुसुम-कोमल करों में हथकड़ियाँ डाल कर उसे मुजफ्फरपुर के जेल में लाकर रखा गया और उस पर मुकदमा चलाया गया । उस काल मुजफ्फरपुर का जिला मजिस्ट्रेट था मि० एच० सी० उडमैन । पूछने पर खुदीराम ने उसके समक्ष बड़ी वीरता के साथ कहा था– "मैने स्वंय बम फेंक कर हत्या की है ।"

खुदीराम को फाँसी का दण्ड न्यायालय ने दिया, और ११ अगस्त, १९०८ ई० के दिन श्रीमद्भगवद्गीता एक हाथ में लेकर खुदीराम बोस फाँसी के तख्ते पर हँसता-हँसता जा खड़ा हुआ । देखते-ही-देखते क्षण मात्र में उसके प्राण-पखेरू उड़ गये ।

बन्दी होने के साथ ही खुदीराम बोस देश की ओर विशेषकर बिहार की जनता के हृदय में प्रवेश करने लग गया था, क्योंकि उसका अन्तिम कार्य-क्षेत्र एवं गिरफ्तारी का स्थान बिहार की मिथिला था, जहाँ उसको विदेशी शासन ने बन्दी बनाया था । अंदालत में उसके निर्भीक, किन्तु सत्य बयान ने उसे लोकप्रिय बना दिया । स्वतन्त्रता के यज्ञ में उसके शरीर की आहुति, उसकी फाँसी ने उसे पूज्य बना दिया । देश के सहस्र: युवकों ने उसके त्याग से प्रभावित होकर देश-सेवा का व्रत लिया । इस प्रकार खुदीराम बोस के पवित्र उद्देश्य ने उसे भारतवर्ष के सभी वर्ग की जनता में जन-प्रिय बना दिया । उसका आदर्श चरित्र अगनित हृदयों का पथ-प्रदर्शक बना । स्वदेशी के पक्षपाती तो उस समय सब ही, विशेषकर विद्यार्थी वर्ग हो गया था, और स्वदेशी वस्तु का व्यवहार करना बहुतों ने आरम्भ कर दिया था । इस तरह देश के सुदूर देहातों में भी जनता का हृदय ऐसे निर्भीक स्वार्थ-त्यागी, देश-सेवक के उत्कृष्ट बलिदान से प्रभावित होकर भविष्य में होने वाले स्वातन्त्र्य-संग्राम के स्वागतार्थ शनैः-शनैः तैयार होने लगा था । महात्मा गांधी के अहिंसक आजादी के आन्दोलन को विद्युत्गति से बिहार की जनता तक पहुँचने का महान् कारण उन विप्लववादियों द्वारा किये गये अलौकिक त्याग एवं बलिदान से प्रस्तुत क्षेत्र और राजनीतिक जागृति ही था ।

स्वामी सत्यदेव बीसवीं शती के प्रथम चरण में अमरीका से लौट कर भारत आये तथा बिहार के नगरों में घूम-घूम कर उन्होंने व्याख्यान देना आरम्भ किया। सरकार ने उनके उपदेशों को राज-विद्रोहात्मक समझ कर उनकी गतिविधि पर सन्देहात्मक दृष्टि रखने का आदेश अपने पदाधिकारियों को दिया। उत्तर एवं दक्षिण बिहार में उस काल कुछ ऐसे राजनीतिक कार्यकर्त्ता थे, जिनका सिद्धांत गुप्त रीति से हिंसात्मक कार्यों के द्वारा भविष्य में स्वराज्य-संग्राम चलाने का था, किन्तु वहां की जनता ने उस पद्धति का स्वागत नहीं किया। महात्मा गांधी के निर्माणात्मक कार्यक्रम तथा अहिंसा के पथ का अनुसरण कर वहाँ के अधिवासी विदेशी शासन के हिंसात्मक प्रतिरोधों का सामना करते हुए स्वराज्य प्राप्ति के पथ पर अग्रसर होते गये, और अन्त में उन सबों ने अपने राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति शान्ति, सत्य, त्याग एवं बलिदान के बल पर कर ली, जिसका साक्ष्य देश का इतिहास देता है।



अष्टादश अध्याय

प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति, मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिफौर्म, रौलट एक्ट, पंजाब-हत्याकांड, सत्याग्रह, अहिंसात्मक असहयोग, सविनय अवज्ञा तथा स्वाधीनता

प्रथम-विश्व युद्ध में मित्र-राष्ट्रों की विजय हुई । ब्रिटिश कौमनवेल्थ के एक सदस्य होने के नाते उस जीत की प्रसन्नता भातवर्ष को भी हुई । यहाँ के राजनीतिज्ञों को आशा थी कि युद्ध में सफलता-प्राप्ति के पश्चात् अंगरेजी सरकार इस देश के प्रति उदार नीति का अवलम्बन करेगी, और उसको शासन में विशेष अधिकार प्राप्त होगा । भारतीय मुसलमानों के सामने खिलाफत का प्रश्न उपस्थित था । भारतवर्ष ने उपर्युक्त युद्ध में मित्र-राष्ट्रों की धन-जन से भरपूर सहायता की थी । अतः यहाँ की मुसलमान जनता भी स्वभावतः ब्रिटिश सरकार की सहानुभूति की आशा अपने धार्मिक प्रश्न के निपटारे के सम्बन्ध में करती थी । भारत के हिन्दू एवं मुसलमानों ने अपनी माँगें सरकार के सामने उपस्थित कीं । किन्तु परिणाम उसका प्रतिकूल हुआ । जनता माँगने गयी थी रोटी, पर सरकार ने दिया उसे पत्थर । मुसलमान जनता को खिलाफत की रक्षा एवं उसकी प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में आश्वासन की आवश्यकता थी । वह उनका धार्मिक मामला था । भारतीय प्रजा, जिसमें हिन्दू एवं मुसलमान दोनों ही सम्मिलित थे, को शासन में सुधार तथा अधिकार की चाह थी । दोनों ही की भावनाएँ स्वाभाविक थीं । किन्तु सरकार को ये बातें अच्छी नहीं लगीं । शासन में सुधार के नाम पर मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिफौर्म का सृजन हुआ । पर वह वास्तव में पंगु था । उससे भारतीय जनता को लाभ होने की आशा नहीं थी । उसी काल के लगभग सरकार ने रौलट-ऐक्ट भी पारित किया । उस कानून ने भारतीय प्रजा की उच्चाकांक्षाओं को राजद्रोह के नाम पर कुचल डालने के हेतु नौकरशाही के हाथों में एक नया अस्त्र दिया । इन कारणों से देश के राजनीतिक वातावरण में खलबली मच गयी । महात्मा गांधी ने उस काले कानून के प्रति असन्तोष प्रकट करने के हेतु उसके प्रतिरोध में ३० मार्च, १९१९ ई० को सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ किया । उसके अन्तर्गत स्थान-स्थान पर देश के चुने हुए व्यक्तियों ने सरकार को सूचना देकर खास-खास कानूनों के आदेश को भंग किया । उक्त आन्दोलन को आरम्भ करने के पूर्व महात्मा गान्धी ने देशव्यापी हड़ताल, उपवास तथा राष्ट्रीय सप्ताह मनाने की योजना बनायी थी । तदनुसार सम्पूर्ण देश में कार्य किया गया । बिहार प्रदेश के भी प्रायः सभी नगरों में सफल हड़ताल हुई । दक्षिण बिहार के पटना, गया, भागलपुर, मुंगेर, झरिया, कतरास आदि नगरों में तथा उत्तर बिहार (तिरहुत, मिथिला) के मुजफ्फरपुर, सीतामढ़ी, हाजीपुर, दरभंगा, समस्तीपुर, छपरा, चम्पारण आदि स्थानों में प्रभातफेरी की गयी, जुलूस निकाले गये, जगह-जगह पर सभाएँ हुईं और दुकानें बन्द रहीं । बिहार को गान्धी जी का प्रदेश कहा जाता था । उनको पंजाब जाते समय मार्ग में ही पलवल में पकड़ लिया गया । अमृतसर के जलियाँवाला बाग में वहाँ पर हो रही सभा के शतशः निरस्त्र दर्शकों को १३ अप्रैल,

१९१९ ई० को मशीनगन का प्रयोग कर अंगरेजी नौकरशाही ने भून डाला था। इन दोनों काण्डों ने बिहारवासियों के हृदय को द्रवीभूत एवं क्षुब्ध कर दिया। जलियाँवाला बाग के रोमांचकारी हत्याकाण्ड से सम्पूर्ण भारतवर्ष शोकमग्न हो गया और उसके हृदय में विदेशी शासन के प्रति रोष एवं क्षोभ उत्पन्न हो गया। गान्धी जी के उपर्युक्त सत्याग्रह आन्दोलन ने देश के क्षुब्ध वातावरण को क्रोध, घृणा, हिंसा एवं प्रतिशोध के रूप में परिणत होने से बचा लिया, और आगे चलकर १९२० ई० में उसने अहिंसक असहयोग आन्दोलन का स्वरूप धारण किया। स्थान-स्थान पर सभाएँ होने लगीं। पंजाब-हत्याकांड एवं खिलाफत के प्रति आचरित अनाचार के विरुद्ध उन सभाओं में भाषण होते थे। इस प्रकार के अत्याचार की निवृत्ति एवं पुनरावृत्ति को रोकने के हेतु जनता के सामने एक ही औषधि थी-विदेशी शासन से मुक्ति एवं स्वराज्य की प्राप्ति।

महात्मा गांधी ने हिंसा-रहित असहयोग करने की घोषणा १ अगस्त, १९२० ई० को की थी। अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस का विशेष अधिवेशन १९२० के सितम्बर महीने में कलकत्ता में होने वाला था। उसके पूर्व २८ अगस्त को ही बिहार प्रदेश कांग्रेस कमेटी ने अपने वार्षिक अधिवेशन में महात्मा गान्धी द्वारा चालित हिंसा-रहित असहयोग आन्दोलन का समर्थन सर्वसम्मति से एतद्विषयक प्रस्ताव पारित कर किया था। बिहार प्रान्तीय कांग्रेस के उस अधिवेशन के अध्यक्ष थे डॉ० राजेन्द्र प्रसाद। महात्मा गान्धी ने उसी वर्ष के दिसम्बर महीने में पटना में आकर राष्ट्रीय महाविद्यालय एवं बिहार विद्यापीठ की नींव दी। इन दोनों संस्थाओं के द्वारा देश-सेवा के हेतु अनुकूल शिक्षा प्राप्त कर अनेक युवक राष्ट्रीय कार्य करने के लिए तैयार हो गये। अन्य स्थानों की भाँति बिहार प्रान्त में भी चुनाव एवं विधान मण्डल, न्यायालय, सरकारी विद्यालय, अंगरेजी दवा-दारू और विदेशी वस्त्र का बहिष्कार किया गया। इसके साथ उत्पादन का कार्य भी तत्परता के साथ आरम्भ हुआ। कताई और बुनाई को प्रोत्साहन मिला। खादी तैयार करने के हेतु सर्वप्रथम मिथिला में दरभंगा जिले के मधुबनी अनुमण्डल के पंडौल एवं भौआरा में वहाँ के स्थानीय बुनकारों को प्रस्तुत किया गया। इसके प्रश्चात् अन्य स्थानों में भी वह काम आरम्भ हुआ। मुजफ्फरपुर, सारन, चम्पारण आदि सभी जिलों में खादी बुनी जाने लगी, और लोगों ने विदेशी वस्त्र के स्थान पर उसको पहनना आरम्भ किया। गाँव-गाँव में अभियोगों के निपटारे के लिए पंचायतों की स्थापना हुई तथा स्वराज-निधि एकत्रित की जाने लगी। अस्पृश्यता-निवारण एवं कांग्रेस संगठन को सुदृढ़ और सबल बनाने की दिशा में भी समाजसेवी युवक चरण बढ़ा कर सयत्न हुए।

बिहार प्रदेश में १९२१ ई० के मार्च एवं अप्रैल महीने में पुलिस (आरक्षियों) ने हड़ताल की। उसका विस्तार पटना, पूर्णियाँ, मुंगेर तथा चम्पारण तक हो गया। जब प्रिंस ऑफ वेल्स १७ नवम्बर, १९२१ ई० को बम्बई में उतरे तो उस दिन सम्पूर्ण मिथिला एवं बिहार के अन्य भागों में भी पूर्ण हड़ताल हुई एवं उनके स्वागत का पूरा-पूरा बहिष्कार किया गया। जब २२ मार्च, १९२२ ई० को गान्धी जी गिरफ्तार कर लिये गये तो उत्तर एवं दक्षिण बिहार के सभी नगरों तथा स्थान-स्थान पर गाँवों में भी उसके विरोध में सभाएँ की गयीं।

कांग्रेस के कार्यक्रम के विषय में मतभेद होने के कारण १९२३ ई० की जनवरी में देशबन्धु चितरंजन दास की अध्यक्षता में 'स्वराज्य पार्टी' का निर्माण हुआ। इस दल के लोग विधान परिषदों में जाकर काम करना पसन्द करते थे। बिहार में इस दल के अनुयायी अधिक नहीं थे। कांग्रेसजनों ने जिला परिषदों के चुनावों में भाग लिया और अधिकांश स्थानों में कांग्रेस प्रत्याशी विजयी हुए। इस चुनाव के फलस्वरूप मिथिला के लगभग सभी जिला एवं स्थानीय परिषदों में कांग्रेस का बहुमत हो गया और उनके कार्यपालक अधिकारी कांग्रेस के विजयी सदस्यों में से निर्वाचित किये गये। कांग्रेस-कर्मियों के मतभेद को मिटाने के विचार से गान्धी जी ने विधान-मण्डल में जाकर कार्य करने के इच्छुक स्वराज्य पार्टी के सदस्यों को वैसा करने की स्वतंत्रता दे दी, और शेष कांग्रेस-सेवियों को निर्माण-कार्य करने का आदेश दिया। बेलगाँव कांग्रेस की अध्यक्षता गान्धी जी ने १९२४ ई० में की। असहयोग आन्दोलन को स्थगित किया गया। उसके पश्चात् बिहार प्रान्त के सभी अंचलों के कार्य-कर्त्ताओं ने खादी के उत्पादन एवं अन्य प्रकार के निर्माण-कार्य सम्पादन में अपनी सारी शक्ति और सारा समय लगाना आरम्भ कर दिया। यह कार्य १९३० ई० के अप्रैल महीने तक तेजी के साथ लगभग पाँच वर्षों तक चलता रहा। उसके बाद पुनः कांग्रेस का कार्यक्रम बदला और पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति के हेतु सविनय अवज्ञा-आन्दोलन सम्पूर्ण देश में १९३० ई० में आरम्भ किया गया।

नमक-कानून को भंग करने के हेतु दिनांक ६ अप्रैल, १९३० ई० से सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ करने का निश्चय किया गया। इस सम्बन्ध में सम्भव कार्यक्रम का ब्यौरा बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने पटना की एक सभा में फरवरी महीने में बताया। पं० जवाहर लाल नेहरू ने ३१ मार्च से ३ अप्रैल, १९३० ई० तक उत्तर बिहार (तिरहुत, मिथिला) के सारण, चम्पारण एवं मुजफ्फरपुर जिलों में भ्रमण कर स्थान-स्थान पर सभाएँ कीं। इससे मिथिला की जनता में नये उत्साह का आविर्भाव हुआ। कांग्रेस के स्वयंसेवकों की संख्या अप्रैल महीने के प्रथम सप्ताह तक ५०,००० से भी अधिक हो गयी, तथा उसमें सम्यक् वृद्धि होती गयी।

दरभंगा, मुजफ्फरपुर, चम्पारण, सारन, मुंगेर आदि मिथिला के सभी जिलों में देश के अन्य स्थानों की भाँति सरकार को सूचना देकर नमक सम्बन्धी कानून को भंग करना तथा नमक बनाना कांग्रेस स्वयंसेवकों ने आरम्भ किया। सत्याग्रही स्वयंसेवकों को भयभीत कर उस आन्दोलन को कुचल डालने के हेतु सरकार ने दमन-चक्र चालू किया। कई स्थानों पर लाठियाँ चलीं। स्वयंसेवक आहत हुए। पर उनके उत्साह में कमी न आयी। सत्याग्रहियों के एक दल के पकड़े जाने पर दूसरा दल उसके स्थान पर कानून की अवहेलना कर नमक बनाने के हेतु आ उपस्थित होता था। इस प्रकार लगभग सभी जिलों के कारागृह देशभक्त स्वयंसेवकों से भर गये।

बिहार के स्वयंसेवकों के प्रशिक्षण के हेतु भागलपुर जिले के बीहपुर में स्वयंसेवक प्रशिक्षण-शिविर खोला गया था। वहाँ उनके रहने के हेतु भवन प्रस्तुत किये गये थे। स्वयंसेवकों को वहाँ कवायद एवं लाठी चलाना सिखाया जाता था। कार्यक्रम का आरम्भ वहाँ शंख-ध्वनि से होता था। सरकार को यह सब अच्छा नहीं लगा। आरक्षियों के द्वारा

वहाँ के कांग्रेस-कार्यालय तथा स्वयंसेवक-शिविर पर सरकार ने अधिकार कर लिया। शिविर को तोड़ डाला गया। उसके विरोध में जनता की भारी भीड़ वहाँ एकत्रित हो गयी। पर महात्मा गांधी द्वारा निर्देशित नियमानुसार उपस्थित जनता क्षुब्ध-हृदय होते हुए भी शान्त रही। उपर्युक्त घटना को लेकर स्थानीय जनता में असन्तोष की लहर फैल गयी, और थाने के २५० चौकीदारों में से लगभग १३० सरकारी सेवा से त्याग-पत्र देकर अलग हो गये। सभी वर्गों के लोगों ने सरकार के उस कार्य की भर्त्सना एवं निन्दा की। विधान-मण्डल के ५ नव-निर्वाचित सदस्य सरकार की उक्त अनैतिक कार्यवाही के प्रतिरोध में त्याग-पत्र अर्पित कर सदस्यता से अलग हो गये। बीहपुर के दमन की कथा श्रवण कर मुंगेर, मुजफ्फरपुर, दरभंगा, चम्पारण आदि जिलों में उत्तेजना फैल गयीं, और कांग्रेस के आन्दोलन में लोग अधिकतर उत्साह से योग देने तथा भाग लेने लग गये। दरभंगा जिले में बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद तथा बाबू धरणीधर, मुंगेर में बाबू श्रीकृष्ण सिंह और बाबू नन्दकुमार सिंह, मुजफ्फरपुर में मो० मुहम्मद शफी एवं बाबू रामदयालु सिंह आदि के नेतृत्व में कांग्रेस का कार्य बड़ी तेजी से आगे बढ़ने लगा। नमक-सत्याग्रह का आन्दोलन पुराना पड़ गया। पर कांग्रेस कर्मियों का उत्साह दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता ही गया। मिथिला से शतशः सत्याग्रही जेल गये। किन्तु आन्दोलन में तनिक भी शिथिलता नहीं आयी।

शीघ्र ही चौकीदारी कर बन्द करने का आन्दोलन आरम्भ हुआ। लोगों ने अनेक स्थानों में चौकीदारी कर देना बन्द कर दिया। यह आन्दोलन भी बड़ी क्षिप्र गति से झंझावात की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान में फैलने लग गया। सरकार ने इसको कुचल देने के लिए दृढ़संकल्प होकर कड़ा रुख ग्रहण किया। जिन लोगों ने चौकीदारी कर की चुकती करना बन्द कर दिया, उनके हल, बैल, भोजन बनाने के बर्त्तन-वासन, घर की कोठी के अन्न तथा अन्यान्य सामग्रियों को सरकार हरण करने लग गयी। बहुतों को पीटा भी गया। उस काल इस प्रकार का सरकारी अधिकारियों का आचरण सारे बिहार में हो रहा था'। मिथिला भी उससे मुक्त नहीं थी।

इसी बीच 'गांधी-इरविन पैक्ट' हुआ। गांधी जी ने राउण्ड टेबुल कॉन्फ्रेन्स में सम्मिलित होने के हेतु लंदन गये। इस कारण से ५ मार्च, १९३१ ई० से १ जनवरी १९३२ ई० तक आन्दोलन स्थगित रहा। पर उक्त राउण्ड टेबुल कॉन्फ्रेन्स में हुए वार्त्तालाप से भारतवर्ष को विशेष लाभ नहीं हुआ। गांधी जी हताश होकर भारतवर्ष लौटे। उन्होंने लॉर्ड विलिंगटन से मिलने तथा बातें करने की इच्छा प्रकट की। किन्तु उसने इसके हेतु स्वीकृति नहीं दी। ऐसी परिस्थिति में कांग्रेस को पुनः सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन आरम्भ करने के हेतु बाध्य होना पड़ा। सरकार भी उधर चुप न बैठी रही। उसने आन्दोलन को समाप्त कर देने के विचार से महात्मा गांधी को गिरफ्तार कर लिया, तथा अनेक दमनात्मक अध्यादेशों का सृजन कर उसकी घोषणा की। इन अध्यादेशों के द्वारा भारतीयों के जीवन की सभी गतिविधियों पर नियन्त्रण रखना सरकार का मन्तव्य था। सबसे नयी एवं अनोखी बात इन अध्यादेशों में देश-सेवी युवकों द्वारा किये गये कानून-विरोधी कार्यों के लिए उनके माता-पिता एवं अभिभावकों को दण्ड देने की व्यवस्था थी। अंगरेजी सरकार ने अपने कम्पायमान अस्तित्व को भारतवर्ष में सुदृढ़ एवं सुरक्षित करने के हेतु कोई उपाय

उठा नहीं रखा । भयंकर से भयंकर दमनास्त्र का प्रयोग किया गया । सरकार के आदेश से आरक्षियों ने स्थान-स्थान पर शान्ति और सुरक्षा के नाम पर आग्नेय अस्त्रों का भी प्रयोग किया । दरभंगा जिले के रोसड़ा, मुजफ्फरपुर के शिउहर,चम्पारण के मोतीहारी, मुंगेर के बेगूसराय एवं तारापुर आदि स्थानों में बन्दूकें चलायी गयीं । जगह-जगह पर लाठियाँ चलीं, लोगों को पकड़ कर जेल भेजा गया, तथा अन्य प्रकार के दमन-चक्र को चालू किया गया । पर इन सब उत्पीड़नों के होते हुए भी २४ अप्रैल, १९३२ ई० को दिल्ली में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ, जिसमें मातृभूमि की सेवा में अंगरेजी सरकार की गोलियों एवं अत्याचारों के शिकार बन कर प्राण त्यागने वाले देश के वीरों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की गयी । वहाँ इस सम्बन्ध में जो प्रस्ताव पारित हुआ, उसमें बिहार प्रान्त के उत्पीड़नों एवं वहाँ के राष्ट्र-सेवकों के उत्कृष्ट उत्सर्ग एवं बलिदान की सादर चर्चा की गयी थी ।

सरकार के अधिकार में दमन के जितने अस्त्र-शस्त्र थे, उन सबों का मनमाना प्रयोग उसने राष्ट्रीय जागृति एवं भावना को मिटा देने के लिए बिहार-प्रदेश के अन्य भागों के साथ-साथ मिथिला में भी किया, पर उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई । बाबू राजेन्द्र प्रसाद एवं अन्य नेताओं को पकड़ कर कारागृह में बन्द कर दिया गया । कार्यकर्त्ताओं पर आपदाओं के पहाड़ लुढ़काये गये, पर विदेशी वस्त्रों और मादक द्रव्यों की दूकानों पर धरना देना तथा कर-बन्दी का प्रचार कम नहीं हुआ । विशेष परिस्थिति में गांधी जी ने १९३४ ई० में सविनय अवज्ञा-आन्दोलन को स्थगित करने का आदेश दिया । उनकी आज्ञा का पालन सर्वत्र अविलम्ब किया गया । उपर्युक्त आन्दोलन के स्थगित होने पर देश के राष्ट्रकर्मी नेताओं ने अपनी सारी शक्ति निर्माण-कार्य में लगानी आरम्भ की । मिथिला के नेताओं एवं कार्यकर्त्ताओं ने खादी के उत्पादन के साथ अन्य निर्माण-कार्यों के करने में अपने को लीन कर दिया ।

गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, १९३५ ई० में पारित हुआ । किन्तु भारतीय देश-सेवकों की आशा की पूर्त्ति उससे नहीं हुई । उनमें असन्तोष बना ही रहा । पर कांग्रेस ने चुनाव लड़ने का आदेश अपने सदस्यों को दिया । बिहार-प्रदेश में विधान सभा के चुनाव के हेतु मतदान की तिथियाँ १९३७ ई० के २२ एवं २७ जनवरी के बीच निश्चित हुई । उस चुनाव में कांग्रेस ने १५२ स्थानों में से १०७ में अपने प्रत्याशी खड़े किये । उसे ९८ स्थानों में सफलता मिली । कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति की बैठक वर्धा में ८ जुलाई, १९३७ ई० को हुई । उस बैठक में प्रस्ताव पारित कर कांग्रेस-जनों को उन स्थानों में जहाँ उन्हें मंत्रिमंडल के गठन करने के हेतु बुलाहट हो वहाँ पद स्वीकार करने की अनुमति दी गयी । किन्तु उस प्रस्ताव में स्पष्ट कर दिया गया कि कांग्रेस-जनों को वहाँ विधान-सभा में कांग्रेस की चुनाव-प्रतिज्ञा की नीति के अनुसार कार्य करना होगा । नये कानूनों एवं अध्यादेशों के विरोध करने की कांग्रेस-नीति को वहाँ अपनाना होगा तथा कांग्रेस के प्रस्तावानुसार देश में निर्माण कार्य को अग्रसारित करना होगा ।

बिहार में कांग्रेस-मंत्रिमंडल का गठन २० जुलाई, १९३७ ई० को हुआ । उस काल मुख्य मंत्री को प्रधान मंत्री कहा जाता था । वह पद श्रीकृष्ण सिंह (उपनाम 'श्री बाबू') को मिला । बाबू अनुग्रह नारायण सिंह, सैयद महमूद एवं श्री जगलाल चौधरी मंत्री

निर्वाचित हुए। बाबू रामदयालु सिंह अध्यक्ष चुने गये तथा आचार्य अब्दुल बारी उपाध्यक्ष। मुख्य सचिव ब्रेट ने एक प्रपत्र प्रकाशित किया। मन्त्रिमण्डल ने उसका घोर विरोध किया। मन्त्रिमण्डल राजनीतिक बन्दियों के अविलम्ब छुटकारा के पक्ष में था। राज्यपाल ने उसको स्वीकार नहीं किया। इस पर मन्त्रिमण्डल ने त्याग-पत्र दे दिया। परन्तु १९३८ ई० के फरवरी महीने में दोनों के बीच समझौता हुआ, और उसके अनुसार मन्त्रिमण्डल ने पुनः काम करना आरम्भ किया।

द्वितीय विश्व-युद्ध का आरम्भ १९३९ ई० में हुआ। ब्रिटिश सरकार ने उसमें भाग लिया। कॉमनवेल्थ के सदस्य होने के नाते भारत को भी अंगरेजी सरकार की उस समर में सहायता करने का प्रश्न उठा। भारतीय देशभक्त नेताओं ने सरकार से उस संग्राम में भाग लेने का लक्ष्य जानना चाहा तथा देश में राष्ट्रीय शासन की स्थापना की माँग की। भारतवर्ष के तात्कालिक वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो ने १७ अक्टूबर, १९३९ ई० को एक वक्तव्य प्रकाशित किया। अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस ने उसको पूर्णतया असन्तोषप्रद एवं स्वतन्त्रता-प्राप्ति के इच्छुक कर्मियों की भावना के प्रतिकूल समझा। बिहार-प्रदेश एवं देश के अन्यान्य प्रान्तों में भी सरकार की युद्ध-नीति के विरोध में जनता के बीच लहर उठी। भारतीय राजनीति के सभी दल के नेताओं ने उस समर को 'साम्राज्यवादी संग्राम' घोषित किया। कांग्रेस, कांग्रेस-सोशलिस्ट एवं फॉरवर्ड ब्लॉक के कर्मठ कर्मी जगह-जगह पर सभाएँ कर उस युद्ध के लिए सेना-भर्त्ती तथा और किसी प्रकार की सहायता करने के विरोध में प्रचार करने लगे। मिथिला में भी इस प्रकार की सभाएँ सभी जिलों में तथा उसके अनेक गाँवों में की गयीं। जहाँ 'न एक भाई, न एक पाई' का नारा लगा कर उस साम्रज्यवादी समर के विरोध में प्रचार किया जाने लगा।

बिहार के प्रधान मंत्री बाबू श्रीकृष्ण सिंह ने १६ अक्टूबर के दिन विधान-सभा की बैठक में एक प्रस्ताव उपस्थित किया। उस प्रस्ताव का आशय यह था कि सरकार इस बात का निर्णय अविलम्ब करे कि भारतवर्ष स्वतन्त्र देश है, और उसको अपना शासन-विधान प्रस्तुत करने का पूरा अधिकार है। उपर्युक्त निर्णय की घोषणा कर उसकी कार्यान्वित भारत वर्ष के शासन के सम्बन्ध में यथासम्भव शीघ्रातिशीघ्र करने का भी अनुरोध सरकार से उस प्रस्ताव द्वारा किया गया था। इस प्रकार का प्रस्ताव देश के अन्य प्रदेशों की विधान-सभाओं में भी पारित हुआ था, जहाँ कांग्रेस का बहुमत था। बिहार-विधान-सभा ने उस प्रस्ताव को ६ के विरुद्ध ७३ मतों से स्वीकार कर लिया। सरकार इस प्रकार के पारित प्रस्ताव को मान्यता देने के हेतु उस समय प्रस्तुत नहीं थी। अतः इस विषय पर विधान-सभा में गतिरोध उत्पन्न होना स्वाभाविक था। इसलिए कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल ने ३१ अक्टूबर, १९३९ को त्याग-पत्र राज्यपाल के सम्मुख उपस्थित किया। गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट की धारा ९३ के अन्तर्गत राज्यपाल ने बिहार-राज्य के सभी वैधानिक एवं शासनिक अधिकारों को अपने हाथों में ले लिया। इससे वैधानिक गतिरोध वहाँ उपस्थित हो गया। बिहार ने २६ जनवरी, १९४० ई० को स्वतन्त्रता-दिवस बड़े समारोह के साथ सर्वत्र मनाया। मिथिला के सभी नगरों में बड़ी धूमधाम के साथ यह उत्सव मनाया गया तथा झण्डा फहराया गया। जमशेदपुर में जयप्रकाश नारायण ने १८ फरवरी, १९४० ई० को व्याख्यान दिया था। 'डिफेन्स ऑफ इण्डिया रूल्स' के अन्तर्गत उन्हें सरकार ने

गिरफ्तार कर लिया । इस बात को लेकर मिथिला एवं बिहार के अन्य भागों में घोर असन्तोष फैल गया । सरकार ने भी 'डिफेन्स ऑफ इण्डिया रूल्स' का बड़ी कठोरता के साथ प्रयोग कर दमन-चक्र को त्वरित गति से चलाना आरम्भ कर दिया ।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का ५३वाँ अधिवेशन १९ और २० मार्च, १९४० ई० को रामगढ़ में मौलना अबुल कलाम आजाद की अध्यक्षता में हुआ । पं० जवाहर लाल नेहरू ने सत्याग्रह के सम्बन्ध में अपना प्रस्ताव उपस्थित किया, जो पारित हुआ । कांग्रेस के उस अधिवेशन में केवल एक यही प्रस्ताव किया गया था और सर्वसम्मति से पारित हुआ था। गांधी जी ने अपने भाषण में हिंसाहीन सत्याग्रह के लिए अहिंसा एवं निर्माण-कार्य पर बल दिया । उन्होंने बताया कि सत्य एवं अहिंसा सत्याग्रह का सार तथा मूल मन्त्र है । चरखा उसका चिह्न है ।

रामगढ़ कांग्रेस अधिवेशन के पूर्व से ही बिहार के राजनीतिक वातावरण में किंचित् मतभेद का आभास मिल रहा था । देश के कतिपय उग्रपंथी राजनीतिज्ञ, विशेषकर 'फारवर्ड ब्लौक' एवं 'किसान सभा' वालों की यह धारणा बन रही थी कि कांग्रेस की नीति उस काल ब्रिटिश नौकरशाही के साथ समझौता कर लेने की ओर अग्रसरित हो रही है । वे साम्राज्यवादी शक्ति के साथ पूर्ण असहयोग करने के पक्ष में थे । उस समय मिथिला एवं बिहार के अन्य भागों में किसान आन्दोलन बड़ी तेजी के साथ चल रहा था। दण्डी स्वामी सहजानन्द सरस्वती उसके प्रधान नायक थे । मिथिला के दरभंगा जिले में कई स्थानों पर किसानों ने जमींदारों के अत्याचारों के विरुद्ध सत्याग्रह आन्दोलन चालू कर दिया था । किसान सभा के सभी कार्यकर्त्ता कांग्रेस-कर्मी थे । उनमें से अनेक मुख्य किसान-सेवियों को पकड़ कर बन्दी गृह में भेज दिया गया था और कुछ पर न्यायालय में मुकदमे चल रहे थे । पं० रामनन्दन मिश्र आदि जेल में थे और डॉ० रामप्रकाश शर्मा तथा अन्य पर न्यायालय में अभियोग चल रहे थे । उन सबों का स्थान कभी कारगृह के भीतर होता था और कभी बाहर । किसान सभा का कार्य मिथिला के अतिरिक्त बिहार के अन्य जिलों में भी तीव्र गति से चल रहा था । गया में पं० यदुनन्दन शर्मा तथा मुंगेर में श्री कार्यानन्द शर्मा किसानों का नेतृत्व कर रहे थे। किसान सभा के सभी नेता एवं कार्यकर्त्ता साम्रज्यवादी शासन से पूर्ण असहयोग करने के पक्षपाती थे । फॉरवार्ड ब्लाक एवं किसान सभा के अनुयायियों ने अपने विचार की कार्यान्वित तथा सिद्धांत के प्रचारार्थ रामगढ़ में ठीक उसी समय जब वहाँ कांग्रेस का अधिवेशन चल रहा था, सुभाष चन्द्र बोस की अध्यक्षता में अखिल भारतवर्षीय समझौता-विरोधी कान्फरेन्स (Anti-Compromise Conference) का प्रथम अधिवेशन किया । उस काल बिहार फॉरवर्ड ब्लॉक के अध्यक्ष शीलभद्र याजी थे ।

रामगढ़-कांग्रेस के अध्यक्ष के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए मौलाना आजाद ने भारतीय हिन्दू मुसलमानों को एक राष्ट्र की सन्तान तथा उनकी एक राष्ट्रीयता की बात बतायी थी । पर अभाग्यवश जातीय भेदभाव-शनैः-शनैः देश में बढ़ता गया । मुसलिम लीग ने अपने लाहौर के अधिवेशन में मुसलमानों के लिए एक अलग राष्ट्र की माँग की। बिहार के कतिपय मुसलमान भी उस अधिवेशन में सम्मिलित हुए थे । बिहार प्रादेशिक

मुसलिम लीग की बैठक छपरा में १३ और १४ अप्रैल, १९४० ई० को हुई, जिसमें लाहौर के प्रस्ताव को स्वीकार किया गया । मिथिला तथा बिहार के अन्य स्थानों में मुसलमानों ने जहाँ-तहाँ १९ अप्रैल को 'पाकिस्तान दिवस' मनाया । सभाएँ की गयीं । और उसमें मुसलिम लीग के लाहौर वाले प्रस्ताव को पढ़कर सुनाया गया, तथा उसकी वहाँ व्याख्या कर मुसलिम जनता को समझाया गया । परन्तु मुसलमानों के अहरार-दल एवं मोमिनों ने उन सबों के राष्ट्र-विरोधी विचार की निन्दा कर उनका साथ नहीं दिया । हिन्दू-मुसलमान इसके पूर्व सम्मिलित स्वर से 'जय हिन्द' का नारा लगाते थे, पर मुसलिम लीग की उक्त बैठक के बाद मुसलमानों के मुख से 'तकसीम हिन्द' का नारा सुना जाने लगा । यह देश का दुर्भाग्य था।

वायसराय ने ८ अगस्त, १९४० ई० को भारतवर्ष के शासन में किंचित् सुधार लाने के सम्बन्ध में वक्तव्य दिया, जिसे देशवासियों ने सन्तोषजनक नहीं माना, और विधान-सभा में गतिरोध ज्यों का त्यों बना रहा । बिहार के विधान-मण्डल के कांग्रेसी सदस्यों की एक बैठक १३ अगस्त को हुई, जिसमें वायसराय की घोषण का विरोध किया गया । ब्रिटिश सरकार की भारत विषयक नीति के विरुद्ध नैतिक विरोध प्रदर्शित करने के हेतु महात्मा गान्धी के मार्गदर्शन में चुने हुए खास-खास व्यक्तियों के द्वारा व्यक्तिगत सत्याग्रह करने का निर्णय कांग्रेस ने लिया । व्यापक सविनय अवज्ञा से विश्व-युद्ध काल में सरकार को हानि होने एवं परेशानी बढ़ने की सम्भावना थी । गान्धी जी ने इसी विचार से उस काल वैसा निर्णय लिया था । बिहार प्रदेश के सभी अंचलों ने उसका स्वागत किया और गान्धी जी के आदेशानुसार उसमें योगदान दिया । वह आन्दोलन १४ महीनों तक चलता रहा । पीछे उसे स्थगित कर दिया गया । भारत के लिए सेक्रेटरी ऑफ स्टेट मि० एमरी तथा अंगरेजी सरकार के प्रधान मन्त्री मि० चर्चिल की क्रमश: २२ अप्रैल, १९४१ और ९ सितम्बर, १९४१ ई० की घोषणाओं ने भारतीय जनता के असन्तोष और अविश्वास को और अधिक बढ़ा दिया। जिन लोगों ने अंगरेजी सरकार को युद्ध संचालन-कार्य में अबतक सहायता दी थी, उन्होंने भी असन्तुष्ट होकर अपना हाथ खींच लिया । सरकार उस गहरे असन्तोष को अपने दमन-चक्र की गति को तीव्रतम बनाकर पाशविक बल से समाप्त कर देने के हेतु सयत्न हुई, परन्तु उसका परिणाम प्रतिकूल हुआ । जनता के उत्साह में उठान एवं उबाल आया, और उसने १९४२ ई० के आन्दोलन का विकट रूप धारण किया । बिहार और उसकी मिथिला का स्थान देश के पूर्ववर्ती अन्य राजनीतिक आन्दोलनों की भाँति उस आन्दोलन में भी आगे ही रहा ।

विश्व-युद्ध की गति कुछ ऐसी मोड़ ले चुकी थी जिससे जापान का भय प्रति क्षण भारत के लिए बढ़ता जा रहा था । उसके सफल प्रतिकार के हेतु सम्पूर्ण देश को कटिबद्ध करने के विचार से भारतीय राजनीतिज्ञों ने भारत में भारतीयों द्वारा चालित राष्ट्रीय शासन की माँग की । पर सरकार ने उसपर कुछ ध्यान नहीं दिया । सर स्टैफोर्ड क्रिप्स साहब के प्रस्ताव ने स्थिति को और भी उलझा दिया । भारतीयों के लिए वह परिस्थिति असह्य हो उठी । कांग्रेस की कार्यकारणी समिति की बैठक ५ अगस्त, १९४२ ई० को बम्बई नगर में हुई, जिसमें अंगरेजों को भारत छोड़ कर चले जाने की माँग एक प्रस्ताव पारित कर की गयी । समिति की राय में उस माँग की पूर्ति भारत एवं मित्र शक्ति के लिए हितकर थी ।

स्वतन्त्रता प्राप्त करना भारतीयों का जन्म सिद्ध अधिकार है, इसको संसार के समक्ष स्पष्ट करने के हेतु सम्पूर्ण देश में महात्मा गांधी के मार्ग-दर्शन में अहिंसामय संघर्ष करने का प्रस्ताव भी उस बैठक में पारित हुआ। कार्यकारिणी समिति के उक्त प्रस्ताव को अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस समिति ने भी अपने दिनांक ७ एवं ८ अगस्त की बैठक में बम्बई नगर में स्वीकृत किया। महात्मा गान्धी ने वहाँ पर कार्य को पूरा करने अथवा उसके लिए मर मिटने का उपदेश उपस्थित सदस्यों एवं जनता को दिया।

देशव्यापी सविनय-अवज्ञा को रोकने के लिए सरकार भी पहले से ही तैयार बैठी थी। उसने बम्बई में ही ९ अगस्त के प्रातःकाल महात्मा गान्धी तथा अन्य सभी कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति के सदस्यों को पकड़ कर कारागृह में बन्द कर दिया। बिहार में भी राजेन्द्र बाबू को ९ अगस्त को गिरफ्तार कर लिया गया। उसके दो-तीन दिनों के अन्दर बाबू श्रीकृष्ण, बाबू अनुग्रह नारायण सिंह आदि बिहार के सभी नेताओं को पकड़ लिया गया। कांग्रेस तथा उससे सम्बन्धित सभी संगठनों को गैरकानूनी घोषित कर सरकार ने उनके कार्यालयों पर अधिकार कर लिया। आरक्षियों का पहरा उन स्थानों पर पड़ने लग गया।

सरकार का भंयकर दमन जनता के अदम्य उत्साह एवं देशभक्ति-लहर को दबा नहीं सका। 'कार्यं साधयामि शरीरं पातयामि वा' अथवा 'करो या मरो' के महामन्त्र से दीक्षित और उत्प्रेरित होकर विद्यार्थियों ने स्वतन्त्रता के उस महान् संग्राम में अनन्त विक्रम एवं अलौकिक त्याग तथा बलिदान के साथ जूझना आरम्भ किया। उन सबों ने लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु अनेक कार्यक्रमों को अपनाया। पटना में दिनांक ११ अगस्त के अपराह्न में जनता की अपार भीड़ एकत्रित होकर वहाँ के सरकारी सचिवालय पर राष्ट्रीय झंडा फहराने के हेतु अग्रसर हुई। सबसे आगे विद्यार्थियों का झुण्ड पंक्तिबद्ध होकर चल रहा था। भीड़ सचिवालय के सामने पहुँच गयी। पटना के अंगरेज जिला मजिस्ट्रेट (दण्डाधिकारी) ने उन निहत्थों पर गोलियों की बौछार करने की आज्ञा दी। वहाँ १३ अथवा १४ राउण्ड गोलियाँ चलीं, जिससे ७ विद्यार्थियों की मृत्यु घटनास्थल पर ही हो गयी, लगभग २५ व्यक्ति बुरी तरह घायल हुए और साधारण चोट अनेक को लगी। उस दिन स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर जिन विद्यार्थियों के बलिदान हुए, उनके नाम निम्नांकित हैं :-

(१) उमाकांत प्रसाद सिंह, (२) रामानन्द सिंह, (३) सतीश प्रसाद झा, (४) जगतपति कुमर, (५) देवीपद चौधरी, (६) राजेन्द्र सिंह तथा (७) रामगोविन्द सिंह। उनमें एक को छोड़ कर सभी पटना नगर के विद्यालय एवं महाविद्यालय के विद्यार्थी थे। राम गोविन्द सिंह पुनपुन उच्च विद्यालय का छात्र था।

अल्प वयस्क विद्यार्थियों के उपर्युक्त बलिदान के समाचार ने सम्पूर्ण बिहार प्रदेश के युवकों के हृदय में विदेशी शासन के प्रति प्रतिशोध की आग प्रज्वलित कर दी। विद्यार्थियों के अतिरिक्त साधारण जनता भी बौखला उठी और उनकी सहानुभूति एवं सहयोग छात्र समुदाय को सभी स्थानों में मिलने लगा। आन्दोलन ने उग्र रूप धारण किया। जिन लोगों से विदेशी शासन को सहायता मिलती थी। उनके प्रति भी यदा-कदा आन्दोलनकारियों का

कड़ा रुख दृष्टिगत हुआ। शासन को शिथिल बना देने के विचार से उन लोगों ने रेल की पटरियाँ उखाड़ दी, टेलीफोन एवं टेलीग्राफ के तार काट डाले, आरक्षियों के थानों पर आक्रमण किया और कहीं-कहीं उसमें आग लगा दी, तथा डाकघरों और अन्य सरकारी भवनों पर कार्यालयों पर अधिकार कर लिया। कई स्थानों पर शासन-यन्त्र के संचालकों के साथ उनका संघर्ष हुआ, जहाँ आन्दोलनकारियों ने उन्हें नीचा दिखाया। कांग्रेस अथवा उसके नेताओं के कार्यक्रम में उपर्युक्त प्रकार की कार्यवाही का समावेश नहीं था। सभी नेता बन्दीगृह में बन्द कर दिये गये थे। बाहर कोई जनता का पथ-प्रदर्शक नहीं था। सरकार के दमन कार्य से उत्तेजित जनता के मन में जैसा आया, वह वैसा करने लग गयी। देखा-देखी उस प्रकार की कार्यवाही सभी स्थानों में होने लगी। कहीं-कहीं पर राष्ट्रीय सरकार की स्थापना भी आन्दोलनकारियों ने विदेशी शासन को कुंठित कर कर ली।

अंगरेजी सरकार ने आन्दोलन को असफल बनाने के हेतु कोई उपाय उठा नहीं रखा। दमन के सभी प्रकार के शस्त्रास्त्रों का प्रयोग भयंकर रूप से आरम्भ कर दिया गया। नौकरशाही के सामने सद् और असद् के विचारने की शक्ति नहीं रह गयी। उसका नीति और अनीति का विचार लुप्त हो गया। उसने अब जिसको पाया, उसी को पकड़कर जेल में बन्द करना आरम्भ कर दिया। प्रतिष्ठित लोगों को कोड़े मारकर अन्य को आतंकित करना साधारण बात हो गयी। हाजत में बन्द देशभक्तों को नाना प्रकार की यन्त्रणा दी जाने लगी। मिथिला के भी कई अंचलों को सैनिकों के अधीन कर दिया गया, जहाँ उनका अत्याचार अनाचार चरम सीमा पहुँच गया। असैनिक पदाधिकारियों की आज्ञा का कोई खटका उन सैनिकों एवं उनके अधिकारियों को नहीं रहता था। सैनिकों के नायक प्रायः अंगरेज ही बनाये जाते थे। दरभंगा जिले के समस्तीपुर अनुमण्डल में जनसमुदाय का दमन करने के लिए नियुक्त सैनिकों के संचालन का भार दौलतपुर कोठी के व्यवस्थापक एवं स्वामी मि० एटकिन पर सौंपा गया था। वह कुछ दिन पूर्व लेखक के साथ दरभंगा जिला परिषद् का सदस्य भी रह चुका था। उसने चुन-चुन कर स्थानीय प्रभावशाली व्यक्तियों को पकड़ना, उन्हें कोड़ों से पिटवाना, उनके घरों को जलाना तथा अन्य प्रकार से उत्पीड़ित करना आरम्भ किया। वह स्पष्ट कहता था कि इस प्रकार के दमन के द्वारा वह अविलम्ब आन्दोलन को कुचल डालेगा। ताजपुर के स्थानीय चिकित्सक डा० मुक्तेश्वर सिंह को पकड़कर उसने कोड़े लगवाये तथा वहाँ की हाजत में बन्द कर दिया। अन्य कई व्यक्तियों की वही दशा उसने की। सन्ध्या समय ताजपुर से प्रस्थान करते समय उसने उन सबों को सुनाकर तथा इन पंक्तियों के लेखक का नाम लेकर कहा कि कल सबेरे आठ बजे बथुआ चलकर उसको तथा उसके भतीजे विल्ला शर्मा (डा० कृष्णस्वरूप शर्मा) को गोली मारनी होगी। उस काल कृष्णस्वरूप शर्मा की अवस्था लगभग १४ वर्षों की थी। जनता की सहानुभूति हाजत में बन्द बन्दियों के साथ थी। रात्रि में जब उनसे मिलकर उन्हें भोजन देने के हेतु लोग गये तो उन सबों ने उपर्युक्त बातें बताकर बथुआ-निवासियों को सतर्क कर देने का अनुरोध उनसे किया। स्थानीय डाकघर के पोस्टमैन रामलला ठाकुर उपनाम बाबाजी ठाकुर ने रातोंरात बथुआ पहुँचकर वहाँ के अधिवासियों को सतर्क किया। लोग गाँव से टल गये। उस थाने के आरक्षी दारोगा

जगदीश पाण्डेय, जो राष्ट्रीय विचार का व्यक्ति था, ने बड़ी चालाकी से एटकिन साहब को वहाँ जाने से रोका और स्वयं कतिपय बलूचियों को साथ लेकर निर्धारित समय पर बथुआ पहुँचा। वहाँ उसकी किसी से भेंट नहीं हुई। अपना कर्त्तव्य कर वहाँ से वह लौट गया। जगदीश पाण्डेय जैसे आरक्षी अधिकारियों को उस काल सरकार में भी प्रतिष्ठा एवं जनता में भी मान था। वह कहा करता था कि जब भारत को स्वराज्य की प्राप्ति होगी तो उसका उपभोग वह भी करेगा, केवल आन्दोलनकारी ही नहीं। मि० एटकिन का काम था उस काल गाँवों में सेना के सिपाहियों के साथ प्रवेश कर घरों को जलाना, लोगों को पकड़कर उन्हें ठोकर मारना वा कोड़ों से पीटना तथा अन्य प्रकार से अपमानित करना। कहीं-कहीं पर स्वेच्छानुसार बिना किसी उत्तेजना के गोली चलाकर उसने हत्याएँ भी की थीं। मेघौल ग्राम में उसने राधा बाबू नामक युवक को बुलवाया। उसके परिवार से उसकी पूर्व से ही घनिष्ठता थी। किन्तु उससे कुछ पूछताछ कर उसने गोली मार दी। ऐसा एक प्रमाण यहाँ अंकित किया गया है। ऐसी घटनाएँ मिथिला के गाँवों में अनेक घटीं। दिघरा, हरपुर तथा अन्यान्य कितने ग्रामों के अनेक भवनों तथा उनके सामानों को पेट्रोल छिड़क-छिड़क कर उसने भस्मसात् किया। एटकिन के समान और भी अनेक अंगरेज थे, जिनका काम वही था जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है। ताजपुर थाने के अन्दर एक व्यक्ति को राह चलते वरुणा पुल पर गोली का शिकार होना पड़ा। पूसा के निकट हरपुर भुसकौल ग्राम के श्री लखन ठाकुर को दरवाजे पर से सैनिक गिरफ्तार कर ले गये। वह कई महीनों रुग्ण रहने के कारण अस्वस्थ था। उसकी धारणा थी कि उसके जैसे लोगों को गिरफ्तार नहीं किया जायगा। इसी कारण उन सबों के ग्राम में पदार्पण करने पर वह छिपा नहीं। उसके साथ ऐसा पाशविक अत्याचार किया गया कि जिससे उसकी मृत्यु अति अल्पकाल के अन्दर बन्दी अवस्था में ही हो गयी। जहाँ-तहाँ अबलाओं पर भी उनके अनाचार एवं कदाचार हुए जो वर्णनातीत है। मुजफ्फरपुर जिले के तेपरी गाँव में एक भी मकान ऐसा शेष नहीं था, जिसमें लोग रात बिता सकें। सभी जला दिये गये थे। इस प्रकार का काण्ड सैकड़ों ग्रामों में किया गया था। जगह-जगह पर बन्दूकें चली थीं, जिससे अनेक निरपराधों की हत्या हुई थी। सामूहिक जुर्माना करना, जनता पर बिना बिचारे गोली चलाना, लोगों के घरों में आग लगाना, तथा अन्य प्रकार से आतंक का साम्राज्य फैलाना उस काल अंगरेजी शासन का नित्य का कर्तव्य बन गया था। जनता का जीवन, धन एवं स्त्रियों की मान-प्रतिष्ठा सुरक्षित नहीं थी। सैनिकों के अत्याचार अनियन्त्रित रूप से चारों ओर हो रहे थे। विलायत के 'हाउस ऑफ कौमन्स' में मि० एमरी ने १९४२ ई० के अक्तूबर के आरम्भ में वक्तव्य देकर स्वीकार किया था कि– ''हिन्दुस्तानी जनता की भीड़ पर हवाई जहाज से ५ बार मशीनगन चलाये गये। परिस्थिति में सुधार लाने के लिए भारत सरकार के जो इस प्रकार के कार्य हुए उसको मेरा पूरा अनुमोदन प्राप्त था''। चर्चिल ने भी सगर्व कहा था कि– ''भारत में हुए उपद्रव को सरकार ने अपनी सारी शक्ति लगाकर कुचल डाला, आदि''।

समुद्र में ज्वार के पश्चात् भाटा सदैव होता रहता है। उसी प्रकार गत एक सौ वर्षों के अन्दर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के हेतु किये गये भारतीयों के संघर्ष में कभी ज्वार और कभी

भाटा दृष्टिगत होता रहा है । १९४२ ई० के उस ऐतिहासिक आन्दोलन में भी अक्तूबर एवं नवम्बर महीने में समुद्र की तरंग की भाटा जैसी स्थिति उपस्थित हुई । किन्तु चर्चिल की उपर्युक्त उक्ति चरितार्थ नहीं हो पायी थी । आन्दोलन पूर्णतया समाप्त नहीं हो सका था । वह अन्तर्मुखी होकर चालू था । अंगरेजी सरकार के भयंकर पैशाचिक दमन ने ऊपर से भारतीयों के उत्साह एवं उमंग पर आवरण डाल दिया, पर उनका असन्तोष घटने के स्थान में बढ़ता ही गया । बिहार के अनेक देशभक्त जिनमें शिक्षक, छात्र, एवं जनसाधारण सभी समाविष्ट थे, कुछ काल के लिए नेपाल तराई में चले गये । वहाँ की स्थानीय जनता ने सहानुभूति से उनका स्वागत किया । उनमें से अनेक विक्रमी वीरों ने वहाँ निवास कर बन्दूक, कारतूस, तलवार, भाला तथा अन्यान्य शस्त्रास्त्रों को एकत्रित किया और उनके उपयोग के लिए उपर्युक्त अवसर की वे प्रतीक्षां करने लगे । मिथिला की सीमा नेपाल से संलग्न थी । अतः स्वतन्त्रता के उपासकों को वहां जाकर शरण लेने में अधिक कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा ।

मिथिला के रामनन्दन मिश्र, योगेन्द्र शुक्ल, सूर्यनारायण सिंह आदि राष्ट्रीय संग्राम के योद्धा जयप्रकाश नारायण तथा अन्यान्य प्रसिद्ध देशसेवकों के साथ हजारीबाग जेल में उस काल बन्द थे । राष्ट्र की उस आपत्ति की घड़ी में उन सबों ने येनकेन प्रकारेण बाहर निकलकर प्रच्छन्न रूप से मातृभूमि की स्वतन्त्रता के संग्राम को चालू रखने तथा उसमें बल पहुँचाने का निश्चय किया । दीपावली की रात्रि में, दिनांक ८ नवम्बर, १९४२ ई० को जयप्रकाश नारायण, रामनन्दन मिश्र, योगेन्द्र शुक्ल, सूर्यनारायण सिंह, गुलाब सोनार तथा शालिग्राम सिंह (हजारीबाग जिला कांग्रेस कमेटी के सचिव) आश्चर्यमय ढंग से जेल के बाहर चले आये । सरकार ने उन सबों को पकड़ने के लिए इनाम की घोषणा की । वे सब कण्टकाकीर्ण अरण्य-मार्ग पार करते हुए गया जिला की सीमा पर पहुँचे । देशभक्तों की वह टोली वहाँ दो भागों में विभक्त हो गयी । जयप्रकाश नारायण, रामनन्दन मिश्र एवं शालिग्राम सिंह वहाँ से काशी की ओर कार्य करने चले गये और योगेन्द्र शुक्ल, सूर्यनारायण सिंह तथा गुलाब सोनार ने मिथिला (उत्तर बिहार) के लिए प्रस्थान किया । गुप्त सूचना प्राप्त कर मुजफ्फरपुर के आरक्षी-अधीक्षक ने योगेन्द्र शुक्ल को ७ दिसम्बर, १९४२ ई० को अखारा घाट पर गिरफ्तार कर लिया, तथा उन्हें पटना भेज दिया । वहाँ से भी हटाकर उनको बक्सर के कारागृह में रखा गया । सूर्यनारायण सिंह तथा गुलाब सोनार दरभंगा की ओर चले गये और वहाँ गोपनीय रूप से आन्दोलन से सम्बन्धित गुप्त कार्य करने में तल्लीन हो गये । जय प्रकाश नारायण ने जनवरी, १९४३ ई० में एक प्रपत्र प्रकाशित कर सभी प्रच्छन्न राष्ट्रीय कर्म्मियों को आदेश दिया कि वे सुदूर ग्रामों में प्रवेश कर ग्रामीणों, कृषकों तथा वहाँ के मजदूरों का संगठन करें । वे कारखानों, खानों, रेलवे के कार्यालयों, भारतीय सेना के आवासों एवं शिविरों तथा उसी प्रकार के अन्य स्थानों में पहुँच कर वहाँ के कर्मियों से सम्पर्क स्थापित करें एवं उन सबों का भी संगठन करें । उस प्रपत्र में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि यह राष्ट्रीय आन्दोलन किसी षड्यन्त्र का प्रतिफल नहीं है, वरन् यह विदेशी शासन की जड़ को उखाड़ फेंकने के हेतु सम्पूर्ण राष्ट्र का विद्रोह एवं क्रांति है । इसके लिए कार्यकर्त्ताओं को सुसंगठित होकर शक्ति-संचय करना परमावश्यक है ।

मिथिला की सीमा से संलग्न नेपाल की तराई में सूर्यनारायण सिंह एवं अन्य साथियों के सहयोग से जयप्रकाश नारायण ने 'आजाद दस्ता' का संगठन किया। देश के उद्धार के हेतु छापामार सैनिकों का वह दल था। ब्रिटिश सरकार ने नेपाल सरकार के द्वारा उन सबों को वहां पर १९४३ ई० की मई में गिरफ्तार करा देने में सफलता प्राप्त कर ली। हनुमान नगर जेल में उन्हें बन्द किया गया, पर सूर्यनारायण सिंह एवं सरदार नित्यानन्द सिंह के मार्गदर्शन में वहाँ के कार्यकर्त्ताओं के दल ने उन सबों को शीघ्र बन्दीगृह से मुक्त कर लिया। नित्यानन्द सिंह, सूर्यनारायण सिंह के साथी थे तथा भारतीय आन्दोलनकारियों के नेपाल-शिविर के प्रधान प्रशिक्षक। सोनबरसा में उन्होंने मातृभूमि के उद्धार के लिए कार्य करते हुए वीरगति प्राप्त की थी। सियाराम दल दक्षिण दल दक्षिण बिहार में सक्रिय होकर विदेशी शासन को निष्क्रिय कर देने के हेतु सन्नद्ध था।

आजाद दस्ता, फॉरवर्ड ब्लॉक, कांग्रेस सोशलिस्ट आदि क्रांतिकारी संगठनों की कार्यवाहियों के अतिरिक्त जेल-यात्रा करने से बचे हुए कांग्रेसकर्मी गांधीजी तथा कांग्रेस द्वारा पूर्व-निर्देशित निर्माण-कार्य चुपचाप शान्तिपूर्वक करते रहे। उन सबों ने भावी राष्ट्रीय संघर्ष के हेतु जनता में उत्साह एवं उत्सुकता को अपनी संलग्नता एवं कार्यों द्वारा जीवित रखा।

देश स्वाधीनता के पथ पर

लार्ड लिनलिथगो ने भारत के गवर्नर-जनरल के पद से अवकाश ग्रहण किया। लार्ड वावेल १९४३ ई० के अक्तूबर मास के मध्य के लगभग उनके स्थान में उस पर पर आसीन हुए। उस काल देश की राजनीतिक स्थिति नाजुक थी। उसके सामने जो समस्या उत्पन्न हो गयी थी, वह जटिल थी। विश्व-युद्ध (द्वितीय) समाप्त नहीं हुआ था। वैधानिक गतिरोध अपने स्थान पर दृढ़ होकर बैठा था। अभाग्य-वश साम्प्रदायिक मतभेद प्रगतिशील था। कांग्रेस का नारा 'भारत छोड़ो' का चल रहा था। उधर मुसलिम लीग ने 'बाँटो और भारत छोड़ो' का नया नारा आरम्भ किया। उसकी पाकिस्तान की माँग ने जोर पकड़ा। बिहार प्रान्तीय मुसलिम लीग इसके हेतु अति उत्साह दिखाने लगी और डट कर काम करने लगी। पाकिस्तान की माँग के प्रवर्त्तक मि० जिन्ना ने १९४५ ई० में स्पष्ट शब्दों में कहना आरम्भ किया कि मुसलमानों के लिए पाकिस्तान राष्ट्र के निर्माण की माँग अपरिवर्त्तनशील एवं अटल है। संयुक्त भारत के आधार पर हम कोई विधान स्वीकार नहीं करेंगे। इस प्रकार के वक्तव्यों का अशोभनीय प्रभाव बिहार प्रदेश के सभी अंशों पर पड़ रहा था। लॉर्ड वावेल का भारत में गवर्नर-जनरल के पद पर आगमन ऐसी ही विकट एवं संकटमय विषम परिस्थिति में हुआ था।

इधर १९४४-४५ ई० में शनैः-शनैः कांग्रेस-कर्मियों को कारा-मुक्त किया जाने लगा। मिथिला एवं बिहार के अन्य भागों के अनेक कांग्रेसी बाहर आये। उन सबों ने जन-सेवा एवं निर्माण-कार्य में अपना समय लगाना आरम्भ किया। कस्तूरबा-कोष के हेतु धनराशि एकत्रित की जाने लगी। खादी के उत्पादन एवं उसके विक्रय पर बल दिया गया। स्वतन्त्रता दिवस, गान्धी जयन्ती, राष्ट्रीय सप्ताह आदि राष्ट्रीय पर्वों का मनाना तथा ९

अगस्त, १९४२ ई० की तिथि का वार्षिक उत्सव करना उन सबों ने नियमित रूप से अपना कार्यक्रम बनाया । कांग्रेस के कार्यकर्त्तागण, जो छिप कर अबतक देशोद्धार-कार्य कर रहे थे, उनमें से कुछ १९४४ ई० में पकड़ लिये गये । पटना में २३ अप्रैल, १९४४ ई० को सुचेता कृपलानी गिरफ्तार हुईं ।

जेल में गान्धी जी का स्वास्थ्य बिगड़ गया था । अतः सरकार ने उन्हें १९४४ ई० के मई महीने में कारा-मुक्त किया । आन्दोलन को उन्होंने अन्तिम रूप से बन्द नहीं कर दिया था । अतः वह कुछ समय तक चालू रखा गया । उनके जेल से छुटकारे के पश्चात सरकार ने समझौते के हेतु वार्तालाप आरम्भ किया, जिसके परिणामस्वरूप ब्रिटिश पालियामेण्ट ने १९४६ ई० में 'इण्डिपेण्डेन्स ऑफ इण्डिया ऐक्ट' पारित किया, ब्रिटिश पार्लियामेंट के मजदूर दलीय प्रधान मन्त्री मि० एटली एवं लार्ड वावेल ने भारतवर्ष की वैधानिक समस्या के हल के विषय में १९ सितम्बर, १९४५ ई० को अपना-अपना वक्तव्य साथ-साथ दिया । लॉर्ड वावेल ने ब्रिटिश सरकार की ओर से घोषित किया कि १९४५-४६ ई० के शीत काल में केन्द्रीय एवं प्रान्तीय विधान मंडलों का चुनाव होगा । उसके पश्चात बहुमत दल के राजनीतिक नेताओं को मन्त्री के दायित्वपूर्ण पदों को स्वीकार करने के हेतु आमन्त्रित किया जायगा । उन्होंने यह भी घोषित किया कि भारतवर्ष के शासन के हेतु विधान प्रस्तुत करने के लिए एक समिति का निर्माण यथासम्भव अति शीघ्र किया जायगा । चुनाव समाप्त होते ही इस सम्बन्ध में वे अंगरेजी भारत तथा भारतीय राज्यों के निर्वाचित प्रतिनिधियों के साथ आरम्भिक वार्त्तालाप करेंगे । इन कार्यों के करने की अनुमति उन्हें ब्रिटिश सरकार से प्राप्त हो चुकी है, इसकी भी घोषणा उन्होंने की । साथ ही इसकी भी सूचना उन्होंने दी कि भारत के स्वतन्त्र शासन-भार ग्रहण करने के पश्चात् ग्रेट ब्रिटेन एवं उसके बीच जो सन्धि होगी उसके लिए मसौदा प्रस्तुत करने की दिशा में भी ब्रिटिश सरकार चिन्तन कर रही है, और ज्योंही चुनावों का फल प्रकाशित होगा, वह एक कार्यकारिणी समिति का गठन करेगी जिसको मुख्य-मुख्य भारतीय दलों का अनुमोदन प्राप्त होगा ।

अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस ने चुनाव में भाग लेने का निर्णय लिया । भारतीय जनता के क्रान्तिकारी विचार का चुनाव-फल द्वारा प्रदर्शन करना उसका उद्देश्य था तथा उसका उपयोग भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम को आगे बढ़ाने में करना भी उस काल उसका अभीष्ट था । बाबू राजेन्द्र प्रसाद, बाबू रामदयाल सिंह, बाबू अनुग्रह नारायण सिंह, बाबू श्रीकृष्ण सिंह आदि बिहारी नेताओं के अथक परिश्रम से चुनाव में कांग्रेस को आशातीत सफलता प्राप्त हुई । केन्द्रीय विधान मंडल के चुनाव में १९४५ ई० के दिसम्बर महीने में बिहार के पूरे १० चुनाव क्षेत्रों में से ६ में कांग्रेस की विजय हुई । बिहार की विधान सभा में कुल १५२ स्थान थे । उसका चुनाव-फल १९४६ ई० के मार्च महीने में प्रकाशित हुआ, जिसकी दलगत विजय का ब्यौरा क्रमशः नीचे दिया जाता है–

कांग्रेस	–	९८
मोमिन	–	५
मुसलिम लीग	–	३४

स्वतन्त्र	-	१२
आदिवासी	-	३
		१५२

बिहार के राज्यपाल ने कांग्रेस के विधायक-दल के नेता श्रीकृष्ण सिंह को मन्त्रिमण्डल बनाने के हेतु ३० मार्च, १९४६ ई० को आमन्त्रित किया। श्रीकृष्ण सिंह, अनुग्रह नारायण सिंह एवं सैयद महमूद ने शासकीय गोपनीयता का शपथ-ग्रहण उसी दिन ११ बजे पूर्वाह्न में किया। जगलाल चौधरी उस काल जेल में थे। चतुर्थ मन्त्री के पद ग्रहण करने के हेतु उसकी मुक्ति कारा से हुई। कुछ दिनों के बाद मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की संख्या में वृद्धि की गयी, और उसमें पाँच और मन्त्री (१) रामचरित्र सिंह, (२) आचार्य बदरीनाथ वर्म्मा, (३) पंडित विनोदानन्द झा, (४) कृष्ण वल्लभ सहाय, एवं (५) अब्दुल कयूम अन्सारी सम्मिलित किये गये। मिथिला के एवं बिहार के अन्य भागों के सभी कोटि के लोगों ने उस मन्त्रिमंडल का स्वागत किया। पर मुसलिम लीग वालों एवं कुछ अन्य उग्रपंथियों को उससे पूरी संतुष्टि नहीं हुई। फॉरवर्ड ब्लॉक का समझौता नयी सरकार के साथ न हो सका। मार्च एवं अप्रैल के महीने में सुभाषचन्द्र बोस के भ्रातृ-पुत्र अरविन्द बोस ने दरभंगा, मुजफ्फरपुर, मुंगेर एवं पटना जिलों में घूम-घूम कर अनेक स्थानों में सभाएँ कीं तथा अपने दल का मन्तव्य जनता को समझाया। शीलभद्र याजी बिहार के फॉरवार्ड ब्लॉक के अध्यक्ष थे। वे भी अपने दल का कार्य संलग्नता के साथ कर रहे थे। उनका प्रचार सभाओं द्वारा हो रहा था।

गांधी जी ने १९४६ ई० में कहा था कि कांग्रेस और मुसलिम लीग में समझौता हो अथवा न हो, पर भारतवर्ष स्वतन्त्र होकर रहेगा; क्योंकि इसके हेतु उसने अपना पर्याप्त रक्त बहाया है। ब्रिटिश सरकार के प्रधान मन्त्री मि० एटली ने अपने १५ मार्च, १९४६ ई० के भाषण में कहा था कि भारतीय राजनीति का १९४६ ई० का तापमान १९२० ई० के समान नहीं है। सम्प्रति भारतवासियों के बीच राष्ट्रीयता की लहर बहुत ऊँची उठ रही है। परिस्थिति का सामना करने के हेतु ब्रिटिश सरकार ने भारत में एक 'कैबिनेट मिशन' भेजा, जिसके सदस्य थे लॉर्ड पेथिक लॉरेन्स, सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इण्डिया, सर स्टेफोर्ड क्रिप्स, वाणिज्य परिषद् के अध्यक्ष, तथा मि० ए० वी० अलेक्जेण्डर। उपर्युक्त कैबिनेट मिशन ने भारत के शासन के सम्बन्ध में अपने कतिपय अभिस्ताव प्रतिवेदन में अंकित किये, पर उन अभिस्तावों को भारतीय जनता के किसी राजनीतिक दल ने सन्तोषप्रद नहीं माना। मुसलिम लीग ने केन्द्रीय संघ को केवल आगामी १० वर्षों के लिए स्वीकार किया। पर छः मुसलिम प्रान्तों के पृथक् समूह बनाने की बात उसने स्वीकार कर ली। कांग्रेस ने 'कैबिनेट मिशन' के १६ मई वाले दीर्घकालीन प्रस्ताव को स्वीकार कर २६ जून को प्रस्तावित 'कन्स्टीटुएण्ट असेम्बली' में सम्मिलित होने का निर्णय प्रस्तावित स्वतन्त्र, सम्मिलित एवं प्रजातान्त्रिक भारत के लिए विधान प्रस्तुत करने के विचार से लिया।

जुलाई महीने में 'कन्स्टीटुएण्ट असेम्बली' के सदस्यों का चुनाव हुआ। बिहार के कांग्रेस-दल ने डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, मुख्य मन्त्री श्रीकृष्ण सिंह, वित्त मन्त्री अनुग्रह नारायण सिंह, डॉ० सच्चिदानन्द सिंह, अब्दुल कयूम अन्सारी, श्रीमती सरोजिनी नायडू तथा अन्य

चार विदुषी महिलाओं को उसका सदस्य मनोनीत किया । मुसलिम लीग ने पहले 'कैबिनेट मिशन' के प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया था, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । पर कन्स्टीटुएण्ट् असेम्बली के चुनाव में कांग्रेस का अत्यधिक बहुमत देखकर उसने अपनी स्वीकृति वापस कर लीं, तथा मुसलमानों को पाकिस्तान के निर्माण के हेतु सीधी कार्यवाही करने का आदेश दिया । उसका परिणाम आधुनिक भारतीय इतिहास में अत्यन्त भयंकर, शोकप्रद एवं लज्जास्पद हुआ । साम्प्रदायिक कटुता कई स्थानों में पराकाष्ठा को पार कर गयी । कलकत्ता में मुसलिम लीग के सीधी चोट करने (Direct action) के आदेश ने १६ अगस्त को अनर्थ उपस्थित कर दिया । उस दिन वहाँ जो पाशविक अत्याचार का कष्टदायक एवं हृदय-द्रावक दृश्य उपस्थित हुआ, उसका वर्णन करना असम्भव है । 'स्टेट्समैन' पत्र ने उसको 'कलकत्ते का महान् हत्या-काण्ड' कह कर वर्णन किया था । किन्तु उसका प्रभाव उस काल तुरत मिथिला पर नहीं पड़ा । दो एक स्थानों में जनता ने क्षुब्ध होकर रोष प्रकट किया, पर वह बहुत साधारण था । पूर्वी बंगाल में साम्प्रदायिक दंगे ने विकराल रूप धारण किया । वहाँ के हिन्दू अधिवासियों पर घोर एवं भयंकर अत्याचार-अनाचार हुए । उसकी प्रतिक्रिया अक्तूबर के अन्त में बिहार में बड़ी बुरी हुई । साम्प्रदायिक उपद्रव वहाँ भी व्यापक हो गया, और उससे मुसलमानों को धन-जन की भारी हानि उठानी पड़ी । परन्तु बिहार सरकार ने उन दंगों को रोकने के हेतु अविलम्ब कार्यवाही की । डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, पं० जवाहर लाल नेहरू आदि नेताओं ने भी उपद्रव-ग्रस्त अंचलों में घूमना तथा जनता को समझाना आरम्भ किया । इन कारणों से दंगा बढ़ा नहीं, और शीघ्र रुक गया । महात्मा गांधी के १९४७ ई० के मार्च एवं अप्रैल महीने के बिहार के लिए प्रेम एवं शान्ति के सन्देश ने साम्प्रदायिक पागलपन के प्रसार को रोकने में बड़ी सहायता की ।

'भारतीय कन्स्टीटुएण्ट असेम्बली' की बैठक ९ दिसम्बर, १९४६ ई० को दिल्ली में बिहार के वयोवृद्ध राजनीतिज्ञ डॉ० सच्चिदानन्द सिंह की अध्यक्षता में हुई । किन्तु मुसलिम लीग के असहयोग ने वैधानिक कार्य को वहाँ अति जटिल बना दिया । प्रधान मन्त्री एटली ने २० फरवरी, १९४७ ई० के दिन ब्रिटिश सरकार के निश्चित निर्णय के विषय में घोषणा की कि जून, १९४८ ई० तक भारत के शासन की बागडोर दायित्वपूर्ण भारतीयों के हाथ में दे देना परमावश्यक है । लॉर्ड माउण्टबेटन १९४७ ई० के मार्च महीने में लॉर्ड वावेल के स्थान में गवर्नर-जनरल होकर पधारे । उन्होंने भारतीयों के हाथों में शासन को सौंपने के कार्य को अग्रसारित किया । तात्कालिक परिस्थिति में वह कार्य कैसे सम्पन्न किया जाय, इसके लिए ३ जून, १९४७ ई० को उन्होंने एक कार्यक्रम प्रस्तुत किया, जिसमें भारत के विभाजन का प्रस्ताव सन्निहित था । उसके स्वीकार कर लेने से देश का एक बड़ा अंश भारत से पृथक् हो जाता था, किन्तु अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमेटी ने उस कष्टदायी परिस्थिति में बहुत पहलुओं पर सोच-विचार कर उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया । समाजवादी दल, किसान-सभा एवं फॉरवर्ड ब्लॉक ने कांग्रेस की उस स्वीकृति को समझौते की चाल बता कर उसके प्रति असन्तोष प्रकट किया । राष्ट्रवादी मुसलमानों के विचार में पाकिस्तान के निर्माण से भारतीय मुसलमानों को कोई लाभ नहीं था, किन्तु मिथिला एवं

अन्यान्य स्थानों में मुसलिम लीगियों ने अपनी माँग की सफलता पर हर्षोल्लास प्रकट किया। विभाजन के लिए मुसलिम लीग को छोड़कर सबों को दुःख हुआ अवश्य, किन्तु उसके बिना उस परिस्थिति में कोई दूसरा उपाय नहीं था। अतः सबों ने सन्तोष किया। 'इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स एक्ट' के अनुसार भारतवर्ष १५ अगस्त, १९४७ ई० को स्वाधीन हुआ। सदियों के पश्चात् उसे विदेशियों की दासता की शृंखला से मुक्ति मिली। कंधे पर से परतंत्रता का जूआ दूर हुआ। मिथिला में तथा अन्यत्र स्वतंत्रता दिवस बड़े समारोह के साथ मनाया गया। श्री जयराम दास दौलतराम स्वतंत्र भारत के स्वतंत्र बिहार के प्रथम राज्यपाल नियुक्त हुए, तथा उन्होंने १४ अगस्त की अर्द्ध-रात्रि के समय अपने पद पर आसीन होकर कर्त्तव्य-पालन का नियमानुसार शपथ ग्रहण किया। उन्होंने दूसरे दिन १५ अगस्त को बिहार के पटना सचिवालय के सामने स्वतंत्रता की बलिवेदी पर अपने शीश-सुमन को समुद अर्पण करने वाले सातों शहीदों के स्मारक की नींव दी। भारत स्वतंत्र हुआ। उसके साथ उसके अंग बिहार एवं प्रत्यंग मिथिला को भी स्वाधीनता-सुख अनुभव करने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

जय हिन्द, जय बिहार, जय मिथिला!

परिशिष्ट भागांक – १

मिथिला का पद्यबद्ध संक्षिप्त वर्णन

दोहा –उत्तर सौम्य उपत्यका, तुहिन शैल[१] नेपाल ।
दक्षिण सुरसरिं शैलजा[२], पूर्ण सलिल सब काल ।।१।।

पश्चिम रक्षति गण्डकी[३], कोशी पूरब छोर ।
पावन मिथिला मध्य में, बसा रम्य सब ओर ।।२।।

तट सरस्वती से चले, वर विदेघ[४] भू-नाथ ।
वैश्वानर को अग्र कर, गौतम रहुगण[५] साथ ।।३।।

तीर सदानीरा रुके, संग पुरोहित[६] वह्नि[७] ।
ले आज्ञा शुचि अग्नि से, बसे पार शुभ अह्नि ।।४।।

यज्ञ-अग्नि प्रज्वलन से, वह पावन भू-भाग ।
वास योग्य जनपद बना, उत्तेजक अनुराग ।।५।।

पड़ी नींव नृप वंश की, जग विदेह[८] विख्यात ।
विरुद जनक क्षितिपाल सब, प्रांजल चरित सुज्ञात ।।६।।

गौतम आश्रम[९] ब्रह्मपुर, चहुटा ग्राम समीप ।
सर्षि[१०] अहिल्या-स्थान[११] में, पहुँचे रघुकुल दीप ।।७।।

---

१. हिमालय पर्वत ।
२. हिमालय-तनया गंगा ।
३. शालिग्रामी अथवा नारायणी नदी ।
४. विदेघ माथव (शतपथ ब्राह्मण के वर्णनानुसार) ।
५. राजा विदेघ माथव के पुरोहित गौतम रहुगण ।
६. पुरोहित गौतम रहुगण ।
७. विदेघ माथव के आराध्य देव वैश्वानर अग्नि ।
८. राजा विदेघ माथव ने सदानीरा अथवा नारायणी गण्डकी नदी को पार कर उस ओर मिथिला नगर एवं जनपद बसाया, तथा वहाँ विदेह राजवंश की नींव दी ।
९. स्कन्द पुराण के अनुसार ब्रह्मपुरी (वर्त्तमान रतनपुर ब्रह्मपुर) में गौतम ऋषि का आश्रम था ।
१०. ऋषि विश्वामित्र के साथ ।
११. प्राचीन अहल्या-उद्धार का स्थान अहियारी ग्राम बताया जाता है, जहाँ अहिल्या-स्थान नामक तीर्थ है।

ऋषि-पत्नी उद्धार कर, चले जनकपुर[१] राम ।
उत्तर-पूर्व, विसौल[२] में, किया मार्ग-विश्राम ।।८।।

कोशलेश-सुत राम के, ज्ञानी श्वसुर नृपाल ।
सीरध्वज कुल-जनक थे, सिद्ध वीर उस काल ।।९।।

जीत राज्य सांकास्य[३] नृप, मथुरा निकट विदेह ।
धीर कुशध्वज अनुज को, भूपति किया सस्नेह ।।१०।।

वह राजा संन्यास ले, अल्पकाल में छोड़ ।
राज्य चला तपहित सकल, वैभव से मुँह मोड़ ।।११।।

नव अर्जित भू-भाग[४] के, कुश-कुल में नरपाल ।
शासक छः पीढ़ी रहे, अरि-उर में दे साल ।।१२।।

ब्राह्मण ग्रन्थों ने सदा, दिया विरुद सम्राट ।
जनक-विदेह नृपाल को, थे वे नृप-अधिराट ।।१३।।

सीरध्वज तक वंश में, हुए जनक प्रख्यात ।
बाइस[५] उनके नाम हैं, रामायण[६] से ज्ञात ।।१४।।

साथ रहा कुरुराज के, नृप विदेह ले सैन्य ।
पाण्डव[७] गण से विमुख हो, पड़ा जाल दुख दैन्य ।।१५।।

किया पराभव[८] पाण्डु ने, मिथिला पर चढ़ वीर ।
था प्रतिशोध अवश्य वह, नृप था बुद्धि अधीर ।।१६।।

---

१. विदेह जनकों की राजधानी । रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में जनकपुर नाम नहीं है । सर्वत्र जनकों की राजनगरी का नाम मिथिला लिखा है । अहिल्या-स्थान से उत्तर-पूर्व दिशा में मिथिला (जनकपुर) वाल्मीकीय रामायण के अनुसार ।

२. विश्वामित्र ऋषि ने राम तथा लक्ष्मण के साथ जहाँ विश्राम किया था, उसका स्थानापन्न ग्राम विशौल है, जो जनकपुर से केवल कई मील दूर है ।

३. सांकाश्य राज्य का राजा सुधन्वा, जिसने मिथिला पर आक्रमण किया था, पर समर में उसकी हार हुई और वह मारा गया ।

४. सुधन्वश्रा का सांकाश्य राज्य । इसका वर्णन वाल्मीकीय रामायण, प्रथम काण्ड, ७१वाँ सर्ग, श्लोक १६ एवं १९ में आया है ।

५. निमि-पुत्र मिथि से लेकर सीरध्वज तक उस कुल में २२ जनक हुए ।

६. वाल्मीकीय रामायण में उनके नाम दिये गये हैं । उद्धरण इस पुस्तक में भी पूर्व में अंकित किया जा चुका है ।

७. महाभारत-युद्ध में विदेह-राज क्षेमधूर्त्ति ने कौरवों के साथ होकर पाण्डवों से युद्ध किया था, पर भीमसेन के गदा-प्रहार से वह धराशायी हुआ ।

८. महाभारत के पूर्व पांडवों के पिता पांडु ने मिथिला पर आक्रमण कर तात्कालिक विदेह-राज को पराजित किया था ।

अन्तिम नृपति कराल था, विषय-लीन मति-हीन ।
'बुद्ध-चरित'[1] कहता हमें, किया वंश को क्षीण ।।१७।।
बल पूर्वक ब्राह्मण-सुता, को हर लिया नरेश ।
द्रोहानल भभका सकुल, आहुत हुआ जनेश ।।१८।।

(१)

पवित्र भू जैमिनि कपिल गौतम कणाद की ।
ज्ञानागार याज्ञवल्क्य जैसे ऋषिराज की ।।
दार्शनिक आदर्श राज-ऋषि जनक-विदेह की ।
जननी ज्ञान-दर्शन की पावन क्षिति स्नेह की ।।
न सह सकी अनाचार बन कराली कालिका ।
क्षुब्ध हुई कृपाण-करा पहन मुंड-मालिका ।।

(२)

उबल पड़ी न सह्य था, गम्भीर अत्याचार ।
नृप का निरंकुश नीचतम नृशंस कदाचार ।
भभकी द्रोहाग्नि मचा घोर हाहाकार ।
व्यथित किया जन-हिय को अवनीश का व्यवहार ।।
पूत जनक-जनपद जो था नीति का आगार ।
वह बना तांडव नृत्य-स्थल रुद्र का साकार ।।

(३)

अत्यधिक देख मिथिला में फैला अनाचार ।
खोला लोचन[2] शमन-शिव ने, प्रकटा अंगार ।।
समाधि त्याग त्रिशूली[3] ने किया गण-हुँकार[4] ।
चला[5] हुई अचला[6], छोड़ा नाग ने फुंकार ।।
गरल-स्रोत फूटा, सूखी अमिय गंगा-धार ।
तब व्यथित मन जनगण ने की क्रान्ति की पुकार ।।

---

१. अश्वघोष रचित 'बुद्ध-चरित' नामक ग्रन्थ के सर्ग-४, श्लोक-८० एवं सर्ग-१३, श्लोक-५ में उल्लेख है कि कराल जनक (जनक-विदेह-कुल का अन्तिम नरेश) ने एक ब्राह्मण-कुमारी का बलपूर्वक अपहरण किया था । अतः राज्य की क्रुद्ध प्रजा ने क्रान्ति की । उस विद्रोह में जनक-वंश का विनाश हुआ । 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' (१-६) से भी इस घटना की सम्पुष्टि होती है।
२. शंकर ने साक्षात् यमराज बन कर अपनी तीसरी आँख खोली, जो उनके क्रुद्ध होने पर शत्रु-शमन एवं दुष्ट-दलन के हेतु ही खुलती है ।
३. त्रिशूलधारी शिव ।
४. जन-गण को ललकारा ।
५. कम्पायमान ।
६. पृथ्वी ।

(४)

प्रजा-उर-उदधि में उठी भीषण क्रान्ति-तरंग ।
फूटी ज्वालामुखी उगलती लावा अभंग ।।
क्षोभ क्रोध और घृणा से विनाश लिये संग ।
नृप था बेहोश, डसा था उसे भुजग[१] अनंग ।।
जलता था जनक का धू धू कर पावन देश ।
नृत्त-रत थी अराजकता धर प्रलयंकर वेश ।।

(५)

विदेह-वंश का विनाश किया रुष्ट प्रजा ने ।
निरंकुशता मिटायी असंतुष्ट जनता ने ।।
राज-तन्त्र विनष्ट कर प्रजा-तन्त्र अपनाया ।
वज्जि-संघ[२] में वैशाली के नृप प्रवेश पाया ।।
किन्तु ईसा पूर्व तीन सौ छब्बीस[३] वर्ष में ।
महापद्मनन्द[४] ने नष्ट किया संघर्ष में ।।

(६)

कर लिया स्थापित राजतन्त्र पुनः मिथिला में ।
गत हुआ गण-तन्त्र उसकी विनाश-लीला में ।।
महा क्षत्रान्तक था वह क्षत्रिय-वंश-द्रोही ।
परशुराम सम प्रति-क्रियावादी शूर कोही ।।
अब मगध का अधिकार हुआ मिथिला-राज्य पर ।
परतन्त्र हुआ जनपद ज्ञान-शौर्य का आकर ।।

(७)

मिथिला में ही लोक-तन्त्र[५] था वैशाली का ।
बल-पौरुष था प्रख्यात उस शक्तिशाली का ।।

---

१. कामदेव रूपी सर्प ।

२. गणतान्त्रिक शासन-पद्धति का संघ राज्य जिसकी राजधानी उस काल वर्तमान मुजफ्फरपुर जिले की वैशाली (बनिया बसाढ) नामक नगरी में थी ।

३. ई० पूर्व ३२६ वर्ष ।

४. महापद्मनन्द को पुराणों में 'महा क्षत्रान्तक' कहा गया है। शिशुनाग अथवा हर्यंक-कुल का विनाश कर वह मगध का सम्राट् बन गया था ।

५. अति प्राचीन काल से मिथिला में दो राज्यों का पता चलता है, और वे थे- (१) मिथिला तथा (२) वैशाली का गणराज्य । आरम्भ में दोनों ही राज्य राजतान्त्रिक थे । सुमति-काल के पश्चात् वैशाली में कभी गणराज्य की स्थापना हुई । कराल जनक के पश्चात् मिथिला में भी राजतन्त्र का अवसान हुआ और वह वज्जि संघ का सदस्य बन गया ।

बसा था पश्चिम अंश में वह सम्पन्न राज्य ।
ऐक्य अनुपम था संघ में, अतः था अविभाज्य ।।
लिच्छवि-कुल-प्रमुख था उस गण-तन्त्र का सदस्य ।
मान मिथिला, मल्ल तथा कोशल में था यस्य ।।

(८)

आदि काल में वह जनपद भी था राजतन्त्र ।
समुन्नत सब भाँति और सार्वभौमिक स्वतन्त्र ।।
आदित्य कुलज नेदिष्ट-सुत नाभाग नृप ने ।
स्थापित किया राज्य वहाँ पुरुषार्थ से अपने ।।
वैश्य-सुता से विवाह[1] कर बहिष्कृत हो गया ।
क्षत्रिय वर्ग से वह फलतः न क्षात्र रह गया ।।

(९)

परिगणित हुआ वैश्य-वंश में अब वह नृप-वंश ।
यद्यपि था नाभाग स्वयं सूर्य-कुल अवतंस[2] ।।
नृपति था सुमति[3] वहाँ जब राम ने यात्रा की ।
सह ऋषि मिथिला-गमन-हित, अभ्यर्थना उनकी ।।
की आगे आ नृपति ने, और किया आतिथ्य ।
लख तरणी उनकी जाती सदानीरा मध्य ।।

(१०)

बिहार-स्थित मुजफ्फरपुर जिलान्तर्गत बसाढ़[4] ।
का स्थानापन्न वैशाली में जहाँ प्रगाढ़ ।।
था वीरवर विशाल[5] नृप का सुखद सुन्दर गढ़ ।
जिस पर न रिपु कर साहस सकते कभी थे चढ़ ।।
चौंतीस[6] नृपति सुमति तक हुए हंस-वंश में ।
नाभाग नृपवर सहित उस मिथिला के अंश में ।।

---

१. विष्णुपुराण, चतुर्थ अंश, अध्याय-१; श्लोक १९-६१ के अनुसार मनु-पत्र नेदिष्ट ने नाभाग से आरम्भ कर वैशाली में एक राज्य की स्थापना की । नाभाग ने वैश्य-कन्या से विवाह किया । अतः वह क्षत्रिय जाति से बहिष्कृत हुआ, और उसे पैतृक राज्य में भाग न मिला ।
२. सूर्य वंशीय ।
३. राजा सुमति दाशरथी राम का समकालीन था, और नाभाग-कुल का ३४ वाँ राजा था ।
४. हाजीपुर अनुमंडल का बनिया बसाढ़ गाँव वैशाली का स्थानापन्न है ।
५. नाभाग-कुल में एक अति पराक्रमी राजा विशल अथवा विशाल हुआ, जिसके नाम पर उस कुल की राजधानी का नाम वैशाली पड़ा ।
६. ३४ ।

(११)

मगध में था राजतन्त्र सशक्त उदीयमान ।
बिम्बसार-सुत अजात-शत्रु[१] था शूर बलवान ।।
वह लिच्छवि-दौहित्र[२] था अति महत्त्वाकांक्षी ।
पितृ-घातक स्व-साम्राज्य-विस्तार-आकांक्षी ।।
ईसवी पूर्व छठी शती में फूट[२] डाल कर ।
संघ में, उसे मिटाया उसने आक्रमण कर ।।

(१२)

मारे गये लिच्छवि बचे जो शेष भाग कर ।
काटे बुरे दिन उन सब ने प्रच्छन्न रह कर ।।
नेपाल में, पर प्रेम था स्व-पैतृक राज्य से ।
न विरक्त हुए वे उसके उद्धार-कार्य से ।।
सम्बन्ध उनका वैशाली से रहा फलतः ।
करते शासन थे उनमें कई परिणामतः ।।

(१३)

इतिहास उनका सदियों तक रहा तमस-पूर्ण[३] ।
राजनीति-रंगमंच पर प्रकटे पुनः तूर्ण ।।
ईसवी एक सौ ग्यारह[४] में इस कुल को हम ।
पाते हैं नेपाल-गद्दी पर सबल-सक्षम ।।
तैंतीस पीढ़ियों तक राज इस कुल ने किया ।
सुख-शान्ति सदा शुचि शासन से प्रजा को दिया ।।

(१४)

खुदाइयाँ टी० ब्लौक[५] स्पूनर[६] की वैशाली की ।
चिर इतिहास है बताती पुर श्रीशाली की ।।

---

१. हर्यंक वंशीय बिम्बसार का पुत्र अजातशत्रु, जिसका अन्य नाम कुणिक था, मगध का सम्राट् था । वह वैशाली के गण-राजा चेतक की पुत्री चेल्लना देवी का पुत्र था ।

२. वैशाली गणतन्त्र पर सीधे विजय प्राप्त करना कठिन समझकर मगध-सम्राट् ने अपने मन्त्री ब्राह्मण वस्साकार (वर्षकार) को वहाँ छल से भेजा । उसने वैशाली में फूट और द्रोह का बीज वपन किया । अपनी योजना में सफलता प्राप्त कर अजातशत्रु ने वैशाली पर चढ़ाई की, और लिच्छवियों का नाश किया ।

३. अन्धकारमय ।

४. १११ ई० ।

५. भारतीय पुरातत्व विभाग के तत्वावधान में श्री टी० ब्लौक साहब ने १९०३-४ ई० में बसाढ़ ग्राम में राजा विशाल के गढ़ नामक टीले की खुदाई करवायी थी ।

६. उसी ढूह की श्री स्पूनर साहब ने १९१३-१४ ई० में खुदाई करवायी । ई० पूर्व तीसरी शताब्दी से लेकर चौथी शताब्दी ईसवी तक की ऐतिहासिक सामग्रियाँ उस उत्खनन से प्राप्त हुई थीं ।

मिली थी मोहरें[1] वहाँ अनेक मृत्तिका की ।
जो देती हैं सूची राज-कुल-मालिका की ॥
पाते हैं सत्ता मौर्य[2], शुंग[3] कण्वायन[4] की ।
कल्पना होती है पुनः कुशान-शासन की ॥

(१५)

आन्ध्र शातवाहन नृप कहते कई विद्वान् ।
कलिंगेश्वर खारवेल भी विजेता महान् ॥
ने क्रमशः कर लिया था मिथिला पर अधिकार ।
शासन शकों का बताता है शकाब्द का प्रचार ॥
किन्तु पड़ा है इतिहास असल में तिरहुत का ।
तम में ईसा पूर्व शती तथा पश्चात्[5] का ॥

(१६)

वीर नृपति कनिष्क विदेशी वंश कुशान का ।
हुआ था सूत्रधार मगध-मिथिला-शासन का ॥
लिया उसने मगध से न कवि अश्वघोष मात्र ।
पाया वैशाली से भी बुद्ध-भिक्षा पात्र ॥
मिले हैं सिक्के अनेक उस नृपति कनिष्क के ।
और भी पश्चाद्वर्त्ती अवनिपति हुविष्क के ॥

(१७)

कुशान-भाग्य-अवसान तथा गुप्तोदय[6] बीच ।
देश में दो रहे थे साम्राज्य-अंकुर सींच ॥
भारशिव नाग क्षत्रिय तथा ब्राह्मण वकाटक ।
वैशाली में पनपे पुनः लिच्छवि अचानक ॥
वह राज्य हुआ शक्तिशाली यशस्वी महान।
अति बढ़ गया चतुर्दिक् उस काल उसका मान ॥

---

१. बसाढ़ की खुदाई से प्राप्त मिट्टी की मोहरें ।
२. मौर्य राजवंश का संस्थापक चन्द्रगुप्त क्षत्रिय था ।
३. शुंग-कुल का संस्थापक पुष्यमित्र ब्राह्मण था ।
४. कण्व वंश का संस्थापक आमात्य वसुदेव था, जिसने शुंग वंशीय राजा देवभूति की हत्या करा कर ईसा पूर्व ७५ वर्ष में मगध के सिंहासन को अधिकृत किया ।
५. ईसा पूर्व प्रथम शती तथा प्रथम शताब्दी का तिरहुत का इतिहास तमसावृत्त है ।
६. कुशानों के प्रताप-सूर्य के अस्त तथा गुप्त-राजवंश के बीच की अवधि में ।

(१८)

चन्द्रगुप्त प्रथम का चौथी शती में विवाह ।
लिच्छवि कुमारी[१] के साथ हुआ था सोत्साह ।।
समुद्रगुप्त[२] ने माना था अपने को धन्य ।
हो लिच्छवि-दुहिता-सुत कुल गरिमा में अनन्य ।।
यह देता है आभास कि तिरहुत स्वतन्त्र था ।
उस जनपद में उस काल राज लोक-तन्त्र था ।।

(१९)

पर अदृश्य[३] हुआ पाँचवीं शती के पश्चात् ।
भारत से वह खाकर राजतन्त्र-पदाघात ।।
द्वितीय चन्द्रगुप्त[४] का है उल्लेख कृत्य का ।
विरुद विमल उसको मिला विक्रम-आदित्य का ।।
वह अधीश्वर ओजस्वी था विशाल देश का ।
सम्राट् भी प्रतापी था मिथिला प्रदेश का ।।

(२०)

मोहरें[५] मिलीं बसाढ़ में घटोत्कच गुप्त की ।
ध्रुवस्वामिनी की भी जो प्रिया चन्द्रगुप्त की ।।
थीं, कहती हैं था मिथिला पर गुप्त-अधिकार ।
देश के अधिकांश पर साम्राज्य का विस्तार ।।
गुप्त चन्द्र, कुमार, पुरु, तथा स्कन्द भूपों[६] ने ।
शत्रु-आक्रमणों[७] से न दिया राज्य-जड़ हिलने ।।

---

१. लिच्छवि-कुमारी कुमार देवी के साथ गुप्त-कुल के राजा चन्द्रगुप्त प्रथम का विवाह हुआ था । यह कुमार देवी सम्राट् समुद्रगुप्त की माता थी ।

२. समुद्रगुप्त के प्रयाग के प्रस्तर-स्तम्भ पर के उत्कीर्ण अभिलेख में उसने अपने को 'लिच्छवि-दौहित्र' विरुद से विभूषित किया है ।

३. पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् वैशाली के गणतन्त्र का भारतीय राजनीति से लोप होना ।

४. चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) तथा उसके पिता समुद्रगुप्त के राजतान्त्रिक शासन की विजय-पताका सुदूर देशों तक फहरा चुकी थी ।

५. बसाढ़ के उत्खनन से प्राप्त मोहर संख्या-१ में 'श्री घटोत्कच गुप्तस्य' तथा संख्या-२ में 'महाराजाधिराज श्री चन्द्र गुप्त-पत्नी महादेवी श्री ध्रुवस्वामिनी' अंकित था ।

६. गुप्त-कुल के नृपति - (१) चन्द्रगुप्त, (२) कुमारगुप्त, (३) पुरुगुप्त, तथा (४) स्कन्दगुप्त ।

७. विदेशी शकों एवं हूणों के आक्रमणों से ।

(२१)

असि गुप्तों की थी तीक्ष्ण नृपति बुद्ध गुप्त तक ।
भोंथी हुई, ठंढा पड़ा कुल[१]-प्रताप-पावक ॥

उस कुल के कई भूपति करते रहे शासन ।
पीछे भी, पर न स्थिर था उनका वहाँ आसन ॥

असल में एक शती का इतिहास मिथिला का ।
न ठीक से है ज्ञात हम को तमस-वेला का ॥

(२२)

ईसवी पाँच सौ तीस[२]-पूर्व गुप्त-काल में ।
नृपति यशोधर्मन् राजनीति-अन्तराल में ॥

चमक उठा चपला जैसा देश में अचानक ।
राज-वैभव बढ़ा वेग से उसका भयानक ॥

प्रशस्ति-स्तम्भ[३] मन्दसोर-मालवा का उस का ।
है बताता भूप-विजय, कुल औलिकर[४] नृप का ॥

(२३)

आसमुद्र हिमाचल तक का शासन नृपति[५] का ।
बताता है मिथिला पर अधिकार भूपति का ॥

पश्चाद्वर्ती गुप्त कुल[६] के नृप जीवित गुप्त ।
तथा उसके वंशज कुमार-दामोदर गुप्त ॥

---

१. बुद्धगुप्त के पश्चात् गुप्त राजवंश की शक्ति शनैः-शनैः क्षीण होने लगी ।
२. गुप्त-युग में ही लगभग ५३० ई० के पूर्व ।
३. मालवा के मन्दसोर से प्राप्त दो प्रस्तर-स्तम्भों पर उत्कीर्ण प्रशस्ति-लेख से यशोधर्मन् नामक नृपति विशेष के विजय-अभियान का पता चलता है ।
४. चौथी शताब्दी में मालवा में औलिकर-वंश का राज्य था, जो पूर्व में स्वतन्त्र था, किन्तु पीछे गुप्त-साम्राज्य की अधीनता उसे स्वीकार करनी पड़ी । यशोधर्मन् सम्भवतः उसी राजकुल का था (आर० सी० मजूमदार : एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० २५५) ।
५. यशोधर्मन् का ।
६. परवर्ती गुप्त राजकुल के भूपति जीवितगुप्त, कुमारगुप्त तथा दामोदरगुप्त के शासनकाल में उनका मौखरी नृपति गण ईसान वर्मन् और सर वर्मन् के साथ संघर्ष चलता रहा । यह युद्ध मगध और कन्नौज राज्यों के बीच था। अन्ततोगत्वा महासेन गुप्त आदि को बिहार प्रदेश से हाथ धोना पड़ा, और उस राज्य पर कन्नौज के उदीयमान मौखरियों का अधिकार हो गया ।

का मिलता है शासन हमें पुनः तिरहुत पर ।
मौखिरियों ने पर लिया उसे शीघ्र विजय कर ।।

(२४)

मालवेन्द्र देव गुप्त[१] ने गौड़ेश[२] के साथ ।
चढ़ निहित किया संगर में मौखरी-कुल-नाथ[३] ।।

ग्रह-वर्मन् मृत नृपति का राज्य-वर्द्धन साला ।
ने समर कर देवगुप्त को भी मार डाला ।।

परन्तु गौड़पति शशांक ने छल से बुला कर।
वध[४] किया उसका भी स्कंधावार में लाकर ।।

(२५)

कुछ काल रहा मिथिला पर शशांक का शासन ।
किन्तु शीघ्र किया हर्ष[५] ने उस[६] का निष्कासन ।।

वह विक्रमी था अनुज भूप राज्यवर्द्धन का ।
प्रतिशोध लिया उससे उसने भ्रातृ-हनन का ।।

मौखरी और वर्द्धन कुल का राज्य[७] मिल गया।
भूपति हुआ हर्षवर्द्धन, शासन हुआ नया ।।

---

१. मगध से बहिष्कृत होकर गुप्त-कुल-नृपति के वंशज ने मालवा में शरण ली, और वहाँ अपने लिए एक राज्य की स्थापना की । उसी कुल के राजा देवगुप्त ।

२. गौड़ (बंगाल) का राजा शशांक ।

३. उन दिनों कन्नौज में मौखरी कुल का राजा ग्रहवर्मन् राज करता था । उस ग्रहवर्मन् का विवाह थानेश्वर-भूप प्रभाकर वर्द्धन की पुत्री राज्यश्री के साथ हुआ था । अतः प्रभाकर-वर्द्धन का पुत्र राज्यवर्द्धन ग्रहवर्मन् का साला था । देव गुप्त ने शशांक की सहायता से उस ग्रहवर्मन् को मार डाला था ।

४. बाणभट्ट के 'हर्षचरित' से पता चलता है कि विजेता राज्यवर्द्धन को बंगाल के राजा शशांक ने अपनी पुत्री के साथ विवाह करने के बहाने आमन्त्रित कर अपने शिविर में छल से उसकी हत्या कर दी ।

५. प्रभाकरवर्द्धन का द्वितीय पुत्र हर्षवर्द्धन, जो राज्यवर्द्धन का अनुज था ।

६. बंगाल के राजा शशांक ।

७. मौखरियों का कान्यकुब्ज-राज्य, जिसकी राजधानी महोदयश्री में थी, तथा वर्द्धनों का थानेश्वर-राज्य, जिसकी राजधानी श्रीकण्ठ में थी।

(२६)

विरुद उत्तरापथ-नाथ का उसको था मिला ।
विजयों के द्वारा उसने लिया राज्य मिथिला ॥
हुएन्-त्सांग के है लेख में कि पंच भारत ।
के भूपतियों को जीत कर किया उसने नत ॥
सारस्वत[1], कान्यकुब्ज[2], गौड़[3], उड़ीसा[4], तिरहुत[5]
पर राज था नृप का पुष्यभूति-कुल-उद्भूत ॥

(२७)

छः सौ छः से सैतालिस[6] तक शासन करता ।
रहा भूपति हर्षवर्द्धन प्रजा-दुःख हरता ॥
किन्तु शीघ्र उस नरपति की मृत्यु के पश्चात् ।
बह चला साम्राज्य में उत्पात-झंझावात ॥
स्वतन्त्र किया आसाम[7] को भास्कर वर्मन् ने ।
और मगध लिया उसी क्षण आदित्य सेन ने ॥

(२८)

हर्ष वर्द्धन का मन्त्री मिथिला का अरुणांश्व ।
ने आधिपत्य किया स्थापित कान्यकुब्ज पर स्व ॥
चीन-लेख है बताता कि उस नव नरेश ने ।
लूटा चीनी चरों को और चला मारने ॥
था दूत-मंडल-नेता वीर वै-हुएन्-से ।
पहुँचा तिब्बत क्रोध में, भागा था वहाँ से ॥

---

१. सारस्वत मंडल– कश्मीर और पंजाब ।
२. पूरा उत्तर प्रदेश, दक्षिण में विन्ध्य पर्वत तथा बिहार का अधिकांश ।
३. बंगाल का एक भाग जिसकी राजधानी कर्ण सुवर्ण में थी । मुर्शिदाबाद से १२ मील दक्षिण स्थित रंगमती नामक स्थान कर्ण सुवर्ण का स्थानापन्न है (आर० सी० मजूमदार : एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ५४९) । पर डॉ० राजबली पांडेय के 'प्राचीन भारत', पृ० २७१ के अनुसार दिल्ली के आस-पास के प्रदेश को गौड़ मंडल कहा जाता है ।
४. उड़ीसा का प्राचीन नाम उत्कल है । इसमें छोटा नागपुर के दक्षिणी भाग तथा उड़ीसा का उत्तरी भाग है ।
५. पूर्वोत्तर बिहार । प्राचीन मिथिला में इसके अतिरिक्त और भी भू-भाग थे ।
६. ६०६ ई० से ६४७ ई० तक ।
७. प्राचीन कामरूप ।

(२९)

ले संग सेना[१] तिब्बती तथा नेपाल से ।
वह आया करने समर शीघ्र उस नृपाल से ।।
कहते हैं कि अर्जुन को रण में पराभव कर ।
ले गया स्वदेश चीन वह अति शीघ्र कैद कर ।।
यदि सत्य है यह कथा तो अवश्य मिथिला पर ।
करने में शासन तिब्बत हुआ था कारगर ।।

(३०)

कन्नौज पर यदि हुआ अरुणाश्व का अधिकार ।
विदेशी क्षुद्र सेना से हुई उसकी हार ।।
तो अपरिमेय हर्ष सेना[२] तथा माण्डि[३] वीर ।
सेनाध्यक्ष क्या करता था बैठा रणधीर ? ।।
जीत कर कन्नौज को न किया उसे स्वायत्त ।
तिब्बतियों ने, जो वहाँ थे जय-हर्षोन्मत्त ।।

(३१)

अकारण नृप ने चरों पर आक्रमण क्यों किया ? ।
अरि ने भी आ मिथिला में ही समर क्यों किया ? ।।
एक प्रान्त को ही केवल पामाल क्यों किया ? ।
अहिंसक बौद्ध हो कर कत्ले आम क्यों किया ? ।।
जीत राट[४] को भी राष्ट्र न स्वायत्त क्यों किया ? ।
केवल मिथिला आधिपत्य स्वीकार क्यों किया ?।।

(३२)

उठते हैं ये प्रश्न अन्वेषकों के मन में ।
हल करना है उन्हें उनके समाधान में ।।

---

१. वां-हुएन्-से को तिब्बत से १२०० चुने हुए वीर सैनिक तथा नेपाल से ७००० अश्वारोही मिले । तिब्बत का राजा चीन के सम्राट तथा नेपाल के नृपति का सम्भवतः जामाता था ।

२. हर्ष-वर्द्धन की विशाल सेना में ६००० गज-दल, १,००,००० हयदल तथा इसके अतिरिक्त पदातियों की संख्या थी (आर० सी० मजूमदार : एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० २६४) । यह हुएन्-त्सांग के लेख पर आधारित है । पदातियों की संख्या उपर्युक्त के अनुपात में ५,००,००० से कम न रही होगी ।

३. हर्षवर्द्धन का वीर सेनाध्यक्ष माण्डि ।

४. यदि अरुणाश्व का आधिपत्य कन्नौज-राज्य पर होना स्वीकार कर लिया जाय तो उस समय वह अवश्य समस्त उत्तरापथ का अधिराट हो गया होगा । पर बात ऐसी न थी ।

अरुणाश्व था सम्भवतः सामन्त अवनि-पाल ।
वा शासक मन्त्री हर्ष का मैथिल भूपाल ।।
पर राट-मृत्यु-पश्चात् वह हो गया स्वतन्त्र ।
क्योंकि ढीला पड़ चुका था राज्य-शासन-यन्त्र ।।

(३३)

संभव नहीं कि किया होगा अधिकार उसने[1] ।
कन्नौज के सिंहासन पर राट के अपने ।।
अवनिपति वह था ब्राह्मण, बौद्ध धर्म-विरोधी ।
अपमान उसने किया होगा चर का क्रोधी ।।
अतः नायक ने लिया होगा उससे बदला ।
तथा मिथिला में जा उसको होगा दलमला ।।

(३४)

यह तथ्य है कि कभी कन्नौज अर्जुन द्वारा ।
न अधीन हुआ बलात् और न रिपु से हारा ।।
उपरोक्त वह तिब्बतीय विजय[2] न राष्ट्रीय थी ।
चीनी चरों की अपमान-कथा स्थानीय थी ।।
न पुष्टि इसका करता है देश का साहित्य ।
कोई, अतः है निश्चय आधारहीन कृत्य ।।

(३५)

कीकट-पति आदित्य सेन[3] था नृप सार्वभौम ।
सकल मगध और मिथिला की थी स्वतन्त्र कौम ।।

---

१. अरुणाश्व ने ।

२. यदि चीनियों की सहायता में तिब्बतियों ने समर कर भारत के किसी अंश में किसी सामन्त राजा के राज्य पर अधिकार कुछ काल के लिए किया तो वह विजय कन्नौज राष्ट्र पर की विजय कदापि नहीं कही जा सकती है । वह युद्ध चीनी लेख के अनुसार तिरहुत में हुआ था, जहाँ का राजा अरुणाश्व ब्राह्मण था ।

३. हर्षवर्द्धन की मृत्यु के केवल कई वर्ष पश्चात् ६७२ ई० में उसके मित्र गुप्त वंशीय सामन्त राजा माधव सेन (वा गुप्त) के पुत्र आदित्य सेन को प्रभावशाली सम्राट के रूप में हम उत्तर भारत में राज करते पाते हैं । उसके शाहपुर (६७२ ई०) के तथा गया और भागलपुर जिलों में प्राप्त क्रमशः अफसाद देव वरणाक एवं मन्दार के उत्कीर्ण अभिलेखों से यह प्रमाणित होता है ।

शाहपुर, देव वरनक, मन्दार के अभिलेख ।
करते हैं नृपति-राज्य-विस्तार का उल्लेख ।।
था गुप्त-कुल-चूड़ामणि नृप समादृत समाज ।
शासक 'परम भट्टारक' 'महाराजाधिराज' ।।

(३६)

तृतीय देव गुप्त तथा विष्णुगुप्त अवनि-पति ।
द्वितीय जीवित गुप्त तक थे चक्रवर्ती नृपति ।।
पश्चिमी चालुक्यों ने किया इसे स्वीकार[१] ।
कि सप्तम शती में वहाँ था उनका अधिकार ।।
उत्तरापथनाथ वे थे किन्तु यशोवर्मन[२] ।
ने छीना उनसे राज्य कर उनका रण-दमन ।।

(३७)

ललितादित्य मुक्तापीड़[३] कश्मीरी नृपाल ।
ने पराजित कर पूर्ण यशोवर्मन् भूपाल ।।
को अधिकृत किया समिथिला सारा नृप-राज्य ।
बढ़ाया उत्तर भारत में अपना साम्राज्य ।।
बंगाल और बिहार पर चढ़ा था श्रीहर्ष[४] ।
कामरूप-भूपति, ने किया जनपद-अपकर्ष ।।

---

१. पश्चिमी चालुक्य-भूप विनयादित्य (विक्रमादित्य के पुत्र), जिसका ज्ञातकाल ६८१-६९६ ई० है, ने गुप्तों को 'उत्तरापथनाथ' स्वीकार किया था (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी १०-११० एफ एफ) ।

२. यशोवर्मन् ने ८ वीं शती के आरम्भ में जीवित गुप्त द्वितीय को पराजित कर कन्नौज के सिंहासन पर अधिकार किया और अपने विशाल साम्राज्य में मिथिला को भी सम्मिलित कर लिया ।

३. ललितादित्य मुक्तापीड़ कर्कोटक वंशीय कश्मीर-भूप प्रतापादित्य द्वितीय का पुत्र था, जिसका प्राप्त काल ७२५ ई० (तथा उसके पश्चात् भी) है। उसने ७४० ई० के लगभग कन्नौज के राजा यशोवर्मन् को पराजित कर उसके साम्राज्य पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया । पहले दोनों में मित्रता थी, पर साम्राज्य-विस्तार की होड़ में वे एक दूसरे के शत्रु बन गये ।

४. श्री हर्ष कामरूप का शक्तिशाली भूप था, जिसकी पुत्री का विवाह नेपाल के लिच्छवि-नरेश शिवदेव के पुत्र जयदेव द्वितीय के साथ हुआ था । नेपाल के पशुपति-अभिलेख से पता चलता है कि उसने बिहार पर आक्रमण किया था । जयदेव ने वह अभिलेख ७४८ ई० में उत्कीर्ण करवाया था ।

(३८)

है उत्कीर्ण लेख पशुपति का साक्षी इसका ।
आक्रमण विकट कश्मीर-नृपति जयापीड़[1] का ॥
हुआ, पीछे जीता उसने पंच गौड़ देश ।
है होता जिसमें मिथिला का भी समावेश ॥
बौद्ध लामा तारानाथ ने लिखा इतिहास ।
भारत का जिसमें हमें मिलता है आभास ॥

(३९)

सिंह चन्द्र-सुत बाल चन्द्र हर्षवर्द्धन-काल ।
शत्रु से निष्कासित[2] उसने छोड़ा बंगाल ॥
आ राज्य अपना स्थापित किया तीरभुक्ति में ।
उसका तनय विमल चन्द्र बढ़ा प्रचुर शक्ति में ॥
आधिपत्य उसका हुआ गौड़-कामरूप पर ।
किन्तु सुत उसका गोविन्दचन्द्र था साधु नर ॥

(४०)

तनय उसका ललितचन्द्र था त्यागी नरपाल ।
पिता के अनुरूप ही था वह भी भूमि-पाल ॥
प्रव्रज्या ली दोनों ही ने सिद्धि प्राप्त की ।
स्वीकार कर ली राह उनने त्याग-प्राप्ति की ॥
जनपद हुआ नायक-हीन, फैला मत्स्य-न्याय ।
आयी अराजकता और बढ़ गया अन्याय ॥

(४१)

जनता ने की क्रान्ति, अत्याचार से ऊबी ।
हो एक चुना नायक[3], यह थी उनमें खूबी ॥

---

१. जयापीड़ विनयादित्य ललितादित्य की ५वीं पीढ़ी में हुआ था । उसने कन्नौज-भूप वज्रायुध अथवा इन्द्रायुध को पराजित कर पंचगौड़ पर अधिकार किया था ।

२. सम्भवतः बालचन्द्र को लिच्छवि-कुल के प्रतापी राजा पंचम सिंह, जिसका साम्राज्य तिब्बत से त्रिलिंग एवं काशी तथा समुद्र तक विस्तृत था, ने बंगाल से निष्कासित कर दिया था। इसका वर्णन लामा तारानाथ के इतिहास में प्राप्त है ।

३. अनुमानतः ८वीं शती के मध्य में बंगाल की प्रजा ने अराजकता से ऊबकर गोपाल नामक एक योग्य व्यक्ति को सर्व-सम्मति से अपना शासक नियुक्त किया । गोपाल की मृत्यु ७७० और ७८० ई० के बीच हुई ।

गोपाल बना अगुआ, सिंहासन पर बैठा ।
नृप दुष्ट-दल-दमन कर प्रजा-हृदय में पैठा ।।
हुआ तिरहुत और बंगाल राज्य पर उसका ।
अधिकार, बना जनपद शीघ्र आगार सुख का ।।

(४२)

गोपाल-तनय था धर्मपाल[१] वीर विजेता ।
पिता ही जैसा विक्रमी और राष्ट्र-नेता ।।
बैठ गौड़-गद्दी पर वह पिता के पश्चात् ।
बना जीत अनेक राज्यों को इन्द्र[२] साक्षात् ।।
हुआ समर उसका राष्ट्रकूट-प्रतिहार[३] साथ ।
हो विफल भी वह बना रहा मिथिला का नाथ ।।

(४३)

अनुरूप वीर तनय उसका शूर देवपाल[४] ।
निज पिता के समान ही था विजयी भूपाल ।।
रखा मिथिला पर स्थिर उसने अपना अधिकार ।
जीता मिहिर भोज को भूप गुर्जर प्रतिहार ।।
पर पश्चाद्वर्त्ती नृप विग्रहपाल, सुरपाल ।
निज वंशगत साम्राज्य को न सका था संभाल ।।

(४४)

पर मिथिला पर तब भी था पालों का शासन ।
न कर सका था कोई उस कुल का निष्कासन ।।
सपूत विग्रहपाल का था नारायण पाल ।
राज्य में निर्माण किये उसने मन्दिर-जाल ।।
दिये थे दान उसने मिथिला में कई ग्राम ।
नाम उनमें से था एक का मुकुतिका ग्राम ।।

---

१. गोपाल के पुत्र धर्मपाल ने लगभग ७८० से ८१५ ई० तक राज किया । खलिमपुर से प्राप्त ताम्रपत्र-अभिलेख से उसकी विजयों पर विशेष प्रकाश पड़ता है । लामा तारानाथ के लेख से पता चलता है कि उसके विजित प्रदेशों में 'तिरपुते' (तिरहुत) भी था ।

२. धर्मपाल ने इन्द्रायुध को हराकर कन्नौज-साम्राज्य को अधिकृत किया । उसनें भोजों, कुरुओं, मत्स्यों, यदुओं, यवनों आदि को भी अपने अधीन बनाया ।

३. राष्ट्रकूट-नृप ध्रुव तथा गुर्जर प्रतिहार-भूप वत्सराज से उसे रण में पृथक्-पृथक् पराजित होना पड़ा ।

४. धर्मपाल का पुत्र देवपाल (८१५-८५५ ई०) अपने पिता से भी बढ़कर महत्त्वाकांक्षी एवं रण-उद्भट योद्धा था। गुर्जर-प्रतिहार-नृपति मिहिरभोज को उसने पराजित किया ।

(४५)

प्रतिहार भोज तथा उसका सुत महेन्द्रपाल ।
ने जीत लिया मिथिला एवं उत्तर बंगाल ।।
खोया नारायणपाल ने तिरहुत का एक ।
बड़ा भाग और रख न सका कुल की वह टेक ।।
पर गुर्जरों की बाढ़ को जो थे अदमनीय ।
निज शौर्य से अवरुद्ध किया नृप इन्द्र तृतीय[१] ।।

(४६)

नृपति नारायण पाल का उत्तराधिकारी ।
था राज्यपाल पाल-कुल राज-सत्ता-धारी ।।
देता है वह उत्कीर्ण लेख[२] बोध गया का ।
यह साक्ष्य कि मुद्गिरि पर था अधिकार पाल का ।।
पर लेख खजुराहो[३] से है मिलता आभास ।
मिथिला बनी चन्देल यशोवर्मन् का ग्रास ।।

(४७)

भूप हर्ष का वह तनय था विजेता महान् ।
जीत मिथिला बढ़ाया उसने स्वकुल का मान ।।
उसके तनय नृप धंग[४] का भी विजय-अभियान ।
करता है आकर्षित हर पाठकों का ध्यान ।।

---

१. गुर्जर प्रतिहार-भूपतियों ने पालों से तिरहुत का एक बड़ा भाग ले लिया, पर शीघ्र राष्ट्र-कूट-राज इन्द्र तृतीय ने प्रतिहारों का पराभव किया (एपिग्राफिका इण्डिका ७-२६ एफ० एफ०) ।

२. राष्ट्रकूटों के बोधगया वाले प्रस्तर-अभिलेख से यह स्पष्ट होता है कि उस काल पाल-नृपालों का शासन मुंगेर, संथाल परगना, भागलपुर तथा पटना जिलों पर था । इससे अनुमान किया जाता है कि पूरा मिथिला अथवा उसका कुछ अंश पालों के आधिपत्य से निकल चुका था । नारायण पाल के शासन के २७वें वर्ष के बाद मिथिला के अंश पर प्रतिहारों का अधिकार हुआ, पर वह चिरकाल तक न रह सका (जरनल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री-३२, १३४) ।

३. खजुराहो के ९५३-५४ ई० के अभिलेख से ज्ञात होता है कि चन्देल-राज हर्ष के पुत्र यशोवर्मन् कई अन्य नरेशों को जीतता हुआ मैथिलों को भी जीता (एपिग्राफिका इण्डिका-१२३) ।

४. चन्देल यशोवर्मन् का पुत्र राजा धंग ।

राज्यपाल, गोपाल तथा विग्रहपाल-काल ।
चन्देलों[१] ने कर दिया पालों को बहाल।।

(४८)

परन्तु महीपाल प्रथम भूपाल-राज-काल ।
बिहार-राजनीति में था अग्रसर कुल-पाल ।।

किया था प्राप्त पुनः उसने पैतृक साम्राज्य ।
पश्चाद्वर्ती पालों ने गँवाया पर राज्य ।।

है सारा उस काल का इतिहास तिरहुत का ।
आक्रामकों के हमले तथा रक्तपात का ।।

(४९)

हर्षोत्तर मिथिला में था फैला मत्स्य-न्याय ।
न देश के भूपतियों में था प्रेम-समवाय ।।

था राष्ट्र नायक-हीन वह थी आपदा-घड़ी ।
नृपति तिब्बती, पश्चाद्वर्त्ती गुप्त, मौखरी ।।

पाल-कुल, प्रतिहार, राष्ट्रकूट और चन्देल ।
सब परस्पर लड़ रहे थे, न था उनमें मेल ।।

(५०)

लूट खसोट मची थी, हुआ जनपद वीरान ।
सदियों की परतन्त्रता ने कर दी बेजान ।।

अन्त में चन्देलों की भी शक्ति हुई क्षीण ।
डाहल के कलचुरियों[२] ने तिरहुत लिया छीन ।।

हस्त-लिखित रामायण-प्रति प्राप्त नेपाल से ।
गांगेय शासन[३] सिद्ध करती है प्रमाण से ।।

---

१. पाल-कुल के राज्यपाल, गोपाल द्वितीय तथा विग्रह पाल द्वितीय के शासनकाल में चन्देलों ने आक्रमण कर उत्तर भारत की राजनीति में उथल-पुथल उत्पन्न कर नष्टप्राय कर दिया था।

२. जेजाक भुक्ति के चन्देलों के पश्चात् डाहल के कलचुरियों अथवा चेदियों ने मिथिला पर शासन किया (कनिंगहम का आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग २१, पृ० ११३)।

३. विक्रम सम्वत् १०७६ (१०१९ ई०) मे नेपाल के एक कायस्थ पंडित द्वारा लिखित रामायण की पांडुलिपि से पता चलता है कि तीरभुक्ति का राजा उस काल सोम वंशोद्भव गांगेय देव था।

(५१)

पर मतभेद है उसमें कि चेदि था गांगेय ।
राय है कुछ की कि उसके जन्म का था श्रेय ।।
अन्य कुल को, तर्क पर वह है नहीं स्वीकार ।
अधिक विद्वद्वरों को, है अतः वह निःसार ।।
कर विजित गांगेय ने मगध-पति महिपाल को ।
था किया स्वायत्त नृप-राज्य के कुछ भाग को ।।

(५२)

संभव है अतः उसका शासन वहाँ होना ।
किन्तु उसको पड़ा पुनः राज्य मिथिला खोना ।।
कभी दस सौ उन्नीस तथा छब्बीस[1] के बीच ।
महिपाल ने अधिकार किया, कर के रण नीच[2] ।।
उसे, मिथिला और काशी धरणी पर तब से ।
तपने लगा पाल-शौर्य-सूर्य फिर से बल से ।।

(५३)

है बताता लेख सारनाथ[3] रण चेदि-पाल ।
धार्मिक भवनों का जीर्णोद्धार भी उस काल ।।
ईमादपुर[4] से प्राप्त उत्कीर्ण विग्रह-लेख ।
में मिथिला में पाल-सत्ता का है उल्लेख ।।
किन्तु भूप महीपाल की मृत्यु के पश्चात् ।
चेदि-नृप ने पुनः किया पालों पर आघात ।।

---

१. ईसाब्द १०१९ और १०२६ के बीच गांगेय देव कलचुरि (चेदि) से पाल-भूप महीपाल ने वाराणसी और तीरभुक्ति विजय कर ली थी (इण्डियन एण्टीक्वेरी, सारनाथ-उत्कीर्ण अभिलेख-भाग-१४, पृ० १३९-४०) ।

२. रण-नत कर ।

३. सारनाथ का उत्कीर्ण अभिलेख । इसमें कलचुरि-राज गांगेय देव के साथ पाल-नृपाल महीपाल के युद्ध का उल्लेख है (इण्डियन एटीक्वेरी, १४, पृ० ३९-४०) ।

४. मुजफ्फरपुर जिला के इमादपुर से प्राप्त दो मूर्ति-अभिलेखों से पता चलता है कि महीपाल ने उत्तर बिहार का, विशेषतया तिरहुत का शत्रु से पुनः उद्धार कर लिया । महीपाल के शासन के ४८ वें वर्ष में वह अभिलेख उत्कीर्ण किया गया था ।

(५४)

दश सौ बिआलिस[१] का कर्ण-काशी-अभिलेख ।
चेदि-सत्व का वहाँ पर है करता उल्लेख ।।
अतः पूर्व दश सौ तेतीस[२] के उस काल में ।
ह्रास पौरुष का हुआ था मिथिलेश-पाल में ।।
बंगाल में थी चमकी चपल चोल[३] तलवार ।
किन्तु हो न सकी मिथिला कभी उसका शिकार ।।

(५५)

चढ़ गया था गांगेय-सुत[४] वहाँ बार-बार ।
किन्तु विग्रह पाल[५] तृतीय से गया वह हार ।।
करायी अतिस आचार्य ने सन्धि उभय-बीच ।
वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा प्रेम-वारि-सींच ।।
अभिलेख नौलागढ़[६] से कुछ काल पूर्व प्राप्त ।
बताता है मिथिला में था पाल-राज्य व्याप्त ।।

(५६)

इससे होता है सिद्ध कि कलचुरि चढ़ते थे ।
बार-बार बंगाल पर खा चोट हटते थे ।।
आक्रमणों के कारण वहाँ शासन था न थिर ।
शासक थे बेचैन नित आपत्तियों से घिर ।।

---

१. कलचुरि-नृप लक्ष्मीकर्ण (१०४१-१०७२ ई०) के १०४२ ई० के काशी-अभिलेख से ज्ञात होता है कि महीपाल के पुत्र नयपाल के काल में उन प्रदेशों पर पुनः कलचुरियों का अधिकार हो गया ।

२. १०३३ ई० में मिथिला का पाल राजा नयपाल था ।

३. दक्षिण के चोल राजा राजेन्द्र चोल ने बंगाल पर चढ़ाई की थी ।

४. लक्ष्मी कर्ण ।

५. मिथिला के पाल-वंश के राजा विग्रह पाल से लक्ष्मीकर्ण हार गया । पर आचार्य अतिस ने दोनों राजकुलों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करवा कर दोनों में सन्धि करवायी थी ।

६. मुंगेर जिले के बेगूसराय (जो अब जिला बन चुका है) नगर से १६ मील उत्तर नौलागढ़ है । वहाँ से दो अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिससे पता चलता है कि वहाँ पालों का शासन था । विग्रह पाल के बनगाँव के ताम्रपत्र-अभिलेख से भी इसका अनुमोदन होता है ।

ले परिस्थिति से लाभ आक्रामक मुसलमान ।
थे घूरते भारत को ले म्यान से कृपाण ।।

(५७)

बल क्षीण हुआ पालों का नयपाल-काल में ।
पर था बना कुल-शासन तब भी नेपाल में ।।
रामपाल[1] भूपति ने मिथिला तथा आसाम ।
स्वायत्त कर शासन किया और पाया नाम ।।
सोमेश्वर से आक्रान्त भूप परमार भोज ।
और चेदिपति भूपति कर्ण हुए विगत ओज ।।

(५८)

कहते हैं था भोज का कैलाश तक प्रभुत्व ।
मिथिला पर भी अतः था उस नृप का स्वामित्व ।।
कर्णाट के चालुक्य-राज सोमेश्वर प्रथम ।
और उसके सुत षष्ठ विक्रमादित्य सक्षम ।।
के आक्रमणों से क्षीण हुई शक्ति नृपों की ।
थी शोचनीया दशा उत्तरीय भूपों की ।।

(५९)

स्वार्थान्ध हो भूपाल गण संघर्ष लीन थे ।
स्वतन्त्र हो प्रान्तीय शासक शक्ति-हीन थे ।।

---

१. पालों की शक्ति नयपाल के समय में क्षीण होने लगी थी । पर रामपाल पतनोन्मुख पाल-कुल में प्रतापी राजा हुआ । 'कुविजा मातम' की एक प्राप्त हस्तलिपि में उल्लेख है कि नेपाल के बौद्ध सम्राद् रामपाल के काल में वह प्रतिलिपि उतारी गयी । रामपाल ने मिथिला और आसाम को शत्रु के पंजे से उद्धार किया (के० पी० जायसवाल : क्रोनोलॉजी एण्ड हिस्ट्री ऑफ नेपाल, ९९ एफ-एफ) । वैद्य देव का कमौली का ताम्रपत्र भी बताता है कि रामपाल ने जनक के दश (मिथिला) को प्राप्त कर अपनी कीर्त्ति बढ़ायी (एपिग्राफिका इण्डिका, भाग २, पृ० ३५५, श्लोक ४-५) । पर उन श्लोकों में श्लेषार्थ निहित हैं । वहाँ पालवंशीय राजा रामपाल और रामायण के नायक कौशल-किशोर राम, दोनों का ही उस वर्णन से बोध होता है । उसी प्रकार 'जनकभू' का अर्थ राजा जनक की भूमि तथा पिता की भूमि, दोनों ही होगा । रामपाल ने कैवर्त्त-कुल-नृप भीम को परास्त कर अपने पैतृक राज्य का उद्धार किया था ।

समुद्रगुप्त के प्रताप का अभाव वहाँ था ।
शौर्य-शील राट हर्ष[१] सा कोई न रहा था ।।
रही थी फैल अराजकता उत्तरापथ में ।
निर्नेता एक शती तक वह था यथार्थ में ।।

कर्णाट वा सिमराओं राजकुल (१०९७-१३२४ ई०)

नान्य देव (१०९७-११४७ ई०)

(६०)

लेकर लाभ उस स्थिति से कर्णाट विजय सेन ।
और नरेश नान्यदेव ने बढ़ कर स्व-बलेन ।।
स्थापित किया क्रमशः गौड़ एवं मिथिला में ।
कर्णाट कुल का शासन आपत्ति-वेला में ।।
कन्नौज ले चुका था चन्द्रदेव गहडवाल ।
और नरेन्द्र नान्यदेव ने जीता नेपाल ।।

(६१)

पड़ा था उत्तर आपदा के अन्तराल में ।
तीनों[२] कुलों का उदय लगभग एक काल में ।।
हुआ वहाँ, थे लीन तीनों शक्ति-स्थापन में ।
कर विजय पड़ोसी राज्यों को बल-ज्ञापन में ।।
शिथिला बनी थी मिथिला परतन्त्रा अन्य की ।
बलवती हुई कर प्राप्त अब सुशक्ति नान्य की ।।

(६२)

विदेह-राज्य-वज्जिसंघ के विघटन-पश्चात् ।
लगभग चौदह सौ वर्षों तक शत्रु-आघात ।।
सहता रहा था तिरहुत परतन्त्र बना देश ।
था राजनीतिक-सांस्कृतिक विकास का न लेश ।।
पर उद्धार किया उसका, मिटाया अवरेव ।
वीरवर सिमराओं-नृप[३] कर्णाट नान्यदेव ।।

---

१. सम्राट् हर्षवर्द्धन ।
२. उत्तर भारत में अराजकता फैल चुकी थी । उसी काल में बंगाल में कर्णाट विजय सेन, मिथिला में कर्णाट नान्यदेव तथा कान्यकुब्ज में गहड़वाल चन्द्रदेव ने अपने-अपने राजकुलों की स्थापना की थी ।
३. नान्यदेव ने अपनी राजधानी सिमराओं में बनायी थी । अतः उसका राजकुल सिमराओं राजकुल के नाम से पुकारा जाने लगा ।

(६३)

मिथिला में कर्णाट क्षत्रिय कैसे आ लसे ? ।
वे दक्षिण को छोड़ क्यों थे उत्तर में बसे ? ।।
अनेक राय है विद्वानों की इस विषय में ।
जो रखती है पाठकों को घोर संशय में ।।
है तथ्य किन्तु यह कि चालुक्य-विजय काल में ।
वे आये, बसे मिथिला एवं नेपाल में ।।

(६४)

पूर्वज थे नान्यदेव के उन सबों में एक ।
शौर्य का, वीरत्व का न था उनमें व्यतिरेक ।।
मिथिला में सामन्त बन वे बसे सम्भवतः ।
अधिवासी वे वहाँ के कहलाते थे अतः ।।
तलवार जब प्रभु-सत्ता की भोथी पड़ गयी ।
वे स्वतन्त्र होकर समर-रत हो बने विजयी ।।

(६५)

था नान्यदेव प्रथम सार्वभौम मिथिला-भूप ।
कर्णाट कुलज मूर्तिमान् वीरता का रूप ।।
किया बैठकर सिंहासन पर धारण उसने ।
'मिथिलेश्वर' की उपाधि साथ नाम के अपने ।।
'कर्णाट-कुल-भूषण' भी था विरुद भूपति का ।
स्पष्टतया बताता जो है वंश[1] नरपति का ।।

(६६)

राष्ट्रकूट चढ़ते थे उत्तर पर बार-बार ।
चालुक्यों का भी वहाँ हो रहा था प्रहार ।।
कहते हैं कोई कि राष्ट्र-कूट थे कर्णाट ।
बसे थे उत्तर-पूरब में बन कर उसका राट ।।
कहा यह भी है कि था राष्ट्रकूट नान्यदेव ।
भ्राता कीर्तिराज[2] का, यह सत्य है अतएव ।।

---

१. कर्णाट क्षत्रिय-कुल था । चालुक्य क्षत्रिय भी कर्णाट ही थे । 'कर्णाट-कुलभूषण' का विरुद उसके कर्णाट-वंशीय होने का द्योतक है ।

२. इतिहास के विद्वान् रामकृष्ण कवि ने नान्यदेव के विरुद 'सामन्ताधिपति धर्मावलोक श्रीमन्नान्यपति' में 'अवलोक' शब्द देखकर उसे राष्ट्रकूट-नरेश कीर्तिराज का भ्राता बताता है । बोधगया का

(६७)

बोध गया-लेख का वे करते हैं उल्लेख ।
उत्कीर्ण विरुद के साथ 'अवलोक' शब्द देख ।।

किन्तु शोध बताता है कि न तथ्य इसमें है ।
कर्णाट[1] आये राट-साथ सत्य इसमें है ।।

मंत्री से चेदियों की पूर्ण लाभ उठा कर ।
कर्णाटों ने की विजय, बढ़े अवसर पाकर ।।

(६८)

कई लेख विक्रमादित्य पश्चात्-काल के ।
यह स्पष्ट करते हैं कि अधीश्वर नेपाल के ।।

थे दक्षिणी, जीता था सोमेश्वर प्रथम ने ।
पीछे तनय उसके विक्रमादित्य षष्ठ ने ।।

भी दिग्विजय कर हुआ नेपाल का अधिराट ।
विजेता वीर विक्रमी विपक्षियों को काट ।।

(६९)

ग्यारह सौ बासठ का पट्टाडकल-अभिलेख[2] ।
उत्कीर्ण प्रस्तर पर यह है करता उल्लेख ।।

कि नेपाल था करद एवं संरक्षित राज्य ।
नृप सोमेश्वर तृतीय का वहाँ था साम्राज्य ।।

तुंग धर्मावलोक-उत्कीर्ण-अभिलेख कीर्त्तिराज का नाम बताता है । उक्त अभिलेख का दान-दाता कीर्त्तिराज का पत्र तथा नन्नग्रणावलोक, राष्ट्रकूट भूपति का पौत्र था । पर इस विचार के परिपोषक प्रमाण का अभाव है (डा० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २३२) ।

१. विद्वान् सिलभ्यां लेवी का कथन है कि कर्णाट अपने चालुक्य सम्राट् सोमेश्वर प्रथम तथा उसके विक्रमी पुत्र विक्रमादित्य षष्ठ के साथ उत्तर में आये ही प्रामाणिक प्रतीत होता है। विल्हण कवि कृत 'विक्रमांक देवचरितम्' से पता चलता है कि चालुक्य सोमेश्वर प्रथम (१०४०-६९ ई०) ने मालवा के परमारों की राजधानी धारा नगरी पर आक्रमण कर वहाँ के राजा भोज को वहाँ से पलायन करवाया । उसके पुत्र विक्रमादित्य ने गौड़ तथा कामरूप को जीत कर उत्तर भारत में दो बार विजय-अभियान १०८८-८९ तथा १०९८ ई० में किया। क्षेमेश्वर के ग्रन्थ 'चण्डकौशिक' से ज्ञात होता है कि महीपाल ने बंगाल पर आक्रमण करने वाले एक कर्णाट राजा को पराजित किया था।

२. ११६२ ई० का पट्टाडकल का उत्कीर्ण अभिलेख बताता है कि उस काल नेपाल चालुक्य-नृपति सोमेश्वर तृतीय के करद सामन्त राज्यों में से था । वास्तव में चालुक्य-नृप सोमेश्वर प्रथम

कलचुरि विज्जल[१] ने जीता तृतीय तैलप को ।
है लेख कि किया चूर्ण पूर्ण उसके दर्प को ॥

(७०)

करता विजय-उल्लेख है अभिलेख मनगली[२] ।
थी वाहिनी नेपाली पौरुष से दलमली ॥

नृप जैतुगी यादव ने, नायकों को जीता ।
गौरवान्वित हुआ दक्षिण, प्रताप था बीता ॥

उत्तर का, हमें कह रही हैं ये प्रशस्तियाँ ।
कि दक्षिणियों की उधर बस रही थी बस्तियाँ ॥

(७१)

कर्णाट नान्यदेव भी था दक्षिणी नरेश ।
चालुक्य-नृप सामन्त त्यज आया था स्वदेश ॥

अवसर मिला, स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी ।
मिथिला में मिथिलेश बन समृद्धि-श्री भर दी ॥

'कर्णाट-कुल-भूषण' विरुद नृपति का था एक ।
'भारत-नाट्य-शास्त्र' और बताता है अनेक ॥

(७२)

था रचयिता स्वयं नान्य नृपति नाट्य-शास्त्र का ।
है अंकित जिसमें उसके विरुदों अनेक का ॥

'प्रत्यग्रहवाणी-पति' 'महा-सामन्ताधिपति' ।
'कर्णाट-कुल-भूषण' फिर 'धर्माधार-भूपति'॥

और उसके पीछे उसके पुत्र विक्रमादित्य षष्ठ ने तिरहुत-नेपाल-अंचल पर आक्रामक बनकर विजय प्राप्त की थी ।

दक्षिणात्य के कलचुरि-भूप विज्जल
१. सन् १२०० ई० के एक दीवार-लेख से ज्ञात होता है कि
ने दक्षिणी विजेता चालुक्य-भूप सोमेश्वर के वंशज तैलप तृतीय (सोमेश्वर तृतीय के पुत्र)
को पराजित कर उसके अधीन एवं संरक्षित राज्य नेपाल को छिन्न-भिन्न कर दिया था ।

२. सन् ११९१ और १२१० ई० के बीच के उत्कीर्ण 'मनगली-अभिलेख' से पता चलता है कि
दक्षिण के यादव राजा जैतुगी ने नेपाली सेना को पराभूत किया था । उपर्युक्त प्रशस्तियों के
पाठ से ज्ञात होता है कि उस काल दक्षिणियों के चरण शनैः-शनैः उत्तर में सुस्थिर होते जा
रहे थे ।

'राज-नारायण', 'मिथिलेश्वर', 'मोहन-मुरारी' ।
'नृपमल्ल', 'श्री नान्यपति' उपाधियाँ सारी ।।

(७३)

करता है विरुद सिद्ध कि सामन्त नान्यदेव ।
बना था सार्वभौम नृप स्वतन्त्र हो अतएव ।।
छोड़ा न 'सामन्ताधिपति' उपाधि को उसने ।
पथ अनुसरण था किया पुष्य मित्र[१] का उसने ।।
पायी मौर्य-गद्दी वध कर भूप का जिसने ।
न छोड़ा विरुद सेनाध्यक्ष का कभी उसने ।।

(७४)

नान्य-विषयक अनुश्रुति है प्रचलित तिरहुत में ।
कि मुसलमान-उपद्रवों से ऊब दक्षिण में ।।
पटने होकर आया वह परिजन-प्रजा संग ।
शिविरस्थ हुआ कोइली में बिना किये जंग ।।
वह ग्राम पुपरी निकट मुजफ्फरपुर जिला में ।
है प्रसिद्ध अद्यतन परगना नान्यपुरा में ।।

(७५)

वह बैठा एक बार जब कर रहा था लेखा ।
अति अद्भुत दृश्य[२] शिविर-सम्मुख उसने देखा ।।
फणी प्रकट हुआ एक जिसके फण पर लिखा था ।
कुछ वाक्य जिसको भूपति स्वयं पढ़ न सका था ।।
अह्वान कर अभिज्ञों को उसने तब बूझा ।
बताया उन सबों ने जैसा उनको सूझा ।।

---

१. पुष्यमित्र शुंग राजवंश का संस्थापक (भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण) मौर्य-कुल के अन्तिम राजा का सेनापति था । उसने राज्य की सारी सेना के सामने अपने राजा का तीक्ष्ण बाणों से वध कर मौर्य-सिंहासन पर अधिकार कर लिया, पर राजा होने पर भी वह अपने को सेनापति ही कहता था । ऐसा प्रायः जन-समुदाय को भुलावे में रखने के हेतु किया जाता है ।

२. नान्यदेव ने, मिथिला में प्रचलित अनुश्रुति के अनुसार, अपने शिविर के सामने एक सर्प को देखा, जिसके फण पर कुछ लिखा था । विद्वानों ने उस नाग के अदृश्य होने के पूर्व उसके फण पर के लेख को पढ़कर बताया कि निम्नलिखित श्लोक उस पर लिखा है, यथाः– ''रामोवेत्ति नलोवेत्ति वेत्ति राजा पुरूरवा । अलर्कस्य धनं प्राप्य नान्यो राजा भविष्यति'' ।। उन्होंने नान्यदेव से कहा कि पुराकालिक राजा अलर्क की संचित सम्पत्ति प्राप्त कर उसके राजा होने की भविष्यवाणी उरग-मस्तक पर के श्लोक से हुई है ।

(७६)

कहा मनीषियों ने कि है लिखा सुन्दर श्लोक ।
जो बताता है भूप-भाग्य परिपूर्णालोक ।।
सम्पत्ति होगी प्राप्त वहाँ नान्य को अनन्त ।
चिरकाल की अलर्क-संचित समृद्धि तुरंत ।।
कर प्राप्त अमित द्रव्य शीघ्र होगा वह नरेन्द्र ।
है साक्षी राम, नल और पुरूरवा नृपेन्द्र ।।

(७७)

नान्य ने की सम्पत्ति प्राप्त पृथ्वी खोद कर ।
किया राज्य स्थापित मिथिला में लग्न शोध कर ।।
किन्तु न ऐतिहासिकता इस में झलकती है ।
प्रशस्ति में श्रीधर[१] की भी न कथा मिलती है ।।
कुल प्रशंसकों ने पीछे यह श्लोक बना कर ।
किया प्रचलित उसे जन में स्वयंभू बता कर ।।

(७८)

ईसाब्द दश सौ सत्तानवे[२] में नान्य नृपति ।
सिंहासन पर आसीन हुआ मिथिला-भूपति ।।
उसने गढ़ी एक निर्म्माण की नेपाल की ।
तराई में, सटे सीमा पर चम्पारण की ।।
शिवरामपुर में जिसे जन कहते हैं अधुना ।
सिमराओं उसे नान्य ने था राज-पुर चुना ।।

(७९)

दुर्गावशेष खण्डहर है केवल अब वहाँ ।
पुरा-शोधकों[३] को लेख प्राप्त हुआ है जहाँ ।।

---

१. श्रीधर नान्यदेव के मन्त्री एवं प्रशस्तिकार भी थे । उन्होंने भी इस घटना की चर्चा अपने अन्हरा ठाढ़ी-अभिलेख में नहीं की है (जरनल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी -९, ३०३-०४) ।

२. १०९७ ।

३. डा० उपेन्द्र ठाकुर प्रणीत 'हिस्ट्री ऑफ मिथिला' के पृ० २३४ के अनुसार स्वर्गीय चन्दा झा ने विद्यापति की 'पुरुष-परीक्षा' के प्रकाशन (दरभंगा संस्करण, पृ० १८) में सिमराओं दुर्ग से प्राप्त प्रस्तर-स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख को उद्धृत किया है :- "नन्देन्दु विन्दु विधु सम्मित शाक वर्षे (१०१९) तच्छावणे सित दले मुनि सिद्धि तिथ्याम् । स्वा (ती) तौ शनैश्वरदिने करि वैरि लग्ने श्री नान्यदेव नृपतिर्व्यदधीत वास्तुम्" ।। सिलभ्यां लेवी के पाठ में किंचित् अन्तर पाया जाता है । श्यामनारायण सिंह के 'हिस्ट्री ऑफ तिरहुत' के पृ० ६० में भी उसकी चर्चा की गयी है । १०१९ शकाब्द– १०९७ ई० ।

उत्कीर्ण अश्म-स्तम्भ ऊपर वह बताता है ।
सिमराओं-कुल-अभिषेक-काल, दर्शाता है ।।
नान्य करता था शासन उस राजधानी से ।
था लीन राज्य-विस्तार में सावधानी से ।।

(८०)

फिर बनाया उसने और भी चम्पारण में ।
अति सुन्दर एक राज-प्रासाद[१] नान्यपुर में ।।
उत्कीर्ण उसके द्वार पर भी था वही लेख ।
है सिमराओं की शिला पर जिसका उल्लेख ।।
सिद्ध होता है अतः कि बजा जय का डंका ।
था नृप का वहाँ पर भी न है इसमें शंका ।।

(८१)

स्थापित किया नान्य[२] ने जिस समय मिथिला राज्य।
चोड गंग[३] ने उत्कल में बढ़ाया साम्राज्य ।।
विजय सेन[४] ने बंगाल पर प्रभुत्व जमाया ।
चन्द्र देव[५] ने कन्नौज-बनारस अपनाया ।।
उत्थान लगभग चारों का हुआ एक काल ।
परन्तु उनमें था राज्य मिथिला का अविशाल[६] ।।

---

१. नान्यदेव के नाम पर ही चम्पारण जिले में नान्यपुरा वा नान्यपुर अथवा नन्हापुर बसाया गया था । वहाँ के विशाल राजभवन का भग्नावशेष अब भी विद्यमान है (महामहोपाध्याय मुकुन्द झा : मिथिला भाषामय इतिहास, पृ० ४६१; बिहारी लाल : आइन-ए-तिरहुत, १०-११) ।

२. कर्णाट वंशीय नान्यदेव ने १०९७ ई० में मिथिला में राज्य की स्थापना की ।

३. दक्षिण भारत के मैसूर से शनैः-शनैः बढ़ता हुआ अनन्त वर्मन् चोड गंग ने उड़ीसा की विजय की और पीछे बंगाल के हुगली जिले में गंगा तक की भूमि जीत ली थी । उड़ीसा-विजय उसने लगभग १११८ ई० में की थी ।

४. विजय सेन भी कर्णाट क्षत्रिय था । उसने ग्यारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में पाल-वंशीय राजा मदनपाल से बंगाल जीतकर आसाम, मिथिला तथा मगध तक विजय-यात्रा की थी । उसके पुत्र वल्लाल सेन ने सम्भवतः मिथिला को अपने अधिकार में कर लिया था । देवपार उत्कीर्ण अभिलेख में अंकित है कि जिस काल में मिथिला में नान्यदेव राज कर रहा था, उसी समय बंगाल की विजय सेनों ने की थी (क्वार्टर्ली जरनल ऑफ दि आन्ध्र हिस्टोरिकल सोसाइटी - १,६२) ।

५. कन्नौज (महोदयश्री) में गहड़वाल अथवा राठौर राजकुल का संस्थापक चन्द्र देव, जिसका अधिकार काशी पर भी था ।

६. छोटा ।

(८२)

वह घिरा था सशक्त राज्यों से चारों ओर ।
थी चालू उन सबों में राज्य-विस्तार-होड़ ।।
कन्नौज-काशीश गहडवाल, और बंगाल ।
दक्षिण बिहार के पाल[1] तथा नृपति नेपाल ।।
से भय था मिथिला राज्य को प्रति क्षण उसकाल ।
आक्रमणों से चेदियों के वह था बेहाल ।।

(८३)

कलचुरि-शासन तिरहुत पर था निकट पूर्व तक ।
पर अब सीमित था काशी-पश्चिम बिहार तक ।।
संलग्न थे वे प्राप्ति हेतु पैतृक निज राज्य ।
मिथिला, जिससे रिक्त था तब उनका साम्राज्य ।।
अल्हण देवी का भेड़ाघाट का अभिलेख[2] ।
करता है कर्ण-सूत यशःकर्ण-जय-उल्लेख ।।

(८४)

प्रतिरोध तोड़ गहड़वालों का बनारस में ।
विजय करता हुआ पहुँचा वह चम्पारण में ।।
प्रमाण देता है यह कि तब राज्य मिथिला पर ।
न चेदि-स्वत्व था, मिथिलेश या अन्य वीरवर ।।
उसने लूटा चम्पारण को पर न की विजय ।
तिरहुत की, उस पर नान्य-अधिकार था निश्चय ।।

(८५)

रण हुआ वह ग्यारह सौ बाइस[3] के पश्चात् ।
यशःकर्ण ने थी छीनी जब काशी बलात् ।।
गहड़वालों से, पर गोविन्द-चन्द[4] ने किया ।
अधिकार पुनः उस भू पर रिपु को भगा दिया ।।

---

१. बंगाल तथा दक्षिण बिहार के पाल-वंशीय राजा ।
२. भेड़ाघाट-अभिलेख में अंकित किया गया है : - "चम्पारण्यविदारणोद्गतयशः" (एपिग्राफिका इण्डिका, भाग २, २) ।
३. ११२२ ई० ।
४. गहड़वाल-भूप चन्द्रदेव का पौत्र तथा मदनचन्द्र का पुत्र वीर श्रेष्ठ गोविन्द चन्द्र । काशी पर ११२२ ई० में यशःकर्ण का अधिकार मिलता है । सम्भवतः उसने उसे गहड़वालों से छीना था, पर अधिक दिनों तक उसको अपने अधीन वह रख न सका । गोविन्द चन्द्र गहड़वाल ने ११२[illegible] ई० के बीच उस पर पुनः अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया ।

कर समर समर-भू को शत्रु-शोणित से सींच ।
ग्यारह सौ चौबीस एवं पचीस[1] के बीच ॥

(८६)

यश:कर्ण की असफलता ने साहस तोड़ा ।
कलचुरियों ने संगर से अब मुँह था मोड़ा ॥
होकर उनकी ओर से निश्चिन्त नृपति नान्य[2] ।
ने की विजय-यात्रा और हुआ जग में मान्य ॥
सचिव श्रीधर सुज्ञवर था नृप का, नृप-सुत[3] का ।
है गाता मूर्ति-लेख उसका यश नान्युप[4] का ॥

(८७)

हैं अंकित नृपति 'भरतनाट्य-शास्त्र-भाष्य'[5] में ।
कि गुँथा था मालवा-सौवीर सूत्र दास्य में ॥
कर वीरों को विजित भूपति ने चातुर्य से ।
की चूर्ण बंगाल-गौड़-नृपति-शक्ति शौर्य से ॥
ये प्रशस्तियाँ हैं अंकित नृप नान्य शूर की ।
पर असंभव जान पड़ती है विजय दूर की ॥

---

१. ११२४ तथा ११२५ ई० ।

२. नान्यदेव ।

३. नान्यदेव तथा उसके पुत्र गंगदेव के मन्त्री श्रीधर कायस्थ ने दरभंगा जिले के मधुबनी अनुमंडल के अन्हरा ठाढ़ी ग्राम में एक विष्णु की मूर्ति की स्थापना की थी । उस विग्रह के मूर्त्याधार पर उसने एक अभिलेख उत्कीर्ण करवाया था, जिसमें नान्यदेव को विजेता (श्रीमान् नान्यपतिर्ज्जेता) तथा संसार को द्वितीय क्षीरसागर में परिवर्तित करनेवाला (यत्कीर्त्याजनितं विश्वं, द्वितीय: क्षीरसागर:) कहा गया है (जरनल ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, ९, ३०३, प्रथम पंक्ति) । नान्यदेव के काल का यही एक ऐतिहासिक लेख प्राप्य है, जिसकी प्रथम तथा चतुर्थ पंक्तियों के कई अक्षर अस्पष्ट हैं ।

४. नान्यदेव का दूसरा नाम नान्युपदेव भी था (श्यामनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ५९) ।

५. नान्यदेव का 'भरतनाट्य-शांस्त्र-भाष्य' उसे मालवा, सौवीर, गौड़ तथा बंगाल का विजेता बताता है, यथा– ''लुप्त मालव भूपाल कीर्त्तिर्मालव-पंचमीम्'', ''जितसौवीर वीरेण सौवीरक उद्धृत:'', ''बंगालकेति कथिता मिथिलेश्वरेण'', और ''श्रीरागस्यैकभूमिर्ललित मधुर वाग्भिन्न बंगालगौड़ प्रौढ़ प्राग्भारसार: ककुभमुभयथा साधयन्विश्वमुच्चै: संग्रामे भैरवो य: प्रविलसति मुहुर्धूर्जटीयस्य कण्ठे, सौवीरोऽध्यायमेनं व्यधित कृतमति-र्भूपतिर्नान्यदेव:' (क्वार्टरली जरनल ऑफ आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी, १, ५६-५७ एफ० एन०) ।

(८८)

प्रथम सोमेश्वर एवं षष्ठ विक्रमादित्य ।
ने जीता मालवा-सौवीर नृपति चालुक्य ।।
फिर उत्तर भारत में बिहार और बंगाल ।
की जय की, तथा बढ़ कर वे पहुँचे नेपाल ।।
नान्य का था विरुद महासामन्ताधिपति का ।
वह अतः प्रतिनिधि शासक था चालुक्य-पति[1] का ।।

(८९)

सम्राट् की विजय थी सामन्त की भी विजय ।
प्रशस्तियाँ बता रही हैं यही तथ्य निश्चय ।।
यह भी सम्भव है, उसने सामन्त-रूप में ।
दिया होगा साथ राट् को प्रधान युद्ध में ।।
इससे विजय-श्रेय उसने स्वीकार कर लिया ।
और अभिलेखों में उनको अंकित कर दिया ।।

(९०)

विजेता विजय सेन का देवपार[2] अभिलेख ।
नान्य के नत होने का करता है उल्लेख ।।
प्रशस्तिकार उमापतिधर ने है यश गाया ।
कि विजय नृप ने नान्य को था बन्दी[3] बनाया ।।
किया सफल उसकी सेना ने विजय अभियान[4] ।
पश्चिम में गंगा-पथ से सानेक जल-यान ।।

---

१. चालुक्य-वंशीय राजा सोमेश्वर प्रथम एवं विक्रमादित्य षष्ठ ।

२. बंगाल के नगर राधा के कर्णाट क्षत्रिय-भूप विजय सेन के प्रशस्तिकार कवि उमापति-धर थे, जो देवपार-अभिलेख के रचयिता थे । उस अभिलेख के अनुसार विषय सेन के समक्ष नान्यदेव का पराभव हुआ था ।

३. उक्त देवपार-अभिलेख के श्लोकांक २१ से श्री एच० सी० राय का अनुमान है कि विजय सेन ने नान्यदेव को बन्दी बनाया था । उसमें किसी राघव के भी बन्दी बनने का अनुमान है (डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया-१, ३५८) । पर उसमें केवल इतना ही वर्णन किया गया है कि विजय सेन का कारागृह बन्दी राजाओं के नाद से प्रतिध्वनित हो रहा था । इससे यह कदापि स्पष्ट नहीं होता है कि विजय सेन ने नान्यदेव को बन्दी बनाया था (जरनल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी पी०टी०एस०, ३-४, १३३) । युद्ध में पराजित होना दूसरी बात है । तिरहुत पर नान्यदेव के वंशजों का शासन विजय सेन के काल के बहुत पीछे तक बना रहा था ।

४. विजय सेन की विजय-वाहिनी बेरोक गंगा-मार्ग से पश्चिम में आगे बढ़ती गयी थी ।

(९१)

सम्भव है कि नान्य ने तथा विजय साथ-साथ ।
की होगी प्रतिस्पर्द्धा बनने के हेतु नाथ ।।

गौड़ तथा उत्तर और पूर्वी बंगाल का ।
जिसमें दिया साथ सफलता ने सेन कुल का ।।

अंकित इसे किया होगा कुशल प्रशस्तिकार ।
नृप नान्य का पराजित होना अत्युक्तिकार ।।

(९२)

जब कर न सका पूर्व में वह राज्य का प्रसार ।
उस नृपति ने तब किया नेपाल पर अधिकार[१] ।।

गृह-कलह था उस देश में फैला उस वेला ।
उस विग्रह से लाभ लिया नान्य ने अकेला ।।

वह आगे बढ़ा शीघ्र लेकर न्याय का पक्ष[२] ।
इससे तूर्ण हुआ श्लाघ्य वह प्रजा के समक्ष ।।

(९३)

परिणामतः किया उसने तराई स्वायत्त ।
पीछे सारा नेपाल हो स्वार्थ-सुरा-मत्त ।।

लिया पाटन-काठमांडू जयदेव मल्ल से ।
फिर भटगाँव राज्य उसने आनन्द मल्ल से ।।

सिमराँव[३] से ही शासन सारे नेपाल का ।
होता था पूर्ण रूप से उस अवनि-पाल का ।।

---

१. नान्यदेव ने पूर्व दिशा में साम्राज्य-विस्तार करने में असफल होकर अपना विजय-अभियान उत्तर दिशा में आरम्भ किया, और नेपाल के बहुत बड़े भाग को अधिकृत कर लिया ।

२. उस काल नेपाल में गृह-कलह चल रहा था । ठक्कुरी-कुल की नयकोटा शाखा के राज्याधिकारी शिवदेव को पाटन शाखा के लोगों ने, लगभग १०८० और १०८८ ई० के बीच बहिष्कृत कर दिया था । नान्यदेव ने शिवदेव का साथ देकर पहले नेपाल की तराई पर अपना अधिकार स्थापित किया (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २५१) ।

३. नेपाली अनुश्रुति के अनुसार नान्यदेव ने अपनी राजधानी सिमराओं से ही सारे नेपाल पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया । नेपाल का शासन भी उक्त राजधानी से ही होता था (जरनल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी-२२, २५६, २०४; सिलवाँ लेवी : ली नेपाल-२, १९९) ।

(९४)

किन्तु रेगमी[1] इतिहास-लेखक नेपाल का ।
है कहता कि न चैन से जीवन भूपाल का ।
बीता वहाँ, प्रभुत्व भी पूरी तराई पर ।।
वह कर न सका, न शासन था अखंड राज्य पर ।
सम्भवतः नृप नान्य का जब हुआ अन्त काल ।
पुनः बन गये स्वतन्त्र कतिपय करद भूपाल ।।

(९५)

था नान्य पुरा राज-पुर पर कुशल नृप मानी ।
नें लायी सिमराओं[2] में मुख्य राजधानी ।।
पाल-कुल-शिरोमणि अन्तिम भूपति मदनपाल ।
ने लिया मुंगेर रण-नत कर नृपति गहडवाल ।।
पड़ा सौंपना पर कर समर नान्य नृपति नाथ ।
मिथिला के विजेता-वर कर्णाट-वीर-हाथ ।।

(९६)

नान्य था महत्त्वाकांक्षी उदीयमान वीर ।
संगीत-शस्त्र-शास्त्र ज्ञाता और समर-धीर ।।
था गौरव मिथिला का जिसने राजनीति में ।
पाया उच्च स्थान, मान शुभ ख्याति-कीर्त्ति में ।।
ग्यारह सौ सैंतालीस[3] नृप-मृत्यु का सम्वत् ।
बताती है जन-श्रुति हैं इतिहासविद सहमत ।।

---

१. डी० आर० रेगमी के 'एन्शिएण्ट एण्ड मेडिएवल, नेपाल', १४४-४६ के अनुसार नान्यदेव ने नेपाल पर कई बार अधिकार किया और उसे खोया । परन्तु नान्यदेव के पीछे वहाँ के स्थानीय शासकगण उसके उत्तराधिकारियों की प्रभुसत्ता को किसी न किसी अंश तक सदा स्वीकार करते रहे थे । हरिसिंह देव ने तो अन्त में नेपाल पर पूर्ण रूप से आधिपत्य स्थापित कर वहीं अपनी राजधानी बनायी, तथा वहीं से छापा मार-मार कर तिरहुत पर भी अपना शासन कुछ काल तक बनाये रखने में सहायता प्राप्त की थी ।

२. नेपाल-विजय के पश्चात् नान्यदेव ने मिथिला और नेपाल, दोनों की मुख्य राजधानियों को दोनों राज्यों के संगम पर स्थित सिमराओं दुर्ग में स्थानान्तरित किया । उक्त सिमराओं दुर्ग का भग्नावशेष खण्डहर के रूप में अब भी नेपाल की तराई में पहाड़ की जड़ से १५ मील की दूरी पर नेपाल राज्य के रोहतक जिला में बिहार राज्य के चम्पारण जिला की दूसरी ओर घोड़ासाहन तथा छौड़ादानों रेलवे स्टेशनों से कुछ दूरी पर विद्यमान है ।

३. ११४७ ई० ।

मल्लदेव एवं गंगदेव (११४७-११८७ ई०)

(९७)

थे नान्य को दो तनय मल्लदेव-गंगदेव ।
अति अल्प काल राज किया प्रथम ने अतएव ।।

ज्ञातृत्व उसके विषय का है हमें अधूरा ।
अंकन अतः असम्भव है नृपति कृत्य पूरा ।।

प्राप्य एतद्विषयक भीठ-भगवानपुर-लेख[1] ।
है और कवि कोकिल-'पुरुषपरीक्षा'-उल्लेख ।।

(९८)

निज ग्रन्थ में विद्यापति[2] ने किया है वर्णन ।
दरबार में जयचन्द्र के था नान्य का सुअन ।।

युवराज मल्ल, किन्तु पीछे राट् से उसका ।
मतभेद हुआ, वह अतः वहाँ रह नहीं सका ।।

कन्नौज-त्याग गया वह चिक्कोर-भूप[3] पास ।
पिथि[4] भी फँसा रण में, न रहा गहडवाल-दास ।।

---

१. दरभंगा जिले के मधेपुर थाना के भीठ भगवानपुर नामक ग्राम को मल्लदेव की राजधानी बताया जाता है । वहाँ से प्राप्त प्राचीन ५ मूर्त्तियाँ एक छप्पर के घर में वहीं पर रखी हुई हैं । मूर्त्तियाँ लक्ष्मी-नारायण, सूर्य तथा गणेश आदि की हैं । लक्ष्मी-नारायण के मूर्त्या-धार पर- 'ॐ श्री मल्लदेवस्य' उत्कीर्ण है । लेख २-३ पंक्तियों में है, पर सभी पढ़े नहीं जा सकते हैं (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २५४-५५) ।

२. विद्यापति की 'पुरुषपरीक्षा' के अनुसार नान्यदेव का एक पुत्र मल्लदेव कन्नौज के विक्रमी सम्राट् जयचन्द्र के दरबार में था । पर यह सम्भव नहीं जँचता है, क्योंकि मल्लदेव की मृत्यु कम उम्र में हुई थी, और जयचन्द्र नान्यदेव की मृत्यु के लगभग २३ वर्षों के पश्चात सिंहासनारूढ़ हुआ था । इसके अतिरिक्त नान्यदेव की मृत्यु के तुरत पश्चात् हम उसके दूसरे पुत्र गंगदेव को मिथिला के सिंहासन से शासन करते पाते हैं ।

३. पूर्वोत्तर भारत में कोई छोटा पर प्रभावशाली राज्य था, जिसका नाम पिथि था । वहाँ चिक्कोरों का राज्य था । चिक्कोर व्यक्ति विशेष का नाम हो सकता है अथवा किसी जाति विशेष का भी ।

४. पिथि के वर्त्तमान नाम तथा स्थान का पता निश्चयात्मक रूप से अब तक नहीं चला है । इसके विषय में विद्वानों में मतान्तर है । तिब्बती पर्यटक धर्म-स्वामिन् के यात्रा-वृत्तान्त के अनुसार पिथि राज्य बिहार प्रदेश के बोधगया के निकट था । विद्यापति के अनुसार वहाँ के राजवंश का नाम चिक्कोर था ।

(९९)

सहोदरों दोनों में भ्रातृ-प्रेम-अभाव था ।
राज्याधिकार-प्रश्न लेकर मनमोटाव था ।
परिणामतः दो भाइयों में राज्य बँट गया ।
नृप मल्ल ने नेपाल पर अधिकार कर लिया ।।
मिथिला में भी था राज-नगर मल्ल-भूप का ।
दरभंगे का ही भीठ-भगवानपुर नृप का ।।

(१००)

चौखट-उत्कीर्ण मूर्त्तियाँ हैं प्राप्त वहाँ से ।
वे दुर्ग-अस्तित्व करती साबित प्रमाण से ।।
सम्भवतः पूर्व मिथिला एवं नेपाल पर ।
करता था मल्ल[1] शासन अपना अधिकार कर ।।
था शेष पितृराज्य का नृप गंग[2] अधिकारी ।
करता राज न्याययुत था नृपति छत्रधारी ।।

(१०१)

कथा ख्यात है कि गंगापुर और मल्लडीह ।
निज नामों पर बसाये थे दोनों नर-सिंह ।।
भागलपुर जिले के मधेपुरा से कुछ दूर ।
पुर द्वय[3] थे पृथक्-पृथक् वैभव से भरपूर ।।
न्याय से करते थे दोनों प्रजा का पालन ।
था नीति और सुधारमय दोनों का शासन ।।

(१०२)

गद्दी पर मिथिला की गंगदेव अवनि-पाल ।
बैठा पिता-मृत्यु-पश्चात् हो कर क्षिति-पाल ।।
ग्यारह सौ सैतालिस[4] से कर्णाट-कुल-वीर ।
ने शासन किया इकतालिस[5] वर्षों तक धीर ।।

---

१. मल्लदेव । २. गंगदेव ।
३. गंगापुर भागलपुर जिले के मधेपुरा अनुमण्डल में तथा मल्लडीह पूर्णिया जिले में है (अन्नल्स-३५, १०१) । मल्लदव की मिथिला स्थित राजधानी भीठ भगवानपुर में ही एक कृष्ण-प्रस्तर प्रस्तुत प्राचीन द्वार-चौखट का अवशेष प्राप्त है, जिस पर कलापूर्ण कर्णाट शैली का स्त्री-पुष-आलिंगन चित्र अंकित है । इससे स्पष्ट-होता है कि वहाँ कभी दर्शनीय राजभवन तथा मन्दिरों का अस्तित्व था (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २५५) ।
४. ११४७ ई० । ४१ वर्षों तक ।

वंशावली नेपाली है बताती हमको ।
स्पष्ट शासन-काल, अतः है मान्य यह सबको ।।

(१०३)

कहा है, नान्यदेव को वंगेश विजय सेन ।
ने विजित किया, इससे उसका समय न सुखेन ।।
था बीता, किया विरुद धारण वल्लाल सेन ।
ने 'मिथिलेश' का, बताता है ग्रन्थ नृप-देन ।।
'अद्‌भुत सागर'[1], किन्तु नान्य-शासन तिरहुत में ।
चलता ही रहा, न पड़ा अतः वह संकट में ।।

(१०४)

'वल्लाल-चरित'[2] में लिखा है उसको मिथिलेश ।
पर गंग-अधीन तब था सारा मिथिला देश ।।
परगनों में निज राज्य को उसने विभक्त कर ।
नियुक्त कर चौधरियों को उगाहने हित कर ।।
और ग्रामों में पंचायत-संस्था चला कर ।
किया सुखी प्रजा वर्ग को शासन-सुधार कर ।।

(१०५)

खोला राज्य में नृपति ने विभाग एक अधिक ।
वेदविद् वर्द्धमान[3] बने धर्माधिकारणिक ।।

---

१. 'अद्‌भुत सागर' का प्रणेता राजा विजय सेन का पुत्र वल्लाल सेन था । उसमें उसने अपने को 'मिथिलेश' बताया है । विजय सेन और नान्यदेव के बीच युद्ध छिड़ा था । प्रचलित अनुश्रुति एवं उमापतिधर रचित देवपार उत्कीर्ण-अभिलेख के २१वें श्लोक के अनुसार विजय सेन ने नान्यदेव को बन्दी बनाया था । इससे सेनों का अस्थायी अधिकार मिथिला पर होना सम्भव जँचता है । परन्तु यह भी निर्विवाद है कि नान्यदेव का आधिपत्य मिथिला पर उसके जीवन-काल में सदा बना ही रहा । वल्लाल सेन के शासनकाल में भी मिथिला पर नान्यदेव के पुत्र गंगदेव का आधिपत्य अक्षुण्ण था । हाँ, दोनों में वैमनस्य होना असम्भव नहीं था; क्योंकि दोनों के पिता एक दूसरे के विरुद्ध समर में लीन हो चुके थे ।

२. 'वल्लाल-चरित' नामक ग्रन्थ में वल्लाल सेन के राज्य के ५ प्रान्तों के नाम आये हैं, और वे हैं :-(१) वंग, (२) वागदी, (३) वारेन्द्र, (४) राधा तथा (५) मिथिला (वल्लाल-चरित, अध्याय-१, श्लोक-८; मजूमदार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, १, २१२, २१६-१७, १७०) ।

३. 'दण्ड-विवेक' ग्रन्थ के रचयिता पं० वर्द्धमान उपाध्याय, धर्माधिकरणिक को गंगदेव ने धार्मिक विभाग का मन्त्री नियुक्त किया था । ये गंगदेव से लेकर उसके पौत्र रामसिंह देव के काल तक विद्यमान थे ।

धर्म-व्यवस्था से था बस उनका सरोकार ।
श्रीधर[1] था प्रधान मन्त्री नीति का आगार ।।
खुदवाये उसने ताल[2] मिथिला सारी में ।
तथा किया गढ़-निर्माण अन्हरा ठाढ़ी[3] में ।।

नरसिंह देव (११८७-१२२५ ई०)

(१०६)

ग्यारह सौ सतासी[4] में कुमार नृसिंहदेव ।
बैठा पितृ-गद्दी पर जब मरा गंगदेव ।।
किया शासन मिथिला पर इक्कीस[5] वर्षों तक ।
उसने, कहते हैं कि वह था योद्धा भयानक ।।
सेनानी[6] था वह शिहाबुद्दीन-सेना का ।
पर यह लेख न है नेक विश्वास करने का ।।

(१०७)

विद्यापति के ग्रन्थ 'पुरुष परीक्षा' का लेख ।
गोरी संग मैत्री का करता है उल्लेख ।।
उस कथा में किन्तु ऐतिहासिकता नहीं है ।
उस नृप के विषय में न वह उल्लेख सही है ।।

---

१. नान्यदेव के मन्त्री एवं प्रशस्तिकार श्रीधर जाति के कायस्थ थे, तथा वे गंगदेव के प्रधान मन्त्री थे ।

२. गंगदेव ने अनेक विशाल सरोवर खुदवाये, जिनमें एक दरभंगा-स्टेशन के निकट का गंगा-सागर है ।

३. अनुश्रुतियाँ बताती हैं कि गंगदेव ने दरभंगा जिले के झंझारपुर थाने के अन्हरा ठाढ़ी ग्राम में एक विशाल किले का निर्माण कराया था, जो सम्प्रति भू-गर्भ में पड़ा है । अधुना अन्हरा ठाढ़ी में प्रखण्ड-विकास-पदाधिकारी का कार्यालय है । भग्नावशेष से कई प्रस्तर-खण्ड प्राप्त हुए हैं, जिन पर गंगदेव का नाम उत्कीर्ण था (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २६४) ।

४. ११८७ ई० ।

५. २१ वर्षों तक ।

६. कहा जाता है कि नरसिंह देव शिहाबुद्दीन गोरी का सेनापति था, और मिथिला-राज्य उसे पुरस्कार में प्राप्त हुआ था (विद्यापति : 'पुरुष-परीक्षा' का सत्यवीर-कथा-प्रसंग) । किसी-किसी का यह भी कहना है कि शिहाबुद्दीन गोरी ने नरसिंह देव को बन्दी बना कर उसे अपने शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध करने के हेतु भेजा था । उसकी वीरता से प्रसन्न होकर अन्त में मिथिला का राज्य उसने उसको दिया ।

पीछे हुआ बंगाल में मुसलमानी[१] राज ।
उसकाल भी था मिथिला में पूर्णतः स्वराज ।।

(१०८)

मुसलमानों से न था उसका युद्ध ही हुआ ।
न उन सबों का वह कभी था बन्दी ही हुआ ।।
मिथिला पर मुसलमान न आधिपत्य कर सके ।
प्रतिरोधक गहडवालों[२] को न शमन कर सके ।।
थे सामने अजय गोविन्द चन्द्र, विजय चन्द्र ।
दोनों पिता-पुत्र तथा अरि-सालक जय चन्द्र ।।

(१०९)

कहते हैं कि नरसिंह देव-शासन-काल में ।
नृपों में स्नेह ऊन था मिथिला-नेपाल में ।।
दोनों थे एक वंश के पर राज्य बँट[३] गया ।
विभाजन हुआ स्थायी कुल का शौर्य घट गया ।।
मिथिला से मुक्त हो गया नेपाल शान से ।
जीता[४] उसे हरिसिंह ने पैने कृपाण से ।।

(११०)

नेपाल राज्य सदा के लिए पृथक् हो गया ।
मिला न फिर से अखण्ड होकर खण्ड हो गया ।।

---

१. वल्लाल सेन के पुत्र लक्ष्मण सेन के शासनकाल में मुसलमानों ने उस पर चढ़ाई कर उसकी राजधानी लखनौती पर अधिकार कर लिया था । मिथिला उस काल भी स्वतन्त्र था ।

२. जिस समय महमूद गजनवी की चढ़ाइयों के पश्चात् भारत पर पुनः दूसरी बार गजनी के विजेता गोर-सुल्तान का आक्रमण आरम्भ हुआ, उस काल के आरम्भ में तथा उसके पूर्व उत्तर भारत के कन्नौज में गहड़वाल (राठौर) क्षत्रियों का अति समृद्ध एवं शक्ति-सम्पन्न विशाल साम्राज्य था । गहड़वाल नृपति विजय चन्द्र विक्रमी वीर था । उसने मुसलमानों की चमकती तीखी तलवार की पैनी धार को बार-बार अपनी वीरता से कुंठित कर दिया था । वह तथा उसके पिता गोविन्द चन्द्र भी मुसलमानों के मार्ग में पहाड़ जैसे अटल होकर खड़े थे, जिन्होंने संसार के क्रूर और विध्वंसक हम्मीर (अमीर) की स्त्रियों की आँख रूपी मेघ-मालाओं से प्रवाहित जल (अश्रु) धारा से विश्व के संकट को डुबा डाला (इण्डियन एण्टीक्वेरी-१५-७, श्लोक-९) ।

३. कर्णाट-कुल के मिथिला राज्य का दो भाइयों में बँटवारा हो गया, और नेपाल मिथिला से सदा के लिए पृथक् हो गया (दरभंगा जिला गजेटियर-१८; श्यामनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ० ६२) ।

४. मिथिला के अन्तिम कर्णाट-वंशीय राजा हरिसिंह देव ने तिरहुत से पलायन कर १३२४ ई० में नेपाल पर अधिकार कर लिया ।

सचिव-श्रेष्ठ दोनों रामादित्य-कर्मादित्य ।
कर्मठ थे, राज्य उन्नत था, वर्द्धमान नित्य ।।
बनवाये उसने कई थे मन्दिर-सरोवर ।
त्यागा शरीर बारह सौ पचीस[1] में नृपवर ।।

रामसिंह देव (१२२५-१२७६ ई०)

(१११)

बैठा था सिंहासन पर पिता के पश्चात् ।
'भुजबलभीम' रामसिंह भूपतिवर विख्यात ।।
था विरुद 'भीमपराक्रम' का दूसरा उसका ।
वह विद्वत्-पोषक, पंडित भी दीप था कुल का ।।
थी राज-सभा मंडित[2] मनीषियों से नृप की ।
दश दिक् थी फैली सुयश-सुरभि वीर क्षितिप की ।।

(११२)

लिखे गये अनेक निगूढ़ दर्शनों पर ग्रन्थ ।
नृप-प्रश्रय में भाष्यादि पोषक वैदिक पंथ ।।
वह स्वयं भी था लेखक शास्त्रज्ञ धर्मध्वज ।
सुज्ञ, स्मार्त, सुधारक, सत्यनिष्ठ और सलज्ज ।।
धर्माचरण हित हिन्दुओं के नियम भी बने ।
व्यवस्था उनके पालन-हेतु की थी उसने ।।

(११३)

प्रति ग्राम में नियुक्त किया उसने अधिकारी ।
धार्मिक प्रश्न-निर्णय हेतु सुज्ञ सदाचारी ।।
और भी सर्वत्र ही आरक्षी-अधिकारी ।
सम्पर्कहित चौधरियों[3] से, तथा पटवारी[4] ।।

---

१. १२२५ ई० ।
२. उत्तर भारत के प्रायः सभी भाग से संस्कृतज्ञ विद्वानों ने आकर राजा रामसिंह देव की राजसभा में निवास किया था; क्योंकि उन प्रदेशों में विदेशी एवं विधर्मी मुसलमानों का प्राबल्य हो चुका था (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २७३) ।
३. परगना का प्रधान पदाधिकारी, जिसका कार्य आधुनिक जिला कलक्टर (समाहर्त्ता) का होता था ।
४. पटवारियों की नियुक्ति भी इसी काल में हुई । वे ग्राम के आय-व्यय के लेखापाल होते थे (मुजफ्फरपुर जिला गजेटियर, [illegible] २६) ।

लेखापालक, पद जो था अब तक विद्यमान ।
सर्वत्र मिथिला धरणी में साथ कणकु-ज्ञान[१] ।।

(११४)

जन कहते हैं कि राम सिंह-शासन-काल में ।
तिरहुत फँसा मुसलमानी आक्रमण-जाल में ।।
चढ़ाई की सुलतान हुसैनुद्दीन इवाज ।
साथ ले लखनौती से अनन्त बरकनदाज ।।
लखनावती के इस चतुर्थ मलिक भूपति ने ।
मिथिला विजय कर ली, उगाहा कर भी उसने ।।

(११५)

फिर नवमा मलिक इज्ज-उद्-दीन तुघरील ने ।
भी किया आक्रमण और खूब लूटा उसने ।।
मिथिला को, फिर लौट गया ले धन-धान्य साथ ।
पर न लग सका उसको राज्य तिरहुत का हाथ ।।
इकावन[२] वर्षों तक राज किया उस भूप ने ।
छोड़ा जंग बारह सौ छेहत्तर[३] में उसने ।।

(११६)

निधन-उपरान्त भूपति[४] के कर्णाट-कुल-सिंह ।
पराक्रमी पुत्र उसका वीरेन्द्र शक्तिसिंह ।।
ने बैठ कर सिंहासन पर मिथिला राज्य के ।
किया प्राप्त विरुद शक्र का अनुरूप शौर्य के ।।
मिथिलानुश्रुति कहती उसे शक्रसिंह देव ।
पर नेपाली है बताती शक्तिसिंह देव ।।

(११७)

कहते हैं वह नृपति था चालीस[५] वर्षों का ।
शासन लिया जब हाथ में उसने स्वराज्य का ।।
समसामयिक वह नृप था अल्ला-उद्-दीन का ।
प्रचंड वीर पराक्रमी सुलतान दिल्ली का ।।

---

१. कणकु = लेखा, गणना । २. ५१ ।
३. १२७६ ई० ।
४. रामसिंह देव ।
५. ४० वर्ष ।

मिथिला में है प्रसिद्ध कि उसने दिल्लीश को ।
सहाय्य दिया रण-नत कर रणथम्भौरेश[1] को ॥

(११८)

उल्लेख प्राप्त यह है कि देवादित्य मन्त्री ।
संग पुत्र वीरेश्वर अवनीश-युद्ध-यन्त्री ॥
भी साथ था मिथिलेश के उस अभियान-काल ।
जब चढ़ा पारतन्त्र्य-टीका भारत के भाल ॥
रण-निधन हुआ हमीर का पर अंचल बिहार ।
पर हो गया दिल्लीश का पूर्णतः अधिकार ॥

(११९)

स्पष्ट कह रहा है यह फिरिश्ता का इतिहास ।
संभवतः पड़ी भूप-गला मैत्री की फाँस ॥
सुलतान के विचार में थी मिथिला की विजय ।
केवल प्रेम से करनी न कर शत्रु-पराजय ॥
संभव है, इसी विचार से अल्ला-उद्-दीन ।
ने फेंक जाल मित्रता का किया नृप[2] अधीन ॥

(१२०)

बन हिन्दू-सैन्य-नायक मिथिला के भूप ने ।
कर समर किया विनाश राष्ट्र बन्धु का अपने ॥
कहते हैं, शक्तिसिंह स्वेच्छाचारी नृप था ।
न उद्भट पिता के जैसा प्रजा-प्रिय भूप था ॥
वह क्रूर नृपति था, नहीं शुभचिन्तक प्रजा का ।
न ज्ञात था उसको तनिक कर्त्तव्य राजा का ॥

---

१. स्वाधीनता का आदर्श उपासक राजपूताने के रणथम्भौर दुर्ग का इतिहास-प्रसिद्ध योद्धा वीर हम्मीर, जो चौहान पृथ्वीराज का वंशज था और जिसने अपने जीवन-काल में मुसलमान आक्रामकों के साथ अनेक बार युद्ध कर अन्त में १३०० ई० में अपने नश्वर शरीर को माता स्वतन्त्रता की बलि-वेदी पर समर-क्षेत्र में अर्पित कर दिया था । दिल्ली के सुलतान की ओर से हम्मीर के विरुद्ध युद्ध करने के कारण शक्तिसिंह को 'हम्मीरध्वान्तभानुः' चंडेश्वर के 'कृत्यचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ में कहा गया है । विद्यापति ने भी उसके विषय में 'पुरुष परीक्षा' में लिखा है, यथा– "सर्वं त्यक्त्वा समिति पतितो हम्मीरदेवः" । हम्मीर के रण-पराभव एवं मृत्यु के पश्चात् भारत में मुसलमानों के आक्रमण तथा अत्याचार का प्रबल विरोधी कोई रह नहीं गया (ब्रिग्स-फेहरिश्ता : हिस्ट्री ऑफ दि राइज ऑफ मुहमडन पावर, भाग - १, पृ० ३३६) ।

२. शक्तिसिंह देव ।

(१२१)

मन्त्री हुए असन्तुष्ट एवं सामन्त गण ।
प्रजा भी उसकी क्षुब्ध थी अनीति के कारण ।।
मची क्रान्ति[1] राजमहल में, न हुआ रक्तपात ।
नेतृत्व में चण्डेश्वर के मिले सचिव सात ।।
और गठन किया परिषद् का उनने तत्काल ।
नियन्त्रण हेतु नृप के, था निरंकुश नरपाल ।।

(१२२)

चण्डेश्वर था नीति-निपुण चतुर मन्त्री विज्ञ ।
विद्वान्, देश-प्रेमी और कूट राजनीतिज्ञ ।।
सफल क्रान्ति द्वारा उसने भूप के अधिकार ।
को सीमित किया, पलट दिया उसका व्यवहार ।।
पर अन्तिम समय शक्ति का न चैन से बीता ।
मुसलमानी उपद्रवों ने किया सुख रीता ।।

हरिसिंह देव (१३०३-१३२४)

(१२३)

बचाता रहा राज्य को आक्रमण से उनके ।
पर नाचता था विघ्न-वारिद सिर पर नृप के ।।
तेरह सौ तीन[2] में भूपति शक्तिसिंह देव ।
चला छोड़ धरा-धाम, उसका तनय अतएव ।।
बैठा मिथिला-सिंहासन पर हरिसिंह देव ।
अवयस्क[3] था यद्यपि किन्तु वीरता की टेव ।।

(१२४)

थी बालक नृपाल में तेजस्विता के साथ ।
जीवित हैं अनुश्रुतियों में आज नृपति-गाथ ।।
है प्रसिद्ध कि हरिसिंह देव यशस्वी नृप था ।
कई अंशों में नान्य से भी मान्य भूप था ।।
की क्रान्ति मैथिलों में उसने बल दे सारा ।
सामाजिक और धार्मिक सुधारों के द्वारा ।।

---

१. वृद्ध मन्त्री चण्डेश्वर के नेतृत्व में सिमराओं के राजमहल में रक्तपात-विहीन क्रान्ति हुई (मुजफ्फरपुर जिला गजेटियर-१८) ।

२. १३०३ ई० ।

३. सिंहासन पर बैठने के काल में हरिसिंह देव अल्पवयस्क था ।

(१२५)

मिथिला में हैं आज भी उसके कई सुधार ।
प्रचलित कुछ अंशों में, व्यवहार के आधार ।।
पर साम्प्रतिक परिस्थिति में विपरीत फल हुए ।
उनसे, इससे आज वे हैं ढीले पड़ गये ।।
कुलीन प्रथा की स्थापना की थी नृपाल[1] ने ।
व्यवस्था उपवर्णों की भी राज्य में अपने ।।

(१२६)

वह वीर विजयी योद्धा था समाज-सुधारक ।
रण-कुशल सेनानी विद्या-कला का पोषक ।।
बनवाये अनेक मन्दिर उसने स्व-राज्य में ।
खुदवाये अनेक सरवर स्व-शासन काल में ।।
प्रांजल मनीषी[2] देवादित्य और वीरेश्वर ।
थे सचिव पिता-पुत्र उसके और चंडेश्वर ।।

(१२७)

तीनों ही रत्न उज्ज्वल थे ठक्कुर वंश के ।
थी विद्या भी उनमें जैसे तेज[3] हंस में ।।
प्रसिद्ध है विधि-ग्रन्थ बृहत् प्रणीत चंडेश्वर ।
व्यवहार विषयक सर्गों में 'कृत्यरत्नाकर' ।।
वह ग्रन्थ लिखा तेरह सौ चौदह[4] में उसने ।
किया वागमती-तट स्वर्ण-तुला-दान उसने ।।

(१२८)

समसामयिक हरिसिंह नृप था रामदेव[5] का ।
अवनीशचर देवगिरि के यादव-नरेश का ।।

---

१. हरिसिंह देव ने अपने राज्य में कुलीन-प्रथा की स्थापना कर मिथिला के ब्राह्मणों एवं कायस्थों को क्रमानुसार कई सामाजिक विभागों में विभक्त किया । 'मिथिला-पंजी-प्रबन्ध' में उसके सभी सुधारों एवं वर्ण-विभागों का उल्लेख किया गया है (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २८०) ।

२. मन्त्री देवादित्य, वीरेश्वर, चण्डेश्वर आदि मिथिला के प्रसिद्ध ठक्कुर वा ठाकुर-कुल के सदस्य थे । इस कुल ने उस काल में विद्या, बुद्धि एवं शक्ति पर एकाधिपत्य स्थापित कर लिया था ।

३. सूर्य ।

४. १३१४ ई० ।

५. देवगिरि का यादव-वंशीय राजा रामदेव ।

होता था पत्राचार दोनों नरेशों में ।
था प्रेम का व्यवहार दोनों ही देशों में ॥
कालचक्र ने पर अन्त में दुर्दिन दिखाया ।
मिथिलेश पर विपत्ति का बादल घुमड़ आया ॥

(१२९)

विजयी मुसलमानों की दृष्टि शक्ति-समय से ।
लोलुप लगी टकराने तीरभुक्ति[१] वलय से ॥
उद्यत हुए विदेशी अब हरिसिंह अभय से ।
रण हेतु, यात्रा की निकल बंगाल-निलय[२] से ॥
तेरह सौ चौबीस[३] में दिल्ली के सुलतान ।
ने लौट कर बंगाल से कर विजय-अभियान ॥

(१३०)

प्रत्यागमन दिल्ली किया, चला मिथिला-बाट[४] ।
हो अग्रसर हरिसिंह ने रचा रण का ठाट ॥
किया विकट समर नृप ने धर स्वयं शमन[५] रूप ।
दिल्लीश-बल अनन्त था, नृप-वीरता अनूप ॥
पर भाग्यवश उस समर में हुई उसकी हार ।
ठंडी पड़ी चमकती कर्णाट-कुल-तलवार ॥

(१३१)

सुलतान गियासुद्दीन ने मिथिला जीत कर ।
दिल्ली चला खाँ अहमद[६] को शासक बना कर ॥
वह अहमद था आत्मज मल्लिक तुवलिग्घा का ।
पर हो न सका व्यवस्थित शासन कभी उसका ॥
रही तीस वर्षों तक यही दशा मिथिला की ।
छीना-झपटी चोरी और अराजकता की ॥

---

१. मिथिला-मंडल ।
२. बंगाल राज्य रूपी आवास ।
३. १३२४ ई० ।
४. मिथिला के मार्ग होकर ।
५. काल का रूप धारण कर ।
६. बंगाल का शासक अहमद खाँ, जिसकी राजधानी लखनौती थी । वहाँ के विद्रोही शासक बहादुर शाह का शमन कर सुलतान गियासुद्दीन ने इसे उसकी जगह पर बंगाल का शासक नियुक्त किया था ।

(१३२)

चलायी पीतल-मुद्रा मुहम्मद तुगलक ने ।
लिख तुगलक पुर उर्फ तिरहुत समय में अपने ॥
पीतल दिया था उसने चाँदी के मूल्य में ।
बेवश थी प्रजा मूक किन्तु क्रोध था हिय में ॥
दो सिक्के ऐसे प्राप्त हैं उसके काल के ।
जो द्योतक हैं व्यवहार के उस क्षितिपाल के ॥

(१३३)

वर्णन हरिसिंहदेव-गयासुद्दीन रण का ।
इतिहास है स्वतन्त्रता के पुण्य अर्चन का ॥
दिल्लीश का बल विपुल था पर हरिसिंह देव ।
में बनी थी मरने की आजादी-हित टेव ॥
लेखक प्रसिद्ध फिरिश्ता ने लिखा कि मिथिलेश ।
ने विमुख हो रण-भू से कानन किया प्रवेश ॥

(१३४)

बन अगम था वह, कर में परन्तु लिया कुठार ।
काटा विटप सुलतान ने, स्वयं किया प्रहार ॥
वाहिनी इस दृश्य से उत्साह से अभिभूत ।
पा प्रबल बल निज-प्रभु से कर्मठता-संभूत ॥
मिल किया अमूल[१] बन आगे बढ़ी सेना ।
बस, लक्ष्य एक समक्ष था रिपु-जय-यश लेना ॥

(१३५)

खाइयाँ[२] थी पूर्ण जल से और गढ़ प्राकार[३] ।
उच्च वेष्ठित दुर्ग अगम, बीच भूप आगार[४] ॥
था, किन्तु पाटी खाइयाँ, तोड़कर प्राचीर[५] ।
दुर्ग-द्वार-विनष्ट कर थे बढ़े मुसलिम वीर ॥
नृप सुभट बन्दी[६] बना जो था अभी स्वाधीन ।
मिथिला बनी परतन्त्रा हो शत्रु के अधीन ॥

---

१. निर्मूल ।
२. गढ़ के चतुर्दिक् अगमजल परिपूर्ण सात खाइयाँ थीं ।
३. दुर्ग की रक्षा करनेवाली सुदृढ़ ऊँची दीवार ।
४. राजमहल ।
५. दुर्ग-प्राकार ।
६. फिरिश्ता के 'दि हिस्ट्री ऑफ दि राइज ऑफ मुहमडन पावर' (मूल का अँगरेजी में ब्रिग्स द्वारा अनुवाद)-जिल्द-१, पृ० ४०६-०७ के उल्लेखानुसार सुलतान गियासुद्दीन राजा

(१३६)

किन्तु बातें इसमें अधिक अत्युक्ति भरी हैं ।
साक्ष्य देता है साहित्य न सत्य सारी हैं ।।
रण-नत हुआ था नृपति पर न बन्दी हो सका ।
मिथिला का खोया राज्य पर वह धीर न थका ।।
सबल सेना संग उसने आक्रमण कर दिया ।
नेपाल पर उस भूमि को स्वायत्त कर लिया ।।

(१३७)

प्रहसन 'धूर्तसमागम'[१] सुखान्त कृत ज्योतीश्वर ।
और ग्रन्थ 'दानरत्नाकर'[२] लिखित चंडेश्वर ।।
में लिखा है हरिसिंह को सुलतान-विजेता ।
जग म्लेच्छ-महार्णव-मग्न का वीरवर त्राता ।।
करते हैं वे सिद्ध कि नेपाल पर उस काल ।
था फैला चुका पूर्णतया म्लेच्छ-शासन-जाल ।।

(१३८)

रण कर भगाया उन सबों को हरिसिंह देव ।
कवि ने बताया उसको था त्राता अतएव ।।
शासन किया था मिथिला पर कर्णाट-कुल ने ।
सपाद दो सदियों[३] पर्यंत शौर्य से अपने ।।
शासित हुआ उस कुल से सीधे नेपाल भी ।
शत वर्षों तक, अधीन थे सामन्त भी सभी ।।

हरिसिंह देव को सारे राज-परिवार के साथ बन्दी बना कर दिल्ली ले गया था । पर इसमें सत्यता की कमी है; क्योंकि इतिहास उसके तथा उसके बाद उसकी कई पीढ़ियों के भी नेपाल में शासन करने का प्रमाण देता है ।

१. कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर-प्रणीत द्वयांकी नाटक में हरिसिंह देव को सुरत्राणजित् (सुलतान को जीतने वाला) कहा गया है ।

२. मन्त्री चंडेश्वर-कृत 'दानरत्नाकर' के श्लोक-२ में लिखा है, यथा- 'मग्ना म्लेच्छ महार्णवे येनोद्धृता लीलया' । हरिसिंह देव को म्लेच्छ शक्ति रूप अपार सागर में प्लावित पृथ्वी का उद्धारकर्त्ता कहा गया है। ये दोनों पुस्तकें हरिसिंह देव के १३२४ ई० के युद्ध के पराभव के पश्चात् लिखी गयी थीं । उसने मिथिला से पलायन कर नेपाल की विजय की थी । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हरिसिंह देव शत्रुओं के हाथ बन्दी नहीं हुआ, और उसने किसी मुसलमान सुलतान को युद्ध में पीछे परास्त भी किया ।

३. लगभग २२५ वर्षों तक ।

(१३९)

शासन किया उन सब ने सारे नेपाल पर ।
'भटगाओं' को राजधानी अपनी बना कर ।।
करते थे राज राजा दो प्राचीन कुल के ।
थे 'पाटन' और 'काठमाण्डु' राज-पुर[१] उनके ।।
स्वामित्व किया स्वीकार उन दोनों नृपों ने ।
हृदय से किया स्वागत जेता का उन्होंने ।।

(१४०)

जय रुद्रमल था नृपति नेपाल का उसकाल ।
आक्रमण किया जब अरि-विजित मिथिला भूपाल[२] ।।
स्वागत किया नेपाल ने हरिसिंह देव का ।
स्वधर्मी[३], सूर्यवंशी, वंशज नान्यदेव का ।।
वह दूसरी[४] चढ़ाई थी कर्णाट वंश की ।
किन्तु भिन्न दशा में, इच्छा नियति नृशंस की ।।

(१४१)

षट्[५] नृपों ने कर्णाट कुल के राज था किया ।
और न्याय से नित पाल प्रजा सुयश था लिया ।।
स्वीकार किया प्रभुत्व[६] था सम्राट् चीन ने ।
उस वंश का नेपाल पर पत्रों से अपने ।।
अधिकृत की मल्ल-गद्दी जयस्थिति मल्ल ने ।
किया विवाह कर्णाट-कन्या से भी उसने ।।

---

१. राजधानी । २. राजा हरिसिंह देव ।

३. मुसलमानी शक्ति-पराभूत प्राचीन नेपाल-राजवंश के हरिसिंह देव आर्य (हिन्दू) धर्माव-लम्बी होने के कारण नेपाल-नरेशों के स्वधर्मी थे, और साथ ही पूर्व के सम्राट् नान्यदेव के वंशज भी ।

४. नान्यदेव ने मिथिला पर आधिपत्य स्थापित कर नेपाल की विजय की थी । वह कर्णाटों की नेपाल पर पहली चढ़ाई थी । हरिसिंह देव ने तिरहुत से भगाये जाकर नेपाल पर आक्रमण किया था । वह उस कुल का द्वितीय विजय-अभियान था ।

५. मिथिला में कर्णाट कुल के छः राजाओं ने राज किया था, जिनके नाम हैं– (१) नान्यदेव, (२) गंगदेव, (३) नरसिंह देव, (४) रामसिंह देव, (५) शक्तिसिंह देव, एवं (६) हरिसिंह देव ।

६. हरिसिंह देव को लेकर सूर्यवंशी कर्णाट-कुल के ४ राजाओं ने नेपाल पर शासन किया । हरिसिंह देव के पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र क्रमशः मतिसिंह, शक्तिसिंह एवं श्यामसिंह की नेपाल पर प्रभुसत्ता को चीन के सम्राट् ने पत्र लिखकर स्वीकार किया था (परसीवल लैण्डन : नेपाल, वॉल्यूम - १, पृ० ३७-३९) ।

(१४२)

उस वैवाहिक सम्बन्ध से भूपति जयस्थिति ।
अधिकारी हुआ, बना दोनों राज्यों का पति ।।
पद प्रथम सती पन्द्रहवीं[१] के उत्तरार्द्ध में ।
हुआ पतन था कर्णाट-कुल का नेपाल में ।।
राजनीति-रंगमंच से उत्तर भारत के ।
हुए अंतर्द्धान नृपति पात्र नान्य वंश के ।।

(१४३)

साहित्योत्कर्ष-युग था कर्णाट-राज-काल ।
बहु ग्रन्थ रत्न थे दिये सब नृपति विद्वत्-पाल ।।
परिपूर्ण थी राज-सभा कर्णाट-भूपों की ।
विद्वद्जनों से सदा ज्ञान-रश्मियाँ जिनकी ।।
करती थी द्योतित धरा को फैल सभी ओर ।
वह स्वर्ण युग था मिथिला का मिटा तमस घोर ।।

(१४४)

ज्ञानी चंडेश्वर तथा अन्य ठक्कुर कुल के ।
मनीषियों ने लिखे ग्रंथ अनेक संस्कृत के ।।
चालू किया स्मृति-अध्ययन कर विकास उसका ।
सृजित हुआ साहित्य सुन्दर शृंगार रस का ।।
भाष्य भावुक भवदत्त का 'नैषधचरितम्' पर ।
और पृथ्वीधर आचार्य का 'मृच्छकटिक' पर ।।

(१४५)

टीका सुभग श्रीनिवास की 'भट्टि काव्य' पर ।
श्रीकर- 'शब्दार्णव' सरस भी 'अमरकोष' पर ।।
'काव्यप्रकाशविवेक' ग्रन्थ सुन्दर श्रीधर का ।
'वर्णरत्नाकर'[२] मैथिली ज्योतिरीश्वर का ।।
आदि सकल हैं कृत्य सुघड़ साहित्य-गगन के ।
शशि शारदीय समान अमिय अंशु हैं जिनके ।।

---

१. पन्द्रहवीं शती के प्रथम चरण के लगभग १४१८ ई० में कर्णाट-कुल का अधिकार नेपाल की तराई से उठ गया था ।

२. 'वर्णरत्नाकर' वा 'वर्णन रत्नाकर' प्राचीन मैथिली भाषा में कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ने प्रणयन किया था ।

(१४६)

गणेश्वर ने लिखा था ग्रंथ 'सुगति-सोपान' ।
और भी अनेक स्मार्त्त विद्वान् प्रतिभावान् ।।
उस युग में हुए जैसे श्रीदत्तोपाध्याय ।
इन्द्रपति सशिष्य लक्ष्मी[1], हरिनाथोपाध्याय ।।
भवेश शर्मा, भानुदत्त मिश्रादि विद्वान् ।
व्याकरण का पद्मनाभ दत्त[2] स्रष्टा[3] महान् ।।

हरिसिंह देव के रण-पराभव-पश्चात् की मिथिला

(१४७)

भूप हरिसिंह देव तक तिरहुत रहा स्वतन्त्र ।
थी सत्ता सार्वभौम, था शासन राजतन्त्र ।।
पराजय[4] ने पर पलटा प्रचलित शासन-यन्त्र ।
दुसह था दुराज[5] और न शासक था निजमन्त्र[6] ।।
शासन था लखनौती का दिल्ली-निर्देशित ।
पर वास्तव में प्रजा-हित था उससे उपेक्षित ।।

(१४८)

चालू था उधर वीर हरिसिंह का संघर्ष ।
नेपाल-राट, जिसका अब था वहाँ उत्कर्ष ।।
यह सत्य है कि कर्णाटों ने यत्न न छोड़ा ।
निज पैतृक राज्योद्धार से मुँह नहीं मोड़ा ।।

---

१. पंडित लक्ष्मीपति मनीषिप्रवर इन्द्रपति के विद्वान् एवं मेधावी शिष्य थे ।

२. पद्मनाभ दत्त ने 'सुपद्म' एवं उसके अन्य पूरक ग्रन्थों का प्रणयन कर व्याकरण अध्ययन की एक नयी पद्धति को जन्म दिया था, जिसका प्रचार बंगाल के जैसोर तथा खुलना जिलों में पाकिस्तान-राज्य के जन्म के पूर्व तक था ।

३. रचयिता ।

४. मिथिला-पति हरिसिंह देव की १३२४ ई० में दिल्ली के सुलतान गियास-उद्-दीन तुगलक के साथ संग्राम में पराजय ।

५. उस काल मिथिला में बंगाल के लखनौती तथा दिल्ली, दोनों ही का शासन चलता था । ऊपर से हरिसिंह देव का नेपाल से ही छापामार शासन मिथिला के अधिक अंश पर चालू था ।

६. लखनौती का अधिकार-प्राप्त शासक भी तिरहुत का शासन करने में पूर्ण स्वतन्त्र नहीं था ।

भूपति हरिसिंह देव से नृप श्यामसिंह तक ।
का मिथिला में था राज, हैं कहते कथानक[१] ॥

(१४९)

थी बात वास्तव में कि न शासन व्यवस्थित था ।
प्रभुत्व लखनौती का भी न वहाँ सुस्थित था ॥
अति शीघ्रता से शासन[२] शासक बदलता था ।
थी प्रजा वहाँ बेचैन यही क्रम चलता था ॥
शासन प्रजाशन[३], शोषक धन-लोभ में शासक ।
नित निरत रह निर्मम बना था अर्थ-उपासक ॥

(१५०)

विद्रोह गौड़[४] दिल्ली से करता बार-बार ।
था, चला फिरोज तुगलक[५] ले वाहिनी अपार ॥
शमन-हित गौड़ाधिप के होकर मिथिला धीर ।
थी परिस्थिति वहाँ की तब भी अधिक गम्भीर ॥
शासन की सु-व्यवस्था-हेतु मिथिला राज्य की ।
नयी नीति उस सुलतान ने तब स्वीकार की ॥

ओइनवार राज-वंश (१३५४-१५२६)

कामेश्वर ठाकुर (शासन-अल्पकाल)

(१५१)

तेरह सौ चौवन[६] अब्द में राज्य मिथिला का ।
राजा बना सामन्त अपना करद कोटि का ॥
विद्वद्वर ब्राह्मण-कुलोद्भव मूल ओइनवार ।
ओइनी के गोत्र काश्यप सुज्ञ शुद्धाचार ॥

---

१. मिथिला में कथानक प्रचलित है कि राजा हरिसिंह देव के पलायन-पश्चात् भी कर्णाट-कुल का राज्य उसके पुत्र मतिसिंह देव, पौत्र शक्तिसिंह देव, तथा प्रपौत्र-श्यामसिंह देव तक किसी न किसी अंश में तिरहुत में बना रहा था ।
२. दिल्ली का केन्द्रीय शासन ।
३. प्रजा का भक्षक अथवा उसका निर्दयता से शोषण करने वाला ।
४. बंगाल की राजधानी का प्राचीन नाम गौड़ था ।
५. इतिहास-लेखक बर्नी के लेखानुसार फिरोज तुगलक ने १०वीं शौआल, ७५४ हिजरी (८ नवम्बर, १३५४ ई०) के दिन बंगाल के लिए दिल्ली से प्रस्थान किया था (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २९१) ।
६. १३५४ ई० ।

सभासद हरिसिंह नृप के कामेश्वर ठाकुर ।
को फिरोज तुगलक भूपति ने दिया बुला कर ।।

(१५२)

मतिसिंह था सम्राट् नेपाल का उस काल ।
हरिसिंहात्मज[1] नरपति का शौर्य था विकराल ।।
मिथिला के मुसलिम शासक को चैन नहीं था ।
शासन में नृप-आतंक से न स्थैर्य कहीं था ।।
सम्भवतः इसी कारण से फ़िरोज[2] ने दिया ।
राज्य उसको मिथिला का और दान-यश लिया ।।

(१५३)

राजभक्त था कामेश्वर मति-पिता सभासद्[3] ।
विश्वासी, उसका आचरण न था कभी असद् ।।
विद्यापति ने दिया विरुद निज 'कीर्त्तिलता' में ।
कामेश्वर को पारंगत विप्र विद्वत्ता में ।।
'राजपण्डित', 'राय' के सम्मान के भी साथ ।
पर न बताया कहीं उसको मिथिला का नाथ ।।

(१५४)

'गंगा कृत्य विवेक' में पर बुद्ध वर्द्धमान ।
ने दिया है उसको मिथिला-शासक[4] का मान ।।
ऐग्गलिंग[5] है बताता उसे प्रथम मिथिलेश ।
अध्ययन कर साहित्य, वह शंकित है न लेश ।।
है बात सच्ची यह कि न वह शासन कर सका ।
रुका धार में कारण-वशात् बेड़ा उसका ।।

---

१. हरिसिंह देव, कर्णाट क्षत्रिय राजा का पुत्र मतिसिंह ।
२. दिल्ली के सुलंतान फिरोज तुगलक ।
३. हरिसिंह देव की मिथिला-राज सभा का पंडित ।
४. 'गंगा कृत्य विवेक' में वर्द्धमान ने लिखा है, यथा– 'कामेशो मिथिलाम् अशासत' । इससे सिद्ध होता है कि उसने कुछ काल तक राज किया था ।
५. विद्यापति की 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' तथा 'दुर्गोत्सव-पद्धति' के आधार पर विद्वान्, एग्गलिंग द्वारा सम्पादित 'इण्डिया ऑफिस कैटलॉग', भाग-४, नं० २५६४ में कामेश्वर को ओइनवार वंश का प्रथम राजा बताया गया है ।

भोगीश्वर ठाकुर

(१५५)

भोगीश्वर था आत्मज[१] कनिष्ठ कामेश्वर का ।
प्रिय सखा[२] था वह शाह फिरोज[३] दिल्लीश्वर का ।।
मिथिला की गद्दी उसने दी भोगीश्वर को ।
निज प्रिय सुहृद् को, अपदस्थ कर कामेश्वर को ।।
यह कार्य किया उसने बंगाल से लौट कर ।
उपकृत किया स्व सखा को सिंहासन देकर ।।

(१५६)

उस नृप[४] ने किया न काम कोई निशानी का ।
पद्मावती था नाम भूपति की रानी का ।।
नरपति ने किया शासन तेतीस[५] वर्षों तक ।
छोड़ संसार, राजा हुआ उसका बालक ।।
गणेश्वर[६], पर प्रसिद्ध है कि उसका अभिषेक ।
न हो सका निर्विघ्न बीच अंतराय[७] अनेक ।।

गणेश्वर ठाकुर

(१५७)

भवेश्वर था लघु तनय नरेन्द्र कामेश्वर का ।
भोगीश्वर का बन्धु, पितृव्य गणेश्वर का ।।
झंझट हुई खड़ी भोगीश्वर-मृत्यु-पश्चात् ।
उत्तराधिकार-हेतु दोनों में अकस्मात् ।।
हो गया भवेश शान्त पंच-निर्णय मान कर ।
पर कुमार उसके दोनों थे हुए रुष्टतर ।।

---

१. पुत्र ।
२. विद्यापति के ग्रन्थ 'कीर्त्तिलता', पृ० १ (इण्डियन गवर्नमेण्ट मैनुस्क्रिप्ट, द्वितीय पल्लव) पृ० ४ में अंकित है, यथा– 'मति कामेसर सन राए, तसुनन्दन भोगीस राय वरभोग पुरन्दर...... पिय सख भनि पियरोज साहसुरतान समानल' । सखा = मित्र ।
३. फिरोज तुगलक ।
४. मिथिलापति भोगीश्वर ठाकुर ।
५. ३३ वर्ष ।
६. गणेश्वर ठाकुर ।
७. विघ्नबाधा ।

(१५५)

हरिसिंह तथा त्रिपुर सिंह भवेश-पुत्रों ने ।
ले सहायता दो मित्रों[1] से मारा अपने ॥
पितृव्य-पुत्र ज्ञानेश्वर को, जो था नरेश ।
पर विद्यापति देते हैं अन्य ही[2] निर्देश ॥
तेरह सौ इकहत्तर[3] में वैरी मुसलमान ।
ने मारा उसे धोखा दे लोलुप असलान ॥

(१५६)

मृत[4] नृपति के थे तीन[5] तनय जिनकी थी शान ।
वीर, कीर्त्ति तथा राज अतुल योद्धा बलवान् ॥
माँग कुमुक कुमारों ने इब्राहिम शाह[6] से ।
जौनपुर के शासक दिल्लीश-सैन्यपाल से ॥
किया विकट संगर शूरता से असलान से ।
भूशायी किया शत्रु को ले खड्ग म्यान से ॥

कीर्त्तिसिंह

(१६०)

पर खेत आया स्वयं भी ज्येष्ठ राजकुमार[7] ।
वीर सिंह उस समर में अरि-दल को संहार ॥
योग से इब्राहिम के वर शूर पुरुष-सिंह ।
अभिषिक्त हुआ गद्दी पर कुमार कीर्त्तिसिंह ॥

---

१. भवेश्वर के दोनों पुत्र हरिसिंह एवं त्रिपुर सिंह ने अपने दो सहायक मित्र अर्जुन राय एवं रत्नाकर के सहयोग से षड्यन्त्र कर राजा गणेश्वर की हत्या कर दी (म० म० पं० परमेश्वर झा : मिथिला-तत्त्व-विमर्श, पृ० १४९; डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० २९७) । सम्भवतः अर्जुन राय भी राजपरिवार का ही त्रिपुर सिंह का तनय था, जिसे राजा गिरिनारायण पुरादित्य, द्रोणवार राजा ने मारकर 'अर्जुन विजेता' का विरुद प्राप्त किया था ।

२. विद्यापति के वर्णनानुसार गणेश्वर की हत्या करने वाला असलान नामक मुसलमान था ।

३. १३७१ ई० ।

४. राजा गणेश्वर ठाकुर ।

५. तीन पुत्र - (१) वीरसिंह, (२) कीर्त्तिसिंह, तथा (३) राजसिंह ।

६. इब्राहिम शाह जौनपुर का शर्की सुलतान था, जिसने दिल्ली की प्रभुसत्ता से अपने को स्वतन्त्र कर स्वयं पूर्वोत्तर भारत का सुलतान बन गया था ।

७. राजकुमार वीरसिंह ।

दिया था ज्ञानेश्वर ने कुछ अंश मिथिला का ।
पितृव्य निज भवेश्वर की बाँट भाग उसका ।।

(१६१)

मिथिला अतः बँट गयी थी तब दो राज्यों में ।
चलते थे दो शासन उन दोनों भागों में ।।
अनुरूप पूर्वजों के था नृपति कला-पोषक ।
विद्याप्रेमी एवं विद्वानों का तोषक ।।
न मिला था वीरसिंह को यद्यपि कभी राज ।
पर विद्यापति ने लिखा महाराजाधिराज[1] ।।

(१६२)

अमर समर कर भूशायी हुआ ज्येष्ठ कुमार[2] ।
इससे प्राप्त हुआ मझले[3] को राज्याधिकार ।।
राज्य इब्राहिम ने दिया 'कीर्त्ति'[4] बलवान् को ।
कर संगर[5] में पराभूत शत्रु असलान को ।।
मुखापेक्षी हुआ अतः तिरहुत जौनपुर का ।
चौदह सौ साठ[6] तक बना रहा दास उसका ।।

(१६३)

विद्यापति ने प्रशंसा की नृप-वीरता की ।
परशुराम-राम-बाली जैसी धीरता की ।।
है कहा उसको अरि-सूदन शत्रु-संतापी ।
दृढ़ ब्रती, प्रतिशोधी और समर-शूर दापी[7] ।।
लिया विरुद उसने 'राजगुरु' का किन्तु उसके ।
कार्य हैं अज्ञात, पर भूप-शासन-काल के ।।

---

१. कुमार वीरसिंह को मिथिला के सिंहासन पर बैठनें का कभी अवसर प्राप्त न हो सका, पर विद्यापति ने 'कीर्त्तिलता' में उसे 'महाराजाधिराजा' की उपाधि से विभूषित किया है (इण्डिया गवर्नमेण्ट मैनुस्क्रिप्ट, द्वितीय पल्लव, पृ० ४) । यह उपाधि केवल प्रशस्तिवाचक प्रतीत होती है ।
२. वीरसिंह ।
३. मझले राजकुमार कीर्त्तिसिंह ।
४. कीर्त्तिसिंह ।
५. समर ।
६. १४६० ई० ।
७. शक्तिशाली, बलवान् । विद्यापति ने शत्रुओं के शमन करने में कीर्त्तिसिंह की उपमा राम 'परशुराम तथा बालि से दी है (कीर्त्तिलता, प्रथम पल्लव, श्लोक - ५) ।

(१६४)

स्तुत्य हैं साहित्यिक कृत्य, हुए अति विद्वान् ।
उस काल में कई जिनका आज भी है मान ॥
थी अप्रतिम विद्वद्वरों से न नृप-सभा रिक्त ।
थे मिश्र दामोदर विद्यापति के अतिरिक्त ॥
लेखक था 'वाणीभूषण' का वह विद्वद्वर ।
कई और भी थे ख्यातनामा पंडित प्रवर ॥

भवसिंह देव वा भवेश्वर

(१६५)

चौदह सौ दो तथा दश[1] के बीच राज्य-काल ।
कीर्त्तिसिंह का था, तब वह मरा पृथ्वी-पाल ॥
नि:सन्तान थे तीनों पुत्र गणेश्वर के ।
इससे अभिषेक हुआ भाल में भवेश्वर[2] के ॥
वह कनिष्ठ आत्मज था भूपति कामेश्वर का ।
दिया भाग्य ने जिसे अखण्ड राज्य तिरहुत का ॥

(१६६)

प्राय: भवसिंह को लोग भवेश कहते थे ।
प्रशस्तिकार गण उसकी प्रशंसा करते थे ॥
पर उसमें है अत्यधिक अत्युक्ति की मात्रा ।
कहा योद्धा, न की यद्यपि उसने रण-यात्रा ॥
किये उसने अनेक यज्ञ और देकर दान ।
तुष्ट किया ब्राह्मणों को कर पूरा सम्मान ॥

(१६७)

अति वृद्ध था भवसिंह अपने मृत्यु-काल में ।
कर शासन तीस वर्ष[3] पैठा काल-गाल में ॥
तीन रानियाँ थीं राजा को दो जिनमें से ।
हुई सती[4] शिव-सामने चढ़ चिता स्वेच्छा से ॥

---

१. १४०२ और १४१० ई० के बीच ।

२. भवेश्वर राजा कामेश्वर ठाकुर का पुत्र तथा राजा भोगीश्वर ठाकुर का अनुज था । भवेश्वर का दूसरा नाम भवेश भी था ।

३. ३० वर्षों तक ।

४. विद्यापति के अनुसार भवसिंह देव की दो रानियाँ उसकी मृत्यु के पश्चात् वाग्मती नदी के तट पर चितारोहण कर पति के साथ सती हो गयीं ('पुरुप-परीक्षा', समाप्ति की छन्द-संख्या-१, यथा— "वाग्वत्यां भवसिंह देव नृप[illegible] शिवागंवपु: ....") ।

भरा था विद्वानों से भवेश का दरबार ।
जिनमें गोनू थे विशिष्ट हास्य-रस-अवतार ।।

(१६८)

थे दार्शनिक मीमांसक गंगेश उपाध्याय ।
रच 'न्याय-तत्त्व-चिन्तामणि' जिसने ग्रन्थ न्याय ।।
उपकृत किया संसार को और सुत उसका ।
वर्द्धमान भी वहाँ था प्रिय सभासद् नृप का ।।
रचयिता 'शुद्धिनिबन्ध' के मुरारि कवि सुज्ञ ।
ने कहा कि दादा[1] उसके थे विचारक विज्ञ ।।

देवसिंह

(१६९)

पायी मिथिला-गद्दी भवेश्वर के पश्चात् ।
ज्येष्ठ सुत देवसिंह ने यह है सब को ज्ञात ।।
पर राज्य-प्राप्ति अब्द उसका है विवाद-ग्रस्त ।
सुलझाने में गुत्थी को हैं विद्वद्गण व्यस्त ।।
नृप था आदर्श चरित, उदार, दानी, नेमी ।
पोषक मनीषियों का, निर्माण-कला-प्रेमी ।।

(१७०)

ओइनी से राजनगर को स्थानान्तरित कर ।
बनायी नृप ने देकुली में लग्न शोध कर ।।
भूपति ने किया था पाणिग्रहण हासिनी का ।
रामेश्वर की तनया, श्वसुर था उच्च कुल का ।।
दिये दान उसने हय, गय और स्वर्ण-रथ भी ।
तुला[2] दान किया था नृपति ने सत्य हैं सभी ।।

(१७१)

किया तुष्ट ब्राह्मणों को दे दान बार-बार ।
अब भी कई सरोवर नृप-कृत्य हैं साकार ।।
सर्वश्रेष्ठ उनमें है शासन-शंकरपुर का ।
दरभंगा जिलान्तर्गत सकुरी के निकट का ।।

---

१. मुरारि कवि के कथनानुसार उसके पितामह महामनीषी हरिहर भवसिंह के दरबार में मुख्य न्यायाधीश के पद को सुशोभित कर रहे थे (जरनल ऑफ एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९१५; न्यू सीरीज, पृ० ४१७) ।

२. देवसिंह ने अपने शरीर के बराबर तौलकर सोना ब्राह्मणों को तुलादान में दिया था ।

लगभग चौदह सौ तेरह[1] में देवसिंह ने ।
त्यागा संसारं सौंप राज्य तनय को अपने ।।

(१७२)

श्रीदत्त, हरिहर, विद्यापति, तथा वर्द्धमान ।
आदि थे विद्वान् नृपति-सभा में विद्यमान ।।
लिखी थी 'भूपरिक्रमा'[2] विज्ञ विद्यापति ने ।
इक 'अग्निदान पद्धति' स्मार्त श्रीदत्त कवि ने ।।
हरिहर पितामह पूज्य विद्वद्वर मुरारि का ।
मनीषि न्यायाधीश था नृप छत्रधारी का ।।

(१७३)

सुग्रन्थ 'स्मृति-तत्त्वामृत' वर्द्धमान उपाध्याय ।
ने लिखा ईश-प्रीत्यर्थ महामहोपाध्याय ।।
धर्माधिकारी वह था देव मिथिलेश्वर का ।
स्थापक देकुली-मन्दिर वर्द्धमानेश्वर का ।।
दो सुत हुए हासिनी से नृप देवसिंह को ।
शिव पद्म[3], मिला राज्य ज्येष्ठ तनय शिवसिंह को ।।

शिवसिंह देव

(१७४)

शिवसिंह श्रेष्ठ नृपति था स्वातन्त्र्य-अराधक ।
आरम्भ से युवराज था तेजस्वी बालक ।।
शिशुपन से ही वह था निज पिता का सहायक ।
शासन में, ऊन-षोडस[4] का वह राज नायक ।।
इतिहास कहता है कि था भूप-शासन-काल ।
चौदह सौ तेरह से सम्भवतः चार[5] साल ।।

---

१. १४१३ ई० ।

२. विद्यापति प्रणीत 'भू-परिक्रमा' में बलदेव जी के नैमिषारण्य से जनकपुर तक की यात्रा का वर्णन है, जिसके बीच उनको छोटी-छोटी उपदेशप्रद कथाएँ सुनायी गयी हैं ।

३. हासिनी रानी से देवसिंह के दो पुत्र हुए– (१) शिवसिंह देव तथा (२) पद्मसिंह देव ।

४. युवराज शिवसिंह १५ वर्षों की छोटी अवस्था से ही अपने पिता के शासनकार्य में हाथ बँटाने लग गये थे (डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३०९) ।

५. १४१३ से १४१६ ई० तक लगभग ३ वर्ष ९ महीने मात्र ।

(१७५)

देकुली से लायी उसने निज राजधानी ।
गजरथपुर[1] में नृप था उच्चाकांक्षी मानी ।।

ध्येय उसका था स्वाधीन करना मिथिला को ।
प्रभुत्व से विधर्मियों के भू-माँ शिथिला को ।।

किया विद्रोह उसने स्वराट् से एक बार ।
पिता जीवन-काल में ही, कर रण गया हार ।।

(१७६)

स्वेच्छा से किया था बन्द उसने कर देना ।
सम्राट् ने हो क्रुद्ध तब भेजी थी सेना ।।

जनश्रुति है कि रण में हुई शिवसिंह की हार ।
बन्दी बनना मिला उसे माँ-पूजोपहार ।।

विद्यापति ने छुड़ाया उसे नृपपुर[2] जा कर ।
संतुष्ट कर सुलतान को निज ज्ञान दिखाकर ।।

(१७७)

लक्ष्मणाब्द दो सौ तिरानबे[3] में देव नृपति ।
जग छोड़ चला बताता है लेख विद्यापति ।।

इसके पूर्व दर्प-दलन हेतु वीर युवक के ।
स्वतन्त्रता के शत्रुओं से मन्त्रणा करके ।।

किया आक्रमण जौनपुर के शर्की सुलतान ।
ने, रण कर नृप ने मिटा दी उसकी तब शान ।।

(१७८)

इस विजय ने बढ़ाया युवक भूपति का मान ।
पूरा हुआ स्वतन्त्रता का उसका अरमान ।।

---

१. गजरथपुर का दूसरा नाम राजा के ही नाम पर शिवसिंहपुर पड़ा था, जो दरभंगा से लगभग ४-५ मील दक्षिण-पूर्व दिशा में स्थित था। उसका खण्डहर बहुत दूर तक वहाँ फैला है। कृषकों ने उस स्थान को कृषि के हेतु खेतों में परिणत कर दिया है।

२. शर्की सुलतान इब्राहिम शाह की राजधानी जौनपुर। कुछ विद्वानों के मतानुसार दिल्ली।

३. लक्ष्मणाब्द २९३ अर्थात् १४१२ वा १४१३ ई०।

प्रजा हुई प्रसन्न एवं विजय-हर्ष-विभोर ।
भूली भूप-मृत्यु[1] फैला शोर[2] जय सब ओर ।।
राजस्व देना बन्द किया वीर नरेश ने ।
ढलवाये स्वर्ण-सिक्के भी नाम के अपने ।।

(१७९)

इस बार सुलतान हो गया असन्तुष्ट घोर ।
भेजी सेना दमन हेतु उसने अब अथोर[3] ।।
आक्रमण किया मिथिला पर सुलतान अनी ने ।
किया सामना समर में ओइनवार मणि[4] ने ।।
रण-भूमि में था विद्यापति भूपति के साथ ।
जब भिड़ा था विधर्मियों से मिथिला का नाथ ।।

(१८०)

रंग[5] में थी गूँजती शस्त्रास्त्र की झंकार ।
चमकती चपल चपला सम वीर कर तलवार ।।
परिघ, मूसल, परशु, नेजा, बाघनखा, त्रिशूल ।
लौह-निर्मित गदा, बाना समय के अनुकूल ।।
कवच कठिन कठोर परिकर त्राण-सिर अय-टोप[6] ।
से सजे शूर लड़ रहे थे अरि से कर कोप ।।

(१८१)

प्रलय-झंझावात बन कर क्षिप्रगति से वीर ।
समर-भू-रिपु-विटप-वन उन्मूलते थे वीर ।।
रथ अश्व गज पदाति सैन्यों की थी भरमार ।
दोनों दलों में जय-हित थी मची विकट मार ।।

---

१. शर्की सुलतान का शिवसिंह के विरुद्ध आक्रमण उसके वृद्ध पिता के जीवन के अन्तिम दिनों में हुआ था । शिवसिंह की विजय हुई । पर उसी काल के लगभग राजा देवसिंह का देहावसान भी हो गया । किन्तु शिवसिंह देव की विजय का आनन्द-स्रोत सारे मिथिला में उमड़ पड़ा, जिसमें उसके पिता देवसिंह की मृत्यु का शोक प्लावित होकर विलीन हो गया ।

२. जय-निनाद, विजय-घोष ।

३. थोड़ा नहीं अर्थात् अत्यधिक ।

४. राजा शिवसिंह देव ।

५. समर-क्षेत्र ।

६. लोहे का बना शिरस्त्राण ।

मातृ-भू-स्वाधीनता-हित एक का था रार ।
दूसरे की शोषण-हेतु थी वहाँ तकरार ।।

(१८२)

दोनों के बीच हुआ समर कस कर इस बार ।
उन्मत्त थे दोनों ही न मानते थे हार ।।
जौनपुर था समर-लीन दिल्ली[1] भी थी क्रुद्ध ।
मिल सेना-प्रजा मिथिला की करती थी युद्ध ।।
अरि की अनी अमित थी और शिव नृप के साथ ।
था सैन्य सीमित मिथिला का तीक्ष्ण तेग हाथ ।।

(१८३)

तीर युत तूणीर कर में था कठिन कोदंड ।
निरख चपला-चपलगति था काँपता ब्रह्मांड ।।
विचरता था रंग में वह बना शमन[2] प्रचंड ।
भागता भयभीत रिपु लख मानो काल-दंड ।।
पटी संगर-भू शवों से अमित थे नर-मुंड ।
कटे अश्व अनन्त थे करि छिन्न मस्तक रुंड[3] ।।

(१८४)

सैन्य की मिथिलेश के अब हुई संख्या क्षीण ।
पर न उनमें एक भी था देश-प्रेम-विहीन ।।
माँ को चढ़ाया शीश-सुमन समुद हँस-हँस कर ।
की अर्चना वीरों ने ले कृपाण कठिन कर[4] ।।
चले सुभट स्वर्ग दश-दश को भेज एक-एक ।
यमपुरी, वपु[5] में चेतना तब तक रही नेक ।।

(१८५)

क्षीण बल शिवसिंह हुआ शस्त्रों के घाव से ।
होने लगा निश्चल वहाँ अति रक्त-स्राव से ।।

---

१. शिवसिंह देव का युद्ध जौनपुर के शर्की सुलतान के विरुद्ध चल ही रहा था, पर जौनपुर के शत्रु दिल्ली भी शिवसिंह देव से सन्तुष्ट न था । ओइनवारों ने दिल्ली के विरोधी जौनपुर की अधीनता स्वीकार कर ली थी । अतः उनके प्रति दिल्ली सुलतान का क्रोध स्वाभाविक था ।

२. मृत्युरूप, यमराज ।

३. बिना शीश का शरीर, वह शरीर जिसके हाथ, पैर और मस्तक कटे हों ।

४. सशक्त हाथों में तीखी तलवार लिये । ५. शरीर ।

निर्बल हुआ, कर ध्यान उसने जननी-भू[1] का ।
वपु का किया बलिदान, न कर्त्तव्य से चूका ।।
कहना है कुछ का नृप के भौतिक शरीर को ।
सुलतान साथ ले गया[2] कर बन्दी वीर को ।।

(१८६)

कहते हैं कोई नृपति-काया कैद न हुई ।
उद्योग से ग़ाजियों[3] के कानन[4] चली गई ।।
पर नृपति की पराजय ने कर दिया परतन्त्र ।
सदा के लिए मिथिला को न रहा वह स्वतन्त्र ।।
स्वाधीनता-प्रज्वलित दीप अकाल चुक[5] गया ।
मिथिला गगन का चमकता नक्षत्र लुक[6] गया ।।

(१८७)

भारत-नेपाल-सीमा पर के शिवराज गढ़ ।
का अवशेष खड़ा जगत् को बताता है बढ़ ।।
शिवसिंह-नृप-स्मारक हैं हम स्थिर और सुदृढ़ ।
दुर्गम दुरूह दुर्जनों को अरि अगम निगूढ़ ।।
यदि जीवित होता निश्चय नृप शासन करता ।
कर पालन प्रजा जनपद का दुःख भी हरता ।।

(१८८)

गढ़ निर्मित हुआ स्यात् स्वातन्त्र्य-रण के बाद ।
निर्माण-स्थल जग हो यह देता है संवाद ।।

---

१. मातृभूमि मिथिला ।

२. कहा जाता है कि उस युद्ध में पराजित शिवसिंह को विजेता ने बन्दी बना लिया, और उसी रूप में उसे शत्रु दिल्ली ले गया (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी - १८९९, पृ० ९७-९८) । युद्ध शर्की सुलतान से हुआ था । अतः उसका बन्दी के रूप में दिल्ली जाना कदापि संभव न था । परन्तु शिवसिंह देव का रणबन्दी होना भी संदिग्ध ही जान पड़ता है । यदि शिवसिंह कैद कर लिये गये होते तो यह बात लखिमा रानी तथा विद्यापति से छिपी नहीं रह सकती थी । विद्यापति ने अपने मित्र एवं आश्रयदाता राजा के उद्धार का प्रयत्न अवश्य किया होता, जैसा एक बार उन्होंने पूर्व में किया भी था ।

३. धर्म के लिए आततायियों से युद्ध करने वाले और सफलता न मिलने पर भी उसके हेतु जीवनपर्यन्त प्रयत्नशील रहने वाले को 'गाजी' कहा जाता है ।

४. जंगल, वन ।

५. बुझ गया ।

६. छिप गया ।

जीवित बचा था नृप यदि तो संगर[१] त्याग कर ।
चालू रखा था संयुग[२] कानन में वास कर ।।
यदि रण में मरा वह अथवा बन्दी हो गया ।
तो स्मारक-निर्माण उसकी रानी ने किया ।।

(१८९)

छः रानियाँ थीं नृप को 'पदावली'-अनुसार ।
लखिमा थी ज्येष्ठ सबों में विद्यागुणागार ।।
शिवसिंह-सुहृद् नृपति-श्रेष्ठ वीर पुरादित्य[३] ।
था विक्रमी अलौकिक, आदर्श थे नृप-कृत्य ।।
सप्तरी-राजबनौली[४] थी नृप-राजधानी ।
स्वतन्त्र, उदार वह था निःशंक और मानी ।।

(१९०)

गिरिनारायण भूप पुरादित्य का उपनाम ।
था, द्रोणवार कुल का, थे स्तुत्य उसके काम ।।
वह वत्स गोत्रोद्भूत था, ब्राह्मण भूमिहार ।
उस कुल का भी मिथिला में, था अवनि अधिकार[५] ।।
'अर्जुन-विजेता'[६] वह था 'विद्यापति' अनुसार ।
'लिखनावली' नृपति का है गाती सुयश[७] सार ।।

(१९१)

शरणार्थी हो लखिमा[८] उस समर के पश्चात् ।
दरबारियों[९] के संग गयी नृप से कर बात ।।

---

१. रण । २. समर, युद्ध ।
३. द्रोणवार ब्राह्मण-कुल का राजा गिरिनारायण पुरादित्य ।
४. पुरादित्य की राजधानी नेपाल तराई में स्थित सप्तरी जिले के राजबनौली में थी ।
५. द्रोणवारों का आधिपत्य तिरहुत की कुछ भूमि पर भी था । दरभंगा जिले में नरहन राज्य के संस्थापक एवं स्वामी इन्हीं द्रोणवारों में से एक थे ।
६. विद्यापति के ग्रन्थ 'लिखनावली' के वर्णनानुसार वह पुरादित्य 'अर्जुन-विजेता' था । उसने ओइनवार-कुल के एक आततायी कुमार अर्जुन, जिसका सम्बन्ध राजा गणेश्वर ठाकुर की हत्या के षड्यन्त्र से था, को मार कर ओइनवार परिवार के शोक-संतप्त सदस्यों का क्लेश कम किया था ।
७. पुरादित्य की यश-गाथा । ८. शिवसिंह देव की पटरानी लिखमा देवी ।
९. शिवसिंह देव के रण-पराभव के पश्चात् विद्यापति, अन्य मुख्य दरबारीगण तथा राज-परिवार के सदस्यों के साथ लखिमा रानी ने अपने पति के सुहृद् द्रोणवार राजा पुरादित्य की राजधानी में जाकर शरण ली थी ।

स्वागत किया नृपति ने निज अतिथि आपन्न को ।
कर अभय निर्भय हृदय से आगत विपन्न को ।।
कुछ काल तक कर वास वहाँ उसी हालत में ।
किया राज्य प्राप्त अपना उसने विरासत में ।।

(१९२)

था विद्याप्रेमी उद्यमी शिवसिंह भूपति ।
दानी नेमी प्रेमी क्षेमी नायक नरपति ।।
शोषक शत्रु प्रणत-पोषक तोषक[1] विद्यापति ।
निर्माता निपुण कला-प्रिय सौम्य स्वरूप सुमति ।।
उपासक अनासक्त योग फलाकांक्षा विरति ।
वर सेवक स्वतन्त्रता का अर्चक देशोन्नति ।।

(१९३)

वह सर्वश्रेष्ठ भूप था ओइनवार-कुल का ।
विद्यमान हैं प्रमाण उसके कृत्य विपुल का ।।
मिथिला में अनेक जिनको अद्यावधि समाज ।
है मानता आदर्श, जो दृष्टिगत हैं आज ।।
पोखर विशाल रजोखर का तथा घोड़दौड़ ।
है भूपति-कृत्य दीखते एवं कई और ।।

(१९४)

निज राजधानी देकुली से गजरथपुर में ।
की स्थानान्तरित नृपति ने राज्यारम्भ-काल में ।।
शिवसिंह पुर भी उसको सब लोग कहते थे ।
वैभव-विपुलता उसकी लख मुग्ध रहते थे ।।
विद्यापति को उसने दिया विसफीपुर दान ।
वहीं से ताम्रपत्र[2] पर उत्कीर्ण कर प्रमाण ।।

(१९५)

'पुरुष-परीक्षा' लिखी कवि ने नृपति-आज्ञा से ।
है भरी पूरी 'कीर्त्तिलता' नृप-प्रशंसा से ।।

---

१. शिवसिंह ने दरभंगा जिले में अपनी राजधानी गजरथपुर के निकट का विसफी ग्राम विद्यापति को दान में देकर उन्हें सन्तुष्ट किया था ।
२. शिवसिंह ने ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण कर विसफी ग्राम विद्यापति को दान में दिया था (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी [illegible]; एस० एन० ठाकुर : महाकवि विद्यापति, पृ० ८-९) ।

विरुद उस नृपेन्द्र का था 'रूपनारायण' का ।
लघुकाल उसका शासन रहा किन्तु चैन का ।।
अच्युत, पितामह रवि का, 'मधुमति' का रचयिता ।
प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्य-प्रकाश' का भाष्य-प्रणेता ।।

(१९६)

शिवसिंह का था मन्त्री, तथा सुज्ञ महेश्वर ।
पति रेणुका देवी के, और पंडित रतिधर ।।
नाह रूपिणी देवी के, भी सचिव नृपति के ।
थे, शंकर[1] जयमति-पति पदाधिकारी उसके ।।
सम्भवतः वह था प्रथम नृप राज्य मिथिला का ।
स्व नाम से जिसने चलाया सिक्का स्वर्ण का ।।

(१९७)

मिथिलेश की वह राजमहिषी लखिमा देवी ।
थी विदुषी विख्यात एवं साहित्य-सेवी ।।
राजसभा भी थी प्रश्रय विद्वत्-समाज का ।
विद्यापति, वाचस्पति आदि पंडित-राज का ।।
लिखे प्रथम ने ग्रंथ कई 'पदावली' जिनमें ।
है प्रचलित आज घर-घर सम्पूर्ण तिरहुत में ।।

(१९८)

वाचस्पति मिश्र प्रणीत ग्रंथ 'तत्त्व-कौमुदी' ।
अमर कीर्त्ति विवादचन्द्र आदि 'चन्द्र-कौमुदी' ।।
की ज्योत्स्ना हिय-सुखद शीतल तापहारी है ।
नभ संस्कृत के विमल विधु आनन्दकारी है ।।
मैथिली[2] साहित्य का भी आदि शैशव-काल ।
था वही विद्यापति ने लिखा नव काव्य-जाल ।।

---

१. विद्यापति के ग्रंथ 'पदावली' में जयमति देवी के पति शंकर का उल्लेख है । सम्भवतः वह शिवसिंह के राज्य का कोई विशिष्ट पदाधिकारी था (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९१५, पृ० ४१२) । 'पदावली'-संख्या ७६, ३३३, ३५७ आदि में और भी दो पदाधिकारियों की चर्चा आयी है ।

२. शिवसिंह देव के समय में संस्कृत साहित्य की उन्नति चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी । मैथिली साहित्य का भी विकास इसी काल में आरम्भ हुआ था, जिसका आभास विद्यापति की कविताओं में मिलता है । कहा जा सकता है कि शिवसिंह देव मिथिला के राजा भोज थे ।

लखिमा रानी (१४१६-१७ से १४२८-२९ ई० तक)

(१९९)

शिवसिंह नृप का नाम है प्रसिद्ध घर-घर में ।
कवि-कोकिल-पदों में लखिमा साथ दर-दर में ।।
जनश्रुति है कि लखिमा रानी पति के पश्चात् ।
सिंहासनारूढ़ हुई शोक-संतप्त गात ।।
ले चौदह सौ सोलह[1] में सनद सुलतान से ।
विद्यापति-परामर्श से पति-रिपु महान् से ।।

(२००)

कहते हैं लोग कि वह युद्ध हुआ उसी साल[2] ।
तथा समर-सेज-शायी हुआ वीर महिपाल ।।
रानी ने किया राज बस बारह[3] वर्षों तक ।
हुई सती चढ़ चिता पर कर पान गंगोदक[4] ।।
पति देवता का ध्यान कर जब आशा न रही ।
उसके जीवित रहने की, थी बात भी सही ।।

(२०१)

संस्कृत की थी पंडिता वह काव्य-रचना-पटु ।
और बुद्धिमती, विनोदिनी, स्वभाव की न कटु ।।
कु-प्रथाओं की आलोचिका समाज-सेविका ।
व्यंग्यात्मक[5] कविताएँ कर कु-रीति-निवारिका ।।
मृत्यु के बाद लखिमा के अब देवर उसका ।
पद्मसिंह हुआ राजा भाई[6] शिवसिंह का ।।

---

१. १४१६ ई० ।
२. राजा शिवसिंह देव तथा सुलतान के बीच वह युद्ध १४१६ ई० में ही हुआ था, ऐसा समझा जाता है ।
३. १२ वर्षों तक ।
४. गंगाजल ।
५. लखिमा रानी की मिथिला में प्रचलित तत्कालीन कन्या-विक्रय तथा बहु-विवाह की कुप्रथा के विरुद्ध अनेक चुभने वाली व्यंग्यात्मक संस्कृत कविताएँ आज भी प्राप्य हैं, जो उसकी प्रगतिशील सुधारवादी मनोवृत्ति के परिचायक हैं (महामहोपाध्याय पं० उमेश मिश्र : विद्यापति ठाकुर -२३-२५) । लखिमा रानी की संस्कृत कविताओं में से कतिपय का संग्रह इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, १५, १९ में देखा जा सकता है ।
६. राजा शिवसिंह देव का छोटा भाई पद्मसिंह देव ।

पद्मसिंह (१४२९-१४३० ई०), विश्वास देवी (१४३०-१४४२ ई०)

(२०२)

निःसन्तान मरा नृपति अतः रानी उसकी ।
विश्वास देवी को मिली थी गद्दी नृप की ।।
बैठी चौदह सौ तीस[1] में नृपासन पर वह ।
किया राज बारह[2] वर्षों तक, देश सब तरह ।।
था उन्नत उसके काल में, तथा विद्या का ।
समादर था, विकास भी था कौशल-कला का ।।

(२०३)

बासा कर नव विसौली[3] ग्राम नाम पर अपने ।
बनाया अपना शासन-केन्द्र उसको उसने ।।
लिखा था विद्यापति ने 'शैव सर्वस्व सार' ।
'प्रमाण भूत पुराण संग्रह' विद्वद्-बोध-हार ।।
और 'गंगा वाक्यावली' ज्ञान का आगार ।
रानी के संरक्षण में रह कर काव्यकार ।।

हरिसिंह देव (१४४३-१४४४ ई०)

(२०४)

रानी को न संतति थी नृपति हुआ अतएव ।
कनिष्ठ सुत भवसिंह का वृद्ध हरिसिंह देव[4] ।
वार्द्धक्य-जर्जर नृप था अनुज देव सिंह का ।
शासन हुआ था अतः उसका अल्प काल का ।।
कंदहा-अभिलेख[5] कहता नृपति को है 'वीर' ।
'द्विजवर, क्षितीश' और 'सफल कृत्य विचार धीर' ।।

---

१. १४३० ई० ।
२. १२ वर्षों तक ।
३. विश्वास देवी ने अपने नाम पर विसौली नगरी बसाकर वहाँ अपनी राजधानी बनायी (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, १८, ५७-५८; एग्गलिंग का इण्डिया कैटलॉग-४ नं० २५६४; म० म० पं० उमेश मिश्र : विद्यापति ठाकुर - २९) ।
४. हरिसिंह देव- शिवसिंह देव एवं पद्मसिंह देव के पितृव्य, राजा देवसिंह का अनुज तथा भवसिंह का पुत्र था ।
५. हरिसिंह देव के पुत्र राजा नरसिंह देव ने भागलपुर जिले के कन्दहा में शाके १३७५ अर्थात १४५३ ई० में एक अभिलेख उत्कीर्ण करवाया था, जिसमें हरिसिंह को वीर आदि अंकित किया गया था (जर्नल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी-२०, १७) ।

नरसिंह देव (१४४४ से १४६०-६२ ई०)

(२०५)

नृपति-सुत नरसिंह देव पिता-निधन-उपरान्त ।
ने पायी पितृ-गद्दी, था शूर, शान्त, कान्त ॥
उत्कीर्ण कंदहा-लेख जिला भागलपुर का ।
है सुखद कृत्य नृप का चौदह सौ तिरपन[1] का ॥
'दुर्गा-भक्ति-तरंगिणी' में लिखा विद्यापति ।
ने उसको वीर, विद्वान्, दानीवर नरपति ॥

(२०६)

'रत्नावली' की रचना की कवि सुधाकर ने ।
व्याकरण, तर्कशास्त्र पर भी थे लिखे उसने ॥
ग्रन्थ अनेक, संरक्षण में किये सभी काम ।
नृपति के, हैं अजर अमर दोनों ही के नाम ॥
धीरमती और हीरा थीं दो भूप-रानियाँ ।
हैं ख्यात प्रथम के शास्त्र-प्रेम की कहानियाँ ॥

(२०७)

विद्यापति ने प्रस्तुत की पाकर राजाज्ञा ।
पुस्तक 'दानवाक्यावली' थी उसकी संज्ञा ॥
हीरा-सुत चन्द्रसिंह था, जिसका लिखा नाम ।
मिसरू ने 'विवादचन्द्र' में विज्ञ, ज्ञान-धाम ॥
'दर्पनारायण' विरुद था सूचक अवसाद[2] ।
त्यागा शरीर नृप ने चौदह सौ साठ[3] बाद ॥

धीरसिंह (१४६० अथवा ६२ से)

(२०८)

नरसिंह के थे चार तनय ज्येष्ठ धीर सिंह ।
भैरव सिंह, चन्द्र सिंह, कनिष्ठ दुर्लभ सिंह ॥
ज्येष्ठ कुमार धीर[4] ने पैतृक गद्दी पायी ।
'हृदयनारायण' पदवी नृपति ने अपनायी ॥
विद्यापति, मधुसूदन मिश्र और रत्नेश्वर ।
कवि रुची मिश्र, नरहरि झा, जगद्धर, वटेश्वर ॥

---

१. १४५३ ई० ।
२. क्षय, नाश अथवा विषादरहित ।
३. १४६० ई० के पश्चात् ।
४. राजा नरसिंह देव का ज्येष्ठ पुत्र धीरसिंह ।

(२०९)

आदि प्रकांड पण्डित लसित थे राज-सभा में ।
धूमिल हुई जग-धी जिनकी ज्ञान-आभा में ।।
थी, आज भी बुध मुग्ध शीतल अंशु प्राप्त कर ।
हैं बोध-विधु के जिनके हृदय-तम समाप्त कर ।।
निज अमर रचनाओं से उन सब विद्वद्गण ने ।
भरा भंडार संस्कृत योगदान से अपने ।।

भैरव सिंह अथवा भैरवेन्द्र

(२१०)

नृपति धीरसिंह-तनय राघवेन्द्र सिंह देव ।
कुमार को न मिली गद्दी नियतिवश अतएव ।।
भैरवेन्द्र हुआ भूपति पन्द्रहवी शती[1] के ।
तृतीय चरण में नीति के बल तीरभुक्ति के ।।
यह बात है न ज्ञात कि उसे गद्दी क्यों मिली ।
औरस तनय के रहते भी न उसको वह मिली ।।

(२११)

भूपति भैरव था अनुज नृपति धीरसिंह का ।
नीतिज्ञ परम स्वामी मिथिला-सिंहासन का ।।
था विरुद्ध उस नरपति का भी 'रूपनारायण' ।
और भी एक अन्य प्रसिद्ध 'हृदयनारायण' ।।
करता था राज सम्भवतः अग्रज के साथ ।
पश्चात् हुआ इसीसे वह मिथिला का नाथ ।।

(२१२)

राजनगर[2] अपना वह बरुआरा में लाया ।
तथा दक्षता से शासन कर यश था पाया ।।
उस नृपति को दो सुत[3] थे ज्येष्ठ राजाधिराज ।
पुरुषोत्तम देव और रामभद्र सिंह राज ।।

---

१. १५वीं शताब्दी के तृतीय चरण में ।

२. राजधानी । दरभंगा जिले के बछौड़ परगने के बरुआरा नामक ग्राम में भैरवसिंह ने सम्भवतः अपनी राजधानी बनायी थी ।

३. भैरवसिंह को दो रानियों से दो पुत्र थे, प्रथम रानी जयदेवी अथवा जयात्मा से राजाधिराज पुरुषोत्तम देव उत्पन्न हुए थे, तथा दूसरी (जिसका नाम अज्ञात है) से रामभद्र देव का जन्म हुआ था ।

ज्येष्ठ तनय की थी माता रानी जय देवी ।
जिसके प्रश्रय में थे कई साहित्य-सेवी ॥

(२१३)

लिखा ग्रन्थ वाचस्पति मिश्र ने 'द्वैत निर्णय' ।
उसकी[1] आज्ञा से स्मार्त्त-विवेक-सार निश्चय ॥
कवि-कोकिल[2] ने कहा है पंचगौड़-विजेता[3] ।
उस भूपति भैरव सिंह को युग-सफल-नेता ॥
खुदवाये उसने राज्य में शतशः सरोवर ।
और बसाये भी वहाँ नगर अनेक सुन्दर ॥

(२१४)

उल्लेख है कि दिया उसने तुला पुरुष दान[4] ।
दूर के नरपतियों में भी था उसका मान ॥
था संस्कृत-साहित्य का वह भैरवेन्द्र-काल ।
स्वर्णयुग जब प्रणीत हुए नाना ग्रन्थ-जाल ॥
विद्वान् रुचिपति ने लिखी 'अनर्घराघवटीका' ।
हुई प्रणीत पक्षधर मिश्र से 'तिथि चन्द्रिका' ॥

(२१५)

और भी पुस्तकें अनेक 'नव्यन्यायालोक' ।
आदि कवि ने थीं लिखीं ज्ञानगम्य शमन शोक ॥
बुध-कुल-चूड़ामणि विज्ञ वाचस्पति मिश्र ने ।
लिखे थे अमर ग्रन्थ अनेक ज्ञान-बल अपने ॥
'कृत्य महार्णव' 'द्वैतनिर्णय', 'द्वैत चिन्तामणि' ।
ग्रन्थवर 'महादान निर्णय', 'कृत्य चिन्तामणि' ॥

(२१६)

'व्यवहार चिन्मामणि' तथा 'विवाद चिन्मामणि' ।
और भी पुस्तकें अलौकिक ज्ञान-रत्न-अवनि ॥

---

१. रानी जयदेवी की आज्ञा से । २. कवि विद्यापति ।
३. विद्यापति ने 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' में अंकित किया है कि धीरसिंह के शासनकाल में भैरवसिंह ने अपने शौर्य से पंचगौड़ के अधीश्वर को नत किया था ।
४. अपने शरीर के बराबर सोना तौल कर दान करने को तुलापुरुष दान कहा जाता है । भैरवसिंह ने तुलादान किया था (महादान निर्णय, विषय-प्रवेश, श्लोकांक-७; नेपाल नोटिसेज, पृ० ११२, जो लक्ष्मण सम्वत् ३१२ अर्थात् [illegible] ई० में अंकित किया गया था) ।

'दुर्गा भक्ति तरंगिणी' लिखी विद्यापति ने ।
'दण्ड विवेक' ग्रंथ लिखा वर्द्धमान सुमति ने ।।
धर्माधिकरणिक[१] बुध[२] था वह भैरवेन्द्र का ।
मिश्र वाचस्पति भी सुज्ञ परिषद् नृपेन्द्र का ।।

(२१७)

शासन किया नरेन्द्र[३] ने था कई वर्षों तक ।
जीवित था लगभग चौदह सौ अठासी[४] तक ।।
अनुज था चन्द्रसिंह देव नृप भैरवेन्द्र का ।
समसामयिक साहित्य में है वर्णन उसका ।।
थी वधू उसकी महा विदुषी लखिमा देवी ।
उपकृत थे उससे अनेक साहित्य-सेवी ।।

रामभद्र देव (लगभग १४८९ से १५१० ई० के लगभग तक)

(२१८)

मिसरू मिश्र ने ले आज्ञा गूढ़ तत्व मंथ ।
लिखा 'विवादचन्द्र' एवं 'पदार्थचन्द्र' ग्रंथ ।।
रामभद्र देव तनय भूपति भैरवेन्द्र का ।
उत्तराधिकारी हुआ पितृ-सिंहासन का ।।
धारण किया नृपति ने विरुद 'रूपनारायण' ।
रामभद्र पुर में बनवाया था भूपायन[५] ।।

(२१९)

है लेख कि नृपति ने की थी भेंट पटना में ।
सिकन्दर लोदी से न है शंका घटना में ।।
करता है इसे प्रमाणित ग्रंथ 'द्वैत विवेक' ।
हस्तलिखित विभाकर का और गाथा अनेक ।।
बताती है प्रशस्ति कि था वह धीर विजेता ।
पर इतिहास न इसका कहीं है साक्ष्य देता ।।

(२२०)

पिता-तुल्य वह भी था संस्कृत-विद्या-पोषक ।
दानी, प्रियदर्शी तथा बुध जनों का तोषक ।।

१. प्रधान न्यायाधीश । २. विद्वान् ।
३. राजा भैरवसिंह अथवा भैरवेन्द्र । ४. १४८८ ई० ।
५. राजधानी । रामभद्र सिंह ने अपनी नयी राजधानी पुरानी राजधानी शिवसिंह पुर से २ मील पूर्व की ओर अपने नाम पर रामभद्रपुर बसाकर वहाँ बनायी । रामभद्रपुर भी दरभंगा जिले में ही है ।

लिखी थी भव्य अन्तिम पुस्तक 'स्मार्त-नन्दिनी' ।
वयस्क वाचस्पति ने 'पितृ-भक्ति-तरंगिणी' ॥
रचा था वर्द्धमान ने 'गंगा-कृत्य-विवेक' ।
और विभाकर से प्रणीत हुआ 'द्वैत विवेक' ॥

(२२१)

नरहरि मिश्र, श्री राम भट्ट एवं धनपति ।
थे विज्ञ-रत्न[1] उस काल के झा वाचस्पति ॥
रामभद्र ने देशोन्नति हेतु कर श्रम अथक ।
किया शासन लगभग पन्द्रह सौ[2] पश्चात् तक ॥
फिर बाद उसके तनय लक्ष्मीनाथ देव ने ।
किया मिथिला-सिंहासन अधिकार में अपने ॥

लक्ष्मीनाथ देव (लगभग १५१० से १५२६ ई० तक)

(२२२)

उस नृप[3] ने विरुद 'कंसनारायण' अपनाया ।
साक्षात् बना कंस[4] अपने कुल को मिटाया ॥
है भगीरथपुर-लेख[5] में उसको लिखा वीर ।
राजाधिराज, यवन-शत्रु, संगर-शूर धीर ॥
किन्तु अभाव था उसमें पूर्वजों के गुण का ।
था कामी, अबल, चरित्रहीन मित्र पिशुन[6] का ॥

(२२३)

श्रीधर-कथानक[7] सत्य है यदि नारी-विषयक ।
तो चरित नृप का सचमुच ही था घृणोत्पादक ॥

---

१. विज्ञ-शिरोमणि ।
२. रामभद्र सिंह देव ने १५०० ई० के पश्चात् तक शासन किया था ।
३. राजा लक्ष्मीनाथ देव ।
४. श्रीमद्भागवत महापुराण का अत्याचारी एवं उपद्रवी मथुरा का राजा कंस जो उग्रसेन का पुत्र तथा भगवान् श्रीकृष्ण का मामा था ।
५. बिहार राज्य के दरभंगा जिले के मधुबनी अवर प्रमंडल के पंडौल बाजार से एक मील उत्तर भगीरथपुर ग्राम से प्राप्त अभिलेख ।
६. चुगलखोरों, बुरे मनुष्यों ।
७. श्रीधर लक्ष्मीनाथ देव का मन्त्री था । कहा जाता है कि उसकी स्त्री अति रूपवती थी । राजा लक्ष्मीनाथ देव उसके अपहरण करने का इच्छुक था, पर उसमें उसे सफलता न मिल सकी । यह कथानक मिथिला में जनश्रुति के रूप में प्रचलित है ।

था पावन जनपद ज्ञानियों का शान्ति दायी ।
उसी यज्ञपूत उर्वी में कालिमा[१] आयी ॥
हुआ न्याय-दर्शन-अयन में चैन का अभाव ।
राजा तथा प्रजा-बीच दरार और तनाव ॥

(२२४)

उसी समय देश-द्वार पर यवन-कुल-आतंक ।
बढ़ा, उधर नृप-चरित में था सोम का कलंक[२] ॥
असंतोष, घृणा, क्षोभ की थी उठ रही लहर ।
अति क्षुब्ध प्रजा-उर-उदधि था, फैला था कहर[३] ॥
विद्रोह-वह्नि भभकी फिर गौड के सुलतान ।
नसरत[४] ने ससैन्य किया मिथिला पर अभियान[५] ॥

(२२५)

जौनपुर[६] जय कर सिकन्दर चला था बंगाल ।
हिजरी नौ सौ एक[७] में ले कर में करवाल[८] ॥
द्रोही हुसेन[९] शासक बंगाल का उस काल ।
था, शाह[१०] उससे समर में जा भिड़ा तत्काल ॥
कर सन्धि लिया राट् ने तिरहुत तथा बिहार[११] ।
शासक हुसेन शाह से सारण का सरकार ॥

(२२६)

इस विन्दु पर की सन्धि कि भविष्य में सुलतान[१२] ।
न चढ़ेगा बंगाल पर कर वार्त्ता का ध्यान ॥
पर तोड़ा नसरत शाह ने ही उस सन्धि को ।
आक्रामक बना, ढीला किया प्रेम-ग्रन्थि को ॥

---

१. पावन भूमि ।
२. ब्राह्मण-वंश-विमल-विधु से राजा की चरित्र-हीनता रूप कलंक-कालिमा ।
३. क्षोभ; असन्तोष; अभिशाप ।
४. बंगाल का तत्कालीन शासक नसरत शाह ।
५. आक्रमण ।
६. दिल्ली के सुलतान सिकन्दर लोदी ने जौनपुर के शर्की सुलतान का पूर्ण पराभव कर बंगाल के शासक के विद्रोह को दमन करने के हेतु वहाँ की रण-यात्रा की थी ।
७. हिजरी ९०१ अर्थात् लगभग १५०१ ई० । ८. तलवार ।
९. बंगाल का विद्रोही शासक अलाउद्दीन हुसेन शाह ।
१०. दिल्ली का शाहनशाह सिकन्दर लोदी ।
११. दक्षिण बिहार । १२. दिल्ली का सुलतान ।

और ईसवी पन्द्रह सौ छबीस[1] में उसने ।
की चढ़ाई तीरभुक्ति पर सैन्य से अपने ।।

(२२७)

कर वध नृपति[2] का उसने था बनाया शासक ।
बहनोई अला-उद्-दीन को मिथिला-पालक ।।
हो सफल वहाँ वह बढ़ा हाजीपुर की ओर ।
उस अंचल पर अधिकार किया कर समर घोर ।।
नियुक्त किया वहाँ उसने मखदुम आलम को ।
उस भाग का शासक स्व-भागिनी-पति द्वितीय को ।।

(२२८)

विद्रोह किया उसने[3] नातेदार राट् से ।
पन्द्रह सौ अड़तीस[4] में बंगाल राज[5] से ।।
और साथ दिया अफगान-नृप शेरशाह[6] को ।
दिल्ली के सिंहासन के उम्मेदवार को ।।
इस भाँति हुआ ओइनवार-आधिपत्य-अन्त ।
मिथिला के महीश-पद से नियति-वश हा हन्त ।।

तिरहुत के पश्चाद्वर्त्ती अन्यान्य राज्य

(२२९)

संभवतः शिवसिंह नृप के रण के पश्चात् ।
राज्य में अराजकता फैली और व्याघात[7] ।।
उठाकर लाभ परिस्थिति से हो गये स्वतन्त्र ।
अनेक जन इतस्ततः था शिथिल शासन-तन्त्र ।।
उनमें एक गोरखापुर में एवं दूसरा ।
नृप बना चम्पारण में प्रतिरोधक को हरा ।।

---

१. १५२६ ई० । २. राजा लक्ष्मीनाथ देव का ।

३. नसरत शाह के द्वितीय बहनोई मखदुम आलम, जिसे उसने हाजीपुर अंचल का शासक नियुक्त किया था, ने भी नसरत शाह के पुत्र महमूद शाह के विरुद्ध १५३८ ई० में विद्रोह किया ।

४. १५३८ ई० ।

५. बंगाल का शासक महमूद शाह ।

६. महत्त्वाकांक्षी अफगान शेर खाँ (शेरशाह), जो बिहार राज्य के शाहाबाद जिले के ससराम का निवासी था ।

७. विघ्न-बाधा ।

(२३०)

पाते हैं पृथ्वीनारायण सिंह देव[1] को ।
पीछे शक्तिसिंह तथा मदनसिंह देव को ॥
चम्पारण में राज करते स्वतन्त्र रूप से ।
सिक्के मिले हैं उनके, और मदन भूप से ॥
लिखा गया था सम्भवतः 'मदन-रत्न-प्रदीप' ।
नृप-पुर उसका था कहीं सिमराँव के समीप ॥

(२३१)

प्रणीत हुए दो[2] ग्रंथ नृप[3] के संरक्षण में ।
क्रमिक चौदह सौ चौवन[4] तथा सत्तावन[5] में ॥
एक में उसे भूपति को लिखा है विप्रराज ।
कुल का वह था ब्राह्मण अतः पूज्य-प्रिय समाज ॥
उत्कीर्ण 'श्री चम्पकारण्य' मुद्रा-पृष्ठ पर ।
है 'गोविन्द-चरण-प्रणत' पुनः एक पीठ पर ॥

(२३२)

चलायी थी विशिष्ट मुद्रा उसने राज में ।
सार्वभौम था नृप अतः वह स्व राज-काज में ॥
पदवी 'सिंह देव' की थी ओइनवारों की ।
और ठीक वही पाते हैं उन नृपवरों की ॥
इससे सम्भव है कि वे सब थे उसी कुल[6] के ।
प्रतापी भूपति सुज्ञ स्वामी विभव विपुल के ॥

(२३३)

निकट भूत तक चम्पारण में बेतिया राज ।
था, ब्राह्मण-नृप-शासित जिसका अवशेष आज ॥

---

१. महाराज पृथ्वीनारायण सिंह देव के शासनकाल में 'देवीमाहात्म्यम्' की प्रतिलिपि उतारी गयी थी ।
२. दो पुस्तकें ।
३. महाराज मदनसिंह देव ने स्वयं तो 'मदन-रत्न-प्रदीप' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया ही था, उसके अतिरिक्त और दो पुस्तकों– एक 'अमरकोष' तथा दूसरी 'नरसिंह पुराण' की प्रतिलिपियाँ भी उनके शासनकाल में उतारी गयी थीं (शास्त्री : कैटलॉग पृ० ५१ तथा २९)।
४. १४५४ ई० । ५. १४५७ ई० ।
६. ओइनवार-वंश ।

है विद्यमान, और उसके भी नृपति गण के ।
था 'देव' पूर्वज-नामान्त पद जैसे उनके ॥
है गोत्र ओइनवार तथा नृप बेतिया के ।
'कश्यप' थे वासी दोनों नैमिषारण्य के ॥

(२३४)

उपाधि की थी ग्रहण दोनों राजवंशों ने ।
'सिंह' की, और किया था आरम्भ दोनों ने ॥
राज करना बना कर राजमहल 'सुगाँव' में ।
एक[१] दरभंगा तथा द्वितीय चम्पारण[२] में ॥
लक्षित होता है पीछे की घटनाओं से ।
था लगाव बेतिया का राज सिमराओं से ॥

(२३५)

रण किया था महाराज महिनाथ ठाकुर ने ।
सुन्दर सुअन[३] दरभंगा-नरेश भूप-वर ने ॥
सुगाओं-नरेन्द्र बेतिया-भूप गजसिंह से ।
यह बताता है गज-सम्बन्ध सिमराओं से ॥
महिनाथ नृपति-भ्रातृ-सुत राघवसिंह[४] भूपति ।
ने किया संगर ध्रुवसिंह से बेतिया-नृपति ॥

(२३६)

थी रिपुता नैमिष[५] तथा खण्डवाल[६] कुलों में ।
राज्यार्थ पूर्व से ही दोनों नृप-वंशों में ॥

---

१. दरभंगा जिले के मधुबनी अनुमण्डल में ओइनवारों का प्रसिद्ध आदि ग्राम 'सुगौना' था ।

२. चम्पारण में 'सुगौना' से मिलता-जुलता बेतिया के राजाओं की भी प्राचीन राजधानी का नाम 'सुगाओं' था ।

३. दरभंगा के खण्डवाल राजवंश के महाराज सुन्दर ठाकुर के पुत्र महाराज महीनाथ ठाकुर ने सुगाओं (बेतिया) के राजा गजसिंह की राजधानी पर चढ़ाई की थी ।

४. महाराज महीनाथ ठाकुर के आक्रमण में सफलता न मिलने पर उनके पीछे उनके भ्रातृ-पुत्र महाराज राघवसिंह ने भी बेतिया-नरेश गजसिंह के पौत्र महाराज ध्रुवसिंह के विरुद्ध उनकी राजधानी में पहुँच कर उन पर ससैन्य आक्रमण किया था ।

५. नैमिष-कुल=नैमिषारण्य के निवासी । बेतिया राजवंश के लोग उनके पूर्वजों को नैमिषारण्य से मिथिला में आये बताते हैं । ओइनवार-कुल के पूर्वज भी कवि विद्यापति के अनुसार नैमिषारण्य से आये थे । अतः दोनों राजकुलों को नैमिष-कुल की संज्ञा दी गयी है ।

६. दरभंगा राजवंश के संस्थापक पं० महेश ठाकुर के पूर्वज गोसाईं संकर्षण उपाध्याय को मध्य प्रदेश में जबलपुर के निकट खण्डवा दान में मिला था । वहाँ निवास करने के कारण वह कुल खण्डवाल-वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ था ।

बेतिया का था बना मिथिलांश पर अधिकार ।
खण्डवालों को नहीं था यह कभी स्वीकार ॥
सम्भवत: हरिसिंह देव-पलायन-उपरान्त ।
अथवा वीर शिवसिंह नृप के निधनोपरान्त ॥

(२३७)

कर्णाट-कुल की राजधानी सिमराओं पर ।
अधिकार[१] किया गज-पूर्वजों ने काल पाकर ॥
इतिहास के अन्वेषक, अनुसन्धन-तत्पर ।
गवेषकों को है प्राप्त अनेक विन्दुओं पर ॥
साम्य कुल ओइनवार तथा नृप बेतिया में ।
पर कठिनाई है रक्त-सम्बन्ध-निर्णय में ॥

(२३८)

पश्चात् तीन[२] राज्यों में बँट गया बेतिया ।
शिवहर और मधुबन ने भाग राज्य में लिया ॥
अनुश्रुति है कि अन्तिम ओइनवार-कुल-भूप ।
लक्ष्मीनाथ-मरणोपरान्त मिथिला का रूप ॥
बदल गया, आर्यों का राज्य समाप्त हो गया ।
और मिथिला पर म्लेच्छों का प्रभुत्व हो गया ॥

(२३९)

है मिलता लक्ष्मीनाथ देव-निधन-पश्चात् ।
राजकुमार इन्द्र सेन का नाम अकस्मात् ॥
प्रणेता वह था 'शालिहोत्र सार-संग्रह'[३] का ।
था प्रचलित विरुद 'रूपनारायण' का उसका ॥

---

१. सिमराओं एवं मझवा परगना बेतिया राज के अन्दर निकट अतीत तक था । यह प्रमाणित करता है कि मिथिला-राज्य कामेश्वर ठाकुर को मिलने पर भी कर्णाट-भूप हरिसिंह देव की मुख्य राजधानी के नगर सिमराओं पर उस कुल का आधिपत्य न था । सिमराओं नगर तथा सारे सिमराओं परगने पर शासन चम्पारण के भूप पृथ्वीनारायण सिंह देव अथवा गजसिंह के वंशजों का था ।

२. १७६७ ई० के पश्चात् राजा ध्रुवसिह के नाती तथा दत्तक पुत्र राजा जुगलकिशीर सिंह के शासनकाल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बेतिया-राज को तीन भागों में विभक्त कर दिया था।

३. 'शालिहोत्र-सार-संग्रह' का लेखन-काल उस ग्रन्थ के अनुसार शाके १७३४, सम्वत् १८४१, अषाढ़ कृष्ण, सप्तमी, मंगलवार था (जरनल ऑफ दि एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९०३, पृ० १९) ।

संभवतः वह था ओइनवार-कुलावतंस ।
विरुद कहता है उसे जात कामेश्वर-वंश ॥

(२४०)

परन्तु राज-नगर तथा शासन-काल उसका ।
न अद्यपर्यन्त शोधकों को ज्ञात हो सका ॥
सुगौना के निकट अथवा दूर में अन्यत्र ।
था नृपति-राज्य कहीं अथवा थी उपाधि मात्र ॥
न विदित हो सका है यह भी अन्वेषकों को ।
कि मिला था कभी राज्य उसके कुल वालों को ॥

(२४१)

खड़ा लौरिया-नन्दनगढ़-बीच अशोक-स्तम्भ ।
बताता है किसी नृप का वहाँ राज्यारम्भ ॥
है अंकित उसपर पन्द्रह सौ[1] खीष्टाब्द का ।
नाम नृपनारायण-सुत भूप अमर सिंह का ॥
स्यात् पिता-पुत्र दोनों थे स्थानीय शासक ।
उनका कुल किया था राज वहाँ कुछ काल तक ॥

(२४२)

स्वाभाविक है, प्रधान राज्य-विघटन-पश्चात् ।
उद्भव अनेक राज्यों का तथा उनका अन्त ॥
फैलता हैं जनपद में सर्वत्र मत्स्य-न्याय ।
और होती है प्रजा दुखी, खिन्न, क्षीण-काय ॥
जनश्रुति है, किसी मैथिल कायस्थ मजुमदार ।
ने प्राप्त किया तिरहुत जब हटे ओइनवार ॥

(२४३)

मुसलमान मजलिस खाँ तथा और भी अनेक ।
ने किया[2] राज्य पाकर पूर्व भूपति-व्यतिरेक[3] ॥
थे क्षुद्र भूमि-स्वामी वे सब स्थानीय कभी ।
और देते थे कर बाबर को भूपति सभी ॥
पर पतन-उपरान्त मुख्य राजकुल के वे सब ।
स्वयं बन गये भूपाल करद मिथिला के तब[4] ॥

---

१. १५००: ई० । २. डॉ० उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ३४२ के अनुसार।
३. पूर्ववर्ती शासन करने वाले राजा के अभाव होने पर ।
४. उस काल में ।

खण्डवाल-कुल (१५५६ से १९५६ ई०)

(२४४)

परन्तु पन्द्रह सौ छप्पन[१] में राट् अकबर ।
ने मनीषि महेश ठाकुर पर प्रसन्न होकर ।।
दिया पूर्ण राज्य तिरहुत का उसको उपहार ।
अतः हुआ खण्डवाल कुल का वहाँ अधिकार ।।
बीस पीढ़ियों तक राज इस कुल ने था किया ।
भारत ने हो स्वतन्त्र राजतन्त्र मिटा दिया ।।

द्रोणवार राजवंश

(२४५)

मिथिला-अन्तर्गत था राज्य एक नरहन[२] का ।
शासन वहाँ था द्रोणवार वंश भूषण का ।।
केशव शाह-सुत अजित शाह नरहन-भूप ने ।
किया रण अलिवर्दी-विरुद्ध शौर्य से अपने ।।
राघव-तनय नरेन्द्र दरभंगा-राजकुमार ।
के साथ होकर समर में की थी विकट मार ।।

खंडवाल भूपति सभी, विद्या-प्रेमी शूर ।
दानी, मानी, कुशल थे, वैभव से भरपूर ।।१९।।
निर्माता पोषक विवुध, तोषक साधु-समाज ।
धर्म परायण नीति-रत, सुज्ञ गरीब निवाज ।।२०।।
महाराज अन्तिम हुए, श्री कामेश्वर सिंह ।
सहचर अनुज सुजन-प्रिय, श्री विश्वेश्वर सिंह ।।२१।।
दोनों ने ही दान दे, जन हित कार्य अनेक ।
किये, सभी साकार हैं, देते ज्ञान-विवेक ।।२२।।
ज्ञान-दान मिलता सदा, नेत्र दान[३] के संग ।
संस्कृत विद्यापीठ[४] भी, खोला साथ उमंग ।।२३।।

■

---

१. १५५६ ई० ।
२. नरहन राज्य दरभंगा जिले के समस्तीपुर अवर प्रमण्डल में था ।
३. कामेश्वर-प्रिया पुअर होम के द्वारा दरभंगा में प्रति वर्ष नेत्र-दान-यज्ञ का सम्पादन किया जाता है ।
४. कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय ।

परिशिष्ट भागांक–२

मिथिला के पूरक नेपाल का पद्यबद्ध संक्षिप्त वर्णन

दोहा – सिक्कम और कुमायुं[१] के, मध्य हरित सित वेश[२] ।
उत्तर प्रान्त बिहार से, उत्तर का सब देश ।।१।।

हिम गिरि-अंचल में लसत, वीर राष्ट्र नेपाल ।
लम्बा[३] लगभग पंच शत, मील पुरातन काल ।।२।।

एक मात्र नेपाल है, भारत-बीच प्रदेश ।
पराधीनता ने जहाँ, किया न कभी प्रवेश ।।३।।

आदि काल से आज तक, जनपद रहा स्वतन्त्र ।
यद्यपि भूप अनेक कुल, राज किया निज मन्त्र[४] ।।४।।

हुए विदेशी आक्रमण, पर न सफलता नेक ।
मिली, न रिपुगण टिक सके, आये बार अनेक ।।५।।

आर्य-सभ्यता, धर्म भी, शासन आर्य स्वराज ।
बने रहे नेपाल में, जैसे हैं वे आज ।।६।।

देश हिमाचल क्रोड़ में, वन-तुषार के बीच ।
रम्य मनोरम सौख्यकर, परमानन्द उलीच[५] ।।७।।

(१)

अनुश्रुतियों पर आधारित इतिहास पुरा का ।
बोधगम्य हो सका स्वल्प नेपाल-धरा का ।।

---

१. कुमायुं अथवा कुमायूँ अंचल एवं सिक्कम-राज्य के बीच ।
२. हरित (= वन-वृक्ष परिपूर्ण), सित (= श्वेत तुषाराच्छादित पर्वत), वेश (= रूप-रंग) वाला देश ।
३. प्राचीन काल में नेपाल राज्य की लम्बाई ढाई सौ कोस अर्थात् पाँच सौ मील थी ।
४. अपनी इच्छा के अनुसार शासन किया, जैसा एकतन्त्र अर्थात् राजतन्त्र में हुआ करता है ।
५. शीघ्र हर्षानन्द को उछाल कर अर्थात् मनोहर एवं आनन्ददायक सुरम्य सुखद वृक्ष-लता-गुल्म सुशोभित हरित अरण्य तथा धवल हिमपूर्ण पर्वतों के मध्य का नयनाभिराम देश, जिसके दर्शन मात्र से मानव-उर-उदधि मध्य आनन्दातिरेक की बीचि-मालाएँ तरंगित होने लगती हैं ।

है प्रसिद्ध गोपाल वंश[१] ने आदि काल में ।
शासन किया, पड़ा फिर वह आपत्ति-जाल में ।।
आठ पीढ़ियों तक वहाँ, उस कुल ने शासन किया ।
आभीरों[२] ने समर में, नत कर सिंहासन लिया ।।

(२)

नृप तृतीय आभीर पड़ा[३] रण कर किरात[४] से ।
थी गद्दी नेपाल रिक्त नरपति निपात[५] से ।।
कर प्रवेश पुर लिया विजेता[६] ने सिंहासन ।
किया वहाँ उनतीस पीढ़ियों तक था शासन ।।
क्षत्रिय भूपति निमिष[७] ने, कर रण-विजित किरात को ।
गद्दी पर नेपाल की, किया प्रतिष्ठित आप[८] को ।।

(३)

निमिष-वंश के पाँच भूप ने क्रमशः शासन ।
किया अन्त में लिच्छवियों का आया आसन ।।
प्राप्त किया इस कुल ने अब भूपति-सिंहासन ।
सम्भवतः दत्तक सुत हो बन कर प्रियभाजन ।।
ईसा पूर्व छठी शती, में लिच्छवि-गणतन्त्र[९] था ।
वैशाली में विक्रमी, मगध राज्य[१०] निज तन्त्र था ।।

(४)

अधिपति मगध अजातशत्रु ने लिच्छवियों से ।
जीत लिया गण-राज्य संघ के नरपतियों से ।।

---

१. गोपाल-वंश की ८ पीढ़ियों ने नेपाल में राज किया था ।
२. गोपाल-वंश का पराभव कर आभीर अथवा अहीर-कुल ने नेपाल के सिंहासन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया, तथा तीन पीढ़ियों तक वहाँ शासन किया ।
३. रणशायी हुआ ।
४. सम्भवतः हिमालय एवं गंगा के बीच पार्वत्य वन प्रदेशों में रहने वाली तिब्बती-बर्मा जाति का नाम किरात है (आर० सी० मजूमदार : एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३७३) ।
५. आभीर-वंशीय राजा भुवनसिंह की मृत्यु से ।
६. किरात-राज ।
७. भारतीय क्षत्रिय निमिष-वंशीय आक्रामक भूप ।
८. स्वयं अपने को ।
९. बिहार राज्य के मुजफ्फरपुर जिले में प्राचीन काल में लिच्छवियों का प्रमुख गणराज्य वैशाली (विशाला पुरी) में था । सम्प्रति बनियाँ बसाढ़ गाँव वैशाली का स्थानापन्न है ।
१०. वैशाली के पड़ोस में गंगा नदी के पार मगध (बीकट) में प्रबल राजतन्त्र था, जहाँ हर्यक कुल के साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षी राजा बिम्बसार-पुत्र अजातशत्रु राज करता था ।

रण में लिच्छवि निहत हुए, जो शेष छोड़ कर ।
देश गये नेपाल, मातृ[1] से नेह तोड़ कर ।।
पंचम शत्यारम्भ[2] में, ईसा पूर्व नृपाल[3] वर ।
ने वैशाली विजय की, थी छल-बल से समर कर ।।

(५)

लिच्छवियों का तमसपूर्ण इतिहास हुआ अब ।
पर प्रकटे वे पुनः हुए नेपाल भूप[4] जब ।।
सम्भवतः ईसाब्द प्रथम अथवा द्वितीय में ।
राज्य लिया इस कुल ने जा नेपाल मही में ।।
अट्ठाइस[5] पीढ़ियों ने, किया राज्य था पुहुमी[6] पर ।
बल-विक्रम से पाँच सौ, वर्षों तक उस भूमि पर ।।

(६)

अब्द एक सौ ग्यारह[7] ईसा में समाज में ।
नृप ने सम्वत् शुरू किया नेपाल राज में ।।
सम्भवतः लिच्छवियों ने नेपाल विजय की ।
उसी काल में, यादगार[8] थी वह उस जय की ।।
वैशाली को किन्तु वे अब भी भूल सके न थे ।
चौथी शत्यारम्भ[9] में, लिच्छवि वहाँ महीप थे ।।

(७)

हुआ बताता है इतिहास घटोत्कच-सुत[10] का ।
लिच्छवि कन्या[11] संग व्याह नृप चन्द्रगुप्त का ।।

---

१. मातृ-भूमि ।
२. ईसवी पूर्व पाँचवीं शती ।
३. राजा अजातशत्रु ।
४. ईसवी पूर्व ५वीं शती में अजातशत्रु द्वारा पराभव के पश्चात् का लिच्छवियों का इतिहास अंधकार में पड़ा है । लगभग छः सौ वर्षों से भी अधिक के पश्चात् लिच्छवियों का अभ्युदय नेपाल में लोकतान्त्रिक नहीं, राजतान्त्रिक शासक के रूप में पाया जाता है ।
५. २८ पीढ़ियों तक ।
६. पृथ्वी पर ।
७. १११ ई० ।
८. स्मारक ।
९. चौथी शती के आरम्भ में वैशाली में पुनः लिच्छवियों का शासन करना इतिहास बताता है ।
१०. प्रथम गुप्त-वंशीय राजा श्रीगुप्त के पुत्र घटोत्कच गुप्त के तनय महाराज चन्द्रगुप्त प्रथम । चन्द्रगुप्त प्रथम का राज्याभिषेक ३२० ई० में हुआ था ।
११. कुमार देवी ।

कीकट[१] में था गुप्त-राज्य लिच्छवि वैशाली ।
में थे करते राज, यशस्वी थे बलशाली ।।
चन्द्रगुप्त कृत कृत्य[२] था, लिच्छवि-दुहिता व्याह कर ।
कुल दौहित्र 'समुद्र'[३] भी, गौरव उसका प्राप्त कर ।।

(८)

चौथी ईसा अब्द मध्य नेपाल-नृपति ने ।
गुप्त प्रभुत्व[४] स्वीकार किया राज्य पर अपने ।।
ह्रासोन्मुख थी प्रभु-सत्ता पाँचवीं शती में ।
मानदेव[५] लिच्छवि-नृप ने नेपाल मही में ।।
हो स्वतन्त्र थी विजय की, पूरब-पश्चिम की धरा ।
दूर तराई तक पहुँच, राज्य-कोष भी था भरा ।।

(९)

सम्भवतः सातवीं शती के प्रथम चरण में ।
पनपे पुनः अहीर लीन थे राज्य-हरण में ।।
थी आपद की घड़ी, दुखी नृप[६] था, संकट से ।
लिया लाभ अंशु वर्मन् ने उस झंझट से ।।
मन्त्री लिच्छवि-राज का, था नृप को अपदस्थ कर ।
सिंहासन अधिकृत किया, भूप-सुता से व्याह कर ।।

(१०)

नव भूपति था वैश्य वंश का, क्षत्रिय कुल का ।
वैश्य नहीं था वर्ण, विरुद ठाकुर था, उसका ।।
वैश्य ठाकुरी नाम पड़ा था उसके कुल का ।
वह स्वामी बन गया शक्ति से विभव विपुल का ।।

---

१. मगध ।

२. उच्च कुल के शक्तिशाली लिच्छवि-राज की कन्या से विवाह करने के कारण चन्द्रगुप्त प्रथम अपने को गौरवान्वित समझता था । उसने अपने चलाये सिक्के में लिच्छवि-दुहिता कुमार देवी का चित्र भी अपने आकार के साथ उत्कीर्ण करवाया था ।

३. चन्द्रगुप्त प्रथम का पुत्र इतिहास-प्रसिद्ध विजयी सम्राट् समुद्रगुप्त कुमार देवी के तनय होने के कारण लिच्छवि-दौहित्र था । गुप्त-कुल के उत्कीर्ण प्रशस्ति अभिलेखों में समुद्रगुप्त के नाम के साथ प्रायः लिच्छवि-दौहित्र भी अंकित पाया जाता है ।

४. चौथी शती के मध्य में नेपाल-नरेश ने समुद्रगुप्त की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली थी, तथा उसे अपना सम्राट् माना था ।

५. मानदेव लिच्छवि-राज ने गुप्तों की प्रभुसत्ता से नेपाल को स्वतन्त्र कर लिया ।

६. लिच्छवि कुल का राजा ।

मध्य एशिया से चला, वीर घुमक्कड़-जाति-दल ।
तिब्बत में आकर बसा, नृप[१] को दल कर प्रबल खल ।।

(११)

स्थापित किया स्व-राज्य वहाँ पर दल-नेता[२] ने ।
किया आक्रमण भूपति तनय[३] विजय-चेता ने ।।
जीत राज्य नेपाल किया प्रवेश भारत में ।
की सत्ता स्वीकार सबों ने पड़ आपद् में ।।
स्रौंग-वर्त्स-गम-पो नृपति, नत कर नृप नेपाल को ।
सुता व्याहने हेतु था, बाध्य किया भूपाल[४] को ।।

(१२)

मरा अंशुवर्मन् भूपति जब क्रान्ति मची थी ।
शासन में थी उथल-पुथल जन में अशान्ति थी ।।
सन् छः सौ तेतालिस[५] ईसा के कुछ पहले ।
भूप नरेन्द्र देव[६] लिच्छवि ने सिंहासन ले ।।
पुनः प्रतिष्ठित स्वकुल को, पैतृक गद्दी पर किया ।
शासन कर नित न्याय से, प्रजा वर्ग को सुख दिया ।।

(१३)

उस नृप ने थी ली सहायता तिब्बतियों से ।
होता है यह सिद्ध चीन के अभिलेखों से ।।

---

१. तिब्बत के तत्कालीन शासक को ।
२. मध्य एशिया में चीन-साम्राज्य के पश्चिम में निवास करने वाली एक खानाबदोश जाति के मुखिया ने ।
३. तिब्बत पर आधिपत्य स्थापित करने वाला उस नये राजवंश के राजा का पुत्र, जो उसकुल का द्वितीय राजा था, तथा उसका नाम स्रौंग-वर्त्स-गम-पो था ।
४. नेपाल-नरेश ।
५. ६४३ ई० ।
६. नरेन्द्रदेव राजा अंशुवर्मन् के युवराज पुत्र उदयदेव का पुत्र था । उदयदेव को उसके अनुज मानदेव ने राज्याधिकार से वंचित कर स्वयं सिंहासन पर अधिकार कर लिया था । चीनी लेख इसका साक्ष्य देता है । नरेन्द्रदेव ने तिब्बत-भूप की सहायता से अपनी पैतृक गद्दी उसकी अधीनता स्वीकार कर प्राप्त की । नरेन्द्रदेव ने अपने उत्कीर्ण लेख में अपने को लिच्छवि-कुल का अंकित किया है । किसी किसी वंशावली के अनुसार लिच्छवि-भूप ने अंशुवर्मन् को दत्तक पुत्र स्वीकार किया था । उसके लिच्छवि बनने का यह आधार हो सकता है ।

किया राज्य तो प्राप्त भूप ने अपहर्त्ता से ।
पर न रहा स्वाधीन उक्त साहाय्य-कर्त्ता से ।।
बना 'नरेन्द्र' करद नृपति, देकर वार्षिक राज्य-कर ।
तिब्बत-प्रभुसत्ता हुई, तब सारे नेपाल पर ।।

(१४)

धर्मदेव लिच्छवि-भूपति ने निज शासन में ।
रण-रत हुआ सातसौ पाँच[१] ईसवी सन् में ।।
समर-सेज पर सुला राट[२] को किया देश को ।
तिब्बत से स्वाधीन, मिटाया घोर कलुष[३] को ।।
किन्तु नहीं यह मान्य है, कतिपय इतिहासज्ञ[४] को ।
घटना पीछे घटी, है, स्वीकृत ऐसे सुज्ञ को ।।

(१५)

वे कहते हैं था शिवदेव नरेन्द्रदेव का ।
वीर तनय विक्रमी शौर्य सम्पन्न भूप का ।।
मगध-राट आदित्य सेन ने सुता-सुता[५] का ।
व्याह किया था उससे तब मौखरी-सुता का ।।
उसके सुत जयदेव ने, पाणिग्रहण मुदमय किया ।
कन्या[६] कुल भगदत्त की, हर्ष-सुता[७] थी नृप-प्रिया ।।

(१६)

वैवाहिक सम्बन्ध पड़ोसी भूपतियों से ।
करने से थी बढ़ी मित्रता नरपतियों से ।।
बढ़ी राष्ट्र की शक्ति परन्तु देश के ऊपर ।
तिब्बत-स्वत्व बना था इतना भी होने पर ।।
पराधीनता थी खली, पीछे नृप नेपाल को ।
राष्ट्र-प्रजा लख क्षुब्ध थी, पर पद-दलित स्वदेश को ।।

---

१. ७०५ ई० ।
२. तिब्बत-सम्राट् को ।
३. पाप; कालिमा; धब्बा ।
४. डॉ० आर० सी० मजूमदार की मान्यता के अनुसार नेपाल तिब्बत की अधीनता से ८७९ ई० में मुक्त हुआ (एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३७५) ।
५. नतनी का । मौखरी-भूप की तनया आदित्य सेन की नतनी थी ।
६. महाभारत प्रसिद्ध भगदत्त-कुल की कन्या ।
७. कामरूप का तत्कालीन नृपति हर्ष भगदत्त-वंशीय था । उसकी पुत्री से शिवदेव के पुत्र जयदेव का विवाह हुआ था ।

(१७)

वीर शिरोमणि राघवदेव ठाकुरी नृप ने ।
तिब्बत से था किया युद्ध पौरुष से अपने ॥
मारा था ईसाब्द आठ सौ उन्नासी में ।
समर-लीन सम्राट् क्रूर को रणनाशी में ॥
महादेश एशिया में, तिब्बत राष्ट्र महान् था ।
नवम शती पूर्वार्द्ध में, ग्लान-दर्प सम्राट् था ॥

(१८)

उस नृप के पाशविक क्रूर अत्याचारों से ।
ऊब उठी साम्राज्य-प्रजा नित के घातों[1] से ॥
भभक उठी विद्रोह-वह्नि सारे जनपद[2] में ।
लिया लाभ नेपाल निरख नृप को आपद्[3] में ॥
जूआ फेंक अधीनता, किया स्वतन्त्र स्वदेश को ।
दीप मालिका दीप्त कर, प्रकट किया उल्लास को ॥

(१९)

नृप ने किया आरम्भ शीघ्र राष्ट्र में अपने ।
नव सम्वत्[4] नेपाल परम प्रमुदित हो उसने ॥
स्मारक ही स्वातन्त्र्य-प्राप्ति का उसे बनाया ।
राज काज में भी सम्वत् नेपाल चलाया ॥
विकसे नगर अनेक अब, हुआ समुन्नत देश था ।
कला वृद्धि पर थी वहाँ, ज़न में क्लेश न लेश था ॥

---

१. प्रहार; चोट; मार; वध; हत्या; अहित; बुराई ।
२. साम्राज्य के सभी प्रदेशों में ।
३. तिब्बत-सम्राट् को अपने बुरे कृत्यों के कारण आपत्ति में पड़ा देख कर ।
४. नेपाल में स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के उल्लास में लगभग ८७९ ई० में नेपाल सम्वत् का श्रीगणेश वहाँ के विजेता नृपति ने किया (आर० सी० मजूमदार : एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३७५)। पर ऐसी मान्यता सिलभ्यां लेवी, डॉ० के० पी० जायसवाल आदि इतिहासज्ञ विद्वानों की नहीं है । उनके अनुसार (ठोस प्रमाणों के आधार पर) नेपाल एवं तिरहुत ७०५ ई० तक स्वतन्त्र हो चुके थे । कुछ गवेषकों का कहना है कि राघव देव ने नेपाल से लिच्छवियों की सत्ता को ८७९ ई० में समाप्त कर नया सम्वत् चलाया, पर नरेन्द्रदेव के पौत्र जयदेव द्वितीय के उत्कीर्ण शिलालेख में बताया गया है कि वसन्तदेव लिच्छवि-कुल का अन्तिम राजा था, और उसकी मृत्यु ७४८ ई० के पूर्व हो चुकी थी । वह शिलालेख ७४८ ई० में उत्कीर्ण किया गया था, जिसमें उसे मृत भूप अंकित किया गया था । परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि राघव देव ने ८७९ ई० में नेपाल सम्वत् आरम्भ किया था । सम्भवतः इस नये सम्वत् के प्रवर्त्तन करने की कोई स्मरणीय घटना अन्य थी ।

(२०)

काठमांडु[१] नृप-वास साम्प्रतिक उसीं काल में ।
विकसित हो, था अग्रगण्य अति माल-टाल[२] में ।।
प्राप्त किया था स्थान उच्च नृप के निवास से ।
जग में हुआ समादृत लक्ष्मी के सकाश से ।।
कुछ गवेषकों ने कही, हैं ये बातें शोध कर ।
किन्तु अन्यथा तथ्य है, कहा अनेक मनीषिवर ।।

(२१)

स्वाभिमान अवतार वीरवर लिच्छवि-भूपति ।
देश-प्रेम-अभिभूत मातृ-आराधक दृढ़मति ।।
धर्मदेव[३] नेपाल-नृपति ने शस्त्र ग्रहण कर ।
तिब्बतेश से भिड़ा समर में आगे आकर ।।
अरि-दल दल अवनीश ने, किया स्वतन्त्र स्वदेश को ।
रण में लिच्छवि-शौर्य से, हत कर तिब्बत-ईश को ।।

(२२)

नृपति वसन्त देव द्वितीय था लिच्छवि-कुल का ।
अन्तिम नृप, बलवान् चतुर्दिक् यश था उसका ।।
भूप गया सुरधाम, हुआ उसके मरने पर ।
वैश्य ठाकुरी का शासन सम्पूर्ण देश पर ।।
शती ग्यारहम के प्रथम, चरण मध्य सामन्त[४] गण ।
भूप[५] मांडलिक भी हुए, लीन उपद्रव विकट क्षण ।।

(२३)

बँटा राज्य नेपाल अतः अनेक भागों में ।
घटी भावना देश-प्रेम की अब लोगों में ।।
भूपति दो वा तीन वहाँ शासन करते थे ।
नृपति मांडलिक गण आपस में ही लड़ते थे ।।

---

१. नेपाल की आधुनिक राजधानी काठमांडू ।
२. धन-सम्पत्ति ।
३. धर्मदेव लिच्छवि-नरेश ने ७०५ ई० में तिब्बत के अधिराट को रणभूमि में समरशायी कर नेपाल राष्ट्र को स्वतन्त्र कर लिया । चंगुनारायण मन्दिर-उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार उसने उस विजय के उपलक्ष्य में चार विजय-स्तम्भों का निर्माण कराया था ।
४. बड़े-बड़े जमींदार अथवा सरदार ।
५. छोटे-छोटे अधीन राजागण ।

उक्त काल नेपाल में, राजधानियाँ तीन थीं ।
काठमांडु, भटगाँव में, पांटन में भी एक थी ॥

(२४)

नृप सामन्त-मांडलिक गण मिल कर करते थे ।
निर्वाचित नृप को प्रायः, यों[१] धन हरते थे ॥
दश सौ अट्ठानवे[२] ईसवी में कर्णाटक ।
कुल के मिथिला राज[३] आक्रमक-दल के नायक ॥
एक छत्र शासन किया, सारे भू नेपाल पर ।
तीनों गद्दियों से नृप, नान्यदेव ने विजय कर ॥

(२५)

सन् ग्यारह सौ सैतालिस[४] में नान्यदेव भी ।
रहा न अचला[५] पर, छोड़ा सब राज-विभव भी ॥
विजित[६] वंश का भूपति बैठा सिंहासन पर ।
कर्णाटों की प्रभु-सत्ता को अटल मान कर ॥
नृप माण्डलिक[७] स्वतन्त्र थे, शासन में निज राज्य के ।
राट[८] पात्र थे अंश के, केवल वार्षिक आय के ॥

(२६)

राज-नगर सिमराँव जहाँ से मिथिला-नृपगण ।
नान्यदेव के वंशज तब थे करते शासन ॥
नाममात्र की प्रभुसत्ता नेपाल-नृपों पर ।
दो सदियों तक बनी हुई थी उनके ऊपर ॥
मिथिला पर अधिकार था, नान्यदेव के वंश का ।
पर पीछे नेपाल में, राज हुआ था मल्ल[९] का ॥

---

१. इस प्रकार से सिंहासन के इच्छुकों से धन ऐंठ कर उनकी सहायता करते थे ।
२. १०९८ ई० ।
३. कर्णाट-क्षत्रिय-कुल के राज्य का तिरहुत में संस्थापक नृपति नान्यदेव ।
४. ११४७ ई० ।
५. पृथ्वी ।
६. नेपाल के उन राजवंशों के भूपति जिन्हें नान्यदेव ने राज्यच्युत कर उन्हें विनाश नहीं किया था । वे करद मांडलिक नृप बनकर राज्य-शासन करने लगे ।
७. छोटे-छोटे अधीन एवं करद राजागण ।
८. सम्राट् ।
९. मल्ल क्षत्रिय राजकुल ।

(२७)

मल्लों ने प्राचीन काल के बुद्ध-समय में ।
लिच्छवियों का साथ दिया, गण-तन्त्र-निलय[१] में ।।
वे वंशज सम्भवतः थे उन मल्ल नृपों के ।
विगत काल के गण-जनपद के वर भूपों के ।।
संस्थापक इस वंश का, वीर श्रेष्ठ अरि मल्ल था ।
शती तेरह[२] में वहाँ शासक कुल का मल्ल था ।।

(२८)

सन बारह सौ सत्तासी[३] में अरि पूरब से ।
सदल खासिया-भूप चढ़ा था नृप पर बल से ।।
विजय न उसकी रही वहाँ पर दीर्घकाल तक ।
किन्तु राजनीतिक अखंडता टूटी व्यापक[४] ।।
मुसलमान अधिपति हुए, उत्तर भारत धरणि के ।
अधिक अंश के, किन्तु थे, हिन्दू मिथिला-अवनि के ।।

(२९)

तेरह सौ चौबीस[५] ईसवी, शिशिर काल में ।
चला गियासुद्दीन[६] गौड़ से कपट चाल में ।।
दिल्ली जाते समय गया वह मिथिला होकर ।
करना था अधिकार उसे उस भू के ऊपर ।।
वहाँ राज था उस समय, नृपति श्रेष्ठ हरिसिंह[७] का ।
कर्णाट-कुल-क्षितिपति, नान्यदेव के कुलज[८] का ।।

(३०)

गुण[९] प्रतिरोध असाध्य नृपति नेपाल गया था ।
तज मिथिला का मोह वहाँ पर राज किया था ।।

---

१. स्थान, जगंह, प्रदेश । जिन प्रदेशों में वैशाली के लिच्छवियों के गणतन्त्र के साथ गणतान्त्रिक शासन चल रहा था, उनमें एक मल्लों का राज्य भी था ।
२. १३ वीं शताब्दी के आरम्भ में अरिमल्ल देव शासन करता था (आर० सी० मजूमदार : एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३७५) ।
३. १२८७ ई० ।
४. चारों ओर फल हुआ, अर्थात् पूर्व से विद्यमान देश की राजनीतिक अखंडता ।
५. १३२४ ई० ।
६. दिल्ली के वादशाह सुलतान गियासुद्दीन तुगलक ।
७. कर्णाट क्षत्रिय कुल का राजा हरिसिंह देव ।
८. वंशज । ९. जानकर, समझ कर ।

हुई न उसे कठिनता अति अनुकूल समय था ।
मल्ल बने मांडलिक, हुआ बल का अपचय[1] था ।।
मल्ल-वंश था क्षीण बल, राट[2] हुआ हरिसिंह अब ।
शती एक शासन किया, उसके कुल ने हो सबल ।।

(३१)

नृप जयरुद्र मल्ल ने आ हरिसिंह नृपति का ।
स्वागत कर मांडलिक बना था उस भूपति का ।।
राज-निवास[3] बना भटगाँव, बढ़ाया उसने ।
सीमाओं को, हो सयत्न राज्य की अपने ।।
था चौदहवीं शती में, उसके कुल से चीन[4] का ।
दौत्य कूटनीतिक सुखद, नाता शुभ सौहार्द का ।।

(३२)

किन्तु भूप हरिसिंह और उसके वंशज गण ।
ने न किया स्वायत्त काठमांडु और पाटन ।।
दोनों ने स्वीकार किया था केवल नेता ।
उसके कुल को जो था समसामयिक विजेता ।।
जामाता जयरुद्र का, हरि-कुल-क्षोणिप जगत्[5] था ।
तस्य[6] सुता पति[7] वीर वर, मल्ल जयस्थिति[8] भूप था ।।

(३३)

इस नपरति ने हो सयत्न अब बल-संचय कर ।
किया सपदि अधिकार मल्ल-सिंहासन-ऊपर ।।
आधिपत्य नेपाल पूर्ण पर हुआ भूप[9] का ।
था यथार्थतः वह प्रतीक वीरत्व-रूप का ।।

---

१. खासिया आक्रमकों के आक्रमण ने मल्ल-भूप की रीढ़ तोड़ दी थी । अतः उसकी शक्ति का ह्रास हो चुका था (अपचय = नाश, बर्बादी) ।
२. नेपाल का सम्राट् ।
३. राजधानी ।
४. चीन के सम्राट् ने हरिसिंह देव के पश्चात् उसके पुत्र मतिसिंह, पौत्र शक्तिसिंह तथा प्रपौत्र श्यामसिंह के शासनकाल में उन तीनों के पास पृथक्-पृथक् राजदूत भेजकर उनकी नेपाल पर प्रभुसत्ता स्वीकार की थी, इसका साक्ष्य इतिहास देता है ।
५. कर्णाट-कुल का जगत्सिंह जयरुद्र मल्ल का जामाता था ।
६. जगत्सिंह का ।
७. दामाद ।
८. कर्णाट जगत्सिंह का दामाद जयस्थिति मल्ल ।
९. राजा जयस्थिति मल्ल ।

तीन तनय थे विक्रमी वीर जयस्थिति मल्ल के ।
धर्म ज्येष्ठ[1], फिर ज्योति[2] थे कीर्त्ति[3] कनिष्ठ नृपाल के ।।

(३४)

तीनों में था प्रेम राज मिलकर करते थे ।
देशोन्नति में लीन सदा वे सब रहते थे ।।
चौदह सौ अट्ठारह[4] में हरिसिंह नृपति के ।
कुल का शासन गामी था पथ पर अवनति के ।।
ज्योति मल्ल[5] सन्नद्ध था, प्राप्ति-हेतु सम्राट्-पद।
यक्षमल्ल[6]-नृप-तनय ने, प्राप्त किया अभिलषित पद ।।

(३५)

मल्ल वंश में यश मल्ल विक्रमी हुआ था ।
चौदह सौ पचीस[7] में उसने राज्य लिया था ।।
कर्णाटकी भूप की सत्ता का अपचय कर ।
सार्वभौम नृप[8] हुआ पड़ोसी जनपदजय कर ।।
कर दिग्विजय नृपाल ने, किया राज्य-विस्तार था ।
राष्ट्र समुन्नत भी हुआ, भूपति शौर्यागार था ।।

(३६)

वह नृप था विक्रमी किन्तु अनुभवी नहीं था ।
राजनीति का ज्ञान भूप में सही नहीं था ।।
किया विकेन्द्रित राज्य, दिया फिर बाँट नृपति ने ।
संततियों में पृथक्-पृथक् जनपद को अपने ।।
कन्या नृप को एक थी, तीन तनय थे कलह-पर[9] ।
चार राज्य अब थे खड़े, यक्ष-राज्य अवशेष[10] पर ।।

---

१. धर्म मल्ल । २. ज्योति मल्ल ।
३. कीर्त्ति मल्ल ।
४. १४१८ ई० ।
५. जयस्थिति मल्ल का द्वितीय पुत्र ज्योति मल्ल ।
६. राजा ज्योति मल्ल का वीर पुत्र यक्ष मल्ल ।
७. १४२५ ई० ।
८. यक्ष मल्ल महत्त्वाकांक्षी और विजेता था । उसने कर्णाट-कुल के अन्तिम राजा की प्रभुसत्ता को पूर्णतया विनष्ट कर स्वयं सारे नेपाल-साम्राज्य पर आधिपत्य स्थापित कर लिया (सार्वभौम सर्वशक्ति सम्पन्न चक्रवर्ती राजा) ।
९. आपस में कलह करने वाले, झगड़ालू ।
१०. यक्ष मल्ल के राज्य के अवशेष पर ।

(३७)

राज्यों में संघर्ष चला जो अटलनीय था ।
वैभव-बल भी क्षीण हुआ जो अकथनीय था ॥
हौलखौल[1] मच गया अराजकता भी आयी ।
छिन्न-भिन्न था राष्ट्र दीनता शीघ्र समायी[2] ॥
शौर्य-क्षीण शासक हुए, केन्द्र-शक्ति भी थी नहीं ।
मल्ल-वंश के नृपों के कर से अब निकली मही ॥

(३८)

सप्त गण्डकी[3] मध्य मांडलिक-नायकवर था ।
भूपति पृथ्वीनारायण जन-संकटहर[4] था ॥
प्रजा वर्ग भी सतत प्रेम उससे करता था ।
गुरखा क्षत्रिय[5] वह था, अरि उससे डरता था ॥
सतरह सौ अड़सठ[6] निकट, उस गुरखेश्वर वीर ने ।
मल्लों को अपदस्थ कर, लिया राज्य था धीर ने ॥

(३९)

इस कुल में हो गये अनेक भूप पराक्रमी ।
शासन किया नीतिरत हो बल-वीर विक्रमी ॥
धारण किया विरुद[7] उन सब ने 'शाह देव' का ।
'विक्रम वीर' पराक्रम-द्योतक निज प्रभुत्व का ॥
शती उनीसवीं मध्य में, थे राजेन्द्र[8] महीप वर ।
गद्दी पर नेपाल की, गगन सिंह[9] मन्त्री प्रवर ॥

---

१. भय अथवा शीघ्रता में होने वाली घबराहट ।
२. प्रवेश कर गयी ।
३. सप्तगण्डकी (सात गण्डकों) के मध्य की भूमि पर शासन करने वाला गोरखा-राज्य का स्वामी सामन्त मांडलिक राजा पृथीनारायण अथवा पृथ्वीनारायण ।
४. लोक-हित-चिन्तक एवं जन-प्रिय ।
५. नेपाल में निवास करने वाले क्षत्रियों की एक विशेष शाखा ।
६. १७६८ ई० के लगभग ।
७. 'वीर विक्रमशाह देव' का विरुद ।
८. महाराज राजेन्द्र वीर विक्रमशाह देव ।
९. महाराज राजेन्द्र वीर विक्रमशाह देव की मन्त्रिपरिषद् में एक मन्त्री गंगन सिंह था । मन्त्रिमण्डल में उसकाल ४ मन्त्री थे । प्रधानमन्त्री का नाम भीमसेन थापा था (शुकराज शास्त्री : शहीद की कलम से, पृ० ३७) ।

(४०)

तीन और थे मन्त्री, उनमें द्वेष चला था ।
राज सभा में फूट-द्रोह का कुसुम खिला था ।।
हत्या भी हो गयी गगन की उसी काल में ।
मची क्रान्ति अब राज-महल के अंतराल[१] में ।।
राणा-कुल-उद्भूत नर, जंगबहादुर[२] वीर वर ।
सैनिक नेता बन गया, शक्ति भूप[३] से प्राप्त कर ।।

(४१)

द्रोहानल को शमन भयंकर रक्तपात से ।
ले कर में करवाल[४] किया उसने प्रहार से ।।
थर्रायी नेपाल-धरा उस काल देखकर ।
बहता रक्त[५] अजस्र स्रोत, बेजोड़ पेख कर ।।
कर में शासन-सूत्र ले, नेता[६] ने तब राज्य के ।
महामात्य[७] का पद लिया, पूर्ण राज्य नेपाल के ।।

(४२)

बन प्रधान मन्त्री अब जंग बहादुर राणा ।
ने ठाना कर पदाघात सोपान[८] हटाना ।।
जिसके बल था चढ़ा और पाया भी आसन ।
उसको ही कर दूर भोगना सुख-सिंहासन[९] ।।
कर अपदस्थ महीप को, अपयश उसने था लिया ।
कुल के एक अबोध शिशु, को नृप-सिंहासन दिया ।।

(४३)

सेना पर अधिकार किया निज स्थिति को दृढ़ कर ।
आधिपत्य शासन पर किया विधान बदल कर ।।

---

१. राजप्रासाद के घेरा (मण्डल) के बीच ।
२. राणा-कुल का संस्थापक कूटनीतिज्ञ एवं महत्त्वाकांक्षी युवक राणा जंगबहादुर ।
३. महाराज राजेन्द्र वीर विक्रमशाह देव ।
४. हाथ में तलवार धारण कर ।
५. लहू की लगातार बहती हुई धारा को देखकर ।
६. राणा जंगबहादुर ।
७. प्रधानमन्त्री ।
८. सीढ़ी ।
९. राज्य-सुख ।

मन्त्री-पद को किया वंशगत आगे चल कर ।
बना यथार्थ राज्य-स्वामी नृप-सत्त्व हरण कर ।।
भूपति थे अब नाम के, सर्वोपरि नेपाल में ।
था पूरा अब देश का, शासन मन्त्री-हाथ में ।।

(४४)

प्रजावर्ग तिलमिला उठा, शोषण होता था ।
कर लेकर भी नहीं उचित पोषण होता था ।।
उठी द्रोह की अन्तर्ज्वाला नीरव वन में ।
झंझा, विद्युत, गर्जन, वर्षण शान्त गगन में ।।
नृप ने सुनी पुकार थी, 'त्रिभुवन'[१] बैठे वगर[२] में ।
सह न सके करुणार्द्र हो, निकले आये डगर[३] में ।।

(४५)

देख दशा दयनीय प्रजा की भूपति वर ने ।
मोह महल का छोड़ा, आया आरति[४] हरने ।।
मची खलबली मंत्री-दल में लख अनहोनी ।
घटना, निकले मिले प्रजा से स्वामी[५] क्षोणी ।।
भारत आये वे प्रथम, फिर विदेश भी थे गये ।
लखने शासन की प्रथा, और विकास नये-नये ।।

(४६)

पृथी वंश-अवतंस[६] भूप 'त्रिभुवन' त्रिभुवन में ।
भागी हुआ सुयश का तोड़ रूढ़ि[७] को क्षण में ।।

---

१. बीसवीं शताब्दी के मध्य में नेपाल राज्य की प्रजा ने राणाओं के शासन से पीड़ित होकर कष्ट निवारणार्थ आन्दोलन किया । क्रान्ति की लहर देशव्यापी हो गयी । तत्कालीन नेपाल-महाराजा त्रिभुवन वीर विक्रमशाह देव ने प्रजावर्ग के साथ सहानुभूति दिखायी ।

२. राजमहल ।

३. रास्ता, मार्ग ।

४. कष्ट, दुःख ।

५. पृथ्वीपति, राजा ।

६. गोरखा क्षत्रिय राज-वंश के संस्थापक राजा पृथी अथवा पृथ्वीनारायण के कुल में उत्पन्न महाराज त्रिभुवन वीर विक्रमशाह देव ।

७. राणावंशीय मन्त्रियों के शासनकाल में यह रूढ़ि बन गयी थी कि महाराज (श्री ५ सरकार) को प्रजा के दुःख-सुख देखने से कोई नाता नहीं है । सारा राज-कार्य मन्त्री (३ सरकार) अपनी इच्छा के अनुसार करते और शासन चलाते थे । इस रूढ़ि को महाराजा त्रिभुवन ने तोड़ दिया ।

प्रथम बार वर्षों के पीछे निज जनपद से ।
की घोषणा बहिर्गत[१] हो उसने नृप-पद से ।।
शासन नृप-अधिकृत हुआ, मन्त्री-परिषद् भंग कर ।
होंगे सभी सुधार भी, प्रजा वर्ग को संग कर ।।

(४७)

उमड़ प्रजा का प्रेम-स्रोत उर में लहराया ।
राष्ट्र-राट् को अचिर हृदय-सम्राट् बनाया ।।
नृप ने भी अधिकार दिया प्रिय प्रजा वर्ग को ।
राजनीति में क्रान्ति मचा वह चला स्वर्ग[२] को ।
त्रिभुवन द्यु[३]-गामी हुआ, प्रजावृन्द उन्मुक्त कर
सुख-विभोर जनता हुई, नृप महेन्द्र अभिषिक्त[४] कर ।।

(४८)

सन् उन्नीस सौ छप्पन[५] में अभिषेक हुआ था ।
नव महीप ने कर में शासन-सूत्र लिया था ।।
पूज्य पिता के चरण चिह्न का वह अनुगामी ।
देशोन्नति का, सुख-समृद्धि का भी अति कामी[६] ।।
विश्व-भ्रमण उसने किया, भारत के प्रिय मित्रवर ।
ले विचार हो राष्ट्र की भौतिक उन्नति अधिकतर ।।

(४९)

'त्रिभुवन'[७] कुल नेपाल राज्य का अब भी शासन ।
करता है नय-पूर्ण[८] बैठ 'पृथ्वी' सिंहासन[९] ।।
जन-प्रिय शासन लोकतन्त्र का पथगामी है ।
नृपति वंशगत[१०] सर्व उच्च सब का स्वामी है ।।

---

१. रामहल से बाहर निकल कर ।
२. महाराजा त्रिभुवन वीर विक्रमशाह देव का महाप्रयाण हुआ ।
३. स्वर्गगामी ।
४. महाराजा त्रिभुवन की मृत्यु के पश्चात् नेपाल के सिंहासन पर उनके पुत्र महेन्द्र वीर विक्रमशाह देव का राज्याभिषेक हुआ ।
५. १९५६ ई० ।
६. कामना करने वाला ।
७. महाराज त्रिभुवन वीर विक्रमशाह देव के वंशज ।
८. न्याय-पूर्ण ।
९. राजा पृथ्वीनारायण के राज सिंहासन पर ।
१०. नेपाल-राज्य-सिंहासन का उत्तराधिकार वंशानुगत विधानानुकूल है ।

प्रगतिशील नृप राज्य में, करता शासन नेक[1] है ।
मन्त्रीगण की राय से, किये सुधार अनेक है ॥

(५०)

कर लेकर शासन-कविका[2] महेन्द्र नरपति ने ।
तत्पर तूर्ण[3] सुधार किया जनपद में अपने ॥
जन गण की सुन टेर चला नृप जन-दुःख हरने ।
पंचायत प्रतिनिधियों से शासन को भरने ॥
प्रतिनिधि-शासन का प्रथम, रूप किया तैयार भी ।
गुप्त राज्य[4] की भित्ति पर, संविधान का सार भी ॥

(५१)

ग्राम, जिला, अंचल में बाँट राष्ट्र को नृप ने ।
किया पूर्ण अधिकार चयन-हित प्रतिनिधि अपने ॥
प्रतिनिधित्व जन का निर्वाचित पंच करेंगे ।
राष्ट्र-सभा में भी उनके ही पंच रहेंगे ॥
राष्ट्र-सभा सर्वोच्च है, संविधान नेपाल में ।
पंचायत का शीर्ष[5] है, टीका नृप[6] है भाल में ॥

(५२)

रहा सदा नेपाल मित्र भारत का गय[7] से ।
दोनों में था स्नेह पुनीत चक्रधर हय[8] से ॥

---

१. सुन्दर ।
२. शासन की लगाम ।
३. अचिर, शीघ्र ।
४. चौथी एवं पाँचवीं शताब्दी में भारतवर्ष में स्वर्णयुग अपने सुशासन से उपस्थित करने वाले गुप्त-साम्राज्य में प्रचलित संविधान के आधार पर ।
५. नेपाल के शासन में राष्ट्रीय पंचायत का स्थान सर्वोच्च है । उसके सदस्य क्रमगत नीचे की पंचायतों द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं ।
६. राष्ट्रीय पंचायत में महाराज का प्रमुख स्थान होता है, और शक्ति भी अपरिमेय है ।
७. प्राणों के समान प्रिय ।
८. विष्णु और इन्द्र (चक्रधर = विष्णु, तथा हय = इन्द्र) । पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार विष्णु और इन्द्र में सदा सौहार्द्र था । दोनों सतत एक दूसरे के सुख-दुख के साथी रहे थे । इन्द्र पर जब भी आपत्ति आयी तो विष्णु ने उनकी सहायता की थी ।

संस्कृति, धर्माचार एक, मानो जल-पय[1] से ।
रिपु सम्मुख नेपाल रहा दृढ़ डट कर अय[2] से ।।
जाति गोरखा-वीरता, देश-भक्ति भी ज्ञात है ।
समर-शूरता सैन्य की, सारे जग प्रख्यात है ।।

(५३)

बौद्ध-धर्म पनपा अशोक सम्राट्-काल में ।
पर पीछे पड़ महायान के तन्त्र-जाल में ।।

अधोगमन कर बच न सका था काल ग्रास[3] से ।
विघटित हुआ भिक्षुगण के आचार-ह्रास से ।।

आर्य-धर्म[4] का श्रेय था, सदा देश नेपाल में ।
सम्प्रदाय था शैव प्रभु, 'पशुपति'[5] देवागार में ।।

(५४)

दोहा :- यद्यपि शासित में वहाँ, हैं जन मिले किरात ।
पर भौगोलिक सांस्कृतिक, धर्म नीति की बात ।।

सब में समता है उसे, भारत के ही साथ ।
इससे मैत्री में निहित, है दोनों का स्वार्थ ।।

आर्य सभ्यता, मान्यता, आर्य आर्य संस्कार ।
आर्य तीर्थ हैं, ग्रन्थ भी, और आर्य आचार्य ।।

आर्य धर्म है आर्यपन, वैदिक आर्य विचार ।
दोनों को ही मान्य है, षड्दर्शन का सार ।।

किन्तु धर्म-निरपेक्षता, शासन की है नीति ।
दोनों देशों में बनी, जन-गण-वर्द्धक प्रीति ।।

■

---

१. दूध और पानी के मिश्रण के समान एक ।
२. लौह, अग्नि ।
३. बौद्ध-धर्म के आचारादि के प्रति भिक्षुओं की उपेक्षा तथा हिन्दू धर्म के प्रभाव के कारण नेपाल में बौद्ध धर्म का ह्रास हुआ, और धीरे-धीरे वह वहाँ से लगभग लुप्त ही हो गया ।
४. हिन्दू धर्म ।
५. नेपाल की जनता के आराध्य इष्ट देव पशुपतिनाथ (शिव) तथा उनका मन्दिर विश्व-विख्यात है ।

मिथिला के अलंविद्य महामनीषी डा० आदित्यनाथ झा जी, आई० सी० एस०, उप-राज्यपाल, दिल्ली की प्रस्तुत पुस्तक पर सम्मति

उपराज्यपाल, दिल्ली,
दिनांक १५ फरवरी, १९६७ ई०

आर्यावर्त्त में मिथिला के जनपद का अपना वैशिष्ट्य प्रागैतिहासिक युग से ही चला आ रहा है, और आज के स्वतन्त्र भारत में उसका राजनीतिक महत्त्व भले ही तिरोहित हो गया हो पर सांस्कृतिक क्षेत्र में मिथिला की प्रतिष्ठा अभी भी सुरक्षित है, पर मिथिला का सम्पूर्ण इतिहास अभी भी क्रमबद्ध नहीं लिखा गया है । इस दिशा में प्रस्तुत पुस्तक एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण आयास है । वैदिक युग से ही मिथिला के इतिहास की रूपरेखा इसमें जिसे श्रद्धा से, प्रामाणिकता के साथ अंकित की गयी है वह अवश्य ही श्लाघनीय है। इससे विद्वान् लेखक का देशप्रेम ही नहीं प्रत्युत उनका परिश्रम, उनकी संलग्नता और उनका अध्यवसाय भी स्पष्ट द्योतित होता है ।

परन्तु कोरे इतिहास की पुस्तक को पद्यबद्ध लिखने का आयास कुछ विचित्र सा प्रतीत होता है । सम्भवतः लेखक महोदय ने संस्कृत-साहित्य के प्रभाव से ऐसा किया है; क्योंकि संस्कृत में ही आयुर्वेद और गणित सदृश नीरस विषय की भी पुस्तकें श्लोक में ही लिखी जाती हैं । इसी से ग्रन्थ का कलेवर भी बहुत कुछ बढ़ गया है । पाद-टिप्पणियों को भी ग्रन्थ के मध्य में ही रख कर पद्य-भाग को यदि हटा दिया जाता तो शायद ग्रन्थ की महिमा में कुछ त्रुटि नहीं होती ।

विषयों में भी यत्र-तत्र कुछ भ्रान्तियाँ दीख पड़ती हैं । ओइनवार मैथिल ब्राह्मणों का एक प्रसिद्ध वंश है, इनका मूल ओइनी है, जगतपुर ग्राम है जिसका अर्थ यह हुआ कि पंजी प्रबन्धोत्तर काल में ये लोग जगतपुर में बसे हुए थे । परन्तु ओइनी मूल नया है । इन लोगों का आदि मूल खौआल था, और खौआल की ही एक शाखा ओइनी के नाम से प्रसिद्ध है । इसी तरह कई किम्वदन्तियों और निरे अनुमान को भी बिना जाँचे हुए प्रमाण रूप से स्वीकृत कर लेना इतिहास के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है ।

फिर भी, कुछ त्रुटियों या भ्रान्तियों के रहते हुए भी पुस्तक का मूल्य घटने नहीं पाया है । हिन्दी में इस प्रकार की यह पहली पुस्तक है और हर्षोत्तर-भारत के इतिहास के अन्तर्गत मिथिला के इतिहास का यह खण्ड निश्चय ही मिथिला के गौरव को बढ़ायेगा । सुधी-समाज से इसका समुचित आदर हो, यह मेरी शुभाशंसा है ।

ह० आदित्याथ झा

[टिप्पणी—विज्ञवर आदरणीय उप-राज्यपाल महोदय की सम्मान्य सम्मति के अनुकूल पुस्तक को फिर से गद्य में लिखा गया है, तथा उनकी बहुमूल्य राय को दृष्टि में रखकर यथासम्भव त्रुटियों में सुधार लाने का प्रयत्न भी किया गया है । पुस्तक में कई नये अध्याय भी जोड़े गये हैं, जिससे इसका कलेवर अपेक्षाकृत बढ़ गया है । इसके नाम में भी परिवर्त्तन किया गया है । अब यह पुस्तक 'हर्षोत्तर भारत' का खण्ड न रह कर एक अलग स्वतन्त्र ग्रन्थ बन गया है— लेखक]

वयोवृद्ध साहित्य-महारथी आचार्य पं० श्री जगन्नाथ मिश्र जी, भूतपूर्व एम० एल० सी० की सम्बद्ध पुस्तक विषयक सम्मति

डॉ० रामप्रकाश शर्म्मा भारतीय इतिहास के एक मननशील अध्येता हैं। इन्होंने एक गवेषक की दृष्टि लेकर ऐतिहासिक घटनाओं का विचार विश्लेषण किया है और उनके आधार पर अपने स्वतन्त्र मत निर्धारित किये हैं। यह आवश्यक नहीं है कि उनके सब विचारों एवं उपपत्तियों से कोई सहमत हो किन्तु इतना अवश्य है कि अपने मत के पक्ष में उन्होंने जिन युक्तियों की अवतारणा की है असंगत नहीं कही जा सकतीं। विद्वानों ने अपने अद्यतन शोधकार्य के फलस्वरूप जिन तथ्यों का निरूपण किया है, डॉ० शर्म्मा ने उन्हें दृष्टिगत रखकर विवेचन किया है जिससे उनके व्यापक दृष्किोण का परिचय मिलता है।

प्रस्तुत पुस्तक हर्षोत्तर-भारत के मिथिला खण्ड में उन्होंने प्रागैतिहासिक युग से लेकर आधुनिक काल तक के मिथिला के इतिहास पर जिस रूप में आलोकपात किया है वह उनके ऐतिहासिक भावबोध तथा शोध-मूलक प्रवृत्ति का सम्यक् परिचायक है। मिथिला का इतिहास उस पुरातन काल से आरम्भ होता है जब वैदिक युग में आर्यों ने सरयू नदी पार करके पूरब की ओर प्रस्थान किया था। नदीमातृका देश होने के कारण ऋषियों ने नदियों की तटभूमि में असंख्य यज्ञयाग करके उसे वासयोग्य बनाया जिससे इसका नाम 'तीरभुक्ति' या तीरहुत पड़ा।

'भविष्य पुराण' के अनुसार मनु-पुत्र निमि के पुत्र मिथि ने तीरभुक्ति के समीप एक नगर बसाया जिसका नाम मिथिला रखा। इस पुरी के वे आदि निर्माता थे। इसलिए उनका नाम जनक पड़ा।

"निमेः पुत्रस्तु तत्रैव मिथिर्नाम महान् स्मृतः।
प्रथमं भुजबलैर्येन तैरहूतस्य पार्श्वतः॥
निर्मितं स्वीयनाम्ना च मिथिला पुरमुत्तमम्।
पुरीजनन-सामर्थ्याज्जनकः स च कीर्तितः"॥

'वाल्मीकि-रामायण' से भी इस कथन की पुष्टि होती है :–

'निमिः परम धर्मात्मा सर्वसत्त्व वरः।
तस्य पुत्रो मिथिर्नाम जनको मिथिपुत्रकः"॥

पाणिनि ने मिथिला की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है : 'मथ् हल् च। मथ्यन्ते शत्रवो यस्याम्'। जहाँ शत्रुओं का मर्दन किया जाय वह मिथिला है।

'शुक्ल यजुर्वेद', 'शतपथ ब्राह्मण' आदि वैदिक ग्रन्थों में विदेह, मिथिला, जनक आदि का उल्लेख मिलता है। पण्डितों ने बहुत-कुछ छानबीन करके इन सब ग्रन्थों का

रचना-काल पाँच हषार वर्ष पूर्व माना है । राय बहादुर चिन्मामणि वैद्य प्राग्वैदिक काल इसवी सन् से सात हजार वर्ष पूर्व मानते हैं । उस पुरातन काल में भी मिथिला राज्य का अस्तित्व था । इस प्रकार मिथिला भारत के प्राचीन राज्यों में अन्यतम है । यह एक विशाल राज्य था । वर्तमान तिरहुत प्रमण्डल और वर्तमान नेपाल राज्य का तराई प्रदेश इसके अन्तर्गत था । राजधानी का नाम मिथिला था । मिथिला के अन्तर्गत विशाला राज्य भी था । 'बृहद् विष्णु पुराण' के अनुसार कौशिकी नदी से गण्डकी तक मिथिला राज्य की लम्बाई २४ योजन (९६ कोस) और गंगा से लेकर हिमालय तक चौड़ाई १६ योजन (६४ कोस) थी । उसी देश में लोक-विश्रुत मिथिला नगरी थी :–

"कौशकीन्तु समारभ्य गण्डकीमधिगम्य वै ।
योजनानि चतुर्विंशद् व्यायामः परिकीर्त्तितः ।।
गंगाप्रवाहमारभ्य यावत् हैमवतं वनम् ।
विस्तारः षोडश प्रोक्तो देशस्य कुरुनन्दन ।
मिथिला नाम नगरी तत्रास्ते लोक-विश्रुता" ।।

सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री हुएन्-सांग वैशाली और मिथिला गया था । उसके यात्रा-वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि वह राजधानी जनकपुर भी गया था । वह वैशाली में वृज्जियों की एक शाखा लिच्छवि और मिथिला में वैदेह नाम से परिचित था । वैदेहों में पहले राजतंत्र प्रणाली और बाद में प्रजातंत्र शासन प्रणाली प्रचलित थी । मिथिला पर जनक-वंश का निष्कंटक राज्य कई हजार वर्षों तक रहा । इस वंश के अवसान के बाद कई हजार वर्षों तक मिथिला का इतिहास तमसाच्छन्न है ।

ग्यारहवीं शताब्दी में हम कर्णाटक से आये हुए नान्यदेव नामक क्षत्रिय राजा का शासन तिरहुत पर पाते हैं । इस वंश के अन्तिम राजा हरिसिंह देव थे जिन्होंने १३२४ ई० में राज्य त्याग किया । इनके सभा-पण्डित कामेश्वर झा (ठाकुर) ने दिल्ली के बादशाह मुहम्मद तुगलक से तिरहुत का राज्य अपने नाम से प्राप्त किया । १५४८ ई० तक इस वंश का राज्य रहा ।

सम्राट् अकबर के शासनकाल में महेश ठाकुर के हाथ मिथिला का राज्य आया । पठानों के कई बार मिथिला पर आक्रमण हुए ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययनशील इतिहास प्रेमी लेखक ने प्रागैतिहासिक युग से लेकर ब्रिटिश शासन के अवसान तक का मिथिला का और उसके विभिन्न राजवंशों का सांगोपांग इतिहास क्रमबद्ध रूप में दिया है । आधार-सामग्री और तथ्यों की छानबीन बड़ी बारीकी से की गयी है और अपनी उपपत्तियों के पक्ष में लेखक ने प्रचुर प्रमाण दिये हैं । पाद-टिप्पणियों का व्यवहार बहुलता से किया गया है जिससे पाठकों के लिए प्रतिपाद्य विषय सहज बोध्य बन गये हैं । सिमराँव राजवंश, ओइनवार राजवंश तथा इस राजवंश की शाखाओं का परिचय देकर लेखक ने इतिहास के एक ऐसे अध्याय पर आलोकपात किया है जो प्रायः विस्मृति के अंधकार से आच्छन्न था ।

इस पुस्तक का एक महत्त्वपूर्ण अंश है नेपाल खण्ड । मिथिला के साथ नेपाल का प्राचीन सम्बन्ध अविच्छेद्य था । इस सम्बन्ध पर लेखक ने विस्तृत रूप से प्रकाश डाला है और अनेकानेक ज्ञातव्य विषयों का समावेश करके ग्रंथ की उपादेयता बढ़ा दी है । अपने सुदीर्घ प्राक्कथन में लेखक ने ग्रंथ के सारांश को बड़ी दक्षता से सन्निविष्ट कर दिया है । यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि हिन्दी के इतिहास-साहित्य में इस ग्रंथ का विशिष्ट स्थान होगा ।

ह० जगन्नाथ मिश्र,
राजपोखर, लहेरियासराय, दरभंगा

[टिप्पणी– श्रद्धेय विद्वान् आचार्य मिश्र जी ने लेखक के 'सुदीर्घ प्राक्कथन' की चर्चा ऊपर की है । उन्होंने पद्यबद्ध 'मिथिला खण्ड' का उसके प्राक्कथन के साथ अवलोकन कर अपना उपर्युक्त उद्‌गार व्यक्त किया था । पर पश्चात् मित्रों एवं शुभचिन्तकों की राय से ग्रंथ को फिर से पूर्व प्रतिपादित उपपत्तियों के आधार पर स्वतंत्र रूप से गद्य में लिखा गया । उस पुनर्लेखन-काल में उक्त प्राक्कथन को तथा पुस्तक की पाद-टिप्पणियों को ग्रंथ के मध्य में यथा-स्थान समाविष्ट कर दिया गया है । वर्तमान प्राक्कथन का कलेवर अब सुदीर्घ न रहकर अति लघु हो गया है । – लेखक]

बिहार राज्य के भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री तथा महाराज कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा के उप-कुलपति, एवं प्राची और प्रतीची विद्या के प्रकांड पण्डित कुमार श्री गंगानन्द सिंह जी के प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में लेखक के नाम लिखे गये पत्र की प्रतिलिपि

(प्रेषक)

उप कुलपति, नं० जी/२९२६/६८

कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय । दरभंगा,

दिनांक २१/२२-५-६८

श्री डॉ० रामप्रसाद शर्म्मा जी,

आपके पत्र प्राप्त हुए । मुझे खेद है कि मैं इससे पहले आपको उत्तर नहीं दे सका ।

मिथिला के इतिहास के सम्बन्ध में अभी बहुत खोज करना बाकी है । पर उपलब्ध सामग्री के आधार पर आपने जो कुछ अंकित किया है उससे मेरा विश्वास है कि मिथिला के सम्बन्ध में जिज्ञासु विद्यार्थियों को बहुत लाभ होगा । मैं आपके सत्प्रयास की सराहना करता हूँ । मिथिला में बसनेवाले विभिन्न सामाजिक संबंधों का प्रश्न भी ऐतिहासिक महत्त्व रखता है । हिंदी ऐतिहासिक साहित्य में आपका ग्रंथ विशिष्ट स्थान प्राप्त करे, यही मेरी कामना है ।

आपके भेजे गये पांडुलिपि को मैं इस पत्र के साथ रजिस्टर्ड पोस्ट द्वारा वापस करता हूँ । कृपया प्राप्ति स्वीकार कीजिएगा ।

ह० गंगानंद सिंह

(कुमार गंगानंद सिंह)

ग्रन्थ प्रणयन से सम्बन्धित साहित्य-सूची की अनुक्रमणिका

(अ)

अशोकावदान, बौद्धग्रन्थ

अभिधान्वय दीपिका

अथर्ववेद संहिता-रोज तथा ह्विटने

अत्थकथा-जैन ग्रन्थ

आपस्तम्ब धर्मसूत्र

अवयस्क सूत्र

अपन्नक जातक

अलवदोनी का अनुवाद -डा० वी० सी० लॉ

अलवदोनी, भाग १ तथा २-लोवी का अनुवाद

अभिनव गुप्त: ए हिस्टोरिकल ऐंड फिलौसोफिकल स्टडीज – डा० के० सी० पांडेय

अकबरनामा-अबुलफ़जल-इल्लियट का अनुवाद

अभिंह जातक

अंग उत्तर निकाय

अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया – वी० स्मिथ

अभिधानचिन्तामणि – हेमचन्द्र

आश्वलायन श्रौत्रसूत्र

अद्भुत सागर – बल्लाल सेन

अलबरूनी

अन्नल्क ऑफ दी भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट-१३,

उदय सुन्दरी कथा-३५

अजातशत्रु – गार्ग्यवालाकि सम्वाद

अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया–वी० एम० मनिक

अमरकोष व्याख्या – श्रीकर

अवस्थक सूत्र – ६८४

अद्वैतधिक्कार – शंकर मिश्र

अनर्घराघव टीका – रुचिपति

अतिचार निर्णय – महेश ठाकुर

अद्भुत दर्पण – माधव शर्मा

अभेदधिक्कार – शंकर मिश्र

अर्ली हिस्ट्री ऑफ डेकान – आर० डी० भण्डारकर

अमिंट जातक – २७

अघनक जातक

अगिलही – कुमार गंगानन्द सिंह

अर्थशास्त्र – कौटिल्य

(आ)

आइन-ई-अकबरी-अबुलफजल – जर्रेट का अनुवाद

आइन-ई-तिरहुत – बिहारीलाल

अर्टिकल ऑन मिथिला – रहमानी, १६-२-१९५३ ई०

आवश्यक बृहद् वृत्ति

आर्यावर्त्त – हिन्दी दैनिक, पटना

आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९०३-४, उत्तर एवं दक्षिण बिहार – टी० ब्लॉक

आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, वाल्यूम-१-११६ – कनिंगहम

आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट, १९०३-०४, १९१३-१४, तथा १९२३-२४-एक्सकवेशन इन बसाढ़ – स्पूनर

आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट भाग – १ मेजर ग्रियर्सन द्वारा की गयी खुदाई के सम्बन्ध में

आलोक दर्पण – महेश ठाकुर

आनन्द लहरी टीका – नरसिंह ठाकुर

आख्यायिका – पं० परमेश्वर झा

आत्मतत्त्व विवेक – उदयनाचार्य

(इ)

इण्डियन कल्चर – ए० घोष

इण्डिन स्टडीज – प्रो० ववरण

इम्पेरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया

इण्डियन हिस्टोरिकल क्लार्टर्ली १९३७, १९५९, १९६६

इण्डियन फिलोसोफी – राधाकृष्णन्

इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, ११६

इण्डिका – मेगस्थनीज

इतिहास प्रवेश – विद्यालंकार

इण्ट्रोडक्शन ऑफ मैथिली लैंगवेज – ग्रियर्सन

इण्डियन नेशन, अंगरेजी दैनिक, पटना

इण्डिया ऑफिस कैटलॉग

इण्डियन म्युजियम स्टोन इन्स्क्रिप्शन

इण्ट्रोडक्शन इन मिथिला मैनुस्क्रिप्ट्स कैटलॉग

इण्डिया गवर्नमेंट मैनुस्क्रिप्ट्स, फोलियो – ११७

इण्डियन थॉट – डा० गंगानाथ झा

(उ)

उत्तराध्ययन सूत्र

उत्तर रामचरित – भवभूति

उवास गदसाओ

उम्मादन्ती जातक – ५२७

उभतोभट्ट जातक – १३९

उत्कीर्ण शिलालेख – महाराजधिराज जयदेव द्वितीय

उत्कीर्ण तिरुमलई अभिलेख

उत्कीर्ण अभिलेख मुँगेर के लखीसराय के निकटवर्त्ती जयनगर का

उत्कीर्ण अभिलेख पहारकर का ११६२

उत्कीर्ण अभिलेख आन्ध्र शातवाहन

उत्कीर्ण अभिलेख बोधगया का – जयचन्द्र

उत्कीर्ण अभिलेख कन्दाहा

उत्कीर्ण अभिलेख उत्तर भारत – कैलहार्न

उत्कीर्ण अभिलेख खजुराहो, वि० स० १०११

उत्कीर्ण ताम्रपत्र अभिलेख, कटरागढ़, मुजफ्फरपुर, रामगुप्त

उषाहरण – रत्नपाणि

उषाहरण नाटक – हर्षनाथ

उन्नपश जातक

उत्तर मेघदूत – कालिदास

उड़ीसा रिसर्च वाल्यूम-३,

उपस्तम्भ

उपनिषद्

(ए)

एपिग्राफिका इण्डिका

एपिग्राफिका मुसलमीका

एक अग्निदान पद्धति (प्रतिलिपि) – श्री दत्त एरियन, प्लुटर्च, जस्टिन, सिक्युलस (ग्रीक इतिहासकार)

ए क्लासिकल डिक्शनरी ऑफ इण्डियन माइथोलॉजी – डॉसन

ए न्यू हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पीपुल, वाल्यूम-६ – आर० सी० मजूमदार एवं ए० एस० अलतेकर

एकाउण्ट ऑफ सुगौना डाइनेस्टी ऑफ कामेश्वर ठाकुर

एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल रिव्यु, जनवरी, १९११ तथा बुद्धिज्म एण्ड लामिज्म ऑफ तिब्बत

एकोनॉमिक लाइफ इन एन्शिएण्ट इण्डिया, वाल्यूम-१ – वुच

एकावली – गोकुलनाथ

एकाउण्ट ऑफ तिब्बेतियन– तारानाथ

एकादशाध्यायाधिकरण – मुरारि मिश्र

एक्सकवेशन एट् बसाढ़

एगिंल्लग-४०९

(ऐ)

ऐतरेय आरण्यक

ऐन्शिएण्ट इण्डिया–रैपसन

ऐन्शिएण्ट इण्डिया – आर० सी० मजुमदार

ऐन्शिएण्ट मनुमेन्ट ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा, लौरियानन्दन गढ़ वाला अध्याय – कुरैशी

ऐन्शिएण्ट इण्डियन नुमिसमेटीज — डॉ० भण्डारकर
ऐन्शिएण्ट इण्डियन एडुकेशन — आर० के० मुकर्जी
ऐन्शिएण्ट खोतान — सर एस० ए० एटीन्स
ऐन्शिएण्ट एण्ड मिडिएवल नेपाल — डी० आर० रेगमी
ऐन्शिएण्ट ज्योग्रफी ऑफ इण्डिया— कनिंगहम
ऐन्शिएण्ट इण्डिया — अयंगर
ऐन्शिएण्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रैडीशन एण्ड डाइनेस्टीज ऑफ कलि एज — एफ० ई० पार्जीटियर
ऐन्शिएण्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर — दियोदोर सिकुलस (युनानी लेखक)
ऐन ऐडवान्स्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया — मजुमदार, रायचौधरी तथा दत्त
ऐन्टीक्विटीज ऑफ तिब्बत

(ओ)

ओरायण — बाल गंगाधर तिलक
ओरियण्टल रिसर्च सीरीज — डॉ० भण्डारकर

(क)

कल्प प्रदीप — जैन सूरी
कल्प सूत्र
कठोपनिषद
कपीतकी उपनिषद
कॉर्पस इन्स्क्रिप्शन्स इण्डिकेरम, जिल्द, २-३, — जे० एफ० फ्लीट
के० पी० जयसवाल, अनुसंधानकर्त्ता एवं लेखक
क्रिएटिव इण्डिया — सरकार
कुविजामातम
काव्यप्रकाश विवेक, श्रीधर भाष्य की प्रतिलिपि
कुम्भकार जातक
कृत्य कल्पतरु (व्यवहार ग्रन्थ) — लक्ष्मीधर
कृत्य-चिन्तामणि — चण्डेश्वर
कृत्य-रत्नाकर — चण्डेश्वर
कौषीतकी उपनिषद्
कॉरपोरेट लाइफ इन ऐन्शिएण्ट इण्डिया, प्रथम संस्करण — डॉ० आर० सी० मजुमदार
कौमुदी महोत्सव नाटक — के०पी० जायसवाल
क्रॉनिकल्स ऑफ पठान किंग्स ऑफ देल्ही — थॉमस
क्रॉनोलॉजी एण्ड हिस्ट्री ऑफ नेपाल — के० पी० जायसवाल
क्रॉनोलॉजी ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया — एस० एन० प्रधान
केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया — रैप्सन
केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया — लेनपुल
केटलॉग ऑफ दी बुद्धिस्ट संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, कैम्ब्रिज युनिवरसीटी लाइब्रेरी — सी० वेण्डल
केटलॉग ऑफ क्वायन्स इन दी इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता — स्मिथ
क्रॉनोलॉजी ऑफ इण्डिया— सी० एम० डफ
क्वार्टर्ली जरनल ऑफ दी आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी
कीर्त्तिलता — विद्यापति
काउवेल एण्ड वेल
कृष्णजन्म — मनबोध कवि
कृष्णकेलि माला — नन्दीपति
कल्पतरु — भद्रबाहु
कामधेनु — रत्नाकर
कुलदीपक — जगदानन्द
कैस्ट्रोमैथी — ग्रियर्सन
कैमेमोरेशन — डॉ० गंगानाथ झा
काव्य डाकिनी — गंगानन्द
कृष्ण की बाल लीला — रसखान
कुसुमांजलि प्रकाशिका — भगीरथ ठाकुर
किरणावली प्रकाशिका — भगीरथ ठाकुर
कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स के नाम पत्र।

कीर्त्तिपताका – विद्यापति
कंटकोद्धार – मधुसूदन ठाकुर
किरणावली – उदयनाचार्य
कृत्यमहार्णव – वाच०
काठमांडु अभिलेख – प्रतापमल्ल देव

(क्ष)

क्षत्रिय ट्राइब्स – डा० बी० सी० लॉ

(ख)

खस्सर जातक
खंडन खाद्य प्रकाश – वर्द्धमान उपाध्याय
खंडन-खंडनोद्धार – वाचस्पति मिश्र

(ग)

गरुड़ पुराण
गग्ग जातक
गंगाकृत्यविवेक – वर्द्धमान
गंगापत्तलक – गणेश्वर
गान्धार जातक
गिलगिट पांडुलिपि – डा० नलिन्याक्ष दत्त
गुप्त अभिलेख – फ्लीट
गुप्त पोलिटी – आर० आर० दीक्षित
गुट्टिल जातक
गुलाम हुसेन खाँ (लेखक)
गार्गी संहिता, युग पुराण
गृहस्थ रत्नाकर – आर० एल० मित्र, नोटिसेस ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स
ग्रेट वीमेन्स ऑफ इण्डिया, १८९३ ई० संस्करण – लैथब्रिज
गौड़ीय रामायण
गौड़ राजमाल – आर० पी० चन्द्र
गजेटियर, दरभंगा, मुजफ्फरपुर, चम्पारण तथा बम्बे
गंगावाक्यावलि – विद्यापति
गुप्त मुद्राएँ – अल्तेकर
गीतगोविन्द – जयदेव
ग्रहणमाला – हेमांगद ठाकुर
ग्रीक्स इन इण्डिया एण्ड बैक्टीरिया – टौर्ण

(च)

चण्ड कौशिक
चन्दा झा का पद्यबद्ध लेख
चीनी यात्री संग युन का यात्रा वृत्तान्त
चीनी यात्री हुएन् त्सं – रैस डेविड
चित्तसम्भूत जातक
चुल्लवग्ग
चुल्ल धनुग्घह जातक – ३७४
चन्द्रालोक – पक्षधर मिश्र
चिन्तामणि – वाचस्पति मिश्र
चैड, वाल्यूम – २

(छ)

छान्दोग्य मन्त्रोद्धार – रामदत्त
छान्दोग्य उपनिषद्

(ज)

जरनल ऑफ दी बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी
जरनल ऑफ दी बिहार रिसर्च सोसाइटी
जरनल ऑफ दी रॉयल एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल
जरनल ऑफ दी रॉएल एशिएटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैंड, न्यू सीरीज, १८९८, १९०९
जरनल ऑफ दी एशिएटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १९०० तथा १९५७ ई० – सुनीति कुमार चटर्जी
जरनल ऑफ दी मैनचेस्टर ओरिएण्टल सोसाइटी
जरनल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, १९३५ – गोविन्द पांडे
जरनल ऑफ दी ग्रेट इण्डिया सोसाइटी, १९४३ ई०
जरनल ऑफ दी नुमिसमेटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया

जरनल ऑफ दी बाम्बे ब्रांच ऑफ दी रॉयल एशिएटिक सोसाइटी
जरनी बाई वेण्डल
जैन विविध तीर्थकल्प, मिथिला तीर्थकल्प भाग - प्रभु सूरी
जैन परिशिष्ट पर्वन्
जैन चरित्र – जैकोवी सम्पादित
जैमिनीय उपनिषद्
जैन साहित्य – वासग दसाओ
जैन ग्रंथ – कालकाचार्य कथानक
जैन सूत्र – सेकरेड बुक्स ऑफ द्री ईस्ट
जैन ग्रंथ – सिंहासन द्वात्रिंशिका
जानकी उत्पत्ति माहात्म्य – पद्म पुराण – रामस्वार्थ सिंह
जैमिनीयसूत्र वार्तिक – कुमारिल भट्ट
जटिल जातक – २४३

(ट)

ट्राइब्स इन एन्शिएण्ट इण्डिया – डा० वी० सी० लॉ
टालसी (लेखक)
ट्वेल्थ आल इण्डिया ओरिएण्टल कान्फरेन्स, बनारस, प्रोसिडिंग्स, वाल्यूम – १, भाग २ – आर झा,

(ड)

डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया – एच० सी० राय्
डाइनेस्टीज ऑफ कलि एज – एफ० ए० पर्जीटियर
डिक्शनरी ऑफ पाली प्रापर नेम्स – मललसेकर
डेविड बुद्धिस्ट इण्डिया – टी० डब्ल्यु० रैस डेविस

(त)

तक्का आतक
तवकात-ई-नासिरी – मिनहाज
तवारीख-ई-फिरोजशाही – इल्लियट
तवारीख-ई-मुबारकशाही
तिब्बतियन इनवेजन ऑफ इण्डिया इन ६४४ एण्ड इट्स रिजल्ट – लेफ्टिनेण्ट कर्नल वार्डल
सुजाकी-ई-वावरी, भाग-४ – इल्लियट
तैत्तरीय संहिता
तत्त्व-कौमुदी – वाचस्पति मिश्र
तत्त्व-शारदी – वाचस्पति मिश्र
तत्त्व-शुद्धि – उदयनाचार्य
तत्त्व-चिन्तामणि-प्रकाश – रुचिदत्त मिश्र
तत्त्व-चिन्तामणि-टीका – वासुदेव मिश्र
तत्त्व-चिन्तामणि-आलोक – पक्षधर मिश्र
तत्त्व-चिन्तामणि-आलोक-कंटकोद्धार–मधुसूदन ठाकुर
तत्त्व-चिन्तामणि परिशिष्ट
तत्त्व-चिन्तामणि मयूख – शंकर मिश्र
तात्पर्य परिशुद्धि – उदयनाचार्य
तात्पर्य टीका – वाचस्पति मिश्र
तन्त्र-वार्तिक – कुमारिल भट्ट
तुप् टीका – कुमारिल भट्ट
तिथि-चन्द्रिका – पक्षधर मिश्र
तिथि-निर्णय – वाचस्पति मिश्र
तिरुवालंगास अभिलेख
तवकात-ई-अकबरी – इल्लियट

(थ)

थेरी गाथा

(द)

दुर्गाभक्ति तरंगिगी – विद्यापति
देवी चन्द्रगुप्तम् – विशाख दत्त
देवी माहात्म्य, मैथिली पांडुलिपि, उदयकरण द्वारा अनूदित, नेपाल नोटिसेज
देवी माहात्म्य नागराक्षर – शास्त्री नेपाल दरबार कैटलॉग
दशविध ब्राह्मण संहिता
द्वैत विवेक – म० विभाकर
दण्ड विवेक – वर्द्धमान

द्वैत चिन्तामणि – वाचस्पति मिश्र
द्वैत निर्णय – वाचस्पति मिश्र
द्वैत चिन्तामणि निर्णय – म० म० पं० नरहरि झा
दुर्गोत्सव पद्धति – विद्यापति
दरभंगा डिस्ट्रिक्ट गजेटियर – १८
द्रव्यपदार्थ – पक्षधर मिश्र
दान-रत्नाकर – चण्डेश्वर तथा ज्योतिरीश्वर-मित्र नोटिसेज
दान वाक्यावलि – विद्यापति
दी प्रभाकर स्कूल्स ऑफ पूर्व-मीमांसा – डॉ० गंगानाथ झा
दी फिलॉसोफिकल डिसिप्लिन – डॉ० गंगा-नाथ झा
दशकुमारचरितम् – दण्डी कवि
दी वेदान्त फिलॉसोफी – मैक्समूलर
दिग्घनिकाय – ए० के० भागवत सम्पादित
दिव्यावदान – वाववेल रेडेनल सम्पादित
दी एज ऑफ दी इम्पीरियल गुप्ताज – आर० सी० बनर्जी
दश ब्राह्मण जातक – ४९५
दिग्घनिकाय का महासय्यक सूत्र
दी सेकरेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट सीरीज
दीप वंश
दी लाइफ. ऑफ हिउएन्त्सियांग-१८१४ – रह्य डेविड
दी डिकलाइन ऑफ दी किंगडम ऑफ मगध – वी० पी० सिंह
दी एज ऑफ इम्पोरियल कन्नौज – आर० सी० मजुमदार एण्ड के० एम० मुंशी
दी सौंग्स ऑफ विद्यापति – डॉ० सुभद्र झा
दी लाइफ ऑफ बुद्ध – रौकहिल
दी मुहमडन डाइनेस्टीज – लेनपुल

(ध)

धम्मपद
धूर्त समागम – ज्योतिरीश्वर एवं चण्डेश्वर

(न)

नेपाल दरबार पुस्तकालय कैटलॉग नं० १५३६
नेपाल मैनुस्क्रिप्ट्स नोटिसेज – १२९
नेपाल – राइट
नेपाल, वाल्यूम-१ – परसिवल लैंडन
नानचन्द्र जातक
निमि जातक
निरयावलीया सुत्तम् – एस० वर्‌रेण-१८७९
नाट्य शास्त्र – नान्यदेव
नारद पुराण
नरसिंह पुराण
नव्य न्यायालोक – पक्षधर मिश्र
न्याय बोधिनी – देवनाथ ठाकुर
न्याय सूत्रोद्धार – वाचस्पति मिश्र
न्याय लीलावती प्रकाश – वर्द्धमान उपाध्याय
न्याय कुसुमांजलि – उदयनाचार्य
न्याय कुसुमांजलि – वर्द्धमान उपाध्याय
न्याय परिशिष्ट – वर्द्धमान उपाध्याय
न्याय निबन्ध – वर्द्धमान उपाध्याय
नव्य न्याय – उदयनाचार्य
न्याय वार्तिक – वाचस्पति मिश्र
न्याय सूची निबन्ध – वाचस्पति मिश्र
न्याय सिद्धान्त सार भिन्न – वासुदेव मिश्र
न्याय कुसुमांजलि प्रकाश मकरन्द – रुचि-दत्त मिश्र
नृत्य न्याय पद्धति – गंगेश उपाध्याय
नर्मदा सागरसट्टाक – जीवन झा
नलोदय – कालिदास
नानायोद्धनिरुद्ध
नस्ताचिपंकेरुह
नोटिसेज ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स – आर० एल० मित्रा
न्यायतत्त्व चिन्तामणि – गंगेश उपाध्याय
नैषधचरितम् – भवदत्त

(प)

पदावलि-रूप गोस्वामी, ढाका प्रकाशन – एस० के० डे

पटना युनिवरसीटी जरनल

पादलिप्त प्रबन्ध

पाली साहित्य का इतिहास – भरत सिंह

पाणिनीय व्याकरण

परम अत्थ जोतिका, पाली भाष्य

पंचविंश ब्राह्मण

पंच ब्राह्मण

पातंजल महाभाष्य (पाणिनीय अष्टाध्यायी पर)

प्राचीन भारत – डॉ० राजबली पांडेय,

प्राचीन भारत का इतिहास – डॉ० भागवत शरण उपाध्याय

प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास – डॉ० विमलचन्द्र पांडेय

पंजी प्रबन्ध – चन्द्र झा

पुरुष परीक्षा – विद्यापति

पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शिएण्ट इण्डिया – एच० सी० रायचौधरी

परिशिष्ट पर्वन्, जैन साहित्य

पलेनी पोत्थकर, लिच्छवियों की दंड-संहिता ग्रन्थ

पदार्थ चक्र – मिश्र, मित्रा

प्रभावती हरण – भानु नाथ

पारिजात हरण – उमापति

पितृभक्ति तरंगिणी – वाचस्पति मिश्र

पंचसायक – ज्योतिरीश्वर

पदावली – विद्यापति

शैवसर्वस्वसार प्रमाणभूत पुराण संग्रह – विद्यापति

पद्मअत्थ जातिका

पद्मपुराण

प्री मौर्यन हिस्ट्री ऑफ बिहार – डी० एस० त्रिवेदी

(फ)

फनदन जातक

फेरिस्ता-ब्रिग्स

(ब)

बल्लाल चरित

बन्नूपथ जातक

बंगीय साहित्य पत्रिका

बंगलार इतिहास – आर० डी० बनर्जी

बिहार – विद्यालंकार एवं मेहता

बिहार दी हार्ट ऑफ इण्डिया – सर जौन-हॉल्टन

बिहार थ्रू दी एजेज – आर० आर० दिवाकर सम्पादित

ब्रह्मजाल सुत्त

बायोग्राफी ऑफ धर्मस्वामिन् – ए० एस० अल्तेकर

बुद्धिस्ट रेकर्ड्स ऑफ दी वेस्टर्न वर्ल्ड – ए० वील

बुद्ध सम्वाद

बुद्धिज्म स्टडीज – वी० सी० लॉ

बुद्धिस्ट सुत्तान –नं० ९-१८, सेकरेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट सीरीज

बुद्धिस्ट इण्डिया – टी० डब्ल्यू रैस डेविड

बुद्धसाल जातक

बुद्ध चरित – अश्वघोष

बृहस्पति नीति

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण

वोडिलन्स कैटलॉग ऑफ इण्डियन म्युजियम क्वायन्स

बौद्ध ग्रंथ – एच० ओल्डेनवर्ग

बुकानन का दिनाजपुर प्रतिवेदन, कलकत्ता संस्करण, तथा भागलपुर एवं पूर्णिमा जिला रिपोर्ट

बौद्ध जातक – फॉलवेल सम्पादित

बुद्धघोष, डिक्शनरी ऑफ पाली प्रोपर नेम्स – डी० वी० सिलान

(भ)

भविष्य पुराण
भगवान्लाल इन्द्रजी के लेख
भारतीय इतिहास की रूप-रेखा – जयचन्द्र विद्यालंकार
भेरीवाद जातक – ५९
भेद प्रकाश – शंकर मिश्र
भावना विवेक – मंडन मिश्र
भू-परिक्रमा – विद्यापति
भग्विमार्णव कोष – परमानन्द
भृङ्ग दूत – गंगानन्द
भक्ति सूत्र – सांडिल्य
भेदरत्न प्रकाश – शंकर मिश्र
भलमामनुष – योगानन्द झा
भामती सटीक – वाचस्पति मिश्र
भेड़ा गाथा – ५५५
भट्टि काव्य – श्रीनिवास

(म)

मज्झिम निकाय
मत्स्य पुराण
मनमुस्मृति
महाभारत – वेदव्यास
महाउमग्ग जातक-५४२
महानारद कश्यप जातक
महाजनक जातक
महापनाद जातक
महावंश (बौद्ध इतिहास ग्रंथ)-टर्नर की टीका
महापरिनिव्वास सुत्तम
महावस्तु
महावग्ग
मतंग जातक-४९७
मंजूश्रीमूलकल्प
मिताक्षरा भाष्य – ज्ञानेश्वर
मिथिला महात्म्य – बृहद् विष्णु पुराण
मिथिला विल राइज – डॉ० लक्ष्मण झा
मिथिला तत्त्वविमर्श (मैथिली) – म० म० पं० परमेश्वर झा
मिथिला का भाषामय इतिहास – म०म० पं० मुकुन्द झा
मिथिला दर्पण – आ० वी० दास
मंजुश्री इम्पोरियज हिस्ट्री – जायसवाल
मूलराज आनन्द सम्पादित इंगलिश क्वार्टर्ली, मार्ग, वाल्यूम-३
मरव्जन-ई-अफधानी-बदाउनी – टॉर्न द्वारा अनूदित, भाग-१, २
मन्त्र प्रदीप – आर० एल० मिन्नाज नोटिसंज ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स
मुंड उपनिषद्
मुद्राराक्षसनाटक – विशाख दत्त
मालविकाग्निमित्र – कालिदास
मुदित कुविलयाश्व नाटक
मुनत-खवु-तवारीख – अलवदोनी, रंकिन का अनुवाद
मैथिली कैस्ट्रोमैथी – ग्रियर्सन
मेमोरिज ऑफ बाबर – लीडेन
मृच्छ कटिक नाटक – शूद्रक
मेमोआयर ऑफ दी आर्कियोलॉजिकल सोसाइटी ऑफ बंगाल-५ – आर० डी० बनर्जी
मौर्यन हिस्ट्री ऑफ बिहार – डी० एस० त्रिवेद
मार्कण्डेय पुराण
महादान निर्णय – वाचस्पति मिश्र
मदन रत्न प्रदीप – मुकुन्द झा
मुजफ्फरपुर जिला गजेटियर
मीमांसा सूत्रानुक्रमणी – मंडन मिश्र
मन्त्रार्थ दीपिका – शत्रुघ्न शर्म्मा
महादान पद्धति – ठाकुर रामदत्त
मुनिक मतिभ्रम – पं० योगानन्द झा
मेघदूत – कालिदास

(य)

याज्ञवल्क्य स्मृति

युग पुराण
योग दर्शन

(र)

रघुवंश – कालिदास
राजतरंगिणी – कल्हण
राजस्थान – टॉड
राजगृह एवं नालन्दा– प्रो० अमूल्यचन्द्र सेन
राजनीति-रत्नाकर – चंडेश्वर, के० पी० जायसवाल सम्पादित
राजनीति कामधेनु – गोपाल
राजनीति कल्पतरु – लक्ष्मीधर भट्ट
रागतरंगिणी – लोचन
रियाजु एस सलतिन – एम० अब्दुल सलाम द्वारा अनूदित
रौजर्स इण्डियन म्युजियम क्वायन्स
रेलीजन एण्ड सोसाइटी – राधाकृष्णन्
रत्नकीर्त्ति निबन्धावलि – आचार्य रत्नकीर्ति
रामचरित मानस – तुलसीदास
रत्नावली
राधा परिणय – पं० बदरीनाथ झा
रुक्मिणी हरण – पं० रमापति उपाध्याय,
रसाला – भरत उपाध्याय
रसतरंगिणी – रामानन्द
रहमानी के लेख, फरवरी, १९५३ ई०
रंगशेखर – ज्योतिरीश्वर
राजतरंगिणी – कश्मीरी कवि

(ल)

ललित विस्तर
लघु कथा
लिंग वार्त्तिक (पांडुलिपि)
लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया – ग्रियर्सन
ली नेपाल – सिलभ्यां लेवी
लिखनावली – विद्यापति
लीलावती प्रकाश व्याख्या – भगीरथ ठाकुर
लीलावक्ती – भवेश
लीलावती विवेक – पक्षधर मिश्र
लक्षणावली – उदयनाचार्य
लाइफ ऑफ बुद्ध
लाइफ ऑफ यु एन सियांग – रह्य डेविड

(व)

वर्क्स ऑन वान च्वां – वट्टर्स
वायु पुराण
विष्णु पुराण
वर्णरत्नाकर-ज्योतिरीश्वर, एस० के० चटर्जी तथा श्रीकृष्ण मिश्र सम्पादित
विधुर पण्डित जातक
विनय पिटक
विवादचन्द्र –मिसरू मिश्र
विभाग सागर – विद्यापति
विवाद रत्नाकर – चण्डेश्वर ठाकुर
व्यवहार रत्नाकर – चंडेश्वर ठाकुर
व्यवहार कल्पतरु – लक्ष्मीघर
विविधार्थ संग्रह – डॉ० राजेन्द्र लाल मिश्र
विविध विद्या विचार – भोज देव
विवाद चिन्तामणि – वाचस्पति मिश्र
व्याकरण एवं तर्कशास्त्र – सुधाकर
वृहद् विष्णु पुराण
वृहद् आरण्यकोपनिषद – ई० रोयर सम्पादित, सेकरेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट सीरीज
वाल्मीकीय रामायण
व्यवहार चिन्तामणि – वाचस्पति मिश्र
विमन वत्थु अत्थकथा
विक्रमांक चरित – विल्हण
विद्यापति – मित्र, मजूमदार
विद्यापति की विशुद्ध पदावली – एस० एन० ठाकुर
विद्यापति गोष्ठी – सुकुमार सेन
विद्यापति ठाकुर – म० म० पं० उमेश मिश्र
विद्यापति – मजूमदार
विलसन (लेखक)
वाजसनेयि विवाह पद्धति – रामदत्त
वाजसनेयि संहिता
वाकियात ई मुस्तकी (पर्सियन) – शेख रजक कुल्ला मुस्तकी

सोशल हिस्ट्री ऑफ कामरूप – एन० एन० बसु
सी-पु-की – वील (हुएन्त्संग का यात्रा वृत्तान्त)
सैनिक ब्राह्मण – पांडेय सूर्यनारायण शर्म्मा
सांख्य शास्त्र – कपिल मुनि
सन्त दर्पणी – श्री निवास
सतुमत जातक – ४०२
संस्कृत कलेक्शन मैनुस्क्रिप्ट्स. – मित्रा
सुन्दर संयोग – जीवन झा
सिद्धान्त मुक्तावलि – विश्वनाथ
स्मृति तत्त्वामृत – वर्द्धमान उपाध्याय
स्वाधीन भारत – रामनिरीक्षण सिंह
स्मृति रत्नाकर – चंडेश्वर
सिद्धान्त सुधा – परमानन्द ठाकुर
सर्वदेश वृत्तान्त संग्रह – महेश ठाकुर
सर्वदर्शन संग्रह – विद्यारण्यव माधवाचार्य
सुपद्म व्याकरण – पद्मनाभ
स्फोट सिद्धि – मंडन मिश्र
सांख्य तत्त्व कौमुदी – वाचस्पति मिश्र
सरस्वती कण्ठाभरण टीका – रत्नेश्वर
सरस्वती हृदयालंकार
सेकरेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट – एन० वारेन

(ह)

हिस्ट्री ऑफ कन्नौज – आर० एस० त्रिपाठी
हिस्ट्री ऑफ वेंगाल – जे० एन० सरकार
'हिस्ट्री ऑफ बुद्धिज्म इन इण्डिया इन ६०८ ए० डी०
हिस्ट्री ऑफ दी राइज ऑफ मुहमडन पावरव्रिग्स, फिहरिस्ता
हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर – जयकान्त मिश्र
हिस्ट्री ऑफ इण्डिया – इलियट
हरिवंश पुराण
हिन्दू पोलिटी – के० पी० जायसवाल
हिन्दू व्यू ऑफ आर्ट्स – मुल्कराज आनन्द
हिस्ट्री ऑफ तिरहुत – श्यामनारायण सिंह
हिस्ट्री ऑफ मिथिला – डॉ० उपेन्द्र ठाकुर
हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, १८७१ – जनरल कनिंगहम
हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिंटरेचर – सी० वी० वैद्य
हिस्ट्री ऑफ इण्डियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट्स – कुमार स्वामी
हिस्ट्री ऑफ दी ता डाइनेस्टी ऑफ चोन – भी० ई० एच०
हिस्ट्री ऑफ दी सइज ऐंड प्रोग्रेस ऑफ दी बेंगाल आर्मी – व्रुम
हिस्ट्री ऑफ बेंगाली लौंगवेज ऐंड लिटरेचर – डी० सी० सेन
हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लौजिक – विद्याभूषण
हिस्टोरिकल इन्ट्रोडक्शन – सी० वेंडल, एच० एच० पी० शास्त्री कैटलॉग
हिस्ट्री ऑफ इण्डिया अन्डर बाबर एण्ड हुमायूँ – विलियम एर्सिकेन
हिस्टोरिकल स्केच ऑफ नेपाल इन १८११ – सी० एफ० किर्क पत्रिक
होमेज टु वैशाली
हिन्दू सिविलिजेशन – आर० के० मुकर्जी
हिस्ट्री ऑफ इण्डियन रसेज, वॉल्यूम-१ – सर इलियट
हिन्दू कास्ट ऐंड ट्राइब्स – शेरिंग
हिस्ट्री ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया – एच० पी० राय
हस्त लिखित ग्रंथ – शिवनन्दन ठाकुर
हर्षचरित – बाणभट्ट

(ऋ)

ऋग्वेद
ऋतु संहार – कालिदास
ऋग्वैदिक कल्चर – आर० एल० दास